भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

जनवरी १९५६

AGRA UNIVERSITY

19 27

तमसो मा ज्योतिर्गमय

'भारतीय-साहित्य'-[१९५९ ई०]—विवरण

लेख सूची

लेखक-क्रम से

शोध-विवरण

[अ] भाषाएँ—हिन्दीतर सभी क्षेत्रीय भाषाओं को भारतीय साहित्य में स्थान प्रदान किया गया। आसामी, उड़िया, कन्नड़, गुजराती, तामिल, तेलुगु, बंगला, मराठी, मलयालय भाषाओं के विभिन्न निबन्ध प्रकाशित हुए। सम्भवत: यह पहिला अवसर है, जब प्रमुख भारतीय आर्य भाषाओं एवं द्रविड़ भाषाओं के साहित्य को एक स्थल से प्रकाश में लाया गया हो। आशा है, इस प्रयास से विभिन्न भारतीय भाषाओं में निकटतर सम्बन्ध स्थापित होगा और 'भारतीय-साहित्य' की एक सुसम्बद्ध धारा का दर्शन हो सकेगा।

१. **आसामी**—"असमिया भाषा और उसके विकास में दूसरी भाषाओं का योग" लेख में श्री लोकनाथ भराली ने खोजपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त असमिया भाषा एवं साहित्य के निम्न अंगों पर विवरणात्मक लेख प्रकाशित किये गये।

(अ) कथा-काव्य।

(ब) मंगल काव्य।

(स) ऐतिहासिक उपन्यास।

२. **उड़िया**—'उड़िया भाषा पर अंग्रेजी प्रभाव : एक विहगम दृष्टि' लेख म भाषा शास्त्री श्री गोलोक बिहारी धल ने खोजपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है ।

उड़िया साहित्य पर निम्न व्याख्यात्मक निबन्ध प्रस्तुत किये गये :—

(अ) उड़िया का कृष्ण भक्ति साहित्य
(ब) कथा-काव्य
(स) उपन्यासों का विकास

३. **कन्नड़**—'कन्नड़ का भक्ति साहित्य' लेख में विद्वान् लेखक राज्यपाल श्री रंगनाथ दिवाकर ने भक्ति के आदि स्रोत की विशद विवेचना प्रस्तुत करते हुए कन्नड़ के भक्ति साहित्य का सागोपांग विवरण प्रस्तुत किया है ।

कन्नड़ साहित्य पर निम्न अन्य निबन्ध प्रकाशित किये गये ।

(अ) कर्नाटक के संत बसवेश्वर
(व) ऐतिहासिक उपन्यास
(स) मंगल काव्य

४. **गुजराती**—'गुर्जर ज्योतिर्धर प्रेमानन्द और उनकी चमत्कृतिः मामेरु' लेख में श्री शांति आँकड़ियाकर जी ने 'मामेरु' काव्य का विशद विवेचन किया है ।

"गुजराती साहित्य की संक्षिप्त रूप रेखा" के अतिरिक्त उसके निम्न अंगों पर भी व्याख्यात्मक लेख प्रकाशित किये गये ।

(अ) कथा काव्य
(ब) मंगल काव्य
(स) ऐतिहासिक उपन्यास

५. **तमिल**—'शैव सिद्धान्त एवं तिरुज्ञान संबंधर' लेख मे श्री सु० शंकरराजू नायुडू ने शैव सिद्धान्त का गम्भीर विवेचन किया है ।

इसके अतिरिक्त 'प्राचीन तमिल साहित्य का संक्षिप्त परिचय' एवं तमिल भाषा में ऐतिहासिक उपन्यास लेख भी प्रकाशित हुए ।

६. **तेलुगु**—तेलगु भाषा पर निम्न लेख प्रकाशित किए गये ।

(अ) तेलुगु के मंगलकाव्य
(व) तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यास
(स) तेलुगु साहित्य में कथा-काव्य
(द) आन्ध्र के मंगल-काव्य

७. **बंगला**—प्रो० विष्णुपद भट्टाचार्य जी ने बंगला कथा-काव्यों तथा ऐतिहासिक उपन्यासों का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है ।

डा० सुकुमार सेन का 'ब्रजबोली' विषयक निबन्ध भी बंगला भाषा में संपादित है ।

८. **मराठी**—'मराठी निर्गुण कविता की समाप्ति के कारण' लेख में अधिकारी लेखक श्री प्रभाकर माचवे ने खोजपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया है ।

इसके अतिरिक्त मराठी साहित्य के निम्न अंगों पर लेख प्रकाशित हुए :—

(अ) कथाकाव्य

(ब) ऐतिहासिक उपन्यास

(स) मंगलकाव्य

९. **मलयालम**—'मलयालम साहित्य एवं भाषा' पर भी कुछ लेख भारतीय साहित्य म प्रकाशित हुए। श्री एन० ई० विश्वनाथ अय्यर ने मलयालम भाषा की उत्पत्ति और व्यापकता पर अपना खोजपूर्ण लेख प्रस्तुत किया। मलयालम के कथाकाव्यों एवं ऐतिहासिक उपन्यासों पर भी निबन्ध प्रकाशित किये गये।

[ब] **भाषा-विज्ञान**—इस क्षेत्र में भी भारतीय साहित्य का महत्वपूर्ण कदम है। श्री विश्वनाथ प्रसाद जी ने 'भाषा का रागात्मक तत्त्व' तथा ' 'य' और 'व' का रागात्मक निरूपण' खोजपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किये। भाषा की सामान्य प्रकृति क्या है? इस पर शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

श्री गोलोक बिहारी धल ने 'विवरणात्मक भाषा तत्व विज्ञान' में भाषा तत्व विज्ञान पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से 'अहिन्दी भाषा भाषियों को हिन्दी का प्रशिक्षण' करने में किन किन बातों पर महत्व प्रदान करना चाहिए इसकी भी युक्तियुक्त विवेचना की गई है।

श्री कैलाशचन्द्र भाटिया ने "भाषा में आगत शब्द" लेख में 'आगत शब्द' का अर्थ व उसका भाषा में कितना महत्वपूर्ण स्थान है, प्रश्नों का सम्यक् व वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

'राष्ट्रभाषा की उन्नति का प्रश्न और हिन्दी विद्यापीठ' पर माननीय गोविन्द वल्लभ पन्त ने अपने विचार प्रकट किये। 'हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाओं' पर राज्यपाल कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी जी के विचार संकलित किये गये हैं।

प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'हिन्दी का उत्तराधिकारी' लेख में हिन्दी के महत्व पर सम्यक् प्रकाश डाला है।

डॉ० हार्नली द्वारा लिखित 'हिन्दी धातु संग्रह' में हिन्दी की धातुओं पर भाषा वैज्ञानिक विवेचन व उनकी व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है।

डॉ० सुकुमार सेन ने ब्रजबोली की कहानी में अपने खोजपूर्ण विचार संकलित किये हैं।

श्री चन्द्रभान रावत ने 'उकार बहुला प्रवृत्ति की परम्परा और ब्रज की बोली' एक खोजपूर्ण लेख प्रस्तुत किया है। 'हाबूडा' में उनकी भाषा का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया।

[स] लोकवार्ता—

इस क्षेत्र में भी लोक वार्ता के ख्याति प्राप्त विद्वान् डा० सत्येन्द्र के खोजपूर्ण लेख उल्लेखनीय हैं। 'जाहरपीर : गुरु गुग्गा' पर लिखा गया उनका लेख तो एक खोजपूर्ण

प्रबन्ध कहा जा सकता है, जिसकी प्रशंसा करते हुए राज्यपाल मुंशीजी ने लिखा है—

"आपने गोगा के ऊपर जो लिखा है, उससे आपने इस सर्वव्यापी व्यक्ति के ऊपर बड़ा प्रकाश डाला है, ऐसा करने के लिए आपने जो परिश्रम किया है वह स्तुत्य है।"

उनके "हिन्दी में लोक तत्व की परम्परा और कबीर" तथा "लोकवार्ता के तत्व तथा लोक मानस" दोनों निबन्ध लोक साहित्य अध्ययन को समझने के लिए आवश्यक हैं। 'मन्त्र' शीर्षक लेख में भी लोकवार्ता के एक विशिष्ट अंग पर सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

'मन्त्र' पर डा० शशिभूषण दास गुप्त ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

मट्टा जोगी द्वारा दी गई जाहरपीर की कथा का भाग भी छापा गया है।

[द] विशिष्ट निबन्ध—

इन निबन्धों में श्री मुनि कान्ति सागर जी के निबन्ध 'आचार्य सोमनाथ' व कवि वृन्द के वंशजों की हिन्दी सेवा उल्लेखनीय है। 'चरण दासी सम्प्रदाय का अज्ञात हिन्दी साहित्य' भी मुनि जी का एक खोजपूर्ण निबन्ध है।

श्री अगरचन्द नाहटा जी द्वारा लिखित 'दावावैत संज्ञक हिन्दी रचनाओं की परम्परा' तथा मनोहरदास निरंजनी के पाँच ग्रन्थों का विशेष परिचय' निबन्ध भी उल्ले-नीय हैं।

डा० शशिभूषण दास गुप्त जी का लेख 'राधावाद—उत्पत्ति और क्रम विकास' कृष्ण साहित्य के एक विशिष्ट अंग की पूर्ति करता है।

राज्यपाल कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी जी द्वारा लिखित 'युगान्तर में संस्कृत की भूमिका' 'संस्कृत और भारतीय संस्कृति' निबन्ध संस्कृत के महत्व को स्पष्ट करते हैं।

श्री रमेशचन्द्र दुबे द्वारा लिखित 'काव्य गत रूढ़ियां और कवि शिक्षा साहित्य' 'रैदास और सहजोबाई की बानी में उपलब्ध रूढ़ियाँ' तथा "ढोला मारूरा दूहा में प्रयुक्त रूढ़ियाँ" निबन्ध 'साहित्य में रूढ़ियों' पर खोजपूर्ण विश्लेषण है।

[य] अप्रकाशित ग्रन्थ—

डा० विश्वनाथ प्रसाद जी ने 'चन्दायन', डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने 'अलाउल की पदमावती' व 'जेहली जवाहर' तथा डा० विपिन विहारी त्रिवेदी जी ने वर्ण रत्नाकर में नवीन कृतियों की व्याख्यात्मक आलोचना प्रस्तुत की गई है।

[र] हस्तलिखित ग्रंथ—

डा० सत्येन्द्र ने हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में जयपुर, फतहपुर (यू०पी०) तथा अजमेर की यात्राएँ कीं। इन यात्राओं के फलस्वरूप उनको जितने हस्तलिखित ग्रन्थ विभिन्न स्थलों पर प्राप्त हुए, उनका सूक्ष्म परिचय दिया गया है।

'अलाउल की पदमावती' के कुछ अंश श्री सत्येन्द्र नाथ घोषाल जी की भूमिका के साथ तथा 'जेहली जवाहर' खण्डकाव्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी की भूमिका के साथ प्रकाशित भी किये जा चुके हैं।

[ल] तुलनात्मक विवेचन—

भारत की प्रमुख भाषाओं मे लिखित साहित्य के किसी विशेष अंग के सम्बन्ध में निबन्ध धारा भारतीय साहित्य का प्रमुख स्तम्भ रहा है। इसके अन्तर्गत अब तक निम्न विषय लिये जा चुके हैं। इसके द्वारा भारतीय साहित्य की देश व काल व्यापी झाँकी मिल जाती है।

(१) मंगल-काव्य।
(२) ऐतिहासिक उपन्यास।
(३) कथा-काव्य।

अगरचन्द नाहटा जी द्वारा लिखित विवाह और मंगल काव्यों की परम्परा निबन्ध भी उल्लेखनीय हैं।

प्रथम अंक में विद्यापीठ पर परिचयात्मक कुछ निबन्ध भी है, जिनमें डा० श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जी लिखित 'हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना का उद्देश्य' और हिन्दी विद्यापीठ से आशाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय साहित्य पर विभिन्न उच्चकोटि के साहित्यिकों ने अपनी सम्मतियाँ भेजी हैं, जिनमें श्री गुलाबराय, महापण्डित राहुल जी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री अम्बाशंकर नागर, राज्यपाल कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी तथा डा० शशिभूषण दास गुप्त जी के नाम वस्तुतः उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार भारतीय साहित्य के द्वारा भारत की सांस्कृतिक एकता के दर्शन सम्भव हो सके हैं और साहित्य की समान प्रवृत्तियाँ, अनुभूतियाँ और विचार-सरणियाँ तथा उनके अनुसन्धान के माध्यम से हमारे इस विशाल देश की विविधता में से झांकती हुई एकांत और अखण्ड भारतीय आत्मा की झांकी मिल सकी है।

अन्त में हम उन अनुवादकों को धन्यवाद देना चाहते हैं, जिन्होंने भारतीय साहित्य को अपना सहयोग दिया; इनमें उल्लेखनीय हैं—श्रीविष्णुकान्त शास्त्री कलकत्ता विश्वविद्यालय, श्री तारक नाथ अग्रवाल कलकत्ता शासकीय शिक्षासेवा, श्री देवी रत्न करील फतहपुर, श्री गुरुनाथ जोशी धारवाड़, श्री रमेशचन्द्र दुबे, श्री चन्द्रभान रावत, श्री कैलाश चन्द्र भाटिया हिन्दी विद्यापीठ आगरा।

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

जनवरी १९५६

प्रथम अंक

सम्पादक

डा. विश्वनाथ प्रसाद

अध्यक्ष

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ

मुद्रक
पी. एच. रामन,
एसोसियेटेड एडवर्टाइजर्स एंड प्रिंटर्स लिमिटेड, ५०५, आर्थर रोड, तारदेव, बम्बई ७.

प्रकाशक
डा० विश्वनाथ प्रसाद,
अध्यक्ष, आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ, आगरा

विषय-सूची

राष्ट्र भाषा

हिन्दी भाषा का निर्माण राष्ट्रभाषा के योग्य ही हुआ है, और वह बहुत बरसों पहले से ही इस भाँति व्यवहृत हो चुकी है।

दक्षिणी, गुजराती, सिंधी और बंगालियों के लिये तो यह बहुत सरल है। कुछ ही महीनों में वे हिन्दी सीखकर राष्ट्रीय कामों में उसका व्यवहार कर सकते हैं। परन्तु तामिल भाइयों के लिए ऐसा करना कठिन है। तामिल आदि द्राविड़ विभाग की भाषाएं हैं। उनकी रचना और व्याकरण संस्कृत से पृथक् ही है, परन्तु यह कठिनता केवल वर्तमान शिक्षित वर्ग के लिए है। स्वदेशाभिमान को स्थिर रखने के लिए हमें हिन्दी सीखना आवश्यक है। भविष्य में यदि हिन्दी को अपना पद प्राप्त हो जाय तो प्रत्येक मदर्सा पाठशाला में हिन्दी का प्रवेश हो सकता है। अंगरेज़ी भाषा द्रविड़ प्रजा में प्रवेश नहीं कर सकती, परन्तु हिन्दी के प्रवेश में देर भी न लगेगी।

—महात्मा गांधी

My point of view is that Hindi authors and readers should be requested to give up their horror of un-Hindi idioms and uses. The desire must be to absorb as many varieties of expression as are available to them.

× × × ×

Hindi readers must develop catholicity of taste and an anxiety to secure enrichment of expression by an absorption of expressive idioms of other provinces.

—Dr. Rajendra Prasad.

[मेरे विचार में हिन्दी लेखकों और पाठकों से यह निवेदन करना चाहिए कि वे हिन्दी मुहाविरों और उनके व्यवहारों पर अनावश्यक अभिनिवेश छोड़ दें। उनकी इच्छा यह होनी चाहिए कि अभिव्यक्ति के जितने विभिन्न रूप मिल सकें उन्हें ग्रहण करें।

× × × ×

हिन्दी पाठकों को अपनी रुचि में उदारता लानी चाहिए और उन्हें यह आकाँक्षा होनी चाहिए कि अन्य प्रान्तों के अर्थपूर्ण मुहाविरों से अपनी भाषा को समृद्ध बनाएँ।]

—राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद

हम × × × देश की सब भाषाओं में किसी तरह का सम्बन्ध पैदा करना चाहिए।

—जवाहरलाल नेहरू
२९-७-१९३५

भारतवर्ष की सांस्कृतिक और साहित्यिक एकता ब्रिटिश राज्य का परिणाम नहीं है। वह तो रामायण और महाभारत के काल से ही एक और अखण्डधार होकर बहती आ रही है। अंग्रेज़ों के आगमन से बहुत पहले यह एकता यहाँ मौजूद थी, भले ही राजनैतिक एकता के भाव हमारे अन्दर पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा के कारण पैदा हुए हों। यद्यपि भारत की सब भाषाओं में उनका और मुहाविरों का विकास बहुत प्राचीन काल से आरम्भ हो चुका था; परन्तु इस भाषा-भेद ने भारत की सांस्कृतिक और साहित्यिक एकता में कभी रुकावट नहीं डाली।

—कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

यह हम सभी का कर्तव्य है कि हम राष्ट्रभाषा को उसी तरह सर्वांगपूर्ण बनावें जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं।

× × × ×

जब तक आपके पास राष्ट्रभाषा नहीं। आपका राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का सम्बन्ध है।

—प्रेमचंद

शुभ कामना

On the occasion of the first issue of its Bulletin, I send my good wishes to the Hindi Institute of Agra University. The Bulletin will be issued periodically and form a permanent feature of the work of the Institute. I hope that very soon the Institute will have its own building and be fully staffed. It has a great future, provided it receives encouragement and financial assistance from the Union and State Governments. It is my hope that the various aspects of its work will bring credit to Agra University, and be of service to the country by contributing to the development of the national language.

Vice-Chancellor.
(C. V. Mahajan).

Agra, December 18, 1955.

[आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ की पत्रिका के प्रथम अंक के प्रकाशन के समय में उसके लिए अपनी शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ। यह पत्रिका एक निश्चित क्रम से निकलती रहेगी और विद्यापीठ के कार्य का स्थायी अंग होगी। मुझे आशा है कि बहुत शीघ्र ही विद्यापीठ का एक अपना भवन होगा और वह अपने सभी अध्यापकों और अन्य कार्यकर्ताओं से परिपूर्ण होगा। इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है, यदि उसे प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता और प्रोत्साहन मिलता रहे। मेरी यह आशा है कि इसके कार्य के विभिन्न पक्ष आगरा विश्वविद्यालय के लिए सम्मान के कारण होंगे और राष्ट्रभाषा के विकास में योग दान देकर देश की भी सेवा कर सकेंगे।]

—सी. वी. महाजन
वाइस चांसलर

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

अंक १] १ जनवरी १९५६ [वर्ष १

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ

परिचय

इस हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना का बीज उत्तरप्रदेश के उपकुलपतियों के सम्मेलन के एक सुझाव से प्रस्तुत हुआ। उपकुलपतियों का यह सम्मेलन जनवरी, १९५३ में लखनऊ में हुआ था और इसमें ही यह निश्चय किया गया था कि राष्ट्रभाषा की प्रगति और समृद्धि में योगदान देने के लिए एक हिन्दी विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय में स्थापित किया जाना चाहिये, जिसमें हिन्दी और अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के विद्यार्थी और विद्वान् एकत्र होकर इस महत्त्वपूर्ण कार्य को संपादित करें।

इस निश्चय को रूप देने के लिए आगरा विश्वविद्यालय ने आगरा में एक सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी के संवर्द्धन की समस्या पर सभी दृष्टियों से भली प्रकार विचार किया गया। इसमें हिन्दी और अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के हिन्दी के विद्वानों और कार्यकर्त्ताओं ने भाग लिया। इस सम्मेलन में हमारे कुलपति राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने अभिभाषण में कहा:—

> आज प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी और विद्वान् को कटिबद्ध हो जाना चाहिए। वह हिन्दी की शृंखला और शक्ति बढ़ाने के लिए तत्पर रहे; हिन्दी के ऊंचे स्तर के अध्ययन में भारतीय भाषाओं और साहित्य के तुलनात्मक आधार को प्रमुखता दे। हिन्दी के लोच और बल की जड़ें संस्कृत में हैं। अतः संस्कृत जैसी महान् भाषा के अध्ययन से इनको और भी पुष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हो; और अंग्रेजी से सतत संपर्क रखे जिससे हिन्दी वह शक्ति प्राप्त कर सके जो विश्व की अन्य भाषाओं में भी दुर्लभ है।

उन्होंने इस लक्ष्य को पाने के मार्ग निर्धारित करते हुए ये सुझाव दिये—

हमारा लक्ष्य भाषाविज्ञान का उच्चतर अध्ययन होना चाहिए। इस दृष्टि से हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक दृष्टि से सम्बन्ध स्थिर किया जा सकता है। साथ ही भाषा और साहित्य के क्षेत्र के समानान्तर आन्दोलनों का भी अध्ययन आवश्यक है जिससे यह ज्ञात हो सके कि कौन से शब्द, रूप तथा कहावतें समस्त भारत में समान हैं। उन प्रवृत्तियों की परख होनी चाहिये जो प्रोत्साहित होने पर हिन्दी को शक्ति और समृद्धि की दृष्टि से एक आधुनिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर सकतीं हैं।

इन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर १४ दिसम्बर, १९५३ को हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना हुई। उद्घाटन करते हुए और विद्यापीठ के उद्देश्यों तथा क्षेत्र विस्तार की चर्चा करते हुए श्री कुलपति ने जो आशाएँ व्यक्त कीं उन्हें हम उनके भाषण के रूप में इसी

अंक में दे रहे हैं। विद्यापीठ का शिलान्यास उसी दिन उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मन्त्री (अब भारत के गृहमन्त्री) पं. गोविन्द वल्लभ पन्त के करकमलों से सम्पन्न हुआ। उनका उस अवसर पर दिया गया भाषण भी हम इसी अंक में आगे दे रहे हैं।

परिस्थितियों की इस अनुकूलता में, विश्वविद्यालय ने अविलम्ब ही विद्यापीठ से संबंधित विधान तथा नियम बना लिए हैं। यह कार्य २८ अगस्त १९५४ को सम्पन्न हो गया। इसी के साथ साथ विश्वविद्यालय ने हिन्दी विद्यापीठ के संचालन के लिए निजी कोष से ६० हजार रुपये वार्षिक देना स्वीकार किया।

कार्य और व्यवस्था

विद्यापीठ की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ होंगीं—

१. बी. लिट. तथा एम. लिट. की उपाधियों के लिए अध्यापन का प्रबन्ध करना और अहिन्दी भाषियों के लिए हिन्दी में सर्टीफिकेट ऑव प्रॉफीशियेंसी तथा हिन्दी भाषियों के लिए अन्य भारतीय भाषाओं में इसी परीक्षा के लिए अध्यापन का प्रबन्ध।

२. शोध की सुव्यवस्था।

३. निम्नलिखित संपादन कार्य :

(क) प्राचीन हिन्दी ग्रंथों का संपादन,

(ख) विभिन्न विषयों पर हिन्दी में परिनिष्ठित पुस्तकों का संपादन,

(ग) अन्य भारतीय भाषाओं के प्रातिभ ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद तथा

(घ) एक पत्रिका का सम्पादन।

४. प्रकाशन योजना

(क) एक प्रामाणिक हिन्दी व्याकरण प्रस्तुत करना,

(ख) हिन्दी से अन्य भाषाओं में और अन्य भाषाओं से हिन्दी में कोष,

५. हिन्दी पुस्तकों और पत्रों के एक पुस्तकालय की स्थापना,

६. विशिष्ट भाषणों की व्यवस्था।

एक पृथक् बोर्ड ऑव स्टडीज़ की स्थापना हिन्दी विद्यापीठ के लिए हुई है। इसके संयोजक विद्यापीठ के अध्यक्ष होंगे। इसमें छः सदस्य विद्यापीठ के प्राध्यापकों में से होंगे तथा अधिक से अधिक दो सदस्य विशेषज्ञ के रूप में अन्य विश्वविद्यालयों से लिए जायेंगे। इस बोर्ड का कार्य विद्यापीठ के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करना होगा।

प्राध्यापक वर्ग

इन कार्यों के लिए हिन्दी, संस्कृत, भाषा विज्ञान, हिन्दीतर आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा भारतीय तत्त्व की योग्यता रखने वाले एक डायरेक्टर, दो रीडरों और पाँच प्राध्यापकों की नियुक्ति की आज्ञा विश्वविद्यालय ने दी है। अभी तक डा. विश्वनाथ प्रसाद एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत), बी. एल., पी एच. डी. (लन्दन), साहित्याचार्य, एफ. आर.ए.एस. (लंदन), एम.पी.एस. (लंदन), डायरेक्टर. डा. सत्येन्द्र एम.ए., पी एच.डी. और श्री. गोलोक बिहारी धल, एम.ए. (पटना), एम.ए. (लंदन) रीडर तथा श्री. रमेशचन्द्र दुबे एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत), साहित्याचार्य, एल एल. बी. प्राध्यापक नियुक्त हो चुके हैं। शेष चार प्राध्यापकों की नियुक्तियाँ भी शीघ्र होंगी।

शोधकार्य

गत जुलाई से विद्यापीठ शोध संस्था के रूप में कार्य कर रहा है। विश्वविद्यालय की पी एच. डी. उपाधि के लिए आठ अनुसंधित्सुओं को प्रवेश मिल गया है। ये निम्नलिखित विषयों पर नियमित शोध में संलग्न हैं :—

१. मथुरा जिले की ब्रज की बोलियों का तुलनात्मक और वर्णनात्मक अध्ययन।
२. १०वीं से १४वीं शती तक के हिन्दी साहित्य रूपों का अध्ययन।
३. १५वीं से १७वीं शती तक के हिन्दी काव्य रूपों का अध्ययन।
४. मीराँबाई के काव्य के स्रोत, तुलनात्मक आधार पर।
५. बनारसी दास जैन का जीवन और कृतित्व (१६वीं शती)।
६. हिन्दी नाट्यशास्त्र का ऐतिहासिक विकास (सन् १९५५ तक)।
७. हिन्दी और गुजराती बारहमासा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।
८. मलयालम और हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक: वृन्दावन लाल वर्मा तथा सी.वी. रमन पिल्लई के विशेष अध्ययन के साथ।

अनुसंधित्सुओं के लाभ के लिए समय समय पर समवसरणों (सेमीनारों) की भी व्यवस्था की जाती है।

एक रिसर्च असिस्टेंट की नियुक्ति भी विद्यापीठ के शोध विभाग में हो गई है। यह विद्यापीठ को हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में, भाषा-रूपों तथा लोकवार्त्ता सामग्री के संकलन आदि में सहायता देगा।

उपयुक्त व्यक्तियो के प्रशिक्षण के लिए एक वर्ष का स्नातकोत्तरीय उपाधि का (पोस्ट ग्रेजुएट डिप्लोमा) पाठ्यक्रम आरम्भ किया जायगा। इस प्रशिक्षण को प्राप्त कर लेने पर ऐतिहासिक और वर्णनात्मक भाषा विज्ञान तथा संग्रह कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति प्राप्त हो सकेंगे। एक सुसाधन-संयुक्त ध्वनि विज्ञान विषयक प्रयोगशाला की स्थापना भी की जा रही है जिससे भाषा तत्त्व और भाषाविज्ञान के वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए अधुनातन यंत्रों से युक्त प्रयोगशाला हिन्दी क्षेत्र में प्रस्तुत हो सके।

लोकवार्त्ता और गाथाओं का एक हिन्दी विश्वकोष तैयार करने की योजना भी है। साथ ही लोकवार्त्ता संग्रहालय और लोकसाहित्य संकलन (जिलों के अनुसार) का व्यवस्थित उद्योग भी हो रहा है। इन योजनाओं के लिए आर्थिक सहायता के लिए केन्द्रीय शासन तथा साहित्य एकाडेमी से लिखा पढ़ी चल रही है। इस समय तक विद्यापीठ ने नाथ सम्प्रदाय के अन्तिम खेवे के रूप के अध्ययन करने के लिए जो सामग्री एकत्रित की है उसमें जाहर पीर के लोकगीत का विशेष स्थान है जिसके कई रूपान्तरों को लिपिबद्ध किया जा चुका है।

पुस्तकालय

प्रकाशित पुस्तकों तथा पत्रों और अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रंथों से सुसमृद्ध एक पुस्तकालय बनाया जा रहा है जिससे हिन्दी तथा अन्य भाषाओं से संबंधित शोध की सुविधायें प्राप्त हो सकें। अन्य पुस्तकालयों से हस्तलिखित ग्रथो की सूचियाँ तथा अन्य सूचनाएँ प्राप्त की जा रही हैं।

पत्र

"भारतीय साहित्य" नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन हिन्दी विद्यापीठ ने अपने हाथ में ले लिया है। इसमें शोध संबंधी लेख तथा तुलनात्मक साहित्यिक और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को स्थान दिया जायेगा। हमारी बुलेटिन का प्रथम अंक पाठकों को प्रेषित है।

विशिष्ट भाषण

हमारे कुलपति महोदय की अध्यक्षता में डा. सुनीति कुमार चटर्जी, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल तथा डा. आर्येन्द्र शर्मा के ज्ञानप्रसारक विशिष्ट भाषण हो चुके हैं। इस वर्ष के व्याख्यानों की व्यवस्था की जा रही है।

प्राचीन पुस्तकों का सम्पादन

निम्नलिखित कार्य हाथ में ले लिए गये हैं:

१. नाम माला, अनेकार्थ मंजरी तथा अन्य मध्ययुगीन कोष ग्रंथों का आलोचनात्मक हिन्दी संस्करण।

२. स्वयंभू छन्द का सम्पादन: हिन्दी के ऐतिहासिक पिंगल की प्रस्तावना सहित।

३. आगरे के लल्लू जी लाल की प्रामाणिक ग्रंथावली।

पाठ्यक्रम

बी. लिट. एम. लिट., सर्टीफिकेट ऑव प्रोफीशियेंसी इन हिन्दी एंड अदर मॉडर्न इंडियन लैंग्वेजेज तथा डिप्लोमा इन लिंग्विस्टिक्स के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था, तुलनात्मक धरातल पर, भाषावैज्ञानिक अध्ययन की सुविधा के लिए की गई है। उक्त सभी परीक्षाओं के लिए नियमित अध्यापन कार्य, हमारी योजना के अनुसार, जुलाई, १९५६ से आरम्भ हो जायगा।

इस बात के प्रयत्न किये जा रहे हैं कि देश के समस्त विश्वविद्यालय तथा अन्य संस्थाएँ जो हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के विस्तार और उन्नयन के लिए प्रयत्नशील हैं, एक दूसरे के घनिष्ट सम्पर्क में आ जायें जिससे पारस्परिक सहयोग संभव हो सके। हमारे अध्यापकों को इस बात की अनुमति मिल गई है कि वे अन्य संस्थाओं में, जो शोध कार्य और उच्च शिक्षा कार्य में लगीं हैं, अल्पकालीन सेवा के लिए भेजे जा सकते हैं, जिससें अन्य संस्थाओं को उनका सहयोग प्राप्त हो सके। हमें आशा है आवश्यकतानुसार इसी प्रकार का सहयोग हमें अन्य संस्थाओं से प्राप्त होता रहेगा जिससे हम समुचित रूप से कार्य सम्पादन कर सकें।

आवश्यकता

हिन्दी विद्यापीठ केन्द्रीय शासन तथा जनता के प्रोत्साहन और सहयोग की कामना करता है। इस सहायता और सहयोग के प्राप्त होने पर विश्वविद्यालय विद्यापीठ के लिए एक उपयुक्त भवन, छात्रावास, तथा निवासों का निर्माण कर सकेगा। इसी बल से युक्त होकर विद्यापीठ अपने उद्देश्य और आदर्शों की ओर दृढ़ता और शीघ्रता के साथ बढ़ सकेगा।

श्री क. मा. मुन्शी

हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना का उद्देश्य*

श्री उपकुलपति महोदय !

मैं आपको और आपके द्वारा विश्वविद्यालय की कार्यसमिति को इस बात के लिए बधाई देता हूँ कि आपने उपकुलपतियों के सम्मेलन के सुझाव के अनुसार इस सम्मेलन का आयोजन किया है। वह सुझाव इस प्रकार था :-"यह समीचीन प्रतीत होता है कि आगरा विश्वविद्यालय में, जो एक संबद्धनीय (एफिलियेटिंग) यूनीवर्सिटी है, एक हिन्दी विद्यापीठ हो जिसमें हिन्दी और अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के हमारे देश के विद्वान् राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी की प्रगति कराने में सहायक हो सकें।" भले ही हममें से कुछ ऐसे व्यक्ति जो बहुत उतावले हैं, प्रसन्नता अनुभव न करें, किन्तु यथार्थत सचाई यह है कि संविधान के स्वीकार होने के समय से हिन्दी के विस्तार और सम्वर्द्धन में हिन्दी और अहिन्दी भाषा के क्षेत्रों में प्रगति हुई है। मुझे प्रसन्नता है यह देखकर कि हमें इस सम्मेलन में अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की भी सहायता मिल सकेगी। किन्तु इससे अधिक खतरनाक कोई दूसरी बात हिन्दी की श्रीवृद्धि के संबंध में नहीं हो सकती कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों की हिन्दी और वह हिन्दी जो कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों की राष्ट्रभाषा हो, परस्पर भिन्न हों। यह अभी पिछली १७ फरवरी की बात है कि मुझे यह कहने का अवसर मिला था कि अब वह समय आ गया है कि जब हम राष्ट्रभाषा के आन्दोलन के स्वरूप और क्षेत्र दोनों पर समग्र रूप से विचार करें। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं आपको उन शब्दों की यहाँ याद दिलाना चाहता हूँ जिनका प्रयोग मैंने उस अवसर पर किया था:-

"शक्ति के बढ़ाने के अभिप्राय से हिन्दी पर दोनों प्रकार से दृष्टि डालने की आवश्यकता है। उसके उस रूप पर जो लोक में बोला जाता है और उस रूप पर भी जो कि उच्च अभिव्यक्तिनिष्ठ शक्ति का माध्यम है। पहले रूप में उसका क्षेत्र, उसका शब्द-कोष और उसकी अभिव्यञ्जकता भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भिन्न भिन्न होगी किन्तु जैसे जैसे ही वह अधिकाधिक लोक-प्रयोग में आती जायगी वह देश के भिन्न भिन्न भागों में बोली

---

* उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री क. मा. मुन्शी का भाषण, जो ६ मार्च १९५३ को आगरा यूनीवर्सिटी द्वारा आयोजित उस सम्मेलन में दिया गया जिसका आयोजन हिन्दी की समृद्धि पर विचार करने के लिए किया गया था।

जाने वाली भाषाओं के द्वारा समृद्ध होती जायेगी। दूसरे रूप में राष्ट्र के सशक्त माध्यम के रूप में—इसे एक ऐसा शब्द-कोश प्रस्तुत करना होगा जो देश के बृहद् समूह को मान्य होगा; इसे नये शब्दों और मुहाविरों को बेरोकटोक ग्रहण करना होगा, वह भी केवल भारतीय भाषाओं से ही नहीं वरन् विदेशी भाषाओं से भी और अन्ततः ऐसी स्वतन्त्रता का संचय और ऐसे लचीलेपन का संचय इसे करना होगा जिससे यह नये तत्त्वों को केवल पचा ही न सके वरन् विचारों और सौन्दर्य की उच्चस्तरीय अभिव्यञ्जना तक भी पहुँच सके। अतः यह अनिवार्य है कि हिन्दी को न केवल राष्ट्रभाषा ही स्वीकार किया जाय किन्तु ऐसे प्रयत्न किये जायँ कि अपने वैविध्य और शक्ति में यह ऐसी सम्पत्ति और शक्ति का संचय करे जो समस्त आधुनिक अभिप्रायों के योग्य हो। अतः यह मैं अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ कि जो हिन्दी में विश्वास रखते हैं उन्हें हिन्दी की श्रृंखला और शक्ति के सम्वर्द्धन के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। हिन्दी की ऊँची शिक्षा में भारतीय भाषाओं और साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन का आधार रहे, उसकी वह शक्ति और लचीलापन जिसकी जड़ें संस्कृत में हैं, उस महान् भाषा के गम्भीर अध्ययन के द्वारा और अधिक पुष्ट कीं जायँ और अँगरेजी से निरन्तर संबंध स्थापित करके यह उससे वह शक्ति भी ग्रहण करे जो कि संसार की विरली भाषाओं में ही उस परिमाण में मिल सकती है। हमें प्रचार और अध्ययन को परस्पर उलझा नहीं देना चाहिए। हमें माध्यम की दृष्टि से हिन्दी की आवश्यकता में तथा हिन्दी को शक्तिमयी भाषा बनाने की आवश्यकता में भी भ्रम नहीं करना चाहिये।" अतः सबसे प्रथम प्रश्न आपके विचार करने के लिए यह है कि इस उद्देश्य की पूर्ति में आगरा विश्वविद्यालय क्या सहायता कर सकता है।

आगरा विश्वविद्यालय ही इसके लिये विशेषतः उपयुक्त है। सात करोड़ से भी अधिक जनसंख्या के क्षेत्र पर इसका अधिकार है। इसमें ६२ संबद्ध महाविद्यालय हैं जिनमें ३१२९५ छात्र अध्ययन कर रहे हैं। गत वर्ष इस विश्वविद्यालय से हिन्दी लेकर २०१४ स्नातक उत्तीर्ण हुए। राजस्थान का इससे निकट संबंध है और कुछ वर्ष पहिले उसके कालेज इसी से संबद्ध थे। अखिल भारतीय हिन्दी परिषद का केन्द्र भी यहीं है, जिसमें अहिन्दी भाषी प्रदेशों से हिन्दी सीखने के लिए छात्र आते हैं।

किंबहुना, समस्या केवल हिन्दी के प्रसार की नहीं है वरन् यह है कि भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से सशक्त भाषा के रूप में इसकी सम्वर्द्धना की जाय। साथ ही साथ यह सम्वर्द्धना अन्य भारतीय भाषाओं और उपयोगी विदेशी भाषाओं से मुहाविरे और शब्दावलियाँ लेकर भी की जाय।

दूसरी समस्या यह है कि उन विश्वविद्यालयों और संगठनों को, जो कि हिन्दी के प्रसार और सम्वर्द्धन के लिए काम कर रहे हैं, एक दूसरे के निकट संबंध में किस प्रकार लाया जाय। इस संबंध में सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि क्या आगरा विश्वविद्यालय राष्ट्र-भाषा की एक संस्था स्थापित करे? इसका क्षेत्र, विधान, उद्देश्य और कार्य-प्रणाली क्या हो? इसके लिए यह बात हमेशा ध्यान में रखनी होगी कि जहाँ तक हो सके भाषा के

संवर्द्धन को ही दृष्टि में रखा जाय उसके प्रसार को नहीं, कि इसका उद्देश्य भारतीय भाषाओं और उनके हिन्दी विषयक संबंध की दृष्टि से भाषा-तत्त्व का उच्चस्तरीय अध्ययन कराना हो और इसका स्तर प्रथम श्रेणी की स्नातकोतरीय संस्थाओं जैसा हो। अभी कल हम लोगों ने सुना कि हिन्दी का एक छात्र यूरोप गया है, हिन्दी के विशेष अध्ययन के लिये। गुजराती के एक प्रोफेसर महोदय डा. टर्नर के अधीन लंदन विश्वविद्यालय में गुजराती विषयक भाषा-शास्त्रीय अध्यन कर रहे हैं। इन उदाहरणों से हमारे देश में भाषा-तत्त्व विषयक उच्च अध्ययन के ऊँचे केन्द्रों की सामर्थ्य पर सागरमित प्रकाश पड़ जाता है। यह समीचीन नहीं होगा कि ऐसे विद्यार्थियों में पाश्चात्य के प्रति आकर्षण का आरोप किया जाय। हमें यह मानना होगा कि भारतीय भाषाओं के संबंध में भाषा तत्त्व विषयक उच्च अध्ययन पर हमारे विश्वविद्यालयों में वह ध्यान नहीं दिया गया जो दिया जाना चाहिये था।

भारतीय भाषाओं से, संस्कृत से, साथ ही अँगरेजी के तुलनात्मक अध्ययन से, हम चाहेंगे कि विभिन्न भाषाओं के प्रबल तत्त्वों को पचाने का विधिवत् उद्योग हो। भाषा और साहित्य के समानान्तर आन्दोलनों का तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये। कौन से शब्द, मुहाविरे अथवा वाक्यांश भारतभर में समान हैं, इसका अनुसंधान होना चाहिए। उन प्रवृत्तियों का जिनके प्रोत्साहित करने से हिन्दी को आधुनिक भाषा विषयक आवश्यक शक्ति और सम्पत्ति मिलेगी अनुसरण होना चाहिए और सबसे ऊपर विद्वानों के संयुक्त परिश्रम से महाभारत, रामायण की भाँति के बहुप्रिय ग्रंथों की रचना भी होनी चाहिए। साथ ही विश्व साहित्य के कोष का ऐसी शैली और रूप में सम्पादन भी होना चाहिए, उसे ऐसा स्तर देना चाहिए कि वह आधुनिक हिन्दी को शक्ति प्रदान कर सके। यह भूलने की बात नहीं है कि आधुनिक अँगरेजी के तीव्र विकास का कारण यही नहीं था कि लैटिन और फ्रेंच भाषाओं से उसका घनिष्ठ सम्पर्क था किन्तु बाइबिल तथा शेक्सपियर के नाटक जैसी दो महान् रचनाओं का प्रभाव भी था। हिन्दी के सम्वर्द्धन में इस संकीर्ण दृष्टि से काम नहीं लेना चाहिये कि विदेशी मुहाविरों के लिए उपयुक्त पर्यायवाची शब्द सिद्ध कर लिए जायँ अथवा हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत कर लिये जायँ, जब तक कि वे मौलिक जैसे ही सुन्दर न हों। जहाँ तक पहली बात का संबंध है, भारतीय सरकार ही समस्त देश के लिए यह काम कर रही है; अतः इसी दिशा में अन्य उद्योगों का अर्थ होगा शक्ति का अपव्यय। शब्द तो प्रयोग से जीवित रहते हैं। शब्द-निर्माताओं की कृत्रिम चेष्टाओं से नहीं। पर यह वांछनीय है कि देशभर में प्रयोग में एक समानता रखी जाय।

निःसन्देह अनुवादों का अपना उपयोग है। उत्तर प्रदेश सरकार के पास अनुवादों के लिए कोष हैं और उपकुलपतियों के सम्मेलन ने यह सुझाव दिया है कि प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं जायँ। निःसन्देह यह काम भी आवश्यक है किन्तु इसे अधिक महत्त्व देना मेरी सम्मति में हमारे अभिप्राय के लिए विशेष उपयोगी नहीं होगा। हमें उस्मानिया विश्व विद्यालय के दुर्भाग्यपूर्ण अनुभव को नहीं भूल जाना है। तीस साल तक हैदराबाद के

निज़ाम ने एक विशाल अनुवाद-संस्थान को चलाया और यह चेष्टा की गई कि अरबी शैली की उर्दू में ऊँची शिक्षा दी जाय। अतः इस प्रयोग में ६०,००० शब्द गढ़े गये। अधिकांश इनमें से प्रयत्न पूर्वक प्रस्तुत किये हुए शब्द थे जिनसे यह आशा की जाती थी कि मात्र अनुवाद से ही यह नया शब्द अंगरेजी शब्द की मौलिक व्यञ्जना को आकर्षित कर लेगा। ऐसा नहीं हुआ। विशाल धन-राशि को व्यय करके एक पहुँच से बाहर का कठिन शब्द-कोष बनाया गया। उनसे न तो ज्ञान ही पैदा हुआ न भाषा का सम्वर्द्धन ही हुआ, और न माध्यम को संजीवित शक्ति ही मिली। ऐसी कृत्रिम वृद्धि भाषा के ठोस सम्वर्द्धन में किंचित भी सहायक नहीं होती।

मैं आशा करता हूँ कि सभी विश्वविद्यालय और वे संगठन, जिनके कि प्रतिनिधि यहाँ उपस्थित हुए हैं, सभी इस उद्योग में सहयोग देंगे जिससे हम संयुक्त होकर ऐसे प्रयत्न कर सकें जो राष्ट्रभाषा के हित में सहायक हो सकेंगे।

क. मा. मुन्शी

हिन्दी विद्यापीठ से आशाएं*

मैं आशा करता हूँ कि जिस हिन्दी विद्यापीठ का आज उद्‌घाटन हो रहा है वह उस प्रथित पथ का अनुसरण नहीं करेगा, जिसमें हिन्दी प्रादेशिक भाषा की तरह ही व्यवहार में लायी जाती है, प्रादेशिक मार्ग मे ही उसकी सम्वर्द्धना की जाती है और हिन्दी भाषी क्षेत्र की बोलियों में ही अनुसंधान सीमित रखा जाता है। यह विद्यापीठ, मैं विश्वास करता हूँ, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में संवर्द्धित करेगा; हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का युग आरम्भ करेगा; हिन्दी को संस्कृत की सम्पत्ति और लचीलापन देकर ही संतोष ग्रहण नहीं करेगा, वरन् हमारी कुछ भारतीय भाषाओं में मिलने वाले ओज, शक्ति तथा शब्दावली को भी ग्रहण करेगा। मैं आशा करता हूँ कि यह केवल हिन्दी साहित्य के अध्ययन को ही प्रोत्साहन नहीं देगा वरन् भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों और उन अखिल भारतीय साहित्यिक आन्दोलनों के अध्ययन को भी प्रोत्साहन देगा, जिनमे हमारे समस्त साहित्य अनुप्राणित हुए हैं; और हिन्दी के माध्यम से भाषा विषयक अनुसंधान और साहित्यिक उपलब्धियों का सर्वोपयोगी भंडार प्रस्तुत कर देगा। मैं आशा करता हूँ कि इस संस्था का यह उद्योग होगा कि तुलसीदास के आश्चर्यचकित करनेवाले माध्यम में जो शक्ति और वैविध्यपूर्ण श्री-सम्पन्नता थी, वह हिन्दी में आ जाय। उस महान् कवि ने संस्कृत के साथ अन्य उत्तरी भाषाओं से भी सामग्री ली थी; उसने परम्परा से प्राप्त मार्ग की अपेक्षा प्रचलित प्रयोग को प्रधानता दी। उसके हाथों में भाषा एक ऐसा शक्तिशाली साधन बन गई थी कि उसके द्वारा वह मानवीय विचारों, आवेगों और आकांक्षाओं का पूरा खेल खेल सका। ऐसे ही रूप की हिन्दी हम चाहते हैं। हम हिन्दी को जड़ताओं से मुक्त चाहते हैं। भारतीय भाषाओं में जो सर्वोत्तम है, वह उसमें सम्मिलित हो और जहाँ अनिवार्य हो वहाँ अँगरेजी शब्द भी ग्रहीत हों। उसकी उन समस्त दुर्बलताओं को हम झाड़ फेंकना चाहते हैं जो कि उसकी शक्ति और सौन्दर्य के, आधुनिक भाषा के रूप में सम्वर्द्धित होने में, बाधक हैं।

मुझ जैसे अहिन्दी भाषी सामान्य जन के लिए यह अनधिकार चेष्टा होगी कि मैं बताऊँ कि हिन्दी कैसी हो। किन्तु यदि हिन्दी को भारती होना है तो मैं यह मत देने का साहस करता हूँ कि उसे नई शैलियों, मुहाविरों, अभिव्यञ्जनाओं और शब्दों को ग्रहण

* हिन्दी विद्यापीठ के उद्‌घाटन के अवसर पर कुलपति का भाषण।

करने के लिए तैयार रहना होगा। उस सामन्तवादी विलासी स्वरूप को भूल जाना होगा जो कि बाण ने संस्कृत को प्रदान किया; संस्कृत का स्पष्ट काम उसकी अभिव्यक्ति को सम्वर्द्धित करना होगा। हिन्दी को अपनी निजी प्रतिभा का तो पूर्णतः विकास करना ही होगा, अन्य भारतीय भाषाओं की विशिष्ट चमत्कारिकता और सम्पत्ति से भी उसे विमुख नहीं होना होगा। यह तभी हो सकता है जब इन समस्त भाषाओं की महान् कृतियों से हिन्दी साहित्य का भंडार भरा जाय, पर उसे यांत्रिक अनुवादों से नहीं वरन् ऐसे मुक्त अनुवादों से परिपूर्ण किया जाय, जिसमे मौलिक रचना की आत्मा, लय और ओज हिन्दी में आ सकें।

यदि हिन्दी को पूर्ण सम्पन्न भारती भाषा के स्तर पर पहुँचना है तो आधुनिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए अंग्रेजी शब्द के संस्कृत पर्यायवाची अनुवाद मात्र से काम नहीं चलेगा; उसे किसी भी भारतीय भाषा में विद्यमान ओजस्वी शब्द, मुहाविरे अथवा अभिव्यञ्जना को ग्रहण करना होगा, जैसा कि कुछ भारतीय भाषाओं में होता रहा है। कुछ ऐसे शब्दों के लिंगों में भी परिवर्तन करने होंगे जो कि संस्कृत से लिए गए हैं। जब आप आग्रह करते हैं कि पुस्तक को तो स्त्रीलिंग माना जाय और कमल को पुरुष, तो आप हम सबके लिए हिन्दी को ग्रहण करने के मार्ग में कठिनाई प्रस्तुत कर देते हैं। हम चाहेंगे कि हिन्दी हमें एक अद्भुत भाषा के रूप में प्रतीत न हो। भविष्य में किसी न किसी रूप में हिन्दी को और लचीला होना होगा और संस्कृत से लिये हुए शब्दों के लिए तीन लिंग स्वीकार करने होंगे, जो सामान्यतः प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में स्वीकृत हैं। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी विद्यापीठ तीव्र गति से बढ़ेगा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित करने में सफल होगा, इसलिए नहीं कि आज उसकी आवश्यकता है बल्कि इसलिए कि उसमें निजी आन्तरिक गुण हैं।

पं. गोविन्द वल्लभ पन्त

राष्ट्रभाषा की उन्नति का प्रश्न और हिन्दी विद्यापीठ*

श्री राज्यपाल महोदय ! उपकुलपति महाजन जी ! और महोदयगण !

मैं आपसे क्षमा याचना करता हूँ कि मुझे यहाँ पहुँचने में विलम्ब हो गया। इसी कारण यहाँ के कार्यक्रम में कुछ परिवर्तन भी करना पड़ा। हवाई जहाज वैसे तो समय बचाता है परन्तु और मशीनों की भाँति जरा बेकाबू भी हो जाता है। फिर भी उसका स्थान दूसरी चीज नहीं ले सकती। अभी जो विमान दुर्घटनायें हुई हैं, उनमें हमारे कुछ विख्यात कार्यकर्ताओं और नेताओं की आहुति हुई। इससे वायुयान चालकों में कुछ भय सा बैठा गया है। फलतः जब तक वे पूरा निश्चय नहीं कर लेते तब तक वे राजी नहीं होते। खैर, मैं श्री राज्यपाल, महाजन जी और आप सबका आभारी हूँ कि आपने इस शुभ अवसर पर यहाँ उपस्थित होकर इस शुभ कार्य के करने का मुझे आदेश दिया। आज का दिन वैसे ही महत्त्व का है। आज हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना होना और उसकी नींव डाला जाना, आगरा विश्वविद्यालय के लिए अत्यन्त उपयोगी कार्य है। जैसा आपको ज्ञात है, हमारी व्यवस्थापिका सभा ने असेम्बली में आगरा विश्वविद्यालय संशोधन बिल रखा था और उसको असेम्बली में पास करा कर ही मैं यहाँ आया हूँ आज आगरा विश्वविद्यालय के पुनर्निर्माण का शिलान्यास करने का आदेश मिलना एक शुभ और आशा वर्द्धक घटना है।

आगरा विश्वविद्यालय ने स प्रदेश में ही नहीं, प्रदेश से बाहर भी विद्वानों को उत्पन्न किया है। इस प्रकार हमारे प्रदेश ने पड़ोसी प्रदेशों में भी विद्या प्रचार किया है। अब हमें और आगे बढ़ना चाहिए और इस प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त कर अपने उद्देश्य में सफल होना चाहिये और सुन्दरतापूर्वक राजनैतिक कार्यों को पूरा करना चाहिये। इसी आदर्श और उद्देश्य से हिन्दी विद्यापीठ का शिलान्यास आज किया गया है। वस्तुतः हिन्दी विद्यापीठ उस सम्मेलन का ही फल है जो कुछ महीने पहले यहाँ हुआ था। उसमें सारे देश के हिन्दी के विद्वान आमंत्रित किये गये थे। इन विद्वानों ने हिन्दी के विकास के संबंध में अपने अपने विचार प्रकट किये थे। आज हिन्दी के महत्त्व को शब्दों में प्रकट करने में हमें कठिनाई हो गई है। अंग्रेजी का जो दर्जा इंगलैंड में या अमरीका में है, या फ्रेंच का फ्रांस

* श्रीयुत पं. गोविन्द वल्लभ जी पन्त, मुख्य मंत्री, उत्तर प्रदेश (अब भारत के गृहमंत्री) का दिनांक १४ दिसम्बर सन् १९५३ को आगरा विश्वविद्यालय में हिन्दी विद्यापीठ के उद्घाटन समारोह पर दिया गया भाषण।

में है या दूसरे देशों में वहाँ की भाषाओं का जो दर्जा है, उससे भी बढ़कर हिन्दी को हमारे देश में स्थान प्राप्त होना चाहिये। आज भी हमारे राजदूत विदेशों में अपने प्रमाणपत्र हिन्दी में देते हैं। प्रमाणपत्रों का अंग्रेजी में देना राष्ट्र सम्मान के विरुद्ध समझा जाता है। अभी अफगानिस्तान के एक अमीर यहाँ आये थे। उनको एक दावत दिल्ली में दी गई थी। उन्होंने कहा कि हिन्दुस्तान जैसे बड़े देश में अंग्रेजी में व्याख्यान सुनना मुझे अजीब लगा। इससे हमारा ही देश अच्छा है, जहाँ पर हम लोग अपनी ही टूटी फूटी जबान में अपने विचार प्रकट करते हैं। उनके इन शब्दों से थोड़ी देर के लिये वहाँ एक गम्भीरता उत्पन्न हो गई।

हिन्दी को हमने अपनी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया है। हिन्दी भाषियों को इसके लिए हमारे राष्ट्र के अन्य भाषाभाषियों के प्रति अनुगृहीत होना चाहिये क्योंकि कोई भाषा, थोड़े से आदमियों पर भी उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं लादी जा सकती। इस हिन्दी विद्यापीठ से कुछ अपना संबंध होना इसलिए भी मेरी खुशी का कारण है कि जब दिल्ली असेम्बली में हिन्दी राष्ट्रभाषा बनाई गई थी, उस समय मैंने भी उसमें थोड़ा सा योग दिया था। वहाँ पर मुझे अपने विचार रखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यह सफलता की बात है कि भिन्न भिन्न प्रदेशों के भाषाभाषियों ने स्वेच्छा से अपनी अनुमति प्रदान की। मैंने कहा था कि जब तक सबकी अनुमति न हो, हिन्दी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। जब सबने हिन्दी को स्वीकार किया है, तो हमारा कर्तव्य है कि हम हिन्दी को इस राष्ट्र की भाषाओं के अनुरूप बनावें और हिन्दी से संबंधित लोग राष्ट्रभाषा के पवित्र विषय के मन्थन में कोई संकीर्णता न आने दें। हिन्दी को आज इस उच्चासन पर बिठाने में हमारे देश के सभी भाइयों ने, विशेषकर दक्षिण के भाइयों ने, जिनका हिन्दी भाषा से उतना संबंध नहीं रहा है, अपनी सहमति दी।

आप जानते हैं कि हिन्दी, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के द्वारा बनी और हिन्दी में तीन सौ चार सौ वर्षों से लेकर आज तक काफी परिवर्तन होते रहे हैं। यदि आप आज से सौ वर्ष पहले की हिन्दी के गद्य-पद्य को देखें तो काफी अन्तर दिखाई पड़ेगा। हमारी भाषा सदैव सजीव रही है। जो कुछ भी ग्राह्य वस्तु मिली, बल मिला, भाव मिले, उन सबको हिन्दी ने अपनाया। इसी कारण उसका बल, ओज बढ़ता गया। आज जब वह हमारी राष्ट्रभाषा मान ली गई है, तब हमें इसे एक ऐसी भाषा बनाना चाहिए कि हिन्दुस्तान के अन्य भाषा भाषी भी यह समझें कि यह उनकी भाषा है। उनको यह न लगे कि यह कोई दूसरी भाषा उनके ऊपर थोपी जा रही है।

हमारे राज्यपाल महोदय ने अभी कहा कि मैं तो हिन्दी–भाषी नहीं हूँ। किन्तु वे तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्तम्भ रहे हैं। हिन्दी-प्रचार और हिन्दी को नवजीवन प्रदान करने में उनका स्थान अग्रणी रहा है। इसलिये यदि वे अपने को हिन्दी से अलग समझते हैं तो मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ; उनको मानना ही पड़ेगा। वे हिन्दी को बड़ी गहरी निधि छोड़ चुके हैं और यदि वे उससे अपने को दूर ही समझते हैं तो वे उसके उतने ही नजदीक आ चुके हैं। उन्होंने हिन्दी को अपनी संस्कृति का अंग बना लिया है। वे न तो उसे छोड़ ही सकते हैं और न हिन्दी ही उनसे अलग हो सकती है। जब

जवानी में ही यह सम्भव नहीं हो सका तो अब बुढ़ापे में तो कहना ही क्या है। उन्होंने इसे जिस तरह अपने जीवन में अपनाया है, उसी तरह हिन्दी विद्यापीठ को सफलता की आवश्यकता है।

हमें अंग्रेजी से विरोध नहीं है। मैं समझता हूँ कि यदि किसी मनुष्य को किसी भाषा से विरोध है तो वह उसकी संस्कृति के लिए किसी कदर सराहनीय बात नहीं है। मनुष्य ने आज बड़े बड़े हवाई जहाज चला रखे हैं। लन्दन और न्यूयार्क थोड़े समय में ही पहुँच जाते हैं। यह किसी भी भाषा के बनाने में लाभदायक बात है और यदि संसार का क्लेश और अशान्ति मिट गई तो इस बात का पूरा यत्न होगा कि एक ऐसी अखिलदेशीय भाषा बनाई जाय जिसमें सभी का काम चल सके। पहले भी ऐसा प्रयत्न हुआ; परन्तु वह सफल न हुआ। मैं चाहता हूँ कि हिन्दी ऐसी ही अनन्त हो। हिन्दी के विचारकों का कर्तव्य है कि हिन्दी में इसी प्रकार की योग्यता पैदा करें और उसे ऊँचे दर्जे पर लावें। हमारी भाषा सदैव सजीव रही है। संस्कृत हुई, पाली हुई, प्राकृत हुई और जो भी भाषाएँ हुईं, वे हमारे देश की तीन चार भाषाओं, जैसे तमिल, तेलुगू, मलयालम आदि को छोड़ कर, सभी एक दूसरी से मिलीं जुलीं हैं। हिन्दी और उर्दू में कोई अन्तर नहीं है। वे एक ही की सन्तानें हैं। संस्कृति के द्वारा जो संस्करण हुए हैं, उनको ध्यान में रखते हुए, भाषा के सिद्धान्त का एकीकरण कुछ इस प्रकार से होना चाहिये कि हिन्दी वास्तव में राष्ट्रभाषा बन जाय। विभिन्न भारतीय भाषाओं के शब्द, उनके 'ईडियम्स' हिन्दी में एक दूसरे में घुलमिल जायँ तथा उनका स्वेच्छा से प्रयोग किया जाय। वे दूसरों को खटकें नहीं। आज के युग में स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने में बहुत सरलता हो गई है। आज के जो हिन्दी के विद्वान हिन्दी को अपनाते हैं, उनको भी इसी तरह विचार करना है।

जो लिंग-भेद आज क्रिया के साथ है, वह किसी एसे आधार पर नहीं है जो कि किसी भाषा का सिद्धान्त बना लिया जाय। किसी को "पुस्तक चाहता हूँ" या "पुस्तक चाहती हूँ" कहना कठिन होता है। जब हमें राष्ट्रभाषा बनानी है तो स्टैंडर्डाइज़ भी करना होगा। आवश्यक शब्दों को सभी स्थानों से लेना चाहिए। राष्ट्रभाषा के बनाने में इस बात की हमें कोई ममता नहीं होनी चाहिए कि यह तो हिन्दी में थी ही नहीं और अब हिन्दी में ली जा रही है, इससे इसकी पवित्रता में बाधा न पड़ेगी। उनका उपयोग करने से विचार और भावना को भी बड़ी सहायता मिल सकती है। जो मन में हो उसको शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जो एक ही आशय वाले शब्द एक दूसरे से मिल सकें, उनका लेखनी और वाणी से पूरी मात्रा में उपयोग करना चाहिये। हाँ, जो हमारी भाषा का प्राण है, वह रहना चाहिये। जैसे कि शरीर से आत्मा के निकल जाने पर शरीर, चाहे कितना ही लंबा चौड़ा हो, किसी काम का नहीं रहता, प्राणहीन होने पर यही अवस्था भाषा की हो जाती है।

अन्त में हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि संस्कृति के आधार पर ही भाषा सबल बनती है। जो हिन्दी और उर्दू हैं, वे अपभ्रंश से ही जन्मीं हैं। पाकिस्तान में जो भाषा काम में लाई जा रही है, उसमें जो शब्द ऐसे हैं जिनको हम रख सकते हैं, जिनके द्वारा

हम भावों को प्रकट कर सकते हैं, उनको हमें काम में लाना चाहिये। यदि हम साहित्य की पवित्रता का यह अर्थ समझते हैं कि उसको कोई छूये नहीं, तो हमें इस पद्धति को नहीं मानना चाहिये। भाषा में जैसे भी हो सहायता पाने का आग्रह करना चाहिये। उससे हमें बल मिलता है और हम इस नये बल को पाकर और ऊपर उठ सकते हैं। हमारी संस्कृति ऐसी ही होनी चाहिये।

हमें यदि हिन्दी की उन्नति करनी है तो अवश्य अपनी प्रादेशिक भाषायें एक दूसरे से सीखनी होंगी। उसके बिना हम हिन्दी को सर्वसामान्य रूप नहीं दे सकते। हमें अपने और अन्य के बीच कोई भेदभाव नहीं रखना होगा। उसी अवस्था में वे हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी को सीखेंगे और अपनायेंगे। उन्हें भी सन्तोष होगा कि हम उनकी भाषा को सीख रहे हैं। इस प्रकार हमारा राष्ट्र और भी सबल हो सकेगा। इसके लिए हमें एक लिपि की आवश्यकता है। हमने नागरी लिपि को माना है। अभी हाल ही में लखनऊ में एक सम्मेलन हुआ था। उसमें लिपि के संबंध में यह सुझाव रखा गया कि किस प्रकार उसमें आवश्यक संशोधन हों, जिससे समाज की संकीर्णता दूर होकर, उसका विकास हो सके। उसमें ऐसी शक्ति आनी चाहिए कि वह अपने ही बल से बढ़ती और फैलती जाय।

हिन्दी के संबंध में मैंने कुछ बातें कहीं। राष्ट्रभाषा को, जैसी उच्च और परिपक्व भाषा होना चाहिए, वैसा बनाना है। 'शब्द हमारे पास नहीं', यह आज की एक प्रणाली होती जा रही है। यदि ऐसे शब्दों को ढूंढ़ निकाला जाय जिनकी विशेषता ही यह हो कि उन्हें कोई समझ ही न सके, तो यह तो उस भाषा के विरुद्ध बात है। हमें जो राष्ट्र-भाषा बनानी है, उसमें इससे विरोध भी पड़ सकता है। साहित्य के लिए जैसी भी चाहें वैसी शैली बरती जा सकती है, पर राष्ट्रभाषा ऐसी हो जो सारे जन-समाज की समझ में आ सके। सबको ऐसा आभास होना चाहिये कि इसमें हमारा ही अंश है। देववाणी संस्कृत के समान शायद ही कोई भाषा हो सकती है। परन्तु उसको हमने, हमारे पुरुषाओं ने, तथा जिन्होंने उसमें काम किया उन्होंने, इतना क्लिष्ट बना दिया कि सारी जनता उसके बोझ को नहीं सँभाल सकती। उसके भिन्न भिन्न रूप हो गये पाली, प्राकृत और अपभ्रंश आदि। हिन्दी को हमें ऐसा नहीं बनाना चाहिये कि उसकी जगह कोई और भाषा ले ले। ऐसा करने से हमारा उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकेगा। हमें हिन्दी को शुरू से बड़ा बनाना है। हमारा साहित्य हमारे जैसे विशाल देश के अनुरूप होना चाहिये। मैं यह तो नहीं कहता कि हिन्दी में दूसरी भाषाओं से कमी है। यदि कमी है तो उसकी जिम्मेवारी हमारे ऊपर है। हमें हर प्रकार से उसे उन्नत बनाना चाहिये।

मैं आशा करता हूँ कि आज जिस हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना हो रही है, वह हिन्दी को उन्नत करने में सफल होगा और उसके द्वारा हमारे देश की एकता और पारस्परिक प्रेमभाव की वृद्धि में काफी योग मिलेगा। राजनैतिक बन्धन किसी भी देश की उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं हैं। उसके लिए देश के हृदय की झंकार एक होनी चाहिये। भाषा के माध्यम से इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। अन्त में मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी के द्वारा हमारे राष्ट्र का उत्थान होगा और राष्ट्रीय संगीत, माधुर्य और लालित्य हमारे देश में व्याप्त होगा। यही नहीं, उसकी किरणें बाहर भी काफी फैल सकेंगी।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी

हिन्दी का उत्तराधिकार*

श्री उपकुलपति महोदय, महिलाओ और सज्जनो !

आज इस संध्या के समय मेरे व्याख्यान का जो विषय है वह कुछ उलझन वाला है। यह हिन्दी के उत्तराधिकार के संबंध में है। इससे मेरा तात्पर्य है कि हिन्दी ने विगत अतीत से दाय रूप में क्या प्राप्त किया और आने वाली पीढ़ियों को देने के लिए उसने किन चीजों का विकास किया। उत्तर भारत के लोगों के लिए, जिन्हें हम हिन्दी के साथ संबद्ध कर सकते हैं, यह एक प्रकार की 'विरासत' या 'रिक्थ' है।

हिन्दी के लिए पहिली चीज़ जिस पर ध्यान जाना चाहिए, वह है संख्या का महत् उत्तराधिकार, जो उसके पीछे वर्तमान है। इस समय इस पृथ्वी पर लगभग ८०० भाषाएँ और बोलियाँ बोलीं जातीं हैं। इनमें से लगभग ७५० लिखित रूप धारण कर चुकी हैं और ईसाई धर्मशास्त्रों के कुछ खंड (यदि पूरी बाइबल न हो तो) इन भाषाओं में अनूदित मिलते हैं। ये आँकड़े आपको 'ब्रिटिश एंड फॉरन बाइबिल सोसायटी' की रिपोर्ट में प्राप्त होंगे। ईसाई धर्मशास्त्रों को मानवी भाषाओं या सभी मनुष्यों की भाषाओं में प्रकाशित करना इस सोसायटी का ध्येय है। इन भाषाओं में से कुछ तो लाखों करोड़ों मनुष्यों में प्रचलित हैं और कुछ, कुछ हजार या सौ व्यक्तियों द्वारा ही बोलीं जाती हैं। इनमें से भी बहुत सी अपनी समाप्ति की सीमाओं को प्राप्त कर रहीं हैं। हमारे इस जीवन की स्मृति में ही बिना किसी उत्तराधिकारिणी को छोड़े हुए, भाषाओं के अस्त होजाने की घटनायें हुई हैं। इनमें से एक तो दक्षिण पश्चिम इँगलेंड के कार्नवाल प्रदेश की कार्निश भाषा है जिसे बोलने वाला अन्तिम व्यक्ति १७७८ के आसपास दिवंगत हुआ। एक ऐसा ही दूसरा उदाहरण हमें मिलता है तस्मानिया भाषा का, जो आस्ट्रेलिया में ब्रिटिशों के गमन के पश्चात् मर गई और ऐसी ही और भी बहुत सी भाषाएँ समाप्ति के पथ पर हैं। वास्तव में, आज कोई भाषा यदि फैलती नहीं है, यदि उसको बोलने वाली जन संख्या की वृद्धि के साथ उसका स्वाभाविक प्रस्तार नहीं होता है, तो वह अशुभ की ओर जा रही है, संभवतः उसका अन्त समीप आ गया है।

दुनियाँ की महान् भाषाओं में हम उत्तरी चीनी भाषा को रख सकते हैं, जो इस संसार के सबसे अधिक संख्या वाले जन-समुदाय में प्रचलित है। इस समय लगभग दो

* आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ द्वारा आयोजित व्याख्यान-माला के अन्तर्गत ११ दिसम्बर १९५३ को दिया गया व्याख्यान।

अरब पचास करोड़ व्यक्ति इस पृथ्वी पर जीवित हैं जिनमें से पचास करोड़ चीनी भाषा बोलते हैं। चीनी का लगभग ४/५ हिस्सा यानी ४० करोड़ व्यक्ति एक प्रकार की उत्तरी चीनी भाषा बोलते हैं और शेष चीनी की अन्य विभिन्न बोलियों का व्यवहार करते हैं, जिनमें से कुछ तो स्पष्ट ही अलग भाषा का रूप प्राप्त कर चुकीं हैं। फिर इसके बाद आती है अंग्रेजी। यह लगभग अट्ठारह करोड़ व्यक्तियों की घरेलू भाषा है, लेकिन इसका महत्त्व इसको अपने घरों में बोलने वाले विशिष्ट जन-समुदाय की भाषा होने की अपेक्षा दूसरी दृष्टियों से और भी अधिक है। यह विश्व की सर्वाधिक प्रगति पूर्ण भाषाओं में से एक है और लगभग पाँच करोड़ व्यक्ति इसे अपने सरकारी और सार्वजनिक कार्यों में व्यवहृत करते हैं। यद्यपि घरेलू भाषा की दृष्टि से, संख्या में यह उत्तरी चीनी के बाद आती है, पर दूसरी दृष्टियों से आज यह विश्व की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशालिनी भाषा है। बोलने या व्यवहार करने वाले व्यक्तियों की संख्या की दृष्टि से हिन्दुस्तानी या हिन्दी विश्व की तीसरी भाषा है। यह उन पाँच करोड़ लोगों की भाषा है जो हिन्दी या खड़ी बोली या उससे बहुत मिलती जुलती किसी बोली को अपनी घरेलू भाषा के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इनसे मेरा तात्पर्य पश्चिमी हिन्दी प्रदेश के लोगों से है अथवा पछाँहीं हिन्दी बोलने वालों से है। इन पाँच करोड़ लोगों के अतिरिक्त लगभग नौ करोड़ व्यक्ति और ऐसे हैं जो अपने घर पर विभिन्न भाषाओं को, केवल बोलियों को ही नहीं, प्रयोग में लाते हैं लेकिन जिन्होंने हिन्दी को अपनी शिक्षा, साहित्य और सार्वजनिक जीवन की भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार लगभग पाँच करोड़ और नौ करोड़ अर्थात् चौदह करोड़ व्यक्ति हिन्दी बोलने या प्रयोग में लाने वालों की दुनियाँ का या हिन्दी संसार का सीमा-निर्धारण करते हैं। पिछले दशक में यह १४ करोड़ की संख्या बढ़ भी गई होगी, शायद १५ करोड़ तक भी पहुँच गई हो। पर इस संख्या के अतिरिक्त भी १२ करोड़ व्यक्ति और भी ऐसे हैं जो आर्य भाषा भाषियों की संख्या को २६ करोड़ तक पहुंचाते हुए तथा दूसरी भाषाओं जैसे मराठी, बंगाली, नैपाली को बोलते हुए और साहित्य तथा सार्वजनिक कार्यों के लिए व्यवहार में लाते हुए, हिन्दी को किसी न किसी रूप में समझ लेते हैं। ये हिन्दी के आर्य भाषा भाषी लोग हैं। हिन्दी की यही स्थिति है—संसार में तीसरी—चौदह करोड़ व्यक्तियों द्वारा व्यवहृत और लगभग २६ करोड़ द्वारा समझी जाने वाली और सबसे सुविधाजनक सामान्य भाषा के रूप में ग्रहीत होने वाली। इसके अतिरिक्त भारत के द्रविड़ और आस्ट्रेलियन तथा चीनी-तिब्बती भाषा बोलने वाले समुदाय भी सबसे अधिक सुगमता के साथ हिन्दी को सीख लेते हैं और भारत की शेष जनता के लिए हिन्दी भावी राष्ट्र-भाषा या राष्ट्र-भारती है।

फिर हिन्दी के बाद आती है स्पेनियन जो न केवल स्पेन में, अपितु अलास्का, कनाडा, यूनाइटेड स्टेट्स और ब्राज़ील को छोड़ कर शेष दोनों अमेरिकाओं में प्रचलित है और जिसके बोलने वालों की संख्या १२ करोड़ है। उसके बाद है रूसी भाषा—लगभग ११ करोड़। फिर है जर्मन, ८ करोड़ से कुछ अधिक तथा जापानी, ८ करोड़। फिर इंडोनेशियन या मलय जो आज समस्त इन्डोनेशियन जनतन्त्रीय द्वीप में प्रचलित है और जो 'बहसा इंडोनेशिया' या इंडोनेशिया की सकरकारी भाषा कही जाती है। इसके बाद आती

है बंगाली जो ६ करोड़ ३० लाख व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है, फिर फ्रेंच, तब अरबी और फिर संभवतः इटालियन और अन्त में तेलुगू: ३ करोड़ ४० लाख से अधिक। ये संसार की १२ बड़ी भाषाएँ हैं जो बहुत बड़ी संख्या के लोगों द्वारा बोलीं जातीं हैं और हिन्दी की संख्या-शक्ति इस संबंध में सबसे पहिली ध्यान देने की चीज है। सन् १९४८ में जब संयुक्त राज्य संघ की स्थापना हुई तो उन्होंने संसार की सबसे बड़ी भाषाओं में से पाँच को स्वीकार किया जो संख्या और संस्कृति की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थीं और ये ही पाँच भाषाएँ संयुक्त राज्य संघ की प्रशासकीय भाषाएँ बनीं। इनमें से पहिली थी अंग्रेजी और दूसरी फ्रेंच; यद्यपि यह दूसरी भाषा संख्या में अन्य बहुत सी भाषाओं से बढ़ कर नहीं थी फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय विशेषतः लैटिन राज्यों की, विचार-विनिमय और संस्कृति की भाषा तो थी ही। फिर थी स्पेनियन, उसके बाद रूसी, और अन्त में उन्हें चीनी को स्वीकार करना पड़ा। संयुक्त राज्य संघ का कोई भी सदस्य उस सभा में खड़ा होकर इनमें से किसी भी भाषा में अपनी वक्तृता दे सकता है और उसे उसका अनुवाद प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। संयुक्त राज्य संघ ने उसके सही अनुवाद की व्यवस्था कर रक्खी है। भाषा शास्त्रियों की अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी समिति (सी. आई. पी. एल.) में जिसकी बैठक सन् १९४८ में पेरिस में हुई थी, मैं भारत के एक सदस्य के नाते उपस्थित था और जब दूसरे विषयों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं के प्रश्न पर विचार-विमर्श हुआ, तो मैंने सदस्यों से कहा कि संयुक्त राज्य संघ के सदस्यों ने पहिले से ही विस्तृत जन समूहों में बोली जाने वाली कुछ भाषाओं को प्रथमता दे रक्खी है और अब हिन्दी के स्वत्व पर भी विचार करना ही पड़ेगा, क्योंकि हिन्दी भारत के तीन चौथाई व्यक्तियों में प्रचलित भाषा है, एक प्रकार की राष्ट्रभाषा है और इन व्यक्तियों के अतिरिक्त भी जैसा कि मैं ने वहाँ कहा, लगभग १४ करोड़ व्यक्ति, यदि हमेशा अपनी घरेलू भाषा के रूप में उसका प्रयोग न भी करें तो, अपनी शिक्षा और सार्वजनिक भाषा के रूप में उसे प्रयोग में लाते हैं। अतः संयुक्त राज्य संघ के अधिकारियों को उसे एक स्थान—भले ही वह छठा स्थान ही क्यों न हो—देना ही चाहिए। मेरे बोल चुकने के बाद कुछ भाषा-शास्त्री प्रतिनिधि मुझसे मिले और उन्होंने हिन्दी के विषय में और अधिक जानने की इच्छा प्रकट की।

यह है वह स्थिति जिसकी ओर हमें ध्यान देना आवश्यक है। हमें इस तथ्य का स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दी को संख्या का यह महत् उत्तराधिकार प्राप्त है। यह उत्तराधिकार बहुत सी परिस्थितियों का परिणाम है और उन परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन अभी हमें करना है। यह सब होते हुए भी तथ्य यही है कि हिन्दी संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषाओं में से एक है, कम से कम संख्या-शक्ति के विचार से, यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से वह अभी किसी बहुत ऊंचे स्थान की अधिकारिणी नहीं बन सकी है। पर हमें, यथार्थतः हिन्दी प्रदेश के निवासियों को, उसे इस ऊंचे आसन पर बिठाना ही है। एक तरह से यह प्रश्न भारत के सम्मान से भी संबंधित है, उसकी सबसे अधिक विस्तृत क्षेत्र में बोली और समझी जाने वाली भाषा में उच्चकोटि का सांस्कृतिक तत्व

भी होना बहुत आवश्यक है, उसे संसार की सबसे अधिक उन्नत भाषाओं में अपना एक स्थान बनाना है।

इस संबंध में जो सबसे पहिली बात मैं हिन्दी के विषय में कहना चाहूँगा वह यह है कि हिन्दी ने उत्तर भारत की एक बहुत बड़ी संख्या की बोलियों की सम्पूर्ण साहित्यिक परम्पराओं, क्रिया-प्रयत्नों और सिद्धियों को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया है। इस समय हिन्दी की परिधि में बहुत सी ऐसी भाषाओं को आप पाएंगे जो किसी समय हिन्दी से बिल्कुल स्वतन्त्र थीं, जो स्पष्ट भाषाएँ थीं और जिनका आज की खड़ी बोली हिन्दी के आविर्भाव से पूर्व का बहुत प्राचीन साहित्यिक जीवन था। पर खड़ी बोली हिन्दी की वर्तमान साहित्यिक क्रियाशीलता, आज से १०० वर्ष से अधिक पहिले प्रारंभ नहीं हुई थी। हमें मालूम है कि १८५० से पहिले खड़ी बोली हिन्दी की साहित्यिक गति अधिक नहीं थी। खड़ी बोली हिन्दी ने किसी सीमा तक उर्दू की उस स्थिति को भी, जिसे मुगलों की अपेक्षा अंग्रेजों ने, पंजाब से लेकर विंध्य तक के सारे उत्तर भारत की कचहरियों की भाषा बना कर, अधिक सुस्थिर किया था, उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया। जो भी साहित्यिक प्रक्रियाएं उत्तर भारत की विविध भाषाओं में हुईं, उन सभी को हिन्दी ने रिक्थ रूप में प्राप्त किया और इस प्राप्ति का प्रधान साधन उस नए प्रबुद्ध वर्ग का विकास था जो मिडिल स्कूलों और हाई स्कूलों के माध्यम से प्रस्तार पाती हुई अंग्रेजी शिक्षा के साथ साथ पनपा। इन स्कूलों ने एक नई परम्परा को प्रारंभ किया।

शिवसिंह सेंगर और राजा लक्ष्मण सिंह जैसे हिन्दी लेखकों की कृतियाँ इस समय क्षेत्र में आईं और उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों का शिक्षित वर्ग हिन्दी और नागरी लिपि के प्रति उत्तरोत्तर सचेत होता गया। इसका परिणाम हुआ खड़ी बोली हिन्दी के साथ उत्तर भारत की सुस्पष्ट भाषाओं और बोलियों के एक बृहत् समुदाय का समीकरण। भाषा विज्ञान की दृष्टि से बिल्कुल स्वतन्त्र भाषाओं या बोलियों को प्रयोग में लाने वाले लोग किसी एक ऐसी भाषा से, जिसका कुछ साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्त्व स्थिर हो गया हो, अपने को संबद्ध करलें, यह वास्तव में संसार की कोई अनोखी बात नहीं है। दक्षिण फ्रांस के लोग, इसी प्रकार, एक ऐसी भाषा प्रावेंकल बोलते हैं, जो फ्रेंच से बिल्कुल स्वतन्त्र है और जिसके पास अपना मूल्यवान् साहित्य है। पर इतना होने पर भी उन्होंने स्कूल और कचहारियों के माध्यम से फ्रेंच को अपनी शिक्षा और सार्वजनिक जीवन की भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है। अपनी भाषा को विकसित करने का विशेष प्रयत्न वे नहीं करते, यद्यपि घर पर वे उसे बोलते हैं। दक्षिण फ्रांस के कुछ देशभक्त प्रावेंकल लोग अब भी, अपने को आश्वस्त करने के रूप में, अपनी भाषा की श्रीवृद्धि करते रहते हैं, पर वे सभी फ्रेंच भाषा भाषी हैं और जहाँ तक बाहर वालों का संबंध है, फ्रेंच ही का प्रयोग करते हैं। स्कूल में वे यद्यपि फ्रेंच ही पढ़ते हैं, पर यह वे कभी नहीं कहेंगे कि पुराना प्रावेंकल साहित्य फ्रेंच साहित्य का एक अंग है। कोई भी विद्वान् कभी यह संकेत नहीं करेगा कि प्रावेंकल फ्रेंच की एक बोली है और न फ्रेंच साहित्य का विवेचन करते हुए प्रावेंकल साहित्य की चर्चा ही करेगा। लेकिन यहाँ भारतवर्ष में पिछली तीन

पीढ़ियों से हिन्दी की प्रतिष्ठा इतने जोर से बढ़ी है कि एक मैथिली बोलने वाला व्यक्ति उसे हिन्दी की बोली बतला कर पूर्ण सन्तुष्ट रहता है, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से वह हिन्दी से उतनी ही भिन्न और स्पष्ट है जितनी कि मराठी। यही बात गढ़वाली, कुमाऊंनी, मगही, भोजपुरी और छत्तीसगढ़ी बोलने वालों के साथ भी है। संस्कृत का एक श्लोक है;

आकाशात् पतितं तोयः यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति ।।

जिस प्रकार आकाश से गिरा हुआ जल समुद्र में चला जाता है, उसी प्रकार विभिन्न देवताओं को किए गए नमस्कार, अन्त में केशव के पास पहुँच जाते हैं।

इसी लय में आगे कहते हुए हम कह सकते हैं कि––

सर्वभाषासमवायो हैन्दवीम् प्रतिगच्छति।

सब भाषाओं का समुदाय अन्त में हिन्दी-सागर में विलीन हो रहा है।

अब हम स्थिति को देखें। उदाहरण के लिए पहिले हम पछाँहीं या पश्चिमी हिन्दी को लें जो आधुनिक हिन्दी का आधार है। यह दो वर्गों में बाँटी जा सकती है :—

१. अ बोलियाँ–जिनके अन्तर्गत आती है खड़ी बोली या दिल्ली की उर्दू, जो हिन्दी का प्रचलित और स्वीकृत रूप है और वह बोली जो "वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी" या "जनपद हिन्दी" कहलाती है, जो मेरठ और रुहिलखंड विभाग में प्रचलित है, तथा जाट या बाँगरू या हरियानी बोली और पूर्वी पंजाब में बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी के रूप और

२. औ या ओ बोलियाँ–कन्नौजी, ब्रजभाषा और बुन्देली। पहिले की बोलियाँ पुल्लिग के समान रूप से उधार लिए हुए शब्दों में "आ" की प्रवृत्ति रखने के कारण पंजाबी से समानता रखतीं हैं और दूसरी "औ या "ओ" को बनाए रखने के कारण राजस्थानी बोलियों से मेल खातीं हैं। उन पछाँहीं बोलियों का प्राचीन साहित्य, जो ऊपर के पहिले विभाग के अन्तर्गत आतीं हैं, चाहे वह ब्रज भाषा का हो चाहे बुन्देली का, चाहे प्रारम्भिक हिन्दुस्तानी का, चाहे प्रारंभिक दक्खिनी का, वास्तविक रूप में हिन्दी साहित्य के आधार का निर्माण करता है। यही हिन्दी का सर्वोत्तम साहित्य है।

हिन्दी ने कोशली अथवा पूर्वी हिन्दी बोली के नाम से पुकारी जाने वाली अवधी और उसकी भगिनियों बघेली और छत्तीसगढ़ी के सारे साहित्य को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया। तुलसी दास सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में पैदा हुए और वे अकबर के समकालीन थे। उन्होंने अपनी महत्तम कृति रामायण को अवधी में रचा। लेकिन उस समय ब्रज भाषा भी प्रचलित थी और तुलसी दास ने ब्रज में भी रचनाएँ कीं। इस समय में भी दिल्ली की खड़ी बोली पीछे घिसट रही थी और उसकी निकट की बोलियाँ मुसलमानों द्वारा दक्षिण में दक्खिनी के नाम से श्रीवृद्धि पा रहीं थीं। अवधी ने उत्तर भारत की एक महत्वपूर्ण बोली के रूप में अपनी सत्ता को बनाए रक्खा और १६ वीं

से १९ वीं शती तक ब्रजभाषा के साथ साथ वह खूब फलती फूलती रही। अभी हाल में हमने एक प्रकार का अवधी का पुनरुज्जीवन भी द्वारका प्रसाद मिश्र की लम्बी काव्य रचना "कृष्णायन" में देखा। यह अभी कुछ साल पहिले ही प्रकाशित हुई है। साहित्यिक कृतित्व का भी जहाँ तक प्रश्न है, अवधी अब भी एक जीवित उपभाषा है। पर अवधी का पुनर्जागरण लोग हिन्दी खड़ी बोली को स्थान भ्रष्ट करने के लिए नहीं कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य वर्गों में अवधी के दक्षिण में आप इससे संबंधित बघेली को पायेंगे और थोड़ा और दक्षिण की ओर बढ़ने पर छत्तीसगढ़ मिलेगी। फिर कोशली या पूर्वी हिन्दी के पूर्व में तीन बिहारी बोलियाँ हैं—भोजपुरी, मैथिली और मगधी। मैथिली हिन्दी से बिल्कुल स्पष्ट विभिन्नता रखती है। आन्ध्र प्रदेश की सफल माँग ने अभी हाल में ही भाषावार प्रान्तों की माँग को सक्रिय कर दिया है और हम नहीं जानते कि यह माँग कहाँ जाकर समाप्त होगी। उत्तरी बिहार के कुछ लोगों ने पहिले से ही मैथिली वाले एक मिथिला प्रदेश की माँग शुरू कर दी है। राजस्थानी का प्रयोग करने वाले लोगों के प्रदेश की माँग हमारे सामने है ही और भोजपुरी प्रदेश के प्रबल समर्थकों की भी आज कमी नहीं है। विद्वान् कम्यूनिस्ट नेता राहुल सांकृत्यायन तथा बनारसी दास चतुर्वेदी जैसे कुछ अन्य प्रमुख हिन्दी साहित्यिकों ने "विकेन्द्रीकरण" का विचार हमारे सामने रक्खा, लेकिन अभी तक यह विचार लोगों के मन में समा नहीं पाया है, यद्यपि कुछ विचित्र आशाओं और विचारों को उसने जन्म अवश्य दे दिया है।

हिन्दी के सामने मैथिली जिस भाषा-विज्ञान संबंधी विविधिता को प्रस्तुत करती है, उसे भी हम देख लें। हिन्दी का क्रिया-विधान, विशेषतः सकर्मक क्रिया के भूतकाल के रूप का विधान, बहुत पेचीदा है। क्रिया यहाँ कर्मणि प्रयोग (Passive) में रह कर कर्म की विशेषता बताने वाले विशेषण के रूप में कार्य करती है। हिन्दी में अकर्मक क्रिया का भूतकाल वस्तुतः कर्ता की विशेषता बताने वाला विशेषण है। लेकिन मगही और मैथिली में जो प्रक्रिया विकसित हुई है, वह और भी अधिक जटिल है। यहाँ कर्ता और कर्म के आदर सूचक होने या न होने की दृष्टि से भी क्रिया का स्वरूप भेद हो जाता है और मैथिली में कुछ ऐसे विशेष रूप भी हैं जहाँ बोद्धव्य व्यक्ति स्वार्थे चतुर्थी (Dative of Interest) का रूप ले लेता है। हिन्दी में जहाँ कोई आदर सूचक या अवमानना सूचक रूप नहीं होता जैसे 'मैंने चोर देखा' या 'मैंने राजा देखा', मैथिली में वहाँ, आदर सूचक या उससे भिन्न प्रकार के कर्ता और कर्म की दृष्टि से, आठ रूप होते हैं। कर्ता बोद्धव्य व्यक्ति से संबद्ध होता है। उदाहरण के लिए कर्ता आदरहीन और कर्म भी आदरहीन: देखलथी: इसका उलटा देखलइन्हि। कर्ता और कर्म दोनों आदर सूचक—देखलथिन्हि। दोनों आदरहीन देखलकइ और यदि बोद्धव्य व्यक्ति से संबंध है तो देखलथु, देखलउन्हि, देखलथुउन्हि, देखलकउ। यहाँ भाषा में भी जाति-भेद है और वह भी प्रतिकार भावना के साथ है। फिर भी यह भाषा और उसकी उत्तराधिकृत संपदा दोनों ही आज हिन्दी के द्वारा अपनी कहीं जातीं हैं। मैथिली बोलने वालों की संख्या आज एक करोड़ बीस लाख है। हमारे सामने विद्यापति का ही, जो मैथिली के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, एक उदाहरण है। अभी थोड़े ही दिनों पहिले तक वे बंगालियों द्वारा बंगाली कवि माने जाते थे और अब

जैसा कि हिन्दी साहित्यिकों द्वारा कहा जाता है, वे हिन्दी के कवि हैं, कवि-कोकिल विद्यापति हैं। लेकिन भाषा की दृष्टि से मैथिली हिन्दी से इतनी अधिक भिन्न है कि मैथिली हिन्दी की एक बोली समझी जाय इस स्थिति की कठिनाई किसी भी व्यक्ति को विशेष रूप से पछाँहीं हिन्दी प्रदेश के लोगों को उनमें सम्मिलित करते हुए, ऊपर से ही दीख जाएगी।

प्रारंभिक हिन्दी के साहित्य में लगभग चार भिन्न प्रकार की उपभाषाएँ हैं। एक ओर तुलसीदास की भाषा है जो सूरदास की भाषा से बिल्कुल भिन्न है। पुरानी हिन्दी की एक बड़ी कवयित्री मीरा ने स्वयं अपनी राजस्थानी उपभाषा में रचना की। फिर विद्यापति की भाषा है और फिर कबीर की रचनाएँ हैं। ये एक बहुत बड़ी संख्या में पुरानी पछाँहीं के रूपों में, ब्रज और खड़ी बोली के मिश्रित रूपों में, पुनः सम्पादित और अनूदित हुईं और अपने मूल रूप में ये, इनमें से कम से कम कुछ, भोजपुरी उपभाषा में थीं। डा० उदय नारायण तिवारी ने अभी भोजपुरी का एक वैज्ञानिक सर्वेक्षण किया है। उन्होंने यह दिखाया है कि कबीर की कितनी ही मूल रचनाएँ भोजपुरी से हिन्दी में रूपान्तरित हुई हैं। कबीर के पद्यों में, जिस रूप में वे आज प्रचलित हैं, ब्रज, खड़ीबोली और अवधी का मिश्रण है, पर ऊपरी धरातल के नीचे मूल भोजपुरी के चिह्न वर्तमान हैं।

इस प्रकार विविध भाषाओं की विभिन्न धाराओं को आज की हिन्दी के जल में विलीन करने का प्रयास किया जा रहा है। कभी कभी विचित्र सी भाषाओं को हिन्दी की परिधि में समेटा जाता है। पहिले के सामन्तवादी राज्य बस्तर की, जो आज कल मध्य प्रदेश का एक जिला है, हल्बी भाषा इसका एक उदाहरण है। सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने "भाषा सर्वे" में इसे मराठी की एक उपभाषा माना। दो साल पहिले मैं वहाँ गया था और जो थोड़ा बहुत रूप उस भाषा का मैं देख सका, उससे वह मुझे एक पूरबी उपभाषा प्रतीत हुई जो एक ओर तो उड़िया और भोजपुरी से मिलती जुलती है और दूसरी ओर छत्तीस गढ़ी, कोशली से और जो द्रविड़ प्रभाव के अन्तर्गत विकसित हुई है। यह एक मौलिक भाषा है। पर अब यह प्रचलित खड़ी बोली हिन्दी के आधिपत्य में आ गई है। अगर आज की परिस्थितियाँ इसी तरह बनी रहीं तो हल्बी के हिन्दीकरण की प्रक्रिया अवश्यम्भावी रूप से चलती रहेगी। उसके लिए आज कोई दूसरा सन्तोषजनक विकल्प भी नहीं दिखाई देता।

गढ़वाल के पश्चिम में बोली जाने वाली पच्छिमी पहाड़ी बोलियों का, जिनका अपना ही एक समूह है, कोई साहित्यिक जीवन नहीं है और खड़ी बोली हिन्दी के अभिभावकत्व में ही अपने को सौंपकर वे पूर्णतया सन्तुष्ट हैं।

उत्तरा खंड या गढ़वाल-कुमाऊँनी प्रदेश की बोलियाँ बोलने वाले तथा और अधिक पश्चिम के प्रदेश के लोगों ने हिन्दी को अपनी शिक्षा की भाषा मान लिया है। वस्तुतः काश्मीर से लेकर भूटान तक का संपूर्ण उपहिमालय प्रदेश नवीन भारतीय आर्यभाषा समुदाय की बोलियों के एक विशिष्ट वर्ग का क्षेत्र है जिसे "पहाड़ी" नाम दिया गया है।

इसे 'हिमाली' भी कहा गया है। पहाड़ी बोलियों में से एक ने, जिसे गोरखाली, खस्कुरा या पार्वतीय कहते हैं या जिसे औपचारिक रूप से नैपाली कहा जाता है, अपनी एक स्वतन्त्र भाषा की स्थिति वना ली है। लेकिन इसी वर्ग की अन्य भाषाएँ जिनको किसी राज्य की सहायता नहीं मिल सकी और जिनमें कोई उल्लेखनीय साहित्य नहीं विकसित हुआ, अब हिन्दी के अधिकार-क्षेत्र में ला दीं गई हैं। 'गोरखाली' पहाड़ी के पूर्वी उपविभाग में आती है और गढ़वाली तथा कुमाऊँनी मध्य उपविभाग में। इनके अतिरिक्त और भी बहुत सारी पश्चिमी पहाड़ी उपविभाग की बोलियाँ हैं जो पंजाब में, हिमालय प्रदेश में और ठीक चम्बा तक बोलीं जाती हैं, जैसे जौनसारी, सिरमनरी, कूलुई, चमिआली आदि। इनमें गीतों और वीर गानों का कुछ साहित्य है पर स्कूलों में अकेली हिन्दी ही पढ़ाई जाने के कारण लोग हिन्दी विचारों के होते जा रहे हैं और हिन्दी को अपनाते जाते रहे हैं। हिन्दी के द्वारा वे आसानी के साथ बाहरी दुनियाँ से अपना विचार संपर्क स्थापित कर सकते हैं, इसलिए वे इस ओर अधिक ध्यान भी नहीं देते, यद्यपि कभी कभी वे अपनी घरेलू बोली या भाषा को समुन्नत करने का प्रयास करते हैं और गीतों तथा वीर गानों (Ballads) की रचना करते हैं।

पूर्वी पंजाब में हिन्दी और पंजाबी को लेकर जो विवाद चल रहा है वह बहुत निराशाजनक है। पंजाबी स्वयं अपने प्रदेश में ही अवर कोटि की भाषा रही है, क्योंकि पंजाब के लोगों ने सदैव अपने को एक प्रकार के उत्तर भारतीय सांस्कृतिक संघ का सदस्य माना है। बहुत आरम्भिक काल से शौरसेनी अपभ्रंश और उसके बाद ब्रज भाषा, जो मथुरा भूभाग की भाषा है, पंजाब में बहुत प्रभावसंपन्न थी और यद्यपि पंजाबी का विकास एक साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ—पहिले पश्चिमी पंजाबी लहँदी या हिन्दकी-क्षेत्र में और फिर पूर्वी पंजाब में सिखों और मुसलमानों दोनों के ही तथा कुछ सीमा तक हिन्दुओं के भी तत्त्वाधान में—पर कभी भी पंजाबी और हिन्दी में अधिक भेद नहीं रहा। गुरुमुखी और देवनागरी को लेकर जो विवाद चल रहा है वह भी हमारी दृष्टि में बहुत हानिकर है। भाषा और लिपि के विद्यार्थी के नाते मेरा अपना विचार यह है कि गुरुमुखी और नागरी आपस में इतनी समान हैं कि यदि पंजाबी पूर्णतः नागरी में ही लिखी जाने लगे तो उसका बहुत लाभ होगा। इतना होते हुए भी सिखों और बहुत से अन्य पंजाबियों ने हिन्दी को अपनी शिक्षा और साहित्य की भाषा मानने से इनकार कर दिया है और कुछ सीमा तक हिन्दी के साथ स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा के कारण ही इधर पंजाबी में शक्तिशाली साहित्यिक जीवन के लक्षण उभरने लगे हैं। अन्ततः इससे भारतीय आत्मा और संस्कृति की श्रीवृद्धि ही होगी। पंजाबी का आरम्भिक साहित्य अब भी बोलियों का ही साहित्य है, यद्यपि इसकी आरम्भिक सीमा तेरहवीं शती के मध्य तक जाती है, जब पंजाबी के प्रथम कवि शेख फरीदुद्दीन गंज-शकर का प्रादुर्भाव हुआ। सिखों की धार्मिक पुस्तक, गुरु-ग्रंथ या आदि ग्रंथ प्रधानतः एक प्रकार की पुरानी हिन्दी में ही है। यह हिन्दी आरम्भ की पश्चिमी हिन्दी बोलियों का मिश्रित रूप है। यह ग्रंथ विशुद्ध पंजाबी में नहीं है। कबीर की रचनाओं का एक बहुत बड़ा अंश गुरु-ग्रंथ में सुरक्षित है।

भाषा की दृष्टि से राजस्थानी, हिन्दी अथवा ब्रजभाषा के बहुत समीप है पर इसके साथ ही वह गुजराती से भी बहुत घनिष्ठ संबंध रखती है। पुरानी राजस्थानी और पुरानी गुजराती भाषाएँ तत्त्वतः एक ही थीं। पर राजस्थान में सदा से ब्रजभाषा के रूप में, गंगा की घाटी के ऊपरी भाग की हिन्दी का समुन्नयन, विभिन्न राजस्थानी और मालवा में प्रचलित बोलियों के साथ साथ, होता रहा है। साहित्य में प्रयुक्त होने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण राजस्थानी बोली पुरानी मारवाड़ी का एक रूप है। इसे डिंगल कहते हैं। दिल्ली के प्रभाव से उर्दू ने दिल्ली की मुसलमान कचहरियों की भाषा होने के नाते, अठारहवीं शती में कुछ राजपूत रियासतों में अपनी जगह बना ली और उसी की विरासत के रूप में, जैसा कि यू. पी. में भी हुआ, हिन्दी और उर्दू दोनों शिक्षा की भाषाएँ बन गईं, विशेषतः पिछली तीन पीढ़ियों से। राजस्थान के लोग धीरे धीरे हिन्दी क्षेत्र से बँधते गए और अभी तक वे इस स्थिति से बिल्कुल सन्तुष्ट रहे हैं। अतः डिंगल या पुरानी मारवाड़ी का आदि कालीन साहित्य और दूसरी बोलियों का साहित्य, उदाहरण के लिए मीराबाई की अत्यन्त भक्ति भावना पूर्ण गीतियों को सम्मिलित करते हुए, हिन्दी से संबद्ध हो गया और हिन्दी के आरंभिक साहित्य का अंग माना जाने लगा। पर डिंगल के साहित्यिक अवशेषों के गंभीर अध्ययन ने आज के राजस्थानी प्रबुद्ध वर्ग के बहुत से सदस्यों को एक नया रुख अपनाने में सहायता दी है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली से एक स्पष्टतया भिन्न भाषा में लिखी हुई कुछ आदि कालीन राजस्थानी कृतियों ने, जो इटली निवासी श्री टैसिटरी से लेकर अन्यान्य कई विद्वानों द्वारा प्रकाशित की गई हैं, और नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस जैसी संस्था से प्रारंभ होने वाले और राजस्थानी में ही राजस्थानी विद्वानों द्वारा किए गए, प्राचीन और आधुनिक राजस्थानी साहित्य विषयक शोधकार्य ने, बहुत से राजस्थानी बोलने वालों के मन में अपनी भाषा और उसके आरम्भिक साहित्य के महत्त्व की बात बिठा दी है। हिन्दी की एक शाखा के रूप में राजस्थानी के गंभीर अध्ययन से हट कर यह प्रश्न अब मानो बाज़ार के चौराहे पर आ गया है और इसका परिणाम यह हुआ है कि अब राजस्थानी के कुछ ऐसे पक्के हिमायती सामने आ गए हैं जो उसे हिन्दी से भिन्न एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इस दिशा में पहिला कदम संभवतः इस शती के द्वितीय दशक में उठाया गया जबकि १९१७ में शिवचन्द्र 'भारतीय' ने राजस्थानी में कुछ नाटकों की रचना की ओर उन्हें प्रकाशित कराया और बड़े जोरदार शब्दों में उनमें राजस्थानी को एक स्वतन्त्र भाषा बनाने की वकालत की। गद्य के लिए राजस्थानी में कोई स्थिर मानदंडवाली भाषा नहीं थी और उन्होंने अपनी कृतियों से ऐसी राजस्थानी को जन्म देने की चेष्टा की।

राजस्थानी को स्वतन्त्र भाषा की स्थिति देने का प्रश्न बार बार उठाया गया है और इस आन्दोलन के समर्थक आज भी सक्रिय हैं। कुछ वर्ष पहिले हिन्दी विद्यापीठ, अब राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर, द्वारा मैं "राजस्थानी बनाम हिन्दी" पर अपना अभिमत प्रकट करने के लिए बुलाया गया था। मैंने वहाँ हिन्दी में तीन भाषण पढ़े, पहिला था "राजस्थानी की विशेषताएँ, हिदी तथा अन्य भगिनी भाषाओं को ध्यान में रखते हुए",

दूसरा था "राजस्थानी का इतिहास" और तीसरा "हिन्दी और राजस्थानी के प्रतिस्पर्द्धी अधिकारों को सुलझाते समय आने वाली समस्याएँ।" मैं इस विषय में अपनी राय देने का अधिकारी नहीं था लेकिन मैंने केवल इतना कहा कि यदि इस महान् हिन्दी भाषा के भीतर हम विकेन्द्रीकरण के आन्दोलन को प्रश्रय दें, जैसा कि मैंने अभी पहिले भी कहा है कि यह "विकेन्द्रीकरण" का आन्दोलन पंडित राहुल सांकृत्यायन और अन्य विद्वानों द्वारा समर्थित है, तो निम्नलिखित पाँच महत्त्वपूर्ण तथ्यों का ध्यान हमें रखना होगा:—

१. क्या उस विशेष बोली में जो एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगी, अपना कोई ऐसा विशिष्ट व्याकरण है जो उसकी अपनी निजी विशेषताओं को व्यक्त करता हो और महत्त्वपूर्ण विषयों में खड़ी बोली हिन्दी के व्याकरण से विभिन्नता रखता हो?

२. क्या उसके प्रारंभिक जीवन में पर्याप्त परिमाण में साहित्य रचना हुई?

३. क्या उसकी वर्तमान अवस्था में कुछ साहित्यिक जीवन है?

४. क्या उसे बोलने वालों के मन में उसके प्रति कुछ गर्व और आत्मीयता की भावना है?

५. क्या इस विशेष बोली या उपभाषा के बोलने वाले लोगों को खड़ी बोली हिन्दी में गति प्राप्त करने में कोई वास्तविक कठिनाई है?

जहाँ तक मारवाड़ी या राजस्थानी का संबंध है, मैं समझता हूँ कि उसका व्याकरण प्रचलित हिन्दी से बहुत भिन्न नहीं है। पर उसमें बहुत परिमाण में प्राचीन साहित्य उपलब्ध है और उसकी वर्तमान अवस्था में भी कुछ साहित्यिक जीवन है। जहाँ तक भाषा पर गर्व का संबंध है, कुछ समुदाय के लोग उसे प्रदर्शित करते हैं, कुछ नहीं करते। खड़ी बोली हिन्दी को सीखने की बात राजस्थानी बोलने वालों के लिए कठिन पड़ती है या नहीं, यह केवल वे ही देख सकते हैं। इस दिशा में विचार करते हुए क्या एक अन्तिम निर्णय पर पहुँचा जा सकता है?

मैं इन सब चीजों को आपके सामने इसलिए ला रहा हूँ कि हिन्दी के उत्तराधिकार का, उसके पीछे स्थित बोलियों और विभिन्न साहित्यों के उत्तराधिकार का वह रूप जो आज दिखाई देता है और जो विभिन्न तत्त्वों से मिल कर बना है, स्पष्ट हो जाय। कभी कभी हिन्दी के लिए यह एक बोझिल भार बन जाता है। आप किसी प्रकार भी एक गढ़ी हुई भाषा नहीं बना सकते, ऐसी गढ़ी हुई भाषा जो जल्दी में तैयार की गई हो और जिसका उद्देश्य किसी राजनैतिक स्थिति की आवश्यकताओं को पूर्ण करना रहा हो। सभी भाषाओं में तत्त्वों की विविधता होती है। हिन्दी एक ऐसे वातावरण में विकसित हुई है जहाँ पंजाब की बोलियों ने उसके विकास को बहुत कुछ प्रभावित किया। वह दिल्ली नगर में ही विकसित हुई। हिन्दी के बहुत से शब्द, जैसा कि उनकी रचना को देखने से प्रतीत होता है, पंजाबी, राजस्थानी या अन्य बोलियों से लिए गए हैं। "कल", "सच" आदि शब्द हिन्दी पर पंजाबी प्रभाव के सूचक हैं। पंजाबी कल्ल, सच्च। क्योंकि उनका

वास्तविक हिन्दी रूप "काल, "साँच" या "साँचा" बनना चाहिए था। संविधान की ३५१ वीं धारा इस स्थिति की ओर संकेत करती है कि भारत की राजभाषा होने के नाते हिन्दी को अपने वास्तविक स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए, हिन्दुस्तानी सहित भारत की विभिन्न भाषाओं के तत्त्वों से समृद्ध होना है और संस्कृत शब्दावली भी उसमें ग्रहीत हो सकती है। पुराणों में एक स्वर्ग की अप्सरा की कथा आती है जिसको देवताओं ने संसार की सभी प्रकार की सुन्दर चीजों को एकत्र करके तिलोत्तमा के शरीर के रूप में संघटित किया था। उसका यह, तिलोत्तमा, नाम इसीलिए पड़ा कि वह संसार की सभी सुन्दर वस्तुओं के छोटे छोटे परिमाणुओं से, जो तिल के आकार के रहे होंगे, बनी थी। भाषा के क्षेत्र में ऐसी तिलोत्तमा का सर्जन किस प्रकार हो सकता है, मेरी समझ से बाहर की चीज है। हमें हिन्दी के व्याकरण को उसी रूप में स्वीकार करना होगा जिस रूप में वह आज है।

ऐसे सुझाव दिए गए हैं कि हिन्दी के व्याकरण को सरल कर दिया जाय, लेकिन यह किसी एकेडेमी के द्वारा नहीं किया जा सकता। मैंने एक प्रस्ताव रक्खा था कि एक प्रकार की सरल हिन्दी, जैसी कि पछाँहीं हिन्दी के क्षेत्र से बाहर के नगरों में प्रचलित है, और जिसमें हिन्दी का व्याकरण न्यूनतम मात्रा में है और खड़ी बोली हिन्दी के शुद्ध रूप की बहुत सी जटिलताएँ बिल्कुल छूट गई हैं, एक प्रकार की अखिल भारतीय अन्त-र्प्रान्तीय बोली के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। यद्यपि इस प्रस्ताव के लिए पर्याप्त सहानुभूति और शिक्षित लोगों का साहाय्य हमें प्राप्त है, पर व्यवहार में यह प्रस्ताव बहुत संभव नहीं प्रतीत होता। बंगाल का हर एक व्यक्ति यद्यपि इस प्रकार की सरल बाजारू हिन्दी बोलता है, जिसमें व्याकरण के लिंग का, वचन का, भूतकाल में सकर्मक क्रिया के कर्मणि (Passive) प्रयोग का और कर्ता या कर्म के विशेषण के रूप में क्रिया के उपयोग का ध्यान नहीं रक्खा जाता, पर जब इसी प्रकार की हिन्दी उन्हें सिखाने का प्रस्ताव उनमें से कुछ के सामने रक्खा गया तो उन सब ने यही सोचा कि यदि किसी नई भाषा को सीखना है तो उसे उसके सही और व्याकरणसम्मत रूप में ही सीखना चाहिए। इसके अतिरिक्त ऐसे लोग हमारे यहाँ अभी एक बहुत बड़ी संख्या में हैं जो हिन्दी के शिक्षक बन कर अपनी जीविका कमाते हैं। अगर हिन्दी को इस सरल रूप में ग्रहण कर लिया जायगा तो उनका काम एक प्रकार से समाप्त ही हो जायगा और चूंकि यह कार्य एक निहित स्वत्व का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए सामान्यतया लोग इस स्थिति को न तो पसन्द करेंगे और न इसके लिए सहायता ही देंगे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, हिन्दी के उत्तराधिकार के दो पहलू—संख्या का उत्तरा-धिकार और उत्तर भारत की विभिन्न बोलियों का उत्तराधिकार—हिन्दी में इस समय अपना चरम प्राप्त कर रहे हैं। पर यह दूसरे प्रकार का उत्तराधिकार कितने समय तक अक्षुण्ण रूप से चलता रहेगा इसका निश्चय तो समय और स्थानीय बोली को सहायता पहुँचाने वाली प्रदेशीय देशभक्ति की भावना ही करेगी। इस विषय में कुछ रोचक बातें यहाँ ध्यान देने योग्य हैं। खड़ी बोली हिन्दी या ब्रज भाषा के भी पूर्ण रूप से विकसित होने के

बहुत पहिले अवधी और कोशली को हम एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में संस्कृत पाठशालाओं में शिक्षा की भाषा की तरह व्यवहृत होते हुए देखते हैं। बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में, यथार्थतः ११५० ईसवी सन् से पहिले, उस समय के मध्य और पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक महान् विद्वान दामोदर पंडित ने संस्कृत को भाषा द्वारा सिखाते हुए "उक्ति व्यक्ति प्रकरण" नाम की अपनी पुस्तक लिखी। मुनि श्री जिन विजय जी को यह पुस्तक एक जैन भांडार में मिली है और उन्होंने उसका सम्पादन किया है। उन्होंने बड़ी कृपा करके मुझसे इस पुस्तक के उपयोगार्थ नई भारतीय आर्यभाषा पर एक संक्षिप्त प्रबन्ध लिखने के लिए कहा। यह कार्य मैंने प्रसन्नता पूर्वक कर दिया और यह पुस्तक भारतीय विद्या भवन, बम्बई से सिन्धी जैन ग्रंथमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हो गई है। इस पुस्तक में उस बोली या विभाषा का उपयोग किया गया है जो तत्वतः तुलसीदास की भाषा है और जो उस महाकवि के आविर्भाव से ४०० वर्ष पहिले लिखी गई थी। उत्तर प्रदेश के मध्य के तथा पूर्वी भाग के और इसी तरह बंगाल, बिहार और भारत के अन्य भूभागों के विद्वान देव-गिरा को पढ़ाने के लिए स्थानीय जन भाषाओं का उपयोग कर रहे थे। इस पुस्तक में जो कहावतों तथा पद्यांशों के उद्धरण मिलते हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि उनमें ढेर सारा लोकप्रिय साहित्य वर्तमान था। इस कोशली विभाषा का एक गौरवपूर्ण इतिहास रहा है जो एक ओर तो ब्रज भाषा और डिंगल के साथ साथ चला है और दूसरी ओर मैथिली, बंगाली और उड़िया आदि के साथ। पर अन्त में, इसी दशक में कोशली या अवधी साहि-त्यिक भाषा के रूप में अव्यवहृत सी हो गई, केवल शैलीगत विशेष उद्देश्यों के अर्थ उसका व्यवहार कहीं कहीं हो जाता है। उसके बोलने वाले सभी व्यक्तियों ने खड़ी बोली हिन्दी को अपना लिया है। श्रीधर पाठक का "देहरादून" और द्वारिका प्रसाद मिश्र का "कृष्णायन" अवधी के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं पर कोई भी उन्हें खड़ी बोली हिन्दी से अलग करके अवधी को पुनर्जागरण देने के गंभीर प्रयत्न के रूप में नहीं देखता।

हिन्दी के साथ जिस तीसरे उत्तराधिकार को हम संबद्ध कर सकते हैं वह उसके पीछे वर्तमान केन्द्र की भाषा होने की उस महत्त्वपूर्ण परम्परा का उत्तराधिकार है, जिसके कारण वह आसपास के सभी प्रदेशों में सर्वाधिक सरलता से समझी जाती है। हिन्दी का यह उत्तराधिकार आज की पछाँहीं हिन्दी के प्रदेश से समानता रखने वाले, ब्राह्मणों और अन्य प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के, मध्य देश की भाषा की विशेष स्थिति के क्रम में आता है। हिन्दी वस्तुतः बहुत प्राचीन काल से आरंभ होकर आज तक चली आने वाली एक लम्बी श्रृंखला के अन्त में आती है। विभिन्न युगों से चली आती हुई यह श्रृंखला मध्य देश की भाषा की उत्तरोत्तर स्थितियों की श्रृंखला है जो भारतीय आर्य भाषाओं के बीच में सदैव एक स्थान और प्रतिष्ठा की अधिकारिणी रही है। भारत के आर्य आक्रामक अपने साथ कई बोलियाँ लाए जिनके साहित्यिक रूप के विकास ने वैदिक भाषा का वह रूप ग्रहण किया जो ऋग्वेद में प्राप्त होता है। पर ये बोलियाँ जीवित रहीं और वे आर्य जातियों के साथ साथ पंजाब से लेकर पूर्व की ओर गंगा की घाटी तक फैलतीं गईं। ये बोलियाँ अन्ततः पश्चिम, मध्य भाग, पूर्व तथा दक्षिण में प्राकृत बोलियों के रूप में परिवर्तित हो गईं। पर मध्य देश की भाषा आर्य बोलियों के इन स्थानीय रूपों से अधिक

उत्कृष्ट होती गई। ब्राह्मण ग्रंथों तथा पाणिनि जैसे प्राचीन वैयाकरणों के साक्ष्य पर हम कह सकते हैं कि ईसा से पूर्व की पहिली सहस्राब्दी के मध्य में इन पुरानी आर्य बोलियों के चार समुदाय थे। ये चार समुदाय थे, उदीच्य, मध्यदेशीय, प्राच्य और दाक्षिणत्य। ब्राह्मण ग्रंथों के समय में उदीच्य बोलियों को सबसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, क्योंकि उत्तर पश्चिमी प्रदेश, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और उत्तरी पंजाब से समानता रखने वाला प्रदेश, भारतीय आर्यों का केन्द्रस्थल था। इसी क्षेत्र से आर्य लोग भारत के विभिन्न भागों में अपनी भाषा, अपनी परम्परा और अपने संगठन को लिए हुए, फैलते गए। एक ब्राह्मण में ऐसा उल्लेख आता है कि उत्तर-पश्चिम के लोग भाषा को अर्थात् आर्य भाषा को, विशेष विचार के साथ बोलते हैं, इसलिए लोग भाषा सीखने वहाँ जाते हैं और जब वे वहाँ से लौटते हैं, स्पष्टतया मध्यदेश तथा अन्य विभागों को वापस आते हैं, तो उनकी भाषा सुनने के लिए लोग उन्हें घेर लेते हैं। पाणिनि संस्कृत का वर्णन करते हुए उसे लौकिक या प्रचलित भाषा बतलाते हैं और वे स्वयं उदीच्य प्रदेश के थे। उनका घर शालातुर ग्राम में था जो आजकल सिन्धु के किनारे अटक के पास हलौर या लाहौर कहलाता है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य भाषा का शुद्धतर रूप उत्तर पश्चिम में पर्याप्त समय तक बनाए रक्खा गया। लेकिन यह भाषा जो पाणिनि के लिए लौकिक या प्रचलित भाषा थी, मध्यदेश और पूर्व में ब्राह्मण शाखाओं में ग्रहीत होकर, देव भाषा होने के गौरव को प्राप्त हो गई। उदीच्य की यह लौकिक संस्कृत मध्यदेश में प्रतिष्ठित हुई और यद्यपि जन साधारण इसे अथवा इससे बहुत समानता रखने वाले इसके परिवर्तित प्राकृत रूप को व्यवहार में लाते थे, पर शिक्षा और संस्कृति की भाषा के रूप में उसकी मान्यता सार्वजनिक हो गई। ईसा पूर्व की पाँचवीं शती में मध्यदेश में प्रतिष्ठित यह उत्तर-पश्चिमी पंजाब की बोली प्राचीन भारत की श्रेण्य (classical) भाषा बन गई। ऐसा प्रतीत होता है कि एक प्रकार की मिश्रित आर्य अनार्य संस्कृति के निर्माण का सूत्रपात मध्यदेश से हुआ और संस्कृत इस मिश्रित संस्कृति की, जिसे हम प्राचीन भारतीय संस्कृति कहते हैं, महत्त्वपूर्ण वाहिका बनी। ठीक जिस प्रकार इटली में, रोम में व्यवहृत होने वाली टस्कैनी भाषा, 'लिंग्वा टस्कैना', 'बॅक्का रौमैना' (रोमन मुख में टस्कैनी भाषा), इटैलियन साहित्य की स्टैंडर्ड भाषा बन गई, वैसे ही यहाँ यह संस्कृत भी। किसी तरह से भी हो, यह उत्तर-पश्चिम प्रदेश के साथ साथ, मध्यदेश की स्वीकृत भाषा थी,। इसके उपरान्त हमारे सामने वह समय आता है जब मध्यदेश की भाषा विकसित होकर शौर-सेनी प्राकृत बन गई थी और यह शौरसेनी प्राकृत सब प्राकृतों से अधिक परिमार्जित समझी जाती थी। संस्कृत नाट्य-परम्परा में उच्चवर्ग के उन लोगों से जो संस्कृत नहीं बोलते, शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग कराया जाता है। पाली भाषा, जिसमें बुद्धों की दक्षिणी शाखा हीनयान का साहित्य सुरक्षित है, बहुत काल तक बुद्ध की अपनी भाषा मानी जाती रही और आरंभ के समय में लंका के बौद्धों ने गलती से यह समझ लिया था कि पाली भाषा पूर्व दिशा के प्राचीन मगध की ही बोली है। पर नवीन अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो गया है कि पाली मगध की भाषा नहीं है बल्कि मध्यदेश की भाषा का ही एक रूप है और यथार्थतः शौरसेनी प्राकृत का ही एक पूर्व रूप है जो ईसा से एकदम पूर्व की शताब्दियों

में पहिले मथुरा और उज्जैन में विकसित हुआ और फिर अशोक के पुत्र महेन्द्र के द्वारा, जो उज्जैन से उत्तर की ओर विदिशा में पैदा हुआ था और वहीं जिसका पालन-पोषण हुआ था, ई. पू. तीसरी शती में बौद्ध धर्म के साथ साथ लंका को ले जाया गया।

पाली भाषा इस प्रकार से एक विचित्र स्थिति में रही। यह वास्तव में मध्यदेश की, "पछाँह की", भाषा, थी पर गलती से, पहिले लंका निवासियों द्वारा और फिर दूसरों के द्वारा मगध की भाषा मानी जाती रही। दक्षिण के हीनयान सम्प्रदाय के धर्म ग्रन्थों के पाली में लिखे हुए होने के कारण, फिर इस भाषा का संबंध दक्षिण के बौद्धों से हो गया।

इस प्रकार पाली पुरानी शौरसेनी का ही एक रूप है। यह शौरसेनी या मध्यदेश की भाषा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में बहुत महत्त्वपूर्ण थी। एक प्रकार से संस्कृत का ही दायित्व-भार उसके ऊपर आ गया था, क्योंकि संस्कृत के बाद वही सबसे अधिक गौरवपूर्ण आर्यभाषा मानी जाती थी। ईसवी सन् की पाँचवीं शती के बाद यह मध्यदेशीय शौरसेनी प्राकृत शौरसेनी अपभ्रंश बन गई और ब्रज अवधी, डिंगल आदि विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं के पूर्णतया स्थिर होजाने के समय तक, वह राजपूत दरबारों की भाषा बनी रही। भारत के सर्वाधिक शक्तिपूर्ण सैन्य वर्ग के नाते राजपूतों की जो प्रतिष्ठा थी, उसका शौरसेनी अपभ्रंश से संबंध हुआ और एक गौरवपूर्ण स्थानीय भाषा की तरह उसकी श्रीवृद्धि की जाने लगी। पंजाब और सिन्ध से लेकर नेपाल और बंगाल तक उसका जो महत्त्व था वह केवल संस्कृत और कुछ प्राकृतों के ही बाद आता था। उसका अपना क्षेत्र "पछाँह" में मध्यदेश में तथा पंजाब और राजस्थान के समीपवर्ती प्रदेशों में था और यह वास्तव में ईसा के बाद की छठी शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक की एक प्रकार की हिन्दी ही थी। एक बात यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि तुर्की के आगमन से पूर्व भारत में यह उत्तर भारत के विभिन्न हिन्दू राज्यों के बीच एक प्रकार के संबंध सूत्र का काम कर रही थी और बंगाल जैसे दूर के प्रदेशों में दसवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच कविगण अपनी स्थानीय भाषा, जैसे पुरानी बँगला तथा शौरसेनी अपभ्रंश, दोनों का ही प्रयोग करते थे। यह उस समय की बात है जब दसवीं शताब्दी के आसपास पुरानी बँगला तथा नई भारतीय आर्य भाषाओं ने अपना स्वरूप ग्रहण कर लिया था। बंगालियों ने इस समय अपनी भाषा पर अभिमान करना प्रारंभ कर दिया था, जैसा कि १२०५ ईसवी सन् के लगभग बंगाल में श्रीधर दास द्वारा संपादित "सदुक्ति कर्णामृत" नामक संस्कृत भाषा के एक सूक्ति-संग्रह के एक आर्या छन्द में की गई बँगला भाषा की प्रशंसा से प्रकट होता है।

शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत सी बोलियाँ सम्मिलित थीं। इन बोलियों में से एक नागर अपभ्रंश भी थी जो एक ओर तो ब्रजभाषा और गुजराती से और दूसरी और खड़ी बोली से बहुत संबंधित प्रतीत होती है। लोकप्रिय अपभ्रंश साहित्य के उन उदाहरणों में जो दोहा आदि लोक प्रचलित छन्दों में मिलते हैं (कृत्रिम शैली में लिखी गई लम्बी कविताओं में नहीं) हमें बोलियों का सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। उनमें खड़ी बोली और पंजाबी के

विशेषक "आ" आदि के रूप मिलते हैं और "उ" और "औ" आदि के रूप भी मिलते हैं, जो ब्रज भाषा और राजस्थानी के आधार हैं। (उदाहरण के लिए एक ही पंक्ति में–"भल्ला हुआ, बहिणिया जु मारिया महारौ कन्तु" आदि)। मध्यकालीन आर्य साम्राज्य के बाद के समय में शौरसेनी अपभ्रंश की जो प्रतिष्ठा थी उसे आज की केन्द्र की भाषा हिन्दी ने बहुत मात्रा में उत्तराधिकृत किया है। पहिले यह पश्चिमी हिन्दी समुदाय के अन्तर्गत मथुरा की भाषा थी जिसे साहित्य के लिए संपन्न किया गया और खड़ी बोली हिन्दी, दिल्ली के मुस्लिम दरबार की भाषा होने के कारण, उपेक्षित रह गई। दिल्ली के मुसलमान भी ब्रजभाषा की तरफ आकर्षित हुए, यद्यपि खड़ी बोली हिन्दी के पूर्व रूप को अपनी मातृ-भाषा होने के नाते वे भुला नहीं सके। हिन्दी के बहुत पहिले के कवियों में अमीर खुसरो का नाम आता है। वे दिल्ली के रहने वाले थे और उनकी रचनाओं में खड़ी बोली के पूर्व रूपों के दर्शन होते हैं। पर डिंगल या राजस्थानी के मारवाड़ी रूप को तथा पिंगल या ब्रजभाषा के एक प्राचीन रूप को प्रयोग में लाने वाले राजपूत दरबारों की प्रतिष्ठा ने पूरी तरह ब्रजभाषा का समर्थन किया और ब्रजभाषा-क्षेत्र के सूरदास जैसे महान् कवियों की एक परम्परा ने उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिए। खड़ी बोली को अपना स्थान ग्रहण करने के लिए कुछ शताब्दियाँ बितानी पड़ीं। दिल्ली तथा पंजाब की तरफ के उत्तर प्रदेश की खड़ी बोली को, पहिले उत्तर भारत में, एक तरह के प्रच्छन्न द्वार से, साहित्य में प्रविष्ट होने दिया गया। भ्रमणशील हिन्दू मुसलमान धर्म प्रचारकों ने १४ वीं पन्द्रहवीं शती में उत्तर भारत में अपने धार्मिक प्रवचनों और उपदेशों के लिए एक ऐसी भाषा को विकसित किया जो विभिन्न बोलियों की पच्चीकारी सी बन गई। उसकी आधार तो ब्रज-भाषा थी पर खड़ी बोली और पंजाबी के रूप बहुतायत से मिलते थे और उसमें अवधी के रूप भी थे। यह एक समीकृत साहित्यिक हिन्दी थी पर ब्रज और खड़ी बोली तथा यदा कदा अन्य बोलियों के रूपों के घालमेल से प्रस्तुत हुई थी। कबीर इस प्रकार की भाषा के महान् लेखक थे और उनकी रचनाओं ने ब्रजभाषा के साथ साथ खड़ी बोली के स्वतन्त्र साहित्यिक भाषा बनने के मार्ग को प्रशस्त किया।

उत्तर भारत के दो धर्मों के धार्मिक उपदेष्टाओं के अतिरिक्त खड़ी बोली के स्थिरी-करण की एक बहुत बड़ी प्रेरणा दक्षिण से भी आई। मोटे रूप में चौदहवीं शती के मध्य से उत्तर भारत के मुसलमान साहसकर्मी और सिपाही अपने हिन्दू प्यादों और सहायकों के साथ दक्षिण की ओर जाने लगे। वहाँ उन्होंने अपने राज्य स्थापित किए और मराठी, तेलुगू या कन्नड़ बोलने वाली स्थानीय जनता के बीच के शासक बन कर रहने लगे। ये उत्तर भारत के मुसलमान और हिन्दू अधिकतर पूर्वी पंजाब और पछाँह अथवा पश्चिमी उत्तर प्रदेश से गए हुए प्रतीत होते हैं। ये लोग अपने साथ पंजाबी और खड़ी बोली से मिलती जुलती बोलियाँ लेकर गए।"अ" स्वर इन बोलियों की संज्ञाओं, विशेषणों और क्रियायों की विशेषता है और इनमें "उ" "औ" या "ओ" का अभाव है। मध्य युग के उत्तर भारतीय वैष्णव और सूफी घुमक्कड़ संतों से अधिकांशतः ग्रहीत, एक साहित्यिक परम्परा, दक्षिण में प्रतिष्ठित हो गई पर बहुत शीघ्र ही यह इस्लाम की ओर ढल गई। इस साहित्य की लिपि फारसी थी, क्योंकि उत्तर भारत के भारतीय मुसलमान साधारण-

तथा नागरी से अनभिज्ञ थे। इस लिपि ने एक बहुत बड़ी सीमा तक इस परम्परा में फारसी शब्दावली के ग्रहण के लिए मुक्त द्वार दे दिया। फिर भी रोमानी कहानियों की विषय वस्तु और शैली तथा शब्दावली अधिक मात्रा में भारतीय ही रही। दक्षिण के गोलकुंडा और बीजापुर जैसे महत्त्वपूर्ण मुसलमानी केन्द्रों में बहुत बड़ी संख्या में दक्खिनी साहित्य रचा गया। दक्षिण का साहित्यिक जीवन हिन्दी से बिल्कुल स्वतन्त्र था; यद्यपि यह दक्खिनी बोली इसी मूलाधार से ग्रहीत हुई थी। उत्तर भारत के मुसलमानों ने दिल्ली की खड़ी बोली को विकसित नहीं किया यद्यपि घर में वे उसे बोलते थे। लिखते समय वे ब्रजभाषा या अवधी ही पसन्द करते थे। सत्रहवीं शती के अन्त में जब औरंगजेब ने अपनी दिल्ली और उत्तर भारत की विशाल सेना के साथ, कई वर्ष दक्षिण में बिताए तो उत्तर भारत की खड़ी बोली, जो दिल्ली दरबार की भाषा थी और दक्खिनी, जो खड़ी बोली से मिलती जुलती एक बोली का पूर्व रूप थी और जो दक्षिण में प्रतिष्ठित हो चुकी थी, एक दूसरे के आमने सामने आ गई। इसका परिणाम यह हुआ कि दक्खिनी के द्वारा उपस्थित किए गए साहित्यिक व्यवस्थापन से उत्तर भारत के मुसलमान बहुत अधिक प्रभावित हुए और जब एक महान् दक्खिनी कवि, औरंगाबाद का वली, दिल्ली की बोली को भी विकसित करने लगा (और यह उसके लिए बहुत आसान भी था वैसे ही जैसे कोई निम्न स्काटलैंड को प्रयोग में लाने वाला कवि स्टैंडर्ड अंग्रेजी पर कलम चलाए) तो उर्दू का जन्म हुआ।

दिल्ली तथा दूसरी जगहों के चोटी के मुसलमान वर्ग ने हिन्दी भाषा के इस रूप का खूब स्वागत किया। इसमें उन्हें अपने घर की बोली मिली जो फारसी से अत्यन्त सुगमता पूर्वक शब्दों और विचारों को ग्रहण कर सकती थी। एक पीढ़ी में ही यह दिल्ली और दूसरी जगहों में साहित्य की स्टैंडर्ड भाषा बन गई, यद्यपि स्वयं औरंगजेब, जैसा कि उसके द्वारा रचित कहे जाने वाले पद्य से प्रतीत होता है, दिल्ली की विशुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग न करके खड़ी बोली का पंजाबी तथा अन्य रूपों से मिश्रित रूप व्यवहार में लाता था। यह भी कहा जाता है कि उसके पहिले शाहजहाँ और अकबर ने भी दिल्ली की भाषा को छोड़ कर ब्रजभाषा में पद्य रचना की थी। अट्ठारहवीं शती से आगे चल कर उत्तर भारत के मुसलमान, शासन-सत्ता को अपने हाथों से फिसलता हुआ देख रहे थे। मराठे दिल्ली के दरवाजों को भड़भड़ा रहे थे और उन्होंने वस्तुतः समस्त भारत का आधिपत्य पा लिया था। अंग्रेजों ने भारत को मुगलों से नहीं, मराठों से जीता था। दिल्ली के आसपास के पंजाब के सिक्ख भी मुगलों के पार्श्व में कांटे की तरह खटक रहे थे और दिल्ली के मुसलमानी उच्च वर्ग के लिए, चाहे वह भारत के मुसलमान हों चाहे विदेश के, यह अशान्ति और विपत्ति का युग था। नवीन साहित्यिक भाषा के रूप में हाल में जन्मी हुई उर्दू उनके लिए पलायन का आश्रयस्थान थी। उन्होंने उसका संस्कार करना प्रारंभ कर दिया और उसके साहित्य के कृत्रिम उद्यान में वे विश्राम खोजने लगे। जब राजनैतिक स्थिति उनमें से अधिकांश के लिए निराशाजनक हो गई थी, तब साहित्य के द्वारा वे भारत के बीचों बीच इस्लामी वातावरण में साँस ले सकते थे। इस प्रकार दिल्ली के मुसलमानी अभिजात और संकृत वर्ग के लिए तथा भारत की दूसरी जगहों के मुसल-

मानों के लिए, उर्दू साहित्य, एक प्रकार के वर्तमान से मानसिक या आत्मिक पलायन के रूप में आया। आरम्भ के मुसलमान कवियों ने पहिले पहल इस नई असाहित्यक भाषा को बहुत उदारता पूर्वक नहीं देखा। पर दिल्ली दरबार से और विदेश से आने वाले अभिजात मुसलमानों से, जिनके लिए हिन्दी और संस्कृत का कोई महत्त्व नहीं था पर फारसी साहित्य का महत्त्व था, इस भाषा को सचमुच बहुत प्रबल समर्थन मिला। उन्होंने एक साहित्यिक शैली प्रारंभ की जिसमें से हिन्दी और संस्कृत के शब्दों को उन्होंने जान बूझ कर निकाला और फारसी–अरबी या फारमी शब्दों को प्रचलित किया। कुछ हिन्दुओं ने (उन कायस्थों या काश्मीरी ब्राह्मणों तथा अन्य व्यक्तियों ने) जो मुगल तथा अन्य मुसलमान सचिवालयों तथा कचहरियों में नौकर थे और जो फारसी से परिचित थे इस नवीन साहित्यादर्श को बड़े चाव से अपना लिया और इसका समर्थन किया। इसी तथ्य में उर्दू के विकास में हिन्दुओं के योग वाली बात का आधार है। पर कुछ मुसलमान हिन्दी कवि भी थे जिन्होंने हिन्दी के पक्ष में इसका प्रतिवाद किया पर उनकी बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार मुगल शासन के अन्तिम दशकों में उर्दू, खड़ी बोली पर आधारित एक प्रकार की कचहरी की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। इसके साथ ही मुंशी सदासुख लाल जैसे कुछ हिन्दुओं ने अट्ठारहवीं शती के अन्तिम दशकों में आदि-कालीन खड़ी बोली हिन्दी को लिखने का प्रयास किया जिसके लिए उन्होंने लिपि नागरी अपनाई और देहली की भाषा को अपनाते हुए भी, शुद्ध हिन्दी और संस्कृत शब्दों के प्रयोग पर जोर दिया।

अंग्रेजों ने बंगाल और बिहार में मुगलों के शासन और परम्परा को अपने हाथ में ले लिया और जैसे जैसे वे थोड़ा थोड़ा करके उत्तर भारत को जीतते गए वैसे वैसे वहाँ भी इसे अपने हाथ में लेते गये। मुगल दरबारों और कचहरियों के अन्तिम दिनों में, उर्दू का प्रयोग होता था और इसलिए उत्तर भारत और बिहार में उर्दू को एक प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई, जबकि बंगाल में केवल फारसी को ही प्रश्रय मिला। कलकत्ते में अंग्रेजों की सत्ता स्थापित हो जाने पर जब अंग्रेजी शिक्षा प्रसार पाने लगी तो अठारहवीं शती के प्रारंभ से बंगाल में और कुछ दशकों के बाद से उत्तर प्रदेश में, स्कूल जाने वाले बच्चे बहुधा उर्दू पढ़ने लगे ; क्योंकि वह कचहरियों में प्रयोग में आने वाली भाषा थी और मुगलों की उत्तराधिकृत भाषा के रूप में उसका अंग्रेजी के द्वारा समर्थन होता था। अंग्रेजों द्वारा स्कूलों में चालू किए गए टेक्नीकल विषय साधारणतः उर्दू में ही पढ़ाए जाते थे। इस प्रकार स्कूली शिक्षा में उन्होंने उर्दू की परम्परा चला दी और हिन्दुओं ने इसे बिना प्रतिवाद किये स्वीकार कर लिया। पर संस्कृत शब्दावलीसंपन्न बँगला साहित्य के विकास ने बहुत से आधुनिक दृष्टिकोण रखने वाले और आधुनिक शिक्षा प्राप्त हिन्दुओं की आँखे खोल दीं। बोलियों में मैथिली और भोजपुरी और विशेषतः अवधी और ब्रज-भाषा में हमेशा से जो ढेर सारा साहित्य उपलब्ध रहा, उसने स्कूल में पढ़ाई जाने वाली उस भाषा के, जो उनकी शिक्षा और संस्कृति की भाषा बन गई थी, शब्द भांडार के विषय में, हिन्दुओं की अन्तश्चेतना को जगाने में सहायता पहुँचाई। उन्नीसवीं शती के उत्त-रार्द्ध में उत्तर प्रदेश और बिहार के सम्पदान्वेषी कलकत्ते को जाते थे और उन्हें बँगला में

जो कुछ मिलता था उसी का अनुवाद कर लेते थे। इस तरह उन्होंने एक शैली और शब्दावली को जन्म दिया और उसने खड़ी बोली गद्य की रूपरेखा निर्मित की। विभिन्न क्षेत्रों के पुराने ढर्रे के संस्कृत पंडित इस शब्दावली के आरंभ तक भी खड़ी बोली हिन्दी से उदासीन रहे। केवल धर्मोपदेश अथवा अनुवाद के कार्य के लिए ही वे गंभीरता पूर्वक उसका अभ्यास करते थे। इस प्रकार उर्दू दौड़ में जीत रही थी। पर धीरे धीरे हिन्दू लोग जगे और इस जागृति में कुछ बंगाली लेखकों का भी योग रहा। १८५० ई. के बाद बिहार की कचहरियों में नागरी लिपि और स्कूलों में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी की जो पुनःस्थापना हुई वह बहुत कुछ प्रसिद्ध बंगाली चिन्तक और साहित्यिक श्री भूदेव मुखर्जी के प्रयास का फल थी। वे बिहार में कुछ दिनों स्कूल इंस्पैक्टर रहे थे। पंजाब में ब्राह्म लेखक और सुधारक बाबू नवीनचन्द्र राय ने संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली हिन्दी की वकालत की। बंगाल के कुछ राजनीतिज्ञ सुधारक और विद्वान् जैसे केशव चन्द्र सेन, बंकिम चन्द्र चटर्जी और भूदेव मुखर्जी १८७० के बाद हिन्दी के महत्त्व को अनुभव करने लगे थे। हिन्दी के दूसरे समर्थक थे स्वामी दयानन्द जिन्होंने १८७९ में आर्य समाज की स्थापना की। उनकी अपनी मातृभाषा गुजराती थी, पर पंजाब में उनका बहुसंख्यक अनुयायित्व था और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ने एक बारगी उर्दू के विरुद्ध अपने अस्तित्व का युद्ध छेड़ दिया। इसी समय बनारस के हरिश्चन्द्र जैसे कुछ लेखक क्षेत्र में आए और बाल मुकुन्द गुप्त, अमृत लाल चक्रवर्ती, प्रभुदयाल पांडे और अन्य हिन्दी पत्रकारों और गद्य लेखकों ने कलकत्ता तथा अन्य स्थानों से हिन्दी के लिए काम करना शुरू कर दिया। फिर १८९४ में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई और यह कार्य उत्तर भारत की शिक्षा और संस्कृति की भाषा के रूप में खड़ी बोली हिन्दी की प्रतिष्ठा का एक सीमा-चिह्न था। उत्तर पश्चिमी प्रान्त के लेफ्टिनेंन्ट गवर्नर सर आर्थर मैकडानल का यह निर्णय कि कचहरियों में उर्दू लिपि के साथ साथ हिन्दी के प्रयोग का भी विकल्प रहेगा, नागरी और हिन्दी के लिए बड़ी भारी विजय का सूचक माना गया।

यह एक विरोध पूर्ण बात प्रतीत होती है कि हिन्दी के वर्तमान क्षेत्र में हिन्दी का प्रसार उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, मध्य प्रदेश, अजमेर और अन्य स्थानों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण हुआ। लड़के और लड़कियाँ स्कूलों में जहाँ से पढ़कर वे विश्वविद्यालयों में जाते थे, प्रवेश पाकर केवल हिन्दी पढ़ने लगे और उर्दू धीरे धीरे स्कूलों से भगाई जाने लगी। उत्तर भारत के हिन्दू समुदाय में फारसी प्रधान उर्दू की जगह खड़ी बोली हिन्दी की मान्यता अभी हाल की चीज है। इस शताब्दी के आरम्भ से यह अधिक वेग से प्रारंभ हुई। खड़ी बोली हिन्दी के साहित्यिक प्रयत्न, पिछली शताब्दी के प्रारंभ से, कलकत्ते में, अंग्रेजी के प्रोत्साहन से आरम्भ हुए। कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के—जहाँ अंग्रेज अफसरों को भारतीय भाषाएँ पढ़ाई जातीं थीं—अंग्रेज अध्यक्ष जान गिलक्राइस्ट की प्रार्थना पर, पं. लल्लू जी लाल और पंडित सदल मिश्र ने खड़ी बोली हिन्दी के प्रथम दो महत्त्वपूर्ण गद्य ग्रन्थ लिखे। पिछली शती के सातवें दशक तक खड़ी बोली हिन्दी की साहित्यिक जीवन्तता बहुत अनुत्साहपूर्ण थी और फारसी लिपि की जगह नागरी का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता था।

फिर भी आज की स्थिति यह है कि उत्तर भारत की भाषा के रूप में हिन्दी अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित हो गई है। ऐसा लगता है कि सभी लोग उसके पक्ष में हैं। लेकिन हिन्दी संसार के भीतर जो वहुत सी शक्तियाँ क्रियाशील, हैं, उन्हें देख कर कोई चेतावनी भर दे सकता है। हिन्दी ने आज जो मूर्धन्य प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है उसे अक्षुण्ण रखने का साफल्य हिन्दी को प्रयोग में लाने वाले व्यक्तियों की सद्भावना दूर-दर्शिता और किस सीमा तक वे आधुनिक दृष्टिकोण और वस्तुस्थितिपरक ढंग अपना सकते हैं, इस बात की योग्यता पर, निर्भर करेगा। मैथिल राज्य और भोजपुरी राज्य की माँग, राजस्थानी को हिन्दी से अलग एक भाषा मानने की माँग और अन्त में मध्य प्रदेश को मराठी भाषी और हिन्दी भाषी क्षेत्रों में विभाजित कर देने की माँग के साथ साथ पूर्वी उत्तर प्रदेश से पश्चिमी उत्तर प्रदेश को अलग करके एक नया राज्य बना देने की माँग, अशुभ की ही सूचक है।

हिन्दी के उत्तराधिकार का एक और भी पक्ष है। हिन्दी उन लोगों की भाषा थी जो उत्तर भारत के विशालतर क्षेत्र पर शासन करते थे। आज से ७०० वर्ष पहिले तक के लिए यह बात सत्य है और यह भी एक निस्सन्देह बात है कि मुस्लिम शासन के स्थापित हो जाने पर लाहौर, दिल्ली और आगरा के, जो कि भारत में मुस्लिम शासन और संस्कृति के केन्द्र थे, समीपवर्ती पछाँह के लोगों ने पूर्वी और मध्यभागीय उत्तर प्रदेश के लोगों की अपेक्षा अरबी फारसी तत्त्वों को अधिक मात्रा में ग्रहण किया।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के इन लोगों को जो कि इस भाषा के मूल वक्ता हैं, अहले जबान हैं, अपने साथ लेने के लिए हमें अरबी, फारसी तत्वों को पर्याप्त संख्या में स्वीकार करना पड़ेगा। शब्दों के संबंध में एक सर्वस्वीकृत शैली या सिद्धान्त को स्थिर कर देना हिन्दी के लिए एक कठिन बात है। क्योंकि अविकृत हिन्दी के उत्स-स्थल पछाँह क्षेत्र के लोगों को फारसी अरबी शब्दों के रूप में जो चीज अपनी भाषा के लिए बहुत स्वाभाविक प्रतीत होगी, वह शेष भारत को स्वीकार्य नहीं होगी। वहाँ के लोग संस्कृत के शब्दों की अधिक चिन्ता करेंगे क्योंकि उन्हें वे आसानी से समझ सकेंगे। कुछ लोगों ने अंग्रेजी शब्दावली को सरल बना कर एक प्रकार की "बेसिक अंग्रेजी" बनाने का प्रयत्न किया है और इस बेसिक अंग्रेजी के निर्माता सोचते हैं कि यह अपनी शब्दावली में भाषा के निम्न पक्षों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है :

British ब्रिटिश
American अमेरिकन
Scientific वैज्ञानिक
Industrial औद्योगिक
Commercial and cultural व्यापारिक और सांस्कृतिक

अंग्रेजी का "बेसिक" शब्द ऊपर के पाँच अंग्रेजी शब्दों के प्रथमाक्षरों से बना है। मैं इस प्रकार के "छुओ मत" वाद के आदर्श को जीवन या भाषा किसी में भी नहीं मानता और मैं सोचता हूँ कि एक बेसिक हिन्दी या हिन्दुस्तानी भी हम बना सकते हैं,

जिसमें "बेसिक" शब्द, यद्यपि वह अंग्रेजी का शब्द है, पाँच हिन्दी शब्दों के प्रथमाक्षरों से बन सकता है :

Bharatiya भारतीय

Adhunika आधुनिक या आज कल की

Sanskirt-mulak संस्कृत मूलक या संस्कृत वाली (आधार रूप में संस्कृत का प्रयोग करने वाली)।

Islamc इस्लामी (इस्लामी या फारसी अरबी के उन शब्दों को जो प्राकृतिक बन गए हैं, प्रयोग में लाने वाली)।

Chalatu चलतू या चालू

देशी-भारतीय–और विदेशी-फारसी, अरबी-तत्त्वों से युक्त आज की उभयात्मक हिन्दी (जिसमें विदेशी या फारसी अरबी तत्त्व, भाषा के समुचित स्वतन्त्र तत्त्व को अविकृत रखते हुए, परिमित रूप से ही व्यवहृत होगा) बड़ी शक्तिशाली भाषा है। इसकी तुलना जर्मन और अंग्रेजी की आपेक्षिक स्थिति से की जा सकती है, क्योंकि अंग्रेजी में उसके पैदाइशी जर्मन शब्द तो हैं ही, फ्रेंच तथा लैटिन स्रोतों से आई हुई शब्दावली भी है जो उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता और सुन्दरता को और भी बढ़ा देती है। यह फारसी, अरबी तत्त्व भी हिन्दी के उत्तराधिकार के अन्तर्गत वर्णित हो सकता है। यद्यपि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी की दृष्टि से यह इतना बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है पर इसका अस्तित्व तो हिन्दी में है ही और उसे आसानी से हवा में फेंका नहीं जा सकता। हम पिछले सात सौ वर्षों के इतिहास को और फ्रांस की संस्कृति से अपने निकट सम्पर्क को, जिसका प्रतीक यह फारसी अरबी तत्त्व है, मिटा नहीं सकते।

हिन्दी का एक उत्तराधिकार और भी है जिसे हमें नहीं भूलना चाहिए। यह उत्तराधिकार है अंग्रेजी का और यह अब भी बहुत जीवन्त है। हमारे शासक अंग्रेजों की भाषा अंग्रेजी हमारे साथ थी या रही है और अब जब कि अंग्रेज हमें छोड़ कर चले गए हैं, बहुत से लोग यह सोचते हुए दिखाई देते हैं कि अंग्रेजी का भी हमें छोड़ कर चले जाने का समय अब आ गया है। पर अंग्रेजी केवल अंग्रेजों की बपौती नहीं थी। यह अब सच्चे अर्थों में विश्व संस्कृति की अनूठी परिवाहिका बन गई है। हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा का भी सुधार सँवार करते हुए अपनी बुद्धि के क्षितिज को विस्तृत करने के हेतु अंग्रेजी आवश्यक है, क्योंकि अंग्रेजी का अर्थ केवल अंग्रेजों का साहित्य ही नहीं सारे विश्व का साहित्य है। संसार के सभी राष्ट्रों के उच्चकोटि के ग्रन्थों का अनुवाद जितना अंग्रेजी में हुआ है उतना अन्य किसी भी भाषा में नहीं और अंग्रेजी की कुञ्जी अपने हाथ में रख कर हम सारे संसार के साहित्य तक पहुँच सकते हैं। फिर अंग्रेजी आज विश्व-कोषात्मक स्थिति पर पहुँच गई है। संस्कृत भी एक महान् भाषा है, यह सच है, यद्यपि बहुत से लोग यह सोचने के आदी हैं कि यह संसार की सबसे बड़ी भाषा है। यह केवल प्राचीन काल और मध्ययुग की ग्रीक, चीनी, लैटिन और अरबी जैसी चार पाँच बड़ी भाषाओं में से एक है। अंग्रेजी एक आधुनिक भाषा है और अनेक शताब्दियों से

उसका एक गतिशील और जीवन्त अस्तित्व रहा है, जब कि संस्कृत कम से कम पिछली कुछ शताब्दियों से बहुत कुछ अगतिपूर्ण या स्थिर सी रही है। संस्कृत की अपेक्षा अंग्रेजी को एक बड़ी भारी सुविधा यह है कि वह आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत के शब्दों को अपने में मिला सकती है, किसी ऐसे दार्शनिक विचार को व्यक्त करने के लिए जिसके लिए संस्कृत में कोई बहुत, उपयुक्त शब्द है, पर अंग्रेजी में जिसका कोई पर्यायवाची नहीं है, संस्कृत के उस शब्द को वह आत्मसात् कर सकती है। यह सुविधा अंग्रेजी को वह स्वरूप प्रदान करती है जिसे हम विश्व-कोषात्मक स्वरूप कह सकते हैं। अंग्रेजी के इस बड़े भारी महत्व का पूरा पूरा ध्यान हिन्दी को रखना ही पड़ेगा। यह हिन्दी को किसी भी मात्रा में हानि नहीं पहुँचाएगा, उसे वह "जातिच्युत" नहीं करेगा। बंगाली भाषा का आश्चर्यजनक विकास और बंगाली आत्मा का वह आधुनिकीकरण, जो उसके साहित्य में अभिव्यक्त है, उसके पिछले सौ वर्षों के अंग्रेजी मे निकट सम्पर्क का परिणाम है। हमारे सर्वश्रेष्ठ लेखक अंग्रेजी के माध्यम से सारे संसार से भावों और विचारों का अनुदान लेने के लिए उत्सुक रहे हैं। किसी भाषा को आधुनिक रूप देने के लिए अपनी आत्मा या प्रवृत्ति को आधुनिक बनाना बहुत आवश्यक है और अंग्रेजी भाषा संसार के सभी स्थानों के लिए, मनुष्य की आत्मिक प्रवृत्ति को आधुनिक बनाने का बहुत शक्तिपूर्ण साधन है। आज की सभ्यता अंग्रेजी द्वारा अपने को बहुत उपयुक्त रूप से व्यक्त कर सकती है। यह भाषा सुव्यवस्थित है और सभी जटिल विचारों को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त कर सकती है। (इसमें अति धार्मिक साहित्य भी है पर उसे छोड़ देने पर) साधारणतया उसका वातावरण विचारयुक्त चिन्तन का है।

एक आधुनिक भारतीय भाषा को संस्कृत और अंग्रेजी दोनों की ओर झुकना चाहिए। एक की ओर शब्दों के लिए, उनकी सामान्य अभिव्यक्ति शैली के लिए और अपनी संस्कृति की चिरन्तन महत्त्व वाली चीजों की सम्यक सुरक्षा के लिए और दूसरी (अंग्रेजी) की ओर वैज्ञानिक मनः स्थिति के लिए जीवन के प्रति वस्तुवादी दृष्टिकोण के लिए तथा प्रकृति और मनुष्य के जीवन की स्थिति को उस रूप में जिसमें कि वह आज वर्तमान है, जानने के लिए।

उपर्युक्त सभी उत्तराधिकार हिन्दी के पास हैं। जो हिन्दी को प्रयोग में लाते हैं और जो उसे आधुनिक भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण संवाहिका बनाना चाहते हैं, उन्हें इस स्थिति को अच्छी तरह समझना चाहिए। तभी वे इसके इतिहास को उस रूप में जिसमें कि वह वास्तव में था, समझ सकते हैं और तभी 'वे इसे किसी अच्छे उपयोग में लगा सकते हैं।

धन्यवाद

डा. विश्वनाथ प्रसाद

भाषा के रागात्मक तत्त्व*

यदि हम बहुत दूर से दो या दो से अधिक व्यक्तियों को बातचीत करते हुए सुनें तो उनके शब्द अथवा स्वर-व्यंजन स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ते, सुनाई पड़ता है केवल उन शब्दों का व्यापक राग। माला के रूप में पिरोये हुये मोतयों के दानों के समान भाषा के अन्य अवयव पद, शब्द तथा स्वर-व्यंजन राग-सूत्र में ही आबद्ध रहते हैं। भाषा का यह रागात्मक तत्त्व उसकी आत्मा अथवा उसकी जीवनी-शक्ति है।

हम जब बोलते हैं तो हमारे, प्रत्येक पद, प्रत्येक वर्ण एक-दूसरे में अन्तःप्रविष्ट होकर ध्वनि की अगणित तरंगों में व्यक्त होने लगते हैं। बोलते समय वक्ता के ओष्ठ आदि के संचालन के फिल्म-स्क्रिप्ट लेकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती ध्वनियों के समष्टिगत स्वरूप के अनुरूप ही उसकी वागिन्द्रियाँ वाक्य के उच्चारण में प्रवृत्त होतीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त वाक्य के चित्र उनमें एक ही साथ उतर आते हों। निस्सन्देह वाणी के इस रागात्मक तत्त्व को ही ध्यान में रखकर वाक्यपदीय के प्रणेता भर्तृहरि ने कहा था :—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

(वाक्य ० १।७३)

अर्थात् पद में वर्ण नहीं होते वर्णों में अवयव नहीं होते वाक्य से पृथक् पद की कोई सत्ता नहीं है।

वस्तुतः किसी भी भाषा के ध्वनि-समूह का विश्लेषण करने से हमें उसकी व्यवस्था के दो पक्ष प्राप्त होते हैं :—

१. उसका स्वनिक (Phonematic) पक्ष—जिसके अन्तर्गत स्वर का और व्यंजन का विचार किया जाता है।

२. उसका छान्दिक या रागात्मक पक्ष—जिसके अन्तर्गत सुरों या स्वरों के आरोह-अवरोह, बलाघात, ह्रस्व, प्लुत आदि मात्राएँ, सन्धियाँ, विराम आदि इन सबको रखा जा सकता है।

* इस निबन्ध का कुछ अंश अखिल भारतीय ओरियंटल कान्फ्रेंस के लखनऊ अधिवेशन में पढ़ा गया था।

हमारी भाषा की कुछ ध्वनियाँ दीवार की ईंटों के समान आनुक्रमिक रूप में आतीं हैं और कुछ उनके साथ यौगपदिक या समकालिक रूप में, जो प्रायः कई पृथक् पृथक् ईंटों को अपने भीतर परिगणित या अंगीकृत कर लेतीं हैं। ये उनके ऊपर छा-सी जातीं हैं। इसलिए कुछ अमेरिकन ध्वनि-शास्त्रियों ने एक को खंडात्मक (Segmental) और दूसरे को उपरिखंडात्मक (Suprasegmental) कहा है। भाषा के किसी विशेष आनुक्रमिक खंड से इनका सीधा संबंध नहीं जोड़ा जा सकता, वे वास्तव में आनुक्रमिक खंड के अनुचयन या प्रत्याहार (Abstraction) हैं। फलतः ऐसा भी हो सकता है कि एक ही खंड में दो तीन छान्दिक तत्त्व व्याप्त हों।

इन रागात्मक या छान्दिक तत्त्वों को मापने के लिये भाषा के जिस चरम या अल्पिष्ठ अवयव का उपयोग किया जा सकता है, वह है अक्षर या स्लेबल (Syllable), जिसकी समस्या ने बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को चक्कर में डाल रखा है। अपने यहाँ के प्राचीन ध्वनिशास्त्रियों ने प्रत्येक वर्ण को अक्षर माना है। "न क्षरतीति अक्षरः।" अक्षर चरम, स्थिर और अविनश्वर है। वह नाड़ी-स्फुरण के समान है, जिसके लक्षणों में ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं, अनुनासिकता य- और व- श्रुतियों, कंठद्वारीयकरण, द्वित्व, सुर और बलाघात आदि का सन्निवेश किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न पृष्ठाधारों के अनुसार अक्षर-तत्त्व के आदि-अंत या गणना के संबंध में मतभेद हो सकते हैं, पर वक्ता और श्रोता की दृष्टि से किसी भाषा का छोटा से छोटा अवयव जो आसानी से ग्रहण किया जा सकता है, अक्षर ही है। अमेरिका के भाषाविज्ञानवेत्ता केनेथ एच. पाइक ने मैक्सिको के कुछ स्पैनिश भाषा भाषी ग्रेजुएट विद्यार्थियों के बीच और चीन के वाई. आर. चाओ ने कुछ चीनीभाषाभाषियों के बीच प्रयोग करके देखा था कि जहाँ अंगरेज विद्यार्थी स्केट्स (Skates) और डे (Day) में एक अक्षर (Syllable) बताते हैं वहाँ स्पैनिशभाषाभाषी विद्यार्थी दो और चीनी विद्यार्थी स्केट्स में तीन अक्षर सुनते हैं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि 'स्लेबल' की गणना में विभिन्न भाषाओं के रागात्मक संस्कारों के अनुसार भेद हो सकते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि अक्षर या स्लेबल रागात्मक तत्त्व का ही एक सुविधाजनक मापदंड है।

शब्दान्त, शब्दादि के स्वरूप तथा सन्धियों को भी रागात्मक तत्वों के ही अन्तर्गत रखना समीचीन है। साहित्यिक भाषा के लिखित रूप में शब्दों के बीच जो रिक्त स्थान देने की परिपाटी, है, उसे भी रागात्मक तत्त्व का ही निर्देशक मानना उचित है। हिन्दी में 'हट जाओ' इस वाक्य के ध्वन्यात्मक रूप 'हड् जाओ' में ड् हलन्त और ज का जो सन्धि रूप है, वह षड्ज आदि जैसे कुछ संस्कृत तत्सम शब्दों को छोड़ कर अन्यत्र नहीं पाया जा सकता। इस प्रकार हिन्दी में 'ड् ज' का संगम पदान्त और पदादि का एक सन्धि-चिह्न है, जिसको हम रागात्मक तत्त्व के अन्तर्गत रख सकते हैं।

ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि सन्धियों को वस्तुतः रागात्मक तत्त्व का ही अंग मानना वांछनीय है। उनके संबंध में यह समझना कि कोई विशेष वर्ण किसी दूसरे वर्ण के रूप में बदल जाता है, एक भ्रम है। प्राचीन व्याकरणों में इस प्रकार का जो

कथन है, वह केवल काम चलाने की बात है। किसी विशेष भाषा में दीक्षित व्यक्ति इन सन्धियों का आप ही आप प्रयोग करते हैं, क्योंकि इनके बिना किसी भी भाषा का उच्चारण करना असंभव है। अमेरिका के विख्यात भाषाविज्ञानवेत्ता ह्विटनी से किसीने पूछा कि उच्चारण क्या है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि पृथक्-पृथक् ध्वनियों को उत्पन्न करने वाली प्रणाली को नहीं, वरन् भाषा के लिये उनके सम्मिश्रण की प्रणाली को ही उच्चारण कहना चाहिए।

वस्तुतः दो ध्वनियों के मिलने से एक तीसरा ही ध्वनि-राग उत्पन्न हो जाता है, जिसमें उन दोनों का पर्यवसान हो जाता है। इस प्रकार यह तीसरी ध्वनि उन दोनों ध्वनियों से भिन्न ही होती है। इस प्रकार की अनेक सन्धियों के तालुग्राही प्रयोग करके हमने देखा था कि इस तीसरी ध्वनि की रूप-रेखा उन दोनों ध्वनियों की रूप-रेखाओं से सर्वथा भिन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ 'पाँच सौ रुपये हैं" इसमें च और स की सन्धि में 'च' का स्पर्श बिल्कुल गायब हो जाता है और 'स' का रूप भी अक्षुण्ण नहीं रह जाता, रह जाता है उन दोनों का रागात्मक तत्त्वमात्र। 'मत चलो'—में त + च 'बच्चा' में जो 'च्च' है, उसके समान नहीं होता, जैसा कि ध्वनिविज्ञान के कुछ विद्वानों ने भ्रमवश समझ रखा है। 'च्च' के तालुग्राही रेखा-चित्र से 'त + च' की सन्धि का रेखा-चित्र सर्वथा भिन्न पाया जाता है।

कुछ ऐसी ध्वनियाँ हैं, जो एक ओर स्वनिक भी हो सकती हैं और दूसरी ओर राग-तत्त्व का अंश भी हो सकती हैं। य, व और ह को हम इसी कोटि में रख सकते हैं। 'दया' और 'दवा' के 'य' और 'व' में भेदक स्वनिकता है, पर 'आया', 'आये', 'गया', 'गये', 'हुवा', 'साधुवों' आदि में 'य' और 'व' श्रुतिमात्र हैं। इसके लिए जैन वैयाकरणों ने य-श्रुति और व-श्रुति का जो प्रयोग किया है, वह इनके रागात्मक स्वरूप के अनुरूप ही है। अँगरेजी सन्ध्यक्षरों में तथा चीनी भाषा में भी य और व का श्रुति-रूप पाया जाता है।

संस्कृत व्याकरण के षत्व-विधान और णत्व-विधान राग-तत्त्व के ही अन्तर्गत आते हैं। किसी पद में एक 'र' या 'ष' रहे तो उसके 'न' 'ण' हो जाते हैं। उनके दन्त्य 'न' पर मूर्धन्य का रंग चढ़ जाता है। संस्कृत से सम्बद्ध आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी मूर्धन्यीकरण के रागात्मक तत्त्व का ही रंग और प्रभाव है।

बहुतेरी बोलियों में 'य' और 'व' के समान ही 'ह' का भी श्रुति-रूप में ही प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ भोजपुरी में पी + ई, दी + ई के बीच में 'ह' का आगम करके पीही, दीही आदि जो भविष्यत् रूप बनते हैं, उनमें 'ह' का स्थान श्रुति-रूप में ही है। इसी प्रकार 'एने' के स्थान में 'हेने', 'ओने' के स्थान में 'होने' आदि रूपों में 'ह' ध्वनि एक रागमात्र है। हिन्दी की ह-ध्वनि पच्छिमी बोली और पंजाबी में स्पष्टतः एक राग के रूप में परिणत हो जाती है :—

उदाहरण :	**हिन्दी**	**पश्चिमी रूप**	**पंजाबी**
	बहुत	**बौहत**	**बौत (जैसे बौतच्छा)**
	बहिन	**बैहन**	**बैन**

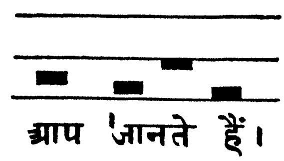
कहता है	केहता है	कैता है
पहुँचना	पौंहचना	पौंचना

हकार के रागात्मक स्वरूप के प्रमाण में ऐसे वाक्यों के उदाहरण भी ले सकते हैं, जिनमें 'ह' की ध्वनि स्थानान्तरित हो जाती है, जैसे—देखकर चलो, बाघ का बच्चा। काइमोग्राफ की रेखाओं को देखने से मालूम होता है कि ऐसे वाक्यों के वास्तविक ध्वन्यात्मक रूप होते हैं—देहक्के चलो, बाहक्का बच्चा। इस संबंध में महाप्राणता का प्रारंभ 'दे' के एकार और 'बा' के आकार से ही हो जाता है और वह 'द' और 'ब' के स्फोटन के बाद ध्वन्यंश को अपने रंग में रँग लेता है।

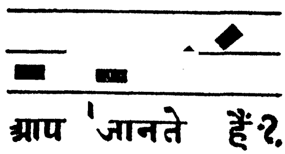
विभिन्न भावों और अर्थों की व्यंजना के लिए भी विभिन्न रागों का प्रयोग होता है। स्वरात्मक भाषाओं में तो स्वरों का भेदक तत्त्व के रूप में ही व्यवहार होता है। हमारे वैदिक ऋषि भाषा के रागात्मक तत्त्व के संबंध में बड़े सावधान थे। 'इन्द्रशत्रु' के उच्चारण में स्वर के अनुचित प्रयोग से जो अनर्थ हुआ था, उसका अनुभव करके वे सतर्क हो गये थे। कितनी सावधानी से वेदों के स्वरों को अंकित किया गया है! प्राचीन ग्रीकों ने भी मृदु और तीक्ष्ण नादों के लिए बड़े ध्यान से संकेत-चिह्नों का प्रयोग किया है।

हिन्दी में जिन वाक्यों में प्रश्नवाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता, उनमें रागों के बिना अर्थ की सूचना नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ—

आप जानते हैं।

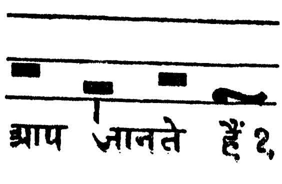


आप जानते हैं?



दो राग वाक्य के दो अर्थों के व्यंजक हैं।

एक ही भाषा में प्रदेश-भेद से सुर के रागों में कितना अन्तर हो जाता है, यह इसी प्रश्नात्मक उदाहरण के बिहार के कुछ भागों में प्रचलित रूप से समझा जा सकता है। वहाँ ऐसे प्रश्नवाचक वाक्यों के उच्चारण में पच्छिमी प्रदेशों के आरोही स्वर से सर्वथा भिन्न अवरोही सुर का व्यवहार किया जाता है, जैसे—



अतः हिन्दी के समान सुदूर विस्तीर्ण क्षेत्रों में प्रचलित भाषाओं में यदि सुरों के व्यवहार का कोई निश्चित आदर्श नहीं स्थापित किया जाय तो उच्चारण में इतने विद्रूप भेद और अन्तर आ जायँ कि प्रायः अर्थ का अनर्थ हो जा सकता है।

आघातों में अन्तर करके भी अर्थों में भेद किया जाता है। जैसे, इसी उदाहरण में—

ˈआप यह बात जानते हैं।
आप ˈयह बात जानते हैं।
आप यह ˈबात जानते हैं।
आप यह बात ˈजानते हैं।

इस प्रकार आघात-भेद से चार भिन्न भिन्न अर्थों की सूचना हो सकती है।

हिन्दी में जोर देने के लिये और कभी-कभी प्यार बताने के लिये भी द्वित्व के राग का व्यवहार किया जाता है, जैसे, कब्भी नहीं। चच्चा, फुफ्फा आदि।

अनुस्वार को शिक्षा ग्रंथों में 'रंग' माना गया है।

बायाँ, कुआँ, दसवाँ, चिउँटा, गोइयाँ, महँगा आदि शब्दों में अन्तिम अनुनासिक पूर्व-वर्ती और परवर्ती ध्वनियों को भी अपने रंग में मिला लेता है। अनुनासिक के अनेक परिवर्तनशील रूप या विकार उसके विविध रागों के सूचक हैं:—

यथा—	अनुस्वार	द्वित्व	अनुनासिक	नासिक्य
	लंबा	लम्मा	लँबा	लामा
	खंभा	खम्हा	खँभा	खाम्हा
	कंधा	कन्हा	कँधा	कान्हा

ह्रस्व और दीर्घ को लघु-गुरु के रूप में पाणिनि ने रागात्मक या छान्दिक तत्त्वों के अन्तर्गत ही गिना है। हम देखते हैं कि हिन्दी में कई शब्द ऐसे हैं, जिनके बोल चाल के उच्चारण के दो रूपों में मात्राएँ सन्तुलित रखीं गई हैं। जैसे—

पत्थर	पथली
जुत्ता	जूता
चिट्ठी	चीठी

इन सभी रूपों में मात्रासमतोलन के रागात्मक स्वरूप के उदाहरण हमें मिलते हैं।

'दिन' और 'दीन' जैसे शब्दों के उदाहरण हिन्दी में बहुत कम हैं, जिनमें ह्रस्व-दीर्घ मात्राएँ भेदक रूप में प्रयुक्त हों। हिन्दी में इनका स्वनिक नहीं, रागात्मक महत्त्व है। हमारे स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी लिखने में ह्रस्व और दीर्घ की जो गलतियाँ करते हैं, उसका कारण यही है कि वे हिन्दी के रागात्मक ध्वनि-सूत्र को ठीक-ठीक पकड़ नहीं पाते। इस दोष को दूर करने का उचित उपाय यही है कि उनकी बोलियों के रागात्मक तत्त्व के साथ हिन्दी के राग-तत्त्व का तुलनात्मक विवेचन करके उन्हें उसका सम्यक् ज्ञान करा दिया जाय।

वास्तव में कोई भी बोल चाल की भाषा एक बहुरागात्मक संगीत के समान है, जिसमें एक विस्तीर्ण लय में अनेक राग प्रवाहित होते रहते हैं। इनका अनुचयन आज की जीवित भाषाओं के क्षेत्र में काम करने वाले भाषावैज्ञानिकों का प्रधान कर्तव्य है। विभिन्न भाषाओं के स्वर व्यंजनों का अध्ययन बहुत कुछ किया जा चुका है, पर उनके रागात्मक तत्त्वों का अध्ययन अभी बहुत ही पिछड़ी हुई दशा में है। उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक स्वीट ने ठीक ही कहा था कि भविष्य के ध्वनिशास्त्रियों का प्रधान लक्ष्य ध्वनियों का समन्वयन और नादात्मक तत्त्वों का अनुसंधान ही होगा।

व्यावहारिक दृष्टि से किसी भी नई भाषा को सीखने के लिए पहिले इन रागों को सीखना ही आवश्यक है। बच्चे पहले यह राग ही सीखते हैं, उसके बाद स्वर, व्यंजन। अँगरेजों, अमेरिकनों या अन्य विदेशियों के द्वारा संचालित सेंट जेवियर्स, कनवैन्ट आदि पाठशालाओं में हमारे बच्चे शीघ्र बढ़िया अँगरेजी बोलना सीख लेते हैं, उसका कारण यही है कि उन्हें वहाँ अँगरेजी भाषा के रागात्मक सूत्र का साधन मिल जाता है। भारतीय भाषाओं के रागात्मक तत्त्वों का भी अनुसंधान अब शीघ्र होना चाहिए। विशेष करके अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के शुद्ध, स्वाभाविक, समुचित रूप की शिक्षा और प्रचार के लिए यह परम आवश्यक है कि उसके भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित वाक्य, सुरों, तथा अन्य रागात्मक तत्त्वों का विश्लेषण किया जाय और यथासंभव उनके आदर्शीकरण का विचार किथा जाय। सिनेमा और रेडियो के क्षेत्र में भी हिन्दी के उच्चारण और प्रयोग की दृष्टि से इस विषय का विशेष महत्त्व है।

डा० सत्येन्द्र

मंत्र

'मंत्र' शब्द सुनते ही, लोक-क्षेत्र में इसका पर्यायवाची 'मन्तर', जो 'जन्तर' के साथ आता है, उद्भावित होता है। 'जन्तर-मन्तर' में 'जंत्र या यंत्र' वह होता है जो लिखकर किया जाता है और लिखकर किसी प्रकार से जिसका सम्बन्ध शरीर से किया जाता है। यह जंतर या जंत्र शरीर से लगकर ही प्रभाव पैदा करता है। किन्तु जो केवल शब्द-रूप में प्रभाव करने वाला हो वह 'मन्तर' है, या मंत्र है। 'मंत्र' का विशिष्ट प्रयोग वैदिक ऋचाओं के लिए होता है। 'वेद-मंत्र' से सभी परिचित हैं। वस्तुतः एक बात यह ध्यान में रखने के योग्य है कि मंत्र शब्द विशद अर्थयुक्त है। वेद संहिताएँ ऋक्, युजुस् और सामन् से बनीं हैं। ऋचाएँ उच्च स्वर में पाठ्य होतीं हैं, यजुस् गद्यमय हैं, और धीमे स्वर से बोलीं जातीं हैं, सामन् गेय हैं। ये तीनों ही 'मंत्र' में अन्तर्भुक्त हैं। फलतः वैदिक शब्द ही मंत्र है। वेद-मंत्रों के सम्बन्ध में उच्चारण विषयक सावधानी पर बहुत ध्यान दिया गया है। प्रत्येक मंत्र का उच्चारण सर्वथा शुद्ध होना चाहिए। इस शुद्धता को प्राप्त करने के लिए वैदिक ऋषियों ने वेदांगों की रचना की; पाठ-प्रणालियाँ बनाईं। यह कथा इस क्षेत्र में प्रचलित थी कि एक बार इन्द्र के आवाहन में किसी मंत्र का उच्चारण कुछ का कुछ हो गया, जिससे उलटा परिणाम हुआ।[1]

इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि मंत्र और उनके उच्चारण का फलाफल से सम्बन्ध है। यह भी प्रकट् होता है कि मंत्र का उच्चारण महत्त्वपूर्ण है। इन बातों से संभवतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मंत्रों का पठन-पाठन करते-करते उनके प्रति मोह ने यह रूप ग्रहण कर लिया कि ऐसे शब्दों में स्वयं कोई प्रभाव आ जाता है। आदिम-मानस के तत्त्व पर दृष्टि डालें तो यह भावना स्वाभाविक है। जिस प्रकार से नाम और नामी अभिन्न हैं, उसी प्रकार अंश और अंशी भी अभिन्न हैं। मंत्र, शब्द के रूप में, परंपरा से प्राप्त हुआ है, इस प्रकार 'शब्द' के अंशरूप में हम उसके अंशी, अपने पूर्वजों की परंपरा को प्राप्त करते हैं। अशुद्ध उच्चारण वर्जन या टेबू है। अशुद्ध उच्चारण से समस्त क्रिया ही भ्रष्ट हो जाती है, और वह पूर्वज-प्राप्ति नहीं हो सकती है जो हमें

---

१. मिथ्याप्रयुक्तो नतमर्थमात यथेन्द्रशत्रुस्वरतोपराधात्।
स्वरतो वर्णतो वापिदुष्टः स वाग्वज्रं यजमानं हिनस्ति॥

सिद्धान्त कौमुदी : भट्टोजि दीक्षित

सुरक्षित रखती है, फलतः नाश अवश्यम्भावी है। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं। वेदों का यज्ञ से घनिष्ठ सम्बन्ध है। समस्त वेद-मंत्र साकार अनुष्ठान से सम्बन्ध रखते हैं, वे रिचुएलिस्टिक हैं। दूसरे शब्दों में मंत्रों के साथ यह टोने[1] की भावना लगी हुई है कि यदि इनका उच्चारण हम सविधि करेंगे तो उनसे हमें आवश्यक फल मिलेगा। इसीलिए वैदिक कर्मकाण्ड में विधि पर बहुत बल दिया गया है। वैदिक यज्ञ, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के लिए किये जाते थे। इस प्रकार मूलतः मंत्र, अनुष्ठान-टोने-के एक आवश्यक अंग थे। यह अनिवार्य सम्बन्ध धीरे धीरे शिथिल हुआ। आरण्यक में जब यज्ञ का समस्त अनुष्ठान मानसिक हो चला तो मंत्र भी अनुष्ठान से पृथक् सत्ता रखने लगे। अब तक जो मंत्र अनुष्ठान के अंग होने के कारण फलप्रद थे, अब वे स्वयं शब्दों के रूप में प्रभाव ग्रहण करने लगे। इस प्रभाव के बढ़ने से एक और स्थिति उपस्थिति हुई। यज्ञ के साथ इन मंत्रों के अर्थ का भी सम्बन्ध था। यज्ञ के स्थूल स्वरूप से विलग होने पर शब्दों के साथ अर्थ तो रहा पर अर्थ का अर्थ्य से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। शब्द हैं, उनमें अर्थ भी है, पर वह अर्थ क्या है? किसके लिए है? क्यों है? —ये बातें महत्त्वहीन हो चलीं। फलतः अर्थ भी शब्दों के लिए गौण हो चला।

'मंत्र' वैदिक कर्मकांडियों के लिए टोने के रूप में एक शक्ति का काम करते थे। मंत्र-अभिसिंचन से विघ्न-बाधाएँ दूर हो जातीं थीं। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों पदार्थों की उपलब्धि भी हो जाती थी।

वैदिकों के विरुद्ध लौकिक प्रतिक्रिया ने अपनी सिद्धि को वैदिकों से भी आगे बढ़ाकर दिखाया। इस लौकिक शक्ति ने शब्द और अर्थ के उस दुर्बल सूत्र को भी विच्छिन्न कर दिया। सिद्ध पुरुष जैसे भी शब्द का उच्चारण कर देगा, वही मंत्र है। लोक-वार्त्ता-परम्परा इस उद्भावना का सम्बन्ध 'शिव' से करती है। शिव जी के मुख से विशेष क्षणों में कुछ शब्द निकल पड़े जो अनर्गल थे—वे मंत्र हो गये। यों तो यह प्रतीत होता है कि ये मंत्र शिव से यों ही जोड़ दिये गये हैं। पर आधुनिक ऐतिहासिक शोधों से यह सिद्ध हुआ है कि 'शिव' का अस्तित्व बहुत प्राचीन है। मोहनजोदड़ो-हड़प्पा में योगी शिव के अस्तित्व का पता चलता है। उस समय की लिपि का अभी पूरी तरह उद्घाटन नहीं हो सका है। संभावना ऐसी विदित होती है कि शिव द्वारा प्रलापित '**ह्रीं**', 'क्लीं' आदि निरर्थक शब्द मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की भाषा के शब्द हैं जो शिव की योगी-सिद्ध संस्कृति के पुनरोदय के रूप में अथवा अन्तर्धारा के रूप में भारत में सदा प्रचलित रहे हैं।

---

१. "In the Sanskrit, as also in the Hebrew and all other alphabets every letter has its occult meaning and its rationale, is a cause and an effect of a preceding cause, and a combination of these, very often produces the most magical effect. The vowels, especially, contain the most occult and formidable potencies. The Mantras (esoterically, magical rather than religious) are chanted by the Brahmins and so are the Vedas and other Scriptures." pp. 94 The Secret Doctrine, by Blavatsky.

यह बात विशेषतः ध्यान आकर्षित करती है कि मंत्र, योग, सिद्धि, का परस्पर संबंध है तथा योगी और सिद्ध का प्रायः एक जैसा रूप देखा जाता है। यह रूप 'शिव' के रूप से मिलता-जुलता होता है। मोहनजोदड़ो के योगी का और शिव का साम्य दिखायी पड़ता है। मंत्रयान के एक देवता हयग्रीव में भी हमें उस रूप के दर्शन होते हैं। यह हयग्रीव कभी कभी सर्प धारण किये हुए होता है, कभी मुंडमाल भी। तिब्बत में दण्डमणि हयग्रीव का रूप कुछ ऐसा ही है, एक सिर, दो भुजाऐं, सीधे हाथ में दण्ड-करण मुद्रा-युक्त, बाँया हाथ छाती पर, पाश लिये हुए, शरीर रक्तवर्ण, बालों में से हरे घोड़े का सिर निकला हुआ, व्याघ्रचर्म धारण किये हुए, मनुष्य के मुंडों की माला से विभूषित, एक हरा साँप लिपटा हुआ पैरों के नीचे दुष्टात्माएं कुचली हुईं आदि। यह हयग्रीव का बौद्ध धर्म के मंत्रयान में गृहीत रूप है, जो शिव से कितना मिलता है। जापान में हयग्रीव विषयक धर्मग्रंथ में आरंभ में हयग्रीव की स्तुति करते हुए उसे मार द्वारा प्रस्तुत किये गये विघ्नों का नाश करने वाला, सूर्य के रूप में परिणत होकर समस्त विश्व को ही नहीं वरन् योगाभ्यासी को भी प्रकाश प्रदानकर सिद्धि-प्राप्ति के योग्य बनाने वाला, कहा गया है। मंत्रयान में दीक्षित करने के लिए ऐसे शिष्य चुनने का नियम बताया है जिसे महायान में श्रद्धा हो और योग-सिद्धान्त के लिए आतुर हो और बोधिसत्व के आचार का पालन करने की क्षमता रखता हो आदि, आदि। मंत्र, योग, सिद्धि, का संबंध इन उल्लेखों से पुष्ट होता है। इनका मूल देवता शिव के से रूपवाला ही प्रतीत होने लगता है, यद्यपि ये ह्रीं क्लीं शब्द इन्द्रसंस्कृति के आवेश में अपने अर्थ खो बैठे हैं।

इस प्रकार अब एक विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्बद्ध होकर निरर्थक शब्द भी मंत्र का काम करने लगे। शिव परम सिद्ध हैं। अतः उनकी वाणी स्वयं 'सिद्धि' है। फलतः मंत्र शब्द 'सिद्ध-मंत्र' हो गया। अब मंत्र अनुष्ठान का अंग नहीं रहा, पर सिद्धि के लिए कुछ अनुष्ठान, मंत्र के लिए भी, आवश्यक अवश्य हो गया। वैदिक भूमि त्याग कर मंत्रों ने सिद्धों की भूमि ग्रहण की, फिर नाथों से इनका सम्बन्ध हुआ। अब मंत्र शुद्ध होने के रूप में हैं। पढ़कर मंत्र मारिये कार्य सिद्ध होगा। मंत्र-सिद्धि की प्रतियोगिताएँ भी होने लगीं। कौन कितना पहुँचा हुआ सिद्ध है, इसकी परीक्षा होने लगी। योगियों की ऐसी मंत्र-सिद्धि की होड़ बहुधा देखने को मिल जाती है। पहले एक जोगी दूसरे जोगी की बीन बंद कर देगा, फिर ततैया लगा देगा, जिससे वह तड़पने लगेगा आदि। इन मंत्रों का कोई न कोई सिद्ध पुरुष चार-पाँच गांवों के बीच मिल जायगा। यह ब्रज के क्षेत्र में 'स्याना' कहलाता है, ओझा भी कहलाता है। इसका काम है कि मंत्रों से झाड़-फूँक कर भूत-प्रेत के रूप में आयी बीमारी को दूर करे। फलतः मंत्रों से सिद्ध शक्ति ही महत्त्वपूर्ण है, उनके अर्थ का कोई मूल्य नहीं। वस्तुतः मंत्रों का उच्चारणकर्त्ता उन मंत्रों के शब्दों से ही परिचित होता है, अर्थ वह नहीं जानता और मंत्रों पर दृष्टि डालने से यह भी विदित होता है कि उनमें 'अर्थ' जैसी कोई वस्तु नहीं होती। साधारणतः मंत्र जैसे किसी योगी, सिद्ध या पीर की आन के रूप में होते हैं।

मंत्रों की इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मंत्र' का और टोने का घनिष्ठ सम्बन्ध है। टोने अथवा मंत्र का आन्तरिक सिद्धान्त यह है कि समस्त प्रपंच किन्हीं निर्वे-

यक्तिक शक्तियों से संचालित होता है, जो नियमों से बँधकर चलतीं हैं। जो इन रहस्यों से परिचित हैं वे अनुष्ठानों और जंत्रों-मंत्रों से उस शक्ति या उन शक्तियों को विवश करके अपने मनोनुकूल फल प्राप्त कर सकते हैं। यह भावना उस भावना के विरुद्ध है जो धर्म (रिलीजन) में पायी जाती है। इसीलिए फ्रेजर महोदय ने 'स्तुति' (प्रेयर) और मंत्र (स्पैल) दो अलग अलग बातें मानी हैं। 'स्तुति' के द्वारा श्लाघापूर्वक हम देवताओं को फुसलाते हैं कि वे कृपा करके स्तुतिवाचक का अभीष्ट पूर्ण करें। किन्तु 'मंत्र' अपनी शक्ति से विवश करके उस शक्ति से अभीष्ट पूर्ण कराता है। धर्म का सम्बन्ध स्तुति से है, मंत्र का टोने (मैजिक) से।

फ्रेजर महोदय के शब्द ध्यान देने योग्य हैं:—The distinction between the two conflicting views of the Universe turns on their answer to the crucial question, are the forces which govern the world conscious and personal or unconscious and impersonal? [विश्व के संबंध में दो भिन्न मतों का अन्तर अन्त में इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करता है कि क्या इस विश्व का नियमन करने वाली शक्तियाँ चेतन और व्यक्तित्वसम्पन्न हैं या अचेतन और निर्वैयक्तिक।] फ्रेजर महोदय की युक्ति है कि चेतन व्यक्तित्व तो प्रार्थना और स्तुति से फुसलाया जा सकता है किन्तु अचेतन निर्वैयक्तिक शक्ति को तो विवश ही किया जा सकता है। अतः 'मंत्र' का सिद्धान्त इसी अंतिम तथ्य को स्वीकार करता है। पर फ्रेजर महोदय इस बात से भी अपरिचित नहीं कि मंत्र से तो भूत-प्रेत अथवा छोट-मोटे दई-देवता भी वश में किये जा सकते हैं। इसमें से कितनों ने यह नहीं सुना होगा कि अमुक स्याने को देवी सिद्ध हैं, या जिन्न सिद्ध हैं, या हनूमान जी सिद्ध हैं, और वह मनचाही बात करा लेता है। इसीलिए फ्रेजर ने आगे लिखा—"It is true that magic often deals with spirits, which are personal agents of the kind assumed by religion, but whenever it does so in its proper form, it treats them exactly in the same fashion as it treats inanimate agents, that is, it constrains or coerces instead of conciliating or propitiating them, as religion would do. Thus it assumes that all personal beings, whether human or divine are in the last resort subject to those impersonal forces which control all things, but which nevertheless can be turned to account by anyone who knows how to manipulate them by appropriate ceremonies and spells." [यह सच है कि टोने का प्रयोग अक्सर आत्माओं पर होता है जो उसी तरह की व्यक्तित्व-सम्पन्न कारक शक्तियाँ होतीं हैं, जिस तरह की धर्म द्वारा अनुमित हैं। पर जब कभी अपने वास्तविक रूप में टोना इस प्रकार प्रयुक्त होता है तो यह उन शक्तियों को उसी रूप में ग्रहीत करता है जिस रूप में जड़ निमित्तों को अर्थात् यह उनको बाँधता और विवश करता है, उनकी स्तुति या विनय नहीं करता, जैसा कि धर्म द्वारा किया जायगा। इस प्रकार यह इस बात को मान लेता है कि सभी व्यक्तित्व–संपन्न सत्ताएँ-चाहे वे मानवी हों चाहे दैवी–अन्ततः उन निर्वैयिक्तिक शक्तियों के वश में हैं जो सभी का नियमन करतीं

हैं, पर फिर भी जो स्वयं विवशता के साथ उपयोग में घसीटीं जा सकतीं हैं, यदि कोई उन्हें समुचित चर्याओं और टोनों से वश में करना जानता हो।] ईजिप्ट (मिश्र) के स्याने देवताओं को नाश तक की धमकी देकर अपना अभीष्ट सिद्ध कराते थे। तब फ्रेजर भारत के सम्बन्ध में लिखते हैं:–"Similarly in India at the present day the great Hindoo Trinity itself of Brahma, Vishnu and Siva is subject to the sorcerers, who by means of their spells, exercise such an ascendancy over the mightiest deities, that these are bound submissively to execute on earth below, or in heaven above, whatever commands their masters, the magicians, may please to issue. There is a saying everywhere current in India—'The whole universe is subject to the gods; the gods are subject to the spells (mantras), the spells to the Brahmans; therefore the Brahmans are our gods." (Golden Bough p. 52). [इसी प्रकार आधुनिक भारत में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की महत्त्रयी भी जादूगरों के वश में है। वे अपने टोनों से इन सर्वातिशयी शक्ति से संपन्न देवताओं को भी इस प्रकार विवश कर सकते हैं कि नीचे पृथ्वी पर और ऊपर स्वर्ग में वे वही कार्य करें, जिसकी आज्ञा उनके ये स्वायी जादूगर उन्हें दें। एक यह लोकोक्ति सारे भारत में प्रचलित है कि सारा विश्व देवताओं के वशीभूत है, देवता मन्त्रों के वशीभूत हैं, मन्त्र ब्राह्मणों के वश में हैं, अतः ब्राह्मण हमारे देवता हैं।]

धर्म और टोने का यह सैद्धान्तिक विरोध व्यावहारिक विरोध में परिणत हो गया। पुरोहित तथा स्याने पृथक्-पृथक् अपनी शक्तियों का चमत्कार दिखाते रहे हैं। आज भी यह भेद विद्यमान दिखायी देता है। फ्रेजर महोदय का कहना है कि आरम्भ में मूलतः सैद्धान्तिक विरोध होते हुए भी ये दोनों अनुष्ठान साथ-साथ चलते रहे थे—

"अपने अभीष्ट को सिद्ध करने के लिए मनुष्य एक ओर तो देवताओं और "आत्माओं को स्तुति और यज्ञ-बलि से रिझाकर उनकी कृपा चाहता रहा, उधर दूसरी ओर वह ऐसे अनुष्ठानों और शब्द-रूपों का आश्रय लेता रहा जिससे उसे आशा थी कि बिना देव अथवा दानव की सहायता के ही अभीष्ट सिद्ध हो सकेगा। संक्षेप में, वह धार्मिक और टोने के अनुष्ठानों को साथ साथ करता रहा।.....टोने के धर्म में घुलमिल जाने अथवा गड़बड़झाले के उदाहरण हमें मेलेनेशियावासियों तथा अन्य जातियों के आचारों में अभी मिल चुके हैं।" (वही पृ. ५२)

आगे यह विरोध तीव्र हुआ, और दोनों अलग अलग हो गये। फ्रेजर ने आस्ट्रेलिया के आदिम मानवों का उदाहरण देकर यह बताया है कि उनमें स्याने तो हैं, पुरोहित नहीं। प्रत्येक व्यक्ति स्याना है, जो टोने से अपना अभीष्ट पूरा करा सकता है। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि सर्वप्रथम मानव ने टोने को ही प्रधानता दी थी। इसी तथ्य को उन्होंने तर्क परम्परा से भी सिद्ध किया है। "टोना है क्या? टोना मस्तिष्क की अत्यन्त सीधीसादी और अत्यन्त प्रारंभिक प्रक्रियाओं का भ्रामक उपयोग ही तो है। दूसरे शब्दों

में सादृश्य और संबद्धता के सहारे विचारों की संगति विषयक मानसिक प्रक्रिया का भ्रामक उपयोग टोने में दिखायी पड़ता है। दूसरी ओर धर्म मानता है उन चेतन और वैयक्तिक कर्त्ताओं को जो प्रकृति के दृश्य आवरण के पीछे रहते हैं और जो मनुष्य से ऊँचे होते हैं।" (वही पृ. ५४) .....यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि हमारी जाति के विकास में टोने का उदय धर्म से पहले हुआ, तथा मनुष्य ने मात्र मंत्रों और वशीकरणों की शक्ति मात्र से ही प्रकृति को अपनी अभिलाषापूर्ति के लिए झुकाने की पहले चेष्टा की, तब बाद में उसने स्तुति और यज्ञ के कोमल फुसलावों से एक कांइयाँ, स्पृही, और तामसी देवता की खुशामद करने और संतुष्ट करने की चेष्टा की"। (पृ. ५५)

इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि 'मंत्र' की आदिम भूमि उन समस्त तत्त्वों से विनिर्मित है जिन्हें हमने लोक-मानस के लिए आवश्यक माना है।

फ्रेजर ने रिजेम्बलेंस=तुल्यता (सादृश्य) और काण्टिगुइटी=संबद्धता के आधार पर दो प्रकार के टोने स्वीकार किये हैं—

१. होम्योपैथिक मैजिक—जो तुल्य अथवा सदृश वस्तु के द्वारा तुलनीय पर प्रभाव डालते हैं। शत्रु को मारने के लिए उसका पुतला बनाकर उसमें पिन चुभाना या उसे जलाना आदि।

२. काण्टेजियस मैजिक—जो अंशी के अंश से प्रभाव डालती है—जैसे नाखून के टुकड़े, बालों के गुच्छे, मल, नाम, पद-चिह्न आदि से टोना किया जाता है।

इसके अतिरिक्त टोनों को पॉजिटिव (Positive) और नेगेटिव (Negative) में भी बाँटा जाता है। 'विधि विन्यासी टोना' किसी अभीष्ट को संपन्न करने के लिए उपयोग में आता है। 'निषेध-विन्यासी' (Negative) किसी प्रभाव या घटना को रोकने के काम आता है।

मैजिक या टोने के दो भेद ओर किये जाते हैं—ब्लैक मैजिक (काले टोने)—जो अहितकर शक्तियों का आह्वानकर दुष्कृत्य कराने के उपयोग में आते हैं—मूठ चलाना आदि। ह्वाइट (श्वेत) मैजिक—भले कार्यों के लिए।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि टोने का जन्म आदिम मानस की देन है और वस्तुतः मूल में यह उस सिद्धान्त का परिणाम है जो 'मन' शक्ति में विश्वास करता है। 'मन' में विश्वास का कारण आदिम-मानस की वह वृत्ति है जिसे विद्वानों ने 'फेन्टैसी-थिंकिंग'—'परिप्रकल्पनीय विचारणा' नाम दिया है—जिसमें 'यथार्थ और कल्पित' में भेद करने की बुद्धि नहीं रहती। ऐसी स्थिति में आदिम मानव ने प्रकृति के व्यापारों में जो विशेषता देखी उसे एक शक्ति के यथार्थ रूप में उसने समझा। जैसे स्वप्न देखकर उसने अपने अस्तित्व के एक दूसरे रूप में यथार्थ विश्वास किया, वैसे ही उसने सृष्टि की घटनात्मक स्थिति में पदार्थों की जड़ता के अतिरिक्त शक्ति की यथार्थता में विश्वास किया जो किसी घटना के घटित कराने में समर्थ होती है। इस भाव विचारणा के तीन रूप हुए—एक ऐसी शक्ति की सर्वत्र विद्यमानता—'मन' की स्थिति। दूसरी ऐसी शक्ति

से अप्राणि पदार्थों में एक प्राणित्व की भाव स्थिति–जिसे ऐनिमेटिज़्म (Animatism) 'प्राणिभावकता' नाम दिया गया है। ये दोनों स्थितियाँ इसी 'परिप्रकल्पनीय' विचारणा का परिणाम हैं, और इसी के क्षेत्र कीं हैं। इसका आगे विकास होकर 'अप्राणि आत्मवाद' (Animism) का जन्म होता है जो 'अप्राणि आत्मीय विचारण' (Animistic thinking) का परिणाम है।

'मन' की इसी शक्ति को जब कोई व्यक्ति टोने से या किसी क्रिया से सक्रिय करके अपने अभीष्ट को पूर्ण करा सकता है तो वह टोने या मैजिक का उपयोग करता है। ऐसी शक्ति का उपार्जन सिद्धि कहा जायगा और उसका साधन तथा माध्यम 'मंत्र' कहा जायगा। मंत्र के द्वारा शक्ति का उपार्जन भी होगा, और उसका उपयोग भी।

किन्तु यहाँ यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि उस 'मन'–शक्ति को प्राप्त करने के लिए 'शब्द' रूपी मंत्रों की क्यों अपेक्षा हुई? इस मन-शक्ति का और शब्दों का क्या सम्बन्ध है? भारतीय दर्शन में तो 'शब्द' स्वयं ब्रह्म है। शब्द ही क्यों 'अक्षर' ब्रह्म है। अतः 'शब्द' की प्राप्ति ही ब्रह्म की प्राप्ति है। फिर यह भी बताया गया है मूल 'विन्दु' से 'नाद' उत्पन्न होता है। विन्दु स्वयं शिव है और नाद शक्ति है। यह 'नाद' विविध ध्वनियों में प्रकट होता है, और ये ध्वनियाँ मातृकाएँ कहीं जातीं हैं, जो शक्ति से कुछ घटकर हैं। ये मातृकाएँ और नाद सर्वतः व्याप्त हैं, स्वयं शक्ति हैं, तो 'शब्द' से ही 'शक्ति' प्राप्त होती है। यह भी कहा गया है कि सृष्टि का मूल आरम्भ नाद या प्रणव की ध्वनि से ही हुआ है। पर ये सब दार्शनिक मानस की ऊहापोह हैं। आदिम मानस 'ने' शब्द और 'मन' का सम्बन्ध, शब्द और शक्ति का सम्बन्ध किस वृत्ति से किया? यह प्रश्न तो रह ही जाता है। पर यह समझ लेना कुछ कठिन नहीं कि 'शब्द' में एक शक्ति है जिसे हमसे अधिक आदिम-मानव समझ सकता था। 'शब्द' की ध्वनि उसे आकर्षित करती थी। वह अपने विविध प्रकारों से और उनकी गहराई, ऊँचाई अथवा मंदता आदि से आदिम मानव को प्रभावित करती थी। उसके लिए फकत शब्द अथवा ध्वनि की एक यथार्थ सत्ता थी, और वह शक्तिवान् सत्ता थी, क्योंकि वह अनुभव करता था कि वही ध्वनियों से आकर्षित और प्रभावित नहीं होता था, उसकी ध्वनियों से भी प्राणी आकर्षित होते थे। वह यह प्रत्यक्ष अनुभव करता था कि प्रकृति में कोई शक्ति है जो शब्द रूप में प्रगट होकर उसे प्रभावित करने आती है, और उसमें से निकलकर अन्य प्राणियों और पदार्थों को प्रभावित करने जाती है।[१] इस शब्द-सत्ता ने ही समस्त जगत् में किसी मन जैसी शक्ति

---

१. Encyclopaedia of Religion and Ethics में बताया गया है कि—

[The Pronunciation of the names]

नाम के उच्चारण का परिणाम irrosistable अप्रतिकार्य जैसा मान गया है—और उच्चारण का अर्थ—आदिम दृष्टि से कम से कम, Chanted intonation, rhythm and molopoeic के साथ declmation' है। मनुष्यों. प्राणियों, दृश्य अथवा अदृश्य, भूतप्रेतों, जिन्नों, दानवों (demons), देवताओं, प्रत्यक्षतः अप्राणी पदार्थो (जड़) में बसे भूतप्रेतों पर—कमजोर से कमजोर हो अथवा बलवान् से बलवान्, इस उच्चारण का एक सा प्रभाव पड़ता है। भूतप्रेतों का उद्घाटन (Spiroraising) झाड़फूंक, उतारना (Exorcism), खोर (possession), टोना-टमना (sorcers) तथा आन (शपथ) (oaths)

के अस्तित्व का विश्वास उसके मन में जगाया होगा, और शब्द की गूँज में उसकी अपने से पृथक् सत्ता मानने के लिए भी विवश किया होगा। और यहीं उसने अपनी अभेद वृत्ति के आधार पर शब्द और मनशक्ति को एक समझा होगा—'शब्द' ही शक्ति है, शक्ति ही शब्द है—बस तब शब्द ही मंत्र हो गया, क्योंकि व्यापक शक्ति के अपने मूल अस्तित्व को वह अन्यथा ग्रहण ही नहीं कर सकता था।

इस प्रकार मंत्र की उद्भावना हुई, उसमें टोना व्याप्त हुआ, तब धर्म ने उसका आश्रय ग्रहण किया। किन्तु वह अधिक समय तक टोने का साथ नहीं दे सका। दोनों पृथक् हो गये। एक लौकिक हो गया, दूसरा विशिष्ट, भारत में जैसे वैदिक हो गया। भारत में मंत्रों का शिव से सम्बन्ध जोड़ा जाता है, जिसमे यह भी संभावना हो सकती है कि भारत में मंत्र की संभावना पहले मोहेंजोदाड़ो-हड़प्पा की संस्कृति में हुई होगी—वहाँ इसने लोक का पल्ला गहराई से पकड़ लिया था। वेदों ने उसके शिष्ट रूप को प्रस्तुत किया—वेद एक वर्ग में बँध गये। वे ब्राह्मणों के हाथों विक गये। लौकिक मंत्र अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रहे—और ये उन वर्गों के हाथों में रहे जो साधारण शिष्ट और सभ्य वर्ग से दूर और अछूते रहे। इस वर्ग के वे लोग जो मंत्र की थाती सँभालते थे 'स्याने' कहलाये। 'शक्ति' की सिद्धि के सिद्धान्त पर मंत्रों का सम्बन्ध लोक-क्रम-विकास में उन सभी महापुरुषों के साथ होता गया जो सिद्ध, योगी-जोगी, पीर, फकीर हो सके। यहाँ मंत्र अपनी परंपरागत स्थिति को छोड़कर व्यक्तिपरक हो गया। उसमें सामयिक तत्वों का समावेश हो गया। परंपरागत मंत्र शब्दों ने मंत्रों का एक निश्चित रूप धारण कर लिया और वे विशेष साधना (तांत्रिक) के आधार तत्त्व बन गये। ह्रीं, क्लीं, आदि एकाक्षरी अर्थशून्य शब्द-मंत्रों का ऐसा ही रूप है। दूसरा रूप मंत्रों

सभी अपने विविध प्रकारों के साथ—नामों के Imperious प्रयोग पर ही निर्भर करते हैं। आदिम 'टोना-धर्म' (magic religion) और कालेजादू (black magic) का प्रमुख अनुष्ठान तो सर्वोपरि ऐसे नामों के ज्ञान अथवा उच्चारण पर ही आश्रित है, जिन्हें सरलतापूर्वक अथवा बाधाओं का सामना करके वे आकर्षित करने, अधिकृत करने अथवा प्राप्त कर लेने का दावा करते हैं। इस संसार में हम सत्ताधारियों (प्राणियों) अथवा व्यक्तियों पर बिना नाम लिये हुकुम चलाने की कल्पना नहीं कर सकते। सविधि संबोधित होने पर ये आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकते। यदि भूत और मृतक प्रेत तक उनके नाम लेने से अधीन हो जाते हैं, तो यह बात आश्चर्य की नहीं कि किसी आदमी का नाम निकाल लेने पर अथवा स्यानेपन से उसे किसी ऐसे पदार्थ से जोड़ देने पर जो कि नष्ट किया जायगा, उस आदमी को मार भी डाला जा सकता है। दूसरी ओर यह बात भी आश्चर्य की नहीं कि यदि कोई मनुष्य अपनी रक्षा के लिए अपना नाम किसी पदार्थ से संयुक्त करके उस पदार्थ को ऐसा छिपा दे कि कोई जान भी न सके तो जब तक वह पदार्थ अक्षुण्ण है, यह मनुष्य भी अमर है। नामके उच्चारण और व्यक्तित्व में ऐसा ही निश्चयात्मक संबंध है जैसा किसी रसायनिक पदार्थ की प्रकिया का और परिणाम वैसे ही घातक होते हैं, भले ही उच्चारण कर्त्ता की वैसी कोई इच्छा न हो अथवा उससे विपरीत इच्छा ही हो। 'उच्चारण से व्यक्तित्व' का आकर्षण होता है, स्वयमेव, और ऐसे आकर्षणका जो परिणाम होना होता है, वह अनिवार्यतः होता है—

'इसीलिए यह विश्वास किया जाता है कि नाम से नामधारी का भाग्य आकर्षित होता है; उदाहरणार्थ वेझत यह मानते हैं कि किसी कुटुम्ब के सभी बच्चे छोटी उम्र में ही मरते हों, तो इसका कारण उस संकट में है जो उनके नाम में निहित है, अतः वे आगे होनेवाले बच्चे को 'वह जो नाम से वञ्चित है' कह कर पुकारते हैं। इस प्रकार नाम में निहित संकट से उसे बचाने की युक्ति करते हैं।

का वह खड़ा हुआ जो व्यक्तिपरक था और जिसमें किसी सिद्ध या देवता की दुहाई और आन का उपयोग है। ऐसे मंत्र साधना से उतना सम्बन्ध नहीं रखते। ये तो वे नुस्खे हैं जो सिद्धों से प्राप्त हुए हैं। इन्हें कोई भी जानकार विधि से काम में लाकर लाभ उठा सकता है।

तीसरे मंत्रों का वह विशिष्ट प्रकार है जो उच्चवर्ग में परम्परा को बनाये हुए चले आ रहे हैं। जैसे वेद-मंत्र।

प्रथम कोटि के मंत्र विशिष्ट साधनाओं की परिपाटियों से सम्बन्धित हैं। ये विशेषत: तांत्रिक और सिद्धिप्रद माने गये हैं। इनकी साधना अत्यन्त गुह्य रूप में की जाती है। इन मंत्रों की संख्या और रूप निश्चित हैं। इनसे प्राप्त सिद्धि लाभप्राप्ति और दोष तथा दृष्टि-हानि-निवारण और चमत्कार-प्रदर्शन जैसे सभी क्षेत्रों में काम आ सकती है। दूसरे प्रकार के मंत्रों के दो रूप हैं—एक तो स्वयं सिद्ध पुरुष द्वारा कहे गये शब्द। ये शब्द भिन्न भिन्न सिद्ध पुरुषों के साथ भिन्न भिन्न हो सकते हैं, इनमें अर्थ का नितान्त अभाव हो सकता है। ये मंत्र तो सिद्ध पुरुष के मुख से निकलते ही अपना कार्य करके समाप्त हो जाते हैं। दूसरे प्रकार के मंत्र वे हैं जो स्वयं शक्तिमान् हैं। कोई भी व्यक्ति विधि से उन्हें काम में लाकर इष्ट साधन कर सकता है। ये पेटेण्टेड नुस्खों की तरह हो जाते हैं। इन मंत्रों में भी बहुधा शब्द-गौरव ही रहता है। कोई गंभीर अर्थ अथवा चमत्कारी अर्थ नहीं मिलता। बहुधा गुरु की आन और गुरु के आदेश का उल्लेख रहता है। स्पष्ट ही इन मंत्रों में 'कण्टीन्युअस मैजिक' 'अंगामी टोने' का सिद्धान्त कार्य करता होता है, उसी लोक-मानस की प्रधानवृत्ति के कारण ये विश्वसनीय माने जाते हैं। यहाँ ब्रज के मंत्रों के उदाहरण से इस तथ्य को पुष्ट किया जा सकता है।

प्राय: प्रत्येक मंत्र के पीछे ये शब्द रहते हैं :—

सत गुरु
नाम आवेस
सबद साँचा
पिंड काचा
फरो (फुरो) : मंत्र ईसुरो वाचा

उनमें 'सत गुरु का आदेस' का उल्लेख है। यह 'आदेस' शब्द ही हमें प्रकृत मंत्र का रूप देता है। 'सबद साँचा' यह स्पष्ट करता है कि 'शब्द' के सत्य पर विश्वास है, और उस स्थिति का सूचक है जब यह विश्वास दृढ़ था कि 'शब्द' स्वयं शक्ति है। 'ईसुरो वाचा'—'शिव वाक्य' का अवशेष है। यह अंश यहाँ आन की भाँति है।

उक्त मंत्र की उद्‌भावना का सम्बन्ध 'नाथ संप्रदाय' से है, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इस मंत्र में आये प्राय: प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द का प्रयोग गोरखनाथ की वाणी में मिल जाता है। देखिये —

"स्वामी कौंण सि मिथ्या कौंण सु साँच
कौंण सि परा कौंण सि काच

अवधू माया मिथ्या ब्रह्म सु साचा
सबद सो खरा प्यंड सो काचा"

'आन' का एक ऐसा उल्लेख भी है जिसमें गोरखनाथ जी का नाम स्पष्टतः आया है—

"काली काली महाकाली
× × ×
मेरी चलाई चलि। मेरे गुरु उस्ताद की चलाई चलि. . .
मेरी चलाई न चलैगी
तौ गुरु गोरखनाथ के रौरे में अस्नान करैगी।

गुरु गोरखनाथ के रक्त में स्नान करने का उल्लेख 'आन' के लिए ही हुआ है। 'हनुमान की दुहाई' बिच्छू उतारने के मंत्र में आती है—इस मंत्र का अंतिम अंश है—

लंका सौ कोट समुद्र सी खाई
उतरि उतरि के बीछू
तोकू हनुवंत बीर की दुहाई।

चाकू या उस्तरा आदि की धार बाँधने के मंत्र में हनूमान जी की आन दी गयी है—

धार धार अवर धार
धार बाँधू सात बार
अनी बाँधू इक्कीस बार
कटै न चामर फटै न चीर
धार बांधौ हनुमंत वीर
आदेस गुरु कूं विद्या मोकूं
आन बीर हनुमंत की।

—पीढ़ा बाँधने के मंत्र में भी हनूमान जी की आन विद्यमान है—

अंबर चढ़ता बँदरू बाँधूं सेमर चढ़ता सूआ
सात सहेलिनु चरखा बाँधूं पीढ़ा बाँधू
सौं पनिहारिनु कूआ
बाँधूं तेरे मात पिता कूं
जानें तू है जाई
बाँधूं तेरे सास ससुर कूं जाकें तूए ब्याही।
आदेस गुरु कूं, विद्या मोकूं
आनि वीर हनुमंत की।

—किसी किसी में वीर हनुमंत के 'हंकारने' का ही उल्लेख है—

'हंकारे हनमंत'

इस प्रकार गुरु गोरखनाथ, कभी कभी गुरु मछंदरनाथ (राजा रे मछंदर जी की आन; हनुमंत, भीम, नरसिंह, मसान, सीता माता, भैरोनाथ, लक्ष्मण, रामचन्द्र, मुहम्मद,

पीर, भमानी, आदि के 'आदेस' और आन विषयक उल्लेख मिलते हैं। एक मंत्र में सरस्वती, कृष्ण, बलराम तथा मुहम्मद का उल्लेख साथ मिलता है। वह इस प्रकार है—

सुरसुती मात तू जग दैनी
हंस चढ़ै लटकावै बैनी
तेरे चेला लाखि सैं साठि
विद्या मागैं हाथ पसार
खेती करें न बंज कूं जाईं
विद्या के बल बैठे खाईं
अहो कि विद्या महा कमाई
कृसन मेरे भाई, जैस बल के राई
झरना झरें विसु मक्के गाई
दुहाई मुहम्मदे दीन की।

उक्त मंत्रों और उनमें आये उल्लेखों से स्पष्ट है कि इन मंत्रों में आन और आदेश का ही महत्त्व है। इन मंत्रों का प्रयोक्ता अपनी इष्ट सिद्धि के लिए सीधे सादे शब्दों में आन और आदेश देकर काम चलाता है। वस्तुतः मंत्र के शब्दों में उसके अर्थों का नहीं आन का महत्त्व है। आन के अतिरिक्त अन्य अर्थ तो बहुत कम रहता है।

ऐसे ही, मंत्रों में एक और सामान्य कोटि मानी जा सकती है जिसका प्रयोग स्यानों ओझाओं के द्वारा नहीं होता, और जो रोग को दूर करने, खोर को हटाने या चमत्कार के लिए उपयोग में नहीं लाये जाते वरन् जो विघ्नकारी 'दई देवताओं' को वर्जन करने वाले हैं, और जिनका प्रयोग घरेलू रूप में किसी विशेष मंगलकारी संस्कार के अवसर पर होता है। ऐसे अवसर पर काम में आने वाले शब्दों को 'मंत्र' नाम तो नहीं दिया जाता, पर उनसे काम वही लिया जाता है और यह मंत्रोच्चार घर की स्त्रियों द्वारा ही होता है। विवाह, पुत्र-जन्म तथा अन्य ऐसे ही गंभीर अवसरों पर प्रत्येक घर में एक विशेष प्रकार का वातावरण वन जाता है। समस्त कार्य विशेष प्रणाली से होने लगते हैं, और प्रत्येक कृत्य के साथ 'शुभाशुभ' का भाव संलग्न हो जाता है। इसी वातावरण में हम पाते हैं कि स्त्रियाँ कुछ विचित्र अनुष्ठान करतीं हैं, वे विविध विघ्न करनेवाली शक्तियों को बाँध देतीं हैं—इसे 'वायवंध' कहा जाता है। विघ्न व्याधियाँ 'वायु' रूप में ही अदृश्य होकर अपना आतंक फैलातीं हैं—अतः उन्हें एक विशिष्ट अनुष्ठान के साथ कुछ समय तक के लिए बाँध दिया जाता है। ऐसे ही कितने ही आभिचारिक कृत्य किये जाते हैं, इनके साथ स्त्रियाँ कुछ गातीं जातीं हैं—यह भी मंत्र का काम करता है।

भारतीय मंत्रशास्त्र

भारत में 'मंत्र-शास्त्र' अत्यन्त प्राचीनकाल से ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस शास्त्र पर भारत में इतना विशद दार्शनिक विचार किया गया है कि देखकर आश्चर्य होता है। यह दार्शनिक विमर्श बहुत जटिल है और उसके पूर्ण स्वरूप को समझना सरल

नहीं, पर उसका कुछ ज्ञान प्राप्त करना तो आवश्यक ही है। यहाँ बहुत संक्षेप में उसका उल्लेख किया जाता है :—

यों तो ईसाइयों के वेद में भी कहा गया है "In the beginning was the word and word was with God and word was God" (आरंभ में शब्द था, शब्द ईश्वर के पास था और शब्द ही ईश्वर था)। 'न्यू टेस्टामेण्ट' के इस 'लोगॅस (Logos) सिद्धान्त से बहुत पूर्व मिश्र में भी कुछ ऐसा ही विश्वास था। सात सौ ई. पू. के मिश्री फरोह (Pharaoh) ने एक शिलालेख पर मेम्फिस धर्म का रूप अंकित कराया। वह इस फरोह के भी पूर्व से चला आ रहा था। इसमें 'प्तः' को शब्द-ब्रह्म माना है। यह लेख यों आरम्भ होता है—"प्तः परम एक; वह देवताओं के ऐन्नीड का हृदय (अर्थ) और जिह्वा (शब्द) है.... इसने देवता उत्पन्न किये—हृदय में वह (कुछ या कोई भाव) आया, वह जिह्वा पर आया, 'अतुम' के रूप में।" जिह्वा 'शब्द' की वाचक है। शब्द से सृष्टि हुई। किन्तु भारतीय वेदों में इसी सत्य को यों प्रकट किया गया है :—

प्रजापतिर् वै इदम् आसीत्　:　आरंभ में प्रजापति थे।
तस्य वाग् द्वितीया आसीत्　:　और उसकी द्वितीया वाक् (शब्द) थी।
वाग् वै परमं ब्रह्म　:　वाक् परम ब्रह्म है।

इस प्रकार यह 'शब्द' ही प्रजापति अथवा मूल पुरुष है। इसी शब्द से समस्त सृष्टि उद्भावित हुई। मूल रूप में यह शब्द **'पराशब्द'** था। 'पराशब्द' वह स्थिति है जिसे **'सकल परमेश्वर'** कहा जायगा। इसमें कल = कला = शक्ति सहित परमेश्वर = परमशिव अभेद भाव से अद्वैत रूप में विद्यमान रहते हैं। इस स्थिति में 'शब्द + अर्थ + प्रत्यय' तीनों ही एकमेक रहते हैं। फलतः यहाँ 'शब्द = अर्थ = प्रत्यय'—यही सत्ता का रूप होता है। इस सकल परमेश्वर में **'शक्ति'** का उद्भव होता है। शक्ति को 'इच्छा-शक्ति' भी कहा जा सकता है। यह निस्पंद सकल परमेश्वर में क्रिया अथवा स्पंदन की सृष्टि का ही दूसरा नाम है। इससे नाद उत्पन्न होता है। नाद को शिव-शक्ति संयोग कहा जाता है : शिव-शक्ति को मैथुन। इस स्थिति में 'शिव-शक्ति' शिव और शक्ति के रूप में अपनी वैयक्तिक सत्ता प्राप्त करने लगते हैं। इस नाद से बिंदु उत्पन्न होता है। यह बिन्दु मूल सत्ता का वह रूप है जो आकार में अभिव्यक्त होने के लिए तत्पर प्रतीत होता है। इसलिए इसे शक्ति की घनावस्था माना गया है और इसे चिद्घन भी कहा गया है। 'प्रपंचसार तंत्र' में कहा गया है कि शक्ति सृजन की इच्छा से युक्त होने पर 'घनीभूत' हो जाती है जैसे नवनीत या दही बनने के लिए दूध घनीभूत हो जाता है। इस 'बिन्दु' में महाप्रलय से सृष्टि-प्रपंच' 'बिन्दु' में ही समा जाता है, और सृष्टि-इच्छा से इसी में से फिर प्रादुर्भूत होता है। 'शारदातिलक' ने इस समस्त स्थिति को इस श्लोक से स्पष्ट किया है :—

सच्चिदानंद-विभवात् सकलात् परमेश्वरात्,
आसीच्छक्तिस् ततो नादो नादाद् बिन्दु-समुद्भवः।

इस बिन्दु से बीज प्रकट होते हैं। यों यहाँ तक परमतत्त्व की स्थिति को 'परा' स्थिति में ही माना जाता है, और इस परा बिन्दु से कार्य-बिन्दु और उससे बीज की उत्पत्ति मानी गयी है। इस बिन्दु के सम्बन्ध में Todala तंत्र में कहा गया है कि बिन्दु शून्य भी है और गुण भी। शून्य इसलिए कि यह 'परम ब्रह्म' है और गुण इसलिए कि यही शक्ति का वह रूप है जिसका परिणाम 'पुरुष और प्रकृति' इन दो तत्त्वों में होता है। 'प्रकृति' तो सगुण होती ही है। यह बिन्दु शक्ति ही है जो 'नाम + रूप' आत्मक जगत् का कारण है। नाम + रूप = शब्द + अर्थ। यह 'कारण बिन्दु' ही कार्य बिन्दु, नाद और बीज को जन्म देता है। 'प्रपंचसार तंत्र' में इस कारण बिन्दु से उत्पत्ति की क्रिया बतायी गयी है। यह कारण बिन्दु या परा बिन्दु दो भागों में विभक्त हो जाता है—दक्षिण भाग और वाम भाग। दक्षिण भाग पुरुष है अथवा 'हं' है; वाम भाग विसर्ग है, स्त्रीलिंग, अथवा प्रकृति या 'स' जिससे संपूर्णता 'हंसः' कहलाती है। 'हं' पुरुष और प्रकृति का संयोग है। 'सः' विसर्ग होने से दो बिन्दु युक्त है। एक बिन्दु 'हं' का, इसमें 'त्रिबिन्दु' की स्थापना होती है, ये त्रिबिन्दु ही समस्त सृष्टि के रहस्य हैं—ये तीन बिन्दु सूर्य, चंद्र और अग्नि हैं, ये इच्छा, ज्ञान, क्रिया नाम की शक्तियाँ हैं जिनका सम्बन्ध सत, रज, तम गुणों से है। इनसे तीन देवियों का प्रादुर्भाव हुआ जिनके नाम हैं: रौद्रा, ज्येष्ठा और वामा और इन्हीं से त्रिमूर्ति रुद्र, ब्रह्म और विष्णु प्रकट हुए हैं। इन तीन बिन्दुओं को सितबिन्दु, (श्वेत) शोणबिन्दु (लाल), और मिश्रबिन्दु माना जाता है। इन तीन बिन्दुओं में ही श्रुतियों के 'त्रिविक्रम' का अर्थ समाया है, जो विष्णु के तीन पद माने गये हैं और चौथा इन तीनों से ऊपर रहस्यमय है। सृष्टि क्रम में इस त्रैत का अर्थ स्पष्ट है। अद्वैत सृजन के लिए द्वैत होता है और इन दो तत्त्वों का सम्बन्ध भी एक सत्तामें प्रकट हो जायगा। अतः द्वैत के साथ ही यह त्रैत उपस्थित हो जायगा। इसी त्रैत से 'शब्दब्रह्म' पैदा होता है। इस शब्द-ब्रह्म से अभिव्यक्ति के वे स्थूल स्वरूप निकलते हैं जो भाषा के 'शब्द और अर्थ' और प्रत्यय' कहलाते हैं। यह 'शब्द ब्रह्म' ही 'शब्द' अथवा 'मंत्र' की नित्य मूल कारणात्मक स्थिति है। यह स्थूल प्रकट शब्द का 'परा' रूप शब्द है, जिसे 'परा शब्द' भी कह सकते हैं। वह परा शब्द वास्तव में शक्ति की वह स्पन्दशीलता है, जो प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ पैदा कर देती है अथवा सामान्य स्पंदन प्रस्तुत कर देती है, जिससे यह अभिव्यक्त 'शब्द' अथवा अपराशब्द प्रकट हो जाता है जो अनेकों नाम-रूप धारण कर लेता है। इस नाम-रूप से वैविध्य धारण करने वाले शब्द-अर्थ का मूल अभिव्यक्त रूप महाबीज प्रणव 'ओम्' है। यही समस्त मंत्रों का जनक है। नामरूपात्मक वैविध्ययुक्त शब्द के चार प्रकार संभव होते हैं:—१. प्रकृत ध्वनि, २. प्रकृत निःध्वनि ३. कृत-ध्वनि, ४. कृत निःध्वनि। प्रकृत-ध्वनि के अन्तर्गत ही वैदिक शब्द और बीजमंत्र आते हैं। ये वैदिक शब्द और बीजमंत्र पराशब्द की शब्द तन्मात्राओं से सम्बन्धित हैं। शब्दतमात्रा में ध्वनि का शुद्ध रूप ही नहीं सम्मिलित है, इनमें सामान्य और विशेष ध्वनियाँ भी सम्मिलित रहतीं हैं। यह प्रकृत ध्वनि 'प्रकृत नाम' अथवा 'प्रकृत संज्ञा' से सम्बद्ध होती है। "Natural name in its purest sense may therefore be defined as the sound produced by the generating stress (shakti) or constituting force of things,

not as apprehanded by this ear or that (which apprehands within limits and subject to conditions) but by what may be called the supreme and Infinite Ear, which apprehends unconditionally a sound, which is sound as it is."

"अतः अपने शुद्ध अर्थ में प्रकृत-नाम' की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि यह प्रकृत-नाम वह ध्वनि है जो निर्माण-शक्ति के द्वारा अथवा वस्तु की विधायक शक्ति द्वारा उत्पन्न है। यह चर्मकर्णों द्वारा नहीं गोचर होता है, यह गोचर होता है उस श्रवण द्वारा जिसे परम अथवा अनन्त श्रवण कहा जा सकता है और जो किसी भी ध्वनि को निरुपाधि अवस्था में शब्द के रूप में सुनता है।"

इस समस्त 'विचारसरणि' की आधारभूत निम्न बातें हैं :—

१. प्रत्येक सृजन क्रिया के साथ सहज शब्द होता है।

२. सृजन की क्रिया से उद्भूत यह सहज शब्द चर्मश्रवणों से नहीं सुना जा सकता। यह मूल शब्द पराशक्ति ही सुन सकती है।

३. यह शब्द प्रत्येक पदार्थ के सृजन के साथ होता है, अतः यही उनका 'प्रकृत नाम' है। यह प्रकृत नाम प्रत्येक पदार्थ का होता है।

अब प्रश्न यह है कि फिर इन शब्दों का, प्रकृत संज्ञाओं और नामों का, ज्ञान कैसे होता है। यह ज्ञान उस योगी को होता है जो अपनी साधना से उस 'परा'-स्थिति को प्राप्त कर लेता है। वह उस ज्ञान को चर्म-श्रवणों से ग्राह्य, यथासंभव सदृश, शब्द या ध्वनि के द्वारा प्रकट करता है। ये प्रकृत-सदृश नाम या संज्ञाएँ ही 'बीज मंत्र' हैं। सृष्टि के मूल आरंभ में जो प्रथम स्पंदन पर ध्वनि हुई वह 'ओम्' थी–अतः यही **महाबीज मंत्र** है। इसी से फिर सृष्टि की क्रियाओं के विस्तार के साथ पैदा होनेवाली ध्वनियाँ पैदा हुईं। यह महाबीज मंत्र ही बीज मंत्रों का जनक है। यह मूल मंत्र परा, पश्यन्ती, मध्यमा के मार्ग से बैखरी रूप धारण करता है। इसी रूप में इसे चर्मकर्ण सुन सकते हैं।

वुड्रफ ने लिखा है :–"ध्वनि रूप में सभी अक्षर शक्ति के रूप हैं। जिस शक्ति के ये उद्भास हैं वह, वह संजीवित शक्तिका (Energy) है जो विश्वरूप में अपना विस्तार कर देती है। देवता का मंत्र स्वयं वही देवता है। (इसके उच्चारण से उत्पन्न) ध्वनि के लययुक्त स्पंदन साधक के कोषों के चंचल (अनियमित) स्पंदनों को ही व्यवस्थित नहीं करते (जिससे वह साधक स्वयं परिणत हो जाता है) वरन् साधक की साधनाशक्ति के द्वारा स्वयं मंत्र के देवता का रूप प्रत्यक्ष हो जाता है।"

इस प्रकार मंत्र शब्द मात्र नहीं, वह स्वयं देवता है। उनके उच्चारण से देवता प्रत्यक्ष होता है। उनका शक्ति से सम्बन्ध ही नहीं वे स्वयं शक्ति हैं। पंचभूतों के देवता अथवा बीज ये हैं :—

"ह, य, र, ल, व, चन्द्र विन्दु (ँ) के साथ। चन्द्र विन्दु में चन्द्र नाद का द्योतक है और विन्दु तो विन्दु है ही। प्रमुख बीज मन्त्र ये हैं—

हौँ, दुँ, क्रीँ, ह्रीँ, श्रीँ, एँ, क्लीँ, हूँ, गँ, ग्लौँ, क्षौँ, स्त्रीँ ॥

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द की ध्वनि ध्वनि मात्र नहीं यह किसी पदार्थ का प्रकृत-नाम है। पदार्थ और प्रकृत-नाम एक ही वस्तु हैं। नाम और मंत्र और उसके देवता एक हैं। देवता नाम और पदार्थ एक हैं। मंत्र पर शासन है तो पदार्थ पर भी मंत्र से देवता का साक्षात्कार किया जा सकता है। मन्त्र ही तो देवता है। अधिकार होना यह शक्ति से प्राप्त होता है। यहाँ वस्तुतः टोना ही है।

मंत्रों के संबंध में राहुलजी ने गंगापुरातत्वांक पृ. २१४ में 'मंत्रयान' पर लिखते हुए बताया है कि—

"मंत्र कोई नयी चीज नहीं है। मंत्र से मतलब उन शब्दो से है जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति मानते हैं। यह हम वेदों में भी पाते हैं। ओं वौषट्, श्रौषट् आदि शब्द ऐसे ही हैं. जिनका प्रयोग यज्ञों में आवश्यक माना जाता है। मंत्रों का इतिहास ढूंढ़िये तो आप इन्हें मनुष्य की सभ्यता पर पैर रखने के साथ-साथ, तरक्की करते पायेंगे, बावुल (बेबीलोन), असुर, मिश्र आदि देशों में भी मंत्र का अच्छा जोर था। फलतः मंत्रयान बौद्धों का कोई नया आविष्कार नहीं है। केवल प्रश्न यह है कि बौद्धो में इसका आरंभ कैसे हुआ और उसमें प्रेरक शक्ति क्या थी? पाली के 'ब्रह्म जाल सूत्त' से मालूम होता है कि बुद्ध के समय में ऐसे शान्ति सौभाग्य लानेवाले पूजा-प्रकार या काव्य प्रचलित थे। गन्धारी-विद्या या आवर्तनी-विद्या पर भी लोग विश्वास रखते थे। बुद्ध ने इन सबको मिथ्याजीव (झूठा-व्यवसाय) कहकर मना किया; तो भी इससे उनके शिष्य इन विद्याओं में पड़ने से न रुक सके। बुद्धके निर्वाण को जितना ही अधिक समय बीतता जाता था उतने ही लोगों की नजर से, उनके मानुष गुण भी ओझल होते जाते थे।. . . .वहाँ अलौकिक गुणों वाले बुद्ध की सृष्टि का उपक्रम बढ़ता जाता था. . . . जब लोगों ने बुद्ध की अलौकिक जीवन कथाओं को अधिक प्रभावशाली देखा, तब इधर जुट पड़े। . . . . . .उनकी कथा से लोगों को वर्त्तमान में क्या लाभ?. . . .तब बुद्ध की अलौकिक शक्तियों का वर्त्तमान में भी उपयोग होने के लिये, बुद्ध के वचनों के पारायण मात्र से पुण्य माना जाने लगा। उनके उच्चारण मात्र से रोग, भय आदि का नाश समझा जाने लगा? उस समय भूत-प्रेत आज से बहुत अधिक थे।. . . . . .बुद्ध लोगों को इन भूतों की बहुत फिक्र रहती थी। इसलिये उन्हें वश में करने के लिये भी कुछ सूत्रों की रचना होने लगी। स्थविरवादियों ने (जो कि मानुष बुद्ध के बहुत पक्षपाती थे) ही 'आटानाटीय-सुत्त"[१] से इसका आरंभ किया।" फिर क्या था, रास्ता खुल गया. . . . .

उक्त क्रम से पहले अठारह प्राचीन बौद्ध संप्रदायों ने सूत्रों में ही अद्भुत शक्तियाँ माननी शुरू कीं और कुछ खास सूत्र भी इस के लिए बनाये। फिर वैपुल्य वादियों ने, लम्बे लम्बे सूत्रों के पाठ में विलम्ब देख कर, कुछ पंक्तियों की छोटी-छोटी धारणियाँ बनायीं. . . अन्त में दूसरे लोग पैदा हुए जिन्होंने लम्बी धारणियों को रटने में तकलीफ उठाती

१ "दीघ निकाय' का एक सुत्त, जिसमें यक्षों और देवताओं का बुद्ध से संवाद वर्णित है। इसमें यक्षों और देवताओं के प्रतिनिधियों ने प्रतिज्ञाएँ की हैं, जिनके दोहराने से आज भी उनके वंशज-देवताओं को, अपने पूर्वजोंकी प्रतिज्ञा याद आ जाती है और वे सताने से बाज आ जाते हैं।

जनता पर, अपार कृपा करते हुए, "ओं मुने मुने महा मुने स्वाहा", 'ओ आ हुं', "ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा' आदि मंत्रों की सृष्टि की। अब अक्षरों का मूल्य बढ़ चला। फिर लोगों को, एक-एक मन्त्राक्षर की खोजमें भटकते देख, उन्होंने "मंजुश्रीनामसंगीति" के कहे अनुसार सभी स्वर और व्यञ्जन वर्णों को मन्त्र करार दिया। और अब 'ओं' और 'स्वाहा' लगा कर चाहे जो भी मंत्र बनाया जा सकता था, बशर्ते कि उसके कुछ अनुयायी हों। ......संक्षेप में, भारत में बौद्ध मंत्र-शाखा के विकास का यही ढंग रहा है। इस मंत्रकाल को, यदि हम निम्नक्रम से मान लें, तो वास्तविकता से बहुत दूर न रहेंगे – सूत्र रूप में मंत्र – ई. पू. ४००–१००, धारणी मंत्र– ई. पू. १००–४०० ईस्वी, मंत्र मंत्र – ई. ४००–१२०० ई।

इस प्रकार मंत्र, हठयोग और मैथुन –येतीनों तत्त्व क्रमशः बौद्धधर्म में प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्म को मंत्रयान कहते हैं। इसको हम निम्न मार्गों में विभक्त कर सकते हैं – (१) मन्त्रयान (नाम) ई. ४००–७०० (२) वज्रयान (नाम) ई. ८००–१२००।

(गंगा-पुरातत्त्वांक)।

मंत्रयान के संबंध में डा. आर. ऐच. वान गुलिक का अभिमत

Dr. R. H. VAN GULIK

"Mantra means magic incantation or formula and as such has been defined as "power in the form of sound". Yāna (litl. vehicle) is a means of crossing the sea of rebirths and attaining to salvation; it is the usual term employed to denote a certain trend of Buddhism. Hence Mantrayān is the method through which one can reach salvation by muttering certain words and phrases. The roots of this curious system may be traced back to very old, probably even pre-Indo-Aryan, days. The belief in the power of the magic formulae plainly evinces itself in many cantos of the Atharvaveda such as Ābhicārakani, curses and incantations against demons, sorcerers and enemies generally. This belief seems to be particularly rooted in the propensity towards magic existing among the ancient aboriginal tribes of India. Many of these ancient conceptions were adopted by the Indo-Aryan conquerors and made an integrant part of their own conceptions. In different parts of India, however, situated outside the centre of Indo-Aryan culture, where the aboriginal population was better able to preserve its own character, the native usages of magic and witchcraft maintained themselves in a form more closely resembling the pristine.

और इस ८ वीं सदी के बीच जब महायान इन क्षेत्रों में भी बढ़ा तो समस्त विदेशी तत्त्व को सोख कर परास्त करने का ढंग उसने अपनाया। इससे उस क्षेत्र में प्रचलित जादू-टोने के आदिम भाव भी इस में समा गए। बाद में उन्हें सम्प्रदाय की बौद्धिकता के अनुकूल

दार्शनिक स्तर और व्याख्या प्रदान की गयी।

मंत्रयान में बुद्धत्व प्राप्ति के लिए किसी तपस्या की आवश्यकता नहीं, केवल मंत्रों के उच्चारण से यह बुद्धत्व सहज ही प्राप्त हो जाता है।

यही लेखक आगे पृष्ठ ५०-५१ पर लिखता है –

"A special form of the mantra to which I should like to direct the attention here in a few words is the mystic Syllable, its shortest and perhaps oldest form.

Most of the magic formulae are introduced by means of the very ancient Indian holy sound Oṁ. At the end one generally finds the syllables 'hūṁ' and 'phat.' Hūṁ symbolises strength, with special relation to the destroying of evil powers. A similar meaning is attached to the syllable 'phaṭ,' which means to split, to break. In sound it also conveys the idea of destroying. A formula usually closes with Svāhā "Hail."

Many syllables, moreover, are mystic germs (S. bija, chin. चुंग त्जु chung-Tzú) *i.e.* sounds in which the essence of a deity is contained. By the meditaion over this sound (introspection) one may evoke in onself the image of a deity. So the germ brīh represents the essence of the Bodhisattva AvalokiteC̦vara. The germ of Hayagriva is 'haṁ,' which is analysed as ha, the initial syllable of his name, with the addition of the nasal (anusvāra) m, the symbol of the universe. Sometimes we find also mentioned as his germ the germ Kham, explained as the first syllable of Khāda "devour", a part of the special mantra of Hayagriva, again with the nasal sound added. Finally the syllable vam, the germ of the god Vairocana, is repeatedly met with in 'Mantrayān texts.

Some other less usual magic sounds are explained in footnotes to the texts.

इसी लेखक का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है–

"Southern as well as Northern Buddhism has taken over and confirmed the cult of these magic formulae (अर्थात् मंत्र). In the Hinayāna they were preserved under the name of Parittā. The doctrine of the magic word, however, reached its apex in the Mahayān. Here a new term was coined for the magic formula, namely dhārani, derived from the root dhṛ, "to hold, to carry." The dhārani is the holder, the carrier of magic power. Next to this term also the word mantra remained in current use in the Mahayāna. If one will make distinction between mantras and dhārani, then one can

say in general that the dhārani is longer than the mantras. A dhārani, as a rule, is composed of a collection of mantras. pp. 25.

मंत्र

ई गगन मंडल बीच कुंडल तारा
जाकूं हाँके गुरु हमारा
तामें का कोट बजर का तारा
तामें पैठे पिंड प्रान हमारा
पेक जाय घोरी घारी
जाने छाँड़ि सींव हमारी
एक जाय गोरी घोरी
जिनऊ छाँड़ी सीव हमारी
हाँक हनवंत
फछार भीम गररी
सरनि जो पर हमारी सींव
ई राजा दधीच जिन के चारि पुत्र
स्याम का राम का
चारिनु सराफ दियौ काम धेनु कूं
मधू करा सुनि हरा
भागि भागि रे रोग
माघी का सबद साँचा
पिंड काचा
फरो ईश्वरी बाचा

जब गाय भैंसों में कोई रोग फैल जाता है तो इस मंत्र को स्याने लोग उच्चारण करते हैं। इससे उनका रोग भाग जाता है।

(पंडा क्षेम किशोर जी के यहाँ से । नसीठी, माट, मथुरा)।

चमत्कार वाले मंत्र

इस मंत्र को पढ़ कर तेल लगाने से मोहन शक्ति उत्पन्न हो जाती है, ऐसा विश्वास है। इसे लगाकर पंचलोग पंचायतों में जाया करते हैं।

ई तिली तेल मदन तेल या तेल मोरा
मस्तिक चढ़ि कारी छेरी
या बन में आई
बंस की डार आई
नरसिंह की मोहनी रही सभा में छाय

सबद साँचा पिंड काचा
फुरो मंत्र ईश्वरो बाचा।

(पं. क्षेम किशोर जी के यहाँ से नसीठी, माट, मथुरा)।

चाकू, उस्तरा आदि के बाँधने का मंत्र

धार धार अधर धार
धार बाँधूं सात बार
अनी बाँधूं इक्कीस बार
फटै न चामर फटै न चीर
धार बांधौं हनुमंत बीर
आदेश गुरु कूं विद्या मोकूं
आनि बीर हनुमंत की ।।

(रामचंद्र आँधरे से लोहबन, मांट, मथुरा)

पीड़ा बाँधने का मंत्र

अंबर चढ़ता बँदरू बाँधूं सेमर चढ़ता सूआ
सात सहेलिनु चरखा बाँध पीड़ा बाँध
सों पनिहारिनु कूआ
बाँधूं तेरे मात पिता कूं जाने तू ऐ जाई
बाँधूं तेरे सास ससुर कूं जाने तू ऐ ब्याही।
आदेश गुरू कूं बिद्या मोकूं
आनि बीर हनुमंत की।

बैन बाँधने का

करई बेलि की तूमरी करए तेरे पात
मारूं मूंठि मसान की टूक टूक है जात
मारूं फूंक बजै नहिं पातौ
खेंचि के बंद दै गुरु गोरखनाथ
भक्त मेरी शक्ति गुरु कूं
फरौ मंत्र ईसुर बाचा मेरौ गुरु करुं सबदु साँचा
आदेस गुरु कूं।

(मोहनलाल सुनार से प्राप्त लोहबन : माट, मथुरा)

टीढ़ी बाँधने का मंत्र

पच्छिम देस ग्वालिया कूआ
जहाँ मँवल का जनम न हूआ

धारा मल्ला या का देस
सब भंबल कूं लैजा घेर
गगन तीर गोरख का गाम
आवै भंबल मारूं बान
मेरी केली ऊपर रहै
बैदंती की बाचा टर
राजा र मचंदर जी की आन
सीता माता की आन।

(यह पं० रामचंद्र जी जो अंधे हैं, उनसे लिया गया है। लोहवन, जिला मथुरा, तहसील मांट)

ओरे का मंत्र

ई सरवर ओरे निपजै भीया बैठी पारि
जेते ओरे नीपजै जेती डारूं गारि
हंकारे हनमंत बसे बकारे बसे भीम
जो ओरेज पुरें हमारीं सींख
मेरी भगति
गुरु की सकति
पिंड काचा
सबद साचा
फरो मंत्र ईसुरी बाचा

ओरे का दूसरा मंत्र

ई जल बंधौ जले स्वर बधौ
अंबर आस्तारग बँधी
परवत परवत चाल्यौ
जा हनमंत बीर धकारे
जा फुरो मंत्र ईसुरो बाँचा

(पं० क्षेम किशोर जी से प्राप्त। नसीठी, मथुरा, माट)

ततैया लगाने का मंत्र : खून दिलाने का मंत्र

अगिमि दिसा की धुनि करी पच्छिम दिसा कौ बानु
खेंचि "कें मार्‌यौ बलिया बीर मसान
नक्की कौ बलु छोड़ि रे बलिया बीर मसान
नक्की तोर नाहर सींगु धर तोरे हनुमंत
पैलूं भैरौं नाथ मार करूं भसमन्त
सन्त नाम आवेस गुरु कूं

(मोहनलाल सुनार से प्राप्त लोहवन, माट, मथुरा)

इस मंत्र के पढ़ने से ऐसा विश्वास है कि गर्भ–स्तम्भन हो जाता है।

ॐ कील कीलं महाकील
और देव का कीला खूंट
नरसिंह देवा कीलान खूंट
तौ जिमी असमान कौ कौल टूटे
सबद साँचा
पिंड काँचा
फुरो मंत्र ईस्वरो बाचा

मंत्र प्रसूती कौ

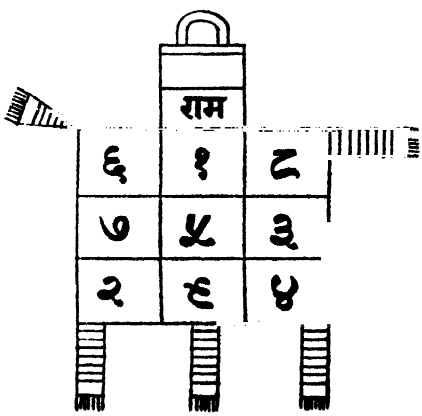
श्री मुक्ता पार विमुक्ता श्वमुक्ता श्रयेण रस्मयः
मुक्ता सर्वभप्सअर्मो रापि हिमाचिर श्वहा
या मंत्र सूं जल बार ७ मंत्र इस्त्री पिबावै तत्काल प्रसूती होय।

जंत्र प्रसूती

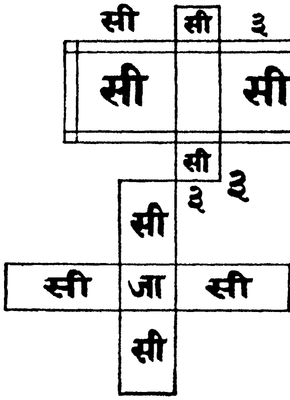
या जंत्र ने अस्त्री देखे तौ ततकाल प्रसूती होय

१६	६	८
२	१०	१८
१२	१४	४

भोज पत्र लिखै बाँधै तौ भूत प्रेत मिटै गले बाँधै



जंत्र तिजारी कौ



(पं० प्रेमकिशोर जी से प्राप्त । नसीटी, माट, मथुरा)

श्री. गोलोक बिहारी धल

उड़िया में कृष्ण-भक्ति-साहित्य

उड़िया प्रमुख आधुनिक भारतीय भाषाओं में से एक है। उड़ीसा तथा उसके सीमान्त प्रदेशों में यह लाखों मनुष्यों की बोलचाल की भाषा है। यह भाषा पटना वालों के लिए भी नई नहीं है। बिशेषत: पटना कालिज के विद्यार्थी तथा अध्यापकों से इस भाषा का विशेष संबंध रहता है, जहाँ सैकड़ों उड़िया विद्यार्थी प्रतिवर्ष शिक्षा प्राप्त करते हैं। उन विद्यार्थियों में से मैं भी एक हूँ, यह मेरे लिए गर्व की बात है। उड़िया भाषा में अत्यन्त समृद्ध प्राचीन साहित्य उपलब्ध है। इस साहित्य का आरम्भ ११वीं शती में खोजा जा सकता है। इस साहित्य का अधिकांश छन्द-बद्ध है। उड़िया के प्राचीन साहित्य का आरंभिक भाग जनता में धार्मिक भावनाओं के प्रचारार्थ लिखा गया था। इसका दूसरा भाग राधा-कृष्ण तथा राजकुमारों और राजकुमारियों के प्रेम से प्रेरित और अनुप्राणित है। प्रेम की कथाएं इस साहित्य में प्रमुख हैं। जनसाधारण को उड़िया साहित्य में बीसवीं शती के आरम्भ से पूर्व कोई स्थान नहीं मिला। बीसवीं शती में राधा-कृष्ण और राजकुमार-राजकुमारी के प्रेम को काव्य में बहुत कम स्थान मिला है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् व्यक्ति, उसके सुख-दुःख, उसकी भावनाएँ-कल्पनाएँ, खेत-कारखाने उसके गीतों के विषय समझे जाने लगे। ये गीत बहुधा मुक्तछन्द के रूप में हैं।

जैसा कि पहले देखा जा चुका है, उड़िया काव्य का अधिकांश धर्म-प्रचार के लिए ही लिखा गया। धर्म का रूप वैष्णव विचारों से पुष्ट और पूर्ण है। यह कार्य कृष्ण-कथा के द्वारा हुआ है। उड़िया में कृष्ण-भक्ति-काव्य की कथा को सुविधापूर्वक समझने के लिए यह आवश्यक है कि शताब्दियों में से होते हुए उसके विकास पर एक दृष्टि डाली जाय और प्रत्येक युग की विशेषताओं पर विचार कर लिया जाय। युग की पृष्ठभूमि के साथ ही तत्कालीन साहित्यिक तथा सामाजिक मूल्यों का भी अध्ययन होना आवश्यक है। साथ ही उस युग के प्रतिनिधि साहित्यकारों का परिचय प्राप्त कर लिया जाय।

१६ वीं शती : पंचसखाओं का युग:—

सोलहवीं शती के उड़िया साहित्य के उन्नयन और विकास का श्रेय 'पंचसखाओं' को है। ये पंचसखा इस प्रकार हैं : जगन्नाथ, बलराम, अच्युत, अनन्त, यशवन्त। इनमें से प्रत्येक के नाम के साथ 'दास' जुड़ा रहता था। दास का अर्थ है भगवान का दास। पंच-

सखा गौड़ीय वैष्णव धर्म से प्रभावित थे। उड़ीसा में वैष्णवधर्म श्री चैतन्यदेव की कृपा से आया और राजा प्रतापरुद्रदेव के राजकीय संरक्षण में फला-फूला।

यदि आप उड़ीसा के ग्राम-क्षेत्र में जायँ तो आज भी ग्रामीणों में राधाकृष्ण के गीत और जगन्नाथ की प्रार्थनाएं बिखरी हुई मिलेंगीं। अनेक स्थानों में गोपी, राधा और कृष्ण के प्रेम–संबंध से परिपूर्ण काव्य जैसे 'भूतकेलि', 'नावकेलि', 'नटुचोरि', बिल्कुल निरक्षर जन-समूह के द्वारा भी गाया जाता है। इन गीतों की मौखिक परम्परा है जिसे प्रत्येक आने वाली पीढ़ी अपने से पूर्ववर्ती पीढ़ी से पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त करती है। इन पंचसखाओं ने एक विशेष प्रकार की शैली को जन्म दिया जिसे 'चौंतीसा' तथा 'कोइलि' नाम से जाना जाता है। 'चौंतीसा' काव्य चौंतीस चरणों का होता है और प्रत्येक चरण उड़िया वर्णमाला के एक वर्ण से आरम्भ होता है। हिन्दी की 'बारहखड़ी' की शैली से इस शैली का साम्य है। 'कोइलि' गहरी भावात्मक कविताएँ हैं जो कोयल को संबोधन करके गाईं जातीं हैं। आज भी इन गीतों की गेयता तथा भावों की मर्मस्पर्शिता का जन-दृष्टि बहुत ऊँचा मूल्यांकन करती है। गाँवों के मन्दिरों में, गोष्ठियों में तथा अखाड़ों में पंचसखाओं की कोई-न-कोई पुस्तक भक्तों में लोकप्रिय मिलेगी। किन्तु ये पुस्तकें जो ग्रामीण जनता में इतनी लोकप्रिय हैं, अब भी शिक्षित समाज की पहुँच से बाहर हैं। यद्यपि पंचसखा चैतन्यदेव से प्रभावित थे, तथापि इन्होंने उड़िया वैष्णव सम्प्रदाय का एक अलग मार्ग स्थापित किया। उनकी दृष्टि में कृष्ण, जगन्नाथ का एक अंश है:—

श्री जगन्नाथ षोलकला
तहुँ कलाए नन्दबला

कृष्ण जगन्नाथ की कला का सोलहवाँ भाग है।

आज कुछ शिक्षित उड़िया भी इस पंचसखाओं की महान् देन के प्रति जागरूक हो उठे हैं। एक ऐसी संस्था की स्थापना की बात सोची जाने लगी है जो पंचसखाओं के साहित्य और उनकी संस्कृति का रक्षण कर सके। कृष्णभक्ति साहित्य के प्रसार और उसको उड़ीसा के कोने कोने तक पहुँचाने तथा उच्चवर्गों से लेकर निम्नवर्गों तक इसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय श्री चैतन्यदेव के उड़ीसा में आने और पुरी के गजपतियों के संरक्षण को है। आज उड़ीसा में एक भी गाँव ऐसा नहीं मिल सकता जहाँ कि राधा-कृष्ण के चित्र न मिलें और निम्नातिनिम्न के मुँह से ये शब्द न सुन पड़ें:—

भज निताइ गउर राधेश्याम
जप हरे कृष्ण हरे राम

कृष्णभक्ति-साहित्य के बँगला-भाषा के माध्यम से अध्ययन ने उड़िया भाषा को भी बहुत प्रभावित किया है। अशिक्षित उड़िया भक्तों के मुख से भी सुन्दर बँगला-गीत सुने जा सकते हैं जिनमें कृष्ण-भक्ति पूर्णरूपेण समाविष्ट रहती है। इस दृष्टि से अधिकांश उड़िया लोगों की, जहाँ तक भाषा के समझने से संबंध है, दूसरी भाषा ही बँगला हो

गई है। आज हम उड़ीसा के गाँवों में 'नामयज्ञ' देखते हैं जिन्हें 'चौबीस प्रहरी' या 'अष्ट प्रहरी' कहते हैं। इनमें राधाकृष्ण संबंधी यश-कीर्तन ७२ या २४ घंटों तक अनवरत होता रहता है। बँगला संस्कृति का प्रभाव उड़ीसा तक धार्मिक और साहित्यिक आन्दोलनों के माध्यम से ही आया है।

सत्रहवीं शती : जटिल छन्द-युग :

दीन कृष्णदास : रासकल्लोल :—

चैतन्यदेव ही नहीं, उनके पूर्ववर्ती जयदेव, विद्यापति और चंडीदास पहले ही माधुर्य-भक्ति-पथ की स्थापना कर चुके थे। इसका मूल सिद्धान्त यह था कि ईश्वर को योग से नहीं प्रेम से प्राप्त किया जा सकता है। पंचसखा योग को प्रधान मानते थे, यद्यपि एक प्रकार से वे प्रेमभक्ति को भी स्वीकार करते थे।

दीन कृष्णदास ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'रासकल्लोल' के द्वारा एक महान् साहित्यिक ख्याति प्राप्त की थी इस रचना का मुख्य विषय राधा-कृष्ण का प्रेम है। 'रासकल्लोल' का अर्थ है—रास की उत्तरोत्तर स्थितियाँ : वात्सल्य, करुण, शृंगार आदि। ईश्वर योग की महानतम प्रक्रियाओं से भी प्रसन्न नहीं होता। प्रेम के कुछ मधुर शब्द ही उसे प्रसन्न कर सकते हैं। यह बात इन पंक्तियों में व्यक्त है :—

कल्पान्तरे योगायोग बाट जगि
पाइबाकु या दुर्लभ
कि भाग्यबलरे गोपी गोपालरे
सबुबेले से सुलभ
कले बे दपति येते रुपे स्तुतिवश
नुहन्ति कहाकु
कर्ण डेरि थान्ति बरज युवती
कउतुके डाकि बाकु

(कृष्ण ब्रह्मा की स्तुतियों के प्रति बधिर हैं। वह गोपियों के मुख से निकले हुए कुछ प्रेम-शब्दों के प्रति जागरूक रहता है)

उड़िया साहित्य की यह शताब्दी छन्द युग के नाम से प्रसिद्ध है; या यह युग साहित्य-अलंकार युग के नाम से अभिहित किया जाता है। साहित्यिक विशदता और भव्यता के साथ, आनुपातिक दुरूहता और जटिल छन्द योजना के दर्शन इस युगमें होते हैं। साहित्यिक भव्यता के लिए जैसे तत्कालीन प्रतिभाओं में होड़ लगी हुई थी। इस प्रतियोगिता में उपेन्द्रभंज सर्वोच्च ठहरता है। उसका प्रभाव आगे के युगों के उन कवियों की कृतियों में दृष्टिगोचर होता रहा जिन्होंने अपना समस्त जीवन ही कृष्ण-भक्ति-साहित्य की सर्जना में समर्पित कर दिया।

अठारहवीं शती : जटिल छन्द युग की परम्परा चलती रही :—

१. अभिमन्यु सामंत सिंहार – विदग्ध चिन्तामणि
२. भक्त चरनदास – मथुरामंगल
३. सदानन्द कविसूर्य ब्रह्म – युगल रसामृत लहरी

इस शताब्दी में उक्त महान् कलाकार दीखते हैं। इनमें अभिमन्यु सामंत सिंहार सर्वोपरि था। अन्य दो सदानन्द कविसूर्य ब्रह्म और भक्त चरनदास हैं। इन साहित्यिक प्रतिभाओं के संबंध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। यहाँ विस्तार में जाने का अवसर नहीं है, केवल उनकी भव्यताओं के संबंध में कुछ कहा जा सकता है। भक्त चरनदास के काव्य की प्रमुख विशेषता भाषा और भावों की सरलता है और अभिमन्यु एक महान् कवि था। दीनकृष्ण के 'रासकल्लोल' के समान ही इन कवियों की कृतियों में भी राधा–कृष्ण का प्रेम प्रधान है। माधुर्य-भक्ति को भी सिद्धान्ततः अपनाया गया है। इन कवियों की एक आलोचना यह की जाती है कि प्रेम-संबंधों के अश्लील चित्र इनकी रचनाओं में मिलते हैं। ये लौकिक प्रेम तथा अलौकिक प्रेम के दोनों प्रेम-क्षेत्रों को पृथक-पृथक रखने में असफल रहे। कहीं कहीं वर्णन में इतनी ऐन्द्रिकता आ गई है कि अलौकिक प्रेम का स्वरूप अस्पष्ट और विलीन होता हुआ दीखता है। किन्तु इनका रचित काव्य-परिमाण उड़िया साहित्य में अद्वितीय है।

अभिमन्यु, 'विदग्धचिंतामणि' में आए गहरे भावों और ईश्वरीय प्रेम की सूक्ष्म अनुभूतियों के विशद वर्णनों के कारण, महान् है। विरह की अनुभूतियों के चित्रण में उसकी प्रतिभा अपने चरम पर है। प्रेमी एक दूसरे के विरह से अत्यन्त पीड़ित होते हैं। सार्वजनीन प्रभाव से युक्त एक वर्णन देखिये :—

अनल नुहइ देह दहइ
अस्त्र नुहइ मरमे भेदइ

नुहइ जल बुड़ाए कूल
नुहइ मादक करे विह्वला

प्रेम अग्नि न होते हुए भी दाहक है। वह अस्त्र नहीं है फिर भी मर्म-भेदन करता है। प्रेम पानी न होते हुए भी कगारों को डुबा देता है। मादक पदार्थ नहीं है, फिर भी प्रेम मदोन्मत्त कर देता है।

ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं जिनमें करुणा ओतप्रोत है और जिनमें राधा की गम्भीर मिलनेच्छा प्रकट हुई है। यदि मिलन इस जीवन में सम्भव नहीं है, तो मृत्यु के पश्चात् ही मिलन हो :

येवे गो एमन्त करि नपारिव
तमाले कोल कराइ थोइव
वंशीस्वन शुभुथिव येणिकि
कर्ण मोर डेरि देव तेणिकि

[यदि आप और कुछ नहीं कर सकते, कृपया मृत्यु के पश्चात् मेरे शरीर को श्याम रंग के तमाल पल्लवों से ढक कर रखना, जिनका रंग कृष्ण के रंग के समान है और मेरे कानों को उस दिशा की ओर खुला रखना जिस दिशा से कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि आ रही हो] भक्त चरनदास की कृति 'मथुरा मंगल' जनसाधारण में अत्यन्त लोकप्रिय है। इसकी कथा कृष्ण की ब्रजलीला और कंस-वध से सम्बद्ध है। 'मथुरा मंगल' का अर्थ है 'मथुरा का कल्याण'। जो यथार्थतः उड़िया है उसके मुख पर 'मथुरा मंगल' की कुछ पंक्तियाँ अवश्य रहतीं हैं। इस काव्य-कृति का सौन्दर्य इसकी सरलता में अन्तर्हित है। यह परम्परागत जटिल छन्द-योजना और मात्र शब्द-अलंकार से मुक्त है। सरल काव्य में इतनी मधुर भावनाओं को गुंफित कर देना भक्त चरनदास का ही कार्य था जो इस युग के अन्य कवियों में दुर्लभ है। उड़ीसा के लोक-क्षेत्र में आज भी इस काव्य का प्रचलन है।

उन्नीसवी शती : गीत, संगीत तथा भाषा की सरलता का युग :–

कविसूर्य बलदेव रथ : किशोर चन्द्रानन चम्पू
गोपालकृष्ण : गोपालकृष्ण पद्यावली

कृष्णभक्ति साहित्य का यह युग, भंज-परंपरा की जटिल छन्द-योजना और पिंगल-विधान से मुक्त हो जाता है। अधिक शब्दों और भावों की कमी का काव्य कर्णप्रिय हो सकता है, पर मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। उस काव्य का वाह्य अंग अधिक पुष्ट और समृद्ध था : रस रूप, आत्मा उतनी सबल नहीं थी। 'कविसूर्य' उपाधि कवि की लोकप्रियता की ही प्रतीक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जन-मन पर कवि का कितना प्रभाव था!

कविसूर्य का सबसे अधिक लोकप्रिय काव्य-ग्रंथ 'किशोरचन्द्रानन' चम्पू है। इसका संबंध युवती राधा और प्रौढ कृष्ण के प्रेम की कथा से है। इस प्रेम-योजना में ललिता सखी का योग महत्त्वपूर्ण है। वही इन दोनों को समीप लाने के लिए प्रयत्नशील है और वह अपने प्रयत्न में सफल भी होती है। यह गीति-नाट्य भी कहा जा सकता है। इस ग्रंथ के पद्यों की संख्या उतनी ही है जितनी कि 'ह' से 'क्ष' तक उड़िया-वर्णमाला के वर्णों की। प्रत्येक उड़िया पद्य के पश्चात् संस्कृत-टीका गद्य में दी हुई है। इन पद्यों की सबसे बड़ी विशेषता इनकी गेयता है। कविसूर्य के साथ एक प्रकार से उड़िया-साहित्य के गीत-युग का यहाँ से आरम्भ होता है। आंध्र के तेलगू संगीत का प्रभाव भी इस युग में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इतना भव्य संगीत किसी प्राचीन उड़िया-कवि ने नहीं दिया था। आज भी उड़िया-संगीत की योग्यता की परीक्षा गायक की कविसूर्य के शास्त्रीय संगीत के गायन की सफलता के अनुसार होती है। दक्षिण उड़ीसा में, विशेषतः पुरी में, एक नृत्य-प्रणाली अस्तित्व में आई जिसमें एक लड़का कविसूर्य के गीति-नाट्य का भावात्मक अभिनय करता था। इस काव्य के अतिरिक्त कविसूर्य अनेक विनय-स्तुतियों का भी रचयिता था जिनकी करुणा उड़िया-साहित्य में अद्वितीय है। शब्द-चयन की उपयुक्तता तथा पदोंकी गेयता इस काव्य की प्रधान विशेषताएँ हैं। कविसूर्य के संगीत के संबंध में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। इनके अनुसार इस महान् संगीतज्ञ का प्रभाव न केवल मनुष्यों पर पड़ता था, वरन् पशु भी इसके संगीत से मंत्रमुग्ध हो जाते थे।

वैष्णव कवि-परम्परा की अन्तिम कड़ी गोपालकृष्ण हैं। समस्त कृष्णभक्त-कवियों में ये सरलतम कहे जा सकते हैं। इनकी शैली इतनी प्रखर है, जिसकी कल्पना भी उस युग के अन्य कवि नहीं कर सकते थे। इनका गीति-काव्य राधा और कृष्ण के प्रेम से अनुप्राणित है। इनके काव्य में जो सर्वसाधारण घरेलू वातावरण और दृश्य संयोजित मिलते हैं वे यथार्थतः उड़ीसा के अपने मौलिक और यथार्थ चित्र हैं। इनके राधा और कृष्ण बृन्दावन के प्रेमी और प्रेमिका नहीं हैं। वह उड़ीसा का एक प्रेमी-प्रेमिका-युग्म दीखता है। इस प्रकार यथार्थ उड़िया वातावरण की प्रस्तुति, मुखर प्रसादयुक्त शैली की सरलता, गम्भीर भावों की वैयक्तिक अनुभूति—गोपालकृष्ण के काव्य की वे विशेषताएँ हैं जो इनको अन्तिम महान् वैष्णव उड़िया कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर देतीं हैं :—

श्यामर तोर कथा नाहिँ किरे
तु नकहिले मुं जाणु नाहिं किरे
तड़क स्वक्षेत्र पूजा दिन
सबु करिछि मुंहिं अनुमान रे।

(क्या आजकाल तुम कृष्ण से बातें नहीं करतीं ? इन दिनों तू कृष्ण से बातें मत कर। चाहे तू न बताए, पर क्या तुम समझती हो कि मैं नहीं जानती)

समस्त उड़िया साहित्य में स्वच्छन्द प्रेमियों के यथार्थ रूप को इतनी स्वाभाविक शैली में व्यक्त करने वाली ऐसी पंक्तियाँ दुर्लभ हैं। यह रूप आज भी लोक में मुखरित मिलता है। गोपालकृष्ण की भक्ति-भाव से युक्त रचनाएँ मीराबाई के गीतों के समान प्रभावोत्पादक और भावपूर्ण हैं, जिनमें से एक का आरंभ इस प्रकार है—

चाकर राखो जी।

अधिक उल्लेखनीय विशेषता भाषा की सरलता और मधुरता है। भाषा की यह सरल-मधुर शैली उस युग में दुर्लभ है।

बीसवीं शती में कृष्णभक्ति-साहित्य :—

आज का युग संक्राति और विचार-प्रसार का युग है। विज्ञान का विकास, स्वतंत्रता और समानता की पुकार इस युग की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उड़िया का इस युग का काव्य पूर्व के काव्य से नितान्त भिन्न है। हर कहीं समानता और आर्थिक स्वातंत्र्य के प्रति उत्कट इच्छा का प्रदर्शन मिलता है। फलतः आज के काव्य में गम्भीर और स्थायी भाव-सम्पत्ति का अभाव दीखता है। टी. एस. इलियट, टैगोर प्रभृति आधुनिक कवियों का प्रभाव प्रचुर है। काव्य-प्रतिभाएँ मुक्त छन्द का आश्रय लेतीं हैं। आज के तथा कथित अति-आधुनिक कवियों का शिक्षित समाज पर भी प्रभाव नहीं है, लोकमानस पर तो इनका प्रभाव न के बराबर है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज की कविता जनता द्वारा न समझी जाती है और न वह लोकप्रिय है। जनता आज भी मथुरामंगल, नवकेलि, नटुचोरि आदि काव्य रूपों से रंजित और रसान्वित होती है।

५

जनता के लिए इस शताब्दी में कृष्ण-भक्ति-साहित्य की रचना नहीं होती। आज मस्तिष्क ईश्वर से मनुष्य की ओर चल पड़ा है; धर्म से विमुख होकर मन भौतिक प्रपंच की ओर उन्मुख हो उठा है; पूँजीवाद से साम्यवाद की ओर विचारधारा प्रवाहित होने लगी है। चाहे स्थिति कुछ हो, कृष्ण-भक्ति-साहित्य ने विगत युगों में साक्षरता और शिक्षा के लिए प्रेरणा दी है क्योंकि तब प्रत्येक मनुष्य मथुरामंगल और रासकल्लोल के पढ़ने को लालायित था। राधा कृष्ण के नाम से भव्य साहित्य शताब्दियों तक लोक को प्रभावित करता रहा। किन्तु कवि लौकिक यौन भावों के चित्रणों से अलौकिक प्रेम-चित्रों को अछूते नहीं रख सके। नायक और नायिका के मौन क्रियाकलापों के भद्दे, कुरुचिपूर्ण, लंबे तथा स्पष्ट वर्णन सुरुचि के विरुद्ध थे। यही कारण है कि प्राचीन भक्ति-साहित्य आधुनिक रुचि के मनुष्य के लिए त्याज्य हो गया। किन्तु प्राचीन साहित्य में प्राप्त संगीत की भव्यता और सूक्ष्मता आज के साहित्य में नहीं मिलती। यही कारण है कि आज की उड़िया कविता संगीत के अभाव में जनता पर अपने प्रभाव को खो बैठी है।

भगवान जगन्नाथ महान् हैं किन्तु राधा-कृष्ण भी उड़ीसा के प्रत्येक कोने में इनके साथ-साथ पूज्य माने जाते हैं और उनसे संबंधित गीतों के प्रति आज भी लोकमानस में अक्षुण्ण प्रेम भरा है। इस समय कृष्ण-भक्ति-साहित्य का अध्ययन विश्व-विद्यालय में आरम्भ हो गया है। इससे प्राचीन साहित्य की भव्यता और उच्चता के प्रति एक चेतना जगेगी। किन्तु अब यह आशा नहीं है कि इस बदली हुई स्थिति में, इस एयरोप्लेन तथा टेलीविज़न के युग में, राधाकृष्ण की प्रेमकथाएँ कभी फिर उड़िया काव्य का विषय बन सकेंगी।

डा० सुकुमार सेन

'ब्रज बोली' की कहानी

बंगाल में वैष्णव पदावली का इतिहास प्रायः पांच सौ वर्षो से एक धारा में बहता चला आया है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में वैष्णव गीति कविता पायी जाती है और वह उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक अक्षुण्ण रूप से चलती रहती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वैष्णव पदावली का प्रारंभ पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत से होता है। किसी निदर्शन के हस्तगत न होने के कारण इस सम्बन्ध में अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। बंगाल के पार्श्ववर्ती तिरहुत अथवा मिथिला में–जो छः सात सौ वर्षों पूर्व बंगाल से अलग नहीं था–वैष्णव पदावली के पूर्व इतिहास का पदचिह्न पाया जाता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में सबसे प्राचीन वैष्णव गीति काव्य जो हमें प्राप्य है वह मैथिली भाषा में १४वीं सदी के बिलकुल प्रारंभ का है। मिथिला के अंतिम स्वाधीन राजा हरिहर सिंह के एक मंत्री उमापति ओझा ने इस पदावली की रचना की थी। उमापति से प्रायः १२५ वर्षों के पश्चात् हम सबसे प्रसिद्ध कवि विद्यापति को वैष्णव पदावली के रचयिता के रूप में पाते हैं। विद्यापति ने कितने पदों की रचना की थी यह नहीं कहा जा सकता लेकिन इतना अवश्य है कि बहुसंख्यक पदों की रचना उन्होंने नहीं की, तथा पदावली के इतिहास में उन्हें वेदव्यास का आसन प्राप्त है।

विद्यापति यदि व्यास कहे जाते हैं तो चण्डीदास को वाल्मिकि कहने में अत्युक्ति न होगी। १६वीं शताब्दी अर्थात् श्री चैतन्य के काल से ही बंगाल में चण्डीदास को आदि कवि कहा जाता है और उनके बाद ही विद्यापति पूजित होते आये हैं। चण्डीदास और विद्यापति ये दोनों नाम वैष्णव पदावली में रस और रसायन के द्योतक हैं।

इन दोनों नामों में और भी एक विशेष अर्थ है। बंगाल में जिन वैष्णव पदावलियों की रचना हुई है उनमें परस्पर सम्बन्ध होते हुए भी उनकी भाषा अलग अलग है। एक तो सीधी सादी बँगला भाषा में है और दूसरी ठीक बँगला भाषा में नहीं वरन् कुछ कुछ हिन्दी लिए हुए या हिन्दी के समान। व्याकरण के अनुसार यद्यपि दोनों भाषाओं में अंतर स्पष्ट है फिर भी दोनों भाषाओं की प्रथम अवस्था में अंतर नहीं था यह भाषा को देखने से ज्ञात होता है। चण्डीदास ने पहली भाषा में लिखा था अर्थात् बँगला में और विद्यापति ने लिखा था द्वितीय भाषा में जिसे हम अब भी ब्रजबोली कहते हैं। यहाँ यह प्रश्न

उठता है कि विद्यापति ने 'ब्रजबोली' में रचना की थी अथवा अपनी भाषा मैथिली में। इसका उत्तर कुछ बाद में ही मिलेगा।

ब्रजबोली नाम आधुनिक काल का है। जहाँ तक स्मरण है यह नाम पहले पहल ईश्वरचंद्र गुप्त के लेखों में मिला था। किन्तु इस नाम का इतिहास इतना आधुनिक नहीं है। १६ वीं शताब्दी के मध्य भाग में ईश्वरदेव के शिष्य कवि माधवदेव ने वैष्णव पदावली के इस विशिष्ट रूप या वाक्‌रीति को 'ब्रजावली' [1] कहा है। प्राचीन असमिया शब्द 'सौभावली', 'रूपावली' किसी समय बँगला भाषा में भी प्रचलित थे। लेकिन कुछ समय के पश्चात् वे शब्द बँगला में 'सौभाली' 'रूपाली' हो गये। इसके अनुसार प्राचीन बंगला में 'ब्रजावली' शब्द का रूप 'ब्रजाली' होना उचित था। किन्तु ऐसा नहीं हुआ या तो 'बोली' शब्द के प्रभाव से अथवा समाक्षर के लोप के कारण। पहले जो 'ब्रजावली बोली' था उसे पीछे 'ब्रजाली बोली' होना उचित था लेकिन हो गया 'ब्रजबोली'। प्राचीन पद-कर्त्ताओं ने इस भाषा को 'ब्रजावली' कहा था इस साधारण कारण के अनुसार कि यही भाषा ब्रज में राधा और कृष्ण की भाषा थी। वे यह भी जानते थे कि ब्रजमण्डल में बोली जानेवाली भाषा अर्थात् 'ब्रजभाषा' के साथ इस पदावली की भाषा का मेल है—उच्चारण, छन्द एवं कुछ व्याकरण में भी। बृन्दावन के साथ बंगाल का घनिष्ठ सम्पर्क पीछे हुआ। १६ वीं शताब्दी के अंत में खास बृन्दावन की ब्रजभाषा में भी पद रचना आरम्भ हुई, किन्तु पद रचयिताओं ने कभी ब्रजबोली को ब्रजभाषा के साथ मिला नहीं दिया। यह बात पीछे स्पष्ट की जायगी।

यहाँ 'ब्रजबोली' का कुछ परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। निम्न पद देखिये :—

"काजर रुचि-हर रयनि विशाला।
तजु घर अभिसार करु ब्रजबाला।
घर संगे निकसइ एछन चोर।
निशबद पथ गति चललिह थोर।
आहक अभरन वासये भार।
नुपुर किंकिनी तेजल हार।
लीला कमल उपेखलि रामा।
मंथर गति चलु धरि सखि श्यामा।
यतनहि निःसरु नगर दुरन्ता।
शेखर अभरन भेल वहन्ता॥"

उपर्युक्त पद में सबसे पहले उच्चारण पर ध्यान देना है। यहाँ 'अकारांत' शब्दों के अन्त में 'अ' लुप्त नहीं हुआ है। दीर्घ स्वरों का उच्चारण जोर देकर करना पड़ता है। छन्द और स्वाँस में प्रबल झोंक है। अनेक शब्द बँगला के नहीं हैं जैसे—काजर, रयनि, तजु, एछन, थोर। करु, निकसइ, चललिह, तेजल, उपेखलि, चलु, निःसरु, भेल आदि क्रियापद,

१. बँगला में 'ब्रजबुली' कहते हैं।

बँगला में अचल हैं। शब्दरूप में कभी विभक्ति का प्रयोग हुआ है और कभी नहीं, जैसे 'घर' के साथ 'निकसलि' का और 'निःसरु' के संग 'नगर दुरंता' का।

पद को यदि बँगला में परिवर्तित किया जाय तो इसकी विशिष्टता स्पष्ट हो जायगी।

"काजलेर रुचिहायी रजनी विशाला।
तारपरे: सेइकाले: अभिसार करे ब्रजबाला।
घर हइते बाहिरिल जे मन से चोर।
निःसाड़ पथे गति चलियाछे धीर।
सुअन्देर आभरण चले अति भार।
नूपुर किंकिनी सब तेजिल जे हार।
लीला कमल हाते उपेक्षिल रामा।
मंथर गमने चलें धरि सखी श्यामा।
यतनेहे निः सरिल दुरन्त नगरे।
शेखर से आभरण माथाय बहेरे।"

यहाँ आरंभ में ही यह देखा जाता है कि ब्रजबोली के दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाता है और इस क्षति की पूर्ति अतिरिक्त अक्षरों या शब्दों के योग से की गयी है। इसके पश्चात् सबसे अधिक क्रियापदों का परिवर्तन हुआ है और उससे कुछ ही कम 'नाम पदों' का। अर्थात् सब कुछ न परिवर्तित होने पर भी इतना तो सहज में ही जाना जा सकता है कि ब्रजबोली के स्वरों में 'झंकार' है और बँगला में 'मीड़' है। इसी झंकार के कारण ब्रजबोली में कीर्तन अनायास ही जम जाता है। ब्रजबोली की जनप्रियता का रहस्य भी यहीं छिपा हुआ है।

ब्रजबोली के लक्षणों को यहाँ अब सहज ही दिया जा सकता है।

१. स्वर ध्वनियों का स्थानानुसार उच्चारण। अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर स्वर ध्वनियों का ह्रस्व या दीर्घ उच्चारण और पदान्त में अकार का अलोप।

२. चतुर्थी और षष्ठी में 'क' विभक्ति एवं सप्तमी में 'त' विभक्ति का प्रयोग। संगे, सों, उपसर्गों का तृतीया एवं पंचमी और मह (माह) उपसर्ग का सप्तमी में व्यवहार।

३. विभिन्न कारकों का विभक्तिहीन प्रयोग।

४. यछु, तछु, मो, हय, तुम इत्यादि प्राचीन सर्वनामों का व्यवहार।

५. 'अल' के प्रयोग द्वारा अतीत (भूत) काल एवं 'अब' लगाकर भविष्यत काल का रूप बनाना।

६. वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष में विचित्रता। जैसे चलु, चल, चलत, चलइ, चलये=बँगला में 'चले'।

७. अनुज्ञा के प्रथम पुरुष में 'क' प्रत्यय का अभाव।

८. भू धातु का 'हो' एवं 'भो' (भे) दोनों रूप।

९. छन्द मात्राओं की संख्या के ऊपर निर्भर करते हैं और छन्दों के रूप में भी विचित्रता है।

१०. संस्कृत शब्दों का अबाध गति से व्यवहार।

अब प्रश्न उठता है ब्रजबोली की उत्पत्ति का।

प्राय: बीस वर्षो पूर्व जब मैंने 'ब्रजबोली' साहित्य का इतिहास लिखा था तब मैंने ब्रजबोली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित मत का ही समर्थन किया था। उस मत के अनुसार बंगाली पद रचयिताओं ने मैथिली विद्यापति की पदावली का अनुकरण कर ब्रज-बोली भाषा की सृष्टि की। अर्थात् मैथिली भाषा ब्रजबोली की माँ तथा बँगला भाषा उसकी 'धात्री' हुई। यही सर्वत्र मान्य है।

किन्तु विविध कारणों से उपर्युक्त मान्यता का समर्थन अब मैं नहीं कर पाता हूँ। प्रथमत: विद्यापति के समय की मैथिली भाषा के साथ 'ब्रजबोली' का सादृश्य अनेक स्थानों पर होते हुये भी अनेक स्थानों में नहीं है। विद्यापति से १२५ वर्ष पूर्व के कवि उमापति की पदावली की आलोचना करने पर भी उस समय की मैथिली भाषा से इनकी पदावली का पार्थक्य दिखाई पड़ता है। मैथिली भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है कर्ता और कर्म के अनुसार क्रियापदों के गौरव और तुच्छता बोधक विभक्तियों की प्रचुरता। उमापति और उनके समकालीन ज्योतिरीश्वर ठक्कुर की रचना 'वर्ण रत्नाकर' में ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं लेकिन उमापति और विद्यापति की पदावलियों का कोई चिन्ह नहीं दिखाई पड़ता। इस असादृश्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

द्वितीयत: मैथिली पदावली के अनुकरण पर बंगाली कवियों की ब्रजबोली में पद रचना बिलकुल आनुमानिक है। पन्द्रहवीं शताब्दी में बंगाल का तिरहुत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। मिथिला में जिस प्रकार बंगाली छात्र पढ़ने जाते थे उसी प्रकार बंगाल में भी मैथिल छात्र पढ़ने आते थे। पदावली रचना की शैली दोनों प्रांतों में समान थी और इसे मानने में भी अत्युक्ति न होगी कि जयदेव का प्रांत बंगाल तिरहुत से किसी रूप में कम था। ऐसी अवस्था में यह कहना कि मैथिली भाषा के आधार पर बंगाल में एक नवीन काव्य की सृष्टि दस, बीस या पचास वर्षों के भीतर हुई, कुछ महत्त्व नहीं रखता। उलटे इसके विपरीत दशा दिखाई पड़ती है। ब्रजबोली में यदि मैथिली का अनुकरण होता तो प्रारम्भिक अवस्था में इसके वर्णों में मैथिल वर्णों की एकता रहती और क्रमशः यह एकता कम हो गयी होती। लेकिन देखा यह जाता है कि बँगला के सबसे प्राचीन लेखों के वर्णों में मैथिली के वर्णों की समानता उतनी नहीं है जितनी परवर्ती काल की पदावलियों के वर्णो में। गोविन्द दास के पहले की ब्रजबोली की रचनाओं में बँगला और अबँगला के अंश प्राय: समान हैं। ऐसी अवस्था में कैसे कहा जाय कि ब्रजबोली की उत्पत्ति मैथिली के अनुकरण से हुई है।

यदि कुछ समय के लिये यही मान लिया जाय कि ब्रजबोली मैथिली का अनुकरण नहीं, वरन् विद्यापति की पदावलियों का अनुकरण है तब भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होतीं हैं। विद्यापति की सभी पदावली बँगला में ही मिली है। विद्यापति का नाम और

उनकी रचना की रक्षा भी बंगाली वैष्णव महत् जनों ने अक्षुण्ण रखकर उन्हें वर्तमान काल तक पहुँचाया है। वे लोग विद्यापति को बंगाली ही समझते थे और ऐसा समझकर उन्होंने कुछ भूल नहीं की। विद्यापति के नाम से एक से अधिक कवियों ने पदावली की रचना की थी। उनमें से केवल एक ऐसे थे जिन्होंने वैष्णव पदावली में नवीन रस और शक्ति का संचार किया था। विद्यापति की पदावली में जो श्रेष्ठ रचना है उसमें से अनेक अंशों की रचना बंगाली विद्यापति द्वारा की गयी है। जो शोध के विद्यार्थी हैं उनके लिये यह कोई नवीन बात नहीं है। वे बंगाली हों या तिरहुत वासी ही हों पर उनमें से किसी एक या एक से अधिक विद्यापति की पदावली का अनुसरण या अनुकरण करके गोविन्ददास कविराज ने पद रचना की थी। पन्द्रहवीं शताब्दी के बंगाली कवियों ने विद्यापति का अनुकरण करके पद रचना की, इस अनुमान का कोई प्रमाण प्राप्य नहीं है।

वैष्णव पदावली का विषय कृष्णलीला और विशेष करके राधा-कृष्ण की लीला है। यह विषय मैथिली या बँगला साहित्य का अपना भी नहीं है और न अन्यत्र कहीं से उधार लिया हुआ है। यह तो इनको विरासत में प्राप्त हुआ है संस्कृत और प्राकृत की कृष्णलीला विषयक कविता द्वारा, जो कि नौवीं से लेकर ११ वीं और १२ वीं शताब्दी तक सारे आर्यावर्त्त में और विशेषकर आर्यावर्त्त के पूर्वी अंचलों में प्रचलित थी। इन पांच सौ वर्षों में आर्य भाषा भाषी आर्यावर्त्त में, अर्थात् पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में कामरूप तक, प्रचलित बोलियों के आधार पर एक साहित्यिक भाषा की सृष्टि हुई थी। इस भाषा को उस काल के तथा इस समय के पंडित लोगों ने नाना प्रकार से अभिहित किया है जैसे प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट, देशी, अर्वाचीन, अपभ्रंश इत्यादि। अवहट्ट नाम ही सबसे उपयोगी मालूम पड़ता है। वैष्णव पदावली का प्राचीनतम रूप अवहट्ट में ही वर्त्तमान है। अवहट्ट कविता में हमें वैष्णव पदावली विषयक पूर्व सूत्र भी मिलते हैं।

निम्नलिखित नौका लीला में राधा कृष्ण की नाव में यमुना पार हो रहीं हैं। बीच नदी में कृष्ण नौका को हिलाकर राधा को भय दिखा रहे हैं। राधा भयातुर होकर कह रहीं हैं—

अरे रे वाहहि काहन नाव
छोड़ि डगमग कुगति न देहि।
तइ इथि न इहि सन्तार देइ
जो चाहसि सो लेहि॥

—कृष्ण नाव को ठीक से खेओ, हिलाना छोड़ो, नदी में डुबाकर मेरी दुर्गति न करो। नदी पार करके तुम्हारी जो इच्छा हो ले लेना—

एक प्राचीन बँगला छंद ग्रंथ में लेखक ने निम्न अपभ्रंश छन्द का उदाहरण दिया है। यह बंगाल में रचित अवहट्ट में राधा-कृष्ण लीला का सबसे प्राचीन और दुर्लभ उदाहरण है। कृष्ण राधा के घर आए हैं। राधा ने उन्हें देखकर एक पद्य कहा जिसके द्वारा उन्होंने कृष्ण को यह बता दिया कि कृष्ण वृन्दावन के किसी कुंज में उनकी अपेक्षा करें; वे कुछ समय बाद ही वहाँ आ रहीं हैं :—

राइ दोहड़ी पढ़न सुनि हसिउ काहून गोआल।
वृन्दाबन घन कुंज घर चलिउ कमल रसाल॥

—राइ का दोहा सुनकर कान्ह गोआल हँसे और बृन्दावन के किसी घने कुंज की ओर चले।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में यद्यपि पूर्ण गीति कविता का रूप नहीं है फिर भी वैष्णव पदावली विषयक पूर्व इतिहास है। किन्तु यही रूप प्राचीन बँगला में भी मिलता है। इसका प्रमाण यह है कि जयदेव की पदावली यद्यपि संस्कृत में है लेकिन उसका ढाँचा संस्कृत का नहीं है। वह ढाँचा अवहट्ट और प्राचीन बँगला का है। प्राचीन बँगला के चर्या गीतों में जयदेव की पदावली का रूप पाया जाता है। अवहट्ट में भी तांत्रिक बौद्ध साधकों के, एक प्रकार के साधना संगीत में—जिसको वज्रगीत कहते हैं—यह रूप पाया जाता है। वज्रगीत का एक नमूना नीचे उद्धृत किया जाता है। इसमें वैष्णव पदावली के प्रेम की प्रगाढ़ता वर्तमान है; किन्तु नायक और नायिका का पार्ट बदल गया है। वैष्णव पदावली में राधा मानिनी है और कृष्ण अनुनयशील, लेकिन वज्रगीत में निरंजन शून्य निद्रागत है और नवात्मा योगिनी अनुनयशीला। योगिनी सुप्त निरंजन को जगा रही है—

किच्चे निच्चअ बिनाअ गउ
लोअ निमन्तिअ काई
तह वत्ता न जइ सम्भरसि
उट्ठहिं सकल विसाइं
कंज अप्पान विकारि अचिता
मा कर सून्न विछित्त
भव भअ पड़िआ सकल जनू
उट्ठहिं जोइनि मित्त।
पूव पईजइ सम्भलसि
माकर काज्ज विसाउ
तइ अयसअल जनू
पतिताउ जग अवसाउ
मिच्छे जान मा करेहि पिअ
उट्ठहि सून्न सहाव
कामहि जोइगी-विन्द तूई
फिट्ठउ अहवा भाव।

"नित्य कार्य में विषादगत होने पर क्यों तुम लोक निमंत्रण करते हो? यदि तुम स्मरण न करो तो सब विषादों का अंत हो जाय। हे प्रिय! अपना कार्य तो करना पड़ेगा, इस लिए शून्य विक्षिप्त मत करो। सब लोग संसार के भय से पीड़ित हैं, हे योगिनी मित्र! तुम उठो; पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण करो; कार्य से विमुख न हो। तुम्हारे नीचे सारा संसार है, सबका अवसाद दूर हो। प्रिय शून्य स्वभाव का अवलम्बन करके झूठमूठ मान मत करो। योगिनी वृन्द की कामना करो, अथवा 'भाव' दूर करो।"

इसी अवहट्ठ से ब्रजबोली की उत्पत्ति हुई है। बँगला, मैथिली, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, आदि भाषाओं का पूर्ण परिणत रूप अवहट्ठ के प्रचलित दरबारी साहित्य में था—विशेष कर राधा-कृष्ण पदावली में। इसी परवर्ती अवहट्ठ ने जिसके ऊपर मैथिली आदि स्थानीय भाषाओं का प्रभाव अवश्य पड़ा था, १५ वीं तथा १६ वीं शताब्दी में ब्रजबोली का रूप धारण किया था। सूरदास आदि प्राचीन ब्रजभाषा के कवियों की रचना में जो अहिन्दी शब्द या पद हैं वे इसी प्राचीन अवहट्ठ या प्राचीन ब्रजबोली के हैं। इस लिये ब्रजबोली किसी प्रांत विशेष की सम्पत्ति नहीं है, वह आदि भाषा की संपत्ति है, और एक प्रकार से अंतिम सर्व भारतीय आर्य भाषा है।

विद्यापति ने अर्वाचीन गद्य-पद्य में एक पुस्तक लिखी थी–कीर्तिलता। उसमें ऐसे अनेक अंश हैं जिन्हें स्वच्छंदतापूर्वक ब्रजबोली का कहा जा सकता है। इसमें भी अवहट्ठ और ब्रजबोली का ऐकान्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। जैसे :—

प्रांत चलू दुअउ कुमर, हरि, हरि सबे सुमर।
वन्हल छाड़ल पाहि पांतरें, वसल ऍल आंतरे आंतरे।
जहाँ जाइअ जेहे गाएग, भोगाइ राजाकवड़ि
केहु कापर केहु कोर, केहु सम्वल केहु थोर।
काहु पातो मेलि पैठि, काहु सेवक लागु नैठि।
केहु देल धन उधार, केहु करुअरि नदी पार।
केहु ओवहल भार शेष, केहु वाट कहल शेष।
केहु आतिक विनय करु, कतक दिवस वाट सन्तरु।

—दोनों कुमारों ने पैदल यात्रा की। सब किसी ने हरि का स्मरण किया। बहुत से प्रांतों को छोड़ा और स्थान स्थान पर विश्राम किया। जिस जगह जिस गाँव में गये सर्वत्र भोगीश्वर राजा का बड़ा नाम सुना। किसी ने कपड़ा दिया, किसी ने घोड़ा। किसी ने प्रचुर अर्थ दिया, किसी ने अन्न। कहीं प्रवेश पाने के लिये पंक्ति में खड़ा होना पड़ा, कहीं सेवकों ने भेंट दी। किसी ने बोझ उठा दिया, किसी ने सीधा रास्ता चला दिया। किसी ने विनयपूर्वक आतिथ्य किया। कितने ही दिनों के पश्चात् रास्ता तै हुआ—

ब्रजबोली का उद्भव और विकास नेपाल-तिरहुत के मोरंग की राजसभा में हुआ था। तुर्कों के आक्रमण के पश्चात् दक्षिण बिहार और बंगाल कुछ समय के लिये पुष्ट साहित्य से वंचित रहा। कवि और पंडितों को नैपाल-तिरहुत के मोरंग के यहाँ आश्रय मिला था। इसीलिये तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी मे इन सब देशों की राजसभा की कहानियों में साहित्य चर्चा प्रायः लुप्त पायी जाती है। नैपाल की राजसभा में बंगाल, बिहार, काशी तथा अन्य स्थानों से कवि और विद्वान् आते थे और सम्मानित होते थे। उन्हीं के द्वारा देव-लीला का गीत पुष्ट होता रहता था। बहुतों की ऐसी धारणा है कि कृष्ण-लीला का गीत लोक साहित्य के अंतर्गत है। लेकिन यह बात गलत है। तीन हजार वर्षों के पहले क्या था, कहा नहीं जा सकता लेकिन ढाई हजार वर्षों से कृष्ण-लीला का जो इतिहास प्राप्य है, उसके अनुसार कृष्ण-लीला के गीत को लोक साहित्य नहीं कहा जा

सकता। लोक साहित्य उसको कहते हैं जो किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं होती और जिस रचना में किसी साहित्यिक वस्तु की छाया नहीं पायी जाती। अशिक्षित या अर्धशिक्षित में चलने-वाले साहित्य को भी लोक साहित्य नहीं कहा जा सकता। साहित्य और कला में बराबर कृष्ण-लीला की कहानी ने स्थान पाया है। कृष्ण द्वारा कंस के वध की कहानी पाणिनि के काल से आरम्भ होकर पतंजलि के समय तक कथा, नाटक आदि साहित्य-रूपों का विषय थी, इसके अनेक प्रमाण हैं। केवल महाभारत ही, कृष्ण-लीला का साहित्य में क्या स्थान था, इसको प्रमाणित करता है। गुप्तकाल में गोवर्धनेश्वर कृष्ण की कहानी कितनी जनप्रिय थी, यह उस काल की कला से ही सिद्ध होता है। कृष्ण की गोपीलीला आधुनिक नहीं है। इन्दुमती के स्वयंवर के उपलक्ष में कालिदास ने जिस रूप में वृन्दावन और गोवर्धन पर्वत का उल्लेख किया है उससे सिद्ध होता है कि गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेमलीला की कहानी उनके समय में प्रचलित थी।

सुनन्द इन्दुमती को सूरसेन के राजा सुखेन के पास ले जाकर उसके गुण का वर्णन करता है—

सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तर पुष्पशय्ये।
वृंदावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्री।।

—हे सुन्दरी इस युवक को पति-रूप में वरण करो और उस वृन्दावन के, जो कुबेर के उद्यान से किसी रूप में भी कम नहीं है, पुष्पों से आच्छादित शय्या पर अपना यौवन सफल करो—

अध्यास्यचाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनिशिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु।

—वर्षा में गोवर्धन की रमणीय गुफाओं में जलकणों से सिक्त सुगंधयुक्त शिलाओं पर बैठकर मयूर का नाच देखो—

गोवर्धन पर्वत की जो अवस्था है उससे उसमें बैठने योग्य गुफा की कल्पना, कवि को छोड़कर और किसी के द्वारा संभव नहीं।

बंगाल में साहित्य और कला के इतिहास का धारावाहिक सूत्रपात पालवंशीय राजाओं के समय से आरंभ होता है। उस समय की कला में कृष्ण-लीला की प्रधानता का परिचय पहाड़पुर के मंदिरों की भित्ति चित्रावली से मिलता है। साहित्य में इसका प्रमाण, प्रकीर्ण श्लोक एवं, 'राधा', 'सत्यभामा', 'उत्कंठिमाधव', आदि आधुनिक काल में लुप्त नाट्य रचनाओं की नामावली में प्राप्त है।

सेन वंशीय राजाओं के समय में विशेष कर लक्ष्मणसेन के राजत्व काल में कृष्ण-लीला विषयक रचना की विशेष उन्नति हुई। लक्ष्मणसेन स्वयं, उसका पुत्र तथा उसके कुटुम्बीगण कविता लिखते थे। उसकी सभा के कवियों को कृष्ण-लीला की कविता लिखने के लिये प्रोत्साहन मिलता था। एक बड़े कवि उमापति मिश्र ने—लक्ष्मणसेन उसके पिता व लालसेन और उसके पितामह विजयसेन—तीन पीढ़ियों तक उस वंश में महामंत्रित्व का

कार्य किया था। कहने में अत्युक्ति न होगी कि वे सेन राज्य की ऐश्वर्य वृद्धि के स्तंभ थे। इन्हीं उमापतिधर ने बहुत अच्छे अच्छे श्लोक लिखे थे। उनमें से एक आप लोगों के लिए यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। इन श्लोकों का एक विशेष मूल्य भी है। हमलोग जानते हैं कि श्री चैतन्य ने राधा-कृष्ण की कहानी में एक विशेषता उत्पन्न कर दी थी। उन्होंने राधा को कृष्ण से बड़ा बताया था। मथुरा और द्वारका में कृष्ण द्वारा की गयी लीला से बृन्दावन की लीला को बहुत उच्च स्थान उन्होंने दिया था। उमापतिधर की कविताओं में इस तत्त्व का मिश्रित पूर्वाभास निश्चित रूप से प्राप्य है।—

रत्नच्छायास्फुरितजलधौ मन्दिरे द्वारकाया,
रुक्मिण्यापि प्रबलपुलकोद्भेदयालिंगितस्य।
विनयं पायान मसृणयमुनातीरवानीरकुंजे,
राधाकेलिभरपरिमलध्यानमूर्च्छा मुरारे:॥

प्रायः तीन सौ वर्षों पूर्व एक कवि ने इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया था—

रत्नाकर मासे साजे द्वारावती पुरी।
नानारत्नमय अति शोभा मनोहारी।
तथि अति उच्च दीप्त मंदिर सुठान
नाना जे विचित्र मनिग्य निरमान।
से रत्नेर कान्त्ये किवा प्रतिबिम्बे करि
नाना चित्रमय हुए समुद्र माधुरी।
से मंदिर माझे चित्र शय्या विरचित
अबि विलसये कृष्ण रुक्मिणी सहित।
आलिंगने प्रबल पुलक अंगे हय
तथापि कृष्णेर चित्ते नहे सुखोदय।
शीतल यमुना तीर वानीर कुंजे ते
राधा केलि भर परिमल स्मरणेते।
कान्ता आलिंगित सेर शय्यार उपरि
स्पन्दन विहीन मुच्छापन से मुरारि।
उमापतिधर नामा कविर-वचने
सेइ मुर्च्छा करु विश्व जीवन रक्षने।

वैष्णव पदावली की रचना की नींव लक्ष्मणसेन की सभा में स्थापित हुई थी। गीत-गोविंद की पदावली पर जो असर पाया जाता है वह आजकल का नहीं है। लक्ष्मणसेन के पुत्रों के समय का अनुशीलन करनेपर इसका प्रमाण मिल सकता है। पिता की दैन्यावस्था के प्रसंग में विश्वरूपसेन तथा उनके भाई ने कहा है कि:—

प्रत्यूषे निगड़स्वनैर्नियमितप्रत्यर्थिपृथ्वीभुजां
मध्यान्हे जलपानमुक्तकरिणां प्रो[illegible]वै:।
सायं वेषविलासिनीजनध्वनन्मञ्जीरमञ्जुस्वनै:

येनाकारि विभिन्नशब्दघटना बद्धं विसन्ध्यं नभः ॥

लक्ष्मणसेन के राज्य के नष्ट होने पर भी वैष्णव गीति काव्य की यह समासिद्ध प्रथा नैपाल, तिरहुत तथा अन्य प्रांतीय राज्यों तथा सामंतों की सभाओं में चलती रही। नैपाल में ब्रजबोली पदावली की चर्चा १८ वीं सदी के मध्य भाग तक चली। नैपाल के राजागण भी ब्रजबोली में कविता लिखते थे। जैसे, श्रीनिवास मल्ल की यह रचना—

उपमिअ आनन नीरज पंकज शशधर दिवस मलीने।
भोंई अनुपम अधर सोहांचन नव पल्लव रुचि जिने।
सुन लेअसि की मोर परल गरुअ अपराधे।
वह मलयानिल जार कलेवर न कर मनोरथ वाधे ॥

नैपाल की राजसभा में जिस ब्रजबोली की चर्चा होती थी उसमें बँगला का प्रभाव अनुप्राणित था। १६ वीं सदी की लिखी पुस्तक के पद में इस अनुमान को समर्थन मिलता है :—

सघन वरियो मेहा सुमरि सुकछु नेहा
जीव छुटु पटु नीद ना आइ विरह दगध देह।
मन पंखि हया जाइब जाहा गिया लाग पाइब
हाते धरिया पात्र पड़िया गसाय तुलिया लइब।
चन्दन चिरन मात्र कुसुम साज सुखाए
अंग मोरि मोरि आँगन ठारि मन चौदिक धात्र ॥

मिथिला में ब्रजबोली को सबसे पहले स्थान प्राप्त हुआ १४ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में; उमापति के लेखों में। उन्होंने राजा हरिहर सिंह के रण-विजय के उपलक्ष में 'पारिजात मंगल' नामक एक गीति-नाट्य लिखा था (संस्कृत में)। उसमें जितने गीत लिखे गये थे वे सब भाषा में थे अर्थात् ब्रजबोली में भी थे। पद सभी अपूर्व हैं। उसमें कई एक पद विद्यापति के भी आ गये हैं। एक उदाहरण देखिये। कोई सखी कृष्ण के सम्मुख मानिनी सत्यभामा के विरहोद्‌गार का वर्णन कर रही है—

"कि कहब माधव तनिक विशेषे, अपनन्ह तन धनि पाव कलेशे।
अपनुक आनन आरसि हेरि, चाँदक भरम काँप कत केरि।
भरमन्ह निअ कर उर पर आनि, परनइ तरस सरसीरुह जानि।
चिकुर निकर मिअ नयन निहारि, जलधर जाल जानि हिय हारि।
अपन वचन पिक रव अनुमाने, हरि हरि तेन्ह परितेजय पराने।
माधव अवन्ह करिअ समधाने, सु पुरुष निठुर न वह मनिवाने।
सुमति उमापति मन परमाने, माहेशरि वेई हिन्दुपति जाने।

—माधव उसके विषय में और क्या विशेष कहूँ। अपने शरीर के कारण वह कष्ट पा रही है। दर्पण में अपने मुख को देखकर वह चाँद का भ्रम कर कितनी ही बार काँप उठती है। अपने हाथ के अपने हृदय पर पड़ते ही वह कमल की कली से स्पर्श होने के कारण भय पा रही है। अपने केशों को देखकर उसे मेघाडम्बर का भय होता है। अपने वाक्य

उसे कोकिल के रव ज्ञात होते हैं और वह प्राण त्याग करने को तैयार हो जाती है। हे माधव! अब तुम्हीं इसकी मीमांसा करो। सुपुरुष कभी इतने निष्ठुर नहीं होते। मंत्री उमापति प्रामाणिक वाक्य कह रहे हैं, माहेश्वरी देवी के पति हिन्दुपति इसे जानते हैं–

उमापति १४ वीं शताब्दी के तथा विद्यापति पन्द्रहवीं शताब्दी के व्यक्ति थे। इनकी कथा प्रख्यात है। उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। यह तो हुई मिथिला की ब्रजबोली की कथा। ब्रजबोली पदावली के गीत १५ वीं शताब्दी से बंगाल, उड़ीसा एवं आसाम में भी पाये जाते हैं। बंगाल में इस रीति ने जैसा स्थायित्व प्राप्त किया था वैसा स्थायित्व अन्यत्र इसे नहीं प्राप्त हुआ। उड़ीसा में पुरानी ब्रजबोली का एक पद पाया जाता है। उसका रचना काल १५ वीं और १६ वीं शताब्दी का संधि-काल है। उड़ीसा के राजा प्रतापचन्द्र राय के एक प्रधान कर्मचारी रामानन्द राय थे। कवि एवं रसिक होने के कारण श्री चैतन्य इनका आदर करते थे। रामानन्द राय ने 'जगन्नाथ वल्लभ' नामक एक नाटक लिखा था। उसमें अनेक संस्कृत के गीत जयदेव की प्रणाली के हैं। वे ब्रजबोली के पद भी लिखते थे। उनका केवल एक पद कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत' में उद्धृत किया है। वैष्णव साहित्य से जिनका परिचय है वे इस पद के प्रथम दो चरणों से अवश्य अवगत हैं––

पहिलहि राग नयन भंग भेल
अनुदिन बाढ़ल अवधि ना गेल।

बंगाल में सबसे प्राचीन ब्रजबोली का पद जो पाया जाता है वह हुसेनशाह के एक कर्मचारी द्वारा लिखा गया है। पद के अन्दर ही कवि और उसके समय का परिचय है। कृष्ण गौओं को चराकर लौट रहे हैं। राधा उनको देखने के लिये उत्कंठित हो रहीं हैं। सखी कृष्ण को यही बता रही है––

एक पयोधर चन्दन लिपित आध सहजइ गौर।
हिम धराधर कनक भूधर कोले मिलल मौर।

माधव तुया दरशन काजे
आध पद चारि करि ब्रज सुंदरी बाहिर देहली माझे।
दाहिन लोचन काजरे रंजित धवल रहल वाम।
नील धवल कमल युगले पूजल कत काम।
श्रीयुत हुसन जगत भूषन सोइ ए रस जान
पंच गौड़ेन वर भोग पुरन्दर भने यशोराज खान॥

––एक पयोधर चन्दन चर्चित है और दूसरा गौरवसी का, मानो हिमालय और कनकाचल का मिलन हुआ हो। हे माधव! तुम्हारे दर्शन के हेतु राधा दरवाजे पर घूम रही है। उसकी दाहिनी आँख में काजल है और बायीं आंख सफेद है मानो नीले और सादे कमल के फूलों से कामदेव की पूजा हुई हो। जगत् भूषण स्वरूपवान इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान पंजगौड़ के राजा श्रीयुक्त हुसेन इस रस को जानते हैं। इस पद को लिखने वाले यशोराज खान हैं––

इसी हुसेन शाह और उसके पुत्र नसरत शाह के दरबार के कईएक बड़े बड़े कवियों ने कविशेखर और विद्यापति का नाम धारण कर ब्रजबोली की कविता लिखी है।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के मध्य काल में ब्रजबोली तथा वैष्णव पदावली में नवीन जीवन का संचार गोविन्ददास कविराज ने किया। कविराज की उपाधि इन्हें जीव गोस्वामी से मिली थी। गोविन्ददास की ब्रजबोली की रचना में शब्दों की झंकार, छंदों की चपलता, भावों की प्रचुरता तथा भाषा की प्रगाढ़ता पायी जाती है। एक पद में गोविन्द-दास ने स्वयं कहा है —

रसना रोचन श्रवण बिलास, रचइ रुचिर पद गोविन्ददास।

उपर्युक्त उक्ति उनके सम्बन्ध में यथार्थ है। गोविन्ददास के दो पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। वर्षा की रजनी है, राधा अभिसार के लिये उद्यत है। सखी निषेध कर रही है—

मंदिर बाहर कठिन कपाट, चलइते शंकि पंकिल बाट।
तहि अति दुरतर बादल दौल, वारि कि वारइ नील निचोल।
सुन्दरि कइछे करबि अभिसार, हरि रह मानस सुन धुनि पार।
थनथन सन सन बजर निपात, सुनइते श्रवण मरय जरि जात।
दश दिशि धामिनी दहन विचार, हेरइते उचकइ लोचन तार।
इथे यदि सुन्दरी तेजबि गेह, प्रेमक लागि उपेखवि देह।
गोविन्ददास कह इथे कि विचार, छूटल बान किये जतने निवार।

—घर से बाहर जाने के लिये कठिन दरवाजों की रुकावट है, चलने में भय है रास्ता पंकिल है। इसके उपरांत घोर झंझा और चपल है। नीले निचोल (चादर) में क्या जल रुक सकता है? हे सुंदरी! अभिसार के लिये तुम क्यों कर जाओगी? कृष्ण तो मानस गंगा के पार रहते हैं। घन घन सन सन शब्दों के साथ वज्र ओले पड़ रहे हैं, जिन्हें सुनकर कानों के परदे फट रहे हैं। दशों दिशाओं में बिजली अग्नि विस्तारित कर रही है। उसे देखकर आँखें बंद हो जातीं हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि तुम घर छोड़ोगी तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम प्रेम के कारण शरीर त्याग करोगी। जो बाण चल चुका है उसे अनेक चेष्टा करनेपर भी लौटाया नहीं जा सकता—

इसके उत्तर में राधा सखी से कहती हैं—

कुल मरजाद कपाट उरघाटलुं, तारे कि काठ की बाधा।
निज मन जार सिंधु संगे पंडार लु, ताहे कि तरिनी अगाधा।
सहचरि मम पखि न कर दूर
ऐछे हृदय करि कान्ह हेरत हवि, सोंचरि सांचरि मन झूर।
कोटि कुसुमशर वरिघ रे मछु पर, ताहे कि जलद जल लागि।
प्रेम दहन दह याके हृदय सह, ताहे कि वजरक आगि।
यछु पद तले निज जीवन सौंपलुं, ताहे कि तनु अनुरोध।
गोविन्द दास कहइ धनि बिरमह, सहचरि पाउज बोध॥

—कुल मर्यादा रूपी कपाटों को जिसने तोड़ दिया है उसके लिये काठ के दरवाजे कैसे बाधा उपस्थित कर सकते हैं? निज मर्यादा रूपी समुद्र का जिसने उल्लंघन किया है, उसके लिये छोटी नदियों को पार करना क्या बड़ी बात है? सखी! तुम मुझे न रोको। मेरे मन को चुराकर कृष्ण जिस प्रकार मेरी राह देख रहे हैं उसे स्मरण कर मेरा मन रो उठता है। कोटि कोटि कुसुमाकर जिसके ऊपर आच्छादित हो रहे हैं उसके लिये मेध जल क्या है? प्रेम की दावाग्नि को जिसके हृदय ने सहन किया है उसके लिये वज्राग्नि कोई चीज नहीं। जिसके पैरों के नीचे अपने जीवन को सौंप चुकी हूँ उसके लिये शरीर की रक्षा क्या? गोविंददास कहते हैं राधा, शान्त होओ, सखी ने अब समझ लिया है—

आसाम में शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव ने १६ वीं शताब्दी में ब्रजबोली में पदावलियों की रचना कर देश को मोहित कर लिया था। इन लोगों ने जिस ब्रजबोली का प्रचार आसाम में किया उसमें कुछ पद आसामी भाषा के भी हैं। इसी कारण यहाँ की ब्रजबोली में कुछ विशिष्टता पाई जाती है।

शंकरदेव के निम्न पद में कृष्ण के रूप का वर्णन है—

जो ओरे सखि पे खेरे कंज लोचन चलिल नन्द कुमारा
इन्द्र वदन कोटि मदन रुये तुल नुहि जारा।
मकर कुंडल मंडित गंड, गले जगमति लुले।
तरिताम्बर श्याम सुंदर, शिहर शिखन्डुक डुले।
कर कंकन किंकिनि कनक, झनके चले गोपाला
पंचम सुरे लम्बित उहर, केलि कदम्बकु माला
पद पंकज मंजिरे सुरे, हरय चित्त हा मारु।
शंकर कह छाड़ विरह, वोहि जग आधारु।

माधव के किसी किसी पद में हिन्दी की छाप है। निम्न पद मीराबाई की रचना का स्मरण कराता है। यह प्रार्थना का पद है—

गोविन्द दीन दयाल स्वामी, तुहूँ मेरि साहेब चाकर हामि।
काकु करियें तुया चरणे लागों, अरुन चरणे चाकरि मॉगो।
तेरी चरणे मेरी परणाम, चाकरि मॉगो-नाहि आन काम।
आपुन करमें जनम जाहाँ होई, ताहें तुया चरणे चाकर रहूँगोइ।
माधवदास कहे मतिहीना, गति मेरी नाहि तुया पद बिना॥

बंगाल में ब्रजबोली ने १७ वीं शताब्दी के बाद एक नये पथ का अवलम्बन किया। पद और 'ईडियम' के व्यवहार में शिथिलता आ गई। इसके मूल में था कुछ तो नवीनता का प्रमाद और कुछ अनभिज्ञता। फल किन्तु बहुत बुरा नहीं हुआ। पदावली की घिरी हुई सीमा की भाषा और उसके छन्द में एक प्रवाह आ गया। उसका साहित्यिक मूल्य यद्यपि विशेष नहीं है फिर भी कीर्तन के क्षेत्र में नया प्राण संचरित हुआ। जिस प्रकार कृष्ण-विरहिणी राधा का शशिशेखर द्वारा वर्णित यह पद :—

अति शीतल मलयानिल, मन्द मधुर बहना।
हरि बैमुखि हामारि अंग, मदनानले दहना।
कोकिल कुल कुहु कुहरइ, अलि झंकरु कुसुमे।
हरि लालसे तनु तेजब, पाउब आन जनमें।
सब संगिनी घिरी बैठिलि, गाऊत हरि नामे।
जंखने शुने तैखने उठे, नवरागिनी गाने।
ललिता कोरे करि बैठत, विशाखा धरे नातिया।
शशिशेखर कहे गोचर, याकेत जीउ फाटिया॥

—अतिशीतल मन्द मधुर मलयानिल बह रहा है, हरि से विमुख मेरा अंग मदन को सह रहा है। कोकिल मीठी तान मे गा रही है, सुमनों पर भौंरे झंकार कर रहे हैं। कृष्ण की लीला में मैं देह त्याग करूँगी और इससे उनसे मिलने के लिये अन्य जन्म पाऊँगी। यह कहते कहते राधा मूर्छित हो गई। सखियाँ उसे घेरकर बैठ गई और हरिनाम का गान करने लगीं जिससे कृष्ण नाम उसके कानों में पड़े और वह रस–मधुर नाम को सुनकर उठ बैठे। ललिता अपनी गोद में उसे लेकर बैठी है, विशाखा नाड़ी देख रही है। शशिशेखर सबके सामने कहते हैं कि प्राण न छूट जायँ—

राधा के प्राणों की रक्षा के लिये एक दूती कृष्ण को खोजकर लाने के लिये मथुरा चली। गोकुलानन्द के इस पद में उसी का वर्णन है—

राइ धैर्यम् रहु धैर्यम् रहु गाहे मथुराये।
हूं उर पुरी पति प्रत्यक्षे मोंहा दरशन पायेरे।
अति भद्रम् अति भद्रम् शीघ्रम कुरु कामना
अविलम्बे मथुरा पुरी प्रवेश करिल ललना।
एक रमनी अलप वयसी निज प्रयोजन पूछे।
नन्द जात कृष्ण ख्यात काहार भवने आछे।
शुनि सो धनी कहइ वाणी सौ काहंहा इहाँ आवोब।
वसुदेवकी सुत कृष्ण ख्यात कंस रिपु माधव।
सोइ सोइ कइ कइ दरशन मझु आसा।
गोकुलचन्द्र कहे जावो जावो वोइ जे उच्च वासा॥

"राइ धैर्य्य धारण करो मैं मथुरा जा रही हूँ। वहाँ घर घर में खोजकर के देखूँगी कि उनके दर्शन कहाँ होते हैं। दूती की बात सुनकर राधा ने कहा बहुत ठीक है शीघ्र जाओ। दूती अविलम्ब मथुरा पुरी में हाजिर हुई। एक अल्पवयस्की नारी को देख कर दूती ने अपनी बात पूछी कि नन्दनन्दन कृष्ण यहाँ किसके घर रहते हैं? उसकी बात सुनकर तरुणीने उत्तर दिया कि वे यहाँ क्यों आवेंगे? यहाँ तो वे प्रख्यात कृष्ण रहते हैं जिन्होंने कंस को मारा था, जो वासुदेव और देवकी के पुत्र हैं, जो माधव हैं। दूती कह उठी वही कृष्ण वही कृष्ण। उन्हीं के दर्शनों के हेतु मैं आयी हूँ। गोकुलचन्द्र कहते हैं कि "जाओ जाओ वह ऊँची अट्टालिका जो दिखाई पड़ती है वहीं वे रहते हैं।"

ब्रजबोली की पदावली के इतिहास के अधिक विस्तार में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। १७ वीं शताब्दी की रचना १८ वीं शताब्दी को पारकर १९ वीं शताब्दी पर्यन्त चली आई है।

मुनि कान्तिसागर

चरणदासी सम्प्रदाय का अज्ञात हिन्दी साहित्य

भारतीय संत-परम्परा के उज्ज्वल इतिहास में स्वामी चरणदास और उनके द्वारा रचित साहित्य का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे निर्गुण साधक थे। विक्रम संवत् १८३६ के लगभग चरणदासी संप्रदाय का उद्भव हुआ। वे ढूसर कुल के थे। यद्यपि कतिपय विज्ञ संदिग्ध हैं, किन्तु वे स्वयं एवं उनकी परम्परा के साहित्यिक इन्हें ढूसर कुलावतंस ही मानते हैं। वह समय राजनैतिक दृष्टि से बहुत ही विषम था। आर्य संस्कृति और सभ्यता पर आघात प्रतिघात निर्दयतापूर्वक हुआ करते थे। हिन्दू धर्म व्यर्थ के आडम्बरों में इतना फँस चुका था कि त्यागी कहे जाने वाले संत भी इन्द्रिय-संभूत आनन्दोपलब्धि में लिप्त थे। सामाजिक वर्गभेद पनप रहा था। साहित्य और आन्तरिक साधना का क्षेत्र सीमित हो चला था। मानवता के नाम पर हीनतम प्रवृतियाँ विकसित हो रहीं थीं। न केवल उन दिनों हिन्दू समाज मुगलों के निष्ठुर आक्रमणों से ही भयभीत था अपितु पारस्परिक साम्प्रदायिक भावना से भी वह अपनी चिराचरित साधना द्वारा अर्जित पथ से गिर रहा था। ऐसी स्थिति में निर्गुण परम्परा के प्रबल समर्थक के रूप में स्वामीजी ने अवतरित होकर भारतीय चेतना को उद्बुद्ध किया।

चरणदासी परम्परा के साहित्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि उसने योग पर बहुत बल दिया है। दार्शनिक एवं पूजोपासना के विविध आडम्बरों पर दृष्टि केन्द्रित करने से ज्ञात होता है कि भले ही अंशतः यह परंपरा कबीर का अनुसरण करती हो, किन्तु यह निम्बार्क संप्रदाय के अधिक निकट है। स्वामीजी का मन्तव्य है कि गार्हस्थ्य जीवन भी यदि सदाचार और संयम द्वारा व्यतीत किया जाय तो आन्तरिक विकास किया जा सकता है। तात्पर्य, उन्हें सन्यासाश्रम के बाह्याडम्बरों से घृणा थी। शरीर के नहीं वे जीवन के शिल्पी थे। न केवल वे साधक संत ही थे, अपितु उच्च कोटि के साहित्यिक होने का भी उन्हें सौभाग्य प्राप्त था। उनकी सधी हुई वाणी सर्वसाधारण को अन्तर्मुख जगत् की ओर आकृष्ट करती है। वेदान्त, योग, भक्ति और ज्ञान जैसे मार्मिक विषयों पर लाक्षणिक शैली में स्वामीजी ने जो अनुभूति व्यक्त की है वह भारतीय संत-परम्परा की एक ऐसी महती निधि है जिस पर सद्भाव तथा मानवता गौरव ले सकते हैं। अद्यावधि अन्वेषित साधनों से इनके द्वारा रचित २० ग्रन्थों का पता चला है।

चरणदास के शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा पर्याप्त थी। इनके प्रधान शिष्य ५२ गिने जाते हैं। बताया तो यहाँ तक जाता है कि इन्हें विशेष प्रकार से शिक्षित कर विभिन्न स्थानों में स्वमत-प्रचारार्थ भिजवाया गया था, परन्तु यह असंदिग्धरूपेण नहीं कहा जा सकता है कि किस शिष्य को किस प्रान्त और नगर में प्रेषित किया गया था। इस पर 'गुरुभक्ति प्रकाश' के रचयिता रामरूपजी भी मौन हैं। सहजो बाई और दयाबाई जैसी ग्रन्थकर्तृयाँ इसी संप्रदाय की अनुयायिनी थीं। इस परम्परा के उपलब्ध साहित्य से अवगत होता है कि ये शिष्यायें भी न केवल उनकी साधना-पद्धति का ही सफलतापूर्वक प्रतिनिधित्व करतीं थीं अपितु साहित्यिक दृष्टि से भी इन्होंने जो मानवतामूलक विचार व्यक्त किये हैं, वे आज भी अन्वेषण के क्षेत्र में नूतन क्रान्ति को जन्म दे सकते हैं। इन्होंने स्वसंप्रदाय के उच्चतम सिद्धान्तों को अधिक से अधिक लोकभोग्य बनाने के लिए पुरातन सिद्धान्तों की सामयिक व्याख्यायें कीं एवं कालिक परिस्थित्यनुसार अनेक नूतन ग्रन्थों का प्रणयन कर संत साहित्य की अभिवृद्धि करने के साथ मेवाती भाषा के साहित्यिक भंडार को भी पुष्ट किया। यद्यपि हिन्दी साहित्य के उपलब्ध अद्यतन नवीन समस्त इतिहास एवं आलोचना मूलक ग्रन्थों में केवल चरणदास, रामरूप, दयाबाई और सहजोबाई का ही नामोल्लेख मिलता, है पर यह नहीं माना जाना चाहिए कि इस संप्रदाय का इतना ही साहित्य था, किन्तु पता यह चलता है कि अद्यावधि अन्वेषित साधनों से केवल उपर्युक्त साहित्य ही ऐसा है जिसका संबंध चरणदासी संप्रदाय से है। कवि और लेखक तो और भी हुए हैं, परन्तु उनका साहित्य तिमिराच्छन्न होने के कारण न केवल जनता के सम्मुख ही नहीं आया अपितु एतद्विषयक साहित्यिक विज्ञ भी इस निधि से अपरिचित ही रहे। यहाँ तक कि इस संप्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थों तक का उल्लेख इतिहास ने नहीं किया। डा. रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (पृ. २९०) में जहाँ रामरूप की कृतियों की चर्चा की है वहाँ उनके अत्यन्त प्रसिद्ध 'गुरुभक्ति प्रकाश' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अनुल्लेख रहना एक आश्चर्य है। परशुराम चतुर्वेदी कृत 'उत्तर भारत की संत परम्परा' में चरणदासी साहित्य पर जो कुछ भी विचार व्यक्त हुए हैं वे उपर्युक्त पंक्तियों तक ही सीमित हैं, अर्थात् स्वामीजी, दयाबाई, सहजोबाई व रामरूप का ही नामोल्लेख है। मोतीलाल मेनारिया कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' जैसे तद्देशीय प्रामाणिक ग्रन्थ में भी चरणदासी साहित्य पर जो कुछ उल्लेख है उसमें शोध जैसी कोई मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती। अन्वेषित साधनों के आधार पर ही सीमित विचारधारा पर चलने वाले साहित्यिकों को चाहिए कि कम से कम स्वतन्त्र मस्तिष्क द्वारा अन्वेषण के क्षेत्र में पदार्पण करें।

प्रस्तुत प्रबन्ध में चरणदासी संप्रदाय के नये लेखकों की कृतियों का परिचयात्मक उल्लेख किया जा रहा है जो अद्यावधि न केवल साहित्यिक संसार से ही अज्ञात थीं, बल्कि कहना तो यह चाहिए कि इस संप्रदाय के अनुयासी तक इन महानुभावों की कृतियों से आज तक अपरिचित रहे। इन पंक्तियों को अनुभव के आधार पर ही लिखा जा रहा है। नागरीदास, छौनाजी, अखैराम, चैतन, हरिदास, जन बेगम और खुसालां बाई ये हिन्दी में नवोपलब्ध चरणदासी संप्रदायानुयायी कवि हैं जो कि सर्वप्रथम प्रकाश में आ

रहे हैं। यद्यपि ये सभी साहित्य-प्रणेता, प्रथम साधक और बाद में लेखक या कवि हैं, किन्तु इनका साहित्य केवल स्वमतपोषक परम्परा तक ही सीमित नहीं है, क्योंकि आयुर्वेद, योग, वेदान्त, भक्ति, चरित्र, ज्ञान और भागवत का अनुवाद आदि विषयों पर लाक्षणिक शैली से मार्मिक प्रकाश डालकर दीर्घकालव्यापी साधना का सुपरिचय इन्होंने दिया है। भले ही इनके निर्माता विशेष संप्रदाय से संबद्ध रहे हों एवं स्वमतपोषक तत्त्वों का प्रगुम्फन किया हो, परन्तु साहित्यिक एवं भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन कृतियों का बहुत बड़ा महत्त्व है, बल्कि मेवाती भाषा में अद्यावधि उपलब्ध साहित्य में इन कृतियों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मेवात प्रदेश में चरणदासी संप्रदाय फलाफूला, अतः संपूर्ण मेवात-मंडल, उत्तरप्रदेश, पूर्वी पंजाब, दिल्ली एवं राजस्थान के अन्य भूभागों में धैर्यपूर्वक गवेषणा करवाई जाय तो चरणदासी संतों का और भी पुष्ट एवं विचारोतेजक साहित्य उपलब्ध किया जा सकता है। इस संप्रदाय के साहित्यिक ग्रन्थों में कहीं कहीं जो ऐतिहासिक तथ्य एवं तात्कालिक राजकीय परिवारों पर जो विचार मिलते हैं, वे इतिहास की एक ऐसी कड़ी हैं जिनपर कि इसलिए विश्वास करना अनिवार्य है कि वे वैयक्तिक स्वार्थमूलक जीवनयापन करने वाले लेखक की कृतियाँ नहीं, एक ऐसे विचारशील साधक की सूचनाएं हैं जो अपने जीवन से सांसारिकता को सदा के लिए विदा कर चुका है। उपर्युक्त पंक्तियाँ नागरीदास एवं अखैराम की कृतियों पर पूर्णतः चरितार्थ होतीं हैं।

विप्र नागरीदास

हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासों पर दृष्टि केन्द्रित करने पर विदित होता है कि एक ही शताब्दी में एक ही नाम के एक ही विषय पर लिखने वाले कई कवि हुए हैं, उदाहरणार्थ, नागरीदास को ही लें। इस नाम के एक से अधिक कवि साहित्यिक जगत् में विख्यात हैं, किन्तु जिन नागरीदास का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है वह अद्यावधि ज्ञात नागरीदासों से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि इसी शताब्दी में एक और नागरीदास का पता चलता है जो बिहारिनदास के शिष्य और कृष्णदास के गुरु थे। प्रस्तुत नागरीदास ने स्पष्टतया अपना संप्रदाय सूचित नहीं किया, किन्तु कवि ने भागवत के अनुवाद के मंगलाचरण में एवं अन्य कई स्थानों पर शुकदेवजी व चरणदास जी को बड़े ही आदर व श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। चरणदास के ५२ शिष्यों में कवि का नाम सम्मिलित है। कवि चरणदासी संप्रदाय का अनुयायी था यह बात असंदिग्ध है। यद्यपि इनके जीवनपट पर प्रकाश डाल सके वैसी सामग्री न कवि ने दी न अन्यान्य साधन से ही उपलब्ध है, परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि वे उच्चकोटि के साधक व श्रेष्ठतम कवि थे। उनके विशद पांडित्य का सूक्ष्म परिज्ञान भागवत के अनुवाद में परिलक्षित होता है। 'विद्यावताम् भागवते परीक्षा' सिद्धान्त कवि के जीवन में साकार है। यह केवल अनुवाद नहीं है। कवि ने इतनी स्वतन्त्रता से काम लिया है कि कहीं कहीं तो एक ही श्लोक के भावों को स्पष्ट करने के लिए कई स्वतन्त्र छन्दों का आयोजन करना पड़ा है, और कहीं कई श्लोकों का भाव एक छन्द में व्यक्त कर दीर्घकालव्यापी काव्यमयी साधना का सुपरिचय दिया है। इतना विशद अनुवाद अभी तक कैसे अज्ञात रह सका यह एक आश्चर्य है। प्रसंगतः एक

बात का स्पष्टीकरण अनिवार्य जान पड़ता है, भले ही कवि का जन्मस्थान, जन्मकाल, ज्ञाति आदि की स्पष्ट सूचना नहीं मिलती है, किन्तु कवि की इस अनूदित कृति से व उसके आश्रयदाता से विदित किया जा सकता है कि उनका संबंध अलवर या राजगढ़ से था। कवि ने संभव है इसी भूमि को अपने जन्म से अलंकृत किया हो। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि वह मेवात मंडल का ही ऊर्जस्वल व्यक्तित्वसंपन्न चरित्र का प्रतीक था। न केवल वह कवि ही था बल्कि स्वाभिमानी साधक एवं आदर्शमय जीवनयापन करने वाला महामानव था। वह अपने स्वामी की प्रशंसा में जिस संयम से काम लेता है वह उसके वैयक्तिक जीवन एवं पांडित्यमयी प्रतिभा को प्रशस्त करता है।

कविवर नागरीदास ने भागवत का यह छंदबद्ध हिन्दी अनुवाद नरूखंडाधिपति जोरावरसिंह तत्पुत्र महव्वतसिंह और उनके पुत्र राव राजा श्री प्रतापसिंह के दीवान और प्रतिनिधि हलदिया कुलावतंस श्री छाजूराम के स्नेहांकित अनुग्रह से तैयार किया था। प्रत्येक अध्याय के अंतिम भाग में उपर्युक्त पंक्तिगत अर्थ को स्पष्ट करने के लिये साह छाजूराम का नामोल्लेख है। अपने आश्रयदाता या प्रेरक के प्रति कवि का विशेष आदरभाव जान पड़ता है, जो स्वाभाविक है। कवि को साह जी ने हाथी, अश्व, भूमि और वस्त्रादि द्वारा सम्मानित किया था। इसका एक कारण यह भी जान पड़ता है कि साहजी के स्वामी प्रतापसिंह स्वयं स्वामी चरणदास के परम भक्त थे। स्वामीजी जब जयपुर पधार रहे थे तो उन्होंने पर्याप्त सम्मान किया था जैसा कि रामरूप के 'गुरुभक्ति प्रकाश' से सिद्ध है। यह अनुवाद भी स्वामीजी के जीवित रहते ही प्रारंभ कर दिया गया था—सं. १८३२ बैसाख सुदी ३ को। समाप्ति कब हुई, यह कहना जरा कठिन है परन्तु साहजी की मृत्यु तिथि सं. १८४५ पड़ती है। अतः इतः पूर्व ही इसका काल भी होगा, जैसा कि वैरिगढ़ वाली प्रति की लेखन-प्रशस्ति से विदित होता है। इसकी पूर्ण और अपूर्ण प्रति मेरे संग्रह में है और एक अपूर्ण प्रति हिन्दी साहित्य समिति, भरतपुर में सुरक्षित है। (गत मार्च में जयपुर में डा. वासुदेवशरणजी से पता चला कि नागरीदास कृत 'मानवतानुवाद' की एक प्रति कलकत्ता के राजस्थानी साहित्य के विशिष्ट प्रेमी श्री चोथमल सराफ के संग्रह में है। नहीं कहा जा सकता है कि यह किस नागरीदास की कृति है)।

भागवतानुवाद के आदि और अंतिम भाग इस प्रकार हैं:—

आदि भाग

श्रीशुक चरननदास के बैठि चरण की नाव।
रे मन अलि भज पार हो भलो बन्यो है दाव ।।१।।
अलि कुल मंडित गंड जुत सुंडा दंड उदंड।
मंडन शुभ षंडन अशुभ जय बेतंड प्रचंड ।।२।।
नरूखंड मंडित विदित राजा रावप्रताप।
सूरबीर दाता भरणि देस देस जिहि छाप ।।३।।

कवित

सुरन समान सैना चढ़ति सु जाके संग वज्र सम जाके कर षग्ग सु बषानियें ।
राजगढ़ राजत समान सुर पुर जाकै छाजूराम कलपतरोवर प्रमानियें ।।
विजय नगारे की वजन घनघोर जोर ऐरावत तुल्य गजराज घर जानियें ।
इंद्र सम प्रगट नरेन्द्र महाराज राव भूपति प्रतापसिंह जाके गुन गानिये ।।५।।

दोहा

तिहिं प्रतिनिधि दीवान जो साह सु छाजूराम ।
गोत हलदिया तास वर सकल सुषनि को धाम ।।६।।
विप्र नागरीदास सौं तिन कीनो अति प्रीति ।
हय गय वसु बहु भेंट दै सुनें पुरान सु रीति ।।७।।
तिन इक दिन ऐसें कही धरि हिय में अलि नेहु ।
भाषा श्री भागवत की तुम हम कों करि देहु ।।८।।
कीनौं प्रथम स्कंध में तब सु चौपई रीति ।
नृप ताकौं नैननि निरषि यौं निवेस मुष गीत ।।९।।
लगै बांचिवे में सुभग छंद रीति जो होय ।
तब निज बुधि अनुसार करि रच्यो जु मैंने सोइ ।।१०।।
संवत अष्टादस सु सत पुनि बतीस प्रमान ।
तृतिया सुदि बैसाख की ग्रंथारभ सु मानि ।।११।।

त्रयोदश अध्याय के अंत में :-

श्रीसुक चरननदास के चरन सरोज मनाय ।
आसय श्रीभागवत मैं भाषा कीयों गाय ।।१९।।
जब लग घर अंबर अटल तव लगि चिर जुत वंस ।
राजा राव प्रताप भुव राज करो प्रभु अंस ।।२०।।
राजा राव प्रताप को छाजूराम दिवान ।
संतति संपति जुत सु नित होउ तेज सम भान ।।२१।।
इति श्री भागवन पुराणे द्वादस स्कंधे भाषा राव राजा श्री प्रताप
सिंहस्य तुरसीराम श्री कवँरजी श्री कृष्णवल्लभजी चिरंजीव ।।सं. १८५८
मिती ज्येष्ठ सुदी २ श्रीरामजी । बैरिगढ़ मध्य पठनार्थ ।।

उपर्युक्त पंक्तियों में केवल भागवत के प्रथम स्कंध का ही भाग है। और जितने भी भाग हैं उनके अंतिम भाग में कोई विशिष्ट सूचना मिल सके ऐसी ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती। पर हाँ, भागवत की सामाप्ति पर कवि ने जो अंतिम प्रशस्ति दी है वह महत्त्व की है उसके उद्धरण देने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता :-

दशम स्कंध का अंतिम भाग—

कूरम कुल मधि प्रगट नृपति जोरावरसिंह वर।
अंवरीष ज्यौं भक्ति दीन जिनमें करुणाकर ॥
भयं महव्वतसिंह पुत्र तिन कें सु महारथ।
राजा राव प्रतापसिंह तिनि सुत सम पारथ ॥
अरि प्रबल निवल कीनैं जु निसि निज भुज दंड प्रताप करि।
भनि नागर अटल सुरेश ज्यों रहौ सदा सिर छत्र धरि ॥३४॥

दोहा

साह फकीर जु दास के बालकृष्ण सुत जान।
तिन के छाजूराम जू हरि जन माझ प्रधान ॥३५॥

छप्पय

छाजूराम दिवान राव राजौ के प्रतिनिधि।
दई कृपा करि ताहि भक्त लषि ईस सकल सिधि ॥
दाता करन समान सूर जाहर जग गायो।
गोदानन के काज मनौं मृगफिरि घर आयौ ॥
तिनि बहु पुरान मो सौं सुने असन वसन बहु भेंट दिय ॥
तिहिं हेत सुतौ भागवत में छंद रीति भाषा करिय ॥३६॥

दोहा

छंद अनुक्रम तें तहाँ जो कुछु अधिकौ होय।
कथा अरथ मैंने कियौ कवि कुल सोधौ सोइ ॥३७॥

इति श्रीभागवते महापुराने दसम स्कंघे भाषा राव राजा श्री प्रतापसिंह दीवान छाजूरामार्थ नागरीदासेन कृतं कृष्णलीला चरितानुवर्णनं नाम नवमो अध्याय ९०। संवत् १८५८ मिती वैसाख मासे कृष्ण पक्षे षष्टम्यां सूर्यवासरे लिषपितं लाला किसनवल्लभ हेतवे शुभं भवतु कल्याणमस्तु श्री
यादृशं पुस्तकं दृष्टवा तादृशं लिख्यतं मया
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ॥१॥ १
करि कटि ग्रीवा नैंन पुष, बहु दुष सहत सुजान
लिख्यौ जात अति कष्टते सठ जानत आसान ॥२॥ २
पोथी कंवरजी श्री कृष्नवल्लभजी। पठनार्थ। वैरिगढ़ मध्ये। शुभं भवतु ॥

छौनाजी महाराज

स्वामी चरणदास के ५२ शिष्यों में छौनाजी भी सम्मिलित हैं। इनके वैयक्तिक जीवन पर समुचित प्रकाश डालने वाले साधन अनुपलब्ध हैं। अपने ग्रंथ में भी कवि ने रचनाकाल नहीं दिया। अनुमान है कि ये ब्रज और राजस्थान की सीमा के निवासी थे;

कारण कि भरतपुर और वैरिगढ़ में इनके संबंध में चमत्कार-मूलक कई किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे परम योगी और सफल साधक थे। इनके साहित्य में सर्वत्र योग और अनहद-नादकी-विशद् चर्चा है। उनकी वाणी आध्यात्मिक रस से ओतप्रोत है। उनके पद्य कबीर का स्मरण करा देते हैं। उनकी अटपटी शैली उनकी आन्तरिक मस्ती का आभास देती है। अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति का आनन्द शतमुखी हो कर प्रवाहित होता है।

चरणदासी संप्रदाय के निर्गुणोपासक होते हुए भी छौनाजी ने सगुण का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। आभूषण और अलंकारों का इतना सजीव वर्णन कम-से-कम निर्गुण संत तो और कोई शायद ही कर सके। तात्पर्य, ये कवि और साधक दोनों हैं। साधकत्व धर्म प्रधान है, कवित्व गौण। तभी इन्होंने सरलतम शब्दावली में उच्च कोटि के तत्वज्ञान और योग के गहन तत्वों को ऐसी शैली में लिखा है कि सामान्य जन भी लाभान्वित हो सकें। इनके साहित्य में आत्मा का रस बह रहा है। साहित्य समाज का प्रतिबिंब है तो संत-साहित्य आत्मा का अनिर्वचनीय रस है।

छौनाजी महाराज कोई बहुत बड़े साहित्यिक ग्रंथकार नहीं थे। परन्तु आत्मानुभूति को व्यक्त करने वाले कलाकार थे। साधना की मस्ती से जो कुछ निकल पड़ा वही साहित्य हो गया। उन्होंने लिखने के लिये नहीं लिखा पर कुछ तत्त्व था जिसके लिये दान देना पड़ा। इनकी प्रथम कृति गुरु-शिष्य की प्रश्नोत्तरी के रूप में है, जो 'षटरूपमुक्ति गुरचेले की गोष्ट' नाम से विख्यात है। इसमें छ: प्रकार के मुक्ति से संबद्ध प्रश्न छौनाजी ने किये हैं और उनके प्रत्युत्तर चरणदास जी ने दिये हैं। ग्रंथ लगता तो सामान्य है परन्तु साधक के लिये इस में मार्ग-दर्शन पर्याप्त है। स्थानाभाववशात् षटमुक्ति के विवेचन की ओर न जाकर केवल नामोल्लेख ही पर्याप्त होगा। सालोक मुक्ति (पद्य ६४), सामीप्य मुक्ति (पद्य सं. २९), सारूप मुक्ति (पद्य सं. ५), सायुज मुक्ति (पद्य सं २४), विदेह मुक्ति (पद्य सं १२) और जीवन मुक्ति (पद्य सं. १२) का सरल विवेचन है। दोहा, चौपाई और एक छंद कुंडलिया है। भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रज है। ग्रंथ का आदि अंत भाग इस प्रकार है :-

आदि भाग--

छप्पय

बोध रूप सो पुरुष महा विज्ञान उजागर ।
अज्ञान तिमर कूं दूर करन ज्यों कोट प्रभाकर ॥
सो वे जनक बिदेह-देह जिन न्यारी कीन्हीं ।
रहे राज के मांहि सुरत कबहूँ नहि दीन्हीं ॥
जिन के सिष सुषदेव हैं भगवत मत परगट कियो ।
चरनदास परनाम करि तन मन धन वारन दियो ॥१॥

गंग जमन के बीच जहाँ निज डेरा दीन्हाँ ।
मन माता बहु रूप वेंच अपबस करि लीन्हाँ ॥

उठा सब्द घनघोर तूर अनहद धुन बाजा ।
जीते पँाच पचीस भयो पूरन सब काजा ।।
अष्ट जोग कूं साध तुम भये रूप अद्‌भुत वरन ।
जा छौनां परनाम करि सु चर्नदास त्यारन तिरन ।।२।।

अन्त भाग—

चौपाई

ब्रह्म होगी ब्रह्म हो गल तानैं। याका भेद गुरुसे जानैं।।
अमल चढ़ै आपै ब्रह्म होई। आपै ब्रह्म ब्रह्म जागजौई ।।१४।।
जब ही होवै जीवन मुक्ता। सिह कारन जोगी बहु जुक्ता।।
मन की करनी तन सौं न्यारी। चर्नदास कहै मोहि पियारी ।।१५।।

दोहा

छहूँ मुक्ति को भेद जो, भिन्न भिन्न कह दीन ।
जा कूं लै हिरदे धरो, छौना सिष परवीन ।।१६।।
चर्नदास के चर्न कूं, बार-बार परनाम ।
छोना के संसै हरे, दियो पर्म सुख धाम ।।१७।।
इति श्रीषटरूपमुक्तगुरचेले की गोष्ट संपूर्ण ।।

वाणी संग्रह—फुटकर पद

छौनाजी के ९७ फुटकर पद पाये जाते हैं। इनमें मानव जीवन से संबद्ध सभी विषयों का औपदेशिक संग्रह है। ये पद सर्वथा अज्ञात हैं। विज्ञों को अनुसंधान में सहायक हो सकें इस दृष्टि से सभी पदों की प्रथम पंक्ति दी जा रही है :——

	पद–पंक्ति	पद्य संख्या	राग
१.	मन मोहन आरती तोरी है	३	आरती
२.	मंगल आरती कीजै भोर	४	भैरों
३.	हसि-हसि हरिजी भोग लगावैं	६	भोग
४.	मनुवा चल बस गुरु के देसा	४	सोरठ
५.	साधो मेरी ही सब बानी	६	सोरठ
६.	म्हारै नैंना दरस पियासे हो	४	”
७.	नाथजी थे म्हारैं सिरताज	४	”
८.	मोहन मित्र सुहायो छै जी	८	”
९.	म्हँारे जगमें न कोई म्हँारे राम छे धनीजी	५	”
१०.	एक सँदेसड़ा कहियो म्हँारे बालमा सों जाय	४	”
११.	अब हम भूलिया रे बीर	४	”
१२.	अब हम झूठा जग पहिचाना	४	”

	पद–पंक्ति	पद संख्या	राग	
१३.	साधो उह पद परसिया जहाँ नहीं साहब दास	६	,,	
१४.	नगरिया बावरी रे	४	,,	
१५.	हरि रंग भीजिया साधो	४	,,	
१६.	साधो दुनिया संसा पाई	५	,,	
१७.	संतो राम भजे सोई सूरा	८	,,	
१८.	संतो गगन चढ़ा मन मेरा	५	,,	
१९.	भौसागर सेती अब कै लीजो उबार	४	,,	
२०.	मोहन चित काचो रहेली	४	,,	
२१.	कासों होरी षेलिये	५	होली	नाधासिर
२२.	साधो अमर नगर के माँहि होरी षेलिये	८	होली	धनासिर
२३.	अरे होली षेले हरि प्यारे	५	,,	,,
२४.	पिया संग होली षेल सषी री	४	,,	,,
२५.	मैं तो कबहूँ न षेलूं ऐसी होरिया	५	,,	,,
२६.	सैंया मैं तो षेलूंगी होरी	४	,,	,,
२७.	अब कैं होरी षेलिये हो	४	,,	,,
२८.	होरी षेलत रोकैं पाँच जना	४	,,	,,
२९.	होरी षेलिये हरि चित लाय रे	५	,,	,,
३०.	लाल न रंग रथी कोई	५	होली	
३१.	षेलो री जुगत सौं होरी	४	,,	
३२.	हूवाँ षेलत हरिजन प्यारे	४	,,	
३३.	मोहि घरि अँगनाँ नाँ सुहाय री	५	,,	
३४.	यह जग झूठ बनो भाई	३	,,	
३५.	उस पार ब्रह्म को ऐसो गाँव	४	वसंत	
३६.	मन अगमपुरी षेलौ वसंत	५	,,	
३७.	मन हरि के संग षेलौ वसंत	५	,,	
३८.	रे मन मेरी बीनती हरि सों चित लैयो	७	बिलावल	
३९.	मन भोंदू अब जाग रे कहा मर्म भुलाया	८	,,	
४०.	या संसार असार या में मति पागो	५	,,	
४१.	जोगी एक गगन मंडल में बैठा	४	आसावरी	
४२.	मेरी मटकी छाँड़ कन्हाई	७	बिलावल	
४३.	हे तिस्ना अति मतवारी	६	सीठना	
४४.	माया ठगनी है झूठा सा कजिया	५	,,	
४५.	तुम देषौ पद निर्बान	७	,,	
४६.	मनुवा राम चरन चित लाव रे	५	सारंग	

	पद–पंक्ति	पद संख्या	राग
४७.	मनुवा राम नाम रस पीजै	४	"
४८.	दुनियाँ डूबी काली धार	५	"
४९.	अरे नर झूठो जगत कौ नेह	५	पूरबी
५०.	अरे जीवना सुपना रे	४	काफी ख्याल
५१.	यह मुलक बिगाना है वे यारो	४	बिहागडा
५२.	जिन षोजा जिन पाया मेरा प्रभु	३	बिहाग वा ख्याल
५३.	हरिजी दुनियाँ क्यों विसराई	५	बिहागडा
५४.	नंदलाल तुम्हारी गत पाई न परै	५	ख्याल
५५.	तू भज ले हरि का नाम	४	"
५६.	मोहि जाना वाही देस	४	"
५७.	कौन कहै तेरी बातें हरि साध मिले बिन	५	"
५८.	हरि कों बड़भागी कोई गावै		कल्यान
५९.	ऐसे जानें हो राम कौं	५	परज
६०.	महल दिषायौ हो गर म्हारे	५	"
६१.	राम मोहि सबसों प्यारा	५	"
६२.	बिन जानें श्री भगवान के	४	कल्यान
६३.	अचल पुरस कौं सेव आन सब ही तजो	१२	मंगल
६४.	होरी षेलिये हरि चित लाय	४	होली
६५.	हमारी हरि अरज सुनो	४	
६६.	उस रामजी के भावने की कौन सी बात		
६७.	अब तेरा दाव बनो है	५	
६८.	अब तो पियारे लाल मेरी सुध लीजिये	४	
६९.	यह मन के कहे री बीर	४	
७०.	अब मैं अपना साहिब पाया	४	
७१.	सतगुर कहा तुम्हारो जस गाऊँ	५	
७२.	हरि जी मैं तुम्हरी बलि जाऊँ		
७३.	साधो सहज समाध लगाई		
७४.	माधो अई भेद लषाया		
७५.	कान्हा दरसन दे मैं तुम पर वारी		
७६.	मेरा मन हर लिया श्रीगोपाल		
७७.	मैं कैसे हो जीऊँ तुम बिन		
७८.	मेरा मन नंदलाल स्यों अटक्यो		
७९.	सुंदर स्याम गुवाल बिना कैसें रहों		
८०.	बंसरी बजावे नंद को लाल		

पद–पंक्ति

८१. इस दुनिया में रहना नहीं
८२. कोई जानत ना हरि भेद कों
८३. रहसी म्हारो राम मिटै सब
८४. सकल में व्यापक म्हारो पीव
८५. जान लियो है रामा येजी घट बीच में
८६. सब घट में बिराजै एक ही
८७. मेंडे द्वारे आवै जाई नी एक नंद कुमार
८८. मोहन प्यारे जी म्हारी गली आवो
८९. अरी कोई या मोहन समझावै री
९०. हेली मोह चैन नहीं दिन रात
९१. हम पर मोहन बुरकी डारी
९२. साधन के सतसंग है ली
९३. निरष पियाको रूप है
९४. फिर औसर नहि होय
९५. अत ही भयो है आनन्द

छौनाजी महाराज के पद-साहित्य में रस-परिपाक चरम सीमा पर है। इनमें साहित्यिक अनुभूति भलीभाँति व्यक्त हुई है। इसका प्रकाशन नितान्त वांछनीय है। महाराज का दोहा साहित्य भी उपलब्ध होता है। उसकी संख्या नगण्य है।

अखैराम और उनका साहित्य

संत-प्रवर अखैराम भी महान् प्रभावक पुरुष थे। ये छौनाजी के शिष्य थे। प्राप्त साहित्य के आधार पर निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस परम्परा में चरणदास के बाद ये ही ऐसे संत दृष्टिगोचर होते हैं जिनका साहित्य विशाल और विविध भावनाओं का पुंज है। इनकी कविता बहुत उदार और व्यापक जान पड़ती है। ये केवल सांप्रदायिक साहित्य के प्रणेता नहीं थे अपितु आयुर्वेद पर भी आपने जीवन के अंतिम समय में वर्षों के अनुभवों को लिपिबद्ध कर इन्होंने जन साधारण का उपकार किया है। इनका अध्ययन विशाल और गंभीर जान पड़ता है। राजस्थान के बड़े-बड़े परिवार और राजाओं पर इनका प्रभाव था। इनकी पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभा के दर्शन तो साहित्यिक कृतियों से हो जाते हैं, परन्तु वैयक्तिक जीवन-संबद्ध घटनाओं का समुचित परिज्ञान हो सके, वैसे साधन नहीं मिलते। हाँ, चरणदासी संप्रदाय में यह प्रसिद्ध है कि इन्हें आत्माराम के साथ स्वमत-प्रचारार्थ जयपुर भेजा गया था। इसका एक कारण यह भी समझ में आता है कि अलवर व जयपुर के हलदिया परिवार पर चरणदासी संप्रदाय का विशेष प्रभाव था, जैसा कि नागरीदास के भागवतीय अनुवाद की प्रशस्ति से फलित होता है। छाजूराम दीवान के पुत्र खुशालीराम जयपुर में उच्च राजकीय पद पर प्रतिष्ठित थे, अतः इन्हें भी जयपुर में सभी

सुविधाएँ प्राप्त थीं। स्वामी रामरूपजी कृत 'गुरुभक्ति प्रकाश' में अखैराम का उल्लेख, उस घटना को लेकर किया गया है जिसका संबंध चरणदास के जयपुर पधारने से है। वह इस प्रकार है :—

बात प्रतापसिंह के समय की है। किसी व्यक्ति ने उनकी राज सभा में चरणदास के प्रताप की प्रशंसा की। राजा पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा और दर्शन की तीव्र उत्कंठा हुई। राजाने दिल्ली विज्ञप्ति भेजना तय किया। इतने में उसी की सभा के विशिष्ट सदस्य श्री खुशालीराम ने राजा से कहा कि उन के एक प्रशिष्य, मुझे अपना सेवक समझ कर, मेरे यहाँ रहते हैं। उनके साथ पत्र भिजवाना उचित होगा। क्रमशः अखैराम को सभा में उपस्थित किया गया और राजा ने प्रगुरु के दर्शन की आन्तरिक अभिलाषा व्यक्त की। राजा ने इस प्रसंग पर अखैराम को एक गाँव दान में दिया और प्रार्थना की कि आप कहीं न जाकर यहीं बिराजिये। प्रतापसिंह, महंत गोविंदानन्द, जगन्नाथ भट्ट, मुसाहिब खुशालीराम, और रोडाराम खवास आदि ने दिल्ली भेजने का पत्र अखैराम को सौंपा, और क्रमशः स्वामीजी जयपुर पधारे, उनका भव्य स्वागत हुआ।

(गुरुभक्ति प्रकाश पत्र २१०-२१६)

स्वामी अखैराम के निम्न ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं :—

१.	अखैसार	रचना काल	वि. सं.	१८०८	फागुण सुदि	११	
२.	विचार चरित्र	” ”	”	१८१०	फागुण की	८	शुक्रवार
३.	क्षेत्रलीला	” ”	”	१८१२	श्रावण सुदि	५	मंगलवार
४.	गंगा महातम	” ”	”	१८३२	माघ सुदि	१५	रविवार
५.	बाणगंगा महातम	” ”	”	१८४०	फागुण वदि	२	सोमवार
६.	वैद्यबोध	” ”	”	१८५०	माघ सुदि		शनिवार
७.	ग्यांनसमह						
८.	सब्द						

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि उनका साहित्य निर्माण काल वि. सं. १८०८ से १८५० तक का है। सभी ग्रंथ उच्च कोटि के विचारों से ओतप्रोत हैं; भाव, भाषा और विषय प्रतिपादन शैली की दृष्टि से अध्ययन की ठोस सामग्री उपस्थित करते हैं। विशेष परिचयार्थ कृतियों के आदि और अंत भाग, संक्षिप्त परिचय के साथ उद्धृत किये जा रहे हैं।

अखैसार

इस कृति पर छीनार्जा महाराज की शैली का प्रभाव है। गुरु-चेले की गोष्टी स्वरूप इसमें भी प्रश्नोत्तरी है। कवि की यह प्रथम कृति होते हुए भी अध्यात्म की दृष्टि से इसमें अनुभवपूर्ण विचार व्यक्त किये गए हैं। उन्तालीस पद्यों तक तो ब्रह्म, जीव, संसार और भक्ति का विवेचन है, तदनन्तर योग की प्रक्रियाओं का क्रमिक वर्णन है। नेती, धौती, त्राटक, आसन, अष्टकमलदल, मूलबंध, चार संयम, पंचमुद्रा, पाँच तत्त्व, स्थूल और सूक्ष्म शरीर, गगन मंडल, अनहद नाद, शून्य और सांख्य योग आदि विषयों पर गंभीरता के साथ

विचार किया गया है। साधना के कठिन सिद्धान्तों को सरलता के साथ लिखना, यह अखैराम जैसे साधक के लिये ही संभव था।

ग्रंथ का आदि भाग

चौपई

जनक राय के गुन कहा गाऊँ। बार बार में मैं सीस निवाऊँ॥
जिनके सिष्य सुषदेव सु सांई। ग्यान भाग प्रगटे आई॥१॥
सुषदेवजी के चर्न पियारे। चर्नदास हीय में धारे॥२॥

दोहा

चर्नदास ऐसे भये, मोक्ष मुक्त करि देत।
सुखदाई है जगत के, राषें सबसौं हेत॥३॥
गुर छींना साँचे गुरू, चर्नदास परताप।
अखैराम चेरो भयो, हरि रस पीयो पाप॥४॥
अषैसार भाष्यो तबै, मन की दुविधा षोय।

अन्त भाग—

चौपई

अषै ग्रंथ सुनै चित्त लाई। जरा मर्न को धोषो जाई॥
चौरासी में फिर नहि आवै। निरभै ह्वै राम गुन गावै॥२८॥
अषै ग्रंथ सुनै मन लाई। वढ़ै पुन्य पाप घटि जाई॥
पढ़ै सुनै और निहचै लावै। जूजी संकट बहुर न आवै॥२९॥

दोहा

अषैसार के सुनत ही, जो पढ़ि जानौ कोय।
ब्रह्म होय आनँद लहै, संक्या रहै न कोय॥३०॥
हरि तौ पूरन येक है, धरे रूप अनन्त।
सतगुर के परताप सूं, बरन्यों सार गिरंथ॥३१॥
संवत ठारहसौं अठोतरा, फागुण मास जु होय।
शुक्ल पक्ष एकादशी, ग्रंथ को है सोय॥३२॥
सार ग्रंथ ऐसे कह्यों, अषैराम आधीन।
साधुन के पग पूजि कर, यह बानी कहि दीन॥३३॥

इति श्रीअषैरामकृत अषैसार ग्रंथ संपूर्ण

इसकी पद्य संख्या १३३ है।

विचार चरित्र

अखैराम की यह दूसरी कृति चरणदासी संप्रदाय के सिद्धान्तों के विवेचन से भरी पड़ी है। इसकी पद्य संख्या ५१६ है। इसमें गुरुभक्ति, गुरुमहिमा, दया, भजन, बैराग, ज्ञान-अज्ञान, विवेक, सिद्धान्त, पतिव्रता, समदृष्टि, दिव्यदृष्टि, माया और ब्रह्म, प्रेम, सत संगत, नाम महिमा, पोथी महिमा, ब्रह्म स्तुति, विचार और दत्तात्रेय आदि का विशद् वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं विषय स्पष्टीकरणार्थ कवि ने दृष्टांतों का भी सहारा लिया है। इस कृति मे सांप्रदायिक दिनचर्या पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

आदि भाग—

चर्नदास महाराज कौ, गुरु छौना है दास।
अखैराम कूं दीजिये, बानी कौ परगास ।।१।।
मेरे हिरदे बैठि कर, तुम ही कहौ बनाय।
गुर छौना सुन लीजिये, सर्न गही मैं जाय ।।२।।

अन्त भाग—

बिचार चरित्र की कथा, भिन्न-भिन्न समझाय।
अखैराम निरनै करै, जीव ब्रह्म ह्वै जाय ।।७।।

चौपई

भूल-चूक जो यामैं होई। लेहु सँवार संत तुम सोई।।
मैं अज्ञानी बुद्ध कौ हीनौं। सतगुर किरपा सौं यह कीनौं ।।८।।
पढ़ै सुनै साधू जन कोई। सर्व अंग कूं जानै सोई।।
बिचार चरित्र को करै बिचारा। भवसागर सौं होवे पारा ।।९।।

दोहा

अखैराम की बीनती, सुनियौ बारंबार।
घट बध यामैं चूक होय, दीजौ संत सुधार ।।१०।।
संबत (१८१०) ठारहसै दसोत्तरा फाग मास यों जान।
आठैं शुकरवार कौं कह्यों बिचार प्रवान ।।११।।

इति श्री बिचारचरित्र अखैरामकृत संपूर्ण

क्षेत्रलीला

चरणदासी संप्रदाय में इसी नाम की एक कृति चरणदास के नाम से विख्यात है और वह प्रकाशित भी हो चुकी है, परन्तु यह अखैराम की रचना है। इसमें भगवान कृष्ण की ब्रजलीलाओं का भावपूर्ण वर्णन है। पद्य-संख्या २७१ है।

आदि भाग—

चौपई

जनकराय सब सुष के दाता। जो प्रगटे पुन आय विधाता ।।
सब विध राज करैं जग माँही। सुरत रहैं हरि चर्नन पाहीं ।।१।।
जनकराय के श्रीसुषदेवा। जाकी सुरनर लहैं न सेवा ।।
जित इंद्री अरु ज्ञान अपारा। कोट भान कौ सो विस्तारा ।।२।।

दोहा

चर्नदास सुषदेव के, चर्न गहे चित लाय।
जब इन पर किरपा करी, दियो ज्ञान समझाय ।।३।।

अन्त भाग—

चौपई

संबत अठारहसे बारहोतरो जानौ। सॉवन सुद पाँचे पहचानौं ।।
मंगलवार कूं सोई। क्षेत्रलीला संपूरन होई ।।२७०।।

दोहा

गुर छौना की कृपा सूं, लीला कही विस्तार।
जो कोई सीषै सुनै, अषै उतरे पार ।।२७१।।
इति श्री अषै राम कृत क्षेत्रलीला संपूर्ण

बाणगंगा महातम

आदि भाग—

छप्पै

स्वयं सच्चिदानंद कंद निरद्वंद सिद्ध वय।
अज अपार निज सार बिस्व आधार सकल मय ।।
अगम अगाध अनादि आद मध्य अति बिर्बजित।
बंदारक रिषमुनी जक्ष गंधरव सब सिरजित ।।
पंचभूत तिरये गुन सफुट कूट स्थान अचलौ हरी।
तास रूपकूं अषैराम कर जुगल जोर बंदन करी ।।१।।

दोहा

अज्ञ तिमर जे अंध नर, अंजन तज्ञ सलाक।
सो गुरु आजै दृग षुलत, बंदू मन कर्म बाक ।।२।।
श्रीगुर चरनदास पद पावन। महाघोर अघ पाप नसावन ।।

बंदन करूँ उभय कर जोरी। तातैं मति पिवत्र ह्वै मेरी ॥९॥
श्रीसतगुर गुर छौना दाता। हरि के भक्त जक्त विख्याता।
अषैराम गही ताकी सरना। दोउ दुष मंटे जामन मरना ॥१०॥

अन्त भाग—

राम रंग मन वच कर्म, सुभ चिंतक निस बास।
अषैराम स्वामी बिभौ, बिधौं भक्त बिलास ॥
संबत अठारहसै भये, पुनि बीते चालीस।
फागुन बदि दोयजि सुतिथि, सुम बासर रजनीस ॥
इति श्री अषैराम कृत बाणगंगा महातम भारत इतिहासे
बाणगंगा महातम संपूर्ण। लिपिकृतं ब्राह्मण चतुरभुज बासी कामबन मध्ये।

वैद्यबोध

स्वामी अखैराम न केवल आध्यात्मिक साधक ही थे अपितु इस लोक के प्रति भी सर्वथा उदासीन न थे। वे जिस प्रकार जनता को पारलौकिक चिन्तन की ओर अग्रसर करने की क्षमता रखते थे, वैसे ही जन स्वास्थ्य के प्रति भी पूर्ण जागरूक थे। 'वैद्य बोध' उनकी औदार्यपूर्ण भावना का स्पष्ट उदाहरण है। उनका आयुर्वेद विषयक ज्ञान कितना उच्च कोटि का था, यह ग्रंथ के अंतःपरीक्षण से स्पष्ट विदित हो जाता है। इस कृति में कविवर ने अपना चिराचरित अनुभव तो व्यक्त किया ही है, साथ ही अपने मत की पुष्टि के लिये 'वृन्द विनोद', 'भावप्रकाश', 'सन्निपात लक्षण', 'ज्वरदर्पण', 'त्रिशती', 'योगचिन्तामणि', 'योग शतक', 'वीरसिंहावलोक', 'कालज्ञान कुमार तंत्र' और 'बालचिकित्सा' जैसे प्रामाणिक ग्रंथो के उद्धरण दिये हैं। कौन सा प्रयोग कहाँ से लिया गया है इसकी सूचना सर्वत्र विद्यमान है। पारम्परिक योग भी दिये हैं। ग्रंथ की रचना करते समय कवि ने दो बातों की और विशेष ध्यान दिया प्रतीत होता है, एक तो यह कि रोगों में प्रयुक्त औषधियाँ राजस्थानीय हैं और रोग भी विशेषतः राजस्थान के ही हैं। अध्ययन और अनुभूति का इसमें समन्वय है। इसकी रचना कवि ने जयपुर नगर में की है। ऐसा पता चलता है कि कवि ने इसे वृद्धावस्था में निर्मित किया है। तभी तो परिपक्व मस्तिष्क निखर उठा है।

आदि भाग—

छप्पै

एक रदन गजबदन सकल तत्वारथभ्यासी।
जोग जुक्ति अहि निसी भाल इक चंद प्रकासी ॥
पाटंबर बनि पोति हुदै दरसीइ हुआ छिय।
भुज कंकण नो कांति लाल मुक्ताह लसै छिय ॥
अषैराम गनपति सुमरि बुद्धि अरवं बल दीजिये।
सरस उकति इच्छा तणी नवित प्रणय तुव किज्जिये ॥१॥
अथ सुषदेवजी कूं स्तुति करत है

दोहा

दिग अंबर द्विज पुत्र है, ध्यावै अलष अनेव।
लोक तीन में गति सदा, जय जय श्री सुषदेव ॥२॥

बहुरि हरिदेवजी कूं स्तुति करत है

जै जै श्रीहरिदेवजी, तुम देवन के देव।
तुम सेवन पातक नसै, लहूं अमर पुर भेव ॥३॥
निराकार आकार हैं, अगम अगोचर देव।
कई रूप निह रूप हो, काइय न पावै भेव ॥४॥
गुर किरपा जानी यही, हरि बिन और न कोय।
थिर चर कीट प्रजंत में, व्याप रह्यौ हरि सोय ॥५॥

बहुरि चरणदासजी कूं स्तुति करत है :-

चरणदास सतगुर तणा, चरण नमूं निस दीस।
अलिय बिघन दूरै हरैं, निश्चय जानि जगीस ॥६॥

बहुरि गुर छौना कौ स्तुति करत है :-

गुर छौना गुर आगरै, दया दृष्टि अति सार।
ताहि कृपा करि कीजिये, वैद्यग्रंथ विस्तार ॥७॥
गुर छौना किरपा करौ, लहूँ ग्रंथ कौ भेव।
बुद्धि सुद्धि मोहि दीजिये, अविनासी गुरदेव ॥८॥
गुर छौना परताप सूं, तम अग्यान नसाय।
गुपत बात परगट लहै, आनंद नाहि समाय ॥९॥
अषैराम के सतगुरु, गुरु छौना सुषकंद।
चिंता टारन भै हरन, मेटत सब दुष दंद ॥१०॥
तुच्छ बुद्धि मम अल्प है, ग्रंथ करन कौ चाव।
जैसे पिंगल पुरुस कौ गिर चढ़िबे कौ ह्याव ॥११॥
अषैराम की बीनती गुरु ईसुर सुचि लेहु।
बुद्धि सुद्ध सुष धाम कै मोहि रदे सुष देहु ॥१२॥
बारबार परनाम करि कर जोरूँ सिर नाय।
सतगुर तुम्हरी सर्न हौं सब संदेह मिटाय ॥१३॥

अरु बहु ग्रंथ विचारै जोई। निरघंट चर्क आदि दे सोई ॥
वृंद और फुनि गंज विचारौ। भावप्रकाश आदि सब धारौ ॥३६॥
त्रिसती जोग-चिंतामणि जानौ। संनिपात कलिका तुम जानौ ॥
ज्वरदर्पण फुनि कहियै सोई। योग सत सारंगधर होई ॥३७॥
वीरसिंह अवलोकन कहिये। कालग्यान निदान जु लहिये ॥
इन ग्रंथन कौ सार विचार्यौ। वैद्यबोध ग्रंथ विस्तार्यौ ॥३८॥

चौपई

वैद्यबोध यह नाम वषान्यौ। बहुत ग्रंथ कौ भेद जु ठान्यौं ।।
मम मति अल्प कहाउ न माना। ग्रंथ अपार अब्धि सम जाना ।।१।।
गुरु किरपा तै ग्यान लह्यौ है। वैद्यबोध इह ग्रंथ कह्यौ है ।।
पुनि वय देषि चिकित्सा कीजै। युक्तायुक्त विचार जु दीजै ।।२।।
देस काल अरु वन्हि विचारौ। व्याधि औषधी सब चित धारौ ।।
इह विचार करि दीजे सोई। अखैराम भाषित इह होई ।।३।।
पारवती शिव हृदय विराजै। कृष्ण वक्ष कमला साजै ।।
तावत ग्रंथ धरा परि सोहै। भिषक चित में मंगल होहै ।।४।।

अथ ग्रंथ वचन :–

तैल नीर मिषो जु कहेई। इनसे रिक्षा करि तुम लेई ।।
सिथल बंध तै रिक्षा कीज्यो। मूढ़ धीय कै कर मति दीज्यो ।।१।।

अथ संवतादि :–

छप्पै

ख-सर-नाग-तुम जानि रूप धरि संवत कहियै।
माघ मास सुनि नाम पक्ष प्रथमा सुष लहियै ।।
पुवि विरंचि तिथि जानि सूर्य सुत वार वषानूं।
ता दिन ग्रंथ समाप्ति होत अति हर्षित जानूं ।।
श्री सवाई जयनगर में ग्रंथ पूर्णता जानिये।
गुर प्रसाद तै इह सही वैद्यबोध वषांनिये ।।

इति श्री अखैराम कृत वैद्यबोध भाषायां वात रक्त उरूस्थंभन आम वात सूल परणाम सूल उदावर्त हृदरोग मूत्रकृछ्रादि प्रमेह भेद प्लीह सफोदर विद्धि उपदंस कुष्ट क्रम मस्तकादि स्त्री-बाल-विष रोग वाजीकरणादि द्रव्य वर्णनो नाम पंचमसमुद्देशः ।।५।।

ग्यांन समूह

इस कृति में कवि ने चरणदासी संप्रदाय के सिद्धान्त और उपासनादिक के विधान को स्पष्ट करते हुए परमेश्वर, सतगुरु, दत्तात्रेय महिमा, ब्रह्मचर्य, वेदान्त, पंचशास्त्र, मंत्र महिमा, राम वशिष्ठ संवाद, वृंदावन वर्णन, चौवीस अवतार और तत्त्वचर्चा के महत्त्व पर मार्मिक प्रकाश डाला है। कवि इस कृति को अपनी समस्त कृतियों में सर्वश्रेष्ठ घोषित करता है :—

ग्यांन समूह रस जो चषै, सत संगति करि लेह।
सब पोथिन कौ तत्त्व है, भाजन मन करि देह ।।

(ज्ञान समूह पद्य ७)

अखैराम का संस्कृत का अध्ययन गंभीर मालूम पड़ता है। यों तो वेदान्त पर जो विचार उन्होंने

प्रकट किए हैं वे उनके पांडित्य के प्रमाण हैं ही, पर हठ और राजयोग पर भी जैसा प्रकाश डाला है, वह इस बातका प्रमाण है कि एतद्विषयक मूल ग्रंथों का उन्होंने परिशीलन किया था। गुरु-स्तुति वाले प्रकरण का एक पद्य महिम्न स्तोत्र के प्रभाव को लिये है—

कवित्त

सकल गिर स्याही सिंध पात्र में घोलि पत्र उरवी सँवारी कीजिये।
जेते तरवर साषनी लिषत सारदा सर्व काल सरसुती बाक अनमै प्रेम रसभीजिये।।
जस अरु गुन कहाँ लों वषान करैं जन पुदगल सो ब्रह्म कीये ताकी पट तरकों न दीजिये।
तदपि तुम गुन रूप न जानें जांहि सैनहूबी महिमा ताहि समझि समझि रीझिये।।

पूरा ग्रंथ गुरु शिष्य की प्रश्नोत्तरी का प्रतीक है।

आदि भाग–

छप्पै

गुर छौंना गुरदेवजी त्यारन तिरन दयाल।
ग्यान वंत गंभीर संप्रदा मध्य उजागर।।
जिन प्रगट करी हरि भक्ति जुक्त विज्ञान में नागर।
जो जन आयो सर्न तासकी चाह मिटाई।।
दसधा आनिन की टेक विवेक भरपूर गुसांई।
सब अंगी उपदेस दे बहुत नर किहैं निहाल।।
गुर छौनां गुरदेवजी त्यारन तिरन दयाल।।१।।

अन्त भाग

ग्यांनसमूह ग्रंथ फल इंम्रत फल परपक्व।
जो चाषै सो अभै ह्वे यामें नाही सक्क।।२९।।
कामधेन अरु कलपव्रक्ष चिन्तामनि यह ग्रंथ।
जो चाहै सो फल लहे न रहे संदेह हिये ग्रंथ।
अषैराम रामकृष्ण ने कह्यो जगत सुष हेत।।३०।।
कहे सुनै सीषै पढ़ै, सो होवे तत्वबेत।।३१।।

इति श्री ग्यानसमूह ग्रंथ अषैराम रामकृष्ण कृत उपदेस बर्ननं नाम एकादशो भागः ११

इस अन्तिम पंक्ति से इतना पता लगता है कि उनके पिता का नाम रामकृष्ण था।

सबद

'सबद' का संत साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। यह संयोग की बात है कि कवि ने इसके निर्माण में, संख्या की दृष्टि से, अपने गुरु छौनाजी महाराज का अनुकरण किया है, ऐसा जान पड़ता है। छौनाजी की वाणियाँ ९७ मिलीं हैं और उतनी ही अखैराम की उपलब्ध हुई हैं। वर्णन और शैली में यद्यपि कविवर गुरुजी से आगे निकल गये हैं, परन्तु जहाँ तक

भाव का प्रश्न है वह छौनाजी से समता नहीं कर सकता। लीला और भक्ति के साथ आध्यात्मिक भावों को भी व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है, पर जितनी सफलता कवि को ग्रंथ-रचना में मिली है उतनी वाणी में नहीं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें कवित्व का अभाव है। मेरा विचार तो था कि छौनाजी के समान इनकी वाणियों की सूची भी दे दूं पर निबंध के बढ़ते हुए कलेवर को देख कर लोभ संवरण करना पड़ा। एक वाणी उद्धृत करना उचित होगा—

राग आसावरी

साधौ ऐसा ग्यान बिचारो, तातं उलट पंथ निहारो
गागर के ऊपर पनिहारी, कूवा नेजू मांही।
बेल चढ़्यो किलिया के ऊपर, कुहड़ चाक कं मांही ॥१॥
वरखौ मेह भीज गया पानी, षेती भई अकासा।
डोचा चढ़ा पालकी ऊपर, पंछी भये उवासा ॥२॥
धरती चढ़ी गगन के ऊपर, चंद सूर लिये साथा।
माया चढ़ी पुरस के ऊपर, ऐसी करी बिधाता ॥३॥
षस दाने में मेर समाया, चीटी ने हसती जाया।
जो ग्यानी या मतकूं बूझं, और सकल भरमाया ॥४॥
गुर छोना ने भेद बताया, यह पद है निर्बाना।
अषैराम कोई सुगरा पहुंचै, मिट गयो आवा जावा ॥५॥

संत हरिदास

ये अखैराम के गुरुभाई और छौनाजी के शिष्य थे। इनकी कोई महाकाय कृति उपलब्ध नहीं है। केवल वाणी ही मिलती है जो उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का सफल प्रतिनिधित्व कर सकती है। सचमुच ये भी बहुत बड़े साधक और कवि थे। उनका कवित्व भावना का परम प्रतीक है। इनके १८ पद, १८ वाणी और १८ कवित्त मिले हैं। इनके साहित्य में भाव-गांभीर्य पर्याप्त है। इसमें घनघोर निर्गुण विचारधारा भरी पड़ी है।

चेतराम

ये कवि स्वामी अखैराम के शिष्य थे। इनका वरणचरित्र उपलब्ध हुआ है। इसमें अति संक्षेप में वरुण की कथा का वर्णन है। पद्य-संख्या ६३ है। रचना-काल सूचित नहीं किया है, पर उन्नीसवीं शती की रचना है।

आदिभाग

दोहा

कुमत हरन मंगल करन नमो नमो गुरदेव।
चेतन तुमरी सरन हं सबं बतावो भेव ॥१॥

चेतन पर किरपा करौ, अखैराम गुर ईस।
मम हिरदै निसदिन रहै, परमातम जगदीस ॥२॥
जग चेतन बिनती करै, मैं तुमरो आधीन।
अखैराम गुरदेवजी, बुद्ध सुद्ध सुष दीन ॥३॥
बरन चरित्तर की कथा, मो मुष कहौ बनाय।
उक्त जुक्त अच्छर सरत, कृपा करो चितलाय ॥४॥

अन्तिम भाग

बरन चरित्तर की कथा, पढ़ै सुनै जो कोय।
भक्ति बढ़ै आनँद लहै, मुक्त सरूपी होय ॥६०॥
चेतराम आधीन है सब संतन को दास।
गुर हम पर किरपा करी, कहौ बरन परगास ॥६१॥
अखैराम गुरुदेव के, सुषदाई हैं बैंन।
चेतराम दरसन किये, तृपत होत हैं नैंन ॥६२॥
चेतराम बिनती करै, सुनियौ बारं-बार।
अस्त-बिस्त कहुं बेग ह्वै, दीजो संत सुधार ॥६३॥

इतिश्रीबर्णचरित्र संपूर्ण।

बाई खुशालां

खुशालां बाई स्वामी अखैराम की शिष्या थीं। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। ये भी दयाबाई और सहजो बाई के समान साधिका और कवयित्री थीं। इनके व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालने वाले साधन नहीं हैं। हाँ, इन्होंने अपने ग्रंथ 'बुध विलास' में स्वामी चरणदास की चर्चा करते हुए अलवर का उल्लेख किया है। संभव है वे वहीं की निवासिनी हों। किंवदन्ती है कि इनका संबंध हलदिया परिवार से रहा है, परन्तु स्पष्ट प्रमाण के अभाव में निश्चित कहना कठिन ही है। 'नरसीजी का भात' और 'बुध-विलास' इनकी कृतियाँ हैं।

हिन्दी साहित्य में 'भात' संज्ञक यह नवीन कृति है। इसमें भक्तिरस छलकता है। नरसी महेता की पुत्री के यहाँ जो भात दिया गया था, उसी की चर्चा इसमें भावपूर्ण शब्दावली में है।

जन बेगम

इसके संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, केवल इतना ही जाना जा सकता है कि यह कवयित्री चरणदासी संप्रदाय की अनुयायिनी है। इसकी एक ही कृति 'सुदामाचरित्र' उपलब्ध हो सकी है।

आदिभाग

राग मंगल छंद अष्टपदी

श्री सुषदेव दयाल दया मोपै करो।
अपनी ओर लगाय जगत व्याधा हरो ।।टेक।
चरनदास महाराज परम गुरुदेवजी।
तुम चरनन की हमरे निस दिन सेवजी ।।१।।
गुर छौनां गुरदेव परम उदार हैं।
बहु जीवन को कियो तुम्ही निस्तार हैं ।।२।।

अन्त

छंद

गुरछौनां गुरदेव कथा नीकी कही ।
मेरे मन की भूल सकल तुमनं कही ।।
गुरछौनां महाराज तुम्हें परनाम हैं ।
मोकूं कथा सुनाई अति अभिराम हैं ।।
श्रीसुदामाचरित कथा पूरी भई ।
जन बेगम कै प्रीत रहौ नित ही नई ।।
श्रीसुदामाचरित कथा नीकी लगी ।
गुरछौना परताप सकल दुरमत भीगी ।।
श्रीसुदामाचरित सकल सिरमौर हैं ।
याकी समसर नांहि कथा कोई और हैं ।।
सब साधुन कौं बहु वंदन परनाम हैं ।
जन बेगम कूं तुम चरनन विसराम हैं ।।
या गाथा में होय कछू बेकाज ही ।
दीजौ सकल सुधार तुम्हें सब लाज ही ।।
संवत ठारहसै पैंतीसा सार ही।
पोस बदि चतुरदसी ब्रिहसपत वार ही ।।
जीदौली शुभ थांन कथा यह गाइया ।
गुर छौनां सतगर नें सकल सुनाइया, ।।
इति श्री सुदामाचरित कथा संपूर्णः ।।

नरसीजी को भात

आदिभाग

अथ महाराज गुरछौनाजी के दास अषैराम दास जिनकी सिष्या बाई षुशालां कृत नरसी को भात लिष्यते।

छंद अष्टपदी

सिष वचन

नमो नमो सुषदेव नमो चरणदासजी ।
नमो नमो गुर छौन जु पुरवो आसजी ।।
नमो नमो श्रीअषैराम गुरदेवजी ।
बाई षुसालां कूं समझावो भेवजी ।।१।।
× × ×
बाई षुसालां ऊपर होहु कृपालजी ।
तुम सम दूजा और न कोई पाईया ।।६।।
हो गुर दीनदयाल कहो समझाय ।।७।।
अषैराम महाराज सकल अब गाइये ।
बाई षुसालां को संदेह मिटाइये ।।८।।

अन्त भाग

जो कोई या गाथा कूं सुन हरषावई ।
तन छूटे तब जम को दुष ना पावई ।।टेक।।
याकूं पूजै चंदन पुष्प चढ़ाय के ।
गावै ऊँचें सुरन जो प्रेम बढ़ाय कैं ।।
जो कोई याकूं पढ़ै सुनैं कर प्रीत ही ।
ता प्रानी की होय सदा ही जीत ही ।।
अषैराम सतगुर ने अति किरपा करी ।
बाई षुसालां सुन सुनकै आनँद भरी ।।
अषैराम गुर कथा कही मन भावती ।
बाई षुसालां कूं लगी अधिक सुहावती ।।
संबत ठारहसे चौंतीसा जानियैं ।
माह सुदि दसमी कूं निहचै आंनियैं ।।
शुक्रवार शुभ वार कथा पूरी भई ।
अषैराम नें बाई षुसालां सुं कही ।।
ग्यांनी पंडित साध कहूं सिर नायकैं ।
जो कछु यामें चूक सो देहु बताय कै ।।
जो कोई याकूं पढ़ै सै कर नेह कै ।
बाई षुसालां तिन चरननकी षेह हैं ।।
इति श्रीनरसी को भात बाई षुसालां कृत संपूर्ण ।

साहित्यगत ऐतिहासिक तथ्य

यद्यपि उपर्युक्त पंक्तिबद्ध समस्त साहित्य का सीधा संबंध ज्ञान, वैराग्य या चरणदासी संप्रदाय से है, परन्तु उनमें से 'भागवत' और 'बाणगंगा महात्म्य' की अन्तिम प्रशस्तियाँ

तात्कालिक विशेष व्यक्तियों के इतिहास पर भी सामान्य प्रकाश डालतीं हैं। अतः उनका विशेष महत्त्व है। दोनों में हल्दिया परिवार के दो विशेष व्यक्तियों का व्यक्तित्व (उर्जस्वल व्यक्तित्व), प्रताप व वैभव वर्णित है। इसका उल्लेख अद्यावधि कहीं भी नहीं हुआ। साधक कवि नागरीदास ने शाह छाजूराम का संक्षिप्त परिचय भागवतानुवाद के आदि और अन्त में दिया है। वह इतना वास्तविक और संतुलित है कि उसमें वैयक्तिक प्रशंसा या अत्युक्ति जैसी कोई भावना नहीं है। साहित्य को ही सीमित शब्दों में व्यक्त कर कवि ने आत्मसम्मान की रक्षा की है। ठीक इसके विपरीत प्रस्तुत कवि के भ्रातृ–शिष्य अखैराम ने शाह छाजूराम के पुत्र खुसालीराम और उनकी संतति की खुले हृदय से अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा गाई है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि यह परिवार छाजूराम से ही चरणदासी संप्रदाय के संपर्क में आया और इतना आया कि अल्प समय में ही वह संपर्क घनिष्टतम संबंध के रूप में परिणत हो गया। इसके प्रमाणस्वरूप उपर्युक्त प्रशस्तियाँ और 'गुरुभक्ति प्रकाश' तो है ही, साथ ही सबसे मत्हवपूर्ण प्रमाण यह है कि उनके परिवार के सदस्य श्री. राधामोहनजी के पास चरणदासी संप्रदाय के संतों के शताधिक पत्र और राज्य की ओर से उन्हें प्राप्त सुविधाओं के पट्टे विद्यमान हैं। इस संप्रदाय का जो ज्ञात साहित्य इस निबन्ध की आत्मा है, उसका बहुत बड़ा भाग हल्दिया परिवार के कथित सदस्य द्वारा ही प्राप्त हुआ है। मेरा अनुमान यह है कि यदि इस परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा रक्षित पुरातन साहित्य व बहीखातों का गम्भीर अन्वेषण किया जाय तो निस्संदेह चरणदासी संप्रदाय से संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियाँ व नूतन तथ्य उपलब्ध किये जा सकते हैं।

हल्दिया परिवार मूलतः किस परम्परा का अनुगामी था यह कहना कठिन है, क्योंकि वर्तमान में इसके सदस्य रामाश्रयी शाखा के उपासक हैं।

स्वामी अखैराम का साधनास्थान जयपुर रहा है, जैसा कि 'गुरुभक्ति प्रकाश' से सिद्ध है। अतः उन्होंने 'बाणगंगा महात्म्य' के अन्तिम भाग में जयपुर नरेश जयसिंह, माधोसिंह और प्रतापसिंह आदि की प्रशंसा करते हुए हल्दिया परिवार की गौरव-गाथा को लिपिबद्ध किया है और जयपुर नगर के नगर-रचना-सौन्दर्य, हाट, चौपड़ सुरम्य वीथिकाएं, भवन, विशिष्ट स्थान एवं मठ–महन्तों में गोविन्दनन्द और बालानन्द के गलता-स्थित स्थानों की विशेष चर्चा की है। इन दोनों महन्तों की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है।

हल्दिया परिवार के पूर्व वृत्त पर मार्मिक प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ व शीलोत्कृत उल्लेख अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुए। समसामयिक राजकीय कागजों पर इस वंश के परम पराक्रमी, प्रतापी पुरुषों के सुकृत उल्लिखित हैं। अन्वेषण करने पर विदित हुआ कि छाजूराम के पूर्वज हल्दी घाटी के भयंकर युद्ध में लड़े थे। अतः उनकी संतान हल्दिया कहलाने लगी। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें कितना सत्य है, नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतना अवश्य है कि छाजू राम और उनकी वंश परंपरा बड़े वीर और योद्धा के रूप में राजस्थान में, विशेषकर मेवात मंडल में, प्रसिद्ध रही है। यह खंडेलवाल वणिक् होते हुए भी क्षत्रियोचित वीरत्व के गौरव से मंडित हैं। जयपुर, अलवर, भरतपुर और किशनगढ़

आदि की दुर्जय लड़ाइयों में इन्होंने जिस शूरत्व का परिचय दिया वह इनके पूर्वजों की ऊर्जस्वल कीर्तिलता को पल्लवित करता है। सूचित प्रदेशों के शासकों से इनका इतना आन्तरिक परिचय था कि राजनैतिक षड्यन्त्रों में पिता-पुत्र की सम्मति आवश्यक मानी जाती थी।

छाजूराम और खुसाली राम दोनों ने राज्य की ओर से कई युद्ध किये। कई दुर्ग विजय किये, कई विद्रोह दबाये और समीपवर्ती राजाओं को समय पर उचित सहायता देकर मुगलों के अत्याचारों से रक्षा की। राव खुसाली राम तो युद्धक्षेत्र में ही किसी विश्वासघाती द्वारा सैयदपुर (कनवा के कुछ पश्चिम फतेहपुर सीकरी के निकट) में छुरी से १५ नवम्बर, सन् १७९४ ई. में मारे गये, जैसा कि फकी खैरउद्दीन इलाहाबादी के इबारतनामा से स्पष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टि से उपर्युक्त कथन में सत्यता प्रतिभासित नहीं होती। कारण, कि यह स्पष्ट हो चुका है कि वि. सं. १८४५ में छाजूराम का देहान्त हुआ और यह हल्दिया परिवार में प्रसिद्ध है कि राव खुसाली राम की मृत्यु शाह छाजूराम के सम्मुख ही हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त ईसवी सन् के अनुसार जो वि. सं. १८५१ पड़ता है वह मान्य नहीं हो सकता।

हल्दिया परिवार के वीर न केवल शारीरिक बल के ही धनी थे अपितु उनका प्रचण्ड मानसिक विकास भी चोटी का था। ये प्रसिद्धतम कूटनीतिज्ञ माने जाते थे। इन्दौर, ग्वालियर और भरतपुर की इस कार्य के लिए कई बार इन्हें लंबी यात्राएँ करनी पड़ीं। दोनों पिता और पुत्र वर्षों तक दिल्ली में राजकीय प्रतिनिधि के महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन रहे। सिन्धिया, होल्कर और भरतपुर के जाट इनका लोहा मानते थे।

शाह छाजूराम ने जयपुर में एक मन्दिर का निर्माण करवाया था जो आज भी मोती कटला में अवस्थित है। इनकी छज्जी सोरों घाट पर अवस्थित है।

राज्यकर्म के साथ इस परिवार का धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग भी कम प्रशंसनीय नहीं है। न केवल साहित्यिकों को प्रश्रय देने में ही इस परिवार ने ख्याति अर्जित की वरन् कुछ ऐसे व्यक्ति भी हुए जो स्वयं उच्चकोटि के साहित्यिक व ग्रन्थकार थे। बाई खुसालाँ इसी परिवार की ग्रन्थकर्तृ साधिका थीं। छाजूराम के प्रप्रौत्र चतुर्भुज, प्रान्तीय भाषाओं के अतिरिक्त संस्कृत आदि विद्वत्भोग्य भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे। उनका अध्ययन गम्भीर था। विविध वाङमय-उपासना का वास्तविक परिचय इनके क्लेशलब्ध ग्रन्थ 'गंगाभक्ति प्रकाश' में भलीभाँति मिल जाता है। यह संस्कृत में गद्य-पद्यात्मक कृति है। गंगा के संबंध में संस्कृत साहित्य में जहाँ कहीं भी उल्लेख आया है, उसमें से आवश्यक उल्लेखों का संकलन गम्भीर विवेचना के साथ, इस कृति में सन्निहित है। इसका निर्माण काल वि. सं. १८५३ है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार है :—

नेत्रबाणाहिचंद्राब्दे नभस्यासित पंचमी।
गुरुणा संयुता तत्र ग्रंथोयं पूर्णतामगात् ॥
राजाधिराजो जयति प्रतापी प्रतापसिंहोर्थिजनस्य भूमौ।
स्वर्गे मरुत्वानिव वांछितार्थं प्रवर्षते सूर्यकुलावतंसः ॥
[illegible] वंशाब्धि चंद्रोराज्यप्रियस्तदा ।

छाजूरामोभवद्गंगा भक्तिपारंगतंक्षितौ ।।
तस्यासन्नौरसाश्रेष्ठा विक्रमे तु ततोधिकाः ।
शौर्यौवार्याविः...स्तेजसः ।।
ज्येष्ठः ...शालीरामेते नाम्ना तेषांप्रतिष्ठितः ।
दिल्लीश्वरप्रसादश्च लब्धो येनाप्रयत्नतः ।।
तस्यानुजौ दौलतरामेति नामा प्रतापभूपेंद्रकृपाभिधानं ।
ख्यातः प्रतापैर्भुवि भाग्यशाली स्वबा... वीर्योच्छमितारिमाली ।।
ततोनुजो नंदरामेति भ्रातृ तुल्यो पराक्रमः ।
पुत्रवान् भ्रातृपुत्रैस्तु पुत्रो भक्तिपरायणः ।।
द्वयोः पुत्रान् प्रवक्ष्यामि व्याप्तं मधुमंडलं ।
ज्येष्ठस्या संस्त्रयः पुत्रास्तेषां ज्येष्ठश्चतुर्भुजः ।।
तस्यानुजौ रामलालो अग्रो बालमुकुंदकः ।
मध्यम भ्रातृ पुत्रौ द्वौ तयोर्ज्येष्ठः प्रसन्नधी ।।
सुखदेव इति ख्यातौ हरिनारायणेरतः: ।
चतुर्भुजेन ग्रंथस्य संग्रहोऽयं विनिर्मितः ।।
इति श्री गंगाभक्ति प्रकाशे श्रीगंगामा...त्म्यं संपूर्णम्
शुभंभूयात् संवत् मिति पौष कृष्णा ६ शनि युता लिखितमिदं
हरिदेवेन हुंडवनस्थेन स्वस्यैव विनोदार्थं । पत्र सं. ६९

अप्रासंगिक होते हुए भी एक बात के उल्लेख का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। इस प्रति के लेखक भी अपने समय के विद्वान् ज्योतिषी और ग्रंथकार थे। इनके रचित ग्रंथ, 'प्राकृत व्याकरण वृत्ति' और 'हिंडवन (हिंडौन) स्थिति' आदि इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में सुरक्षित हैं। 'हिंडवन स्थिति' अपने ढंग का सुन्दर ऐतिहासिक स्थिति स्पष्ट करने वाला सर्वसंग्रह है। इसमें हिन्डौन के तात्कालिक शासक, प्रसिद्ध नागरिक, प्रसिद्ध स्थान आदि पर लेखक महोदय विस्तार से प्रकाश डालते हैं। हिन्डौन की राजकीय आय के भी जो आँकड़े प्रस्तुत किये हैं वे तात्कालिक कृषि की दृष्टि से कुछ महत्त्व रखते हैं। हिन्डौन के निकटवर्ती एक दर्जन से अधिक महत्त्वपूर्ण नगरों का परिचय भी इस लघुतम कृति में सन्निहित है। मिश्र जी स्वयं संस्कृत एवं हिन्दी भाषा व साहित्य के परम मर्मज्ञ थे, जैसा कि उनकी सन्तानों के पास सुरक्षित संग्रह से ज्ञात होता है। बैर (जो भरतपुर जिले की तहसील है) में इनकी सन्तान आज भी विद्या विषयक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए है। 'गंगाभक्ति प्रकाश' और नागरीदास कृत 'भागवतानुवाद' की कृतियाँ यहीं से मुझे उपलब्ध हुई हैं।

प्रति परिचय

उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित साहित्य का बहुत बड़ा भाग एक ही गुटके में उल्लखित है। जिसकी सूची इस प्रकार है :—

१. षटरूपमुक्त गुरुचेले की गोष्ट पत्र २ = ८

२.	अर्थसार	पत्र ९ = १५
३.	ज्ञानसमूह	पत्र १५ = ३२
४.	विचार चरित्र	पत्र ३२ = ५८
५.	क्षेत्रलीला	पत्र ५८ = ७७
६.	गंगा महात्म्य	पत्र ७७ = ८९
७.	सुदामा चरित्र	पत्र ८९ = १०२
८.	वरण चरित्र	पत्र १०२ = १०६
९.	नरसीजी का भात	पत्र १०६ = ११६
१०.	बुध विलास	पत्र ११६ = १२६
११.	छौनाजी की वाणी	पत्र १२६ = १५४
१२.	अखैराम की वाणी	पत्र १५४ = १७९
१३.	हरिदास की वाणी	पत्र १७९ = १८६

गुटके का साइज ८।। × ६।। इंच है। बीस पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में २१ से २६ वर्ण हैं। दोहा, छंद, चौपाई एवं ग्रन्थ के प्रारम्भ व समाप्ति पर रक्त वर्ण का प्रयोग किया है। लिपि सुन्दर और सुपाठ्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रति हल्दिया परिवार के लिए ही विशेषरूप से लिखवाई गई होगी।

'वाणगंगा माहात्म्य' का गुटका २४६ पत्रों का है। अक्षर बड़े हैं। पंक्तियाँ १५ हैं और १३ से १५ वर्ण एक पंक्ति में हैं। साइज ८ × ६। इंच है।

उपसंहार

ऐतिहासिक शोधकों के जीवन में कभी कभी ऐसी घटनाएं घट जातीं हैं जो संस्मरण का स्थान ले लेतीं हैं। प्रस्तुत निबन्ध इसी अनुभूति का परिणाम है। सर्वप्रथम जनवरी १९५५ में बैर जाने पर नागरीदास कृत भागवत का अनुवाद उपलब्ध हुआ। तदनन्तर 'गंगाभक्ति प्रकाश' व 'वैद्य बोध' संग्रह ग्रन्थ प्राप्त हुए। उस समय मस्तिष्क ने कल्पना तक नहीं की थी कि प्रस्तुत विषय पर कुछ लिखने की चेष्टा करनी पड़ेगी। चातुर्मासार्थ जयपुर आने पर एक मार्ग पर 'हल्दियों का रास्ता' नाम पढ़ा और उपर्युक्त ग्रन्थगत हल्दिया शब्द स्मरण हो आया। हल्दिया परिवार से छाजूराम विषयक विशेष ज्ञातव्य के प्राप्त्यार्थ जाने पर १२ रचनाओं वाला गुटका अनायास ही निकल पड़ा, जो कुछ ही दिन पूर्व कबाड़ी के पास रद्दी के रूप में जाने वाला ही था। मुझे कितनी प्रसन्नता हुई, शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। संभव है अभी न केवल हल्दिया परिवार ही अपितु अलवर राज्य का इतिहास-कार्यालय भी चरणदासी संप्रदाय के साहित्य से भरा पड़ा हो। डेहरा में जहाँ तक मुझे पता लगता है पर्याप्त साहित्य सुरक्षित है। मैं कहने यह जा रहा हूँ कि नवोपलब्ध साहित्य के अतिरिक्त और भी दर्जनों ग्रन्थ उपलब्ध हो सकते हैं, जैसा कि खुसालाँ बाई के विषय में प्रचलित एक किंवदन्ती से सिद्ध होता है। ज्ञात हुआ है कि बाई खुसालाँ प्रत्येक दिन कुछ कवित्त लिखने के बाद ही आहार ग्रहण

करतीं थीं। यदि यह सत्य है तो न जाने कितनी अनुभूतियों को मानवता के विकासार्थ उन्होंने व्यक्त किया होगा। अब कहना यही रह जाता है कि इस नवोपलब्ध एवं इतिहास व सभीक्षामूलक ग्रन्थों में अनुल्लिखित साहित्य का उचित संपादन व प्रकाशन नितान्त विचारणीय है। इससे न केवल चरणदासी संप्रदाय के सिद्धान्तों पर ही नूतन प्रकाश पड़ेगा, अपितु भारतीय संत-परम्परा का अर्न्तप्रान्तीय प्रभाव कहाँ तक पड़ा है, इसका भी अनुभव होगा। उदाहरणार्थ, बिहार के दरिया साहब रचित 'ज्ञान स्वरोदय' और 'अखैसार' को तुलनात्मक दृष्टि से मैंने देखा। ऐसा लगा कि जिन विषयों को दरिया साहब ने 'ज्ञानस्वरोदय' में सूत्रात्मक रूप से उल्लिखित किया, उसी की क्रमबद्ध और सारगर्मित व्याख्या अखैराम ने ''अखैसार' में की है। और भी ग्रन्थ ऐसे तुलनामूलक अध्ययन के विषय हो सकते हैं।

श्री. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर

मलयालम भाषा की उत्पत्ति और व्यापकता

उत्तर हिन्दुस्तान में उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, राजस्थान आदि कई भाषावार खण्ड हैं। इन प्रदेशों की भाषाओं के आधार पर हम बिहारी, बंगाली, राजस्थानी और आगरे वाले को उसकी बोली से पहचान सकते हैं। मगर दक्षिण भारत के विषय में उत्तर भारत के लोगों का ज्ञान उतना सन्तोषजनक नहीं जान पड़ता। अधिकांश उत्तर भारत के लोग दक्षिण भारतभर का जो सामान्य नाम समझ लेते हैं वह है मद्रासी। उत्तर से दक्षिण में जो लोग तीर्थ, व्यापार आदि के लिए आया करते हैं वे सबको साधारणतः सेठ कहा करते हैं। मामूली आदमी तक सेठ कहलाते हैं। गरीब लोगों को कपड़ों से भी नहीं पहचानते। यही बात मद्रास के विभिन्न प्रान्तवालों के विषय में भी होती है।

मद्रास तो बहुत बड़ा प्रान्त है। करोड़ों लोग यहाँ रहते हैं। इस प्रान्त का वर्तमान विभाजन प्रान्तों तथा रियासतों के रूप में हुआ है। मैसूर, हैदराबाद और ट्रावंकोर-कोचीन की बड़ी बड़ी रियासतें मद्रास में हैं। मलाबार, तामिलनाड, आंध्रदेश और कुछ कन्नड-भाषी जिले भी मद्रास प्रान्त के भीतर आते हैं। ट्रावंकोर-कोचीन तथा मलाबार के लोग अधिकतर मलयालम बोलते हैं। मैसूर में कन्नड भाषा ही ज्यादा बोली और समझी जाती है। आंध्रदेश और हैदराबाद के कई जिलों में तेलुगू ही व्यवहार की भाषा है। परन्तु इन सब प्रदेशों में बहुत सी भाषाएँ बोलने वाले लोग रहते हैं। अंग्रेज सरकार का प्रान्त-विभाजन ही इसका कारण नहीं है, जनता की सामाजिक, सामूहिक तथा राजनीतिक प्रगति भी इसमें प्रेरक रही है। उदाहरण के लिए केरल, मद्रास प्रान्त के भीतर के मलाबार तथा बाहर ट्रावंकोर-कोचीन के सम्मिलित देश का नाम है। यहाँ तमिष बोलनेवाले ब्राह्मण और शूद्र बड़ी तादाद में मिलते हैं। शहर शहर में 'कोंकण' भाषा का व्यवहार करने वाले आदमी हैं। बोलचाल की उर्दू को प्रान्तीय प्रभाव से युक्त ढंग पर बोलनेवाले मुसलमान भाई मिलते हैं। यहाँ के व्यापारियों में रेड्डियार, नायडू आदि तेलुगूभाषी लोगों की बड़ी शान है। केरल की संस्कृति, भाषा आदि के उद्गम में इस विचित्रता ने योग दिया है।

'केरल' शब्द संस्कृत भाषा का मौलिक शब्द नहीं है। कई विद्वान 'केरल' शब्द का अर्थ एक दुरूह प्रक्रिया से निकालते हैं—केर = (नारियल) लाति = लानेवाला देश केरल। मगर यह व्युत्पत्ति अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी है। 'केरल' शब्द 'चेर' शब्द से

निकला हुआ है। 'चेर' देश का नाम है। इसके संबन्ध में ग्रिअर्सन[1] साहब कहते हैं :—

"The old Sanskrit name of the Malayālam country was Kerala, which word occurs in Malayālam in the forms Kēralam, Chēralam, Chēram. An inhabitant of the country is also called Kēlan or Kēlü. 'Kerala' occurs as early as in the Ashoka Inscriptions."

अर्थात् "मलयालम देश का पुराना संस्कृत नाम केरल था। यह शब्द मलयालम में केरलम, चेरलम और चेरम के रूप में चलता है। इस देश का निवासी केळन या केळु भी कहलाता है। 'केरळ' शब्द अशोक के पुराने शिलालेखों में मिलता है।"

प्राचीन युग में द्राविड देश तीन विभागों में विभक्त था—चेर, चोळ और पांड्य। इन तीनों देशों के लोगों को द्राविड पुकारा जाता था। शायद इसीलिये आज भी उत्तर के लोग दक्षिणवासियों को द्राविड कहा करते हैं। वैसे तो द्राविड शब्द भी संस्कृत भाषा का मौलिक शब्द नहीं है। 'द्राविड' 'तमिष' शब्द का परिवर्धित रूप है। इसके संबन्ध में केरल के प्रसिद्ध आचार्य महाकवि उल्लूर एस. परमेश्वर अय्यर की सम्मति यों है :—

"द्राविडों के व्यवहार की भाषा का सामान्य नाम 'तमिष' था। 'पिंगळनिघण्टु' के अनुसार 'तमिष' शब्द के अर्थ हैं 'मिठास' और 'विशिष्टता'। इनमें से किसी एक अर्थ में 'तमिष' का प्रयोग हुआ होगा। द्राविड शब्द की व्युत्पत्ति नीचे दिये क्रम के अनुसार है :—

तमिष > तमिळ > दमिळ > द्रमिळ > द्रमिड > द्रविड > द्राविड"

मूल द्राविड भाषा कालान्तर में उत्तरद्राविड और दक्षिणद्राविड नाम की दो शाखाओं में बँट गई। कन्नड और तेलगु उत्तर द्राविडशाखा की भाषाएँ हैं। इनमें सबसे पहले कौन सी उपशाखा मूलद्राविड से अलग हुई, यह प्रश्न अभी तक विवादास्पद है। 'कन्नड' शब्द की व्युत्पत्ति है :—

करुनाड = काली मिट्टी का देश > करुनाटम > करुनाटकम > कर्णाटम > कर्णाटकम कन्नडम।

तेलुंगु शब्द के उद्भव की बात भी अभी तक विवादयुक्त है; पर प्रसिद्ध सम्मति के अनुसार तेलुंगु शब्द का उद्गम त्रिलिंग शब्द से है। श्री परमेश्वर अय्यर[2] जी के मत में केरल शब्द के निकलने का ढंग यों है :—

चेरल = मिलन + अकम = देश = चेरलम (चेरम), चेरलम > केरळम।

केरल की भाषा का नाम है मलयाळम। मलयाळम को संस्कृत में कैरली ही कहते हैं। 'मलयाळम" शब्द के अलावा मलयालम भाषा के लिए 'मलयाण्मा' शब्द भी ग्रहीत होता है। 'मलयालम' शब्द के अर्थ पर कई मतभेद हैं, जो बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ. ग्रियर्सन कहते हैं :—

---

१. ग्रियर्सन लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, भाग ४।

२. केरल साहित्यचरित्रम् पहला भागः—उल्लूर परमेश्वर अय्यर।

"Malayālam or Malayārma (Malayāyma) is usually derived from "Mala" (mountain) and 'Alam'--a word derived from āl=to possess. The first of the word is identical with 'Mane' meaning 'whence the pepper comes.'[१]

अर्थात् "मलयाळम या मलयाय्मा शब्द 'मला' तथा 'आळम' शब्द के मिलन से उत्पन्न हुआ है। आळम शब्द आळ् अर्थात् 'शासन करना' अर्थ की धातु में व्युत्पन्न है।"

उळ्ळूर परमेश्वर अय्यर जी बतलाते हैं:– "सन ५४५ ई. में विदेशी लोग केरल की मला (पहाड़) संज्ञा का व्यवहार करते हैं। मलयालम भाषा की 'मलयाण्मा' संज्ञा का भी प्रयोग होता है। 'मलयाण्मा' शब्द का अर्थ है मलनाड (केरल) के लोगों का रीति-रिवाज।"[२]

केरळपाणिनि नाम से प्रसिद्ध स्व. आचार्य राजराजवर्माजी के अनुसार केरल मला (पहाड़) और आपि (समुद्र) के बीच का देश है। इस देश की भाषा मलयाळम या मलयाण्मा कहलाती है। अब भी लोग उपाकर्म के स्नान-संकल्प के मंत्रों में 'कृतमाला-मलयाचलपश्चिमांबोधिमध्ये'[३] जपा करते हैं। सह्यपर्वत की छत्रच्छाया में सुरक्षित और सुपुष्ट केरल प्राकृतिक सुन्दरता का अक्षय भंडार है।

नवीनतर युग के विद्वानों में विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध श्री कृष्णप्पिषारटीजी का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य डॉ. गोदवर्माजी भी शब्दशास्त्र में पारंगत थे। दोनों विद्वान् 'मलयाळम' शब्द का उद्गम 'मला' और 'आळम' के मेल से बतलाते हैं।

'मलयालम' भाषा की व्याप्ति के विषय में डॉ. गोदवर्माजी लिखते हैं:– "मलयालम भाषा उत्तर मलाबार में कासरगोड से लेकर दक्षिण में तिरुवनन्तपुरम (ट्रिवेंड्रम) से ३२ मील दूर तक्कला तक प्रधान व्यावहारिक भाषा है। दक्षिण कानरा के दक्षिणी भाग, मलाबार, कोचीन तथा तिरुवितांकूर के अधिकांश भागों में मलयाळम भाषा फैली हुई है। कालीकट से ८० मील दूर अरब सागर में स्थित लाखद्वीप की देहाती भाषा भी मलयाळम ही है। दक्षिण कानरा में मलयाळम की सीमा के उत्तर में तुळू चलती है। मलयाळम वयनाड में कुर्ग, तथा पूरब में कन्नड-तमिष् के समीप है। ट्रावंकोर के दक्षिणतम अंश में अधिकांश लोग तमिष् बोलते हैं। इसलिये यह मानना चाहिए कि मलयालम की भाषा-संबंधी दक्षिणी सीमा तमिष् है।"[४]

कासरगोड से कन्याकुमारी तक व्याप्त केरल छोटा प्रान्त नहीं है। यहाँ की आबादी अनुमानतः एक करोड़ से अधिक है। इसलिये मलयालम भाषा के एक होने पर भी बोलने-वालों के अनुसार मलयालम को दक्षिणी, मध्यम तथा उत्तरी कहते हैं। उच्चारण, मुहाविरे, शब्दार्थ आदि में तीनों भाषाभेदों में थोड़ा सा अन्तर मिलता है। ट्रिवेंड्रम का निवासी यदि ट्रिचूर[५] जावे तो उसकी बोली से उसे तुरन्त पहचाना जा सकता है। ट्रिचूर का आदमी यदि तलश्शेरी[६] जाता है तो वहाँ के लोग उससे यही पहला प्रश्न करते हैं कि

१. ग्रियर्सन लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया।
२. केरल साहित्यचरित्रम् पहला भाग- उल्लूर परमेश्वर अय्यर।
३. केरलपाणिनीयम् की भूमिका:- ए. आर राजराज वर्मा।
४. केरल भाषाविज्ञानीयम्:- डॉ. गोदवर्मा एम्. ए., पी एच. डी.
५. ट्रिचूर–कोचीन रियासत का एक प्रधान नगर।
६. तलश्शेरी उत्तरी मलबार का मशहूर शहर।

कहीं ट्रिचूर से तो नहीं आए? जैसे हमें बिहारी की हिन्दी तथा नागपुरवाले की हिन्दी में अन्तर दीख पड़ता है, वैसे ही यहाँ भी। पर बोलचाल में अन्तर होने पर भी साहित्यिक मलयालम भाषा केरल भर के लिए एक ही है। ट्रिवेंड्रम का व्यक्ति जो कहानी लिखता है वह मलाबारवाले की समझ में आ जाती है और मलाबारवाले की पुस्तकें दक्षिण केरल में समझीं और पढ़ीं जातीं हैं। जहाँ प्रादेशिक व्यवहार दिखाने के लिए खास गँवारू भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह अलग चीज है।

मलयालम भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? उसका प्रारंभिक रूप कैसा था? आदि बातों पर विचार करना आवश्यक है। अब तक जितने वैयाकरण हुए हैं उन सब ने इस विषय पर अपना अपना मत दिया है। इनमें स्व. कोवुण्णि नेटुंगाटी नामक सज्जन की सम्मति बहुत पुरानी है। उनकी राय में मलयाळम भाषा –

'संस्कृत हिमगिरिगलिता द्राविडवाणी कलिन्दजामिलिता' है[१]।

द्राविड-भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध पंडित डॉ. काल्डवेल[२] कहते हैं कि मलयालम को तमिष् की उपभाषा मानना ही होगा। तमिष् के कई आचार्य मलयालम का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते। वे कहते हैं कि मलयालम तो मलैनाट्टुत्तमिष् (पहाड़ी प्रदेश की तमिष्) है। खाली तमिष् शब्द का अर्थ कहीं कहीं ग्रंथ या साहित्य भी होता है।

डॉ. ग्रिअर्सन ने लिखा है :–

The Malayalam Language has no separate denomination. The old Aryans did not distinguish it from Tamil and it is only at a relatively modern date that it has branched off from that form of speech."

अर्थात् "मलयालम भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। पुराने आर्य इसे तमिष् से अलग नहीं मानते थे। अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में ही वह अलग शाखा बन गई है।"

केरलपाणिनि श्री. राजराजवर्माजी का मत कुछ भिन्न है। उनकी समझ में तमिष् के बारह देशगत भेद थे। उनमें पाँच देश केरल-खंड कहलाये। उन पाँच देशों की कोटुन्तमिष् (बातचीत की तमिष्) मलयालम बन गई है।[३]

भाषाविज्ञान के अनुसार तथा कई विद्वानों की सम्मति में मलयालम द्राविड गोत्र की एक स्वतंत्र भाषा है। आट्टूर कृष्णपिषारटीजी इस बात का समर्थन करते हैं कि मूल द्राविड भाषा कहलानेवाली 'मुत्तमिष्' की स्वतंत्र शाखा ही मलयाळम है। वे प्रसिद्ध द्राविड भाषाओं में प्रचलित घरेलू व्यवहार के शब्दों की तुलना करते हुए बताते हैं कि सभी द्राविड भाषाओं के शब्दों में समानता है। अतः द्राविडगोत्र को बड़ा मानना तथा मलयाळम को उस गोत्र की संतान या शाखा मानना ही उचित होगा। वे इस सिद्धान्त का खंडन करते हैं कि तमिष् के प्रभाव से भरे 'रामचरितम्' की भाषा मलयालम का प्राचीनतम उदाहरण है। वे 'रामचरितम्' के तमिष्-प्रभाव को उसके लेखक पर तमिष् भाषा के प्रभाव

१. केरल कौमुदी–कोवुण्णि नेटुंगाटी।

२. कम्पॅरेटिव ग्रेमर ऑफ दि द्रविडियन– डा. काल्डवेल।

३. केरलपाणिनीयम् की भूमिका।

का ही परिणाम समझते हैं।[1]

इसी मत का समर्थन करते हुए तथा अन्य कई प्रमाण देते हुए स्व. डॉ. अच्युत मेननजी[2] ने मलयालम की स्वतंत्रता पर जोर दिया है। "टोलमी और पेरिप्लस नामक यवन लेखक तमिषकम (तमिष का देश) का वर्णन करते हुए यह दिखाते हैं कि केरोब्रोन्तोस (केरल-पुत्र) नामक एक राजा उस तमिषकम के अधीन नहीं था। ऐसे प्रमाणों से यह अनुमान किया जा सकता है कि तमिष और मलयालम में एक प्रदेशगत कोई नाता नहीं था। चेर राजाओं की प्रभुता जब केरल में आई तभी तमिष और मलयाळम हाथ में हाथ मिलाकर सहेली बन गईं।" पुरानी देशी कविताओं और ग्राम-गीतों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हजार वर्ष पहले मलयाळम में ललित मनोहर शैली में काव्य रचना होती थी। उस दशा को मलयाळम का बचपन नहीं कहा जा सकता। डॉ. मेननजी के मत का सारांश यह है कि मलयालम भाषा के साहित्य ने, संस्कृत के आश्रय में बढ़ी हुई एक धारा, तमिष के अधीन बढ़ती हुई दूसरी धारा तथा ठेठ मलयालम की तीसरी धारा—इन तीनों की त्रिवेणी का रूप प्राप्त किया है।

उल्लूर परमेश्वर अय्यरजी एक मध्यम मार्ग का अवलंबन करते हैं। वे कहते हैं—"द्राविड भाषा दो भेदों में विभाजित हो सकती है— उत्तर-द्राविड और दक्षिण-द्राविड। कन्नड व तेलुंगु उत्तर-द्राविड कहलाती हैं, तमिष और मलयाळम दक्षिण-द्राविड। मुद्दत तक केरल पुरानी दक्षिण-द्राविड की विशेषताएँ सँभालता रहा। आगे चलकर मलयाळम चेन्तमिष प्रदेश (तमिलनाड) की व्यावहारिक भाषा से दूर हटते हटते स्वतंत्र भाषा के रूप में परिणत हो गई।"[3]

इन मत-मतान्तरों में हम दो मुख्य तत्त्व देख सकते हैं। एक दल के विद्वान् मलयाळम से तमिष की श्रेष्ठता बताना चाहते हैं। दूसरे आर्यभाषा संस्कृत का महत्त्व स्थापित करने के पक्ष में हैं। परन्तु नवीनतम वैज्ञानिक सिद्धान्त मलयालम को तमिष, कन्नड जैसी भाषाओं के समान द्राविड गोत्र की स्वतंत्र सन्तान समर्थित करते हैं।

केरल देश तमिष के संग और प्रभाव में रहा है। कई बार तमिष-राजाओं तथा केरल के राजाओं में युद्ध हुए हैं। कुछ वर्षों तक केरल का शासनचक्र चेरमान पेरुमाल नामक उपाधि के तमिष-राजाओं के अधीन रहा। इसीलिए तमिष के हजारों शब्द मलयालम में हैं। जैसे कि शुरू में कहा गया है, इस देश में बहुत देशों से लोग आते जाते रहे हैं। पुर्तगाल के वास्को ड गामा मलाबार के कालीकट शहर पर ही पहले पहल उतरे थे। उन्हीं दिनों यहाँ अरबों की नौसेना रहती थी। इसके भी पहले मुगलों के जमाने में ट्रावंकोर, कोचीन तथा मलाबार के छोटे-बड़े राजाओं तथा मुगल बादशाहों और आरकाट के नवाबों में लिखापढ़ी होती थी। इन कारणों से अरबी, फारसी, उर्दू जैसी कई भाषाओं के शब्द तथा मुहावरे मलयालम भाषा में बराबर प्रयुक्त हुए हैं।

---

१. क्रिटिकल सर्वे ऑफ मलयालम लैंग्वेज एंड लिटरेचर—प० कृष्णपिषारटी

२. प्रदक्षिणम्—डॉ. अच्युत मेनन।

३. केरल साहित्यचरित्रम्।

केरल को परशुराम का क्षेत्र कहा जाता है। परंपरा के अनुसार, परशुराम ने केरल में ब्राह्मणों को लाकर बसाया था। इस कथा की यथार्थता पर कोई भी मत हो, परंतु इतना तो निश्चित है कि केरल में किसी युग में ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। कलाएं उनके हाथों सुसमृद्ध रहीं थीं। उनकी संस्कृति तथा विचारों का प्रभुत्व भाषा पर भी पड़ा। अतएव मलयालम भाषा संस्कृत के प्रभाव से प्रभावित हुई है। मलयालम में संस्कृत के हजारों शब्द बेधड़क प्रयुक्त होते हैं। इसकी लिपि की वैज्ञानिकता और पूर्णता का एक कारण भी यही प्रभाव है।

श्री प्रभाकर माचवे

निर्गुण कविता की समाप्ति के कारण

सामान्यतः निर्गुण कविता की समाप्ति के कारण ऐतिहासिक यानी राजनैतिक बताये जाते हैं। मुस्लिम आक्रमण के पश्चात् सगुणोपासना की ओर जनता का ध्यान बढ़ा और भक्ति द्वारा उन्होंने अपने दुःख भुलाये, ऐसा सामान्य विश्वास है। परंतु निर्गुण काव्य के नष्ट होने के बीज स्वयम् उसीमें मौजूद थे। उसमें संसार-विमुखता, वैराग्य, सब चीजों को क्षणभंगुर मानने की वृत्ति, बहुत प्रबल थी। "एका वादाचा निकाल" नामक लेख में श्री. म. माटे ने (मनोहर : मराठी मासिक, अक्टूबर १९४९) इस बात के प्रमाण जुटाये हैं और बताया है कि प्रायः सभी संत इसी नकारात्मक ढंग से सोचते थे। परिणाम जो होता वह स्पष्ट है। वे उदाहरण इस प्रकार से हैं :—

नामदेव—

पुत्रकलत्रबंधू सांगाती देहाचे
मज बांधिलें मोहाचे वज्रपाशी.
संसार करितां देव जं सापडे
तरी का झाले वेडे सनकादिक ?
संसारीं असतां जरि भेटता
शुकदेव कासया जाता तयालागी ?
जळीं बुडबुडे देखतां देखतां
क्षण न लागतां दिसेनाती.
तैसा हा संसार पहातां पहातां
अंतकाळीं हाता कांहीं नाही.
जोवरी संपत्ति तोंवरी हे सखे
गेलियाते मुंके सुणे जैसें.

निवृत्ति—

संसारभ्रमें भ्रमले हे जीव
नेणती हे भाव रोहिणीची.
जाईल हा देह सरेल आयुष्य

आपोआप भविष्य उभें राहे.
वेगें करा आधी रामनाम चिंतना
जब नाहीं पाहूणा काळ आला.

ज्ञानेश्वर–

तापत्रय अग्निचा लागला वोणवा
कवण रिघे आड कवण करी सावाधावा.
संत भेटती अजि मज। या संतासि
भेटतां सरे संसाराची व्यथा
मोलाचें आयुष्य दवडितोसी वाया
माध्यानिची छाया जाय वेगें.

जनाबाई–

प्रपंचीं जो रडे ब्रह्मवन त्यातें जडे

नरहरी सोनार–

चितान्या चितरे काढे भितीवरी
तैसें जग सारे अवघे हे
पोरेंहि खेळती शेवटीं मोडती
टाकोनिया जाती आपुल्या घरा
तैसे जन सारे करिती संसार
मोहगुणे फार खरें म्हणतीं

चोखामेळा–

कोण हे अवघे सुखाचे संगति
अंतकाळीं मोती पाठमोरे
चोखा म्हणे याचा न धरी भरवसा.
जाईल हा देह वावुगाचि उगा
अभ्रिची छाया जयापरी.
असार साराचे नका पडूं भरीं
सार तेंचि धरीं हरीनाम.

कर्ममेळा–

जें जें दिसे व्यापलें तें तें फलक:
वावुगा बोभाट करोनि कांहीं
नासे भवपीडा संसाराची.

सोयराबाई—

किती हें सुख मानिती संसाराचें
काय हें सांचे मृगजळ
काय हे गुंतले स्त्रीपुत्रधना
का ही वासना न सुटे यांची

निर्मळाबाई—

बहु हा उबग आला संसाराचा
तोडा फासा याचा मायबाप

एकनाथ—

नाशवंत धन नाशवंत मान
नाशवंत स्त्रीपुत्रादिक बाळें
नाशवंत बळे गळां पडति
एकचि शाश्वत हरीनाम.
भांबावलें जन म्हणति माझेमाझे
खराचिये परि उकिरडा सेवीत.
कासेयाची मूडा करिसी संसार
पुढे तो अघोर घोर आहे
मरणाची भीति विसरूनि मूढ
वावगी काबाड प्रपंचाचे.
देहाऐसें वोघटे पृथ्वीमाजी नाहीं कोठें
वोघते म्हणून त्या गावें मोक्षसुखार्थ नागवावें.
मूळ नाशासी कारण कनक आणि स्त्री जाण
जो न गुंते येथे सर्वथा त्याचा परमार्थ पुरता.

तुकाराम—

देह हें देवाचें धन कुबेराचें
तेथे मनुष्याचें काय आहे
तुका म्हणे कारे नाशवंतासाठीं
देवासवे आटी पाडितोसी.
धन मिळवोनी कोटी। सवे न ये रे लंगोटी
कां हें आवडलें प्रियापुत्रधन।
काय कामा कोण कोण आलें .
सुख पाहतां जवापाडे।
दुःख पर्वताएवढें

प्रपंचपरमार्थ संपादिन दोन्ही।
        एकहि निदानी न घडे त्यासी
तुका म्हणे तया दोहोंकडे धका।
        शेवटीं तो नरकामाजी पडे.

निळोबा—

भवाब्धिचें सखोल पाणी।
        बुडाले प्राणी बहुसाल.
गुंतली आशा पडली मोहजाळ फासा.
येथें येउनि केलें काई। विठ्ठल नाहीं आठविला
नाही केली सुटका कांही। येचि प्रवाहीं पडिलासी.

रामदास—

संसार मिथ्या ऐसा कळला।
        ज्ञान समजोन निधोन गेला
तेणें जनां पावन केला। आपण ऐसा.
संसार हाचि दीर्घ स्वप्न।
        लोभें वोसणती जन
माझी कांता माझें धन। कन्यापुत्र माझे.
सर्पनिच्या मुखें सुखावला प्राणी
थोर झाली हानी जागृतिसी.
मिथ्या सुखदुःख स्वप्नाचा व्यवहार
तैसा हा संसार। नाथिलाची
प्रपंचीं आणि परासुख।
        पावेन म्हणेल तो मूर्ख
जैसे परमान्नें मिश्रित विख।
        सेवितां मृत्यु पावे.

धीमे धीमे ब्राह्मण जो कि वर्णाश्रम धर्म की इमारत का मूर्धन्य था, बहुत पतित होने लगा। उदाहरणार्थ "गुरुचरित्र" सन् १५५८ के करीब लिखा गया है। उसमें स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण कर्मभ्रष्ट हुए हैं। म्लेच्छों के आगे वेदबीज बोलते हैं। इसीलिए सत्व गया और सब मंदमति हो गये हैं। (२६, २२४)

कर्मभ्रष्ट झाले द्विज। म्लेंच्छांपुढे बोलती वेदबीज।
सत्त्व गेले आचि काज। मंदमती झाले जाणाता॥

महानुभावों ने तो सूत्रों में स्पष्टतः वैराग्य का विवेचन करते हुए अपने स्वदेश और स्वजनों का त्याग सुझाया था।

"स्वदेश बंधु त्याज्यः स्वग्राम संबंधु त्याज्यः
संबंधियांचा संबंधु तो विशेषतां त्याज्य"

(चक्रधरः सूत्रपाठ आ. १)

और दूसरे महानुभावों में यह निवृत्ति-प्रवृत्ति का अंतर स्पष्ट होने लगा था। भास्कर पंडित के शिशुपालवध ग्रंथ के संबंध में भावे व्यास ने कहा—

"भटो हा ग्रंथु निका जाला : परी नीवृत्ताजोगा नव्हेचि : प्रवृत्ता जोगा जाला"

(भास्कर भट्ट बोरीकर, पृ. ५३)

महानुभावपंथ के अधिक काल न टिकने का कारण उसकी पंडिताई शैली भी है। शब्द-शिल्प कब तक चलेगी?

"महानुभावों की लेखनशैली लोकानुवर्ती (पाप्युलर) नहीं, वह वेदाभ्यासभासजड (पेडेंटिक) है। काव्यप्रांत में भी धर्मप्रचार की प्रेरणा की अपेक्षा कलाविलास की प्रवृत्ति बहुत बार अधिक महत्त्व पा गयी है।" (सरदत पृ. ३४, ३५)

परिणाम यह हुआ कि पहले के संत श्रोताओं की विनती करते थे, उनके अवधान के लिए प्रार्थी थे और बाद में "न पाहे श्रोतयाचे वदन" (दासोपंत) श्रोताओं का वदन नहीं देखना चाहिये, ऐसी भावना आ गई। शुरू से थोड़ा बहुत ज्ञानीजनोचित, पहुँचे हुए का अहंकार तो था ही। ज्ञानेश्वर तक ने लिखा—

"करतळावरी वाटोळा। डोलत देखिजे आंधळा। तैसे ज्ञान आम्हीं डोळा। दाविलें तुज॥"

(ज्ञानेश्वरी १३,६५१)

'करतल के आँवले की तरह से हमने तुझे ज्ञान दिखाया।' बहमनी काल में संतसाहित्य क्यों पिछड़ा इसकी कारणमीमांसा करते हुए इतिहासकारों का मत यह है कि मुस्लिम आक्रमण के कारण मराठा समाज इस प्रकार दिङ्मूढ़ हुआ कि बाद में सौ डेढ़ सौ वर्षों तक उसने सिर ऊपर नहीं उठाया। राजसत्ता का आधार छूट जाने से सामाजिक जीवन बड़ा संकुचित बना। 'राधामाधव विलासचंपू' की प्रस्तावना में पृ. ४६ पर कहा गया है—**"दस पाँच हजार पाईक (पैदल) सेना पोसे या पाँच चार हजार "बारगीर" पाले ऐसी शक्ति का एक भी मराठा क्षत्रिय शक तेरह सौ से शक पंद्रह सौ तक नहीं था।"** नामदेव के बाद सर्व-साधारण जनता के मन जीत ले, ऐसा एक भी संत नहीं हुआ। वीरपुरुषों की परंपरा टूट गयी। धर्मोत्साह की ऊर्मियों में भाटा आते ही, काव्य प्रेरणा भी जैसे कम होती गयी।

एकनाथ के समय तक आकर यह सामान्यता जैसे नियम बन गई। साधारणता ही आदर्श हो गई—

गृहाश्रम् न सांडितां। कर्मरेखा नोलांडिता।
निजव्यापारीं वर्ततां। बोधू सर्वथा न मैळे॥

(एकनाथी भागवत ९, ४३५)

और उच्चवर्ग की देववाणी संस्कृत के विषय में उसे पूछना पड़ा—

संस्कृत वाणी देवें केली। तरी प्राकृत काय
चोरापासोनी झाली

(एकनाथी भागवत १, १२९)

एकनाथ के समय तक आकर बुधजन और सामान्य जनता की अभिरुचियों में भी स्पष्टतः अंतर आ चुका था। एकनाथ के शब्दों में—

ज्ञानी निवती परमार्थ बोधें। पंडित निवती पदबंधें।
लोक निवती कथा विनोदें। ग्रंथ संबंधे जग निवे॥

(भावार्थ रामायण : बालकांड १४, १८३)

निर्गुण धारा के लुप्त होने का एक और प्रधान कारण था पांथिक विशिष्टता—ज्ञानको गुप्त रखना, अलग तरह का आचारधर्म पालन, गद्दी, लोक जीवन की बहती धारा से टूटकर भिन्न प्रकार की अजब निष्ठाएँ, परंपरा को पूरी तरह न मानना। कबीर ने अपने जीवन में जो एकता का मंत्र दिया था वह परवर्ती संतों ने जैसे भुला दिया। केवल उनकी बानी की पुनरावृत्ति कितने दिनों तक टिकी रह सकती है। महानुभावों ने "सकला" और "सुंदरी" लिपियाँ चलाईं, नानक ने "गुरुमुखी"। अनुभूति जैसे कुछ थोड़े लोगों की "मोनोपोली" बन गई और ज्ञान जब यों कुंद और बंद हो गया, फैलने से जब वह रुका, तो जो अवश्यंभावी परिणाम जीवनशास्त्र में घटित होता है वही हुआ, यानी निर्गुण काव्यधारा की परंपरा टूट गई, जैसे "विचारे स्रोतः पथे" फैली हुई "आचारेर मरु बालु राशि" में जाकर धीरे धीरे बिलम गई। निर्गुण काव्य ने इस प्रकार सांप्रदायिक नियमों से निज को जकड़कर नष्ट कर लिया।

निर्गुण और सगुण के बीच जब संगर उपस्थित हुआ, सगुण जीत गया, क्योंकि जनसाधारण को अपनी भक्ति तथा उपासना का एक मूर्त आधार स्वाभाविक रूप से चाहिये ही था।

अन्त में, यदि समय और सुविधा मिल पाई तो दोनों भाषाओं के वैष्णव साहित्य का, वारकरी और रामभक्त, कृष्णभक्त शाखाओं का तौलानिक अध्ययन ग्रंथरूप में उपस्थित करूँगा। इस आशा के साथ संतों का यह विवेकयुक्त स्मरण समाप्त करता हूँ।

श्री राजबहादुर सिंह

गुजराती साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा

किसी भी महादेश में प्रचलित अनेक भाषाओं के साहित्यिक स्वरूप के विकास में समय का थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है; किन्तु उस देश की सांस्कृतिक एकता, उन भगिनी-भाषाओं में काल-क्रम से विकास-साम्य को एक सूत्र में अवश्य आबद्ध रखती है। यह स्वाभाविक है और मनुष्य की कोई शक्ति इस प्राकृतिक नियम को भंग नहीं कर सकती।

भारत महादेश में भी उपर्युक्त स्वाभाविक नियमों के अनुसार मूल संस्कृत से उत्पन्न भगिनी-भाषाओं का विकास न्यूनाधिक रूप में एक ही ढंग और एक ही कालक्रम से हुआ है। यहाँ हिन्दी, बँगला और मराठी के साहित्यिक विकास की रूपरेखा, स्थानाभाव के कारण, नहीं दी जा सकती, क्योंकि इस लेख का उद्देश्य केवल गुजराती-साहित्य का अल्प परिचय मात्र कराना है; किन्तु यह बात सुनिश्चित है कि इन चारों भगिनी-भाषाओं का साहित्य लगभग एक ही प्रकार और कालक्रम से विकसित हुआ है।

गौर्जर अपभ्रंश

गुजराती का पुराना नाम गौर्जर अथवा गौर्जर-अपभ्रंश था। उसकी रचनाओं की अवधि अनुमानतः ९०० ई. से १२५० ई. तक मानी जाती है। ये रचनाएँ अधिकांशतः धार्मिक ढंग की हैं और वे चावड़ा (राजपूत) वंश के शासन-काल के अन्तिम वर्षों से आरम्भ होकर बाघेला-वंश के राज्य-काल के आरम्भ तक गुजरात की भाषा में रहीं हैं।[1] इस काल की रचनाओं में अपभ्रंश शब्दों के रूप आजकल के गुजराती-भाषियों को भी चक्कर में डाल देते हैं—उदाहरण के रूप में 'पुणु', 'नरिंदि', 'जई', (पुनः, नरेन्द्रेण, और जो, जा) तथा 'हिअयट्ठिउ' (हृदय) और 'रोसु' (रोष) के अपभ्रंश और रूपान्तर इतने बदले हुए हैं कि उनसे मूल शब्द की कल्पना नहीं की जा सकती।

किन्तु शब्दों के अटपटेपन पर न जाइये। उस काल की रचना में रस भी है। बानगी देखिए :—

> **"ते पाटी लई, रेवाना पाणीथी भरेली चन्द्रनी कान्ति जेवी उजली खड़ी लई, शयन माँ दिलगीर थई सूतेली मने एकली मूकी 'समान-सवर्ण' ए व्याकरण —भाग आखी रात गोखे छे।"**

---

१. प्रो. विष्णुप्रसाद त्रिवेदी के चौदहवें गुजराती साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण से।

अर्थात् "वह पट्टी (तख्ती) लेकर, रेवा (नदी) के पानी से भरी चन्द्रमा की कान्ति जैसी उजली खड़िया से, शयन (कक्ष) में रंज से सोई मुझको अकेली छोड़, 'समान-सवर्ण' का व्याकरण-भाग सारी रात रटता है।"[1]

और देखिये एक नायिका का प्रगल्भ आह्वान :–

"मारो हाथ तरछोड़ी तूं जा। तेनाथी शूं थवानुं ? तारो रोष त्यारे ज साचो मानुं के हृदयमां तुं रह्यो छे, त्यांथी तुं नीकली चाल्यो जा।"

अर्थात् "मेरा हाथ छोड़, तू जा। इससे क्या होनेवाला है? तेरा क्रोध तभी सच्चा मानूं कि तू जो मेरे हृदय में रहता है वहाँ से निकल कर चला जा।"

अपभ्रंश-रचनाओं में संस्कृत और प्राकृत के प्रसिद्ध कवि आचार्य हेमचन्द्र तथा सोमप्रभ (बारहवीं शताब्दी) जैसे विद्वानों की रचनाएँ भी हैं। धनपाल नामक एक वैश्य कवि ने अपभ्रंश रचना–'भविस्सत-कहा' में सौन्दर्य तथा कौतुकप्रियता की अच्छी सृष्टि की है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ उनकी रचना का उद्धरण नहीं दे रहे हैं, क्योंकि इस प्रकार यह लेख बहुत विस्तृत हो जायगा। गौर्जर-अपभ्रंश के अन्य कवियों में स्वयंभूदेव, धवल, पुष्पदन्त और योगीन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। जिन पाठकों को इस विषय में विशेष रुचि हो वे श्री मधुसूदन चि. मोदी कृत 'अपभ्रंश पाठावली' पढ़ कर विशेष जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि गौर्जर-अपभ्रंश काल में गुजराती गद्य-लेखन का समारम्भ नहीं हुआ था, इसलिए उस समय की प्रायः सभी रचनाएँ छप्पा (छप्पय), दूहा (दोहा), चोपाई (चौपाई) आदि छन्दों में और आख्यान-शैली के रूप में लिखीं गयीं। यह सच है कि इस तरह के पद्य के आधार पर ही बाद में गद्य-शैली का निर्माण और विकास हुआ। इसलिए यह कह सकते हैं कि गौर्जर-अपभ्रंश ने गुजराती-गद्य को एक प्रकार अथवा शैली प्रदान की।

जूनी (पुरानी) गुजराती

गौर्जर-अपभ्रंश के पश्चात् गुजरात में क्रमशः जिस भाषा का विकास हुआ उसे हम आज 'पुरानी गुजराती' कहते हैं। धीरे-धीरे अन्तर यह आगया कि जहाँ अपभ्रंश में संस्कृत शब्दों का रूप विकृत करके लिखा जाता था, वहाँ अब उन्हें तत्सम रूप में ही लिखा जाने लगा। उदाहरणार्थ–संस्कृत शब्द 'मनोरथ' को अपभ्रंश में 'मणोरह' लिखा जाता था; पर पुरानी गुजराती में वह फिर 'मनोरथ' के रूप में ही लिखा जाने लगा। इसी प्रकार अपभ्रंश का 'उ' प्रत्यय भी पुरानी गुजराती में लुप्त हो गया जैसे–'भणइ अंबडु' का 'भणइ अंबड' हो गया। संयुक्ताक्षर के पहले आनेवाले स्वर ह्रस्व से दीर्घ बन गये, जैसे –'किद्धउँ' का 'कीधउँ' और 'सम्भलहु' का 'सँभलउ' हो गया। यही नहीं अपभ्रंश-काल में प्रचलित 'छ' धातु को सहायक क्रियापद के रूप में सबसे पहले भालण और पद्मनाभ ने 'छइ' लिख कर प्रयुक्त किया, जिससे आधुनिक गुजराती में 'छे' (है) बन गया[2]।

---

१. पं. केशवराम शास्त्री कृत 'आपणा कविओ' (पृष्ठ २४-२५)।

२. श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुन्शी कृत गुजरात एंड इटस लिटरेचर, पृष्ठ ८६।

पुरानी गुजराती का जीवन-काल सन् १२५० ई. से. १६५० ई. तक माना जाता है। इसके बाद अर्वाचीन गुजराती का श्रीगणेश माना गया है। यद्यपि इन सन्-संवतों के बन्धन में भाषा-शैली को जकड़ा नहीं जा सकता और इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों में मतभेद भी है, किन्तु जो हो, यह तो मानना पड़ेगा कि अपभ्रंश-काल की रचनाओं की अपेक्षा पुरानी गुजराती का साहित्य कम से कम प्रकाशन की दृष्टि से अधिक है और इस अवधि में भाषा-सम्बन्धी दुरूहता भी कम हुई है। गद्य-लेखन का जन्म नहीं तो विकास तो, पुरानी गुजराती के ही काल में हुआ है। कहा जाता है कि वैसे तो सिद्धराज के राज्यारोहण (१०९३ ई.) से ही अपभ्रंश का स्थान तत्कालीन प्रचलित बोलचाल की "पुरानी गुजराती' ने गद्य और पद्य दोनों ही में लेना आरम्भ कर दिया था; पर इस बात से सभी सहमत हैं कि उसके लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद–१२५० ई. तक–पुरानी गुजराती के साहित्य को निश्चित स्थान प्राप्त हो गया था।

पुरानी गुजराती में लिखे गये साहित्य की विशेषता यह है कि उसमें जैनेतरों की अपेक्षा जैनों की कृतियाँ अधिक हैं, क्योंकि जिस प्रकार जैनेतर कवियों में नरसिंह, मीराँ, भालण, पद्मनाभ और नाकर अधिक यशस्वी हुए हैं वैसे ही जैनों में शालिभद्र, सोमसुन्दर, जयशेखर, माणिक्यसुन्दर तथा लावण्यसमय जैसे विख्यात कवि और लेखक हुए हैं।

जैन साधुओं में जो विद्वान् और विद्यानुरागी थे उन्होंने साहित्य की ओर पहले ध्यान दिया। उपाश्रय के एकान्त में अपने धर्म-कर्म का पालन करते हुए भी उन्होंने सुन्दर काव्य-रचना की है। उन साधुओं में शालिभद्र (११८५ ई.) के समय से लेकर समयसुन्दर (लगभग १५८०-१६४२) तक अनेक प्रभावशाली जैन कवि हो गये हैं। इस प्रकार की रचनाओं में शालिभद्र सूरिकृत 'भरतेश्वर-बाहुबलि रास' का स्थान सर्वोपरि है। इसमें शालिभद्र ने पाटण के महाराज तथा तीर्थंकर ऋषभदेव के कुँवरद्वय–भरत और बाहुबलि–के विग्रह का वर्णन किया है। यह वीर-रस का सुन्दर काव्य है और इसकी ओज-भरी शैली नितान्त मौलिक और प्रभावशाली है। इसकी भाषा और शैली से प्रभावित होकर बाद के कितने ही जैन विद्वानों ने अनेक सुन्दर रचनाएँ की हैं, जिनमें महेन्द्र सूरि के शिष्य "धर्म" का 'जंबूसामि चरित्र' विशेष उल्लेखनीय है। महामात्य वस्तुपाल के धर्माचार्य विजयसेन सूरि देवभूमिशा ने मनोहर सोरठ (सौराष्ट्र) देश के सुजल सरोवरशाली गिरनार पर्वत को लेकर देरासर-जीर्णोद्धार प्रसंग पर डेढ़ सौ पंक्तियाँ रचीं, ऐसा 'रवन्द गिरि रासो' में कहा गया है।

इसी प्रकार के कवि विनयसुन्दर और अम्बदेव सूरि भी हुए हैं, किन्तु इन कवियों की अपेक्षा तरुणप्रभ सूरि (१३५५) को इसलिए विशेष महत्व दिया जाता है कि ये 'प्रथम गुजराती गद्यकार' माने जाते हैं। उनकी गद्य-रचना का विषय है 'सम्यकत्व' तथा 'श्रावक के बारह व्रत'।

गद्य की इस प्रारम्भिक रचना से प्रभावित होकर अनेक जैन-साधुओं ने अपनी कृतियाँ पद्य के साथ गद्य में भी आरम्भ कर दीं। उनमें से सोमसुन्दर (१३७४-१४४६ ई.) जयशेखर (लगभग १४०६) और माणिक्यसुन्दर (१४२२) अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें

सोमसुन्दर पालणपुर के वणिक् पुत्र थे। ये गद्य-पद्य रचना के अतिरिक्त "बृहस्पति के समान प्रतिभा-प्रकर्षणशाली" थे। इनके समय में कितने ही और जैन-साधुओं ने विभिन्न विषयों की रचनाएँ करके अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा का परिचय दिया। इन रचनाओं में 'वसन्त-विलास" 'नेमिनाथ-चतुष्पदिका' (ऋतु काव्य) तथा विनयचन्द्र कृत 'उपदेशमाला कथानक-षट्पद' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'स्थूलिभद्र फाग' भी एक जैनाचार्य की सुन्दर कृति है।

पुरानी गुजराती के जैनेतर कवियों में सर्वप्रथम नरसिंह मेहता (१४१४ या १५ से १४८०) ही थे; किन्तु उनके अन्य समकालीनों में श्रीधर व्यास (१३९८), भीम (१४१०) और अब्दुर्रहमान (लगभग १४२०) की रचनाएँ भी भाषा और सांसारिक प्रसंगों–प्रेम और युद्ध–की दृष्टि से पठनीय हैं।

नरसिंह, मीराँ और दयाराम की कृष्णभक्ति-पूर्ण कविताएँ हास-विलास और सौन्दर्य की सागर हैं जिनका रस भक्त और प्रेम-पन्थ के पथिक ही ले सकते हैं। गुजरात के समीक्षको का कहना है कि मीराँ और दयाराम ने अपनी रचनाएँ हिन्दी और गुजराती दोनों ही में लिखी हैं। इसका अर्थ यह भी निकलता है कि इनकी रचनाएँ पुरानी गुजराती में होने के कारण ब्रजभाषा और पश्चिमी राजस्थानी से इतनी निकट थीं कि उन्हें थोड़े से परिवर्तन और खींच-खाँच के द्वारा दोनों रूप दिये जा सकते थे। नरसिंह की ही भाँति मीराँ की रचना को भी प्रेरणापूर्ण और "तीसरे नेत्र की प्रसादी" कहा गया है।[१] चार-पाँच सौ वर्ष का समय व्यतीत हो जाने पर भी ये भक्ति-रस की अनन्य और बेजोड़ कविताएँ बनी हुई हैं। कहा जाता है कि उनका भक्ति-योग का पन्थ संसार को नहीं रुचा और उनका दिन-रात भगवान के साथ प्रेमयोग और तादात्म्य, लोगों को नहीं भाया, इसलिए उन्हें कारागार और गृहत्याग तक के लिए बाध्य होना पड़ा।

भक्त नरसिंह के पूर्वज जूनागढ़ के निकटस्थ कुतियाणा के ठाकुर साहब का कारबार देखते थे। उनके पूर्वज भी सामाजिक प्रतिष्ठा और विद्या दोनों ही में वही महेता (महत्तम) थे। उनके पिता का नाम कृष्णदास था। गुजराती में आदि-कवि के रूप में भक्त नरसिंह का ही नाम विख्यात है, क्योंकि उनके पूर्ववर्ती कवियों को सर्वव्यापक ख्याति नहीं मिली थी। रस की दृष्टि से तो इनकी अनुपम रचनाएँ मन को प्रमुदित कर देतीं हैं और वह परिमाण में भी असामान्यतः प्रचुर हैं। उनकी भक्ति की तन्मयता ने उनसे इतनी अधिक सौन्दर्य-सृष्टि कराई जितनी और किसी भी गुजराती कवि से नहीं बन पड़ी। उनकी कविता में शब्द-चित्र की माधुरी कल्पना-प्रवण पाठकों के लिए मधु-रस-सागर के समान है। भक्ति के साथ शृंगार का सुन्दर सम्मिश्रण इनकी विशेषता है। वे विश्वलीला के प्रतीक कृष्ण की रासलीला के स्वरचित पद गाते नहीं थकते थे।

भक्त नरसिंह की कविताएँ पढ़कर यह बताना कठिन हो जाता था कि वे भक्त अधिक थे या कवि। उनकी रचनाओं में स्फुट पदों को छोड़कर 'हारमाला' और 'शामल नो विवाह' ऐसी कृतियाँ हैं जिन्हें आत्मचरित्रात्मक कह सकते हैं। इनकी वृत्त-रचनाओं को कथा-काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। किन्तु इनकी कृतियों में पुनरुक्ति दोष अधिक

१. प्रा. बलवन्त राम ठाकोर कृत 'लिरिक' पृष्ठ १२४।

देखने में आता है; यद्यपि उपर्युक्त दो कृतियों में वह कम है। इनकी फुटकर रचनाओं के आधार श्रीमद्भागवत-प्रभासखण्ड, गीत-गोविन्द और फाग आदि लोकप्रचलित गीत हैं। 'सुदामा-चरित', 'गोविन्द-गमन' और 'सुरत-संग्राम' भी उनकी विशेष उल्लेखनीय रचनाएँ हैं, जिन्हें आख्यान-कृतियाँ कहना चाहिए। उनके पदों में "भणे नरसैयो" (नरसी कहे) बार-बार आता है। 'चातुरी बत्तीसी', 'शृंगार-माला' और 'रास सहस्रपदी' भी इन्हीं की रचनाएँ हैं। बाललीला, दानलीला, बसन्त और हिण्डोला के अतिरिक्त उनके भक्ति और ज्ञान के कितने ही पद विख्यात हैं।

इस युग के अन्य विख्यात कवियों में 'कादम्बरी'-कार भालण, 'कान्हड़ दे प्रबन्ध' के रचयिता पद्मनाभ, 'हरिलीला षोडश कला' के रचनाकार भीमदेव और 'श्रीकृष्णलीला-काव्य'-कार केशवदास हृदयराम विख्यात हुए हैं।

राजकुमारी मीराँ जन्मजात कवि थीं। उनकी अनुभूति की गहराई अब तक भारतीय भाषा के किसी दूसरे कवि को प्राप्त नहीं हो सकी। उनकी "घायल की गति घायल जाने" और "प्रेम-दिवानी" उक्तियों से उनकी लगन की गहराई स्पष्ट है। मेड़ते की होकर उन्हें विवाह-सम्पर्क से चित्तौड़ जाना पड़ा, पर उन्होंने कृष्ण के प्रति अपना प्रेम-भक्ति-योग वहाँ भी नहीं छोड़ा। उनकी ससुरालवालों को यह सब बहुत बुरा लगा और राणा के "विष का प्याला' भेजने का प्रसंग ऐसा था कि उस पर उन्हें कविता लिखनी पड़ी। मीराँबाई के समय में गुजरात और पश्चिमी राजस्थान की भाषा में तात्विक भेद नहीं था इसलिए उनके रचे पद पुरानी (पश्चिमी) राजस्थानी और पुरानी गुजराती दोनों में खप गये थे। जो हो, मीराँ मध्यकालीन भारत के साहित्य-संसार की अद्भुत देन थीं और उनकी रचनाएँ गुजराती या हिन्दी मात्र की न रह कर सारे भारत की हो गयीं हैं। प्रभु के वियोग में मिलन की परम उत्कंठा से ओत-प्रोत मीराँ की कविताएँ हृदय-देश के अन्तरतम को छूतीं हैं। "अब मोहि क्यों तरसाओ" में वह आतुरता एकदम फूट पड़ती है। बाह्य जीवन की विडम्बनाएँ, उनसे उत्पन्न क्षोभ और उससे भक्ति में पड़ने वाला भंग, इन सबसे भक्त-हृदय मीराँ की एक विशिष्ट वृत्तिस्थिति बन गयी थी और उनकी प्रभु-वियोग की तड़पन एक सच्चे हृदय का मुक्त उच्छ्वास थी। मीराँ के पद हिन्दी-पाठकों की अपनी वस्तु है, इसलिए उनपर यहाँ विशेष रूप से नहीं लिखा जा रहा है।

नाकर एक तीसरे कवि हुए हैं जो जैनेतर कवियों में अग्रणी गिने जाते हैं। ये बड़ौदा-निवासी वैश्य थे। इन्होंने गुजराती में पौराणिक आख्यान काफी लिखे हैं। नाकर के साथ विष्णुदास, शिवदास, मधुसूदन व्यास और अखा के नाम लिये जा सकते हैं। अखा ने अपनी गुजराती कृतियों—'पंचीकरण', 'गुरु-शिष्य-संवाद', 'चित्त-विचार-संवाद' और 'अनुभवविद्'-के अतिरिक्त हिन्दी में 'ब्रह्मलीला' की भी रचना की। इस युग में नरहरि, गोपाल और बूटियो ने भी धार्मिक एवं वेदान्त विषयक कविताएँ कीं। विश्वनाथ ज्ञानी की 'प्रेम-पच्चीसी' भी इसी काल की रचना है।

इस युग के सबसे विख्यात कवि हुए हैं प्रेमानन्द। उनकी रचनाएँ विभिन्न विषयों पर और प्रचुर संख्या में हैं। रामायण, महाभारत, पुराण और श्रीमद्भागवत के कितने ही आख्यानों के अतिरिक्त उन्होंने 'अष्टावक्राख्यान', 'ऋष्यशृंगाख्यान', 'लक्ष्मणहरण' आदि काव्य-ग्रंथ लिखे। 'नलोपाख्यान' उनकी विख्यात कृति मानी जाती है।

वल्लभ भट्ट, वीरजी रत्नेश्वर और विशेषरूप से आख्यानों के लिए विख्यात शामल भट्ट जैसे प्रसिद्ध कवि का नाम न लेना गुजराती-साहित्य के प्रति अन्याय होगा।

इनके अतिरिक्त वल्लभ मेवाड़ो अपने गरबा (नृत्य-गान) के लिए काफी विख्यात हैं। उनके पदों में अभिनय और ताल-सुर की पूर्ण सामंजस्यात्मक क्षमता है। इसी प्रकार प्रीतमदास अपने भक्ति, वैराग्य और शृंगार के पदों के लिए प्रसिद्ध हैं।

नरभेराम (१७६८-१८५२) द्वारका और डाकोर के पथिक बन कर अपनी भक्तिरस की रचनाओं से तत्कालीन जनता को आनन्दित करते रहे। 'महिना' के रचयिता रत्नो और गुजराती में काफी पदों के लिए मशहूर धीरो भगत भी यहाँ उल्लेखनीय हैं।

रणछोड़ दीवान (१७८५-१८४१) जूनागढ़ राज्य के दीवान थे और उन्होंने कितने ही युद्धों में स्वयं भाग लिया था। उनकी रचनाएँ साहित्यिक तो कम हैं, पर ऐतिहासिक क्षेत्र में उनका विशेष स्थान है। रणछोड़ दीवान गुजराती और संस्कृत के विद्वान् तो थे ही, हिन्दी और फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने 'शिव-माहात्म्य' ब्रजभाषा में लिखा है और फारसी में 'तारीखे-सोरठ'।

स्वामीनारायण-सम्प्रदाय ने मध्यकालीन गुजराती-साहित्य में अच्छा योग-दान किया। इस संप्रदाय के मूल संस्थापक तो स्वामी रामानन्द थे, पर उनके शिष्य सहजानन्द ने, जो अयोध्या के निवासी थे, उसका विशेष प्रचार किया। इस युग के कवियों में धांगध्र के मुक्तानन्द और डूंगरपुर के ब्रह्मानन्द प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मानन्द की रचनाएँ हिन्दी में भी हैं और इनके रचित कुल पद आठ हजार की संख्या में हैं। प्रेमानन्द स्वामी, निष्कुलानन्द और सम्प्रदाय के एक अन्य कवि देवानन्द के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

कवयित्रियाँ

मध्ययुग के गुजराती साहित्य में मीराँबाई के अतिरिक्त प्रेमानन्द की शिष्य-मण्डली में भी स्त्री-कवि (कवयित्रियाँ) हुई हैं, यद्यपि काव्य-दृष्टि से उनकी रचनाएँ उच्च कोटि की नहीं हैं। इनमें दीवालीबाई, राधाबाई, कृष्णाबाई, पुरीबाई और गौरीबाई के नाम परिगणनीय हैं।

पारसी लेखक

सात सौ पचासी ई. से ही ईरान छोड़ कर भारत (गुजरात) में आ बसनेवाले पारसियों ने गुजराती भाषा को प्रशंसनीय ढंग से अपना लिया था और कितनों ही ने गुजराती रहन-सहन आदि भी अपना लिया था। गुजराती भाषा और साहित्य में रस लेनेवाले ऐसे पारसी लेखकों में से अनेक ने चौदहवीं सदी से ही गुजराती में गद्य-लेखन आरम्भ कर दिया था। कुछ पारसी धर्म-गुरुओं ने संस्कृत भी सीख ली थी। इनमें से एक ने तो अपने

धर्म-ग्रन्थों का संस्कृत अनुवाद तक कर डाला था। बहराम सुत लक्ष्मीधर ने "अर्दे विराफ नामेह" नामक अपने ग्रन्थ का १४५१ में संस्कृत और गुजराती में अनुवाद किया। पारसी कवि एखद रुस्तम पेशोत ने सत्रहवीं सदी में "ज़रथोस्त नामेह" आदि चार जीवनियाँ ('नामेह') गुजराती में लिखीं। नौशेरवाँ ने भी १७०९ में 'पंचगिहि अने शशगहंबार नी तमाम तपसील' गुजराती में लिखी।

दयाराम

दयाराम मध्यकालीन गुजराती कविता के अन्तिम उच्च कवि थे। इनका जन्म १७६७ में नर्मदा-तट पर स्थित चांदोद में हुआ था। दयाराम के जीवन के बीस वर्ष तीर्थ यात्रा में व्यतीत हो गये थे—श्रीनाथद्वारा से आरम्भ करके बदरिकाश्रम, मथुरा, काशी, द्वारका, रामेश्वर आदि की यात्रा उन्होंने उस शिथिल वाहन-युग में भी कर डाली थी। उनकी रचनाओं में भी आख्यान बहुत हैं। वे हिन्दी, मराठी, पंजाबी आदि भी जानते थे और हिन्दी में तो उनकी कृतियाँ प्राचीन साहित्यिक संग्रहों में संकलित भी हैं। गुजराती में उनके 'अजामिल-आख्यान', 'बकासुर-आख्यान', 'बाललीला', 'रूपलीला', 'दानलीला', आदि कृष्णभक्ति के पद और 'प्रेमरसगीता', 'प्रेमपरीक्षा', 'कृष्ण स्तवन-मंजरी' और 'सत्य-भामानो विवाह' आदि प्रसिद्ध हैं। अपनी गरबी और गरबो (सामूहिक गान, अभिनय एवं नृत्य के लिए उपयुक्त काव्य-प्रकार) के लिए वे सर्वाधिक विख्यात माने जाते हैं।

सुधारक युग

भारत में अंग्रेजों के आने के बाद अन्य भाषाओं की तरह गुजराती में भी एक बिल्कुल नये युग का उदय हुआ। समाज के कितने ही लोगों ने सुधार की आवाज़ ऊँची की। पुराने जमाने से प्रचलित अज्ञान, अन्धविश्वास, भूत-प्रेत की मान्यता, बाल-विवाह, बाल-वैधव्य आदि सामाजिक अनिष्टों को दूर करने और नये विचारों का प्रचार करने के लिए अहमदाबाद में 'गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी' (१८४८) और बम्बई में 'बुद्धिवर्धक सभा' (१८५१) कायम हुई। इसके बाद 'बुद्धि-वर्धक', 'बुद्धि-प्रकाश', 'सत्य-प्रकाश', 'गनेआन परसारक' (ज्ञान-प्रसारक) और 'डांडियो' आदि पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। इससे अर्वाचीन साहित्यिकों का अभ्युदय अनिवार्य था। इन साहित्यिकों में सबसे बड़े और धुरन्धर थे दलपतराम और नर्मदाशंकर। इन दोनों ने ही अपनी-अपनी लाक्षणिक रीति से साहित्यद्वारा समाज की दिशा मोड़ने में मदद दी।

दलपतराम

दलपतराम डाह्याभाई त्रवाड़ी का जन्म १८२० में वढ़वाण में हुआ था। ये श्रीमाली ब्राह्मण थे। उन्होंने स्वामीनारायण-सम्प्रदाय के स्वामी देवानन्द से विधिवत् छन्द-पिंगल सीख कर काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया था। ये ब्रजभाषा और संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। इनके नाटक और गद्य-कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें 'विजय-क्षमा', 'हंस-काव्य-शतक', 'हुन्नरखाननी चढ़ाई', 'गमार बावनी', 'संपलक्ष्मी संवाद', 'जादवास्थली', 'बेनचरित्र', 'फ़ार्ब्स विकास' और 'फ़ार्ब्स-विरह 'आदि काव्य-कृतियाँ विशेष नाम पा गयीं।

नर्मद

नर्मदाशंकर को संक्षेप में नर्मद कहते हैं। यद्यपि ये दलपतराम से अवस्था में तेरह वर्ष छोटे थे, फिर भी उच्चतर और अपेक्षाकृत अधिक त्वरापूर्ण साहित्यिक प्रतिभा के कारण नर्मद को "गुजराती-साहित्य के आर्वाचीन युग का अरुण" माना जाता है। अनेक प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों और "नितान्त नूतन प्रस्थान" के कारण गुजराती-साहित्य के प्रवाह के लिए विभिन्न दिशाएँ खोलने का सम्मान नर्मदाशंकर लालशंकर दवे को ही प्राप्त हुआ। इनका जन्म १८३३ ई. में सूरत में हुआ था। इनकी माध्यमिक शिक्षा बम्बई के एलफिन्सटन इन्स्टीट्यूट में हुई थी। बाद में इन्होंने कालेज में भी शिक्षा पायी। विद्यार्थी-जीवन से ही नर्मद ने अभूतपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की। ये अंग्रेजी और संस्कृत दोनों के अच्छे ज्ञाता थे और उनके अध्ययन द्वारा प्राचीन और नवीन के मन्थनपूर्वक गुजराती में साहित्य-सृष्टि करते थे। उनकी रचनाओं में प्रकृति-वर्णन, शौर्य, देशाभिमान और प्रणय-भावना सभी कुछ है। उन्होंने पद्य और गद्य दोनों में लिखा, और 'नर्म गद्य', 'नर्म-कविता,' 'नर्म कोश,' 'राज्यरंग', 'मारी हकीकत', 'धर्म-विचार' आदि संग्रहों द्वारा उनके साहित्य का पूरा परिचय मिल जाता है। वास्तव में नर्मद को गुजराती में वही स्थान प्राप्त है जो हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को।

नर्मद के बाद नवलराम पण्ड्या एक अच्छे विवेचक साहित्यिक हो गये है। उन्होंने सिद्धान्त-चर्चा में 'काव्य-सम्बन्धी विचारों', 'मनना विचारों', 'हास्य अने अद्भुत रस' और 'देशी पिंगल' आदि निबन्धों द्वारा साहित्यिकों को नई समीक्षात्मक दृष्टि प्रदान की। इन्होंने तात्विक सिद्धान्त चर्चा का श्रीगणेश आधुनिक और तटस्थ ढंग से किया।

नवलराम के पश्चात् नन्दशंकर, भोलानाथ, महीपतराम, करसन मूलजी, रणछोड़भाई, हरगोविन्ददास काँटावाला, मनसुखराम त्रिपाठी और व्रजलाल शास्त्री ने अपने-अपने ढंग से गुजरात-साहित्य की रचना में अच्छा सहयोग दिया।

पण्डित युग

गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी पण्डित-युग के प्रथम और सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक गिने जाते हैं। इनका जन्म १८८५ में नडियाद में हुआ था। इन्होंने संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी का भी पाण्डित्य प्राप्त किया था और नर्मद के बाद गुजराती-साहित्य को नवीन दृष्टि देने में सबसे अधिक सहायक हुए थे। इनकी रचनाओं में 'सरस्वतीचन्द्र' (४ भाग), 'साक्षर जीवन', 'लीलावती', 'जीवन कला', 'हृदय रुदित शतकम्' (संस्कृत) 'दयारामनो अक्षर-देह', 'क्लासिकल पोयंट्स ऑफ गुजरात' (अंग्रेजी) आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन विस्तृत और ठोस था। उन्होंने धर्म, तत्त्वज्ञान, इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, और अर्थशास्त्र आदि सभी विषयों पर अध्ययन किया और लेखनी उठाई। इनका 'सरस्वतीचन्द्र" न केवल पण्डित युग और गुजराती साहित्य की अद्वितीय कृति है, प्रत्युत पांडित्य, रसिकता, प्रज्ञा, प्रतिभा और कला में सारे देश की एक अमूल्य निधि है। उपन्यास का नायक सरस्वतीचन्द्र नवयुवक और धनवान् है; सुशिक्षित

और संस्कारी है। उसकी सगाई कुमुदसुन्दरी नाम की सुन्दरी, गर्वीली और संस्कार-सम्पन्न लड़की से हो जाती है; पर कितने ही कारणों से सरस्वतीचन्द्र घर छोड़ कर भाग जाता है और इसलिए कुमुदसुन्दरी का विवाह प्रमादधन नाम के असंस्कृत युवक से हो जाता है। अनेक अनुभवों से गुजरते हुए सरस्वतीचन्द्र और कुमुदसुन्दरी सुन्दरगिरि पर्वत के एक आश्रम में मिलते हैं। वहीं वे दोनों देश-सेवा के लिए अपना-अपना जीवन व्यतीत करने का निश्चय करते हैं। उनके साथ रहने के सवाल को लेकर लोकनिन्दा न हो, इसलिए सरस्वतीचन्द्र कुमुदसुन्दरी की छोटी वहन से विवाह कर लेता है।

सरस्वतीचन्द्र की मूलकथा तो इतनी ही है; पर प्रसंगवशात् उसमें अनेक आनुषंगिक उपकथाओं की चर्चा गोवर्धनराम ने बड़े शौक से की है। इसमें क्षुद्र से क्षुद्र और केवल पशु-दशा के स्तर पर रहनेवाले पात्रों से आरम्भ करके ऊँचे से ऊँची मानसिक और आध्यात्मिक कक्षा में परिगणनीय पात्रों का उल्लेख है—मानव-हृदय की गहराई में चल रहे मन्थनों का आश्चर्यजनक निरूपण है। यहाँ तक कि पुस्तक पढ़ते समय उसके सारे पात्र आँखों के सामने नाचने से लगते हैं। 'सरस्वतीचन्द्र' के एक अंश का अनुवाद हिन्दी में भी प्रकाशित हुआ था।

गोवर्धनराम की अन्य विख्यात कृतियों में 'स्नेह-मुद्रा' और 'साक्षर-जीवन' हैं।

गोवर्धनराम के बाद मणिलाल नभुभाई द्विवेदी, नरसिंहराव भोलानाथ दिवेटिया, केशवलाल हर्षदराम ध्रुव, रमणभाई नीलकण्ठ, मणिशंकर भट्ट, बलवन्तराम कल्याणराम ठाकोर, सूरसिंह तख्तसिंह गोहेल (कलापी) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कलापी महोदय लाठी नामक एक छोटे से राज्य के राजा थे। इनका नाम गुजराती साहित्य में अमर है। इनके लिखे हुए ग्रन्थों में 'कलापी नो केकारव" (काव्य), 'काश्मीर का प्रवास', 'माला अने मुद्रिका', तथा 'नारी-हृदय' (कहानियाँ), प्रसिद्ध हैं। कलापी कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं।

आनन्द बापूशंकर ध्रुव (१८६९-१९४२) 'आचार्य ध्रुव' के नाम से प्रसिद्ध थे। वे महामना मालवीय जी के युग में हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्य थे। इन्होंने धर्म, तत्त्वज्ञान, साहित्य, इतिहास और राजनीति आदि कितने ही विषयों पर अधिकारपूर्वक लेखनी उठायी है। ये संस्कृत और अंग्रेजी के प्रकाण्ड पण्डित थे।

नाना दलपतराम (१८७७-१९४६) इस युग के महान्तम कवि थे। इनके काव्य-ग्रंथों में 'नाना नाना रास', 'केटलाक काव्यो', 'चित्र दर्शनो' और 'कुरुक्षेत्र' अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से अन्तिम का आंशिक अनुवाद करके वर्षों पहले पं. निरंजन शर्मा 'अजित' ने 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' के विशेषांक में प्रकाशित किया था। उनके नाटकों में 'इन्दुकुमार', 'जया जयन्त,' 'जहाँगीर-नूरजहाँ' और 'अकबरशाह' पठनीय हैं।

अरदेशर फरामजी खबरदार पारसी लेखकों में ऊँचा स्थान प्राप्त करने योग्य हैं। १९०१ ई. से अब तक उनकी लेखनी निरन्तर चलती रही है। शुद्ध गुजराती काव्य लिखने में खबरदार का स्थान बहरामजी मलबारी के समान है। इनकी राष्ट्रीय कविताएँ गुर्जर-भारती की शोभा हैं। इनकी 'विलासिका,' 'प्रकाशिका', 'भारत नो टंकार', 'संदेशिका',

'कलिका', 'रास-चन्द्रिका', 'भजनिका', 'दर्शनिका', 'कल्याणिका', और राष्ट्रिका' आदि मुख्य रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

इनके अतिरिक्त उन्होंने 'कवि मोटालाल' के उपनाम से 'प्रभात नो तपस्वी', 'कुक्कुट-दीक्षा' और 'लखँ गीता' आदि रचनाएँ भी प्रकाशित कराई हैं। 'गुजराती कविता की रचना-कला' के नाम से उनके व्याख्यान भी प्रकाशित हुए हैं। गुजराती में अतुकान्त काव्य-रचना खबरदार की ही विशेषता है। 'अदल' उपनाम से उनकी ऐसी कितनी ही रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

दामोदर खुशालदास बोटादकर और जन्मशंकर महाशंकर बुच 'ललित' ने भी इस युग के कवियों में नाम पाया है।

वर्तमान युग

अर्वाचीन गुजराती साहित्य की सीमा गोवर्धन-युग (अर्थात् १९१४ ई.) तक रही। उसके बाद पहला यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया जिससे मानव-जाति के जीवन में व्यापक, लम्बा एवं भयंकर उपद्रव उपस्थित हो गया। उस युद्ध के परिणाम-स्वरूप संसार का मान-चित्र ही बदल गया। इससे इंगलैंड जैसे परम्पराप्रिय देश में भी पुराने युग का अस्त हो गया और रूस में ऐसी क्रान्ति हुई जिसकी किसी ने कभी कोई कल्पना तक नहीं की थी। राज्यसत्ता, धर्म और स्त्री-समाज के प्रति मनुष्य का दृष्टिबिन्दु बदल गया और व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्वतंत्रता की चर्चा का नया युग आ उपस्थित हुआ।

इस प्रकार की स्थिति आने पर साहित्य पर उसका प्रभाव न पड़े, यह असम्भव है। वैसे तो सारे भारतीय समाज और साहित्य पर इस परिवर्तन का असर परिलक्षित हुआ, पर उन दिनों गुजराती साहित्य में नवयुग की हवा ने अपना प्रभाव विशेषरूप से दिखाया, क्योंकि उसी वर्ष गुजराती-साहित्य में ललितेतर विषय पर आधुनिक गद्य का भण्डार भरने-वाले विश्ववन्द्य महात्मा गांधी अपने दक्षिण अफ्रीका-प्रवास से भारत लौटे और 'नव-जीवन'-गुजराती-के प्रकाशन द्वारा भारत के ही नहीं, संसार के उद्धार का नया मार्गदर्शन करने में लग गये। सत्य और अहिंसा के द्वारा समस्त संसार के सामने नवीन जीवन-दर्शन उपस्थित करनेवाले महात्मा गांधी ने अपनी मातृभाषा गुजराती को अपनी विचार-धारा का मुख्य माध्यम बनाया।

गांधी जी ने भारतीय जन-समाज को नये ढंग से विचार करने का मार्गदर्शन करते हुए एक नूतन साहित्य की सृष्टि की और जनता ने उसके प्रति अपना सच्चा आकर्षण दिखाकर उनके अभिनव जीवन-दर्शन का समादर किया। 'नवजीवन' का प्रकाशन १९१९ में हुआ। उसके एक-एक शब्द में साहित्य का समावेश होता था। इस युग का साहित्य-सर्जन जन-जीवन की ओर झुक गया और आर्थिक दुर्दशाजन्य विषम परिस्थिति के सुधार के लिए अनेक लेखकों की लेखनियाँ उठ गयीं। गद्य और पद्य—दोनों में नवीन विचारधारा प्रवाहित हो चली।

गांधी-युग के अन्य लेखकों ने भी जीवन और उसकी गम्भीर एवं विषम समस्या

को सुलझाने के लिए लेखनी उठाई। क्या गद्य और क्या पद्य, क्या लेख, क्या कहानी, सभी में राष्ट्रीय विचार-धारा और अभिनव चेतना का प्रवाह हो चला। यद्यपि गांधी जी ने कभी साहित्यिक होने का दम्भ नहीं किया, पर अकेली उनकी ही रचनाओं ने तत्कालीन गुजराती साहित्य को अमर बना दिया। वैसे तो गांधी जी की रचनाएँ गुजराती के अतिरिक्त हिन्दी और अंग्रेजी में भी प्रकाशित होतीं रहीं हैं; पर उनकी विख्यात आत्मकथा (सत्य के प्रयोग) उन्होंने मूल गुजराती में ही लिखी थी। 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' भी उसी प्रकार लिखा जाकर व्यापक रूप में पढ़ा गया।

गांधी जी की राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विशेषताओं को छोड़कर भी विचार कीजिए तो उनकी लेखनी में एक ऐसी खास बात देखने को मिलेगी जो उसके पूर्व गुजराती तो क्या, किसी भी भारतीय भाषा में नहीं थी। अब तक के लेखक अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करते हुए पाठक को सामने न रख कर लम्बे और क्लिष्ट शब्दाडम्बर द्वारा अपने विचारों का बवण्डर उड़ाया करते थे। पर गांधी जी साफ, स्पष्ट, शुद्ध, सरल और आडम्बरशून्य शब्दों में छोटे-छोटे वाक्योंद्वारा इस प्रकार अपने विचार प्रकट करने लगे कि जिसमें अधिक से अधिक पाठक बिना प्रयास के उनकी भाषा समझ सकें।, उन्होंने गुजराती भाषा में नये शब्दों के भण्डार भी भरे।

गांधी जी ने राजनीतिक विषयों पर ही नहीं लिखा—उन्होंने धर्म और समाज के प्रति बहुत-कुछ लिख कर भारतीय समाज की नयी पीढ़ी का दृष्टिकोण बदल दिया। वे प्राकृतिक चिकित्सा के समर्थक होने के कारण स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी अपने अनुभव और प्रयोग के आधार पर बहुत-कुछ लिख गये जिनमें 'आरोग्य साधन', 'मैं नीरोग हूँ या रोगी', 'मिट्टी के प्रयोग' और 'पानी के इलाज' आदि पुस्तकें सम्मिलित हैं।

बहुत-से काव्य और साहित्य-शास्त्र के पण्डित ललित-साहित्यकार गांधीजी को साहित्यिक तक नहीं मानते, पर वे भी उनकी कृतियों के अटल और अचल स्थान को मानते हैं और गुजराती साहित्य में उनकी देन को कबूल करते हैं।

वर्तमान युग के अन्य प्रमुख लेखकों में काल-क्रम से चुनीलाल वर्धमान शाह (जन्म १८७७) का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने अधिकांशतः जासूसी और ऐतिहासिक उपन्यास और कहानियाँ लिखीं हैं। इनका साहित्यिक उपनाम 'साहित्य-प्रिय' है और इनकी रचनाओं में 'कर्मयोगी राजेश्वर', 'नीलकंठ नुं बाण', 'ज्योति अने ज्वाला', 'प्रणय अने परिणय' तथा 'जिगर अने अमी' अधिक प्रसिद्ध हैं।

गांधी-युग के अन्य साहित्यिकों में काका कालेलकर (जन्म १८८६) काफी प्रसिद्ध हैं। इनका पूरा नाम दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर है। जन्म से महाराष्ट्रीय होकर भी इन्होंने गुजराती भाषा में ही अपनी अधिकांश कृतियाँ प्रकाशित करायीं हैं, जिनमें 'हिमालय नो प्रवास', 'स्मरण-यात्रा', 'लोकमाता', 'जीवन नो आनन्द', 'जीवन-संस्कृति', 'जीवन-विकास', 'जीवन भारती', 'पूर्व अफ्रीका मां' तथा 'ओतराती दिवालो' मुख्य हैं।

कन्हैयालाल माणेकलाल मुन्शी (जन्म १८८७) वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक माने जाते हैं और उनका गुजराती-साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। उनकी

सर्वतोमुखी प्रतिभा के सभी कायल हैं और सारे देश के साहित्यिकारों को इस बात पर गर्व है कि उनकी श्रेणी में से उठकर एक व्यक्ति ऊँचे दर्जे का वकील, प्रखर वाग्मी, सधा हुआ राजनीतिज्ञ, संविधानसृष्टा, कुशल कूटनीतिज्ञ और अब राज्यपाल बन गया। इनका साहित्यिक उपनाम 'घनश्याम' है और उन्होंने १९१३-१४ में सर्वप्रथम साप्ताहिक गुजराती में अपना 'वेरनी वसुलात' नामक उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित कराया। तब से आज तक सरस्वती के इस वरदपुत्र ने, गुजरात के ही नहीं, बल्कि गुजराती से किये गये अन्य भाषाओं के अनुवादों के द्वारा अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में सारे देश के साहित्य-प्रेमियों की अनवरत प्रशंसा प्राप्त की है। अपने चालीस वर्ष के लेखन-काल में उन्होंने कहानी, उपन्यास और नाटक ही नहीं लिखे, बल्कि जीवन-चरित्र, निबन्ध और आत्मकथा भी लिखी है। साहित्य में सर्जन, विवेचन, संशोधन और इतिहास आदि अनेक क्षेत्रों में उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। किन्तु यह सच है कि मुन्शी जी विवेचक और विचारक अथवा संशोधक की अपेक्षा साहित्य-सर्जक के रूप में अधिक विख्यात हुए हैं।

यह सच है कि गोवर्धनराम के 'सरस्वतीचन्द्र' के चारों भाग प्रकाशित होने के बाद गुजराती में किसी साहित्यिक की रचना उतनी सर्वप्रिय और सारे भारत में प्रशंसा की पात्र नहीं बन सकी जितनी मुन्शी जी की कृतियाँ। मुन्शी जी गुजराती-साहित्य में नव-चेतना, नये पात्र, नये संवाद और नई रचना-शैली लेकर आये। इनके ऐतिहासिक उपन्यास सारे देश में बेजोड़ माने जाते हैं और वे हिन्दी में प्रकाशित होकर, गुजराती की अपेक्षा कहीं अधिक विख्यात हुए हैं।

मुन्शी जी की रचनाओं में 'वेरनी वसुलात' के बाद जब 'कोनो वांक' और 'पाटननी प्रभुता' का प्रकाशन हुआ तो उनकी कीर्ति मध्याह्न में पहुँच गयी और नरसिंहराव जैसे कठोर आलोचक को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि गुजराती में 'सरस्वतीचन्द्र' के जोड़ की यदि कोई रचना हुई है तो वह 'गुजरातनो नाथ' है। सच पूछा जाय तो 'गुजरातनो नाथ' का लेखन-तंत्र 'सरस्वती चन्द्र' की अपेक्षा कहीं ऊँचा है। इसी प्रकार मुन्शी जी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में 'जय सोमनाथ' सबसे अधिक ख्याति प्राप्त कर चुका है। उनकी कहानियों के कई संग्रह हिन्दी[1], मराठी, बँगला और कन्नड़ आदि दक्षिण की भाषाओं में भी अनुवादित होकर, प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। आत्मचरित के रूप में 'अड़धे रस्ते' की काफी ख्याति है। 'गुजरातना ज्योतिर्धरो' के द्वारा मुन्शी जी ने भारत के विशिष्ट खण्ड गुजरात की जनता में आत्मगौरव भरने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। मुन्शीजी की प्रायः सभी रचनाएँ हिन्दी में अनुवादित होकर काफी नाम पा चुकीं हैं।

मुन्शीजी के बारे में एक विचित्र वैशिष्टय यह है कि उनकी पत्नी श्रीमती लीलावती मुन्शी भी उच्च कोटि की स्त्री-साहित्यकार हैं। कहानियों, नाटकों, रेखाचित्रों और प्रवास पत्रों-द्वारा उन्होंने आधुनिक गुजराती साहित्य की श्रीवृद्धि की है। उनके निबन्धों और लेखों में जो प्रौढ़ता है वह लेखिकाओं में बहुत कम मिलती है। उन्होंने जीवन के प्रश्नों

---

१. हिन्दी में उनकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पर इन पंक्तियों के लेखक द्वारा अनूदित 'मेरी कमला' (प्रगति प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित) एक अधिकृत अनुवाद है।

का जो कलात्मक विवेचन पेश किया है उसमें भावों का सुन्दर सामजस्य है। उनकी रचनाओं में 'पांच पत्रो', 'जसोदानो जीवन-विकास', 'कुमारदेवी' और 'द्रौपदी' प्रसिद्ध हैं। अपने पति (श्री मुन्शी) के साझे में भी उन्होंने एक 'जीर्ण मन्दिर और यात्रालु' नामक विख्यात रचना की है।

गुजराती साहित्य में श्री रामनारायण विश्वनाथ पाठक (शेष, द्विरेफ और स्वैर-विहारी—उपनाम) ने कविता, कहानी, निबन्ध-समालोचना में काफी नाम पाया है। उनका 'शेषना काव्यो', 'द्विरेफनी बातों', और 'स्वैर-विहार' में से अन्तिम में सूक्ष्म और संस्कारी विनोदवृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है।

आधुनिक गुजरात के अन्य साहित्यिकों में रमणलाल वसन्तलाल देसाई अपने उपन्यासों के लिए प्रसिद्ध हैं। १९२० में उन्होंने नाटक-लेखन के द्वारा साहित्य में प्रवेश किया था। इनकी पहली रचना 'संयुक्ता' थी। इनकी दूसरी रचना 'शक्ति-हृदय' और 'कोकिला' नामक उपन्यास निकली। मुन्शी जी के बाद उपन्यासकार के रूप में यही चमके। इनकी रचनाओं में दाम्पत्य-मंगल, रसपूर्ण घटना-प्रसंग तथा सूक्ष्म एवं स्वच्छ विनोद-वृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है। आदर्श-परायणता और भावना-प्रियता की भी इनके पात्रों में कमी नहीं है। इनकी कृतियों में सौम्यता और मधुरता का सुन्दर प्रवाह है। रमणलाल का वर्णन-प्रवाह आकर्षक तो होता है, पर उनमें मुन्शी जी की रचनाओं के समान तेजस्विता, प्रखरता और तीव्रता न होकर वेग मन्द होता गया है। इनके 'दिव्य चक्षु', 'ग्राम-लक्ष्मी' और 'भारेलो अग्नि' आदि उपन्यास जितने चले, उतने बाद के 'सौन्दर्यज्योति', 'झंझावात' और 'प्रलय' नहीं चल पाये और इसमें उनकी कला-विधान की शिथिलता स्पष्ट झलकती है। 'नीहारिका' नामक उनकी कविताओं का संग्रह भी प्रकाशित हुआ है, पर हमारे खयाल में उपन्यासकार रमणलाल कवि रमणलाल से कहीं ऊंचे हैं।

गुजराती-साहित्य में 'धूमकेतु' का नाम काफी प्रसिद्ध है। इनका पूरा नाम है गौरी-शंकर गोवर्धनराम। इन्होंने कहानी, उपन्यास, नाटिका, प्रवास-वर्णन, निबन्ध, ऐतिहासिक रेखाचित्र, आत्मकथा आदि सभी विषयों पर लेखनी उठायी है, पर इन्हें अधिक यश कहानियों-द्वारा ही मिला है। १९२६ में इनका पहला कहानी-संग्रह 'तड़खा' के नाम से प्रकाशित हुआ। इन कहानियों में एक ऐसी विशेषता है जो अन्य किसी गुजराती कहानी-लेखक की रचना में नहीं है। इनमें स्थल, काल, पात्र और परिस्थिति की अपार विविधताएँ भरीं पड़ीं हैं। सामान्य रूप से समाज में उपेक्षित अभद्र, अशिक्षित और असंस्कारी कहे जानेवाले पात्रों को, हिन्दी के औपन्यासिक-सम्राट् श्री प्रेमचन्द्र की भाँति, इन्होंने भी अपूर्व स्थान दिया है। 'धूमकेतु' पर कहीं-कहीं श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुन्शी की छाप है; फिर भी उनकी रचनाओं से जीवन के विषय में उनके गम्भीर चिन्तन की ऐसी मौलिक झलक मिलती है जो गुजराती के किसी भी साहित्यिक की कृति में नहीं है।

किशोरलाल मशरूवाला गांधीवादी साहित्यिकों में उच्च श्रेणी के थे और इसीलिए उन्हें 'हरिजन' जैसे पत्र का सम्पादन सौंपा गया था। उनकी दृष्टि स्वतंत्र, मति तटस्थ और विचार तर्कशुद्ध थे। इसीलिए उनकी गणना भारत के उच्च विचारकों में

हो गयी। उनकी गुजराती रचनाओं में 'राम अने कृष्ण', 'बुद्ध अने महावीर', 'यीशू ख्रिस्त' (महात्मा ईसा) का 'जीवनचरित्र', 'जीवन-शोधन' और 'समूली क्रान्ति' प्रसिद्ध हैं।

महादेव हरिभाई देसाई महात्मा गांधी के प्राइवेट सेक्रेटरी होने के कारण ही नहीं, बल्कि साहित्य-सृजन के प्रति सच्चे प्रेम के कारण गुजराती-साहित्य में प्रसिद्ध हो गये। उन्होंने 'बारडोली सत्याग्रहनो इतिहास', 'वीर वल्लभभाई' और 'सन्त फ्रांसिस' द्वारा अपनी वेधक दृष्टि और सुन्दर गद्यशैली का परिचय दिया ; किन्तु शायद उनका सर्वोत्तम साहित्य उनकी 'डायरी' थी जो उनके गांधीजी के जीवन-प्रसंग की अमर-चिरन्तन रचना है। वे जीवित होते तो आज हमें उनकी और भी कई रचनाएँ देखने को मिलतीं।

गुजराती में गजल का प्रचार बढ़ाने में श्री हरजी लवजी दामाणी (शैदा) का खास स्थान है। इनके कितने ही उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'माँ ते माँ' '(माँ तो माँ ही है) और 'मुमताज' सर्वोत्तम हैं। इनकी कविता की छटा 'जय भारती' में देखी जा सकती है।

जवेरचन्द्र कालिदास मेघाणी लोकगीत और लोकगाथाओं के लिए प्रसिद्ध हो गये हैं। उन्होंने काव्य, नाटिका, कहानी उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, जीवनचरित्र, व्यंग्य आदि पर खूब लिखा है और लोक-साहित्य के सम्पादन-संशोधन में एक विख्यात और सुन्दर गायक भी थे। उनकी रचनाओं में 'युग-वन्दना', 'एकतारो', 'रवीन्द्र-वीणा' (उपन्यास), 'सोरठ', 'तारां वहेता पाणी', 'तुलसी क्यारो', 'वैविशाल', 'गुजरातनो जय', 'वसुन्धराना वहालां दवलां' (उपन्यास), 'मेघाणीनी कहानियो' (लोक-साहित्य), 'सौराष्ट्रनी रसधार', 'रढ़ियाली रात', 'चुंदड़ी', 'कंकावटी', 'सौरठी वहारवटिया', 'सौरठो सन्तो' और 'धरतीनो धावण' प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त वर्त्तमान-काल के अन्य लेखकों में ज्योतीन्द्र दवे हास्यरस में, चन्द्रवदन मेहता काव्य और नाटकों में, गजेन्द्र गुलाबराय 'बुच' अपने गान-लेखन में, झीणाभाई (स्नेहरश्मि) काव्य और उपन्यास में, मनसुखलाल मगनलाल झवेरी अपने सन्तुलित विवेचन एवं आत्मलक्षी कथा, परलक्षी वर्णन और चिन्तन तथा विषय-निरूपण में, त्रिभुवन पुरुषोत्तम लुहार ('सुन्दरम' और 'त्रिशूल') काव्य, उपन्यास तथा प्रवास-वर्णन में प्रसिद्ध हैं।

मंगल-काव्य

'भारतीय साहित्य' की अन्तरात्मा मंगलमयी है। उसके शब्द-अर्थ में यह मंगल निरंतर अभिव्यक्त होता रहा है। उसका प्रत्येक रूप स्वयं मंगल-प्रदान करनेवाला माना गया है। काव्यशास्त्र में "शिवेतरक्षतये" के आदर्श को काव्य का एक मुख्य लक्ष्य माना गया है। इसी प्रेरक भावना के कारण किसी भी भारतीय रचना के आदि और अन्त में क्रमशः शुभकामना और ग्रंथ के माहात्म्य का उल्लेख रहता है। इसमें स्पष्टतः यह कहा जाता है कि जो इस रचना को पढ़ेगा या सुनेगा उसका कल्याण होगा, उसे 'कोटि यज्ञ का फल' मिलेगा आदि। यह मंगलमयी भावना साहित्य में जब अत्यन्त प्रखर हो उठती है तो वह (१) मंगलाचरण, नान्दी, आशीः, का रूप ग्रहण करती है; (२) स्तोत्र स्तुति, स्तवन, विनय, प्रार्थना भी उसीका दूसरा रूप है। इनमें मंगल का ध्यान और मंगल की कामना अथवा याचना का भाव रहता है। इनमें कवि स्वयं मंगल की शरण में पहुँच जाता है। किन्तु इस मंगल-भावना का रूप जब जीवन के किसी मंगलमय सूत्र से सम्बद्ध हो जाता है, तब उसकी वाणी में काव्य का मंगलमय रूप स्वतः अवतीर्ण हो जाता है। जीवन में विवाह एक ऐसा ही मांगलिक अवसर है। दिव्य मंगल में देवी-देवताओं के विवाह के वर्णन आ सकते हैं। ऐसे मंगल काव्यों की भी एक दीर्घ परंपरा हमें भारतीय साहित्य में मिलती है। यहाँ हम इसी परंपरा का कुछ परिचय विविध भारतीय भाषाओं के विद्वानों की लेखनी से प्रस्तुत कर रहे हैं।

अ

श्री अगरचन्द नाहटा

विवाह और मंगल काव्यों की परम्परा

भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम का बड़ा महत्त्व है। अन्य सभी आश्रम इसी पर आश्रित हैं। विवाह को काम ही नहीं, धर्म में स्थान मिला है। वैसे तो सभी शुभ कार्य मंगलरूप या मांगलिक कहे जाते हैं पर विवाह उन सब में प्रधान है। विवाह में स्त्री और पुरुष का, दो भिन्नलैंगिक आत्माओं का, सम्मिलन, गठ-बन्धन होता है। उनके हृदय में तो इससे स्वाभाविक रूप से हर्ष और उत्साह रहता ही है, पर अन्य कुटुम्बीजन गोत्र व जाति तथा ग्राम-नगर में भी हर्षोत्कर्ष की एक नई लहर दौड़ जाती है। उस समय सधवा स्त्रियाँ बड़े ही उमंग से मंगल गीत गाती जाती हैं। इस

तरह विवाह के लिए "मंगल" की संज्ञा रूढ़ हो गई है। कोई भी ऐसा अटपटा काम जो अमंगल माना जाता हो, इस समय नहीं किया जाता। "मंगल-प्रसंग" के समय उनका होना निषिद्ध है।

जीवन के उल्लासदायक अनेक प्रसंगों में विवाह अत्यन्त आनंद-मंगल का प्रसंग है। इस लिए कवियों ने इस प्रसंग का वर्णन बड़ी ही सुन्दर शैली में किया है। विवाह के वर्णन–प्रधान काव्यों की संज्ञा 'विवाह', 'विवाहलउ', 'विवाहलौ', 'विवाहला' पाई जाती है। चौदहवीं शती के प्रारंभ से ही लोकभाषा में रचित ऐसी स्वतंत्र रचनाएँ मिलने लगतीं हैं, जिनकी परम्परा २० वीं सदी तक निरन्तर चली जाती है। इस संज्ञा वाली प्राचीन धार्मिक रचनाएँ जैन विद्वानों कीं हैं और उनमें 'द्रव्य' और 'भाव' दोनों प्रकार के विवाहों का सुन्दर वर्णन मिलता है। 'द्रव्य विवाह' पति पत्नी के सम्बन्ध जोड़ने से संबद्ध है। 'भाव विवाह' में आध्यात्मिक रूपकों की प्रधानता है। जैनाचार्यों के "द्रव्य विवाह" का तो कोई प्रसंग नहीं आता, क्योंकि वे प्राय: बाल ब्रह्मचारी होते हैं। अत: कवियों ने उनके दीक्षा-ग्रहण के समय को लेकर "दीक्षा कुमारी" व "संयम श्री" को कन्या मानकर, इनके साथ, उनके विवाह के रूपक बाँधे और "संयम श्री विवाह वर्णन काव्य" रचे। दूसरे प्रकार के रूपक काव्यों में आत्मा के कुछ विशेष गुणों को कन्या का रूपक देकर, उनके साथ आत्मा का संबंध अर्थात् विवाह कराते हैं। इस प्रकार के अन्तरंग अर्थात् आभ्यान्तरिक विवाह वर्णन करने वाले आध्यात्मिक रूपक काव्य भी मिलते हैं। इनमें से सबसे प्राचीन काव्य, अपभ्रंश भाषा में अनेक रचनायें करने वाले आगमिक गच्छीय जिन प्रभु सूरि का 'अन्तरंग विवाह", प्रकाशित हो चुका है। जैनाचार्यों के संयम श्री के साथ विवाह का वर्णन करनेवाले कई रास हमारे द्वारा संपादित 'ऐतिहासिक रास-संग्रह' आदि में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से–'जिनेश्वर सूरि और जिनोदय सूरि विवाहला' बड़ा ही सुन्दर काव्य है। इनमें से प्राचीनतम होने के कारण जिनेश्वर सूरि के विवाहले का आवश्यक अंश पाठकों की जानकारी के लिए दे रहा हूँ —

'अंबड़ु' पभणइ माइ सुणि, परिणिसु संजम लच्छि।
वकु जुए पुहविहि सलहियई, जायउ लखमिणि कुच्छि ।।१५।।
अभिनव ए चालिय जान उत्र, अंबड़ु तणइ वीवाहि।
अप्पुणु ए धम्मह चक्कवई हूयउ जानह माहि ।।१६।।
आवहि आयहि रंगभूमि, पंच महव्वय राय।
गायहि गायहि महुरसरि, अट्ठय पवयणमाय ।।१७।।
अढ़ार–सहसह रहवरह, जोत्रियतहि सीलंग।
चालहि चालहि खंति सुह, वेगिहि चंग तुरंग ।।१८।।
कारइ कारइ "नेमिचंदु" भंडारिउ उच्छाहु।
वावइ वावइ जान वेकि लखमिणि हरषु अथाहु ।।१९।।
कुसलिहि खेमहि जानउत्र पहुतिय खेड मझारि।
उच्छवु हुयउ अइ पवरो, नाचइ फरफर नारि ।।२०।।
जिणवइ सूरिण मुणि पवरौं, देखण अमिय रसेण।

कारिय जीमणवार तहि, जानह हरिस भरेण ॥२१
संति जिणेसर वर भुयणि मांडिउ नंदि सुवेहि।
वरिसहि भविय दाणजलि, जिम गयणं गणि मेह ॥२२॥
तहि अगया रिय नीपजइ झाणानलि पजलेंति ।
तउ संवेगहि निम्मियउ, हथलवेउ सुभ हुंत्ति ॥२३॥
इणि परि 'अंबड' वर कुयरू, परिणइ संजमनारि।
वाजइं नंदीय तूर वण, गूडिय घर घर बारि ॥२४॥

इसमें जिनेश्वर सूरि (जिन का जन्म का नाम अंबड़ था) का संयम श्री अर्थात् दीक्षा के साथ विवाह होने का वर्णन है। जान, गीतगान, रथादि का चलना, उत्सव होना जीमनवार, चँवरी का मांडना, अग्नि प्रज्वलित करना, हथलेव मिलाना, बाजे बजना आदि सभी वैवाहिक कार्यों का रूपक के रूप में सुन्दर वर्णन है। यह रचना सं. १३३१ की है। प्राप्त राजस्थानी विवाह काव्यों में यह सबसे प्राचीन है। इसके कुछ समय पहले का रचित जिनप्रभ सूरि का अपभ्रंश अन्तरंग विवाह प्राप्त है। इन दोनों प्रकार के रूपक – विवाह वर्णन करने वाले काव्यों की परम्परा १४वीं से १६ वीं शताब्दी तक ही रही। अन्तरंग विवाह काव्य दो तीन ही मिलते हैं। संजम श्री विवाह सात आठ प्राप्त हैं।

पति पत्नी के सम्बन्ध जोड़ने वाले द्रव्य-विवाह का वर्णन करने वाली प्राचीन रचनाएँ जैन तीर्थंकरों और पौराणिक पुरुषों से सम्बन्धित हैं। उनमें सबसे अधिक रचनाएँ श्री कृष्ण के पिता के बड़े भाई समुद्रविजय के पुत्र २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ के विवाह वर्णन के प्रसंग की हैं। पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ, सुपार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के भी विवाहला काव्य मिलते हैं। अन्य जैन महापुरुषों में आर्द्र कुमार, कयवन्ना, जम्बूस्वामी, मंगल कलश, शालिभद्र आदि के विवाहला प्राप्त हैं। जैन कवियों के रचित करीब ४० विवाहले काव्य लेखक की जानकारी में हैं। इनमें से बहुत से तो इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में भी हैं।

गुजरात के जैनेतर कवियों के भी लगभग ४० विवाह-ग्रंथों का मेरी खोज में पता चला है, जिनमें कृष्ण, शिव, जानकी, सामलशाह आदि के विवाह काव्य अधिक हैं। उनमें सबसे प्राचीन नरसिंह रचित 'सामलशाह का विवाहला' व डामर रचित 'वैणी वत्स-राज विवाहला' १६ वीं सदी के हैं।

राजस्थानी भाषा में जैनेतर कवियों के द्वारा रचित विवाह संबंधी काव्यों में पद्मा तेली रचित 'रुक्मणि विवाहला' १७ वीं शताब्दी में रचा गया, जो मूलतः २५०–३०० श्लोकों में था। इसकी सबसे प्राचीन प्रति (सं. १६६८ की लिखित) हमारे संग्रह में है। दूसरा प्रसिद्ध सर्वश्रेष्ठ राजस्थानी काव्य बीकानेर के राठौड़ पृथ्वीराज का 'कृष्ण रुक्मणि री बेलि' है। इसमें कवि ने रचना की संज्ञा 'वेलि' देने के साथ साथ "मंगल" भी दी है– "मुख कहि किसन रुकमणि मंगल"। यह सं. १६३७–३८ व एक अन्य परम्परा के अनुसार सं. १६४४ में रचा गया। 'गुण विजै विवाह' बारठ मुरारी दान रचित (१८ वीं शताब्दी का) हमारे संग्रह में प्राप्त है। राजस्थानी में और भी कुछ "मंगल" काव्य मिलते हैं। सीता व पार्वती के विवाह-वर्णन वाले मंगल काव्य भी हैं। 'कृष्ण-रुक्मिणी री वेलि' की भाँति शिव-पार्वती वेलि

भी प्राप्त हैं एवं रुक्मिणीहरण काव्यों में भी विवाह का प्रसंग है ही। जैन कवियों एवं गुजराती के जैनेतर कवियों की समस्त विवाह वर्णनात्मक रचनाएँ "विवाह" या "विवाहला" संज्ञा की हैं। "मंगल" संज्ञक नहीं मिलती। पर कुछ राजस्थानी जैनेतर रचनाओं की संज्ञा "मंगल" भी है।

हिन्दी में विवाह-वर्णन-काव्यों की संज्ञा "विवाह" के साथ "मंगल" भी पायी जाती है। सर्वप्रथम इस संज्ञा का प्रयोग हम 'पृथ्वीराज रासो' में "विनय-मंगल" प्रस्ताव खंड में पाते हैं। रासो के लघुतम संस्करण में तो यह खंड नहीं है, पर अन्य संस्करणों में है। वृहद् संस्करण के ४६ वें समय के रूप में यह प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें संयोगिता के जन्म व यौवन का वर्णन है। संयोगिता मदन-वृद्ध ब्राह्मणी के घर पर जाती थी और उसे वह 'विनय-मंगल' पढ़ाती थी। इसमें पति का गौरव, स्त्रियों की पति के प्रति अनन्य प्रेम-भावना और विनय की प्रशंसा वर्णित है। पृथ्वीराज रासो के इस अंश को यदि प्राचीन माना जाय तो हिन्दी में "मंगल" संज्ञक यह सबसे पहली रचना कही जा सकती है। अन्यथा हरिहरनिवास द्विवेदी के कथनानुसार ग्वालियर के कवि विष्णुदास रचित 'रुक्मणि-मंगल' सबसे पहला हिन्दी का स्वतन्त्र "मंगल" संज्ञक काव्य है। श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने विष्णुदास को डूँगरेन्द्रसिंह तोमर के समकालीन बतलाते हुए, इसका रचना काल सं. १४९२ के लगभग का माना है। उन्होंने जो उद्धरण दिये हैं वे राग गौरी, रागनी पूर्वी आदि गेय पदों के रूप में हैं। इसकी एक नई सी प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी में है। अन्य शुद्ध व प्राचीन प्रति मिलने पर इसके संबंध में विशेष प्रकाश डाला जायगा।

इसकी परवर्ती रचनाओं में कबीर रचित 'आदि मंगल' वगैरह के नाम मिलते हैं पर वे संदिग्ध हैं। निश्चित रचनाओं में कवि नरहरि रचित 'रुक्मणि मंगल" उल्लेखनीय है। इसके प्रारंभ में मंगल गाने का उल्लेख है –"

प्रथमहि लीजै नाम परम सिधि पाइऐ।
गनपति गौरि, मनाइऐ मंगल गाइए।

यह "रुक्मिणि मंगल" लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित डा. सरयूप्रसाद अग्रवाल की थीसिस "अकबरी दरबार के हिन्दी कवि" के पृष्ठ ३३४ से ३४४ में प्रकाशित हो चुका है।

इसी समय के आसपास का अन्य मंगल काव्य अष्ट छाप के सुप्रसिद्ध कवि नंददास का "रुक्मणि मंगल" है और वह भी नंददास-ग्रन्थावली आदि में प्रकाशित हो चुका है।

इसके बाद कविवर तुलसीदास के "पार्वती मंगल" व "जानकी मंगल" का स्थान है। ये दोनों तुलसी-ग्रन्थावली में छप चुके हैं। इनमें विवाह और मंगल दोनों संज्ञायें प्रयुक्त हैं। 'पार्वती मंगल' १६४ पद्यों का है। इसका एक रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संपादित सार्थ संस्करण सन् १९३५ में तदनन्तर रामचन्द्र श्रीवास्तव का टिप्पणियों से विभूषित संस्करण साहित्यरत्न भंडार से और डा. माताप्रसाद गुप्त संपादित संस्करण ९९ वें पद्यों के [illegible] हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सन् '३७ में प्रकाशित हुआ। इसकी रचना

सं. १६४३ के फाल्गुन सुदी ५ गुरुवार को हुई। "जानकी मंगल" इससे बड़ा है। इसकी पद्य संख्या २१६ है। इसके प्रारंभ में 'सिय रघुबीर विवाह यथा मति गावैं' और अंत में "जे सिय राम मंगल गांवहि" शब्दों द्वारा विवाह और मंगल दोनों संज्ञाएँ दीं गईं हैं। इसके प्रारंभ में "मंगल" नामक छन्द की सूचना है। कविवर नरहरि के 'रुक्मणि मंगल' में भी छन्द के बाद "मंगल छंद"का निर्देश है। इससे स्पष्ट है कि तब तक मंगल नाम का छन्द भी रूढ़ हो गया था। छन्दशास्त्रीय ग्रन्थों में इसके लक्षण आदि देखने चाहिए आचार्य हेमचन्द्र ने तो 'छन्दोनुशासन' में धवल और मंगल छन्द का निर्देश किया ही है। उनके अनुसार मंगल छंद के प्रथम द्वितीय चरण में २० या २१ मात्रायें और तृतीय व चतुर्थ चरण में २२ या २३ मात्रायें होतीं हैं। अन्य अन्य छंदों में होने पर उनका नाम उत्साह मंगल, दोहक मंगल होता है। इस उल्लेख से मंगल काव्यों की परम्परा १२ वीं शताब्दी से पहले की सिद्ध होती है।

इसके पश्चात् कई मंगल काव्य रचे गये, पर उन सब में रचना काल का उल्लेख न होने से उनका क्रमिक वर्णन करना संभव नहीं है। यहाँ कुछ प्रधान ग्रन्थों का उल्लेख दिया जाता है।

बीकानेर के श्री मोतीचंद जी खजांची के संग्रह के एक गुटके में "मंगल" संज्ञक तीन काव्य हैं। इनमें एक सूर कृत "राधा मंगल" छोटा सा काव्य है। इसे लेखके अंत में दिया जा रहा है। प्रसिद्ध कवि सूरदास से इसके रचयिता सूर संभवतः भिन्न होगें।

दूसरी रचना तुलसी-रचित "जानकी मंगल" है पर यह प्रसिद्ध तुलसीदास जी से भिन्न कवि ही प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ की पद्य संख्या ४९ है। आदि अंत इस प्रकार है :—

आदि :— प्रथमा सुमरि गुरुदेव गणेश मनाइयै।
　　　शारद को सिरनाइ रामगुन गाइयै।

अन्त :— तुलसी सीताराम सहित उर आनियै
　　　श्रीराम भगति बिनजन्म अवरथा जानियै। ४८।।

दोहा :— स्याम रंग शृंगार को, अरुण रंग अनुराग
　　　पीताम्बर हरि प्रेम को, ओढ़ै जो बढ़ भाग।

इस गुटके की तीसरी रचना उदय कवि रचित "रुक्मणि मंगल" २३३ पद्यों की है। इसके आदि अन्त का परिचय "भारती" में प्रकाशित "उदय कवि की ६ अज्ञात रचनाएं" नामक अपने लेख में मैं प्रकाशित कर चुका हूँ।

अन्य उल्लेखनीय रचनाओं में केसौराय रचित 'रुक्मणि मंगल' सं. १७५० फाल्गुन वदी ११ को मथुरा में रचा गया। केसौराय कायस्थ थे। इसमें दोहा, कवित्त, सवैया आदि छन्द हैं। इसके ब्रजभाषा की बड़ी प्रौढ़ और भावपूर्ण रचना होने का उल्लेख डा. मोतीलाल मेनारिया ने अपने विवरण ग्रन्थ में किया है। उनके अनुसार इनका "कैसव सागर" नामक फुटकर कविताओं का संकलन भी है। "दोनों ग्रन्थों की कविता बहुत प्रौढ़ मार्मिक एवं काव्य लालित्य से ओतप्रोत हैं। इनके आधार पर केसौराय की गणना हिन्दी के मतिराम,

पद्माकर आदि गण्यमान्य कवियों की श्रेणी में आसानी से की जा सकती है।" इनके 'रुक्मणि मंगल की प्रति सं. १७५२ में लिखित, १०४ पद्यों की सरस्वती भंडार, उदयपुर में है।

अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर में कृष्णदास रचित "कृष्ण रुक्मणि रो विवाहलो" सदा कुँवर (?) रचित 'सीता रामजी को स्वयंवर', रूपदेवी रचित 'रुक्मणि मंगल', नारायण रचित 'ब्याहखेल', गुल-राय रचित 'विवाह मंगल', और जगनंद रचित 'विवाहलीला' अथवा 'गोकलेश चरित्र' की प्रतियाँ प्राप्त हैं। इनमें से गोकलेश विवाह का विवरण मेरे 'राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज' भाग ४ में दिया गया है। यह एक ऐतिहासिक काव्य है जिसमें वल्लभ संप्रदाय के आचार्य गोकल जी के विवाह का विस्तृत वर्णन है।

कच्छ के व्रजभाषा प्रेमी महाराव लखपत रचित "शिव विवाह" की प्रति राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर जयपुर के संग्रह से मुझे प्राप्त हुई थी। इसकी पद्य संख्या २७३ है और रचना सं. १८०५ श्रावण सुदी ५ की है। इस रचना का परिचय मैं "जीवन साहित्य" में दे चुका हूँ। कच्छ में रचित दूसरा विवाह-वर्णन जैन कवि लक्ष्मी कुशल का रचित "पृथ्वी-राज विवाह" भी उक्त जयपुर संग्रह से मिला है। इसमें कच्छ के राजकुमार पृथ्वीराज का विवाह प्रसंग ५२ पद्यों में वर्णित है। सं. १८५१ के वैसाख बदी १० को इसकी रचना हुई।

सुप्रसिद्ध निरंजनी संप्रदाय के प्रवर्तक हरिदास रचित "व्याहलो" हरि पुरुषजी की वाणी में छप चुका है। अन्य संतकवियों के "रूपक-विवाह" वर्णन भी प्राप्त हैं। इनमें से एक का उद्धरण श्री परशुराम चतुर्वेदी के संतकाव्य ग्रन्थ के पृष्ठ ६१–६२ में देखा था। इनके 'उत्तर भारत की संत परम्परा' के पृष्ठ ५४७ में संत जगजीवन सा. के शिष्य देवीदास रचित "विनोद मंगल" और "भक्ति मंगल" का उल्लेख है।

वैसे कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनका नामान्त पद विवाह या मंगल नहीं है पर हैं वे विवाह वर्णन काव्य ही, जैसे कुंजदास रचित 'ऊषा चरित्र' में ऊषा अनिरुद्ध के विवाह का ही वर्णन है। सं. १८३१ कार्तिक सुदी २ से (३ दिन में) यह रचा गया है! खोज करने पर ऐसे विवाह वर्णन काव्य अनेक मिलेंगे। नामान्त पद चाहे चरित कथादि रखा गया हो पर वास्तव में वे लक्षण की दृष्टि से मंगल काव्य ही हैं।

'हस्त लिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' भाग १ के पृष्ठ १४७ में (१) नवल-सिंह (प्रधान) कृत रुक्मणि मंगल (सं. १९२५) (२) हीरा लाल के रुक्मणि मंगल (सं. १८३९), (३) राम कृष्ण चौबे प्रथम और द्वितीय के दो रुक्मणि मंगल, ठाकुरदास रचित रुक्मणि मंगल (सं. १८३७) का विवरण सन् १९११ तक की रिपोर्टों में होने की बात लिखी है। इसके बाद मिहिरचंद, रामलाल के रुक्मणि मंगल का विवरण छपा है। उसके पश्चात् गत ४ वर्षों में और भी अनेक मंगल काव्यों का विवरण खोज रिपोर्टों में लिया गया होगा। अन्य फुटकर उल्लेखों में नागरीदास का 'स्वामी हरिदास मंगल', बालकृष्ण का 'जानकी मंगल', चतुरदास का 'कृष्ण-रुक्मणि विवाह', हितवृंदावनदास का 'कृष्णगिरि पूजन मंगल' नारायणदास कृत 'ब्याहलो' के उल्लेख मिलते हैं। हिन्दी भाषा का सबसे अन्तिम मंगल काव्य चतुरभुज दास स्वामी रचित "भवानी मंगल" सं. १९६४ में रचा गया और वह प्रकाशित हो चुका है।

एक 'रुक्मिणी मंगल' उस्ताद इन्दरमन का सन् १९२१ में प्रकाशित हमारे संग्रह में है। हिन्दी मारवाड़ी मिश्रित भाषा में बालचंद तैनाणी रचित 'ऊखाअनिरुद्ध व्याहलो ख्याल' एवं रुक्मणि विवाह या मंगल, (ऋषि पूर्णानंद मिखवाल, मारवाड़ डेन्डा निवासी के रचित) सन् १९२० के प्रकाशित हमारे संग्रह में हैं।

मंगल काव्यों की सर्वाधिकता और लम्बी परम्परा बँगला भाषा में मिलती है। श्री हंस कुमार तिवारी लिखित 'बँगला और उसका साहित्य' पुस्तक के अनुसार बँगला भाषा का सर्व-प्रथम 'मंगल काव्य' सन् १४८१ के लगभग मालाधर वसु ने 'कृष्ण-विजय' नामक लिखा, जिसकी प्रसिद्धि 'कृष्ण-मंगल' या 'गोविन्द मंगल' नाम से भी है। उन दिनों पांचाली में देवता या उसके समान पुरुष के गुण-वर्णनात्मक काव्यों की संज्ञा 'विजय' या 'मंगल' ही रक्खी जाती थी। पहले इस अर्थ में इस शब्द का व्यवहार जयदेव ने किया था।

'मंगल' संज्ञा वाले काव्यों में—'मनसा मंगल', 'चंडी मंगल' ही प्रधान है। कवि विजयगुप्त का "मनसा मंगल" सन् १४८५ की रचना है। उनसे पूर्ववर्ती हरिदत्त के "मनसा मंगल" का एक ही पद मिला है। विजयगुप्त की रचना के सालभर बाद ही विप्रदास ने 'मनसा मंगल' लिखा। मनसा साँपों की देवी है और उसके मंगल काव्यों की संख्या ६० से भी अधिक है। 'शीतला मंगल', 'सृष्टि मंगल' आदि अन्य कई व्रतकथाओं से संबंधित मंगल काव्य मिलते हैं। कवि जयानंद और लोचनदास का 'चैतन्य मंगल' भक्त-श्रेष्ठ चैतन्य महाप्रभु की जीवनी से सम्बन्धित है। परवर्ती मनसा मंगल काव्यों में वंशीवादन, नारायण देव, क्षीमानंद, केतकादास, आदि अनेक कवियों के काव्य प्राप्त हैं।

चंडी-मंगल पर लिखे गये काव्य १६ वीं शताब्दी मे मिलते हैं। सबसे प्रसिद्ध कवि कंकण मुकुन्दराम चक्रवर्ती का 'चंडी मंगल' है। माधवाचार्य का 'चंडी मंगल' सन् १५८० में लिखा गया। १० वीं १८ वीं शताब्दी में कृष्ण मंगल काव्य भी लिखे गये, जिनमें से दुःखी श्यामदास का 'गोविंद मंगल', द्विज हरिदास का 'मुकन्द मंगल' आदि उल्लेखनीय हैं। 'सृष्टि मंगल', राय मंगल' 'कालिका मंगल', 'अन्नदा मंगल' आदि काव्यों के सम्बन्ध में हंस कुमार तिवारी की उक्त पुस्तक द्रष्टव्य है।

हिन्दी और राजस्थानी के 'मंगल" संज्ञक काव्य विवाह-वर्णन-रूप हैं। पर बँगला मंगल काव्य व्रत-कथाओं और चरित-काव्यों के रूप में हैं, यही इनका बड़ा अन्तर है।

इस प्रकार राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी और बँगला चार भाषाओं के विवाह और मंगल काव्यों सम्बन्धी अपनी जानकारी प्रस्तुत लेख में उपस्थित करने का प्रयत्न मैंने किया है। अभी इस सम्बन्ध में स्वतंत्र अन्वेषण की बहुत आवश्यकता है। यह प्रयास तो केवल दिशासूचक मात्र है। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी ऐसे काव्यों की परम्परा रही होगी उसकी खोज भी होनी चाहिये। मुझे ज्ञात जैन, राजस्थानी, गुजराती व हिन्दी रचनाओं की सूची मैंने अपने अन्य लेख में दी है, जो प्राच्यविद्या परिषद (अहमदाबाद् अधिवेशन) के पठित लेख-संग्रह-ग्रन्थ में शीघ्र ही प्रकाशित होगी।

अब हमारे साहित्य के विविध प्रकारों की स्वतंत्र रूप से खोज व अध्ययन होना आवश्यक है। इस दिशा में मैंने अपनी जानकारी नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित

'प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध संज्ञाएँ' में दी है और फागु, बारह मासा, रास, पवाडा, अखरावट, संवाद आदि की परम्परा पर स्वतंत्र लेख भी प्रकाशित किये हैं। अभी इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रो. मंजुलाल मजमूदार का 'गुजराती साहित्यनो स्वरूपो' नामक प्रकाशित हुआ है। उसमें विवाहलौ, वेलिमंगल और विवाह संज्ञक काव्यों पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। मैंने अपने इस लेख में उसका उपयोग नहीं किया। अपनी जानकारी ही दी है।

राधा–मंगल

चौपाई—बरसानें वृषभान दुलारी, शरद कमल दल लोचन प्यारी।
शरद कमल अरु रूप रसाला, खेलन गई जहाँ नँद लाला।
विततें आई जसुमति रानी, प्यारी बोलि भवन में आनी।
छंद —प्यारी बोलि भवन में आनी, आभूषन पहराइयाँ।
सूर के प्रभु सहज नख सिख, प्यारी घरें पठाइयाँ ॥१॥
चौपाई—अहो मेरी प्राँन पियारी, भोरई खेलन कहाँ सिधारी।
कुमकुम भाल तिलक किन कीनों, कोंनें मृगमद वेंदा दीनों।
छंद —वेंदा जु दीयौ मृगमद कौ मस्तक निरखि संसौ परयौ।
शरद मुख की कला पूरन, मनों शशि दरपन धरयौ।
हेरि हसि मुख कह्यौ जननी, अलप बेंनी किन गुही।
सूर के प्रभु भरमाहि व्याकुल, रचीयें विधिना मथि मही ॥२॥
चौपाई—अरी मांतु नँद घरनी सोहै, मेरे वदन तन मुरि मुरि जोहै।
खेलत उन में ढिग बैठारी, मन में कीयौ अति आनंद भारी।
छंद —आनंद भारी कीयौ मन में देखिसुत विह्वल भई।
बाबाजी कौ नाम लैले, तोहि हँसि गारी दई।
पाटी पारि सम्हारी बेसरि, बहु मेवा गोदन भरी।
सूर के प्रभु हरखि हिय में, विधना सों विनती करी ॥३॥
चौपाई—बात सुनत कीरति मसिक्यांनी, मैं नंद रानी के मन की जानी।
मेरी सुता है रूप की रासी, वे कान्हर वनवासि उदासी।
छंद —कान्हर वनवासि उदासी कहियै, रंग ढंग क्यों बनें।
नील मनि ढिग रतन मानिक काच कंचन क्यों सनें।
ललिता विसाखा सूं कह्यौ, ललीय तजि तुम कहाँ गई।
सूर के प्रभु भवन बाहिर, जानि मति दीजौ कही ॥४॥
चौपाई—दिन दश पाँच अटक जब कीनी, कुँवरी कूं कान्ह दिखाई दीनी।
मुसकाय परी जब वपु न सम्हारें, प्यारी डसी भुजंगम कारे।
छंद —कारे भुजंगम डसी प्यारी, गारुरू हारे सबै।
नंद-नंदन के मंत्र बाहिर, यह विष टारयौ ना टरें।
मनुहारि कारि जब मोंहन लाये, देखत ही विष नस्यौ सबै।

सूर के प्रभु जोरी अविचल, जुग जुग जिऔ दोऊँ जनें ॥५॥
चौपाई—श्री राधेजी वदन पिछान्यौ, मन मोहन तन अचरा सम्हारयौ ॥
देखि उठी मन कीयौ हुलासा, कीरति गई अपने पति पासा।
छंद —कीरति गई पति के पास रंग ढंग अब कीजियें।
मंत्र कीजे विवाह कौ सब, सखीयन भंग लगाइयें।
वंदावन में रच्यौ सुयंवर फूल मंडप छाइयौ।
सूर के प्रभु स्याम घन श्री, राधिका वर पाइयौ ॥६॥
चौपाई—मुकुट धरि मौर बनायौ, हरि माथें धरि ब्याहन आयौ।
ग्वाल बाल सब भये बराती सुर तेतीसों देव मुनि साथी।
छंद —सुर तेतीसों देव मुनि साथीइं, निसांन घुरायौ।
रहसि बधायौ कीयौ प्रभुजी नें सूर मंगल गाइयौ ॥७॥
॥ इति श्री राधामंगल संपूर्ण ॥

आ

डा. आर. जी हर्ष

मराठी मंगलकाव्य

मराठी में कितने ही स्तोत्र हैं, भक्तिपूर्ण पद हैं, भूपाली हैं, धावे और करुणाष्टक हैं, विविध प्रकार की आरतियाँ हैं और भी ऐसे ही अन्य रूप हैं, जो विविध देवी-देवताओं से संबंधित हैं। किन्तु संभवतः इनमें से कोई भी उस पावन शक्ति से युक्त विख्यात नहीं है जो पाप मोचन कर सके।

किंबहुना, नीचे लिखी रचनाएँ मंगलकाव्य की श्रेणी में स्थान पा सकतीं हैं, क्योंकि परंपरा से उन्हें ऐसा मान लिया गया है, अथवा उनके संबंध में तद्विषयक लोकवार्त्ता मिलती है। इनमें से कुछ तो इतने लम्बे हैं कि ये प्रतिदिन पढ़े या गाये नहीं जा सकते।

१. ज्ञानेश्वरी—'भक्ति तत्वामृत' अथवा 'मत्स्येन्दुसंहितासार' के लेखक बालकृष्ण बोवा ने अपनी मराठी टिप्पणियों सहित संस्कृत रचना की भूमिका में स्वयं लिखा है कि २१ बार ज्ञानेश्वरी का पाठ कर चुकने पर उसे संस्कृत में लिखने की प्रेरणा हुई, यद्यपि उसने मराठी की आरंभिक कक्षाओं में ही संस्कृत सीखी थी। (शक १८१०)। ज्ञानेश्वरी का अंश-अंश पाठ प्रतिदिन हजारों ही व्यक्ति करते हैं और यह विश्वास करते हैं कि ऐसा करने का एक विशेष माहात्म्य है। यह रचना शक १२१२ में लिखी गई थी और इसमें ९००० श्लोक हैं।

२. गुरुचरित—धार्मिक दृष्टि से यह रचना दक्षिण में अत्यन्त ही लोकप्रिय और बहुपठित है। इसके रचयिता हैं सरस्वती गंगाधर (१४ वीं शती ईसवी में) जो श्री दत्तात्रेय के अवतार नृसिंह सरस्वती के शिष्य हैं। जब किसी व्यक्ति को भूत या प्रेत बाधा हो जाती है तो उसे दूर करने के लिए एक सप्ताह तक उपवासपूर्वक इस गुरुचरित का पाठ किया जाता है। इससे वह बाधा दूर हो जाती है। औदुम्बर (सितारा जिले में भीलवाड़ी के पास), नरसोबाची वाड़ी (कोल्हापुर जिले में शिरोल के पास) तथा गंगापुर (कर्नाटक) ऐसे तीर्थ हैं जिनमें आज भी यह व्यापार देखा जा सकता है।

३. रुक्मिणी स्वयंवर, जो एकनाथ (मृत्यु १५२१ शक) का लिखा हुआ है, धार्मिक स्त्रियों द्वारा पढ़ा जाता है। वे विश्वास करतीं हैं कि इसके पाठ से उनकी लड़कियों का विवाह शीघ्र हो जायेगा।

४. व्यंकटेश स्तोत्र के दैनिक पाठ के संबंध में भी यही विश्वास मिलता है। इस स्तोत्र के रचयिता देवदास या देवीदास (१५८० से १६८० शक) हैं। इसमें १०८ श्लोक हैं।

शुभफल और मंगल की अभिलाषा से सामान्यतः संस्कृत के अनेकों स्तोत्रों का पाठ होता है, विशेषतः ब्राह्मणों में। इन स्तोत्रों में उल्लेखनीय हैं—वाल्मीकि का गंगाष्टक, गणपत्यथर्वशीर्ष, श्रीसूक्त, सौरसूक्त, नवग्रह स्तोत्र, सप्तशती स्तोत्र आदि। बहुत से मंत्र हैं, जिनका उपयोग बुखार आदि को दूर करने के लिए होता है—जैसे ज्वर नाशन मंत्र। मृत्यु को भी दूर करने के लिए महामृत्युञ्जय मंत्र का जाप होता है।

मराठी में छोटे छोटे स्तोत्र हैं, किन्तु यह विदित नहीं कि वे किसी रहस्यमय प्रभाव से अन्वित हैं या नहीं। यहाँ उनमें से कुछ का उल्लेख किया जाता है :

१.	अन्नपूर्णास्तुति	रचयिता	मोरोपंत	(शक १६५१–१७१६)
२.	हरिहर प्रार्थना	,,	,,	
३.	गणपतिप्रार्थना	,,	,,	
४.	केकावलि	,,	,,	आवगमन से मुक्त होने की प्रार्थना है।
५.	कृष्णास्तुति	,,	,,	कृष्णा नदी की स्तुति।
६.	गदघ्न रामायण	,,	,,	
७.	दुर्गास्तव	,,	,,	
८.	व्यंकटेश प्रार्थना		,,	
९.	विश्वेश्वर स्तवन	,,	,,	
१०.	पांडुरंग स्तुति	,,	,,	
११.	अम्बास्तव	,,	तानाजी देशमुख	संभवतः महाराजा शिवाजी के प्रधान सेनापति सिंहगढ़ के यशस्वी वीर।
१२.	उषःकाल स्तोत्र	रचयिता	दासोपंत	सोलहवीं शती
१३.	वज्रपंजरकस्तोत्र	,,	,,	
१४.	भगवद्गीता स्तोत्र	,,	,,	
१५.	शीतज्वर-निवारण स्तोत्र	,,	,,	
१६.	शिवस्तोत्र	,,	,,	
१७.	करुणाष्टकें	,,	रामदास	(शक १५३०–१६०३)
१८.	मनोबोध	,,	,,	आत्मज्ञान विषयक

१९.	गणेशाष्टक		मध्वमुनि	(शक १६११–१६५६)
२०.	गंगाष्टक	,,	,,	
२१.	त्र्यम्बकाष्टक	,,	गोसावीनन्दन	(शक १५८० से १६५०)
२२.	रेणुकाष्टक	,,	,,	
२३.	दत्तात्रेयस्तव	,,	वामन	१७ वीं शती
२४.	ब्रह्मस्तुति	,,	,,	
२५.	शिवस्तुति	,,	,,	
२६.	दत्तात्रेयाष्टक	,,	नारायण	(शक १५६४)
२७.	महिम्नस्तोत्र	,,	नारायण मुनि	(संभवत: उपरोक्त ही हैं)
२८.	देवी अष्टक	,,	वनाजी	(ई. १८ वीं शती)
२९.	शिवाष्टक	,,	,,	
३०.	निरंजनाष्टक	,,	रत्नाकर	(ई. १७ वीं शती)
३१.	पांडुरंगस्तोत्र	,,	महिपति	(१६३७—१७१२ शक)
३२.	भीष्मस्तवराज	,,	माधव	(शक १६२५)
३३.	मल्लारि अष्टक	,,	रंगनाथ	(१७ वीं शती)
३४.	मल्लारिस्तोत्र	,,	दादो रंगनाथ	
३५.	महिषासुरमर्दिनीस्तोत्र	,,	विश्वनाथ	
३६.	मार्तण्डाष्टक	,,	रंगनाथ	(उपर्युक्त ही)
३७.	विठ्ठलस्तुति	,,	अनन्त फंदी	(शक १६६६-१७४१)
३८.	व्यंकटाष्टक, स्तोत्रदशक	,,	गिरिआत्मज	(शक १६५८)
३९.	वेदस्तुति	,,	व्यंकटेश और गोविन्द	(शक-१६५०)
४०.	सरस्वतीस्तोत्र	,,	गिरिधर	(ई. १७ वीं शती)
४१.	हनुमंताष्टक	,,	माणकेश्वर	
४२.	सोमसुन्दरस्तोत्र	,,	अज्ञातनामा	

१

श्रीहनुमच्छास्त्री 'अयाचित'

तेलुगु के मंगल काव्य

मंगल काव्य अधिकांश में तेलुगु के शतक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। कवि लोग अपनी दरिद्रता, विपत्ति अथवा रुग्णता दूर करने के लिए अपने इष्टदेव के नाम पर सौ सौ छन्दों की कविता करते थे। कभी देश पर भारी आपदा आने के समय भी, राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर तथा विवशता अनुभव करके, भगवान् से प्रार्थना करते थे। जन-श्रुति के अनुसार ये प्रार्थनाएँ सफल भी होतीं थीं। कुछ ऐसे फुटकल छन्द भी मिलते हैं जिनमें कवि अपनी इच्छा के अनुसार किसी की मंगल कामना करता है।

सूची के अन्त में दिए गए दो काव्य भी मंगल काव्य माने जा सकते हैं, क्योंकि किसी न किसी प्रकार के शुभ की कामना इनमें भी निहित है।

तेलुगु के मंगल काव्यों की सूची

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	रचयिता	समय	स्थान	विशेष
१.	सर्वेश्वर शतकमु	यथावाक्कुल अन्नमय्या	सन् १२४२ ई. के लगभग	कृष्णा नदी के किनारे सत्र-शाला नामक स्थल	मल्लिकार्जुन स्वामी की सेवा करते हुए यह शतक लिखा गया। एक एक पद्य ताड़पत्रपर लिखकर श्री कृष्णा नदी में छोड़ दिया जाता था। यदि वह प्रवाह के उलटे आ जाता था तो स्वीकृत हो जाता था।
२.	चेन्नमल्लु सीसमुलु	पालकुरिकि सोमनाथ	सन् १३२० ई. के लगभग (समय के बारे में मत-भेद है। कुछ समालोचकों के अनुसार ११४०-११२६)	पालकुरिकि-काकतीय राजाओं के राजत्वकाल में विद्यमान	बसवेश्वर के भतीजे चेन्न बसव पर लिखे गए छंद। कहा जाता है कि भूगृह में ३२ सीढ़ियाँ थीं। जीव-समाधि के लिए सोमनाथ ने उसमें प्रवेश किया और एक एक सीढ़ी पर एक एक छंद लिखते गए।
३.	बीर नारायण शतकमु	रावूरि संजीव कवि	सन् १३३१ ई.	भुवनगिरि (तेलंगाना)	कहा जाता है कि भुवनगिरि के पास कोल्लनुपाक नामक गाँव में 'बीरनारायण' की मूर्ति एक झाड़ में पड़ी हुई थी। कवि ने अपनी कविता के बल पर उस मूर्ति का उद्धार किया। मूर्ति बाहर निकल आई।
४.	अडिदमु सूरकवि	रामलिंगेश शतकमु	सन् १३१५–१३८५ ई.	विजयनगर (विशाख जिला) के आसपास	सीताराम राजु नामक एक सामंत की कुचेष्टाओं से अपने को बचाने के लिए भगवान रामलिंगेश की प्रार्थना करते हुए लिखी गई कृति।

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	रचयिता	समय	स्थान	विशेष
५.	बृहत्तटाकम् नागशास्त्री	बाल सुब्रह्मण्य शतकमु	सन् १७४० के लगभग	दाक्षिणात्य आंध्र, स्थल का निर्देश करना कठिन है।	दक्षिण भारत पर मुसलमानों की चढ़ाइयों के मारे जनता त्रस्त थी। उन उपद्रवों से रक्षा और अपने दृष्टि-मांद्य के निवारण के लिए कवि के द्वारा सुब्रह्मण्य स्वामी से प्रार्थना की गई।
६.	सिंहाद्रि नारसिंह शतकमु	गोगुलपाटि कूर्मनाथुडु	सन् १७५०	विशाखमंडल में सिंहाचल नामक यात्रा-स्थल	सिंहाद्रि पर जब मुसलमानों की चढ़ाई हुई तब इस भक्त कवि ने मंदिर के आँगन में एक पैर पर खड़े होकर भगवान नरसिंह स्वामी से इस उपद्रव से बचाने के लिए प्रार्थना की। कहा जाता है कि भगवान् ने भक्त की प्रार्थना मान ली।
७.	आंध्र नायक शतकमु	कासुल पुरुषोत्तमकवि	सन् १७९१ ई.	पेदप्रोलु (कृष्णा जिला)	आंध्र नायक (श्रीविष्णु का एक नाम) का मंदिर जीर्ण हो चुका था। कवि ने अपने छंदों में व्यंग के ऐसे बाण छोड़े कि राजा अंकिनीडु ने उसका पुनर्निर्माण कराया।
८.	रमणी मनोहर शतकमु	गंगाधर कवि	सन् १८०० ई.	अज्ञात	काव्य के रचनाकाल तक कवि का घर बार नष्ट हो चुका था। वह गरीबी के मारे दर दर मारा मारा फिरता था। कवि ने भगवान् से अपनी गरीबी दूर करने के लिए प्रार्थना की।
९.	ज्ञान प्रसूनांबिका शतकमु	शिष्टुसर्व शास्त्री	सन् १८५०	काल हस्ति (चित्तूर जिले का एक प्रसिद्ध यात्रा-स्थल)	व्याधि-निवारण के लिए कवि ने ज्ञानप्रसूनांबिका के नाम पर सौ से अधिक छंद लिखे।

क्रम संख्या	पुस्तका का नाम	रचयिता	समय	स्थान	विशेष
१०.	नंदनंदन शतकमु	वड्डादि सुब्बराय कवि	सन् १८७७ (रचना-काल) जीवन-१८५४-१९३८	राजमहेंद्रवर (गोदावरी नदी के किनारे बसा हुआ है)।	सुब्बराय कवि के छः विवाह हुए। संतान एक भी पैदा न हुई। साथ ही व्याधि से पीड़ित हुए। उस समय नंदनंदन के नाम पर यह शतक लिखा।
११.	कामेश्वरी शतकमु	चेल्लपिल्ल वेंकटशास्त्री	सन् १८७० – १९५० ई.	कडियम् (गोदावरी जिला)	कवियों में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपनी व्याधि के निवारण के लिए कामेश्वरी शतक की रचना की। 'कामेश्वरी' इनकी इष्ट-देवता थीं।
१२.	सूर्यनारायण शतकमु	वराह वेंकट नृसिंह कवि	अज्ञात	अज्ञात	आरोग्य साधने के लिए लिखा गया।
१३.	विश्वेश्वर शतकमु	विश्वनाथ सत्यनारायण	जन्म सन् १८९५	विजयवाडा	आधुनिक कवियों में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। दरिद्रता दूर करने के लिए यह शतक लिखा।
१४.	हनुमत्पंचविंशति	तिन्ननूरि गोपाल कवि	अज्ञात	अज्ञात	आरोग्य के लिए लिखा गया।
१५.	वेंकटाचल विहार शतकमु	अज्ञात	अज्ञात	अज्ञात	मुसलमानों के उपद्रव से बचने के लिए लिखा गया।
			फुटकल कविताएँ		
१.	कुछ छंद	वेमुल वाड भीमकवि	अज्ञात	अज्ञात	भीमकवि तेलुगु साहित्य की legendary personality हैं। ये निग्रहानुग्रह में समर्थ समझे जाते हैं। इनके नाम पर कुछ छंद मिलते हैं।
२.	कुछ छंद (कदलुमिटमानि दिविज गंगा भवानि)	अडिदमु सूरकवि	१७१५–१७८५	विशाख जिला	खेत में बाढ़ आने पर कवि ने गंगाजी को संबोधित करके कुछ छंद लिखे। कहा जाता है कि थोड़े समय में ही पानी हट गया और कवि की कामना पूरी हुई। फसल नष्ट होने से बच गई।

क्रम संख्या	पुस्तका का नाम	रचयिता	समय	स्थान	विशेष
३.	कुछ छंद	तुरगा राम कवि	१८०० ई. के लगभग	गोदावरी जिला	ये भी वेमुलवाडा भीमकवि की भाँति अपने निग्रहानुग्रह-सामर्थ्य के लिए प्रसिद्ध थे। इनके नाम पर भी इने गिने छंद मिलते हैं।
४.	आर्तजन रक्षणोपाय आंजनेय	अज्ञात	अज्ञात	अज्ञात	स्पष्ट ही ये छंद किसी अज्ञात कवि के द्वारा किसी विपदा से बचने के लिए लिखे गए हैं।
				प्रबंध काव्य	
१.	स्वारोचिषमनुसंभवमु	अल्लसानि पेद्दन्न	सन् १४७०-१५३३	विजय नगर राज्य में। श्री कृष्ण रायलु के राजत्व काल में प्रधान आस्थान-कवि थे।	कुछ समालोचकों के अनुसार आंध्र कविता पितामह अल्लसानि पेद्दन्न ने श्रीकृष्णदेव रायलु के अनुरोध से यह काव्य इसलिए लिखा था कि श्रीकृष्ण देव-रायलु के कोई संतान नहीं थी। अतः यह संतान-कामना की पूर्ति के लिए लिखित काव्य है।
२.	पारिजाताप हरणमु	नंदि तिम्मनकवि	(पेद्दन्न के समसामयिक)	श्रीकृष्ण देव रायलु (विजय-नगर के महाराजा) के आदरणीय आस्थान कवि थे।	विजयनगर के महाराजा श्रीकृष्ण देवरायलु और उनकी पत्नी चिन्नम्मा में मनमुटाव हो चला था। कहा जाता है कि रानी चिन्नम्मा के अनुरोध से दंपति में मनोमालिन्य दूर करने के लिए तिम्मन्न ने यह काव्य लिखा था। इसमें सत्यभामा और श्रीकृष्ण की कथावस्तु वर्णित है। जनश्रुति है कि कवि ने अपने काव्य के द्वारा अपनी मनोकामना प्राप्त कर ली।

६

गुरुनाथ जोशी

कन्नड साहित्य में मंगल काव्य

कर्नाटक में एक भी ऐसा गाँव नहीं है जिसमें देमव्वा (देवी) और दुर्गव्वा (दुर्गा) का मंदिर न हो। इतना ही नहीं बल्कि हरएक के घर में एक कुल-देव और एक कुलदेवी की आराधना की जाती है। प्राचीन किलों में तो दुर्गादेवी के मंदिर पाये जाते हैं। हर एक किसान अपने खेत में 'करियव्वा' नामक देवी की प्रतिष्ठा करके, उसकी आराधना करता है और समझता है कि वह फसल की और उसकी रक्षा करती है। उसकी कृपा से किसान का मंगल होता है।

कुछ ऐतिहासिक प्रसिद्धि-प्राप्त देवियाँ भी हैं, जिनकी आराधना की जाती है और जिनके प्रीत्यर्थ मेले भी लगते हैं। ऐसी देवियों में सौदत्ती की रेणुकांबा (यल्लम्मा), कोल्हापुर की महालक्ष्मी, सिरसी की मारिकांबा, चिंचली की मायव्वा, बडकुन्द्री की होळेव्वा गोवा की शांतादुर्गा, अंकोला की भूमिताई, मैसूर की चामुंडेश्वरी, कोल्लूर की मूकांबिका, मंगलोर की मंगळांबा, तुळजापुर (द.हैदराबाद) की भवानी, सन्नत्ति की चंदला परमेश्वरी, वादामी की बनशंकरी और मुनिराबाद की हुलिगेव्व आदि प्रसिद्ध हैं। इन देवियों के स्तोत्र भी कन्नड़ में मिलते हैं। मैसूर की चामुंडेश्वरी मैसूर नरेशों की कुलदेवी हैं और बादामी (वातापिपुर) की बनशंकरी चालुक्य नरेशों की कुलदेवी हैं। सौदत्ती की रेणुकांबा परशुराम की माता हैं। इनकी स्तुति के काव्य भी मिलते हैं।

इन देवियों के अलावा कन्नड़ साहित्य में देवताओं की स्तुति तथा माहात्म्य के काव्य भी मिलते हैं।

यदि 'मंगल' शब्द का अर्थ विवाह मान लिया जाय तो कई देवियों के विवाह के सुंदर वर्णनों से युक्त काव्य भी कन्नड़ साहित्य में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अष्टक और सप्तक भी हैं।

कर्नाटक में जैनों ने कन्नड़ साहित्य की खूब श्रीवृद्धि की है। उन्होंने 'जिन' की स्तुति के काव्य भी लिखे हैं।

कन्नड़ में उपलब्ध मंगल काव्यों की सूची नीचे लिखे अनुसार है :–

काव्य का नाम	कवि का नाम	कवि का काल
१. महिम्न स्तोत्र २. मल्हण स्तोत्र ३. अनामय स्तोत्र ४. भृंगिस्तव	गुरुदेव (वीर शैव कवि)	सन १३५०
५. चन्द्रनाथाष्टक	मौक्तिक कवि (जैन कवि)	,, ११२०
६. जिनस्तुति	कल्याणकीर्ति	,, १४३९

७.	त्रैलोक्य चूडामणी स्तोत्र	ब्रह्मसिव	सन् ११२५
८.	देवीस्तोत्र	गुरुसिद्ध, अर्थात् इम्मडि मुरिगेय्य स्वामी	,, १५९०
९.	नंदी माहात्म्य	गोविंद (ब्राह्मण कवि)	,, १६५०
१०.	उमास्तोत्र या त्रिपुर मंदरी स्तोत्र	गुरुनंज	,, १५००
११.	नरसिंह स्तुति	पन्नियण्ण	,, १७००
१२.	पंपा विरूपाक्ष शतक (विजयनगर के राजाओं का कुलदेव)	हिरियर रंग	,, १६५०
१३.	पार्वतिय गोब्राने	रामचन्द्र कवि	,, १७००
१४.	रंगनायक रंगनायकि स्तुति (मंगलदेवता)	चिक्कुपाध्याय	,, १६७२
१५.	अंबिका विजय (आदि-शक्ति देवीने रक्तबीजा-सुर का वध किया। इसी घटना की कथा इसमें वर्णित है। मार्कंडेयचरित्र भी इसमें है । प्रारम्भ में पार्वती तथा सरस्वती के स्तोत्र हैं)।	बब्बूर रंग	,, १७५०
१६.	अंबास्तोत्र	महांतदेशिक	१९ वीं सदी
१७.	गणाष्टक	,,	,,
१८.	रेणुकार्यस्तोत्र	,,	,,
१९.	अखण्ड कावेरी माहात्म्य	मुम्मडि कृष्णराज (मैसूर के नरेश)	सन् १७४९ से १८६४
२०.	देवी माहात्म्य सप्तशती (मार्कंडेय पुराण में की कथा)	,,	,, ,, ,, ,,
२१.	उषा परिणय	,,	,, ,, ,, ,,
२२.	सौगंधिक परिणय (विवाह)	,,	,, ,, ,, ,,
२३.	जिनेश्वराष्टक	?	,, १३००
२४.	अनंत जिनेश्वराष्टक	?	,, १५००
२५.	अलमेलुमंगेय लाली (तिरुपति वेंकटरमण की	श्रीमती चेलुवांबे	,, १७२५

	पत्नी लक्ष्मीदेवी की लोरियाँ)		
२६.	तुलाकावेरी महात्म्य (आग्नेय पुराणोक्त)	श्रीमती चेलुवांबे	सन् १७२५
२७.	अष्टोत्तर शत मंगल गीतावली	गिरिभट्टर तम्मय्य	१९ वीं सदी.
२८.	कावेरी पुराण	गोरूर नरसिंहाचार्य	,,
२९.	कावेरी माहात्म्य	रंगय्य (मैसूर नरेश के सेनापति)	सन् १७३०
३०.	गिरिजादेवी संकीर्तन (पार्वती की स्तुति)	शांतवीर देशिक	,, १६५०
३१.	शंकराष्टक	नंजुंड (देवलपुर)	,, १८४१
३२.	त्रैलोक्य रक्षामणि स्तोत्र	??	,, १३००
३३.	देवी माहात्म्य (अत्यधिक प्रचलित (ग्रंथ) काव्य। संस्कृत देवी माहात्म्य का अनुवाद। इसमें ७९६ पद्य और १८ सर्ग हैं।)	चिदानंदावधूत (ब्राह्मण कवि)	,, १७५०
३४.	बगळांबा स्तोत्र (सिद्ध पर्वत निवासिनी अंबा का स्तोत्र)	,,	,, ,,
३५.	पार्वती स्तुति	??	,, १६५०
३६.	गिरिजा कल्याण (गिरजा विवाह)	गंग	,, १७५०
३७.	प्रभावती परिणय	अळिय लिंगराज	,, १८२३ से १८७४
३८.	गिरिजा कल्याण	,, ,,	,, ,, ,,
३९.	जानकी परिणय (मंगल- विवाह)	सूर्यनारायण	१९ वीं सदी.
४०.	पद्मावती परिणय (मंगल)	बाळाचार्य	,,
४१.	मीनाक्षी कल्याण (मंगल)	इड्गूरु रुद्र कवि	,,
४२.	रुक्मिणी परिणय (मंगल)	सी. आर. चेल्लम्म	,,
४३.	,, ,, ,,	ए. श्रीनिवास अय्यंगार	,,
४४.	सीता कल्याण ,,	श्रीमती हेळवन-कट्टे गिरियम्मा	सन् १७५०

४५.	सीता कल्याण	गेरसोघे शांतय्य	सन् १८३०
४६.	रेणुका माहात्म्य	यल्लो गुड्डो कुलकर्णी	२० वीं सदी
४७.	,, ,,	गु. भी. नामसेवी	,,
४८.	बनशंकरी माहात्म्य (स्कंध पुराण के आधार पर)	गळगनाथ	,,

उ

श्री शांति आंबड़ियाकर

गुजराती में मंगल काव्य

गुजराती साहित्य में भक्तिरस-प्रधान देव-देवियों के स्तोत्र 'मंगल-कविता' कहलाते हैं और लग्नोत्सव आदि शुभ अवसरों पर गाए जाने वाले गीत भी 'मंगल-काव्य' के अन्तर्गत आते हैं। केवल 'मंगल-काव्य' की रचना करने वाला कोई कवि गुजराती साहित्य में नहीं है। बहुत से कवियों ने अज्ञात रह कर मानव जाति के कल्याण के लिए ऐसे काव्य लिखे हैं। पर विख्यात कवियों ने भी इस प्रकार के काव्य की रचना की है। परिशिष्ट में हम कुछ मांगलिक गीत दे रहे हैं।

बारहवीं शताब्दी के लगभग प्रान्तीय भाषाएँ विकसित होने लगीं थीं और उस समय की मिश्रित भाषा में लोक-काव्यों की रचना होने लगी थी। इस समय के काव्य के विषय थे दान, धर्म, शौर्य, महिमा और स्तुति आदि। तेरहवीं सदी में एक जैन मुनि कवि स्थूलिभद्र का उल्लेख आता है। वे श्रृंगार रस के कवि थे। चौदहवीं सदी में, जो साहित्य का मध्यकाल था, काव्य के स्वरूप और आकार प्रस्तुत हुए। पन्द्रहवीं शती में 'वैष्णव जन तो तेने रे कहिए' के गायक नरसिंह मेहता का आविर्भाव हुआ। ये अत्यन्त लोकप्रिय कवि थे और कृष्ण-भक्ति के अमर पदों की रचना इन्होंने की है। इसी शताब्दी में भालण नाम के एक राम-भक्त कवि भी हुए। सोलहवीं शताब्दी में मीराँ का नाम आता है। गुजराती साहित्य में मीराँ और नरसिंह समान कक्षा के कवि हैं। इस शताब्दी के अंत में अखा नामक बड़े विलक्षण, गंभीर, बल-संपन्न और ज्ञानी कवि हुए। उनकी बहुत सी पंक्तियों ने आज कहावतों और मुहाविरो का रूप धारण कर लिया है। सत्रहवीं शताब्दी में देवियों की प्रार्थनाएँ, गरबी, देवी-स्तोत्र आदि लिखने वाले कवि वल्लभ मेवाडा हुए। इनके बाद कवि शिरोमणि प्रेमानंद आते हैं। ये हाथ में करताल लेकर गाँव गाँव में पद गाया करते थे। इनके बाद शामल, धीरो और दयाराम का नाम आता है। दयाराम सचमुच मंगल-काव्य के प्रणेता थे। उन्होंने बहुत सी गरबियाँ, देव-स्तवन तथा लग्न के समय गाए जाने वाले मांगलिक गीत लिखे हैं।

अर्वाचीन काल के नर्मद और दलपत दो मुख्य कवि थे। नर्मद समाज की परम्परागत रूढ़ियों के बड़े विरोधी थे। उनके ईश्वर संबंधी विचार भी सबसे अलग थे। आज के कवियों पर उनका प्रभाव बहुत विशद और व्यापक था और इस प्रभाव के कारण इधर के कवि 'मंगल-काव्य' की सर्जना की ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुए। गांधीजी का प्रभाव

भी इधर के कवियों पर रहा है। अर्वाचीन गुजराती कवि श्री न्हानालाल, श्री खुशालदास घोटादकर, श्री नरसिंहराव दिवेटिया, श्री करसनदास माणेक तथा श्री नाथालाल दवे ने कुछ मांगलिक रचनाएं की हैं।

परिशिष्ट

निम्न मंगल गीत गुजरात के हर एक छोटे बड़े गाँव में किसी भी मंगलकार्य के आरंभ के पहले गाया जाता है :—

लगन बाजोठिड़ो मोतीडे जड्यो
परथम गणेश बेसारो रे मारा गणेश्वर दुंदाळा. . . . रे मारा. . . . .
कृष्णनी जाने, रूडां हाथीड़ा शणगारो
हाथीड़े लाल अंबाड़ी रे मारा गणेश्वर दुंदाळा. . . . रे मारा. . . .
कृष्णनी जाने, रूडां घोडलां शणगारो
घोड़लिये पित्तळियां पलाण रे मारा गणेश्वर दुंदाळा. . . . रे मारा. . . .
कृष्णनी जाने, रूडां जानैया शणगारो
जानैया केसरनां भीनां रे मारा गणेश्वर दुंदाळा. . . . रे मारा. . . .
कृष्णनी जाने, रूड़ी जानडियुं शणगारो
जानडियुं कंकुडानी प्यारी रे मारा गणेश्वर दुंदाळा. . . . रे मारा. . . .
कृष्णनी जाने, रूडां घोरीडा शणगारो
घोरीड़े घुघरमाळ सोहे रे मारा गणेश्वर दुंदाळा. . . . रे मारा. . . .
कृष्णनी जाने, रूडी वेलडी शणगारो
वेलडिये मोणीया माफा रे मारा गणेश्वर दुंदाळा. . . . रे मारा. . . .

अर्थात् लग्न की मोती से जड़ी चौकी पर प्रथम श्री गणेशजी को बिठाइये, (फिर आगे वर को कृष्ण की उपमा देकर कविता आगे बढ़ती है)। कृष्ण की बारात के लिए रुपहले हाथी तैयार करो, ऊपर लाल अंबारी रखो। घोड़े तैयार करो और घोड़े के ऊपर पीतल की जीन रखो। बारात में जानेवाले लोगों को केसरी पोशाक से सज्जित करो। बारात में जानेवाली औरतों के कुंकम लगा कर उन्हें रुपहली बनाओ। बारात की गाड़ियाँ खींचने के लिए बैलों को घूंघरियाँ बाँधकर तैयार करो, आदि। इस तरह यह गीत लगभग सौ पंक्तियों तक जाता है और इसके गाने में करीब एक घंटा बीत जाता है।

फिर, जिसके घर में लग्नोत्सव होता है उस घर के लोग, पड़ोसी, मेहमान आदि पौ फटने के पहिले उठकर मंगल कामना करने के लिए गीत गाते हैं। एक गीत इस प्रकार हैं :—

सूरज ऊग्या रे केवडीआनी फणसे के व्हाणेलां भले वायां रे
सूता जागो रे वसुदेवना नंद ,, ,, ,, ,, ,,
तमे जागो रे जागे सहु देव ,, ,, ,, ,, ,,
लेजो लेजो रे पित्तळना लोटा ,, ,, ,, ,, ,,
दातण करजो रे तुळसीने क्यारे ,, ,, ,, ,, ,,

मुख ल्होजो रे पामरीओने छेडे के व्हाणेलां भले वायां रे
नाम लेजो रे श्री रामनां नाम ,, ,, ,, ,, ,,
सूता जागो रे केई वह्नना कंथ ,, ,, ,, ,, ,,

अर्थात् 'हे देव ! जागो अब तो सूरज केवड़े की डाली पर नजर आ रहा है। हे वसुदेव, नंद और बाकी के सारे देव जागो ! (फिर वर का नाम लेकर कहते हैं) हे वर ! जागो। सारे देव जाग गये हैं। उठकर पीतल का लोटा लो और तुलसी के पास बैठकर दातून करो। फिर राम का नाम लो ताकि तुम्हारा कल्याण हो।'

माणिक स्तंभ की प्रतिष्ठा के समय का मंगल गीतः–

सोनानी सळीअे मांडवो
रूपानी सळीअे मांडवो
अेने मांडव मळ्या रे मोरार
छप्पन कोटि जादव मळ्या
रे देवकीजी बलभद्रने विनवे
अेमना स्वामी अमने रायजंग देखाड्य

अर्थात् 'सोने की छड़ी और रूपे की छड़ी का यह माँडवा है। ऐसे माँडवे में छप्पन कोटि यादव इकट्ठे, हुए हैं। उसी समय देवकी जी बलभद्र जी से कहतीं हैं–'हमें रायजंग बताओ, आदि।' यह गीत भी बहुत लंबा और भावपूर्ण है।

हस्त–मिलाप के समय का एक गीतः–

समे वरते छे सावधान रे, ब्रह्मा-सावित्री दे छे कन्यादान रे,
आदित करे छे आद ने टीलां रे, ब्रह्मा वहेंचे छे श्रीफल बीडां रे,
त्यां तो जादव मोटां मोटां आवे रे वसुदेव-देवकी परणावे रे,
चोरी चोरवावीने बाँधी रे, कन्या पधरावीने आण्यां रे,
कन्या कृष्ण सामा बेसार्यां रे, त्यारे पियेरना दुःख विसार्यां रे,
अे तो व्रष्टे प्रपंचे मळीयाँ रे त्यारे दुःख रदयनां टळियां रे
हाथेवाळो ते साह्यो सामी रे, त्यारे पामी अंतरजामी रे.....

अर्थात् 'सावधान हो जाइए। हस्तमिलाप हो रहा है। ब्रह्मा और सावित्री कन्यादान दे रहे हैं। आदित्य तिलक कर रहे हैं। ब्रह्मा श्रीफल बाँटते हैं। प्रतिष्ठित लोग इकट्ठे हो रहे हैं। वसुदेव देवकी कृष्ण का विवाह कर रहे हैं। कन्या आई और कृष्ण के सामने बैठाई गई। देवकी 'पियर' का दुःख भूल गई। कृष्ण राधिका के मिलाप से देवकीजी अत्यन्त हर्षित हो उठीं।'

ॐ

श्री वज्झल सुब्रह्मण्यम् 'मंद'

आन्ध्र के मंगल काव्य

आन्ध्र (तेलुगू भाषा और प्रांत) में देवी-देवताओं की स्तुति, स्तोत्र, माहात्म्य गान आदि से संबद्ध भक्ति-प्रबोधक या मंगलात्मक काव्य मुख्यतः गद्य-छंद, मुक्तक और गीत,

*इसके बाद अलग अलग पुरुषों का नाम लेकर गीत गाया जाता है।

इनतीन प्रकारों में मिलते हैं और ये यहाँ क्रमशः 'दंडक', 'शतक' और 'गेय' कहलाते हैं। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इनकी परंपरा किस समय से प्रारंभ हुई और इनके रचयिता कौन हैं; किंतु ये बड़े विपुल परिमाण में, बहुत प्राचीन काल से, जनता के कंठहार रहे हैं। परंपरा ऐसी है कि ये क्रमशः व्यक्तिगत आराधना, शिक्षा-संस्कृति और संगीत-साधना या 'नादोपासना' के प्रतीक माने जाते रहे हैं। इनका संक्षेप में परिचय नीचे दिया जाता है।

दंडक — ये एक प्रकार के गद्य-छंद हैं। इनमें किसी एक देवी या देवता का संक्षिप्त ऐतिह्य पूर्ण माहात्म्य-वर्णन बड़ी ओजपूर्ण भाषा में रहता है। इनकी रचना एवं पाठ, भक्ति के आवेश में, उसे गति देने के हेतु, किया जाता है। ये काव्य,-ग्रन्थ नहीं हैं किंतु साधकजन, इनसे 'शिवेतरों' से रक्षित होकर, नित्य आनंद अनुभव करते हैं। इनकी मुख्य विशेषता यह है कि इनके नियमित पाठ से अहंकारी से अहंकारी पाठक भी कालांतर में आचरण शुद्धि (त्रिकरण-शुद्धि) साधकर निरहंकार और प्रणत हो जाता है, क्योंकि इनमें प्रसंगतः दशों इन्द्रियों और आठों अंगों को उनके योग्य स्पष्ट संकेत व निर्देश देकर अभिप्रेत दिशा में प्रवृत्त करने का विधान उसी प्रकार किया गया है, जिस प्रकार कि भारतीय 'षोडशोपचार पूजा' में किया गया है। ये इष्ट के स्मरणीय नाम-वर्णन और गुण-वर्णन से शुरू होकर 'नमस्ते, नमस्ते, नमः' से समाप्त होते हैं। नीचे कुछ दंडकों के नाम उनके ज्ञात रचयिता तथा रचनाकाल सहित दिये जाते हैं :—

नाम	रचयिता	रचना-काल
भोगिनी दंडक	नन्नय भट्ट	१००१–१३८० ई.
विघ्नेश्वर ,,		
श्रीराम ,,	मदिन सुभद्रम्यां	१६५१–१८७५ ,,
राम ,,	आडिद सूरन्ना	,, ,, ,,
नृसिंह ,,	येनुगु लक्ष्मणकवि	,, ,, ,,
पोलेरम्मा ,,		
आंजनेय ,,		
सूर्यनारायण ,,		

दंडक-शैली में रचे कुछ ऐसे भी छंद हैं, जिनका विषय देवी-देवताओं का माहात्म्य-वर्णन या भक्ति-प्रबोध न होकर शृंगार आदि है। उदाहरण के लिये, भोगिनी दंडक[1], पद्मिनी दंडक, चन्द्रानन दंडक आदि बतलाये जा सकते हैं। किंतु दंडकों की मूल प्रकृति को देखते हुए ये उनके अपवाद ही कहे जा सकते हैं।

शतक— ये मुक्तक काव्य हैं। ये किसी देवी या देवता से संबद्ध होकर उसके माहात्म्य तथा नीतिशास्त्र का उपदेश देते हैं। जैसे, 'कृष्ण शतक', 'दाशरथी शतक' 'नृसिंह शतक' आदि। परंतु इनमें कुछ ऐसे भी हैं, जो किसी भी देवी या देवता से संबद्ध

१. यह उक्त दंडक से भिन्न है।

न होकर केवल नीति-शास्त्र का उपदेश देते हैं। जैसे, 'भास्कर शतक', 'सुमती शतक,' 'कुमारी शतक' आदि। इनकी कुछ और विशेषतायें इस प्रकार हैं:–

(१) प्रत्येक शतक प्राय: १०९ पद्यों का होता है।

(२) शतक में एक 'मकुट' होता है, जो उसके प्रत्येक पद्य के अंत में आता है और इसके अनुसार ही उसका नामकरण किया जाता है।

(३) शतक की यह विशेषता है कि उसके प्रत्येक पद्य में जीवन की एक ऐसी अनुभूति, जो किसी देश या काल में उपयोगी हो सकती है, इस तर्क-सरणी और ढंग से प्रेषित की जाती है कि जहाँ एक ओर गागर में सागर भर जाता है वहाँ दूसरी ओर पढ़ते ही वह सीधे हृदय में घर कर जाती है।

(४) शतक उपदेश-ग्रन्थ हैं; किंतु उनके उपदेश नीरस या कटु नहीं होते। वे सुंदर भक्ति-भाव के प्रतीक, उद्दीपक और ग्राह्य होते हैं।

(५) शतक भक्त की पैनी दृष्टि, उद्दाम साधना, अभिव्यक्ति–कुशलता, रस-प्रवणता, अनुभूति की गहनता व विशालता के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

नीचे कुछ शतकों के नाम दिये जाते हैं:–

नाम	रचयिता	रचना-काल
भास्कर शतक	भास्कर	१००१–१२८० ई.
श्रीकाकुलांध्रनायक } मानस बोध शतक		” ” ”
सुमती शतक		
कृष्ण शतक		
कुमारी शतक		
भैरव शतक		
शरभांक शतक		
दाशरथी शतक	गोपन्ना	१६५१–१८७५ ”

ये शतक हिन्दी के पाठकों को तुलसी, रहीम आदि की याद दिलाते हैं। किंतु इनमें कुछ ऐसे भी हैं, जो सर्वत्र भक्ति-भाव के प्रतीक और उद्दीपक सिद्ध नहीं होते और जो हिन्दी के कबीर आदि सन्तों की याद दिलाते हैं, जैसे 'वेमन शतक', 'कवि चौडप्पा शतक' आदि।

गेय:– ये राग, ताल और लय से युक्त छंदबद्ध गीत हैं। ये इष्ट देवी या देवता के माहात्म्य, जीवन की उत्तम अनुभूतियों आदि को लेकर रचे गये हैं और (१) कृतुलु (२) कीर्तनलु (३) मंगलहारतुलु (४) हरिकथलु, इन चार मुख्य प्रकारों में मिलते हैं। इनका परिचय नीचे दिया जाता है:–

(१) कृतुलु–श्रीत्यागराज ने इनको बड़े विपुल परिमाण में रचा है। कहा जाता है कि इन्होंने कुल दस हजार कृतियाँ रचीं हैं। पर वे अभी छः सौ से

ज्यादा नहीं मिलतीं। ये १७६४ ई. में जन्मे और १८४६ तक वर्तमान रहे। ये राम के अनन्य भक्त थे। अपनी राम-भक्ति ही को लेकर इन्होंने संगीत-साधना या नादोपासना की है। इनकी नादोपासना का यह सिद्धांत है कि अर्थ-व्यंजक शब्द और प्रभाव व्यंजक नाद दोनों एक दूसरे के पोषक हैं और एक दूसरे के बिना पंगु हैं। अतः साधक को चाहिये कि वह इन दोनों का संतुलन बनाये रख कर अपने अभिप्रेत की साधना करे। किंतु यह संतुलन तभी संभव है जब शब्द में भक्ति अंतर्निहित हो। इनकी कृतियों की यह विशेषता है कि इनकी भाषा सामान्य होती है, किन्तु भाव बड़ा गंभीर और प्रसाद गुणपूर्ण होता है। उत्तर में, हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में, सूर, मीराँ आदि के गीतों का जो स्थान है वही स्थान दक्षिण में कर्नाटक संगीत-पद्धति में इन महानुभाव का है। इनकी कृतियाँ तो संगीत-विद्या या नादोपासना की ही प्रधान अंग मानी जाती हैं। इन्होंने, 'साधिलेने' (साधा है), 'येंदरो महानु भावुलु' (अनेक महानुभाव हैं), 'जगदानंद' इत्यादि अपनी कृतियों से अनेक नये नये रागों की भी उद्‌भावना की है।

(२) कीर्तनलु – इनमें 'आध्यात्म रामायण कीर्तनलु' आते हैं; किंतु गोपन्ना के कीर्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये भी राम के महान् उपासक थे। इनका एक नाम भद्राद्रि रामदास भी है। ये हैदराबाद राज्य के निवासी थे और १६५१ से १५७५ तक वर्तमान थे। इनके बनाये हुए कीर्तन बड़े उत्कृष्ट हैं। 'अंतारामयम्' (सब राममय है) जैसे इनके कीर्तन भक्तों के कंठहार हैं। इन्होंने 'दाशरथी शतक' नामक एक शतक की भी रचना की है जो बड़ा सरस है।

(३) मंगल हारतुलु – ये स्त्रियों के गीत हैं। ये भिन्न भिन्न देवी-देवताओं के नाम पर इस प्रकार रचे गये है कि विवाह आदि प्रत्येक शुभ अवसर पर और प्रत्येक रस की अवस्था में गाये जा सकें। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जिनमें कुछ कथा या वृत्त चलता है और जो खंड-काव्य का सा आनंद देते हैं, जैसे 'लंकायाग' (रावण-वध); 'कुच्चलव चरित्र' (लव-कुश-कथा) आदि।

(४) हरि कथलु :– इन कथाओं में भक्तों ने अपने अपने इष्ट का गान किया है। इनमें 'हरि' शब्द से केवल विष्णु का ही बोध नहीं होता बल्कि शिव आदि प्रत्येक भगवान् का बोध होता है।

अलाउल की पदमावती

प्राक्कथन

मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत की व्याख्या लिखते हुए मेरा ध्यान पद्मावत के अन्य अनुवादों की ओर भी आकृष्ट हुआ। उनमें कई फारसी भाषा के अनुवाद विदित हुए। किन्तु एक जिसकी ओर हिन्दी जगत का विशेष ध्यान जाना चाहिए वह बंगाली भाषा में किया हुआ वहाँ के प्रसिद्ध मुसलमान कवि अलाउल का अनुवाद है। यह अनुवाद अत्यन्त सफल हुआ है। भाषा १७ वीं शती की शाहजहाँकालीन बँगला है। बँगला के पयार छन्द में इसका अनुवाद हुआ है। कहीं कहीं त्रिपदी छन्द का भी प्रयोग है।

इस अनुवाद का सर्वप्रथम हिन्दी जगत् में उल्लेख श्री पं. रामचन्द्रजी शुक्ल ने अपनी पदमावत की भूमिका में किया था। उन्होंने लिखा है—"पदमावत का एक पुराना बँगला अनुवाद है। यह अनुवाद अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई. के आसपास आलो उजालो नामक एक कवि से कराया था।" (जायसी ग्रंथावली, पंचम संस्करण, २००८, पृ. ६, पादटिप्पणी)। यह सूचना पढ़कर इस पुस्तक को देखने की इच्छा उत्पन्न हुई। गत वर्ष अपनी शान्ति-निकेतन की यात्रा में विश्वभारती में बँगला भाषा के अध्यापक श्री सत्येन्द्रनाथ घोषाल के पास यह बँगला ग्रन्थ पहली बार देखने को मिला। उसके प्रथम पृष्ठ पर छपी हुई सूचना से ज्ञात हुआ कि बंगाब्द १३३८ में कलकत्ते के प्राचीन मुद्रणालय हबीबी प्रेस, १४१, मछुआ बाजार ने इसे छापा था। पुस्तक देखकर मेरी तुरन्त इच्छा हुई कि इसका एक संस्करण देवनागरी लिपि में होना चाहिए जिससे जायसी के हिन्दी पाठकों को तुलनात्मक अध्ययन के लिए वह सुलभ हो सके।

इधर श्री सत्येन्द्र जी कलकत्ता विश्वविद्यालय में काम कर रहे थे। मैंने उनसे अपनी इच्छा प्रकट की। उन्होंने कलकत्ते में पुस्तक की खोज की। नई प्रति तो अब मिलना असम्भव है क्योंकि हमारे यहाँ के पुराने हिन्दी प्रेमों की तरह जिन्होंने शुरू में हिन्दी काव्यों के संस्करण निकाले थे वह बँगला प्रेस भी अब नहीं है। प्रयत्न करने पर बंगीय साहित्य परिषद् के पुस्तकालय से पुस्तक की प्रति प्राप्त करके श्री सत्येन्द्र जी ने कुछ दिनों के लिये उसे मेरे पास भेजने की कृपा की। पुस्तक पाकर मैंने आद्यन्त उसे देवनागरी लिपि में लिखवा लिया।

मेरा विचार था कि उसे हिन्दी विद्यापीठ की साहित्य-पत्रिका के अंकों द्वारा मुद्रित करा दूँगा। सौभाग्य से सत्येन्द्र जी ही हिन्दी विद्यापीठ में नियुक्त होकर आ गए। उन्होंने मेरे प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया जिसके लिये मैं अनुगृहीत हूँ।

हिन्दी प्रतिलिपि की टंकित प्रति जब मेरे पास आई तो पढ़ने पर मुझे लगा कि इसका पाठ कई जगह टूटा हुआ है और कई जगह उसमें संशोधन की आवश्यकता है। मैंने यथामति उसे देखकर सोचा कि बँगला भाषा के ही किसी अधिकारी विद्वान् से इसका संपादन कराया जा सके तो बड़े सौभाग्य की बात होगी क्योंकि हिन्दी भाषा में पुस्तक का प्रामाणिक स्वरूप ही जनता के सामने आना चाहिए।

मैंने पुस्तक के कुछ पृष्ठ अपने मित्र श्री सत्येन्द्रनाथ घोषाल के पास विश्वभारती भेजे। उन्होंने मेरा अनुरोध स्वीकार करके पाठ संशोधित करने की कृपा की है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। आशा है आगे के अंश भी इसी प्रकार संशोधित रूप में ही प्रकाशित हो सकेंगे।

अलाउल को बंगाली उच्चारण के अनुसार आलाओल भी कहते हैं। जैसा शुक्ल जी ने लिखा है, ये आराकान राज्य के मंत्री मगन ठाकुर के आश्रित कवि थे। इन्होंने अपने अनुवाद के आरम्भ में बयान ४–'सत्कृति मागनेर बयान' शीर्षक के अन्तर्गत सैन्यमंत्री, शूर और उदार-हृदय मगन ठाकुर की बहुत प्रशंसा की है।

अलाउल ने एक तो जायसी कृत पदमावत का बँगला में अनुवाद किया, दूसरे उन्होंने बंगाल के मध्यकालीन साहित्य के सर्वश्रेष्ठ मुसलमानी कवि दौलतकाजी के अधूरे छोड़े हुए काव्य "सती मैना" या "लौर चन्द्राणी" "को पूरा किया। यह 'लौर चन्द्राणी' भी मूल में अवधी काव्य था। इसका असली नाम 'चन्दायन' था। यह अवधी भाषा का सबसे प्राचीन प्रथम काव्य था। १३७० ई. में मुल्ला दाऊद ने फीरोजशाह तुगलक के प्रधान मंत्री खानजहाँ मकबूल के पुत्र और उत्तराधिकारी जूनाशाह के संरक्षण में उसी के लिये बनाया। यह काव्य हिन्दू और मुसलमान दोनों में बहुत प्रसिद्ध हुआ। लगभग दो सौ वर्ष बाद अकबर-काल के ऐतिहासिक बदाऊनी ने इसके विषय में लिखा था कि हिन्दी की यह मसनवी इतनी लोकप्रिय है कि इसकी प्रशंसा की आवश्यकता मेरे लिये करना व्यर्थ है। मखदूमशेख तकीउद्दीन वाअज़ रब्बानी ने एक बार मिम्बर मे इसे पढ़कर सुनवाया तो उपस्थित लोग सुनकर आनन्द विभोर हो गए।

इस ख्याति के कारण इस प्रेम-काव्य की प्रतियाँ बंगाल में पहुँचीं और वहाँ से वे अराकान के राजा श्री सुधर्म के (१६२२–३८) दरबार में ले जाई गई। अवधी भाषा का काव्य सरलता से उन लोगों की समझ में नहीं आया :—

ठेठा चौपाया दोहा कहिला साधनें।
ना बुझे गुहारी भाषा कौने कौने जने॥

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इस बँगला अवतरण में उस काव्य को साधन कृत कहा गया है। बात यह है कि मूल काव्य में दो कथाओं का मेल था। एक थी लोरिक

की पहली पत्नी मैना मालिन की कहानी, जिसे साधन नामक कवि ने अवधी भाषा में "मैना सत" नाम से काव्यबद्ध किया था। साधन की अवधी कविता के नमूने मनेर शरीफ (पटना के पास) के खानकाह पुस्तकालय से प्रो. हसन अस्करी को प्राप्त हुए हैं, जो वहीं से प्राप्त 'पदमावत' की प्राचीन प्रति के अन्त में लिखे हैं। अभी तक उस सामग्री का अध्ययन नहीं हो पाया है। संभव है कि वे ही अंश मूल "मैना सत" काव्य के हों। लोरिक की कथा का दूसरा भाग चन्दा के साथ उसके प्रेम और विवाह से सम्बन्ध रखता है। इसे ही मुल्ला दाऊद ने अवधी में काव्यबद्ध किया था और मूल काव्य का नाम "चन्दायन" रक्खा था। रामपुर राजकीय पुस्तकालय में 'पदमावत' की एक सुलिखित प्राचीन प्रति है। उसके पहले पृष्ठ पर आधे के नीचे भाग में "चंदायन" शीर्षक नीचे लिखकर नीचे दो चौपाई और एक दोहा उद्धृत किया गया है :—

कोयल जैस फिरौं सब रूखा। पिउ पिउ करत जीभ मोर सूखा॥
बनखँड बिरिख रहा नहिं कोई। कवन डार जेहि लागि न रोई॥
एक बाट गइ हिरदे दोसर गई महोब।
ऊभ बांह कै चांदा बिनवै कौन बाट हम होब॥

'चंदायन' का अवतरण दाहिनी ओर लिखा है। उसी के बाईं ओर आधे पृष्ठ के आधे भाग में उसी प्रकार "मैना सत" काव्य से भी चौपाई और एक दोहा उद्धृत किया गया है :

एक एक करतहिं जिउ देऊँ। जग दोसर को नाँव न लेऊँ॥
फाटहि तासु नारि को हिया। एक छाड़ि जेहि दोसर किया॥
प्रीत घटै नहिं अनमिले उत्तम जिउ की लाग।
सो जुग जो जल महँ रहै घटै न चकमक आग।

उसी के नीचे यह दोहा भी लिखा है :

काग उड़ावत धन खड़ी सुनेउ संदेस भरक्कि।
अद्धीं बरियाँ काग गल अद्धीं गईं तरक्कि॥

स्पष्ट है कि "मैना सत" और "चंदायन" दोनों अवधी काव्य लोरिक की मूल कथा से सम्बन्धित थे और दोनों का साथ साथ प्रचार था। इसीलिए बँगला अनुवाद का नाम 'सती मयना' वा 'लौर चन्द्राणी' कहा जाता है। वे दोनों ही एक साथ अराकान दरबार में पढ़े गए, पर समझे नहीं जा सके क्योंकि वे दोहे चौपाइयों में "गुहारी भाषा" अर्थात् गाँव की बोली '(गँवारी अवधी) में लिखे हुए थे। राजा के वजीर अशरफ ने दरबार के महाकवि दौलतकाज़ी से पांचाली (पयार) छन्द में अनुवाद करने को कहा, जिससे सब लोग उसे समझ सकें।

दौलतकाज़ी ने यह कार्य बड़ी योग्यता से किया। किन्तु वे लगभग आधा ग्रन्थ ही कर पाए थे कि उनकी मृत्यु हो गई। हामिदी प्रेस के मुद्रित संस्करण में १९८ पृष्ठों में से १०३ पृष्ठ दौलतकाज़ी के हैं। उनके पीछे अलाउल ने उसी निष्पक्ष एवं उच्च

काव्यधरातल से अपना वह काव्य पूरा किया। 'सती मयना' के अतिरिक्त अलाउल ने मगन ठाकुर की प्रेरणा से जायसी कृत 'पदमावत' का अनुवाद भी हाथ में लिया और उसे अपनी प्रतिभा से पूरा किया।

अलाउल का कहना है कि मगन ठाकुर ने एक दिन भरी सभा में उसे आज्ञा दी—

एइ पद्मावती रसे रच रस कथा। हिन्दुस्थानी भाषे शेखे रचियाछे पोथा ॥
रोशांगे ते अन्न लोक ना बुझे ए भाषा। पयार रचिले पुरे सबा कार आशा॥
ये हेन दौलत काजि चन्द्रानि रचिल। लस्कर उजिर आशारफे आज्ञा बिल॥
तेन पदमावती रच मोर आज्ञा धरि। हेन कथा शुनि मने बहु श्रद्धा करि॥
ताहार आदेश माल्य परिया मस्तक। अंगिकार कैल आमि रचिते पुस्तक॥
(बयान ५/१०-२३)

'पदमावती के रस में सनी हुई इस रसपूर्ण कथा को हिन्दुस्तानी भाषा में शेख मलिक मुहम्मद जायसी ने रचा था। रोशांग के लोग इस भाषा को नहीं समझते। तुम इसे पयार छन्द में ढालकर सब की आशा पूरी करो। जैसे दौलतकाजी ने लश्कर-वजीर सैन्यमंत्री अशरफ की आज्ञा से चन्द्रानी की रचना की थी, वैसे ही तुम मेरी आज्ञा से पदमावती की रचना करो।'

अलाउल ने जायसी के शब्दानुवाद तक अपने को सीमित नहीं रक्खा। एक प्रकार से यह एक नया काव्य ही बन गया है। कहीं तो अलाउल ने अपने को जायसी के अवधी मूल के अति सन्निकट रखकर एक प्रकार से मूल की छाया ही उतार दी है, जैसे इसी अंक में प्रकाशित पहले बयान में, जो जायसी के स्तुति खंड का हूबहू भाषान्तर है। किन्तु उन्होंने चतुर अनुवादक की कला का निर्वाह किया है। अपेक्षित स्थानों में मूल का संक्षिप्त अंश रक्खा है, कहीं बिल्कुल छोड़ दिया है, कहीं जायसी के वर्णन को और भी पल्लवित करके उसे बँगला के मध्यकालीन साहित्य की परम्परा में ढाल दिया है—

एइ सूत्रे कवि मुहाम्मद करि भक्ति।
स्थाने स्थाने प्रकाशित निज मन उक्ति॥

विवाह से पूर्व लगभग तीस पंक्तियों में पदमावती का रूप वर्णन कवि की स्वतंत्र किन्तु उत्कृष्ट रचना है। उसके ऐसे प्रकरण बहुत ही भव्य हो गए हैं। पाठक यथास्थान उन्हें देखेंगे।

विश्वभारती के बँगला प्राध्यापक श्री सत्येन्द्र नाथ घोषाल ने 'लौर चन्द्राणी' का पुनः संशोधित संस्करण तैयार किया है जो इस समय विश्वभारती से छप रहा है। उन्होंने मुझे सूचित किया है कि बँगला 'पदमावत' का भी संशोधित संस्करण उन्होंने तैयार कर लिया है जो यथा समय विश्वभारती से प्रकाशित होगा। श्री सत्येन्द्रनाथ जी ने सूचित किया है कि ढाका विश्वविद्यालय में अलाउल कृत 'पदमावत' की एक हस्तलिखित प्रति है। उसके पाठान्तर उन्होंने अपने संस्करण में लिए हैं और उनके अनुसार हबीबी प्रेस की मुद्रित पोथी की प्रतिलिपि को उन्होंने सुधार दिया है। अलाउल के ग्रंथ का एक अन्य

संस्करण ढाका के डा. शहीदुल्ला साहब ने भी प्रकाशित किया था। पर उसका एक भाग ही प्रकाशित हो सका था।

हम आशा करते हैं कि आगरा विद्यापीठ की ओर से अलाउल और दौलतकाजी के दोनों ग्रन्थ प्रकाशित करना संभव होगा। हिन्दी जगत् के लिये यह कार्य बहुत महत्त्व-पूर्ण होगा। मूल "मैना सत" और "चन्दायन"[1] अभी तक अप्राप्य हैं। चन्दायन की एक खंडित प्रति के लगभग ३४ पृष्ठ प्रो. हसन अस्करी को उसी मनेर शरीफ खानकाह पुस्तकालय मे मिले हैं जिनकी फोटो प्रति हिन्दी विद्यापीठ में प्राप्त हो गई है। दौलतकाजी के ग्रन्थ के प्रकाशन से हिन्दी जगत् का ध्यान अपने लुप्त प्रथम अवधी काव्य की खोज की ओर फिर से जायगा और सम्भव है कालान्तर में उसकी पूरी प्रति कहीं प्राप्त हो जाय। इसी प्रकार अलाउल के 'पदमावत' अनुवाद के प्रकाशन से 'पदमावत' के तुलनात्मक अध्ययन के लिये नई सामग्री प्राप्त होगी जिसकी इस समय बहुत आवश्यकता है। किसी समय पदमावत स्वनामधन्य काव्य था। बंगाल से लेकर दक्षिण तक के राज-दरबारों में एवं जनता में उसे आदर मिला। हिन्दू मुसलमान दोनों ने उसका स्वागत किया। उसके कई अनुवाद फारसी में हुए। उन सबके प्रकाशन और तुलनात्मक अध्ययन से जायसी की काव्य प्रतिभा और अर्थ समृद्धि पर नवीन प्रकाश पड़ता जायगा, ऐसी आशा है।

—वासुदेव शरण अग्रवाल

१. इन पंक्तियों को लिखने के बाद जोधपुर पुस्तकालय से प्राप्त हुई 'मैनासत' की अपनी प्रतिलिपि को मैंने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि वही उस काव्य की साधन कृत मूल अवधी प्रति है। अब मनेर शरीफ की फारसी लिपिवाली प्रति और जोधपुर की देवनागरी प्रति को मिलाकर 'मैनासत' का पूरा पाठ प्राप्त हो जाने की आशा हो गई है। —वासुदेवशरण

भूमिका

अलाउल और उनकी पद्मावती

(१६४५–१६५२)

हिन्दी के महान् कवि मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा १५४० ई. सन् के लगभग लिखी गई 'पद्मावत' नामक रचना भारतीय साहित्य की महत्तम काव्य कृतियों में से एक है। मध्य युगीन बँगला साहित्य के अनेक रचनाओं के लेखक, और वस्तुतः सत्रहवीं शती के सर्वोच्च कवि अलाउल ने, एक शताब्दी बाद, जायसी की इस प्रसिद्ध रचना को आधार बना कर अपनी "पद्मावती" की रचना की।

दौलतकाज़ी के बाद (जिसने १६२२ से १६३५ के बीच में 'सती मैना' नाम की अपनी अकेली अपूर्ण कृति की रचना की थी)[१] अलाउल अराकान दरबार के दूसरे महान् कवि थे। अलाउल का पूरा या वास्तविक नाम हमें विदित नहीं है। अलाउल तो उनका उपनाम सा प्रतीत होता है। स्वयं कवि के द्वारा अपने सभी ग्रन्थों में (अभी तक उनके छः ग्रंथों का पता चला है) दिए हुए विवरण से हमने यह निश्चित किया है कि वे मूलतः फतेहाबाद परगना के जलालपुर नामक गाँव के निवासी थे। इनके पिता यहाँ के स्थानीय जमींदार मजलिस कुतब के यहाँ, जिनका नाम इतिहास[२] में भी आता है, एक बड़े अफसर थे। इस समय फतेहाबाद का स्थान-निर्धारण करना कठिन है, पर यह संभव है कि यह फरीदपुर में, बाखरगंज और गंगा के मुहाने के द्वीपों के दक्षिण में कहीं रहा हो।[३] इस समय इसका कोई पता निशान वहाँ नहीं है, हो सकता है कि नदी में विलीन हो गया हो।

जैसा कि अलाउल के अपने वर्णन से विदित होता है, उनका जीवन बहुत घटना-पूर्ण और उत्तेजना-संकुल था। अराकान के राज-दरबार में उनका पहुँचना बिल्कुल संयोग-वश हुआ। पुर्तगाली समुद्री डाकुओं से उनकी एक रोमांचकारी भिड़न्त हुई जिसमें उनके पिता को मार दिया गया। उस भिड़न्त के बाद ही वे अराकान दरबार में पहुँचे। उनकी रचनाओं से यह भी पता लगता है कि वे एक पुण्यात्मा सूफी मुसल्मान थे।

---

१. देखिए मेरी रचना "दौलतकाजी एंड हिज लेंग्वेज" (जे० ए० एस०, जिल्द २०, नं० २, १९५४) और दे० "साहित्य प्रकाशिका" पहिले के अंक, (विश्व भारती) पृष्ठ ८।

२. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, दूसरी जिल्द, (यदुनाथ सरकार), पृष्ठ २९२-२९३, २५९-२६०

३. आइने अकबरी : पृष्ठ १२७

अलाउल की पहिली और निश्चित ही सर्वोत्कृष्ट कृति 'पद्मावती', अराकान दरबार में थदो मितार (१६४५-१६५२) के शासन काल में, राजा के महापात्र मागन ठाकुर की प्रार्थना पर रची गई। ये ठाकुर कौन थे, यह प्रश्न अब भी बहुत विवादास्पद है। अलाउल की पद्मावती केवल एक कविता ही नहीं है, एक महवत्त्पूर्ण ऐतिहासिक अनुलेख भी है, क्योंकि आरंभ के कुछ अध्यायों में कवि ने युवा राजा थदो मितार, उसकी राजधानी, महल, दरबार, स्थल सेना और नौ सेना का विस्तृत चित्रण किया है। इस सत्रहवीं शती के बंगाली मुसलमान कवि की एक साहित्यिक रचना में उपलब्ध थदो मितार के राज्य काल का उल्लेख इतना सर्वांगपूर्ण है कि उस समय के ऐतिहासिकों के उपलब्ध उल्लेख, मात्रा में उसके आधे भी नहीं हैं। अलाउल के काव्य में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों में इतिहास से भिन्नता भी है। उदाहरण के लिए इतिहास थदो मितार को उसी वंश के पहिले के एक राजा नरपतिदिग्यि (१६३८–१६४५) का भतीजा बतलाता है, पर अलाउल उसे उसका पुत्र बतलाता है। श्वेत और लाल हाथियों के अधिपति के रूप में अलाउल द्वारा किए गए थदो मितार के उल्लेख में इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण समर्थन मिलता है। यह वर्णन उसके सिक्कों में उल्लिखित उपाधि से बिल्कुल मिल जाता है।

अलाउल का पद्मावत यद्यपि अपने में ही एक महत्त्वपूर्ण रचना है पर मुख्यत: वह एक अनुवाद है या और अधिक सही अर्थों में जायसी की महान् कृति की एक विश्वसनीय अनुकृति है। जब हम इन दोनों कृतियों की तुलना करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अलाउल ने जायसी का अनुकरण करते हुए भी बहुत सी बातों में पूर्ण स्वच्छन्दता दिखाई है। इन भेदों को हम मोटे रूप से निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१. कथा के विस्तारों में भेद, विशेषत: अन्तिम अंश में जो (जिस रूप में वह अलाउल के हस्तलेखों में प्राप्य है) निश्चित रूप से अविश्वसनीय है।

२. नामों और घटना-क्रमों के परिवर्तन।

३. जायसी के कुछ अंश जो अलाउल ने संक्षिप्त कर दिए हैं।

४. जायसी के वे अंश जो अलाउल ने छोड़ दिए हैं।

५. अलाउल के मौलिक अंश जो जायसी में नहीं हैं।

इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि बन्दीगृह से रतनसेन के मुक्त हो जाने के बाद दिल्ली के सुलतान के साथ गोरा बादल की लड़ाई से लगा कर कहानी का शेष अंश, जो बंगाली रचना में मिलता है, अलाउल द्वारा नहीं लिखा गया। इस अंश की अप्रामाणिकता निम्न आधारों पर सुनिश्चित है। एक तो कहानी का परिणाम उस परिणाम से भिन्न है जिसकी प्रतिज्ञा अलाउल ने ग्रंथ के आरंभिक स्थलो में की है और दूसरे यह जायसी से भी बहुत अधिक भिन्नता रखता है। वर्णन शैली का सौन्दर्य द्रष्टव्य रूप से इस भाग

---

१. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, जिल्द २०, १८४६, पृष्ठ २३२

में हीन हो गया है और उसकी प्राञ्जलता स्पष्ट ही कम हो गई है। शब्द-सज्जा और संगीत इस प्रकार यकायक विलुप्त हो जाते हैं कि पाठक निश्चित रूप से यह अनुभव करता है कि यहाँ वह एक घटिया कवि से उलझ रहा है। अलाउल के वर्णनों की भव्यता, उसके विद्वत्तापूर्ण संदर्भ, उसकी विवेकपूर्ण अभिव्यक्तियाँ, उसकी उपमाएँ और रूपक, सब यहाँ यकायक गायब हो जाते हैं। इस खंड में मुश्किल से कहीं जायसी की दो चार साथ की पंक्तियाँ एकत्र अनूदित मिलेंगी। इसकी अप्रामाणिकता का एक दूसरा और बहुत महत्त्वपूर्ण आधार यह है कि कवि के प्रशंसक और संरक्षक मागन ठाकुर का उल्लेख इस भाग में बहुत कम (केवल दो स्थानों पर) होने के अतिरिक्त एक ऐसे ढंग से हुआ है कि उससे दूसरे कवि का संकेत सुनिश्चित हो जाता है। एक जगह मागन का उल्लेख इस प्रकार है :—

"पद्मावती और नागमती दोनों साथ साथ (अपने पति की चिता पर) जल मरीं और अलाउल ने विस्तारपूर्वक मागन से इन घटनाओं का वर्णन किया।"

यह उल्लेख विशेष रूप से इस आत्म-स्वीकृति की सूचना देता है कि अलाउल पूर्ण रूप से इस खंड की रचना का भागी नहीं है। एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यहाँ यह है कि इस स्थल पर अलाउल अपने को "हीन" नहीं बतलाता। यह बात उसके स्वभाव के सर्वथा विपरीत है और पिछले भागों में आए हुए प्रत्येक उल्लेख की एक विशेषता है। केवल इतना ही नहीं, कहानी के इस अन्त्य भाग में अलाउल आत्म-प्रशंसा करता हुआ भी प्रतीत होता है और यह बात उस विनम्र सूफी कवि के विषय में कभी विश्वसनीय नहीं कही जा सकती। प्रारंभ में उसने कहीं पर भी इस प्रकार की अद्भुत प्रवृत्ति का प्रदर्शन नहीं किया है।

इस बंगाली कथा का अन्तिम भाग नीरस वर्णन मात्र है। काव्योत्कर्ष का उसमें कहीं नाम भी नहीं है। छन्द-विधान की विविधता और सुन्दरता भी यहाँ अप्राप्य हो जाती है और सारी सामग्री स्थिर गद्य जैसी प्रतीत होने लगती है। यहाँ कथानक जायसी से इतना भिन्न हो जाता है और उसका अन्त, इतिहास की छीछालेदार करते हुए, इतनी हास्यास्पद उत्तेजनाओं और भावनाओं के साथ पूर्ण होता है कि अलाउल को इस भाग की रचना से संबद्ध कर देना बहुत कठिन हो जाता है। यह संकेत कि अलाउद्दीन चित्तौर आया और रतनसेन के लड़कों के साथ वर्षों तक रहा, इतना ऊलजलूल है कि इस प्रकार का अन्त केवल परियों की कहानियों में ही संभव कहा जा सकता है। एक महान् महा-काव्य के लिए अथवा बंगाली साहित्य के एक युग-निर्देशक ग्रंथ के लिए—जो गौरव कि अलाउल की 'पद्मावती' को निस्सन्देह रूप से प्राप्त है ही—यह अन्त समीचीन नहीं है। कहानी के विस्तार में अन्य भेदों में रतनसेन के घोड़े और हाथी की सवारी के कौशल का उल्लेख किया जा सकता है। जायसी इस विषय में अलाउल की तरह लम्बे लम्बे विस्तारों के फेर में नहीं पड़ता पर अलाउल की कृति में रतनसेन को अपनी विद्वत्ता की परीक्षा देनी होती है जिसमें पद्मावती के द्वारा अपने योग्य पति के रूप में स्वीकार किए जाने से पहिले यह राजकुमार गंभीर और विशद् ज्ञान का प्रदर्शन करता है। जायसी में इन बातों का कोई उल्लेख नहीं है। मूल ग्रंथ में अपने भावी दामाद के साथ किए

गए अपराधों के लिए गंधर्वसेन की ओर से कोई क्षमा-याचना भी नहीं की जाती पर अलाउल हमारे सामने क्षमा माँगते हुए श्वशुर को इस प्रकार उपस्थित करता है:-

अजानित अपराधी क्षेमिबा आमारे।
क्षेमाशीलाधिक तुमि संसार माझारे॥

(मैंने अनजान में अपराध किया है और तुम इस संसार में बहुत अधिक क्षमा शील हो)।

रतनसेन इसका बहुत गौरवपूर्ण उत्तर देता है।

इसके बाद अलाउल मूल से हटकर संस्कृत काव्य-शास्त्र और संगीतशास्त्र का गंभीर परिचय देता है और रतनसेन को आठ प्रकार की नायिकाओं के भेद बतलाते हुए बहुत मुखर कर देता है।

मूल से दूसरा महत्त्वपूर्ण अवान्तर रतनसेन-पद्मावती-विवाह प्रसंग में दृष्टिगत होता है। अलाउल इस दृश्य को निश्चय रूप से बंगाली रंग में रँगता है और इस राजकीय विवाहोत्सव के लिए समुचित आडम्बर और प्रदर्शन की बहुलता में, बंगाल के हिन्दुओं के रीति-रिवाज जहाँ तहाँ बहुत प्रधान रूप से उपलक्षित होते हैं। अलाउल के इस दृश्य के बहुत से वर्णन जायसी में नहीं पाए जा सकते।

अलाउल द्वारा वर्णित जायसी से विभिन्नता रखने वाले अन्य प्रसंगों में कुछ नामों तथा अन्य बातों का परिवर्तन उल्लेखनीय है। जायसी का 'सरजा' कई जगह अलाउल द्वारा संस्कृतनिष्ठ "श्रीजा" कर दिया गया है और उसे निश्चित रूप से एक ब्राह्मण बना दिया गया है; यद्यपि जायसी ने कहीं भी 'सरजा' की जाति, धर्म या राष्ट्रीयता का उल्लेख नहीं किया है और अनुमान का आधार भी बहुत कम है। जायसी से अलाउल की भिन्नता का एक दूसरा उदाहरण गोरा और बादिला के आपसी संबंध के विषय में है। जायसी उनके संबंध के विषय में कोई स्पष्ट बात नहीं कहता, जबकि अलाउल उन्हें निश्चित रूप से भाई बना देता है। जायसी की 'जसोवा' केवल 'बादिला' की माँ है, पर अलाउल की 'यशोदा' गोरा और बादिला दोनों की माँ है।

फिर जायसी ने समुद्र की बेटी का 'लक्ष्मी' नाम ठीक ही रक्खा है, पर अलाउल बहुत हलके कारणों के बल पर, उसे पद्मावती भी कहता है।

फिर अलाउल की रचना में जब पद्मावती नौका डूब जाने के बाद समुद्र तट पर होश में आती है तो अपने पास अपनी सहेलियों को देखती है जिनके नाम चन्द्रप्रभा, विजया, रोहिणी और विद्युन्माला हैं। लेकिन जायसी में न तो किन्हीं परिचारिकाओं का उल्लेख है और न कोई नाम ही वहाँ आता है।

फिर जायसी ने सात समुद्रों का विस्तार से वर्णन किया है, पर अलाउल ने मुश्किल से छः पंक्तियाँ इस विषय पर लिखीं हैं। अलाउल ने जायसी के ज्ञानपूर्ण स्त्री-भेद विवरण को भी केवल चार पंक्तियों में ही चलता कर दिया है। इसके विपरीत अलाउल ने पौराणिक पक्षी ककनू (अलाउल में काकनुस) के विचित्र अन्त का बड़े विस्तार से वर्णन

किया है। जायसी ने केवल उपमा देने के लिए एक पंक्ति में इस चिड़िया का उल्लेख किया है।

जायसी में बादशाह की दूती देवपाल की दूती के बाद आती है पर अलाउल ने यह क्रम उलटा कर दिया है।

कथा-वर्णन में भी अलाउल बहुधा अत्यधिक स्वतन्त्रता का उपयोग करता है और जहाँ ज्यों का त्यों अनुवाद भी करता है, वहाँ भी अपनी समझ से आवश्यक परिवर्तनों को लाने में संकोच नहीं करता। यद्यपि जायसी की पंक्तियों का स्वतन्त्र अनुवाद अलाउल में बहुत विरल नहीं है लेकिन शाब्दिक अनुवाद बहुत स्वल्प है।

अलाउल द्वारा किए गए जायसी की रचना के अनुवाद का स्वरूप कुछ भी हो पर यह बात अवश्य ध्यान दिलाने की है कि केवल बंगाली साहित्य में ही नहीं, हिन्दी साहित्य में भी उसका एक विशिष्ट महत्त्व है। मेरा यह विचार है कि कई स्थलों पर जायसी के किसी छन्द की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता अलाउल की कृति द्वारा बहुत सुगमतापूर्वक निश्चित की जा सकती है, क्योंकि अलाउल का अनुवाद अवश्य ही मूल रचना की किसी बहुत प्राचीन और प्रामाणिक कृति पर ही आधारित रहा होगा। अभी कुछ सालों में जायसी के 'पद्‌मावत' के कुछ अच्छे संस्करण प्रकाशित हुए हैं, पर मुझे संशय है कि विद्वान् सम्पादकों ने किसी ऐसे हस्तलेख की भी सहायता ली है जो अलाउल की रचना से पुराना हो। अलाउल ने जिस हस्तलेख के आधार पर तीन सौ साल से भी अधिक पहिले अपनी कृति का ढाँचा खड़ा किया था, उसके लिए तो कुछ कहना ही नहीं है।

शुक्ल जी द्वारा सम्पादित जायसी के 'पद्‌मावत' से तथा शैरिफ के अंग्रेजी अनुवाद[१] से यह एक गलत धारणा, प्रचलित हो गई कि गन्धर्वसेन द्वारा रतनसेन के बन्दी किए जाने पर केवल दैवी व्यक्तियों द्वारा हस्तक्षेप किया गया। पर डाक्टर माता प्रसाद गुप्त ने यह दिखलाया है कि इस प्रसंग की बहुत सी पंक्तियाँ निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं और प्रामाणिक पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि जायसी में अलाउल की तरह एक भाट ने, जो मनुष्य है, इस प्रसंग में बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है। इस प्रकार जायसी के 'पद्‌मावत' के इस प्रसंग में बहुत से छन्दों का प्रक्षेप अलाउल की बँगला रचना से पुष्ट हो जाता है।

एक दूसरे उदाहरण के लिए डा. लक्ष्मीधर के हाल के जायसी के अध्ययन[१] से निम्न पंक्ति को लीजिए:–

सखी सहस दस सेवा पाई ? (छन्द १७ पंक्ति ३)

इस पंक्ति का पाठ शुक्ल जी में भी ऐसा ही है:

सखी सहस दस सेवा पाई। (२६।२७)

शैरिफ महोदय भी इसी भाव का अनुवाद करते हैं:

दस हजार सहेलियाँ सेवा में उपस्थित थीं। (२६।१७)

---

१. ल्यूजक एंड कम्पनी द्वारा लंदन से प्रकाशित, १९४९.

पर डा. गुप्त के संस्करण में इसका पाठ इस प्रकार है :

सखी सहस दुइ सेवाँ आईं। (छंद. २८८)

उद्धृत पंक्ति चार व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत है जिसमें से तीन उसे एक प्रकार से स्वीकार करते हैं और चौथा दूसरे प्रकार से। इस समस्या का हल एक बंगाली कवि की रचना में है जिसमें यह पंक्ति इस प्रकार है :—

सखी दुइ सहस आसिल सेवा काजे।

इस प्रकार अलाउल का इस पंक्ति का अनुवाद सही पाठ को पुष्ट करता है।

इस प्रकार के उदाहरण संख्या में इतने अधिक हैं कि उन्हें यहाँ उद्धृत नहीं किया जा सकता।

जायसी में बहुत सी पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनकी प्रामाणिकता अलाउल के साक्ष्य पर संदिग्ध हो जाती है। शुक्ल जी के संस्करण के ३४ वें खंड का २३ वां छन्द जो डा. गुप्त ने निकाल दिया है, अलाउल द्वारा अनूदित है। यह बात उसके अप्रामाणिक होने के विषय में गंभीर सन्देह उत्पन्न करती है।

शुक्ल जी के संस्करण के ४७ वें खंड का दूसरा छन्द भी, जो डा. गुप्त ने स्वीकार नहीं किया है, ऐसा ही सन्देह खड़ा करता है, क्योंकि एक के बाद दूसरे फाटक को पार करने का भाव, बहुत संक्षिप्त रूप से ही सही, अलाउल में आया है।

अतः यह स्पष्ट है कि जायसी के 'पद्मावत' के कुछ छन्दों, पंक्तियों तथा पंक्ति भागों की प्रामाणिकता अप्रमाणिकता अलाउल की कृति पर विचार करके, बहुत पुष्ट आधार पर संदिग्ध कही जा सकती है।

—सत्येन्द्रनाथ घोषाल

शान्तिनिकेतन

पद्मावती

बयान १

[जायसी दोहा १–१०]

बिसमिल्ला प्रभुर नाम आरम्भ प्रथमे।
आद्यमूल शिर सेइ शोभित ऊत्तमे ॥१॥
प्रथमे प्रणाम करि एक करतार।
येइ प्रभु जीवदाने स्थापिल संसार ॥२॥
करिल पूर्वेत आदि ज्योतिर प्रकाश।
तारपरे प्रकटिल सेइ कविलास ॥३॥
सृजिलेक आगुन पवन जल क्षिति।
नाना रङ्ग सृजिलेक करि नाना भाति ॥४॥
सृजिल पाताल मही स्वर्ग नरक आर।
स्थाने स्थाने नाना वस्तु करिल प्रचार ॥५॥
सृजिलेक सप्त मही ए सप्त ब्रह्माण्ड।
चतुर्दश भुवन सृजिल खंड खंड ॥६॥
सृजिलेक दिवाकर शशी दिवा राति।
सृजिलेक नक्षत्र निर्मल पाँति पाँति ॥७॥
सृजिलेक सुशीतल ग्रीष्म रौद्र आर।
करिल मेघेर माझे विद्युत् संचार ॥८॥
सृजिल समुद्र मेरु जलचर कुल।
सृजिल सिपि ते मुक्ता रत्न बहुमूल ॥९॥
सृजिलेक वनचर पक्षी चतुष्पद।
सृजिलेक नाना रोग नानान औषध ॥१०॥
सृजिया मानवरूप करिल महत।
अन्न आदि नाना विधि दिया छे भुगुत ॥११॥
सृजिलेक नृपति भुंजय सुखेराज।
हस्ती अश्व नर आदि दिछे तार साज ॥१२॥
सृजिलेक नाना द्रव्य ए भोग बिलास।
काके कैल्ल ईश्वर काहाके कैल्ल दास ॥१३॥
काके कैल्ल सुख भोगे सतत आनन्द।

केह दःखो उपवासि चिन्ता युक्त धन्ध ॥१४॥
आपना प्रचार हेतु सृजिल जीवन।
निज भय दर्शाइते सृजित मरण ॥१५॥
काके कल्ल भिक्षुक काहाके कल्ल धनी।
काके कल्ल निर्गुणी काहाके कल्ल गुणी ॥१६॥
सुगन्धि सृजिल प्रभू स्वर्ग आकुलिते।
सृजिलेक दुर्गन्ध नरक जाना इते ॥१७॥
मिष्टरस सृजिलेक कृपा अनुरोध।
तिक्त कटु कषा सृजि जानाइल क्रोध ॥१८॥
पुष्पे जन्माइल मधु गुपुत आकार।
सृजिया मक्षिका कल्ल ताहार प्रचार ॥१९॥
सुरासुर राक्षस गन्धर्व्व अप्सर।
कीट पिपीलिका आदि यत चराचर ॥२०॥
वसति अंकुर तृण बीज ओ पशम।
श्वास धारी यत आर स्थावर जंगम ॥२१॥
अष्टादश सहस्र वरण अनुपाम।
भुगुति बण्टिते हैल सिद्धि मनस्काम ॥२२॥
एतेक सृजिते तिल नाहैल बिलम्ब।
अन्तरीक्ष गठिया राखिछे बिनि स्तम्भ ॥२३॥
काके कल्ल निर्व्बली काहाके बली आर।
छार हन्ते निर्म्मिया कराय पुनि छार ॥२४॥
सृजिते अनन्त रूप नाहि बन्ध छन्द।
ताहाके बन्दिया पुनि करों अनुबन्ध ॥२५॥
सेइ धनपति सर्व्व याहार संसार।
सकलेरे देय दान ना टुटे भान्डार ॥२६॥
गुरु करी पिपीलिका आर क्षुद्राकार।
काके नाहि बिस्मरय दियाछे आहार ॥२७॥
सकलेरे उपरे ताहार दृष्टि आछे।
किवा मित्र किवा शत्रु काके नाहि वाछे ॥२८॥
हेन दाता आछे कोथा शुन जग जन।
सवाके खाओयाय पुनि ना खाय आपन ॥२९॥
जीवन आहार दाने करिछे आश्वास।
सकलेर आशा पुरे आपने नैरास ॥३०॥
युगे युगे करे दान ना टुटे भान्डार।
जग जने येइ देय सेइ दानतार ॥३१॥
आदि अन्त संसारेते सेई एक राजा।

त्रैलोक्येर जीव जन्तु करे ताँर पुजा ॥३२॥
सबानेर शिर परे सेइ से ईश्वर।
यारे चाहे तारे छाया करे राज्य धर ॥३३॥
नैंरास करय तिले रंगेर प्रमाण।
आर केहू नाहि तार दोसर समान ॥३४॥
पर्व्वत करय रेनु देखे सर्व्व लोके।
हस्तिरे करय पिपीलिका समजोगे ॥३५॥
येइ इच्छा शेइ करे केहू नाहि जाने।
मन बुद्धि अन्ध धन्ध ताहार कारण ॥३६॥
सेइ से सकल गड़े सकल भाङगय।
भांगिया गठय पुनि यदि मने लया ॥३७॥
अलक्ष्य अवर्ण अनन्त रूप सेइ कर्त्ता।
ताहा हन्ते सव से जानय जगहर्त्ता ॥३८॥
प्रकट गुपत आछे सबाकारे व्यापि।
धार्मिक चिनय ताके ना चिनय पापी ॥३९॥
तात, मातृ दार सुत सकल वर्ज्जित।
दोसर कुटुम्ब नाहि विपदेर हित ॥४०॥
आपनि सृजक सेइ ना हय सृजन।
येन छिल तेन आछे थाकिबे तेमन ॥४१॥
येइ जन आन भावे सेई मूर्ख अन्ध।
दिन चारि विलम्बे मरिबे हइ धन्ध ॥ ४२॥
ये इच्छाय करिब करिब सेइ भाव।
बुझिते ना पारे केहू अपचय लाभ ॥४३॥
एहि विधि चिन प्रभु करिया ये ज्ञान।
येन मते पुरानेते करिछे बाखान ॥४४॥
बिनी जीवे जिये, बिनी करे सब कर्म्म।
जीव हीन बक्ता सेइ के जानिब मर्म्म ॥४५॥
अंग हिया बिने प्रभु, कर्ण बिने शुने।
हिया बिने भुत भविष्यत सब गुणे ॥४६
चक्षू बिने हेरे पन्थ पाखा बिने गति।
कोन रूप सम नहे अनन्त मुरति ॥४७॥
स्थान विवर्ज्जित मात्र आछे सर्व्व ठाम।
रूप रेखा बहिर्भूत निरमल नाम ॥४८॥
काहाते ना मिशे सर्व्व ठामे भरि पूर।
दृष्टिमात्र निकटेते चक्षू हन्ते दूर ॥४९॥
आर यत दिया आछे रत्न अमुलित।

नाहि जाने मूर्ख सार मर्म्म कदाचित ॥५०॥
दरशन हेतु दिया आछे चक्षु ज्योति ।
श्रुति हेतु दिया छे श्रवण माझे श्रुति ॥५१॥
वाक्य षट रस हेतु रसना प्रसाद ।
हास्य लागि दशन लइते नाना स्वाद ॥५२॥
सुस्वर निमित्ते करिया छे कण्ठ दान ।
हस्त पद आदि प्रभू दिछे स्थाने स्थान ॥५३॥
भिन्न भिन्न राज्ये निजु जिछे सवाकारे ।
एकेर कर्त्तव्य आने करिते ना पारे ॥५४॥
ए सब रत्न पाइयाछे जने जने ।
तथा पिओ दातार मर्य्यादा केवा जाने ॥५५॥
याहाके करिछे प्रभु एक रत्नहीन ।
सेइ ये जानय मर्म्म हइ अतिक्षीण ॥५६॥
यौवनेर मर्म्म जाने यार जीर्ण काय ।
सुस्थ मर्म्म ना जाने असुस्थ यार गाय ॥५७॥
सुख मर्म्म दुःखी बिने ना जाने राजन ।
बन्ध्या जने नाहि जाने प्रसव वेदन ॥५८॥
अनेक अपार अति प्रभुर करण ।
कहिते अपुर्व्व कथा ना याय वर्णन ॥५९॥
सप्त मही सप्त स्वर्ग वृक्ष पाता यह ।
सप्त शुन्य भरि यदि सृजय येकत ॥६०॥
ए सप्त सागर आदि यत नदनदी ।
दिघि पुष्कर्णि कुप मसि हय यदि ॥६१॥
यत बिधि नव ग्रह आर वृक्ष शाखा ।
यत लोमावलि आर यत पक्षि पाखा ॥६२॥
पृथिवीर यत रेनु स्वर्गे यत तारा ।
जीव जन्तु स्वास आर बरीखेर धारा ॥६३॥
युगे युगे वर्षे यदि अस्तुत लेखय ।
सहस्त्र भागेर एक भाग नहि हय ॥६४॥
संसारेर गुणि यत गुण प्रकाशिल ।
एइ समुद्रेर एक बिन्दु ना टलिल ॥६५॥
बहु गुणवन्त स्वामी येइ भाव हय ।
बहु गुण ज्ञाता गुणि निमिषे सृजय ॥६६॥
वर्णन ना जाय यार सृजन अपार ।
केमते वर्णि सेइ सृजन ताहार ॥६७॥
बुद्धिर प्रकाश मोर तत दूर नाइ ।

अस्तुत केमते तोर करिब गोसाइ ॥६८॥

भाविते चिन्तिते बुद्धि पाइ पराभव।
सेइ पथे अन्धकार मरण सम्भव ॥६९॥

कृपामय स्वामी बलि आछे एकाकाय[1]।
ते कारने कवि कुले निति गुण गाय ॥७०॥

कृपार समुद्रे यदि उठिल तरंग।
कुमति दारिद्रउ दुःख सेना हय भंग ॥७१॥

एइ कृपा कर प्रभू दयाल चरित।
तोमार सखार गुण गाहिते किंचित ॥७२॥

पुब्बेत आछिल प्रभू नंरूप आकार।
इच्छिलेक निज सखा करिते प्रचार ॥७३॥

बयान २

हजरतेर छेपतेर बयान

[जायसी दो. ११]

निज सखा मोहम्मद प्रथमे सृजिला।
सेइ से ज्योतिर मूले भुवन निर्म्मिला ॥१॥

से सकल ज्ञान कथा कहिते अपार।
समुखे पुस्तक कथा आछे अति भार ॥२॥

ताहान पिरीते प्रभु सृजिल संसार।
आपने कहिछे प्रभू पुराण माझार ॥३॥

येइ दीप ज्योतिते उज्जवल त्रिभूवन।
हइल निर्म्मल ज्योति पातक नाशन ।४॥

घोरकार छिल पन्थ नर पाप लीन।
पुण्य प्रकाशेर हेतु हैल तान दीन ॥५॥

अंगुल इंगिते यार चन्द्र दुइ खन्ड।
घन माला यार सीरे घटे नव दन्ड ॥६॥

बन मृग याहार लग्न का आरोपिय।
वनान्तरे याइ पुनि आइल फिरिया ॥७॥

छाया हीन काया ना परशे मक्षिकाय।
चक्रधारि हैया सर्प यार गुण गाय ॥८॥

महिमा कतेक कैव आमि मति हीने।
यार गुण पुराणे कहि छे निराञ्जने ॥९॥

जन्मिया ये जने ना लइल तान नाम।
ताहार हइव नरकेर माझे ठाम ॥१०॥

पाय पुन्य यखने पुछिब करतार।
आगु हैया करिबेक नरकी उद्धार ॥११॥

(क्रमशः)

---

१. एक प्रति में 'एक दाय' पाठ भी है।

श्री रमेशचन्द्र दुबे

काव्यगत रूढ़ियाँ और कविशिक्षा-साहित्य

परम्परा का अभिमान

परम्परा का अभिमान जीवन की एक प्रेरक शक्ति है और जिस प्रकार कुल, जाति और संस्कृति की इन प्रेरणदायिनी शक्तियों के निर्माण के पीछे एक प्रशस्त और गौरवशाली इतिहास रहता है, वैसे ही साहित्य की सुनिश्चित परम्पराओं के पीछे भी सर्वत्र लम्बे अतीत का उज्ज्वल इतिहास, अगणित मनीषियों का अपार बुद्धि वैभव, और अनेकों प्रतिभाओं का नव नव भावोन्मेष अपनी सजीवता, जागरूकता और संवेद्यता में सतत् क्रियाशील परिलक्षित होता है। साहित्य की निश्चित परम्पराएँ उसकी विशदता और गौरव की साक्षी होतें हैं। पूर्व रचित साहित्य में उलपब्ध सौन्दर्य की अनुपम विधाएँ, चमत्कार की अद्भुत प्रणालियाँ और संस्कृति की जीवन्त मान्यताएँ इतर साहित्यिकों द्वारा अनुकृत होकर साहित्य की परम्पराएँ बन जातीं हैं।

परम्परा और रूढ़ि

ये परम्पराएँ कालान्तर में बहुव्यवहृत और बहुजन प्रयुक्त होकर रूढ़ियों का रूप धारण कर लेतीं हैं। एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में आने पर किसी बात की परम्परा पड़ जाती है और फिर अनेक बार, अनेक व्यक्तियों द्वारा, अनेक स्थलों पर दुहराई जाने पर वही बात रूढ़ि बन जाती है। अन्तर केवल इतना है कि परम्परा का निर्वाह समझ बूझ कर, विकल्प बुद्धि द्वारा ग्रहीत करके किया जाता है, रूढ़ि का प्रयोग अन्धाधुन्ध, विना तर्क किए, यथावत् स्वीकार करके किया जाता है। परम्परा का अनुगमन जान कर ही होता है, रूढ़ि का अनजाने भी हो सकता है। परम्परा का आग्रह अन्तरार्थ पर अधिक होता है, रूढ़ि का प्रचलन और व्यवहार पर। कृष्णभक्त कवियों में राधाकृष्ण को नायक नायिका रूप में चित्रित करने की परम्परा थी, रीति कालीन श्रृंगारी कवियों में आकर वह रूढ़ि बन गई। किन्तु व्यापक अर्थ में "परम्परा" शब्द का प्रयोग "रूढ़ि" के पर्याय रूप में भी किया जाता है। वैसे रूढ़ि वही है जिसके लिए सूर के शब्दों में यह कहा जा सके कि "कविजन कहत कहत चलि आए, सुधि करि करि काहू न कही[1]।"

परम्परा जब रूढ़ि बन जाती है तो वह सौन्दर्य के उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों का करण बन सकती है। उपयुक्त वातावरण की तत्काल सृष्टि के

---

१. १७९ सूरसागर भाग १, पद संख्या ४१९० पृष्ठ १४६१

रूढ़ि द्वारा सौन्दर्य का उत्कर्ष और अपकर्ष

लिए, मन और बुद्धि को विमुग्ध कर देने वाली ध्वनि के सहज विधान के लिए, सीमित उपकरणों से ही रस की पूर्ण निष्पत्ति के सम्यक् साधन के लिए और साधारण वर्णनों को भी उक्ति की वक्रता द्वारा चमत्कारपूर्ण और सहृदय संवेद्य बना देने की अपूर्व क्षमता के लिए, रूढ़ियों से बढ़ कर अन्य कोई साधन नहीं है। कोकिल और रसाल का उल्लेख मात्र वसन्त की सुधि दिला देता है, "कंपि किसोरी दरस कै[1]" कहने मात्र से प्रेम की मोहक अभिव्यञ्जना हो जाती है, राधाकृष्ण, कदंब, यमुना, मेघों की गरज और बिजली की कड़कड़ाहट या सखियों के बहाना करके खिसक जाने के प्रसंग मात्र[2] से संयोग शृंगार की निष्पत्ति हो जाती है। कृष्ण के वियोग में आँसू न रुकने जैसी साधारण बात में भी, नेत्र के सारे रूढ़ उपमानों की कवायद कराके, "मीनता" को तरजीह देकर, "उपमा एक न नैन गही" घोषित कर देने से, अपूर्व चमत्कार और संवेदनशीलता आ जाती है।

परन्तु रूढ़िओं का प्रयोग सर्वत्र सौन्दर्य के उत्कर्ष का ही कारण नहीं होता। कहीं कहीं तो रससिद्ध कवीश्वरों द्वारा प्रयुक्त होकर भी वह काव्य को असुन्दर बना देता है। गणना के लिए संख्याओं का प्रयोग न करके उन संख्याओं को सूचित करने वाले पदों के प्रयोग की रूढ़ि काव्य में प्रचलित है। तीन के लिए "शिव नेत्र" बारह के लिए "सूर्य" आदि का प्रयोग बहुधा किया जाता है। परन्तु इस क्रिया को उलट कर दिशाओं के लिए दश, चतुर्व्यूह के लिए चार, त्रिदेव के लिए तीन आदि की एक साथ गिनती गिना के एक पहेली खड़ी कर देने से काव्य सौन्दर्य का सचमुच, ह्रास हो जाता है। तुलसी की निम्न पंक्तियों में ऐसा ही किया गया है :

> "**'तुलसी' तेहि औसर लावनिता दस, चारि, नौ, तीन, इकीस सबै।**
> **मति भारति पंगु भई जु निहारि, विचारि फिरी उपमा न पबै॥**"
>
> (कवितावली, बालकाण्ड, छंद ७)

ऐसे ही यद्यपि कमल शरीर के विभिन्न अंगों के उपमान के रूप में रूढ़ हो गया है पर एक ही स्थान पर किसी व्यक्ति के सभी अंगों की उपमा कमल से ही दे देने पर नख–शिख वर्णन तो क्या सौन्दर्य का संकेत भी नहीं हो सकता। "नव कञ्ज लोचन, कञ्ज मुख कर, कञ्ज पद कञ्जारुणम्" में सौन्दर्य का अनुत्कर्ष इसी रूढ़ि के अनुचित प्रयोग के कारण हुआ है[3]। कूट काव्य में बहुधा पौराणिक कथाओं के आधार पर बनी रूढ़ियों के टेढ़े प्रयोग से ही उलझन पैदा की गई है और कविशिक्षा के ग्रन्थों ने तो वर्णन की रूढ़ियों को छानकर सरिता, सरोवर, पहाड़, नगर सभी के वर्णन की सर्वत्र उपयुक्त सामग्री एक ही स्थल पर इकट्ठी कर दी है।

रूढ़ियों का काव्य में स्थान

परन्तु रूढ़ियों का प्रयोग चाहे सौन्दर्य के उत्कर्ष या अपकर्ष का कारण बने चाहे वर्णन सौकर्य या चमत्कार का, वह काव्य का अभिन्न अंग अवश्य बन

---

१. विहारी-रत्नाकरः ६०१वां दोहा
२. विहारी-रत्नाकरः २४वां दोहा
३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। हिन्दी साहित्य पृष्ठ २४०-४१।

तथा कवि शिक्षा जाता है। इसलिए किसी भी भाषा के काव्य में, जिसकी अपनी कुछ लम्बी परम्परा है, जिसने अपनी पूर्ववर्ती भाषा या भाषाओं की समृद्धि से कुछ उत्तराधिकार प्राप्त किया है, रूढ़ियों की भारी सामग्री बिखरी हुई मिलेगी। यह सामग्री काव्य सम्पदा का बहुमूल्य अंग होती है। इस सामग्री से पूर्ण परिचय प्राप्त किए बिना काव्य के सौन्दर्य का, उसके मर्म का, सच्चा रहस्य ग्रहण कर लेना दुष्कर ही नहीं असम्भव सा है। संस्कृत में और उसके अनुकरण पर हिन्दी में भी कवि-रहस्य या कविशिक्षा पर ऐसे कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें कवि के जानने योग्य अनेक बातों का उल्लेख करते हुए, काव्य की परिपाटियों से कवि को पूर्णतः परिचित कराने की चेष्टा आचार्यों ने की है। ये ग्रंथ काव्य की रूढ़ियों और कवियों द्वारा मान्य समयों के एकत्र संग्रह-स्थल हैं।

कवि समय कवि शिक्षा के इन ग्रन्थों में कवि समयों का भी विस्तृत विवेचन हमें प्राप्त होता है। इन 'समयों' के अन्तर्गत आनेवाली बातें दोषों की परिभाषा की अपवादस्वरूप मानीं गईं हैं और इसलिए अलंकार शास्त्र में 'कवि समय' शब्द का प्रयोग वामन के 'काव्य समय' शब्द से भिन्न अर्थ में हुआ है। इस भिन्नता का निर्देश करते हुए डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' पृष्ठ २०३ में लिखते हैं:–

"कवि समय" शब्द से मिलता जुलता एक और शब्द अलंकार शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है, वह है 'काव्य समय'। इस शब्द का प्रथम और शायद अन्तिम भी प्रयोग वामन के 'अलंकार सूत्र' में पाया जाता है। काव्यालंकार सूत्र ५:१। किन्तु इन दोनों शब्दों के प्रयोग अलग अलग अर्थों में हुए हैं। वामन के मत से लोकशास्त्र के विरुद्ध अर्थों का प्रयोग ही काव्य समय है। इसका अन्तर्भाव बाद के किए हुए आलंकारिकों के दोष प्रकरण में हो जाता है। भामह और दंडी ने 'काव्य समय' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, परन्तु 'दोष' शब्द से उनका भी अभिप्राय देश, काल, कला, न्याय और आगम का विरोधी और प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त से हीन होना है। भामह ४–२। अमर चन्द्र की 'काव्य कल्पलता वृत्ति'[१] तथा राजशेखर की 'काव्य मीमांसा[२] में कवि समयों की लम्बी सूची दी गई है। 'काव्य मीमांसा के अनुसार[३] इन 'समयों' से तात्पर्य उन बातों से है जो न शास्त्रीय हैं न लौकिक किन्तु अनादि काल से कवि इनका व्यवहार करते आए हैं। ....
शास्त्र अनन्त हैं – देश अनन्त है – लोकानुभव भी अनन्त है। फिर यह कहने का साहस किसको हो सकता है कि यह बात शास्त्रों में कहीं नहीं है या ऐसा अनुभव कभी किसी का नहीं हुआ! इसी विचार से इन कवि समयों का प्रयोग दुष्ट नहीं समझा जाता।'[४]
चक्रवाक् मिथुन का रात्रि को भिन्न तटों पर आश्रय ग्रहण करना, अन्धकार का सूची भेद्य

१. काव्य कल्पलता वृत्ति--पृष्ठ २७-२८
२. काव्य मीमांसा (Barodda III Edition) अध्याय १४, १५ और १६ पृष्ठ ७८ से ८०. तक।
३. काव्य-मीमांसा—अध्याय १४ पृष्ठ ७८
४. गंगानाथ झा—कवि-रहस्य, पृष्ठ ८४

कहा जाना, अशोक का युवती के पदाघात से विकसित हो जाना आदि कवि प्रसिद्धि के कारण मान्य बातें कवि समयों के अन्तर्गत आती हैं। ये कवि प्रसिद्धियाँ या कवि समय भी काव्य में प्रयुक्त रूढ़ियाँ ही हैं पर रूढ़ियों का तात्पर्य केवल अशास्त्रीय और अलौकिक कवि प्रसिद्ध बातों से ही नहीं, काव्य में बहुधा प्रयुक्त उन लौकिक और शास्त्रीय बातो से भी है जिनके अनुकरण की लम्बी परिपाटी काव्य में दृष्टिगत होती है। इन लौकिक और शास्त्रीय कवि प्रसिद्ध बातों के अनुकरण की एक लीक बन जाती है। उनका प्रयोग भी काव्य में सर्व मान्य और सर्व स्वीकृत हो जाता है।

रूढ़ि सम्बन्धी साहित्य संस्कृत और हिन्दी में जो रूढ़ि संबंधी साहित्य उपलब्ध है उसका कुछ परिचय यहाँ दे देना उचित होगा। बहुत सी रूढ़ियाँ हिन्दी को संस्कृत से ही, उत्तराधिकार के रूप में, प्राप्त हुई हैं। अतः संस्कृत के कवि शिक्षा के ग्रन्थ भी, जिनमें सञ्चित प्रचुर रूढ़ि सामग्री का संकेत हम ऊपर कर आए हैं, हिन्दी की काव्य रूढ़ियों के अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी हैं।

इन ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण कृति राजशेखर (दशम शताब्दी का पूर्वार्ध) की 'काव्य मीमांसा है। इसका "कवि रहस्य" नामक प्रथम अधिकरण ही प्राप्त हुआ है। इस अधिकरण के १८ अध्यायों में कवि शिक्षा से संबद्ध 'वाङ्मय', 'काव्य पुरुष', 'कवि भेद', 'काव्य के मूल', 'हरण' आदि अनेक विषयों के साथ साथ तीन अध्यायों में कवि समयों का भी विस्तृत विवेचन किया गया है, जो प्रस्तुत विषय के लिए बहुत उपयोगी है। जिनसेन की 'अलंकार चिन्तामणि" तथा अन्य बहुत से बाद के ग्रन्थ राजशेखर का अनुकरण करते हैं। क्षेमेन्द्र (११ वीं शती का उत्तरार्ध) के दो ग्रन्थ 'औचित्य विचार चर्चा' और "कवि कंठाभरण" भी कवि शिक्षा की परम्परा में आते हैं। औचित्य विचार में गुण, पद, अलंकार, रस, देश, काल आदि के औचित्य और अनौचित्य के बहुत से उदाहरण देकर औचित्य द्वारा उत्पन्न चमत्कार की चर्चा की गई है। "औचित्य" और 'अनौचित्य' के निर्णय में बहुधा काव्य में प्रथित रूढ़ियाँ हमारी कसौटी बन जाती हैं। पर क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त का विश्लेषण करने पर "परिवर्तनीय अभिरुचि या व्यक्तिगत रुचि"[१] ही इसका प्रमुख आधार प्रतीत होती है। "कवि कंठाभरण" में कवित्व प्राप्ति के उपाय, कवि भेद, चौर्य, चमत्कार तथा कवियों द्वारा ज्ञेय विद्याओं का विवरण दिया गया है। अरिसिंह और अमर चन्द्र (१३ वीं शती का मध्य भाग) की "काव्य कल्पलतावृत्ति" रूढ़ियों की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। कवि समयों की सूची के अतिरिक्त रूढ़ उपमानों की प्रचुर सामग्री भी इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। "वृत्ति" का बहुत सा अंश केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर तथा देवेश्वर की 'कवि कल्पलता' में अनुकृत मिलता है। देवेश्वर (१४ वीं शती) ने 'काव्य कल्पलता वृत्ति' के लक्षण और उदाहरण तक ज्यों के त्यों उद्धृत करने में संकोच नहीं किया है। केशव मिश्र ने कवि शिक्षा के विषयों के अति-

---

१. × × × × it (the theory of Kṣemendra) ultimately resolves itself into assuming a more or less variable criterion of taste or personal appreciation"—S. K. De : Sanskrit Poetics, Vol. II, page 358.

रिक्त 'अलंकार शास्त्र' के प्रचलित विषयों का ही विस्तृत विवेचन किया है। अशोक, बकुल आदि वृक्षों की दोहद सम्बंधी कवि प्रसिद्धियों का उल्लेख मल्लिनाथ की टीका (मेघदूत २–१७ और कुमार संभव ३, २६) तथा विश्वनाथ और केशव के ग्रंथों में मिलता है। हलायुध का 'कवि रहस्य' जो केवल "क्रिया प्रयोग के वैचित्र्य का ही उद्‌बोधन करता है"[१] तथा प्रासंगिक रूप मे कविशिक्षा का विवेचन करने वाले अन्य ग्रन्थ, प्रस्तुत विषय की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

हिन्दी में रूढ़ियों के विषय पर उपलब्ध साहित्य में केशव की 'कविप्रिया' सबसे महत्त्वपूर्ण है। कवियों की शिक्षा के लिए अनेक अलंकारों का वर्णन करते हुए केशव ने बहुत सी रूढ़ि सामग्री एकत्र कर दी है। "काव्य कल्पलता वृत्ति" की तरह इस ग्रन्थ में भी श्वेत, पीत, नील, अरुण, चंचल, सुखद, शीतल, मन्द, इत्यादि अनेक गुणों, क्रियायों तथा अन्य विषयों के लिए रूढ़ उपमानों की बृहत् सामग्री एकत्र कर दी गई है। देश, नगर, वन, आश्रम, आदि के वर्णन में किन किन बातों का उल्लेख होना चाहिए यह भी केशव ने गिना दिया है। कवि रीति या कवि समयों का भी यथास्थान परिगणन किया गया है। ग्रंथ के अन्तिम प्रभावों में वर्णित अलंकारों के निरूपण में दण्डी के 'काव्यादर्श' तथा रुय्यक के 'अलंकार सूत्र' की छाया मिलती है। ग्रन्थ की सामग्री नवीन न होने पर भी उदाहरणादि हिन्दी में होने के कारण पुस्तक इस विषय के लिए बहुत उपयोगी है। भानु के 'काव्य प्रभाकर' में भी 'कवि परिपाटियों' का वर्णन मिलता है। ग्यारहवें मयूख में 'काव्य निर्णय' के अन्तर्गत 'कवि समयों' की गणना की गई है। कवि, राजा, रानी, मंत्री, हाथी, दुर्ग, अश्व, वृक्ष, उद्यान, अरण्य आदि प्रत्येक के वर्णन में उल्लेख्य बातों का संग्रह भी दे दिया गया है। इधर पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का भी ध्यान हंस के नीर क्षीर विवेक वाली कवि प्रसिद्धि पर गया था। इसकी उत्पत्ति के विषय में उनका एक लेख प्राप्त होता है। डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'विचार वितर्क' में राजहंस से संबंधित कवि प्रसिद्धियों पर एक लेख है। पर 'कवि प्रसिद्धियों' और 'स्त्री रूप' संबंधी रूढ़ियों पर विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री उनकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में प्राप्त होती है। इस पुस्तक के दो अध्यायों में प्रसिद्धियों तथा रूढ़ियों के आधारभूत सत्य के विषय में बहुत रोचक तथा प्रामाणिक विवेचन प्राप्त होता है। पर विषय केवल संस्कृत साहित्य से उपलब्ध प्रसिद्धियों तथा रूढ़ियों के मूल और सत्य के विवेचन तक ही सीमित है। साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से हिन्दी काव्य की रूढ़ियों के विवेचन और संग्रह का कार्य अभी होना शेष है।

---

१. जगन्नाथ शास्त्री। "काव्य कल्पलता वृत्ति" की भूमिका पृष्ठ ३।

लोकवार्ता साहित्य–

जाहर पीर

(लोहबन के मट्टा जोगी से)

राजा उम्मरु नें तो जल्लाद बुलाए
रानी बाछल ऐ जंगल में आऔ भैया डारि
भ्वांते चले ऐं जाके घर के कमेरे
उम्मर कौ कहनौ डारयौ हतुनाँए।
भ्वांते चले ऐ रे
यह जन आए
फाँटिकु खूल्यौ पायौ नाहिं।
अवाज दई ऐ तूतौ
सुनि तौ री लीजौ संजा की बेटी
आज तेरे सुसर नें बादर डारे फारि।
बोल सुन्यौ ऐ जानें हुकमु सुनायौ
मन की तौ कह दै बीरा बात
तेरे सुसर नें री दीयौरी निकासौ
बाछल बहना हाँ
मेरी तौ सुनि लै बहना बात
मान सरोवर रे मान की बेटी
तौ सुनिलैरी भैना बात
इतमें लजायौ री सासुरौ
दोउकुल खोइ दई तैनें लाज
भ्वाँते चले ऐं चार्यौ
जल्लाद आए
उम्मर ते करत जुवाब
तैनें कही तौ रे!
मरी तौ जे पावै, जिन्दी तौ पाई बैठी आज।
"भैया बुही तौ रे गाढ़ा, बुही रामू गड़वारौ
ब्वाई में बैठि घर जाइ

'कितनी रे गाढ़ी रे, कितनी सहाबौ,
कितनी हजारी संग भीर
तेरे बाबुल नें तो कूं गाढ़ौ दीयौ।
मेरी बाछल भैना
बुही भड़वारौ तेरे साथ।
सोनेकौ लोटा तोकूं नही तौ री दीन
बुही रेसम डोरि व्वाके हात।"
"भैया चंदन रूख कटाइ
रानी रथु बनवायौ।
लाद्यौ अम्होईनु मालु रानी
पीहर चालै री
बे सुरई के बैल रायगड़ वारे री।
सात परिकम्मा रानीनें खैरी की दीनी
'सूबस बसियौ रे मेरे सहर दरेसे म्हारे सुसर के खेरे
तेरी जर जैयो पाताल
रे हाँकि गाड़ी मेरे, रामू गड़वारे
लाखा बुरज पहुँचाइ।
रुदन मचायौ जाने गामु जगायौ,
जुरिआयौ कुटमु परिवार।
रामू गड़वारौ जाकौ तड़कि में बोलयौ
'अरी सुनि लीजो भैना बात।
मेरौ री खैरो होतों संजाजी कौ
आजु उम्मरं डारि तौ दै तौ मारि।'
बैल जो जोरे रानी रथ बैठारी
मान की बेटी जानें रथ लीनी बैठारी।
भ्वाँ ते रे गाढ़ा जानें ऐसौ रे हाँक्यौ
दीनो बनो में जानें हाँकि
अरे एक बनी गुजरान
दूजे बन आवै।
दूजौ तीजौ आइ हर्‌यौ बनुपायौ।
पायौ बरी कौ पेड़ु
रानी रथु बिरमायौ री।
रथु दीनों बिरमाइ
जानें पलंगु बिछायौ री
अरी जैमति राजकुमारी
जिमायौ गड़वारौ जी

पीयौ जोहड़ कौ पानी
जाइ निंद्रा आइ गई री।
बैल बांधे ऐं बरी की डार,
जगायौ गड़वारौ री।
प्यास लगी ऐ बीरा मोइ
नैंक पानी प्याइ दै रे।
कूआ नांऐं बाबरी नांऐं
जल कहाँ ते लाऊं री।
अरे सोइ गई राज कुमारि
सोयौ गड़बारौ री।
गूंगा गरभ कौ राउ
गरभ में सोचैगा।
अरे जौ नानी कें लै जाइ
निनुआ मेरा नामु परै
भाई दिंगी बोल हरामी लाई री।
नाना मामा कहें टूकन तें पार्यौ ऐ।
गूंगा गरब का राउ गरभ में सोचैगौ।
तोरि दूब को पेड़ु इकु सरप बनावैगा।
सरपु बनाइ वनाइ बाँबी में डारैगौ।
उठि रे बासुकि राइ, तैरौ बैरी आयौ ऐ।
बासुकि पूछै बात क कैसौ बैरी ऐ।
अरे जब लैगौ अवतार पीर बिसु हरि लेगो।
रहेगी जाकी छूँछि लीला घोड़ा ऐ हाँकैगौ।
धरती के वासिकु राउ इकु बीरा डार्यौ ऐ।
सबुई गये सिर नाइ बीरा काऊ नै न खायौ ऐ।
कारे को असवार पौनियाँ धायौ ऐ।
चल्यौ ऐ कारौ नागु बाछिल ढिग आयौ ऐ।
पलिका की लगि रही आनि
चढ़ैगौ बैरी कित हे कें।
जाहर सौचै बात जाइ परचौ दिवै रे।
एक कला ते बाहिर आयौ—
जानें चोटी खोली ऐ।
लगे गिल गिले बार बाँहियन ते जाइ लिपिट्यौ ऐ।
छाती पै बैठ्यौ जाइ
द्वै जीभ निकारैगौ।
कहाँ डसूँ मोरी माइ तुरत मरि जाइगी री।

जौ अम्मा ऐ डसि जाइ जनमु कहाँ लुंगो रे।
मारी गरभ में ते थाप,
गाँडै सरपु खिस्याइ गयौ।
गयौ ऐ खिस्याइ खिस्याइ
डसे दोऊ नागौड़ी।
भोर भयौ भरमात रानी बाछल जागैगी।
उठि रे बीरा गाड़ीबान गाड़ी जोरौगे।
औंगी लै लई हात बैल पै आवैगौ।
अरी क्या जोरूं मोरी भैनि
बधिया तौ दोऊ हक्क भई।
'पीहरिया मरि जाऊं
राँड़ मैं चौं आई
भूलि गई माया माँसु
भटकत मेरौ जनमु गयौ।
गूँगा गरब कौ राउ
गरम में बोलैगा।
कै तू भूत पलीत देव कै दानौ रे।
ना मैं भूत पलीत देव ना दानौ री।
सेयौ गोरखनाथु दुआ कौ बालकु री।
मिटि जइयौ गोरखनाथ मोइ कहा खवाइ गयौ।
च मड़ दै गयौ मोइ गरभ में बोल्यो।
तेरे मरे जिवाइ दऊं बैल बगदि घर चालै री।
लोटा लै लीयौ हात नीर कूँ आवै री
गोला की गहि लई गैल हरीसिंगु पाइ गया।
बोलै राजा बात मेरी सुनै मेरे भाई रे।
जे लोटा तौ बाछलि कूँ दीयौ
जाइ तू कहाँ ते लायौ रे।
तेरी बहनि कूँ दीयौ ऐ निकासौ
गरभु लै आई रे।
कितनी भीर सहाबौ लाई रे।
अरे बुही चंदन कौ ए गाड़ु
बुही रामू गड़वारौ रे।
बुही सुरही के बैल, बुही ऐ गड़वारौ रे।
न्याँई डटि जैयौ मेरे बीर
पिता ते मिलि आऊँ रे।
भ्वाँते कुमर चल्यौ जाइ

मानसरोवरि आयौ ऐ।
मानु जु बूझै बात कैसें चित्त उदासी ऐ।
अरे बादर डारे फारि
गरभु लैं आई ऐ।
गूंगा गरब कौ राड
गरभ में तड़क्यौ ऐ।
अरे पलका ते औंधो मारि
कहाँ फेरि भड़क्यौ ऐ।
खूनन् रकतु बहाइ
परचौ जानें दीयौ ऐ।
गूँगा गरब कौं राउ
बागर में आयौ ऐ।
उम्मरु राजा बैठ्यौ तखत पै
तखत ते औंधौ दीयौ मारि।
(दोनों ओर के दल आए) बाछल बोली—बापनें हाथ पकड़ा
'तूतौ हटि जा मेरे धरम के बाबुल
गोता गयौ ऐ खाइ
तू बो हटिजा मेरे बाबुल प्यारे
तू अपने घर जाउ
'अपनौ सहाबौ तू तौ लैकें रे जैयौ
मेरे गरब गुमाने बाबुल,
मेरौ सहाबौ तौ रे मेरौ गोरखनाथ
सींक समाइ तहाँ जाँउ।

(बाछल ते जाहार ने कही—सवासौ गज का निसान, गैलमा डंका तो पै से लै लुंगो)

भादों आधी राति औलियाँ जनमु लियौ
मथुरा में जनमे कान्ह बागर गूँगा भयो
हम्बे हम्बै कोयल बोली पापियरा झिगार्या
भाई के मैदान में चौहान खेलन आया।
जिन धाया, इन पाया, बागर में सच्चा पीर रे कहाया।

टिप्पणी

चन्दायन

'मनेर शरीफ' में अभी हाल में अपने मित्र प्रो. हसन असकरी की कृपा से मुझे चन्दायन की एक खंडित प्रति देखने को मिली थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि मलिक मुहम्मद जायसी से १५० वर्ष पहिले १४ वीं शताब्दी ई. में लिखित मौलाना दाऊद की इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक की ऐसी प्राचीन प्रतिलिपि को प्राप्त करके मुझे कितना सन्तोष हुआ। परन्तु खेद की बात है कि इस प्रति के प्रारंभ और अन्त के कुछ पन्ने नष्ट हो चुके हैं। बीच के केवल ३२ पन्ने बचे हैं, जिनके फोटो आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ के पुस्तकालय के लिए हमने ले लिये हैं। यह सारी प्रतिलिपि फारसी अक्षरों में लिखी हुई है। उसके समय का उल्लेख इसमें नहीं मिलता। उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह संभवतः १५ वीं शताब्दी ईसवी की लिखी हुई है। उसके हाशिये पर 'मृगावत' की भी प्रतिलिपि अंकित है। ज्ञात हुआ है कि चन्दायन के १८ पन्नों की एक प्रतिलिपि पाकिस्तान के लाहौर म्यूजियम में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त १० पृष्ठों की प्रतिलिपि पूर्वी पंजाब के प्राचीन सरकारी कागज-पत्रों के रक्षक डाक्टर सूरी के पास शिमला में सुरक्षित है। संभव है कि पुस्तक के प्रारंभिक और अन्तिम पृष्ठ उनमें हमें मिल जायँ। हर्ष की बात है कि चन्दायन की एक पूरी प्रति जोधपुर राज्य के पुस्तकालय से डा. वासुदेवशरण अग्रवाल को प्राप्त हुई है। इन हस्तलिपियों के आधार पर हम अब इस बात की आशा कर सकते हैं कि चन्दायन का एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया जा सके।

इस ग्रन्थ में चंदा और लोरिक की प्रेम-कथा दी हुई है। लोरिक का गीत भोजपुरी क्षेत्र के अहीरों की मंडली में अब भी बहुत ही लोकप्रिय है। संभव है कि भोजपुरी प्रदेश में ही इस कथा का मुख्य केन्द्र रहा हो, क्योंकि इसमें उल्लिखित कई स्थान जैसे गोवर या गौर, महुअर आदि शाहाबाद जिले में ही हैं। ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अपने 'वर्णरत्नाकर' में भी लोरिक के नाच और गाने का उल्लेख किया है।[1]

साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक पक्षों के अतिरिक्त चन्दायन हिन्दी भाषा

---

१. इस कथा के विवरण के लिए देखिए हंटर का 'स्टैटिस्टिकल एकांउट ऑफ बंगाल' तथा बुचनन का यात्रा-विवरण।

के विकास की दृष्टि से भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। भाषा का एक सर्वजन सुलभ और सुबोध रूप खड़ा करने के लिये इसमें विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित रूपों के मिश्रण का कुछ ऐसा ही आदर्श अपनाया गया है, जैसा कि कबीर आदि संत कवियों की परम्परा में भी हमें मिलता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं:—

कहवाँ इस्तिरी तें पाई।
का कर रही हं, कहवाँ जाई॥
काहे निसरह रोये जन होय।
तोर साथी न आहन्ह कोय॥
कवन पहम हुत लोरिक आहे।
कहवाँ जाह कहाँ वह काहे॥
पूछ सभा कह दीन्ह लोरा।
कवन लोग घर कहवाँ तोरा॥
बढ़त काहे निसरय लोरा।
लोग कतेत कछु कहे न तोरा॥

दोहा—**काह विराग तुम तह निसरे साज कह तुम तहे बात।**
हम फिन देखे न्याव न पार नहीं, पूछँ तुमरी बात॥
जात अहीर हम लोरिक नानू
गोवर नगर हमार पुर ठाऊँ॥
सहदेव मेहर की चाँदा धिया।
मेहर बिआह बावन सों किया॥
बावन केर नार ली आयों।
चाँदा तेरी मेहर देहि पायों॥

क्रम वही दोहा-चौपाइयों का है।[1]

अन्यत्र एक दोहा इस रूप में दिया हुआ है—

और गीत में करूँ विनती सीस नाय कर जोड़।
एक एक बोल मोत जस, कहूँ जो हीरा तोड़॥

इन उदाहरणों में आप देख सकते हैं कि किस प्रकार एक ओर कहवाँ, हमार, तोर, कतेत, जाई, (भविष्यत्) फिन आदि भोजपुरी रूप हैं और दूसरी ओर 'जाह', 'निसरह' आदि मगही रूप। यदि एक ओर आहन्ह, नाय, हुत, केर आदि अवधी रूप हैं तो दूसरी ओर का कर रही है, किया, करूँ, कहूँ आदि शुद्ध खड़ी बोली के रूप हैं। इन मिश्रणों में हम उन दिनों के उन कठिन प्रयासों का कुछ अंदाज पा सकते हैं, जिनका फल है हमारी

---

१. रामपुर के राजकीय पुस्तकालय में पद्मावत की जो प्राचीन प्रति है, उसके पहले पृष्ठ में चन्दायन की कुछ चौपाइयाँ और एक दोहा दिया हुआ है। इस सम्बन्ध में इसी अंक में प्रकाशित डा. वासुदेव शरण अग्रवाल के अलाउल की पद्मावती का प्राक्कथन देखिए।

आज की वह विकसित हिन्दी, जिसे हमने राष्ट्रभाषा या राजभाषा के रूप में स्वीकार किया है। हमारी भाषा के विकास में हिन्दू और मुसलमानों, वणिक्-व्यापारियों, स्थान-स्थान में भ्रमणशील सैनिकों, साधु-संतों और फकीरों के ऐसे मिश्रित प्रयोगों के असाधारण महत्त्व का अनुमान और भाषा विज्ञान की दृष्टि से भाषा-मिश्रण की प्रक्रिया का सम्यक् अध्ययन ऐसे प्रामाणिक आधारों से किया जा सकता है।'

—डॉ. विश्वनाथ प्रसाद

१. मिश्रित भाषा के प्रयोग के विषय में देखिए 'ब्रज भारती' में प्रकाशित मेरा निबंध "ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानौ"।

सञ्चयन

संस्कृत और भारतीय संस्कृति

आगरा विश्वविद्यालय के चांसलर यू. पी. के राज्यपाल श्री. कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने संस्कृत विश्वपरिषद् के तिरुपति अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से जो भाषण दिया उसमें उन्होंने प्रभावपूर्ण शैली में यह प्रतिपादित किया कि–

१. संस्कृत का भारत की प्रतिष्ठा उसके गौरव और उसके उत्थान से अनिवार्य और घनिष्ठ संबंध है।

२. संस्कृत मृत-भाषा नहीं है।

३. उसका संदेश ही विश्व को मार्ग दिखा रहा है और उस शान्ति के संदेश को और दृढ़ करने के लिए संस्कृत की संजीवनी को और अधिक लोकप्रिय बनाने की महती आवश्यकता है।

उन्होंने कहा—

इस परिषद् को यह भाषण दिलाने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत हमारे जीवन में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। रामायण, महाभारत और भागवत से हमारे जीवन का ताना-बाना बना है। आधुनिक भाषाओं में साहित्यिक पुनराहरण, जितना पाश्चात्य प्रभाव से हुआ है, उतना ही संस्कृत के प्रभाव से हुआ है। विश्वविद्यालय, महाविद्यालयों और विद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन कराया जाता है, देश में सहस्रों पाठशालाओं में १२ से १६ वर्ष की अवस्था तक विद्यार्थी संस्कृत पठन के लिए अपना समय अर्पित किये हुए हैं। संभवत: देश में पच्चीस हजार से भी अधिक व्यक्ति कुछ न कुछ प्रवाह के साथ संस्कृत बोल लेते हैं। लाखों ब्राह्मण संस्कृत के माध्यम से ईश्वर को अधिकाधिक मनुष्य के निकट लाते हैं। देश के दो करोड़ से ऊपर जनता का संस्कृत-पाठ से संबंध है। जन्म, विवाह या मृत्यु के अवसरों पर स्तुतिपरक तथा अनुष्ठान संबंधी मंत्रों का उच्चारण होता है। ढाई करोड़ से अधिक जनता जिन भाषाओं का प्रयोग करती है, वे संस्कृत से समृद्ध और अनुप्राणित होतीं हैं।

प्राय: सभी युगों में देश के महान् पुरुषों ने संस्कृत के माध्यम से ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति की है। इसमें अपवाद भी हो सकते हैं, पर अत्यन्त विरल। भारत ने अपनी सांस्कृतिक दृढ़ता और चेतना संस्कृत के द्वारा ही प्राप्त की थी। इस सांस्कृतिक चेतना को संस्कृत के माध्यम से ही सुरक्षित रखा जा सकता है।

हमारी स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता यदि भारत संस्कृत का परित्याग कर दे। अपनी सांस्कृतिक शक्ति के मूल स्रोत को त्याग कर हम अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते।

मैं और आगे जाता हूँ। संसार एक जटिल संकटकाल में होकर चल रहा है। संसार का कल्याण, महाभारत, रामायण, भागवत तथा कालिदास के ग्रंथों के विस्तृत पठन-पाठन में ही है। भगवद्गीता के महान् संदेश और उपनिषदों के अध्ययन से संसार संकटमुक्त हो सकता है, जिनमें सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त हैं और जो हमें मानव के व्यक्तित्व के महत्त्व, नैतिक क्रम, और ईश्वर में विश्वास के प्रति दृढ़ कर सकते हैं।

यदि भारत को अपनी आत्मा के प्रति सच्चा रहना है और यदि भारत को महानता के उच्चस्तर को प्राप्त करना है, तो अन्य बातों के साथ हमें अपने अमोघ सांस्कृतिक, नैतिक तथा दार्शनिक स्रोत, संस्कृत को शक्तिशाली बनाना ही होगा। साथ ही आज हम यह अनुभव करते हैं कि जीवन की वह पुरातन प्रणाली जिसमें संस्कृत का प्रभाव सुरक्षित था, बहुत द्रुतगति से समाप्त होती चली जा रही है।...हम को यह समझ रखना है कि यदि संस्कृत के अध्ययन की परम्परा को सुरक्षित रखना महत्त्वपूर्ण है, तो उतना ही महत्त्वपूर्ण यह कार्य है कि उसके पाठ्यक्रम को अत्यन्त आधुनिक दृष्टि से बनाया जाय। यदि ऐसा नहीं किया गया तो संस्कृत के शास्त्री निरंतर विकासशील संसार में मृतप्राय ही रहेंगे। संस्कृत अध्येताओं के आज दो वर्ग हैं; पंडित वर्ग और कॉलिजों के प्राध्यापक। इन दोनों वर्गों के बीच जो अंतर है, संघर्ष है, उसी के कारण मुख्यतः संस्कृत उपेक्षित है। इस संघर्ष को समाप्त करना है। यह संघर्ष एक क्रमिक पाठ्यक्रम के निर्धारित करने से समाप्त हो सकता है, जिसमें दोनों वर्गों की अच्छी बातें सन्निविष्ट हों।

साथ ही यह भी आवश्यक है कि संस्कृत हमारे जीवन का सक्रिय और सजीव अंग बनी रहे। इसके लिए जनता में इसके प्रति रुचि उत्पन्न करनी चाहिए। उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रमों तथा शोध-संस्थाओं की स्थापना से यह कार्य नहीं हो सकता। हमें संस्कृत के अध्ययन को सरल और लोकप्रिय बनाना होगा। सरल बोलचाल की संस्कृत पर बल देकर हमें उसे प्रत्येक के लिए बोधगम्य बनाना चाहिए।

एकेडेमिकल आवश्यकता

यह उत्तरदायित्व जितना विश्वविद्यालयों का है, उतना ही शासन का है। मैं आपका ध्यान 'राधाकृष्णन कमीशन ऑफ यूनीवर्सिटी एज्यूकेशन' के इस संबंध के कथन की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ —

"संस्कृत भाषा में ऐसे ग्रंथ हैं जो समस्त मानवता की अमूल्य निधि हैं। मानवीय संस्कृति में इनका सदैव स्थान रहेगा...इधर संस्कृत के अध्ययन में कमी हो रही है। भंडारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट के शोध संचालक डा. बेलवालकर का कथन है कि अपनी मातृभाषा, जिसको मनुष्य प्रकृतितः सीख लेता है, के पश्चात् जिस भाषा का अध्ययन

आवश्यक है और होना चाहिए, वह संस्कृत है। संस्कृत में भारतीय संस्कृति और परम्परा सुरक्षित है। हमें आशा है कि हमारे विद्यार्थी उच्च कक्षाओं में संस्कृत लेने के लिए प्रोत्साहित किये जायँगे।"

प्रत्येक समझदार व्यक्ति को खेद है और मुझे भी इस बात का खेद है कि हमारे विश्वविद्यालययों की शिक्षा तथ्य-बोध-परक है, निर्माण परक नहीं है। संस्कृत तथा जिस का वह प्रतिनिधित्व करती है वह रचनात्मक रहे हैं और हैं। यदि इन रचनात्मक तत्त्वों की अपने भविष्य-निर्माण में हम उपेक्षा करेंगे, तो बुद्धि तो प्रखर हो सकती है, किन्तु चरित्र-निर्माण नहीं हो पायेगा ; अपना भौतिक कार्य तो सिद्ध करेंगे पर आदर्शों से शून्य ही रह जायँगे। अन्ततः प्रस्तुत पीढ़ियों का भारतीय नैतिकता और दर्शन से संबंध विच्छेद हो जायगा।

दूसरी ओर नीतिशतक, वैराग्यशतक, आरंभिक रामायण तथा हितोपदेश का दो वर्ष का पाठ्यक्रम, विद्यार्थियों के चरित्र-गठन में भी सहायक होगा। साथ ही आदर्श भी पल्लवित होंगे। यह कार्य अन्य अध्ययनों की अपेक्षा संस्कृत के अध्ययन से अधिक सम्पन्न हो सकता है। इस अध्ययन से एक युवक की उच्छृंखल तथा विशृंखल विचारधाराएँ स्वस्थ उद्देश्यों की ओर उन्मुख हो सकतीं हैं और आज का भारतीय युवक इस योग्य बन सकता है कि युग-युग की भारतीय चेतना को भविष्य में वाणी प्रदान कर सके।"

यह दृष्टि माननीय मुंशी जी ने संस्कृत की समस्या को देखने की प्रदान की है। यह दृष्टि भारत के समग्र साहित्यिक और सांस्कृतिक पुनराहरण के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाएँ

गुजरात साहित्य परिषद् के अध्यक्ष के पद से भाषण देते हुए, २७ अक्टूबर को, उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल, आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति और गुजराती के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक श्री. कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने, हिंदी और गुजराती के संबंध पर तथा क्षेत्रीय भाषाओं और उच्च शिक्षा के माध्यम पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये—

गुजरात में हिंदी को शिक्षा का माध्यम बना देने से उसकी भावी समृद्धि और उन्नति में निर्विवाद सहायता मिलेगी। देशभर में राष्ट्रभाषा को उच्च शिक्षा के लिए माध्यम स्वीकार कर लेने से प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा के पल्लवित और पुष्पित होने में ठोस योगदान मिलेगा। यदि संकीर्णता और स्वार्थ की दृष्टि से भी देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि हिन्दी बोलने और लिखने का अच्छा अभ्यास हुए बिना गुजरात का शिक्षित वर्ग गुजरात के बाहर किसी प्रकार की प्रतिष्ठा नहीं पा सकेगा।

क्षेत्रीय भाषाओं को उच्च शिक्षा का माध्यम बना देने का परिणाम यही होगा कि क्षेत्रीय भाषावाद का भाव बढ़ेगा। इससे अन्य गैर-गुजराती अध्यापकों और विद्वानों के

संपर्क से प्राप्त होने वाले ज्ञान-संवर्द्धन के सुयोग से गुजरात वञ्चित रह जायगा।

× × ×

आधुनिक भारत के प्रत्येक शिक्षित मनुष्य के लिए मातृभाषा हिंदी, अंग्रेजी और संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य होना चाहिये। हिन्दी जिनकी 'मातृभाषा' है, उन्हें कोई दूसरी भारतीय भाषा सीखनी चाहिये.... विविध वाणियों के प्रभाव और मिश्रण से भाषा को सौन्दर्य और बल मिलता है और उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति बढ़ती है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि विश्व की बड़ी भाषाओं के सम्वर्द्धन का संबंध किसी न किसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक साके के साथ रहा है। जैसे, यूरोपीय पुनराहरण और इंगलैंड में ऐलिजाबेथीय युग में इतालियन और अंग्रेजी भाषाएँ अपने परमोत्कर्ष पर पहुँची। ऐसे ही भारत के नवोदय के साथ हमारी राष्ट्रभाषा की संवर्द्धना संलग्न है।

एक प्रकार से हिंदी का यह सम्वर्द्धन भारत की अप्रतिहत अग्रगामिता से गुँथा हुआ है। हिंदी और गुजराती से हमारे राष्ट्रीय जीवन का ताना-बाना पुरेगा। हिन्दी के विधिवत् प्रयोग से निस्संदेह गुजराती संस्कृत जैसी अभिव्यञ्जना शक्ति, बंगाली का संस्वरित मार्दव तथा तामिल जैसी परिपक्वता प्राप्त करेगी और साथ ही साथ अपनी मौलिक सादगी और लगन को भी बढ़ा सकेगी।

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

अप्रैल १९५६

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

अप्रैल १९५६

द्वितीय अंक

सम्पादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

अध्यक्ष

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ

मुद्रक

एच० के० कपूर, आगरा यूनीवर्सिटी प्रेस, आगरा

प्रकाशक

डा० विश्वनाथ प्रसाद,

अध्यक्ष, आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ, आगरा

विषय-सूची

संदेश

The Institute of Hindi Studies of the Agra University publishes a Bulletin named 'Bhartiya Sahitya'. The First issue of the Bulletin was published in January, 1956, and was greatly appreciated by those who read it. Now, the Second issue of the Bulletin is before the public, and I trust that it will also be read with equal interest and appreciated by the readers. A Bulletin or a Magazine has an important place in the life of an institution. Besides providing an opportunity for self-expression, it serves as an index of the progress of the institution. I hope that the staff and students of the Institute of Hindi Studies of the Agra University will continue to take interest in its publication and thereby render a great service to its readers and to their Institute.

K. P. Bhatnagar.
M. A., LL. B.. Lt-Col.,
Vice-Chancellor,
Agra University.

[आगरा विश्वविद्यालय का हिन्दी विद्यापीठ 'भारतीय साहित्य' नाम के पत्र का प्रकाशन करता है। इस पत्र का प्रथम अंक जनवरी, १९५६ में प्रकाशित हुआ था। जिन्होंने इस अंक को पढ़ा उन्होंने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की। इसका दूसरा अंक आपके सामने है। हमें आशा है पाठक-गण इसे भी रुचि के साथ पढ़ेंगे और पसन्द करेंगे। किसी भी संस्था के जीवन में एक पत्र या पत्रिका का महत्वपूर्ण स्थान होता है। आत्माभिव्यक्ति के लिये अवसर देने के अतिरिक्त संस्था की प्रगति की सूचना के लिये भी इसका उपयोग होता है। मुझे आशा है कि विद्यापीठ के प्राध्यापक और छात्र इस पत्र के प्रकाशन में रुचिपूर्वक सतत योग देते रहेंगे और इसके द्वारा पाठकों की तथा अपने विद्यापीठ की भी महनीय सेवा करेंगे।]

कालिका प्रसाद भटनागर
ऐम० ए०, एल०-एल० बी०
लेफ्टिनेंट कर्नल

वाइस चांसलर
आगरा विश्वविद्यालय।

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

अंक २] अप्रैल १९५६ [वर्ष १

डा० शशिभूषण दासगुप्त

राधावाद—उत्पत्ति और क्रम-विकास

श्री राधा सम्बन्धी आलोचना के दो पहलू हो सकते हैं, एक दार्शनिक अथवा तत्त्व सम्बन्धी और दूसरा ऐतिहासिक। धर्म-मतों में ईसा के आठवीं शताब्दी से ईषत् दार्शनिक रूप में श्री राधा का सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है और वृन्दावनवासी गौड़ीय वैष्णवों के ध्यान-मनन द्वारा सोलहवीं शताब्दी में उनके दार्शनिक रूप की परिपूर्णता हुई। साहित्य में श्री राधा का उल्लेख बहुत पहले से ही पाया जाता है। आजकल पुराणादि के भीतर भी नाना प्रकार से श्री राधा का उल्लेख मिलता है। किन्तु हमारा विश्वास है कि किसी विशेष दार्शनिक मत का अवलम्बन कर राधावाद की उत्पत्ति नहीं हुई है; राधावाद मुख्यत: पुराणमूलक है भी नहीं। पुराणों में राधा के जो आधुनिक उल्लेख मिल रहे हैं, हमें लगता है कि उनका अधिकांश अर्वाचीन काल की योजना के परिणाम स्वरूप हैं। ऐसा लगता है कि किसी एक विशेष जाति के किसी विशेष जनप्रिय धर्म-मत से राधा-साहित्य का आविर्भाव हुआ और फिर वहाँ से सर्व भारतीय धर्म और दर्शन में उसका क्रमश: प्रसार हुआ। उज्ज्वल रस के माध्यम स्वरूप राधा की वैष्णव धर्म में प्रविष्टि और प्रतिष्ठा हुई। धार्मिक-सम्प्रदाय में प्रविष्ट होने के बाद राधा का दार्शनिक रूप धीरे-धीरे विकसित होने लगा। इस तत्त्व के विकासानुसार राधा वास्तव में कमलिनी ही हैं। बारहवीं शताब्दी के पूर्वपर्यन्त विष्णु-शक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ विश्वास, चिन्ता और मतामत था मानो उसी की उर्वर भूमि में इस अनन्त विचित्र राधा का बीज-वपन हुआ और उस पुरातन भूमि से उप-जीव्य संग्रह कर अपने नये धर्म में नित्य नव सौन्दर्य और माधुर्य प्राप्त कर अंकुरित एवं पल्लवित होता हुआ वह बीज गौड़ीय वैष्णव धर्म में पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हो गया।

किसी-किसी विद्वान का मत है कि मूलत: राधा-कृष्ण-तत्त्व एक ज्योतिष तत्त्व था। वेदों में सूर्य ही विष्णु हैं, कृष्ण विष्णु के अवतार हैं, अर्थात् सूर्य के रश्मिस्थानीय या प्रतिबिम्ब। राधा है अनुराधा का पूर्ववर्त्ती नक्षत्र विशाखा। अनुराधा नक्षत्र के नाम से ही यह प्रकट है कि विशाखा नक्षत्र का प्राचीन नाम राधा था। अथर्ववेद में तो यह स्पष्ट उक्ति है ही कि राधा ही विशाखा हैं। परवर्त्ती काल में राधा और विशाखा को दो मान कर विशाखा को राधा की सखी बताया गया है। पण्डित श्रीयुत योगेश चन्द्र राय महाशय राधाकृष्ण की रासलीला की ज्योतिषिक व्याख्या में कहते हैं—"कार्त्तिकी

पूर्णिमा वाले दिन सूर्य विशाखा की तरफ, विशाखा में ही रहता है, राधा के साथ सूर्य का मिलन होता है, किन्तु अदृश्य रूप से। एक ही साथ तारा और सूर्य दोनों दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। प्राचीनों का विश्वास था कि सूर्य-रश्मि से ही तारा का तारात्व और चन्द्र की चन्द्रिका है। गो रश्मि, गोप कृष्ण, गोपी तारा। कवियों ने कृष्ण रविको रास के मध्य में और गोपी ताराओं को मण्डलाकार सजाया है। चन्द्र यदि पुल्लिंग न होता तो वह राधा की प्रतिनायिका हो सकता था क्योंकि पूर्णिमा को चन्द्र सूर्य की विपरीत दिशा में रहता है। इदानीं बंगीय कवियों को प्रतिनायिका के लिए चन्द्रावली नाम का निर्माण करना पड़ा। अमावस्या की रात्रि को चन्द्र-सूर्य का मिलन होता है, कृष्ण गुप्त-रूप से चन्द्रावली के कुंज में गमन करते हैं।" योगेशबाबू ने इस विषय में और भी अनेका-नेक ध्यान देने योग्य तथ्यों के प्रति हम लोगों की दृष्टि आकृष्ट की है। समग्र राधाकृष्ण लीला ही मूलतः एक विशुद्ध ज्योतिष तत्त्व मात्र थी, इस बात को स्वीकार न करने पर भी हम यह स्वीकार करते हैं कि ज्योतिष तत्त्व के साथ राधा कृष्ण लीला का एक निगूढ़ सम्बन्ध था। परवर्त्ती वैष्णव साहित्य में भी इस सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर स्पष्ट-अस्पष्ट इंगित मिलते हैं।

विविध पुराणों में विविध प्रसंगों में हमें राधा के उल्लेख मिलते हैं किन्तु इस संबंध में यह विशेष लक्षणीय तथ्य है कि जिस पुराणमें श्रीकृष्ण की ब्रजलीला सर्वा-पेक्षा विस्तृत एवं मधुरभाव से वर्णित है एवं जो पुराण रस-तत्त्व-स्थापन में गौड़ीय वैष्णवोंका प्रधान अवलम्बन है, उसी श्रीमद्भागवतपुराण में राधा का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। केवल रासलीला के वर्णन में यह आता है कि श्रीकृष्ण जिस प्रियतमा गोपी को लेकर रासमण्डली से अन्तर्हित हुए थे, श्रीकृष्ण की उसी प्रियतमा गोपी के सम्बन्ध में अन्यान्य गोपियां कहती हैं—"**अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।**" इसी "अनयाराधितः" शब्दसमूह के भीतर से ही परवर्त्तीकाल के वैष्णवों ने राधा का आविष्कार किया है। अवश्य ही यह सही है कि भागवतकार द्वारा राधा नाम का स्पष्ट उल्लेख न किये जाने पर भी गोपियों में श्रीकृष्ण की एक प्रधाना गोपी थी, यह स्पष्ट लक्षित होता है। प्राचीन पुराणों में विष्णुपुराण में भी रासवर्णन के प्रसंग में कृणप्रियतमा जनैका 'कृतपुण्या मदालसा' गोपीका उल्लेख आता है एवं उसके लिए कहा गया है—'अन्य-जन्मनि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितो यया' अर्थात् जिसके द्वारा सर्वात्मा विष्णु अन्य जन्म में अर्चित हुए हैं। भागवतपुराण के 'आराधित' या 'राधित' शब्द के स्थान पर 'अर्चित' शब्द मिलता है।

पद्मपुराण में एकाधिक स्थानों में राधा का नाम आया है। मत्स्यपुराण के एक श्लोकार्ध में राधा का उल्लख मिलता है। वायुपुराण, नारदीयपुराण, वाराह पुराण, नारदपंचरात्र, आदि-पुराण प्रभृति पुराण और उपपुराणों में भी राधा का उल्लेख पाया जाता है। सबसे अधिक उल्लेख मिलता है ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में। यह पहले ही कहा गया है कि इन समस्त उल्लेखों में से किसी उल्लेख को भी हम 'प्रामाण्य' स्वीकार करने के इच्छुक नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन सब पुराण-उपपुराणों के आरंभ में, जहाँ गोपियों के साथ कृष्ण की मधुर लीला वर्णित हुई है, वहाँ अत्यन्त स्वाभाविक रूप में राधा का

उल्लेख होना उचित होते हुए भी नहीं हुआ है, किन्तु इधर उधर प्रायः आकस्मिक रूप में राधा का उल्लेख मिलता है। इसीलिए सन्देह होता है कि ये उल्लेख प्रामाणिक नहीं हैं। परवर्त्तीकाल में वैष्णवधर्म में राधा की प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा हो जाने के बाद इन पुराणों में इन श्लोकों को प्रक्षिप्त किया गया है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में जो राधा का उल्लेख मिलता है उसके सम्बन्धमें यह लक्षणीय है कि यदि इस ग्रंथ में राधा का इतना वर्णन था तो गौड़ीय वैष्णव गोस्वामियों ने इस बात का कभी कहीं उल्लेख क्यों नहीं किया ? द्वितीयतः ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के जिस-जिस अंश में राधा का विस्तृत वर्णन है उस-उस अंश का सामान्य विश्लेषण करने पर ही यह साफ दिखलायी पड़ेगा कि वैष्णव साहित्य और धर्म में राधाकी प्रतिष्ठा के बाद ही किसी अर्वाचीन व्यक्ति ने सुचतुर रूपसे अत्यन्त विस्तार के साथ इन वर्णनों को उक्त पुराण में समाविष्ट कर दिया है। इसका एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। जयदेव के 'गीतगोविन्द' काव्य के पहले श्लोक में ही एक उपाख्यान की तरफ संकेत है। इस उपाख्यान का कुछ-कुछ आभास जयदेव के समसामयिक अन्य कवियों के श्लोकों में भी मिलता है। इससे यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि श्रीकृष्ण-लीला का इस प्रकार का विस्तार जयदेव के युग के कवियों की कल्पना द्वारा ही हुआ था। इस उपाख्यान को ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में जिस विस्तार के साथ वर्णित किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह परवर्त्तीकाल की योजना है। नारदपञ्चरात्र में हमें 'राधा' शब्द की एक कपोलकल्पित व्युत्पत्ति मिलती है, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में भी इसी व्युत्पत्तिका पुनरुल्लेख किया गया है। राधा शब्द की यह व्युत्पत्ति (अर्थात् "रा" शब्द का उच्चारण करने से ही व्यक्ति भक्त होता है, एवं उसे भक्ति और मुक्ति प्राप्त होती है और "धा" शब्द के उच्चारण द्वारा हरि-चरणों की ओर धावित होता है) प्राचीन भी नहीं है, किसी धातु-प्रत्यय से युक्त भी नहीं है, केवल भक्त की व्याख्या मात्र है।

हम देखते हैं कि गौड़ीय गोस्वामियों ने, प्रसिद्ध पुराणों में केवल पद्मपुराण और मत्स्य पुराण में राधा का उल्लेख है, यही माना है। संभवतः तब तक अन्यान्य पुराणों में राधा का प्रवेश नहीं हो सका था। इसीलिए रूप गोस्वामी, जीवगोस्वामी एवं कृष्णदास कविराज गोस्वामी आदि ने विभिन्न श्रुति, स्मृति, तंत्र और उपपुराणों से राधा की प्राचीनता के प्रमाण संग्रह करने की चेष्टा की है। रूपगोस्वामी अपने उज्ज्वलनीलमणि के राधा प्रकरण में कहते हैं कि—"गोपालोत्तर-तापनी" में राधा गांधर्वी नाम से विश्रुता हैं, 'ऋक्-परिशिष्ट' में राधा, माधव के सहित 'उदिता' हैं।" तंत्रका उल्लेख करते हुए रूपगोस्वामी कहते हैं कि "ह्लादिनी महाशक्ति सर्वशक्तिवरीयसी हैं। तत्सारभावरूपा ही राधा हैं। तंत्र में इसी बातकी प्रतिष्ठा हुई है।" जीवगोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने 'बृहद् गौतमीय तंत्र' से भी राधा के संबंध का एक श्लोक उद्धृत किया है। जीवगोस्वामी ने 'ब्रह्म-संहिता' की टीका 'सम्मोहन-तंत्र' से भी राधा के बारे में एक श्लोक उद्धृत किया है। 'देवी-भागवत' के अनेक स्थानों में राधा का उल्लेख मिलता है। 'महा-भागवत' उपपुराण में भी राधा का उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त 'राधा-तंत्र' आदि जो अन्यान्य ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, उनका विशेष उल्लेख न करना ही अच्छा है।

श्रुति, स्मृति, तंत्र, पुराण, उपपुराण आदि में राधा के जो उल्लेख पाये जाते हैं, उनकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता को एकदम उड़ा देने का साहस न करने पर भी, इन्हीं तथ्य-प्रमाणादि पर निर्भर कर किसी विशेष ऐतिहासिक सिद्धान्त तक पहुँचने में हम अक्षम हैं। समस्त विषयों की पर्यालोचना करने पर हमें लगता है कि वैष्णवधम, दर्शन और साहित्य में श्री राधा का आविर्भाव और क्रमविकास मूलतः भारतवर्ष के साहित्य पर आश्रित है। ऐसा लगता है कि ब्रज के गोप कृष्ण की गोपियों से प्रेमलीला की कहानी ग्वाल-गीतों के रूप में पहले प्राचीन आभीर जातिमें प्रचलित हुई। चपल आभीर वधूगण एवं नवयौवनमण्डित, अनिन्द्यसुन्दर, गोप युवक कृष्ण की (तुलनीय—'वत्स त्वं नवयौवनोऽसि चपला प्रायेण गोपस्त्रियः'—'सदुक्तिकर्णामृत' में संगृहीत वर्धमान कवि का पद) विचित्र प्रेमलीला के उपाख्यान ने गोप जाति को धर्म के साथ अनेकानेक गानों की रचना की भी प्रेरणा प्रदान की थी। गीतों, पदों के माध्यम से ही संभवतः यह प्रेमलीला भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों में प्रचारित हुई। भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों में यथेष्ट प्रसिद्धि लाभ करने के बाद ही वृन्दावन की कृष्णलीला धीरे-धीरे पुराण आदि में स्थान पाकर, कवि-कल्पना द्वारा और भी पल्लवित होने लगी। मालूम पड़ता है कि कृष्ण की इस विचित्र गोपलीला की कहानी के भीतर एक विशेष गोपी राधा के साथ कृष्ण की विशेष प्रेमलीला की कुछ-कुछ कहानी फल्गुधारा की तरह भारतवर्ष के प्राचीन प्रेम-साहित्य के अन्दर प्रवाहित हो रही थी। विष्णुपुराण एवं भागवत के रासवर्णन में उसी का साक्ष्य मिलता है और इतस्ततः विक्षिप्त कुछ-कुछ साक्ष्य मिलते हैं प्राचीन भारत के प्रेम-संगीतों के कतिपय संकलनों में, कुछ-कुछ लिपियों में और कुछ अन्यान्य साहित्य में।

कृष्ण-प्रियतमा प्रधाना गोपी के प्रसंग में हम दाक्षिणात्यों के प्राचीन वैष्णव-सम्प्रदाय आलवार गण के गानों और भजनों का भी स्मरण कर सकते हैं। ये आलवार गण कब आविर्भूत हुए थे, इस विषय पर मतभेद है, किन्तु मोटे तौर पर यह माना जाता है कि ये प्रेममार्गी, भजनशील वैष्णव गण ईसा की पाँचवी शताब्दी से नौवीं शताब्दी के भीतर विभिन्न समयों में आविर्भूत हुए थे। ये आलवार गण अपने को नायिका एवं विष्णु या कृष्ण को नायक मान कर भजनों द्वारा प्रेममार्गी उपासना करते थे। उनके ४००० भजनों, पदों का संग्रह 'दिव्य प्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। इन आलवारों ने दिव्य भावावेश से आविष्ट होकर विष्णु के जो कीर्तन किये हैं उनमें नाना स्थानों में विष्णु के अवतार कृष्ण की वृन्दावन लीला का नाना प्रकार से उल्लेख है। अन्यान्य अनेक लीलाओं के साथ गोपियों और कृष्ण की प्रेमलीला भी अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में वर्णित है। इन गीतों में भी अनेक स्थलों में कृष्ण-प्रियतमा एक प्रधाना गोपी का उल्लेख है। इस प्रधाना कृष्णप्रियतमा गोपी का नाम तामिल गानों में है 'नाप्पिन्नाइ'। 'नाप्पिन्नाइ' एक फूल का नाम है। यही 'नाप्पिन्नाइ' गोपी कृष्ण की निकट-आत्मीया बतायी गयी है और यह भी कहा गया है कि यही कृष्ण-प्रियतमा गोपी ही भगवती लक्ष्मी का अवतार है।

प्राचीन साहित्य में हमें राधा का प्रथम उल्लेख मिलता है प्राकृत गानों की संकलन पुस्तक हाल की 'गाहा-सत्तसई' में। साधारणतः इस प्राकृत-गाथा या प्रेमगीति-संग्रह को ईसवी सन् २०० से ४५० के भीतर की रचना माना जाता है और कोई भी इसे ईसा

की छठवीं शताब्दी के बाद की रचना नहीं मानता। हाल की 'गाहा-सत्तसई' में कृष्ण की ब्रजलीला से सम्बन्धित कई पद हैं—और एक पद में तो राधा का स्पष्ट उल्लेख है—अन्य पदों में रसमयी ब्रजवधू गण का उल्लेख है। उत्तर बंग के पहाड़पुर के ईसा की आठवीं शताब्दी से पूर्व के एक मन्दिर के गात्र में दण्डायमान राधाकृष्ण की कथित युगल-मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है। कृष्णकी वृन्दावन-लीला के बहुत से दृश्यों से युक्त यह युगलमूर्ति मिली है। पुरुषमूर्ति तो कृष्णमूर्ति ही है, इसमें अब किसी प्रकार के संशय का स्थान नहीं है, हाँ नारीमूर्ति के बारे में किसी-किसी ने संशय प्रकट किया है कि वह मूर्ति राधा की है या रुक्मिणी अथवा सत्यभामा की यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। कवि भट्ट नारायण (इनके बारेमें प्रसिद्धि है कि ये बंगाली थे) के नाटक 'वेणी-संहार' के नान्दी श्लोक में कालिन्दी के कूल पर रास के समय केलिकुपिता, अश्रु-कलुषा, राधिका और उन्हें प्रसन्न करने के उद्देश्य से कृष्ण के अनुनय का उल्लेख है। भट्टनारायण ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्ववर्त्ती कवि थे। नौवीं शताब्दी ईसवी में आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक नामक अलंकार-ग्रंथ में राधाकृष्ण से सम्बन्धित एक प्राचीन श्लोक का उद्धरण मिलता है। किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखित राधा-विरह का एक और पद भी ध्वन्यालोक में उद्धृत है। ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आलंकारिक कुन्तक के 'वक्रोक्ति-जीवित' नामक अलंकार ग्रंथमें भी इस श्लोक की उद्धृति दृष्टिगोचर होती है। दसवीं शताब्दी के त्रिविक्रम भट्ट के 'नलचम्पू' नामक चम्पू काव्य में नल-दमयन्ती के वर्णन प्रसंग में रचित कुछ द्व्यर्थक श्लोकोंमें कृष्ण और उनकी जीवनलीला का उल्लेख मिलता है। उसके एक श्लोक का एक अर्थ यह भी हो सकता है,—'कलाकौशल में चतुरा राधा परम पुरुष मायामय केशीहन्ता के प्रति अनुरक्ता है?' विभिन्न काव्यों के टीकाकार वल्लभदेव ने (दशम शताब्दी) माघकृत शिशुपालवध के ४।३५ श्लोक की टीकामें 'लोचक' (ओढ़नी की तरह का एक शिरोवस्त्र) शब्द की व्याख्या में राधाकृष्ण नाम युक्त एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है। इस श्लोकमें कृष्ण को न देख कर राधा दुःख के साथ बोल रही है—"निश्चय ही किसी हतभागिनी ने आज हमारे कृष्ण का हरण किया है।" राधा की बात सुन कर किसी सखी ने पूछा,—"राधा, तुम क्या मधुसूदन की बात कर रही हो?" राधा ने बात घुमाते हुए उत्तर दिया,—"नहीं, नहीं, अपनी प्राणप्रिय ओढ़नी की बात कह रही थी।" दसवीं शताब्दी के और एक चम्पू लेखक सोमदेव सूरि के 'यशस्तिलक' चम्पू में अमृतमती नाम्नी एक स्त्री अपने आचरण के समर्थन में कहती है,—"क्या राधा नारायण की अनुरागिनी नहीं थीं?"

'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय' नामक एक अत्यन्त सुन्दर संस्कृत कविता का संग्रह ग्रंथ है। इसके संकलयिता का नाम अज्ञात है। उक्त संकलन दसवीं शताब्दीका माना जाता है। कविताओं के प्राचीनतर होने की ही संभावना है। इस संकलन में राधा कृष्ण सम्बन्धी चार पद संगृहीत हैं। इन पदों में केवल राधा का उल्लेख ही है ऐसी बात नहीं है, जरा सा लक्ष्य करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें भाव, रस और प्रकाश-भंगी आदि सभी पक्षोंमें परवर्त्तीकाल की वैष्णव कविता की सभी विशेषताएँ प्रस्फुटित हुई हैं। अनुमान से एकादश शताब्दी के प्रथम भाग की वाक्पति-लिपि में एक अत्यन्त सुन्दर श्लोक है। श्लोक में ऐसी व्यंजना है कि कृष्ण के निकट राधा का प्रेम ही श्रेष्ठ

है। उसमें कहा गया है,—"लक्ष्मी के मुखचन्द्र द्वारा भी जो सुखी नहीं होता, वारिधि के वारि द्वारा भी जो प्रशमित नहीं है, अपने नाभिसरसीपद्म द्वारा भी जो शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता, जो शेषनाग के सहस्रफणों के मधुर श्वास द्वारा भी आश्वासित नहीं होता, ऐसा जो मुर-रिपु का राधाविरहातुर कम्पित वपु है, वह तुम लोगों की रक्षा करे।" जैन ग्रंथकार हेमचन्द्र ने बारहवीं शताब्दीमें रचित अपने काव्यानुशासन में राधाकृष्ण प्रेम सम्बंधित एकाधिक श्लोक उद्धृत किये हैं। इन्हीं हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने गुणचन्द्र नामक और एक लेखक के सहयोग से 'नाटच-दर्पण' नामक एक नाटच शास्त्रीय ग्रंथ की रचना की है। इस नाटच-दर्पण में भेज्जल कवि लिखित 'राधा-विप्रलंभ' नामक एक नाटक का उल्लेख है। बारहवीं शताब्दी में रचित शारदातनय के 'भावप्रकाशन' नामक ग्रंथ में 'रामा-राधा' नामक राधासम्बन्धी एक और नाटक का उल्लेख तथा उसके श्लोकार्धका उद्धरण है। कवि कर्णपूरके 'अलंकार-कौस्तुभ' के एकाधिक स्थलोंमें 'कन्दर्प-मंजरी' नामक राधा को अवलम्बन कर लिखी गयी नाटिका के उल्लेख एवं उद्धरण हैं। महाप्रभु चैतन्य देव के समसामयिक या परवर्त्ती काल के कवियों में से किसी ने 'कन्दर्प-मंजरी' नामक कोई नाटिका लिखी है यह हमें नहीं मालूम। तो क्या यह नाटिका भी चैतन्य देव के पूर्ववर्त्ती काल में रचित हुई थी? तेरहवीं शताब्दी के शेष भाग के सर्वय प्रस्तरलिपि में कृष्ण को 'राधाधव' के रूप में वर्णित देखते हैं। तेरहवीं शताब्दी के सागरनन्दी के 'नाटक लक्षणरत्नकोष' ग्रन्थ में भी 'राधा' नामक 'वीथि' जातीय एक नाटक का उल्लेख है। 'प्राकृत-पिंगल' नामक प्राकृत छन्द के ग्रंथ में उद्धृत एक प्राकृत श्लोक में कृष्ण द्वारा 'राधामुख-मधुपान' करनेकी बात कही गयी है। अन्य एक श्लोकमें राधा का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी वह नौका-विलास-लीलामें राधाकी उक्ति की तरह ही लगता है। उसमें कहा गया है, "हे कृष्ण! तुम नाव खेओ। देखो, चंचल, डगमग-डगमग कर मेरी कुगति मत करना। नदी पार करो फिर जो चाहो, ले लेना।" 'रामशर्मा' के 'प्राकृत-कल्पतरु' के अपभ्रंश-स्तवक में राधाकृष्ण के सम्बन्ध की दो अपभ्रंश कविताएँ उद्धृत हैं।

बारहवीं शताब्दी में हमें राधा-अवलम्बित, पूर्ण विकसित काव्य, जयदेवकृत गीत-गोविन्द मिलता है। लीलाशुक बिल्वमंगल ठाकुर रचित 'कृष्ण-कर्णामृत' ग्रंथ भी बारहवीं शताब्दी के आसपास का लिखा माना जा सकता है। बारहवीं शताब्दी के प्रथम भाग में संकलित श्रीधरदास के 'सदुक्तिकर्णामृत' में कृष्ण की ब्रजलीला एवं राधाकृष्ण के प्रेम सम्बन्ध की अनेक कविताएँ संगृहीत हैं। अतः परवर्त्ती साहित्यमें राधावाद के विकासकी धारा को भलीभांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि बारहवीं शताब्दी में प्राप्त राधा-कृष्ण साहित्य की भलीभांति विचार विश्लेषण पूर्वक परीक्षा की जाय।

लीलाशुक बिल्वमंगल ठाकुरके ग्रंथ 'कृष्णकर्णामृत' ने परवर्त्ती वैष्णवधर्म और साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया। दाक्षिणात्यों में प्रचलित इस ग्रंथ के पाठ में अनेक स्थलों पर राधिका का उल्लेख मिलता है। बंगदेश में प्रचलित पाठ के दो श्लोकों में राधा का उल्लेख है। केवलमात्र दो पदों में ही राधा का स्पष्ट उल्लेख होने पर भी ऐसा लगता है कि इस काव्य की मधुररसाश्रित ब्रजलीला के पदोंका लक्ष्य राधा ही हैं। इस ग्रंथ की बंगदेशीय टीका में इन सब स्थलों में राधाको ही अवलम्बन मान कर पदों की

व्याख्या की गयी है। 'कृष्णकर्णामृत' में राधा के साथ लीला का यह उल्लेख नाना रूप से तात्पर्यपूर्ण है। ऐसी जनश्रुति है कि लीलाशुक दक्षिण की कृष्णवेन्वा नदी के तीर-वर्त्ती देश के अधिवासी थे। अतः स्पष्ट है कि ईसा की बारहवीं शताब्दी के आसपास राधावाद को अवलम्बन मान कर वैष्णव धर्मका दक्षिण देशमें भी यथेष्ट प्रसार हुआ था।

जयदेव के 'गीतगोविन्द' काव्य में आकर राधा का स्थान अब अल्पस्वल्प नहीं रह गया, सम्पूर्ण काव्य के कृष्ण नायक हैं, राधा ही नायिका हैं, सखीगण हैं लीलासहचरी। वैष्णव धर्म और साहित्य में राधा अब पूर्ण प्रतिष्ठिता हैं। केवल जयदेव के गीतगोविन्द काव्यमें ही राधाकी पूर्णप्रतिष्ठा हुई, यह बात नहीं है, जयदेव के युगसाहित्य में ही राधा की प्रतिष्ठा है। जयदेव के समय पूर्वभारत में एक समृद्ध साहित्ययुग का निर्माण हुआ था। जयदेव ने स्वयं ही अपने समसामयिक प्रसिद्ध कवि उमापतिधर, शरण, गोवर्धनाचार्य एवं धोयी कवि का सश्रद्ध उल्लेख किया है। संभवतः यह कविगोष्ठी बंगाल की सेन राज-सभा को केन्द्र कर निर्मित हुई थी। सेन राजागण वैष्णव थे भी। मालूम होता है कि इसीलिए इस युग के काव्य में वैष्णवता का ही प्राधान्य है। तेरहवीं सदी के पूर्व संगृहीत 'सदुक्तिकर्णामृत' ग्रंथ में जयदेव, उमापतिधर, शरण, गोवर्धनाचार्य, धोयी प्रभृति कवियों की और तो और राजा लक्ष्मणसेन और उसके पुत्र केशवसेन को रची राधा-कृष्णलीला-संवलित वैष्णव कविता संगृहीत है। सदुक्ति-कर्णामृत में जो वैष्णव कविताएँ उद्धृत हैं, उनमें विविध कवियों की शान्त, दास्य, वात्सल्य एवं मधुर प्रायः सभी रसों की कवितायें मिलती हैं। इनमें मधुर रस की कविताओं के साथ-साथ वात्सल्यरस की कविताएँ भी भाव एवं प्रकाशभंगी की चमत्कारिता के लिए उल्लेख योग्य हैं। जयदेव के युग में एवं उसके दो एक शताब्दी पहले ही राधाकृष्ण प्रेम संवलित वैष्णव कविता का कैसा प्रसार हुआ था उसका और भी परिचय मिलता है रूपगोस्वामी संगृहीत पद्यावली संग्रह ग्रंथमें इस ग्रंथ में रूपगोस्वामी के समसामयिक कविगण, उनके अव्यवहित पूर्ववर्त्ती कविगण, जयदेव के समसामयिक कविगण एवं बहुप्राचीनतर कवियों का राधाकृष्ण विषयक बहुत सी कविताएँ संगृहीत हैं। बंगदेश में श्रीचैतन्यदेव के आविर्भाव के पहले, बहुत से पूर्व-भारतीय ख्यात, अख्यात कवियों ने संस्कृत में वैष्णव कविता की रचना की थी। पद्यावली संग्रह में ही देखा जाता है कि बंगाल के अतिरिक्त दाक्षिणात्य, उत्कल, तीरभुक्ति (तिरहुत) प्रभृति अन्यान्य अंचलों से भी राधाकृष्णलीला-संवलित-काव्य संगृहीत हुआ है।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य बात है कि आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक जितनी देवता-विषयक शृंगारात्मक कवितायें लिखित हुई हैं, वे सब केवल राधाकृष्ण के सम्बन्ध की ही नहीं हैं। लक्ष्मीनारायण एवं हरगौरी को अवलम्बन करके भी इस युग में बहुत-सी शृंगार रस की कवितायें रचीं गयी हैं। कालिदास से आरंभ कर मैथिल कोकिल विद्यापति पर्यन्त हरगौरी की शृंगारलीला ने भारतीय-साहित्य की रससम्पदा को कम उपजीव्य प्रदान नहीं किये हैं। किन्तु देखा जाता है कि क्रमशः शृंगाररसात्मक कविताओं में राधाकृष्ण के प्रेमलीलोपाख्यान ही प्राधान्य लाभ करने लगे। राधाकृष्ण की प्रणयक्रीड़ा प्रेमकविता के लिए अधिकतर उपयोगी थी एवं लीलावैचित्र्य में भी सर्वापेक्षा समृद्ध थी। इस लीला का अवलम्बन कर रचित प्रेमकविताओं में कविगण

एक तरफ तो देवलीला वर्णन का एक गंभीर आत्मप्रसाद लाभ करते थे, दूसरी तरफ इसके माध्यम से मानव-प्रेम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रस-विचित्र लीला को रूप देने का भी सम्पूण सुयोग पाते थे।

इस प्रसंग में और एक सत्य की तरफ हम लोगों को अपनी दृष्टि रखनी होगी। संस्कृत, बंगला, हिन्दी एवं अन्यान्य भारतीय भाषाओं में राधा-प्रेम की जितनी विचित्र एवं विशुद्ध वर्णना है वह मूलतः भारतीय पार्थिव प्रेम कविता की प्रवहमान धारा से ही गृहीत है। पूर्ववर्त्ती काल की संस्कृत और प्राकृत में लिखित भारतीय प्रेम कविताओं के साथ यदि हम परवर्त्ती काल की राधा-प्रेम की असंख्य कविताओं की तुलना करें तो स्पष्ट समझ सकेंगे कि वैष्णव कवियों ने ज्ञात या अज्ञात भाव से साधारण भारतीय प्रेमधारा और उसको प्रकाश करने की कविरीति को ग्रहण किया है। इस प्राचीन भारतीय प्रेम-कविता-धारा का विचार विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि जयदेव से आरंभ कर उन्नीसवीं शताब्दी पर्यन्त भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों की विभिन्न भाषाओं में राधाकृष्ण प्रेम का अवलम्बन कर जिस वैष्णव कविताका निर्माण हुआ है उसमें विवर्त्तनजन्य वैचित्र्य, सूक्ष्मत्व और स्थान-स्थान पर सुरग्राम की उच्चता अवश्य ही लक्षणीय है। किन्तु इतने से ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इसका अभिनवत्व एकान्त रूप से स्वीकार्य नहीं हो जाता राधाप्रेम का ढाँचा मोटे तौर पर पूर्ववर्त्ती प्रेम कविता से ही लिया गया है, अभिव्यंजना-में भी हम उसी भारतीय धारा का अनुसरण देखते हैं, हाँ, पूर्वरचित पृष्ठभूमि के ऊपर अध्यात्मतत्त्व-दृष्टि की एक ज्योतिर्मय दीप्ति एवं कवि-कल्पना के वर्ण-शावल्य ने उसे और भी हृद्य किया है एवं महिमान्वित भी। राधिका की वयःसन्धि से आरंभ कर तारुण्य तक का प्रेम-चांचल्य, प्रेम की निविड़ता और गंभीरता, मिलन-विरह, मान-अभिमान आदि का जैसा वर्णन हम वैष्णव कविता में पाते हैं वैसा ही प्रेम-वर्णन, यहाँ तक कि वर्णन का कला-कौशल तक भी प्रायः वैसा का वैसा हमें पार्थिव नायिका को लेकर लिखित पूर्ववर्त्ती काव्य-कविताओं में मिलता है। लेकिन जहाँ पूर्ववर्त्ती कवियों ने संभोग को ही प्रधान मान कर अनेक स्थलों पर प्रेम को अत्यन्त स्थूल कर दिया है, वहाँ वैष्णव कवियों ने विरह को प्रधान मान कर प्रेम को सूक्ष्मता और अतलता प्रदान की है। विरह के अवलम्बन के कारण उत्पन्न प्रेम को यह सूक्ष्म और गंभीर स्वर ही राधा-प्रेम को आध्यात्मिक लोक में प्रतिष्ठित कराने में सहायक हुआ था। पूर्ववर्त्ती कवियों के प्रेम से राधाप्रेम में जो पार्थक्य है वह दो कारणों से संभव हो सका। वे कारण हैं:—(१) एक तत्त्वदृष्टि का प्रत्यक्ष प्रभाव और (२) विरह को अवलम्बन कर प्रेम को रूप से अरूप की ओर······प्राकृत मर्त्यभूमि से अप्राकृत वृन्दावन धाम की ओर यात्रा।

द्वादश शतक के साहित्य में धर्ममत के साथ युक्त राधा की जो प्रतिष्ठा हुई थी, उसमें किसी दार्शनिक तत्त्व का स्पष्ट मिश्रण नहीं था; अर्थात् तब तक किसी विशेष दार्शनिक तत्त्व का विग्रह राधा नहीं हुई थी। किन्तु इसी द्वादश शतक के वैष्णव-साहित्य में विशेष कर लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत' और जयदेव के 'गीतगोविन्द' काव्यों में हम एक विशेष वस्तु—लीलावाद का प्राधान्य देखते हैं। परवर्त्ती काल के साहित्य में भी इसी

लीलावाद की प्रतिष्ठा और प्राधान्य के साथ राधावाद की प्रतिष्ठा और प्राधान्य अच्छेद्य-भाव से युक्त है। भारतवर्ष के प्राचीनकाल के सभी वैष्णव और शैव, शाक्त सम्प्रदायों के शक्तिवाद के भीतर हम यह लक्ष्य पाते हैं कि भगवान की लीला बहिः-सृष्टि को ले कर ही चलती है। स्वरूपशक्ति के साथ लीला का वैसा कोई प्रसंग नहीं है। पुराणों में लक्ष्मी के साथ लीलाविलास का आभास मिलता है; श्रीरामानुजाचार्य प्रवर्त्तित श्री सम्प्रदाय में इसीं लीलाविलास के अंश को और प्राधान्य मिला है; द्वादश शतक में आकर हम देखते हैं कि स्वरूपशक्ति राधा के साथ कृष्ण की जो नित्य, अप्राकृत लीला है, उसका आस्वादन ही वैष्णवों की 'चरम-उपलब्धि' है। जयदेव के समय में किसी दार्शनिक मतवाद के रूप में परिकरवाद की प्रतिष्ठा न होने पर भी, हम देखते हैं कि स्वरूपधाम, अप्राकृत वृन्दावन में प्रवेश कर राधाकृष्ण के युगल से अपने को कुछ दूर रख कर, लीला-दर्शन, लीला-आस्वादन एवं लीला का जयगान करना यही मानो भक्त की प्रार्थिततम वस्तु हो गई। 'गीतगोविन्द' के एक श्लोक में हम पाते हैं "राधामाधवयोर्जयन्ति यनुनाकूले रहः केलयः"। धर्म की तरफ से गीतगोविन्द का मानो यही मूल स्वर है। सर्वत्र ही कवि ने ब्रजपरिकर के रूप में इस विचित्र लीला का महिमा-गान किया है। इस लीला का वैशिष्ट्य ही है लीलामय का माधुर्य। जयदेव ने कृष्ण के मधुरिपु, कंसद्विष् आदि विशेषणों का व्यवहार बहुत बार किया है, किन्तु वे मानो उनके ब्रजमाधुर्य को एक द्वन्द्व के भीतर से समधिक प्रस्फुटित करने के निमित्त ही हैं। मधुर रस के घनीभूत युगलविग्रह श्री राधाकृष्ण ही हैं, अतः राधा का आविर्भाव और प्रतिष्ठा सर्वत्र ही इसी मधुर रस को ले कर ही है। इस युग के वैष्णव-साहित्य के जो दो प्रधान लक्षण हमने बताये अर्थात् लीलावाद और मधुररस का प्राधान्य वे दोनों ही बिल्वमंगल ठाकुर के 'कृष्णकर्णामृत' में भी सुपरिस्फुट हैं। प्रथमतः ब्रजपरिकर के रूप में बिल्वमंगल ठाकुर का यह लीलाशुक विशेषण ही विशेष रूप से लक्षणीय है। साधक कवि का उद्देश्य है मधुर वृन्दावनलीला का निकट के ही कदम्ब वृक्ष से दर्शन और आस्वादन करना तथा शुक की तरह मधुर कण्ठ काकली से उसके माधुर्य का वर्णन करना।

प्रसिद्ध वैष्णवसम्प्रदायों के अन्तर्गत सर्व प्रथम निम्बार्क सम्प्रदाय में हम श्री राधा को कृष्ण के सहित अभिन्न भाव से परम उपास्य रूप में गृहीत होते देखते हैं। निम्बार्क दाक्षिणात्य ब्राह्मण होते हुए भी निवास करते थे वृन्दावन में, और सम्भवतः इसी कारण से कृष्ण की शक्ति के रूप में लक्ष्मी, श्री, भू, नीला, प्रभृति के बदले गोपिनी राधिका को ही उन्होंने प्राधान्य दिया। भगवान श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म के रूपमें निम्बार्कने ग्रहण किया है। इन्हीं परब्रह्म श्रीकृष्ण की विविध शक्तियों के सम्बन्ध में निम्बार्क ने अपने प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्र के भाष्य 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' नामक ग्रन्थ में जो आलोचना की है, वह मोटे रूप में रामानुजाचार्य की आलोचना के अनुरूप ही है। पूर्ववर्त्तियों की तरह निम्बार्क सम्प्रदाय के लेखकों ने भी भगवान श्रीकृष्ण को 'रमापति', 'श्रीपति', 'रमामानसहंस' आदि रूपों से विशेषित किया है, किन्तु श्रीकृष्ण की वामाङ्गविहारिणी के रूप में प्रेमदायिनी राधिका की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित की गयी है। निम्बार्क रचित 'दशश्लोकी' के पंचम श्लोक में हम देखते हैं :—

'अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिषेवितं सदा, स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ।।

निम्बार्काचार्य ने अपने 'प्रातः स्मरण-स्तोत्र' में श्री राधाकृष्ण के ऊपर कविता की है, इसके अतिरिक्त उन्होंने 'कृष्णाष्टक' 'राधाष्टक,' प्रभृति अष्टकों की भी रचना की है ।

उत्तर भारतके षोडश शतकके प्रसिद्ध वैष्णव सम्प्रदाय वल्लभ सम्प्रदाय में, विशेषकर वल्लभसम्प्रदायभुक्त अष्टछाप के कवियों की कविताओंमें, यह राधाकृष्ण लीलावाद गृहीत तो हुआ है किन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में धर्ममत की दृष्टि से इस लीलावाद को सर्वातिशयी प्राधान्य नहीं दिया गया है । वल्लभ सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के लीलावाद के सम्बन्ध में कोई दार्शनिक आलोचना नहीं मिलती है । राधातत्त्व का पूर्ण विकास हुआ षोड़श शतक में, वृन्दावन में, गौड़ीय गोस्वामी गण की आलोचनाओं द्वारा । अवश्य ही गौड़ीय वैष्णव गोस्वामी कहने से केवल गौड़ देशीय गोस्वामिगण का बोध नहीं होता, उससे गौड़ीय वैष्णव-मतवाद का अवलम्बन करने वाले वैष्णव गोस्वामिगण का अर्थ समझना चाहिए क्योंकि प्रसिद्ध षड्गोस्वामियों में गोस्वामी गोपालभट्ट दक्षिण देशवासी ही थे । गौड़ीय वैष्णव मतानुसार राधातत्त्वका एक संक्षिप्त परिचय दिया जाता है । भगवान स्वरूपतः रसमय हैं, उनका यह रसमयत्व श्रुत्यादि में ही परिगीत है । भगवानके इस रसमयत्व का कारण है उनकी स्वरूप शक्ति के भीतर श्रेष्ठ ह्लादिनी शक्ति । भगवान की इस स्वरूपभूत ह्लादिनी शक्ति के दो कार्य हैं, पहला, ह्लादस्वरूप भगवान को ही आह्लादित करना और दूसरा दूसरों को ह्लाददान करना । अतएव इस ह्लादिनी शक्ति का जीवकोटि एवं भगवत्-कोटि इन उभयकोटियों में प्रवेश है और कार्य भी । भगवत् कोटि में अवस्थित ह्लादिनी भगवान् को विचित्र लीलारस प्रदान कर 'रसमय' कर देती है और जीवकोटि में प्रवेश कर यही ह्लादिनी पवित्र भक्त हृदयों में आविर्भूत हो विशुद्धतम आनन्द का विधान करती है । यह भगवन्मुखी विशुद्ध आनन्द ही भक्ति है । भक्त का भक्तिजनित आनन्द एवं भगवान का लीलाजनित आनन्द—ये दोनों ही एक ही ह्लादिनी शक्ति की दो कोटियों के दो व्यापार हैं । भगवान् के भीतर ह्लादिनी रसरूपिणी है भक्त-हृदय में भक्तिरूपिणी । यह जो स्वरूपशक्ति की सारभूता ह्लादिनी शक्ति है, उसीकी सारमूर्ति हैं श्रीराधा, नित्य प्रेमस्वरूप की नित्य प्रेमस्वरूपिणी । इसीलिए राधा केवल प्रेमस्वरूपिणी नहीं हैं—वे ही प्रेमदात्री भी हैं । पूर्ण भगवान श्रीकृष्ण के भीतर इस राधा का अवस्थान अनन्त ह्लादिनीशक्ति के रूप में है, किन्तु उसी अनन्त ह्लादिनी शक्ति का ही कणमात्र नित्य अनु-स्वभाव चित्कण जीव के भीतर प्रविष्ट हो कर उसे प्रेमभक्ति से आप्लुत कर देता है । इसीलिए राधा भगवान् की प्रेमकल्पलता भी हैं और भक्तों की प्रेमकल्पतरु भी । पर-वर्त्ती कालकी एक बँगला कविता में इस तत्त्व ने चमत्कारपूर्ण रूप लाभ किया है । यहाँ कृष्ण एवं राधा को लेकर कृष्ण भक्त शुक एवं राधाभक्ता सारिका में द्वन्द्व चल रहा है :—

शुक बले आमार कृष्ण मदन मोहन ।
सारी बले आमार राधा वामे यतक्षण ।।

शुक बले   आमार कृष्ण गिरिधरेछिल ।
सारी बले   आमार राधा शक्ति संचारिल ।।
शुक बले   आमार कृष्णेर माथाय मयूरपाखा ।
सारी बले   आमार राधार नामटि ताते लेखा ।।
शुक बले   आमार कृष्णेर चूड़ा वामे हेले ।
सारी बले   आमार राधार चरण पावे बले ।।
... ...
शुक बले   आमार कृष्ण जगतेर गुरु ।
सारी बले   आमार राधा वाञ्छाकल्पतरु ।।

अप्राकृत वृन्दावन धाम में राधा कृष्ण की प्रेमलीला नित्य चलती है । स्वरूपतः राधा कृष्ण दो नहीं हैं, राधा कृष्ण से पृथक् नहीं है, एक ही परम अद्वय सत्य अपनी अन्तर्निहित रसमय सत्ता का आस्वादन करना चाहता है, अपने अन्तर्निहित समस्त सौन्दर्य एवं प्रेममाधुर्य का आस्वादन करना चाहता है—'आपनि आपना चाहे करिते आलिंगन' किन्तु एकत्व में तो आत्मास्वादन की लीला-संभावना है नहीं, इसीलिए अपनी योगमाया-द्वारा अपने को ही विभक्त कर लेना पड़ता है—आस्वाद्यरूप और आस्वादक रूप में । यह परम आस्वादक रूप ही हैं श्रीकृष्ण और परमा आस्वाद्या हैं श्री राधा । दूसरी स्थिति भी संभव है जब कि श्रीकृष्ण आस्वाद्य हो जाते हैं और श्री राधा होती हैं आस्वादिका । राधा तो कृष्ण के ही प्रेम का विकार है—'राधा कृष्णप्रणयविकृतिः' इसीलिए चैतन्य-चरितामृत में कहा गया है—कृष्ण को न चाह कर राधा और किसे चाहेगी ? वह तो 'कृष्णमयी कृष्ण यार अन्तरे बाहिरे । याँहा याँहां नेत्र पड़े ताहाँ कृष्ण स्फुरे' । इसीलिए वास्तव में अप्राकृत वृन्दावन लीला है परम रसमय की स्वरूपमध्य ही अनन्त आत्मरति । भगवान का जो वह आत्मानन्द है उसी का एक कण क्षरित होता है जीव के हृदय क्षेत्र में—वही कर देता है उसको प्रेमभक्ति में विगलित । भगवान के इस आत्म प्रेम और जीव के भगवत-प्रेम इन दोनों के मध्य में स्थित हैं सौन्दर्य और माधुर्य परिपूर्ण-मूर्त्ति श्रीराधा ।

डा० विश्वनाथ प्रसाद

'य' और 'व' का रागात्मक निरूपण

'य' और 'व' ये दोनों ध्वनियां अर्धस्वर हैं। भारतीय वैयाकरणों ने इन्हें अंतःस्थ कहा है, क्योंकि इनके उच्चारण की स्थिति स्वर और व्यंजनों के बीच में है। इनके विषय में भाषा-विज्ञान के कुछ विद्वानों ने स्वनग्रामीय निरूपण का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ अमेरिका के प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक जार्ज एल० ट्रैगर[1] ने इन्हें कुछ संवृत स्वरों का संस्वन (Allophone) अथवा विभिन्न परिस्थितियों में स्वतंत्र स्वनग्राम माना है। संस्कृत के विख्यात अमेरिकन विद्वान फ्रैंक्लिन एडजर्टन[2] ने भी भारत-योरोपीय 'य' और 'व' अर्धस्वरों को 'इ' और 'उ' तथा 'इय्' और 'उव्' के संस्वन अर्थात् एक ही स्वनग्राम के परिस्थितिजन्य भेद प्रमाणित किया है। इस सिद्धान्त के विपरीत यहां मैं इस बात का संकेत करना चाहता हूँ कि अर्धस्वरों के विविध भेदों का यदि रागात्मक निरूपण किया जाय या तो वह भाषा सबन्धी तथ्यों के निर्धारण और विवेचन में अधिक उपादेय सिद्ध होगा।

अर्धस्वर 'य' का उच्चारण जिह्वा के अग्र भाग को संवृत वा अर्धसंवृत स्थान की ओर उठा कर और फिर शीघ्र ही परवर्ती स्वर के स्थान की ओर संचालित करके किया जाता है। इस ध्वनि का ठीक ठीक रूप परवर्ती और पूर्ववर्ती ध्वनियों के रूप पर निर्भर करता है। य ध्वनि के उतने ही रूप-भेद हो सकते हैं जितने स्वरात्मक ध्वनियों के अनुक्रम उसके बाद संभव हैं।

दन्तौष्ठ्य (व) या द्वयोष्ठय (व) का उच्चारण जिह्वा के पश्च भाग को संवृत या अर्ध-संवृत स्थान की ओर उठाकर और फिर शीघ्र परवर्ती स्वर के स्थान की ओर संचालित करके किया जाता है। य के समान ही इस ध्वनि का वास्तविक रूप पूर्ववर्ती और परवर्ती ध्वनियों पर निर्भर है।

तालु-चिह्नों से यह प्रकट होता है कि हिन्दी य और व के उच्चारण में व्यंजनात्मक की अपेक्षा स्वरात्मक अंश अधिक है।

१/ देखिए—जॉर्ज एल्० ट्रैगर—The Phonemic Treatment of Semi-Vowels, Lauguage, Vol. 18, No. 3, September, 1942, पृष्ठ २२०-२२३.

२/ देखिए—फ्रैंक्लिन एडजर्टन—'The Indo-European Semi-Vowels, Lauguage, Vol. 19, No. 2, April-June, 1943, पृष्ठ ८३.

शिक्षाग्रन्थों में [1]य और व के विषय में बहुत ही रोचक वर्गीकरण किया हुआ है। पद के आदि में इनका उच्चारण गुरुत्वपूर्ण, पद के मध्य में लघु और पदान्त में लघुतम होता है। हिन्दी के तत्सम शब्दों में अब भी यह प्रवृत्ति देखने में आती है। संभवतः इसी कारण ब्रजभाषा तथा हिन्दी की अनेक अन्य बोलियों में संस्कृत के आदिम य और व क्रमशः ज और ब के रूप में परिणत हो गये हैं। साधारण बोलचाल में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि आदिम य और व के पहले क्रमशः इ और ओ वा उ स्वरों का आगमन हो जाता है। जैसे या, यार, याद आदि के या के पहले इ का और वादा, द्वार आदि शब्दों के वा के पहले हिन्दी की कई बोलियों में ओ या उ का स्वरागम हो जाता है। जैसे, इया, इयाद, इयार, ओवादा, दुवार आदि।

यह मनोरंजक बात है कि ऋग्वेद में, विशेषकर उसके प्राचीन अंशों में, य और व बहुधा स्वरागम के साथ 'इय' और 'उव' के रूप में उच्चरित हुए हैं। उदाहरणार्थ सख्यम् का उच्चारण सखियम और स्वर का उच्चारण सुवर भी होता था। तैत्तिरीय शाखा के पाठों में तो बराबर सुवर रूप ही लिखा मिलता है। वाजसनेयी पाठों में भी जहां अक्षरों की गणना की गयी है वहां ऐसी ध्वनियों को द्वयक्षरात्मक ही बताया गया है। उदारणार्थ, 'राजन्य' में चार अक्षरों की गणना की गयी है और 'सत्य' में तीन की[2]। संभवतः इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि संस्कृत के अश्व का 'श्व' लैटिन के इक्वस में 'उव' के रूप में परिवर्तित हो गया है।

एक ही पद में दो स्वरों के मध्यवर्ती य और व के उच्चारण हिन्दी तथा उसकी अन्यान्य बोलियों में प्रायः लघु या अत्यन्त लघुरूप में होता है। तद्भव शब्दों में तो ये मध्यवर्ती ध्वनियाँ प्रायः दो स्वरों के सन्धि रूप में ही पायी जाती हैं। इस रूप में इन दोनों ध्वनियों को जैन वैयाकरणों के लघुप्रयत्नतर य-श्रुति और व-श्रुति के रूप में ही ग्रहण करना समीचीन है।[3] संस्कृत भाषा में भी य और व के लघुप्रयत्नतर रूप के अस्तित्व का उल्लेख हमें पाणिनि द्वारा उद्धृत शाकटायन के मत में मिलता है।[4] प्राकृतों में य ध्वनि के ऐसे हलके रंग के उच्चारण के लिए मलयालम् भाषा के संबंध में लिखे हुए लीलातिलक नामक संस्कृत ग्रन्थ में 'यकारच्छाया' शब्द का प्रयोग किया गया है। छाया शब्द यहाँ श्रुति का ही पर्यायवाची है। वस्तुतः य और व के ये बदले हुए रूप-रंग उनके रागात्मक स्वरूप के ही कारण हैं।

हिन्दी और उर्दू में आदिम स्थान को छोड़कर अन्यत्र अर्ध स्वरों का उच्चारण इतना क्षीण है कि किसी वाक्य की सम्बद्ध ध्वनियों के उच्चारण के बीच उनको ठीक-ठीक पकड़ना प्रायः कठिन हो जाता है। टी० ग्राहम बेलीने उर्दू के रेकर्ड संख्या ६८२५ AK और ६८२६ AK पर ध्वनि-संबन्धी टिप्पणी देते हुए लिखा है कि डेनियल जोन्स और स्वयं उन्होंने भी उन रेकार्डों का प्रतिलेखन करते समय 'आया' और 'इया' के लिए प्रतिबार क्रमशः आएआ और इआ रूप ही

---

१. दे०—केशवी शिक्षा (शिक्षा समुच्चय, पृष्ठ १३८) तथा याज्ञवल्क्यशिक्षा (१५० और उसके आगे)

२. दे०—शतपथ ब्रा०—२/१/४/१४; ११/१/६/५; १४/८/६/४; १४/८/६/२ तथा ऋक्प्रातिशाख्य—१७/१४

३. "अवर्णात्परो लघुप्रयत्नतर यकारश्रुतिर्भवति।" (हेमचन्द्र १/१५०)

४. पाणिनि, अष्टाध्यायी—८/३/१८

लिखे हैं[१]। इन ध्वनियों के बहुत ही क्षीण स्वरात्मक रूप के ही कारण प्रचलित वर्ण-विन्यास के लिए लिखित रूप में उन्हें प्रायः छोड़ ही दिया जाता है।

इस प्रसंग में इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि आज से लगभग कोई चालीस वर्ष पहले जब पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती के संपादक थे, हिन्दी के विद्वानों के बीच, यह विवाद उठ खड़ा हुआ था कि 'गये, हुवे' आदि पदों में य और व श्रुतियों को लिखा जाय अथवा नहीं। द्विवेदी जी के प्रभाव से प्रायः 'गए' और 'हुए' रूप ही लिखे जाने लगे। इस पक्ष के समर्थन में यह तर्क उपस्थित किया जाता था कि हिन्दी का वर्णविन्यास ध्वनिविज्ञानात्मक सिद्धान्तों पर आधारित है और इसलिए हम जैसा सुनते हैं वैसा ही हमें लिखना भी चाहिये। फिर भी ए के पहले य के ध्वनिप्रक्रियात्मक रूप के लिखने की परिपाटी अब भी प्रचलित है और 'गये' तथा 'गए' ये दोनों रूप अब भी एक समान प्रचलित हैं। लिखने में आ के पहले य कभी छोड़ा नहीं जाता और इ तथा ई के पहले य अब शायद ही लिखा जाता है। व अब बहुधा छोड़ ही दिया जाता है। जैसे बताओ, बतावो नहीं। इस संबंध में मोहिउद्दीन कादरी 'हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स' नामक पुस्तक में (पृ० ५४-५५) आओ रोमन लिपि में (ao), नाव (nao) और राय (rae) ये प्रतिलेखन इसी प्रवृत्ति के निदर्शन हैं। वास्तव में अर्ध स्वरों से संयुक्त श्रुतियों के वर्ण-विन्यास के लिखित रूपों में इन्हें सर्वथा छोड़ देने की प्रवृत्ति के मूल में य और व का लघुप्रयत्नतर उच्चारण ही है, जो ध्वनिविज्ञान में दीक्षित ग्राहम बेली तथा डेनियल जोन्स जैसे विद्वानों के द्वारा भी आसानी से नहीं पकड़ा जा सका था।

अपने प्राकृत-व्याकरण में हेमचन्द्र ने बताया है[२] कि लघु प्रयत्न वाले य का उच्चारण तभी होना चाहिये जब कि वह अ वा आ के पहले या बाद में आये। अन्यथा उसे छोड़ ही देना चाहिए।

हिन्दीध्वनियों का विश्लेषण करने पर यह पाया जाता है कि य-श्रुति से सम्बद्ध स्वरात्मक संसर्पण निम्न-लिखित स्वरों के बीच अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रहता है।

(१) अ और आ—जैसे गया, नया।
(२) आ और आ—जैसे काया, छाया।
(३) इ, ई और अ, आ—जैसे दिया, लिया, नियम, हियरा, दीया।

इसी प्रकार व-श्रुति निम्नलिखित स्वरों के बीच अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट सुनायी पड़ती है—

(१) अ और आ—जैसे गँवार, सवा सेर।
(२) आ और अ—जैसे सावन, सुहावन।
(३) आ और आ—जैसे लावा, बधावा।

'अय' इस अनुक्रम का अन्तिम य सम्प्रसारण के रागात्मक व्यापार के अधीन है और

१—बुलेटिन अभ दि ओरियंटल स्कूल—जिल्द ६, १९३४, पृ० ९३४।
२—दे०—Grammatik der Prakritas prachen (१.१८०)

इसलिए इसका उच्चारण प्रायः सन्ध्यक्षर के रूप में होता है। स्वरान्तर्गत अय भी जब परवर्ती अ या ए के पहले आता है तब विकल्प से सन्ध्यक्षर के रूप में उच्चरित होता है। जैसे,

जय—जै
तय—तै
नयन—नैन
मयन—मैन

इसी प्रकार 'अव' इस अनुक्रम का अन्तिम व भी सन्ध्यक्षरात्मक प्रवृत्ति का प्रदर्शन करता है।

पवन—पौन
भवन—भौन
ववना—बौना
कवण—कौन

य और व के रागात्मक स्वरूपों का प्रयोग करके ऐ और औ जैसे सन्ध्यक्षरात्मक स्वरों के ध्वन्यात्मक तत्वों का विवेचन विभिन्न भाषाओं में बहुत ही स्पष्टता और सुगमता से किया जा सकता है। भारत-योरोपीय भाषा-परिवार में सन्ध्यक्षर स्वरों के द्वितीयांश में य और व के प्रयोग के विषय में फ्रेंच भाषा के प्रसिद्ध विद्वान मेइये ने महत्वपूर्ण प्रतिपादन किया है[1]। इसी प्रकार द्रविड़ भाषा में सन्ध्यक्षर स्वर के अंग के रूप में य और व के प्रयोग का एक सफल निदर्शन प्रोफेसर फर्थ ने किया है[2]। अंग्रेजी भाषा के सन्ध्यक्षर स्वरों के विषय में भी य और व के पक्ष में उन्होंने सार्थक निर्देश किया है।[3] ये सभी प्रयोग इन अर्धस्वरों की तरल रागात्मकता के ही उदाहरण हैं।

१/ दे० Meillet, L' Etude Comparative des Langues Indo-Europeennes, Paris, 9, १९३४—पृ० १०६ और Vendrys, Language, पृ० २७-२८.

२/ फर्थ—Tamil Phonetics, Arden के Tamil Grammar का परिशिष्ट, १९३४, पृ० १७

३/ फर्थ—Sounds and Prosodies, Transactions of the Philologie Society १९४८, पृ १४३.

इसके अतिरिक्त इस विषय में देखिये—G. L. Trager और B. Bloch, the Syllabic Phonemes of English, Language, १७ (१९४१) पृ० १४५-४६.

श्री गोलोक बिहारी धल

विवरणात्मक भाषातत्त्व-विज्ञान

भाषातत्व-विज्ञान का यथार्थ ज्ञान रखने वाले बहुत कम विद्यार्थी हमारे विश्वविद्यालयों में हैं। यह अत्यन्त खेद की बात है कि भारत जैसे विशाल देश में केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय में ही तुलनात्मक-भाषाविज्ञान का एक पृथक् विभाग है। यह विभाग भी भाषा-विज्ञान (Philology) से संबंधित है, भाषा-तत्व (Linguistics) से नहीं। आज भी इसका नाम भाषा-विभाग नहीं हुआ है। योग्य पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे भाषा-तत्व और भाषा-विज्ञान को एक ही समझने के भ्रम को त्याग दें। अब तक की परम्परा में भाषा-संबंधी प्रत्येक प्रकार के अध्ययन को भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत माना जाता रहा है और उसे भाषा-विज्ञान नाम भी दिया जाता रहा है। सौभाग्य से 'डकन कालिज, पूना' के संचालक डा० कत्रे के उद्योग से पूना में एक 'लैंग्वेज स्कूल' स्थापित हो गया है। इस योजना ने देश के भाषा-तत्व के अध्ययन के वातावरण में एक क्रान्ति-सी प्रस्तुत करदी है। इस संस्था द्वारा इस नवीन विषय के नवीन मूल्यों का उद्घाटन हो सका है। किन्तु इस क्षेत्र का यह आरम्भ मात्र ही कहा जा सकता है। भाषा-तत्व के विशाल क्षेत्र में हमें काफी आगे बढ़ना है और प्रमाद को त्याग कर शीघ्र ही इस अध्ययन की गहराई को समझना है। इस द्रुत-गति के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि हमारे विद्यार्थियों में इस विषय के प्रति रुचि उत्पन्न हो। भारत के लिए यह विषय नितान्त नवीन हो, सो बात भी नहीं है। इस विषय के भारतीय विद्वान कभी संसार में सर्वोच्च और अग्रणी थे। इस देश में आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व, पाणिनि ने भाषा-तत्व-विषयक अपूर्व और महान् ज्ञान का प्रसार किया था। ऐसे देश के विद्यार्थी यदि आज भाषा-तत्व की विषय-वस्तु और अध्ययन-पद्धति से अनभिज्ञ हों, तो इससे अधिक लज्जास्पद कोई बात नहीं हो सकती। सभी विद्वान एक स्वर से आज स्वीकार करते हैं कि भाषा-तत्व का पाणिनि से बड़ा पंडित आज तक संसार में उत्पन्न नहीं हुआ। किसी ने आज तक उस कोटि की भाषा-व्याख्या नहीं की, जिस कोटि का विश्लेषण पाणिनि ने संस्कृत भाषा का किया। आज हमें इस बात का गर्व है कि संसार की किसी भाषा का इतना

वैज्ञानिक और सूक्ष्म विश्लेषण नहीं किया गया, जितना कि पाणिनि ने संस्कृत का किया है। किन्तु परिस्थिति का व्यंग्य है कि हम संस्कृत जैसी वैज्ञानिक भाषा के प्रति प्रायः अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हैं, उसके यथार्थ स्थान को नहीं समझ पाते। आज समय है कि हम संस्कृत के प्रति बनी हुई अपनी रूढ़ धारणा और दृष्टि-कोंण को बदलें। इस दृष्टि-परिवर्तन से हम आधुनिकतम भाषा-तत्व-विज्ञान से तो परिचित होंगे ही, साथ ही सामान्य भाषा-परम्परा की कड़ियों को सम्बद्ध करके भारत की आन्तरिक एकता को स्थापित करने में भी योग-दान दे सकेंगे।

भाषातत्व की यथार्थ स्थिति और इसकी कार्य-शैली को ठीक प्रकार से समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले इस शाखा के लिये प्रयुक्त होने वाले शब्दों को हम ठीक प्रकार से समझ लें। इस क्षेत्र में ये शब्द विशेष रूप से प्रचलित हैं: भाषा-विज्ञान (Philology), तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative Philology) तथा भाषा तत्त्व। भिन्न-भिन्न देशों में इन शब्दों से भिन्न-भिन्न अर्थ समझे जाते है। ऐसी स्थिति में सामान्य पाठकों को उक्त शब्दों के अर्थ के संबंध में भ्रम होना स्वाभाविक है। इस भ्रम को निवारण करने के लिए आवश्यक है कि उक्त शब्दों के वास्तविक अर्थ को संक्षिप्त रूप से समझ लिया जाय।

भाषा-विज्ञान—

भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में यह सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रचलित शब्द है। इस शब्द का अर्थ-विस्तार इतना अधिक हो गया है कि भाषा विषयक प्रत्येक अध्ययन और खोज इसी नाम से अभिहित होती है। इंगलैंड में यह शब्द, भाषा-विज्ञान, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, और भाषा-तत्त्व, सभी का समानार्थी हो गया है। भाषा-तत्व-विज्ञान का भी यह समानार्थी मान लिया गया है। भारत में भी इस शब्द का यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। भारत में भाषा-विज्ञान शब्द उतना ही पुराना है जितना कि भाषा-तत्व-शब्द नया। किन्तु अमरीका में भाषा-विज्ञान (Philology) और भाषा-तत्व (Linguistics) में अन्तर किया जाता है: भाषा विज्ञान का अर्थ भाषा-तत्व कभी नहीं हो सकता। वहाँ भाषा-विज्ञान को भाषा और साहित्य की मध्य-स्थिति में माना जाता है। भाषा-विज्ञान का प्रधान कार्य लिखित भाषा-सामग्री की व्याख्या करना है। साथ ही भाषा-सामग्री के माध्यम से सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तथ्यों का निरूपण करना भी इसके कार्यक्षेत्र में है। अमरीका में भाषा-विज्ञान को दो भागों में विभाजित कर दिया गया है: भाषा से संबंधित भाषा-विज्ञान तथा साहित्यिक भाषा-विज्ञान। पहली शाखा का संबंध संस्कृति से तथा दूसरी का साहित्य की व्याख्या से जोड़ा जाता है। सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान का कार्य कोष-निर्माण, ग्रंथ-सम्पादन, लोकवार्ता-का विवेचन, लोक-कथाओं की व्याख्या और पौराणिक गाथाओं के तत्वों का निरूपण है। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा-विज्ञान शब्द दो भिन्न अर्थों का द्योतक है। अमरीकी भाषाविदों की दृष्टि से इसका एक अर्थ है और यूरोपीय और भारतीय विद्वानों की दृष्टि में दूसरा।

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान--

भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान एक दूसरे से इतने सम्बद्ध हैं कि एक का ज्ञान रखनेवाला दूसरे से नितान्त अनभिज्ञ नहीं हो सकता। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान भिन्न भाषाओं की प्राप्त सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बद्ध है। साथ ही उसमें एक ही भाषा की दो भिन्न युगों में जो स्थितियाँ दीखती हैं, उनका भी तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से जो निष्कर्ष निकलते हैं वे संसार की भाषाओं के बीच वंशानुगत और ऐतिहासिक संबंध स्थापित करने में सहायक होते हैं। भौगोलिक दृष्टि से बेतरतीब बिखरी हुई भाषाओं के बीच भी पारिवारिक संबंध हो सकता है। यह सब ढूंढ-खोज तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत आती है। १८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में इस कार्य का सूत्रपात हुआ और पूरी १९ वीं शती में इस कार्य का विस्तार होता रहा। इस काल में भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में इसी का बोलबाला रहा। इस विज्ञान की स्थापना और पुष्टि के लिए जर्मन विद्वानों का कार्य उल्लेखनीय रहा। वे ही इस क्षेत्र के अग्रणी रहे। संसार की अनेक भाषाओं को परिवारों में विभाजित किया गया। 'भाषा-कुल' का सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। भाषा की उत्पत्ति के विषय में जो ऊटपटाँग विचार चले आ रहे थे, उनका निराकरण किया गया। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के इस स्वर्ण-युग का बहुत कुछ श्रेय भारतीय अध्येताओं को भी मिलना चाहिये। सन् १७८६ में सर विलियम जोन्स ने संस्कृत भाषा के संबंध में खोजें कीं। इस खोज से एक नवीन दिशा प्रकाश में आयी। इस प्रकाश में भ्रमित भाषा-विज्ञानियोंको अनुसंधान के नवीन मार्ग दीखे। इस प्रकार संस्कृत के इस अध्ययन ने यूरुप को एक नवीन विज्ञान प्रदान किया। अन्ततोगत्वा यही अध्ययन ध्वनि-विज्ञान तथा भाषा-तत्व-विज्ञान का भी मार्ग-दर्शक हुआ। संस्कृत का महत्व और मूल्य भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इतना आँका गया कि यह कहा जाने लगा कि बिना संस्कृत के ज्ञान के भाषा-विज्ञान उसी प्रकार निराधार रहता है जिस प्रकार बिना गणित के ज्योतिष-शास्त्र। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की लोक-प्रियता इतनी हुई कि संसार भर के विश्वविद्यालयों में तुलनात्मक भाषाविज्ञान के विभाग खोले गये। जहां पहले से ही भाषा के अध्ययन से संबंधित विभाग थे, वहां भी उनका नामकरण तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के नाम पर हुआ। यूरोपीय भाषाओं के अध्ययन में तुलनात्मक प्रणाली का सबसे अधिक उपयोग हुआ। किन्तु आज भी आस्ट्रेलियायी, अमरीकी-इण्डियनी तथा अफ्रीकी भाषा-समूहों के अध्ययन का इतना कार्य शेष है कि इसके लिए सैकड़ों अध्येताओं के श्रम की अपेक्षा होगी।

विवरणात्मक भाषातत्त्व--

भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत भाषाविज्ञान, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, तथा वर्णनात्मक भाषा-तत्व सभी भ्रमवश एक समझ लिए जाते हैं। इस विज्ञान की सबसे अधिक उन्नत अवस्था अमरीका में मिलती है। वहाँ इसका संबंध किसी जीवित भाषा के प्रचलित रूप के अध्ययन से माना जाता है। वहाँ अमरीकी-इंडियनी भाषाओं के अध्ययन की आवश्यकता थी। इस समस्या ने भाषा-वैज्ञानिकों को एक ऐसी अध्ययन-प्रणाली

खोज निकालने की प्रेरणा दी जिससे किसी भी बोलीजानेवाली भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन हो सके। इसी का परिणाम विवरणात्मक भाषा-तत्व-विज्ञान है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों का यह कार्य वैसा ही है जैसा कि १८ वीं और १९ वीं शती के धर्म-प्रचारकों का था।

इस संबंध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह बात विवरणात्मक भाषा तत्व-विज्ञान को उक्त प्रणालियों से भिन्न स्थिति प्रदान करती है। विवरणात्मक भाषा-तत्व-विज्ञान किसी भाषा के ढाँचे का अध्ययन करता है। उस भाषा के अर्थ-भाग से इसका कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार के भाषा-तत्व-विद् को इससे संबंध नहीं कि बातचीत की विषय-वस्तु क्या है। उसका कार्य तो यह देखना होगा कि किस प्रणाली से बातचीत की जा रही हैं। तात्पर्य यह कि उसका कार्य 'लिंग्विस्टिक कोड' को जानना है। सामान्य पाठक के लिए इस कथन का कोई अर्थ चाहे न हो, जैसे कि बिना आरंभिक ज्ञान-प्राप्त किये भौतिक और रासायनिक विज्ञानों का साधारण व्यक्ति के लिए कोई अर्थ नहीं होता। जब एक पाठक एक दर्जन पृष्ठ पढ़ कर पूछे कि मुझे इस भाषा का एक वाक्य तो दिखाइये, तो उसे निराश होना पड़ेगा। भाषा-तत्व-विद् का संबंध यथार्थ और प्रत्यक्ष विज्ञान से है, उसका संबंध आदर्श से नहीं है। वह यह निर्देश नहीं करता कि इस प्रकार बोला जाना चाहिये, यह व्याकरणात्मक ढाँचा प्रयुक्त होना चाहिये, शब्दों का इस प्रकार उच्चारण करना चाहिये, आदि। वह तो उस पद्धति का अध्ययन करता है, जो यथार्थतः प्रयोग में आती है। उसका कार्य उन प्रत्यक्ष, प्रचलित व्याकरणात्मक रूपों और नियमों का निरीक्षण करना होता है, जो वक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होते हैं। वक्ता की शब्दोच्चारण विधि का भी अध्ययन करना होता है। इस प्रकार विवरणात्मक भाषा-तत्त्व-विज्ञान की अध्ययन सामग्री कोई बोली जानेवाली प्रचलित भाषा ही होती है। इसके विस्तार-क्षेत्र में ध्वनियाँ, लयविधि, बलाघात, आदि आते हैं, जो यथार्थतः चालू हैं। अक्षर, लेख, या लेख-बद्ध भाषा से इसका संबंध नहीं है।

भाषा-तत्त्व-विज्ञान को पूर्णरूपेण हृदयंगम करने के लिए एक मूल सिद्धान्त को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमें अपनी भाषा-विज्ञान विषयक मान्यता में आमूलचूल परिवर्तन करना होगा। पिछले समय में भाषा-विज्ञान लिखित शब्द से संबंधित था। मनुष्य लिखित अक्षरों का गुलाम हो गया था। किसी भाषा की बिना लिखित सामग्री उपलब्ध किये उसका अध्ययन करना, उसे सम्भव नहीं दीखता था। आधुनिक भाषा-तत्वज्ञ भाषा के बोलीगत रूप से संबंध रखता है। वह भाषा की परिभाषा ही यों करेगा: हम जो कुछ बोलते हैं, वही भाषा है; जो हम लिखते हैं, वह लेख्यपत्र (डाक्युमेंट) है। लिखित भाषा जीवित आत्मा का मृत प्रतीक है। आज के भाषा-तत्त्वज्ञ को 'लिखितभाषा' शब्द पर आपत्ति है। वह इस अभिव्यक्ति को उसी प्रकार आपत्तिजनक समझता है, जिस प्रकार कि 'एक मृत जीता हुआ मनुष्य' जैसी अभिव्यक्ति को आपत्तिजनक समझा जायगा। एक मनुष्य या तो जीवित होगा या मृत। वह एक साथ दोनों कैसे हो सकता है। भाषा तो वही है जो बोलीजाय। वास्तविक

वैज्ञानिक अर्थ में कोई भी भाषा नहीं लिखी जा सकती। लिखित अंकों में तो उस जीवित भाषा का एक मृत-चित्र ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इस अन्तर को ध्यान में रख कर ही हम विवरणात्मक भाषा-तत्त्व के यथार्थ मर्म को समझ सकते हैं।

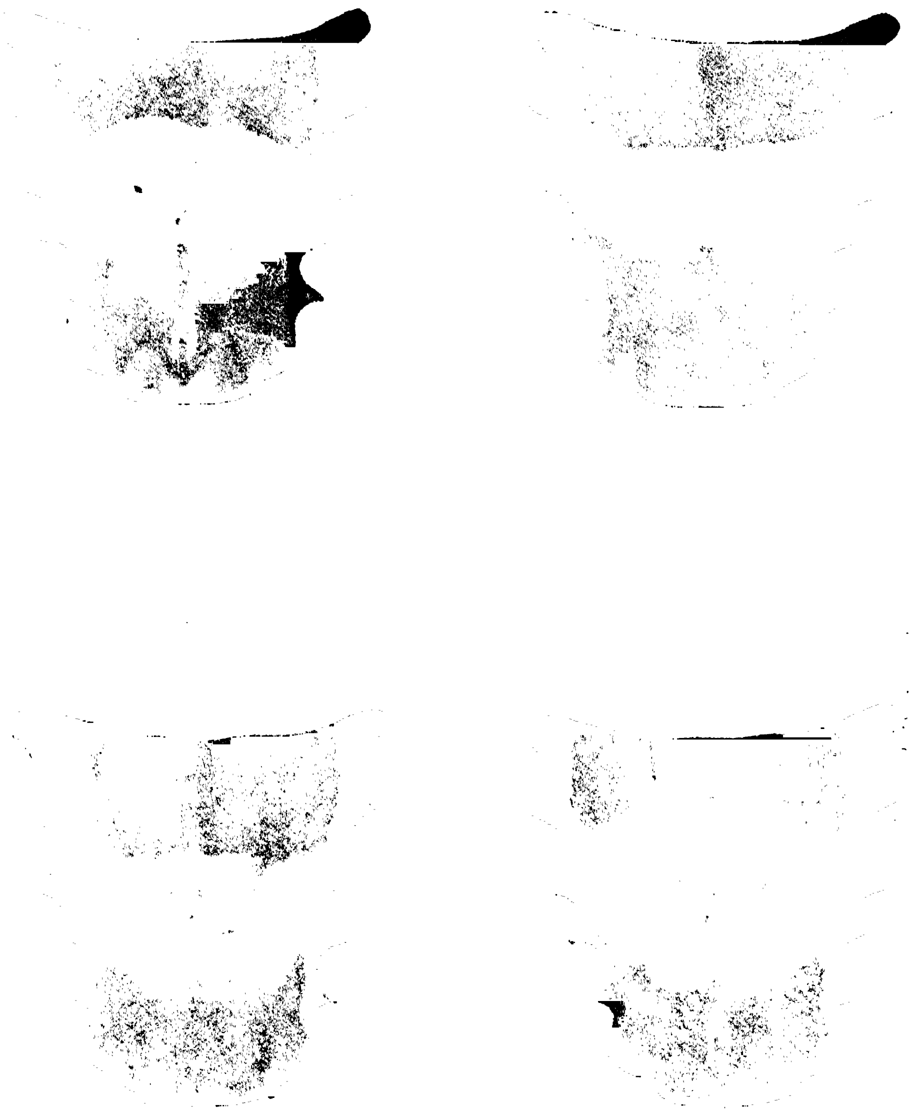
विवरणात्मक शब्द में किसी वस्तु के वर्णन का भाव निहित है। किन्तु वर्णन किसका? भाषा-तत्त्वज्ञ भाषा की ध्वनियाँ की प्रयोग-प्रणाली, उनकी क्रम-व्यवस्था, बलाघात तथा उच्चारणविधि का वर्णन करता है। यह समस्त व्यवस्था किसी भाषा-समाज में विचारों के आदान-प्रदान में नियमित रहती हैं। इस बात को और सरल और स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण ले सकते हैं।

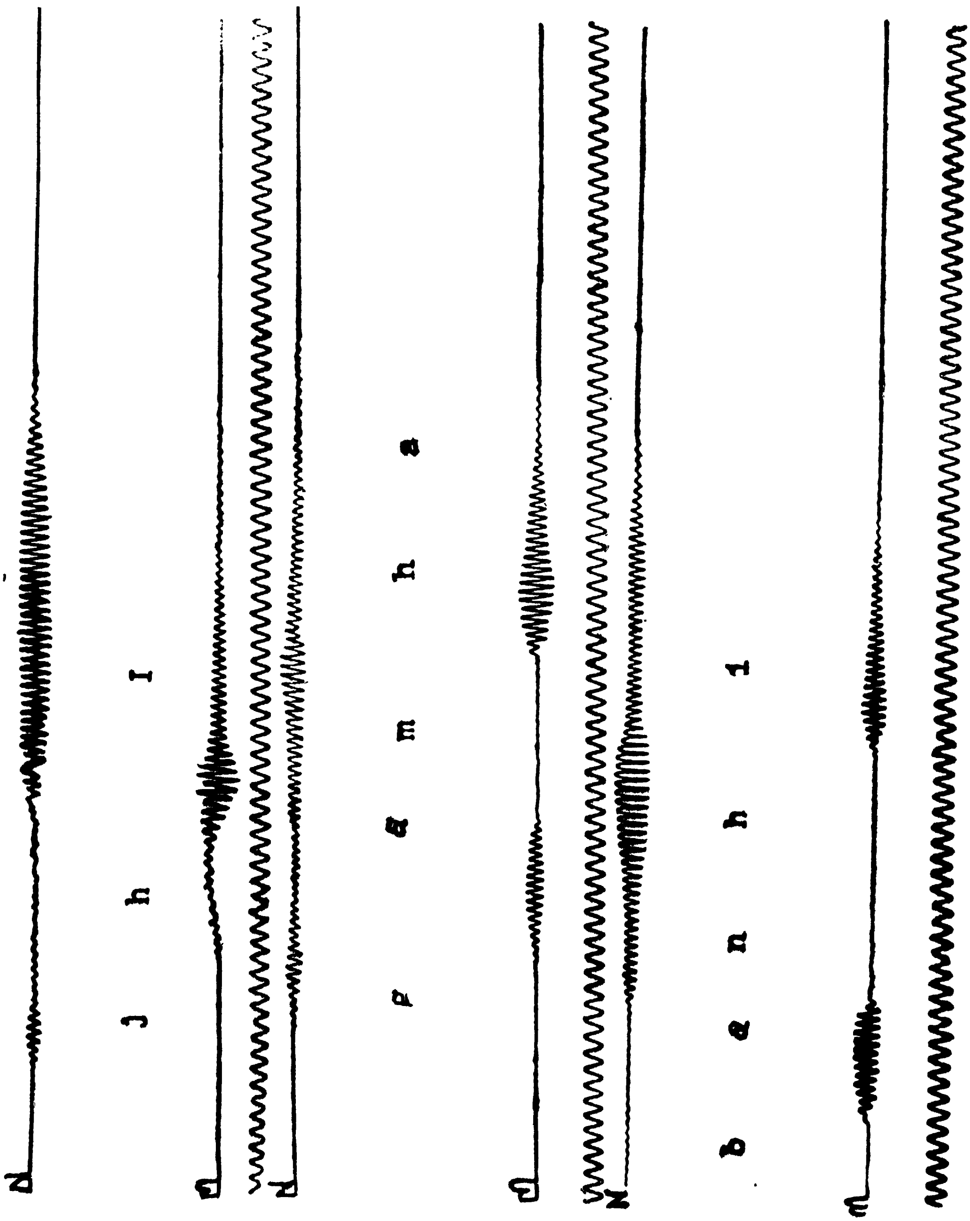
मान लीजिये कि मनुष्य एक ऐसी अज्ञात भाषा में परस्पर बातचीत कर रहे हैं, जिसको हम (श्रोता) नहीं समझते। ऐसी स्थिति में हमारी प्रतिक्रिया क्या होगी? पहले-पहल हमको लगेगा जैसे एक अव्यवस्थित, निरर्थक ध्वनियों की एक धारा प्रवाहित हो रही है। यहीं से वर्णनात्मक भाषा-तत्व-विज्ञानी का कार्य आरम्भ होता है। वह उस भाषा को बार-बार सुनता है और उसकी उस ध्वनि-पद्धति को समझने का प्रयत्न करता है, जो उस भाषा का 'कम्युनिकेशनकोड' है। वह उस भाषा के जीवित तत्त्वों को जानने-समझने का प्रयत्न करता है। वह यह जानना चाहता है कि उस भाषा में प्रयुक्त उपयोगी ध्वनियां कौन-सी हैं; भिन्न स्थितियों में उन ध्वनियों की क्या नियोजन-प्रणाली रहती है; किस प्रकार ये ध्वनियां मिल कर बड़े रूप खड़े करती हैं; तथा उन रूपों को वाक्य में किस स्थिति में रखा जाता है। नियमित रुप से जो जोड़ना-घटाना होता है, उससे वह उस कोड को पहचानता है। मान लीजिए आपने अपने जीवन में हिन्दी भाषा का किंचित भी ज्ञान प्राप्त नहीं किया। और आपसे हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत करने को कहा जाय, ऐसी स्थिति में आप पहले यह जानेंगे कि हिन्दी में जो ध्वनियाँ हैं, उनका प्रतिनिधित्व अ, आ, क, फ, घ, र, न आदि ध्वनि-प्रतीक करते हैं। फिर इन ध्वनियों के संबंध में यह ज्ञान होगा कि इनका प्रयोग एक निश्चित प्रणाली के अनुसार होता है, अन्य प्रकार से नहीं। उदाहरणतः घर, कर, नर आदि ध्वनि-योग तो मिलेंगे पर फध, धफ, फआन, आदि ध्वनि-योग हिन्दी में प्राप्त नहीं हो सकते। संसार की अन्य भाषाओं में चाहे उस प्रकार के संयोग हों, पर हिन्दी में नहीं आ सकते। साथ ही यह पता चलेगा कि घर, कर, नर जैसे शब्द अनेक प्रकार से विकृत किये जा सकते हैं। इस विकृति का उद्देश्य होता है विचार-प्रेषण के और अधिक मार्गों का निर्माण। उदाहरण के लिए कुछ विकृत रूप लिए जा सकते हैं जैसे घर से, घरेलू, घर कर करना, नरके, नरको, नारी आदि। शोध के अनंतर हमें यह भी मिलेगा कि शब्द का एक सुनिश्चित रुप है जो एक सुनिश्चित स्थान पर, और निश्चित संबंध के साथ प्रयुक्त होता है, इसके विपरीत नहीं। भाषा-तत्वज्ञ इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ नहीं सुन सकता—राम आती, सीता आता या आता राम है आदि। धीरे-धीरे हिन्दी का विवरण कर्ता यह पायेगा कि निश्चित ध्वनियाँ, उनके संयोग, तथा संयुक्त रुपों का विवरण, ये सभी सुनिश्चित हैं। एक निश्चित विधि में प्रयुक्त होकर ही ये ध्वनि-संयोग श्रोता में मुखर या मूक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकते

हैं। आधुनिक भाषातत्त्वज्ञ इसी प्रकार से कार्य में व्यस्त होता है। हिन्दी से सुपरिचित होने के कारण यह सब हमें इतना सरल लगता है। इसकी कठिनाई का अनुभव आपको उसी समय हो सकता है जबकि आप एक नितांत अपरिचित भाषा को सुनें। यदि आपसे अमेरिका की आल्गोंगोकिन या अफ़्रीका की 'इगवी' भाषा का विवरण प्रस्तुत करने को कहा जाय तो आप इस कार्य की जटिलता को समझ सकेंगे। इनकी ध्वनियों, संयोगों और प्रयोगों के संबंध में वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना एक जटिल कार्य है।

विवरणात्मक भाषा-तत्त्व-विज्ञान की पुस्तकों में हमें ऐसे कथन मिलते हैं: विवरणात्मक भाषा-विज्ञानी किसी भाषा की ध्वनि-प्रणाली' 'लिंग्विस्टिक कोड' से संबंधित होता है। यही उस भाषा का ढाँचा कहलाता है। किसी भाषा के ढाँचे में, उस भाषा की ध्वनियाँ उसके शब्द तथा उसका व्याकरण आते हैं। पूर्व युगों के भाषा-अध्येता इस प्रकार का ज्ञान दीर्घ परिश्रम से प्राप्त करते थे। अनेक प्रयोग इसके लिए करने होते थे। पर आज के भाषा-तत्त्वज्ञ ने ऐसे अनेक परस्पर-संबद्ध विभागों की खोज करली है, जिनसे यह कार्य उतना जटिल नहीं रह गया है। इन विभागो में ध्वनि-विज्ञान, अक्षर-विज्ञान, वाक्य-रचना-विधान, तथा शब्द-विज्ञान हैं। इनके आधार पर वह अपने निजी विचार उस भाषा के संबंध में खड़े करता है। इन विचारों के आधार पर वह उस भाषा की मौलिक रुप-रेखा खड़ी कर सकता है। इन तरीकोंके बिना एक भाषा-तत्व-विज्ञानी एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। हिन्दी का उदाहरण लेकर इन सभी शाखाओं के महत्व को आँका जा सकता है। ध्वनि विज्ञान की सहायता से किसी भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों की खोज की जाती है। अक्षर-विज्ञान, इन ध्वनियों का वर्गीकरण करता है। ये वर्ग ही लेखन में अ, आ, क, ख, आदि प्रतीकों से व्यक्त किये जाते हैं। ध्वनि-विज्ञान, ध्वनि संकलन का कार्य करता है और अक्षर-विज्ञान इन ध्वनियों का वर्गीकरण करके उनकी वर्णमाला में परिणत करता है। शब्द-विज्ञान या पद-विज्ञान उन मार्गों और पद्धतियों की खोज करता हैं जिनसे शब्द का निर्माण होता है जैसे घर से घरेलू, कर से करके। वाक्य-रचना-विधान वाक्य में पदों का क्रम और स्थान निश्चित करता है। राम आता है में क्रम, १, २, ३, है। इस क्रम को १,३,२ (राम है आता) नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार के अध्ययन में अनेक यंत्रों से भी सहायता ली जाती है। इन यंत्रों का सबसे अधिक निर्माण अमेरिका में हुआ है। भाषा-तत्त्वज्ञ को एक ध्वनि विशेष के अध्ययन में शारीरिक क्रिया के निरीक्षण में कई यंत्रों से सहायता लेनी पड़ती है विकाइमो ग्राम का उपयोग कंठनाल, मुख, तथा नासिका में होने वाले विकारों का निरीक्षण करने में सहायक होता है। 'पैलैटोग्राम' यह बताता है कि एक ध्वनि के प्रकट करने में जिह्वा का मुख के किस भाग से सम्पर्क होता है। ध्वनि-प्रयोगशाला में ये यंत्र अत्यन्त आवश्यक हैं। अमेरिकन ध्वनि वैज्ञानिक अन्य अनेक यंत्रों की सहायता लेता है जैसे स्पैक्टोग्राफ, स्पीचस्ट्रेचर्स, इलेक्ट्रीकल वोकलट्रैक्ट, फॉरमेंट ग्राफिक यंत्र, यथा पैटर्न प्लेबैक। इन सबका विवरण देना उपयुक्त नहीं होगा। नीचे कुछ चित्र दिये जाते हैं जो लेखक ने उड़िया 'ह्' के विवरण के संबंध में लंदन-प्रयोगशाला में लिये थे :—





यह एक मनोरंजक सत्य है कि संस्कृत का वैज्ञानिक विवरण संसार की सभी भाषाओं से अधिक प्रस्तुत किया गया है। पाणिनि ने विवरणात्मक भाषा-तत्त्वज्ञों का मार्ग प्रशस्त किया है। अंग्रेजी जैसी आधुनिक भाषा भी इस दृष्टि से संस्कृत की तुलना नहीं कर सकती। फ्रेंच, अंग्रेजी, ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं का विवरण तो अमेरिका की अनेक इंडियन भाषाओं जैसे (Novoh), 'नव्हो' (Alongokin) 'अलोंगोकिन', आदि से भी कम प्रस्तुत किया गया है। पर यह बड़े खेद की बात है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं का विवरण-कार्य अभी आरम्भ भी नहीं हुआ है। जो थोड़ा बहुत कार्य हुआ है वह कार्य की विस्तृति को देखते हुए कुछ भी नहीं है। सैकड़ों भाषा तत्त्वज्ञ कमसे कम आधी शताब्दीतक धैर्य पूर्वक इस क्षेत्र में काम करें तो सम्भवतः हम अपने देश में बिखरी हुई अनन्त भाषा-राशि के किनारे तक पहुँच पाएँगे। एक भाषा-तत्त्वज्ञ को एक भाषा का वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत करने में अपना समस्त जीवन लगाना पड़ सकता है।

जब विवरणात्मक भाषा-तत्त्व-विज्ञान की चर्चा चलती है तो भाषा-तत्त्वज्ञ से एक प्रश्न साधारणतः पूछा जाता है: आप कितनी भाषाएँ जानते हैं? यह प्रश्न बिल्कुल अनुपयुक्त है। हो सकता है कि भाषा-तत्त्वज्ञ अपनी मातृ-भाषा के अतिरिक्त एक भी अन्य भाषा नहीं जानता हो। विवरणात्मक भाषा-तत्वज्ञ, बहुभाषाविद् से भिन्न है। भाषा-तत्त्व-विज्ञान, किसी भाषा का अनिवार्य अंग नहीं है। इसके विपरीत यदि किसी विद्वान् ने एक ही भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके उसका विवरण प्रस्तुत किया है, तो वह भी भाषा -तत्त्वज्ञ कहा जायगा।

अंत में विवरणात्मक भाषातत्त्व-विज्ञान के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की संक्षिप्ति दे देना उपयुक्त होगा। इनके आधार पर भाषा-तत्त्व-विज्ञान को भाषा-अध्ययन के अन्य वर्गों से पृथक किया जा सकता है :—

१. यद्यपि भाषा-विज्ञान और भाषा-तत्त्व-विज्ञान भाषा के अध्ययन से ही संबंधित हैं, तथापि दोनों दो पृथक् चीजें हैं।

२. विवरणात्मक भाषा तत्त्व-विज्ञान बोली जाने वाली प्रचलित भाषा का अध्ययन करता है; लिखित भाषा-सामग्री का अध्ययन इसके क्षेत्र में नहीं आता। लिखित भाषा-सामग्री का अध्ययन भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत आता है।

३. विवरणात्मक भाषा-तत्त्व-विज्ञान भाषा के मूल ढाँचे का ज्ञान प्राप्त करता है, उसके अर्थ का नहीं।

४. विवरणात्मक भाषा-तत्त्व-विज्ञान एक प्रत्यक्ष विज्ञान है। यह भाषाके आदर्श (क्या चाहिए) वाले अंग से संबंध नहीं रखता।

डा० सत्येन्द्र

जाहरपीर : गुरु गुग्गा

[एक लोक-पाषंड तथा तद्विषयक लोक-साहित्य का अध्ययन]

'जाहरपीर' को ही गुरु 'गुग्गा' भी कहा जाता है । जाहरपीर अथवा गुरु गुग्गा का ब्रज में बहुत महत्त्व है । पेंजर महोदय ने 'कथा-सरित्सागर' के प्रथम भाग के प्रथम परिशिष्ट 'पश्चिमोत्तर प्रदेश' के संबंध में लिखा है—"In the census returns 123 people recorded themselves as votaries of Guga, the snake-god."

'जनसंख्या-गणना में १२३ व्यक्तियों ने लिखाया कि वे सर्प-देवता गुग्गा के भक्त हैं' ।[१]

गोगा चौहान के संबंध में टाड महोदय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में तीन स्थानों पर कुछ उल्लेख किया है । एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

"गोगा चौहान बछराज का पुत्र था । सतलज से हरियाना तक के समस्त प्रदेश पर उसका अधिकार था । उसका स्थान मेहरे या 'गोगा की मेढ़ी'[२] सतलज पर स्थित था । महमूद के पहले भारतीय आक्रमण में गोगा चौहान ने अपने पैंतालीस पुत्रों और साठ भतीजों के साथ इस स्थान की रक्षा में प्राण त्यागे ।" वह रविवार था, तिथि थी नवमी । राजपूताने के छत्तीसों कुल[३] इस दिन को गोगा की स्मृति में पूज्य मानते हैं । मरुभूमि में जहां 'गोगा देव का थल' है, वहां तो इसकी बहुत मान्यता है । गोगा के घोड़े 'जवाड़िया' का नाम भी बहुत लोकप्रिय हो गया है । राजपूताने भर में श्रेष्ठातिश्रेष्ठ युद्ध के अश्व को 'जवाड़िया' का प्रशंसा सूचक नाम दिया जाता है" ।[४]

---

१. The Ocean of Story Vol. I. p. 203 (Tawney & Penzer.)

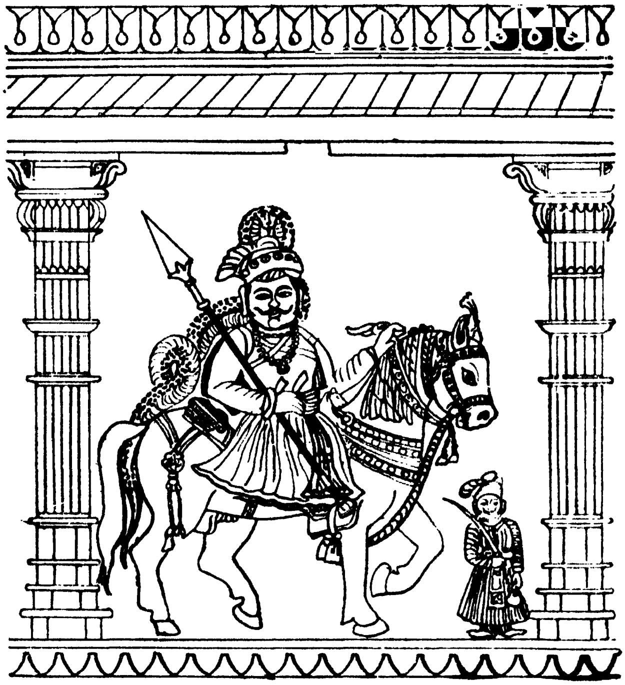
२. "His tomb 200 miles to S. W. of Hissar, 20 miles beyond Dadrera.........His territory Hansi to Garra (Gharra) capital Mehera on river" यह सूचना ईलियट महोदय ने दी है ।

३. टाड ने पाद-टिप्पणी में लिखा है 'छतीस पौन' । 'Chatees Pon'

४. Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan (popular edition) Volume II. P. 362

टाड महोदय ने मन्दौर में जो भव्य स्मारक नागदा के किनारे देखे थे, उनमें से एक में उन्होंने देखे: गणेश, भैंरू (द्वय), चामुंडा, कंकाली, नाथजी,[५] उसके बाद की पंक्ति में सबसे आगे मल्लिनाथ, तब पाबू जी, रामदेव राठौर, हरवा सांकला, गोगा चौहान, तथा मेवोह मंगूलिया। इसी वर्णन में गोगा चौहान के संबंध में टाड ने फिर लिखा है कि—

"गोगा चौहान जो अपने सैंतालीस पुत्रों के साथ महमूद के आक्रमण में सतलज मार्ग की रक्षा करता हुआ बलि गया"।[६]



गोगा चौहान (मन्दौर)

टेम्पल महोदय ने जाहरपीर अथवा गुरू गुग्गा का एक बड़ा लोकगीत अपने संग्रह में दिया है। यह गीत वास्तव में 'स्वांग' है जो जालंधर में खेला जाता था। इसकी भाषा हिन्दी है। एक दूसरा गीत उन्होंने दिल्ली के किसी नायक से लिया है। श्री जे० डी० कनिंघम महोदय ने 'हिस्ट्री आफ द सिख्स' (लंदन, १८५३) में पृष्ठ ११ पर पाद-टिप्पणी में गोगा का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि "पंजाब के निचले हिमालयों में गूगा अथवा गोगा के बहुत से मन्दिर हैं और मैदानों का दरिद्र वर्ग भी ऐसे ही प्राचीन

५. 'Is a statue of the Nathji or spiritual guide of the Rahtores : in one hand he holds his mala or 'Chaplet', in the other his 'Churri' or 'patriarchal rod', for the guidance of his flock." Tods Raj. Vol. I. p. 574

६. Tod's Rajasthan Vol. I. p. 574

वीर की स्मृति के प्रति श्रद्धा रखता है। उसके जन्म अथवा उद्भव के कितने ही विवरण दिये जाते हैं। एक उसे गजनी का प्रमुख बताता है, और अपने भाई उर्जुन और सुरजन से लड़ाई करने वाला कहता है। दोनों भाइयों ने उसे मार डाला पर अचानक एक चट्टान फटी और उसमें से गूगा शस्त्रास्त्र सज्जित घोड़े पर सवार प्रकट हुआ। एक अन्य विवरण में उसे रजवर्रा (Rajwarra) जंगल के दर्द दरेहरा का स्वामी कहा गया है। यह टाड के वर्णन से कुछ कुछ मिलता है, जो इसी वीर के संबंध में है, जो महमूद की सेना से लड़ते लड़ते लड़ते मारा गया। वोगेल ने 'इंडियन सर्पेण्ट लोर' में लिखा है कि गूगा पर बहुत लिखा जा चुका है।[७]

इनके बाद जाहरपीर अथवा गुरु गुग्गा पर अन्य आधुनिक उल्लेख मिलते हैं। इनसे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि गुरू गुग्गा राजस्थान, पंजाब और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में विशेष मान्य रहा है।[८] गुजरात में भी इसकी प्रतिष्ठा है पूर्व में इसका नाम प्राय: नहीं मिलता।

राजपूताना गजेटियर के उल्लेखों में बताया गया है कि:—

स्वयं मदौर में, मोतीसिंह के बाग के पास कुछ चैत्य हैं जो मारवाड़ के अतीत गौरव की गाथा कहते हैं। इसके समीप ही एक और महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसे तेतीस करोड़ देवताओं का स्थान कहा जाता है। इसमें १६ विशाल प्रतिमाएँ हैं। इन प्रतिमाओं में से सात प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं :—

१. गुसाईं जी : एक बड़े धर्म गुरु।

२. मल्लिनाथ जी : ये राव सलखा के ज्येष्ठ पुत्र थे। उन्हीं के नाम पर यल्लानी जिले का नामकरण हुआ है।

---

७. वहीं उसने निम्नलिखित साहित्य का उल्लेख किया है :—

1. A. Cunningham : A. S. R. Vols. XIV. p. 79 ff.
2. A. Cunningham ,, ,, XVII p. 159
3. Ind. Ant. Vols. XI-p. 53f.
4. ,, ,, XXIV pp. 51 ff.
5. D. Ibbetson : Karnal Settlement Report. P. 379
6. W. Crooke : Popular Religion Vol. i. pp. 211 ff.
7. Kangara District Gazetteer p. 102 f.
8. H. A. Rose : Punjabi Glossary Vol. i pp. 171 ff.
9. Mandi State Gazetteer pp. 144 ff.
10. Chamba state Gazetteer pp. 183 f.

८. राजपूताना गजटीयर खंड ३ अ (Vol. iiia) : द वेस्टर्न राजपूताना स्टेट रेजीडेंसी तथा बीकानेर एजेंसी टेक्स्ट : लेखक मेजर के० डी० आर्सकाइन I. A, C. I. E. पायोनियर प्रेस, इलाहाबाद, १६०६, में पृष्ठ १६७, २५६ तथा ३८७-३८८ पर टिप्पणियां हैं।

३. पाबूजी; राठौर राजपूत : इनके विषय में कहा जाता है कि ऊंट का पहले पहल इन्होंने ही प्रयोग किया। ये गायों के रक्षक थे।

४. रामदेवजी : ये तोमर राजपूत थे : इनका संबंध दिल्ली के अनंगपाल के घराने से था। इन्होंने रामदेउरा नामक ग्राम बसाया था (पोकरन से लगभग १० मील)। यहां प्रतिवर्ष अगस्त या सितंबर में रामदेवजी के सम्मान में एक मेला लगता है। रामदेवजी कभी कभी रामशाह पीर भी कहे जाते हैं। निम्नवर्गीय जनता इनकी पूजा करती है। कहा जाता है कि इन्होंने कभी झूठ नहीं बोला था। सन् १४५८ में आपने जीवित समाधि ली थी, यह कहा जाता है।

५. हरबूजी : ये पँवार राजपूत थे। इनका संबंध सांकलों से माना जाता है। ये फैलौड़ी के समीप बँगती गाँव के रहने वाले थे। यहां पर इनकी एक गाड़ी बताई जाती है जो आज भी पूजनीय है। राउ जोधा के ये कृपापात्र थे।

६. जाम्भा जी : ये भी पँवार राजपूत थे। ये बीकानेर के हरसर नामक स्थान के थे। विष्नोई सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में मान्य हैं।

७. मेहाजी : गहलौत या सिसोदिया वंश के एक राजा थे।

८. गोगाजी : चौहान राजपूत थे। ये मुसलमान हो गये थे। हाँसी से सतलज तक इनका राज्य था। कहा जाता है कि ये दिल्ली के फिरोजशाह द्वितीय के साथ लड़ते लड़ते मारे गये। यह युद्ध १३ वीं शती के अन्त की घटना बताया जाता है।

९. जलंधरनाथ जी : नाथ सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध योगी थे। इनके एक वंशज देवनाथ थे, जो महामन्दिर में एक विशाल मंदिर के नींव डालने वाले के रूप में मान्य हैं।

राजपूताना गजेटियर्स, खंड तृतीय ए, पृष्ठ १९७
दी वैस्टर्न राजपूताना स्टेट्स रेजीडेंसी एण्ड दी बीकानेर एजेंसी :
वाइ मेजर के० डी० आर्सकाइन आई०ए०, सी० आई० ई०, इलाहाबाद,
द पाइनियर प्रेस, १९०९

गुरु गोगा जी :—

गुरू गोगा जी योद्धा संत थे। इनके संबंध में जो विवरण राजपूताने के विभिन्न भागों में प्रचलित हैं, उनमें बहुत भिन्नता मिलती है। सांप के काटे हुओं की रक्षा करने वाले के रूप में इनकी प्रसिद्धि है। इनकी मूर्ति की पूजा दो रूपों में होती है : घोड़ी पर चढ़े हुए अथवा सर्प के रूप में। इनकी पूजा कई वर्गों में प्रचलित है।

[राजपूताना गजेटियर खंड तृतीय ए० पृष्ठ २५६, द वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स रेजीडेंसी एण्ड द बीकानेर एजेंसी आदि।]

"उत्तर पूर्व में गोगानों नामक स्थान पर एक पशुओं का मेला अगस्त तथा सितंबर में होता है। इस मेले में १०।१५ हजार आदमी भाग लेते हैं। इसे 'गोगा मैड़ी' मेला के नाम से पुकारा जाता है। यह नामकरण 'गोगा चौहान" राजपूत के नाम पर हुआ है। ये मुसलमान हो गये थे। इनका राज्यकाल १३ वीं शती माना

जाता है । इनका राज्य हाँसी से सतलज तक बताया जाता है । अनेक गाँवों की जनता का विश्वास है कि इनकी मढ़ी में मन्दिर के एक बार दर्शन करने से साँप के काटने से मुक्ति हो जाती है । यहाँ से एक मील की दूरी पर एक गोरख टीला है । इसके संबंध में बताया जाता है कि यह स्थानीय संत गोरखनाथ का पहला निवास-स्थान है । इनके संबंध में केवल इतना ही ज्ञात है कि ये एक पहुँचे हुए सिद्ध योगी थे ।

[वही, पृष्ठ ३८७]

राजगढ़ तहसील: रेनी से दक्षिण पूर्व में एक दद्रेवा[९] नामक गाँव है । यह पश्चिमी किनारे पर है । यह मुसलमान चौहान सन्त गोगा की राजधानी बताया जाता है । इसका वर्णन पहले 'नोहर तहसील', वाले विवरण में आ चुका है । यहाँ गोगा के सम्मान में प्रति वर्ष भादों (अगस्त-सितंम्बर) में एक छोटा सा मेला लगता है ।

[वही पृष्ठ ३८८]

यहाँ तक साहित्यिक और ऐतिहासिक उल्लेखों का विवरण दिया गया है ।

लोक-साहित्य में इसके दो रूप मिलते हैं । एक तो सामान्य मनोविनोदार्थ स्वांग वाला रूप जिसका संकलन टेम्पल महोदय ने किया है । यह जालंधर में खेला जाता था ।* ब्रज अथवा पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में स्वांग वाला रूप नहीं मिलता ।

ब्रज में गुरू गुग्गा के गीत का आनुष्ठानिक महत्त्व है । गुरू गुग्गा या जाहरपीर एक देवता के रूप में माने जाते हैं । इनके अनुयायी भक्त अपने घरों पर इनका जागरण भी कराते हैं और इनके थान की यात्रा भी करते हैं, यात्रा को 'जात' कहते हैं । जागरण के अवसर पर कपड़े पर कढ़ा हुआ इनका जीवनवृत्त दीवाल पर टांग दिया जाता है, और एक बड़ा लोहे का कोड़ा या चाबुक जागरण करनेवाला नाथ हाथ में लिये रहता है । जागरण में गुरू गुग्गा का गीत गाया जाता है । इस गीत में गुरू गुग्गा का ही जीवन-वृत्त रहता है । उसे गाते गाते नाथ पर गुरू गुग्गा का आवेश आ जाता है, नाथजी खेलने लगते हैं । जागरण अब सफल माना जा सकता है । इस समय गुरू गुग्गा अथवा जाहरपीर से मनचाही मुराद माँगी जा सकती है और अन्य विविध बातें भी पूछी जा सकती हैं ।

जात में गुरु गुग्गा के सोहले गाये जाते हैं ।

इस प्रकार गुरू गुग्गा विषयक इस दूसरे प्रकार के लोक-साहित्य का धार्मिक महत्त्व है ।

---

९. एक जातक में उल्लेख है कि दर्दर (पालि० दद्दर) दर्दर-नाग पहाड़ के नीचे रहते थे । इं० सर्पेण्ट लोर-वोगेल, पृष्ठ, ३३

*दूरान्वय से तो यह स्वांग वाला रूप भी अनुष्ठान का अंग माना जा सकता है । यक्ष-पूजा में किसी विशिष्ट यक्ष से संबंधित घटनाओं का नाटक खेला जाता था । बौद्ध जातक में उल्लेख है कि जीवक ने एक यक्ष का मंदिर बनवाया था और उसके जीवन की घटनाओं को नाटक के रूप में अभिनय द्वारा प्रस्तुत कराया था ।

विमर्श

सबसे पहला प्रश्न उठता है कि भारतीय धर्मों के विकास में इस जाहरपीरी अनुष्ठान का क्या स्थान है ?

यदि इस समस्त लोकवार्त्ता का विश्लेषण किया जाय तो विदित होगा कि

(अ) (१) गुरू गुग्गा एक योद्धा अथवा वीर हैं ।
(२) वे ऐतिहासिक पुरुष हैं ।
(३) उनकी अकाल मृत्यु हुई है ।

(आ) वे जाहरपीर कहलाते हैं ।

(इ) उनकी लोकवार्त्ता का संबंध नाथों से है । नाथ उनकी पूजा के माध्यम हैं ।

(ई) वे सिर आने वाले या सिर खेलने वाले देवता हैं ।

(उ) सिर आने के अनुष्ठान में उनके जीवनवृत्त का वर्णन और गायन प्रधान माध्यम हैं । दर्शन के लिए 'पट-चित्र' रहता है ।

(ऊ) कोड़ा या चाबुक एक प्रधान उपादान है ।

(ए) गुग्गा का संबंध घोड़े से भी है जो उनके साथ पैदा हुआ ।

पहले दो प्रश्नों का संबंध 'नाम' से भी है । 'गुरू गुग्गा' अथवा गोगापीर और जाहरपीर ऐसे नाम क्यों ? लोकवार्ता न नाम साम्य से एक व्युत्पत्ति बतायी है ।

गुरू गोरखनाथ की सेवा की बाछल ने, फल देने का अवसर आया तो उसकी बहन काछल गुरू गोरख के पास पहुँचो । गुरू गोरखनाथ ने उसे फल दे डाले । बाद में पहुँची बाछल । अब गुरूजी के पास क्या था ? जो देना था वे दे चुके । पर सेवाऐं तो बाछल ने की थीं । फलतः गुरूजी ने झोले में से 'गूगल' निकाल के दी । गूगल से पैदा होने के कारण ही गुरू गूगा नाम पड़ा । गूगलः गूगअ: गूगा अथवा गोगा भी । ऐसे विश्वासों के आधार पर ऐसे नाम रखे जाते हैं, इसमें संदेह नहीं । यह गुग्गा भी इसी नियम से रखा गया है । किन्तु आज ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । नाम निश्चय ही कुछ अद्भुत है और अभी अनुसंधान चाहता है । गोगा की कहानी में गौओं से भी उसका संबंध है, उस संबंध से गोगा, गौओं की रखवाली करनेवाला भी हो सकता है ।[१०] किन्तु यह नाम जितना लौकिक विदित होता है उतना संस्कृत नहीं ।

इसी के साथ इसके आगे प्रश्न आता है, फिर यह "जाहरपीर" क्यों कहलाये ।[११]

---

१०. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के परामर्श पर श्री अम्बाप्रसाद सुमन ने लिखा है : "जाहरपीर' को गूगापीर (सं० गोग्रह-गोग्गह-गोगा = यह मध्यकालीन नाम था । जो लोग गायों की रक्षा के लिए मरते मरते प्राण दे देते थे, वे गोगा कहाते थे) भी कहते हैं ।···पीर शब्द "वीर" शब्द का चूलिका पैशाची रूप विदित होता है । डा० रांगेय राघव ने इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए लिखा है :
"यदि गूगा "गुवक" का अपभ्रंश है तो·················"

११. ईलियट ने लिखा है कि मराठे इन्हें जाहिरपीर कहते हैं : ["Mahrattas call him Zahir Pir"—M. H. F. R. of N. W. Pr. पृ० सं० (२५२)

'वीर'[१२] शब्द का अर्थ बुजुर्ग या गुरू होता है, अतः "गुरू" को पीर नाम दिया गया। यह ठीक ही है। पर, यह 'जाहर' क्या है ? समस्त कथा में इस "जाहर" शब्द का रहस्य नहीं खुलता। 'जाहर" यदि 'जाहिर' का हीं दूसरा रूप है तब तो 'प्रत्यक्ष' या प्रकट अर्थ हो सकता है। तब "जाहरपीर" का अर्थ होगा, ऐसा गुरू जो अपने गुरुत्व को प्रकट दिखा रहा हो। कोई कोई जाहर को 'जहर' भी कहते हैं। जहर अथवा विष से सम्बन्ध रखने वाला गुरू। गुरू गुग्गा का संबंध सर्पों से माना जाता है। क्रुक्स ने उसे सर्पों का देवता माना है। गुरू गुग्गा की प्रायः प्रत्येक वार्त्ता में यह उल्लेख है कि उसने माता के पेट में से ही सर्पों को विवश किया था कि वे उसकी माँ के बैलों को डस लें, जिससे मा अपने मायके न जा सके। तब जाहरपीर का अर्थ हो सकता है जहर वाले सर्पों से संबंध रखने वाला गुरू। किन्तु ये सभी बातें अंधकार में टटोलने के समान प्रतीत होती हैं।[१३] मूल कथा में 'जाहरपीर' का रहस्य नहीं खुलता। इस शब्द का उसमें अर्थद्योतक प्रयोग तक नहीं हुआ। 'पीर' शब्द धार्मिक क्षेत्र में विविध पीरों की परंपरा की ओर संकेत करता है। उधर "जाहरपीर" का संबंध नाथ संप्रदाय से है। आज तक "नाथ" लोग ही इसे अपनाये हुए हैं। प्रत्येक कथा में गुरू गोरखनाथ अवश्य आते हैं। इससे इसका संबंध गोरखपंथी नाथ-संप्रदाय से होना चाहिये।

नाथ संप्रदाय में एक "जाफरपीरी" संप्रदाय का उल्लेख मिलता है। [देखिये- –नाथ-संप्रदाय, लेखक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी] जाफर का जाहिर या जाहर होना असंभव नहीं है। या तो यह "जाफरपीर" ही "जाहरपीर" है या "गुरू गुग्गा" "जाफरपीर" के संप्रदाय के प्रसिद्ध पीर हैं। पीर के संबंध में योगियों में जो रिवाज प्रचलित हैं उनकी ओर ध्यान जाता है।[१३] इनसे भी यह सिद्ध होता है कि 'पीर' का

---

१२. पीर शब्द वीर से उत्पन्न माना जाय तो प्रश्न यह आता है कि वह 'गुरू' का पर्यायवाची कैसे हुआ ? योगियों के संबंध में डा० रांगेय राघव ने अपने प्रबंध 'गोरखनाथ' में बताया है कि "योगियों में श्राद्ध नहीं होता। बरसी होती है। बरसी पर सात गद्दियां बनायीं जाती हैं जो १ पीर, २ जोगिनी, ३ साध्य, ४ वीर ५ धन्दारी (गोरखनाथ के रसोइये) ६ गोरखनाथ और ७ नेक के लिए होतीं हैं। पीर की गद्दी को सोने चांदी के सिक्के और गाय दी जाती है, वीर को तांबा आदि [गोरखनाथ (प्रबन्ध) टंकित प्रति पृ० ३५६।] यहां पीर और वीर दोनों शब्द अलग अलग अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

१३. पं० झावरमल्ल शर्मा ने एक पाद-टिप्पणी में लिखा है—

"अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अन्यतम आदि कार्यकर्ता प्रख्यात पं० जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल आयुर्वेद पंचानन का अनुमान है कि गोगाजी चौहान को जो मुसलमान जाहिरपीर कहने लग गये, इसका कारण यह भी हो सकता है कि उन्होंने गोगाजी के "गो" और "गाजी' टुकड़े कर लिए। और "गो" के साथ "गाजी का योग देखकर अपने विश्वासानुसार पीर कहने लग गये। जाहिर का अर्थ तो "प्रकट" या प्रकाश है, किन्तु यहां जाहिरपीर का मतलब जौहर या जुझार मालूम होता है। (शोध पत्रिका भाग १, अंक ३, 'गोगा चौहान पर एक दृष्टि'।) यह भी एक अनुमान ही है।

संबंध किसी न किसी रूप में गाय से अवश्य है। क्योंकि बरसी पर केवल पीर को ही गाय दी जाती है।

नाग अथवा सर्प-पूजा और गुरू गुग्गा :

गुरू गुग्गा का संबंध नागों या सर्पों से माना जाता है। इसे सर्पों का देवता भी कहा गया है। प्लूटार्क ने लिखा है कि "पुराने जमाने के मनुष्य वीरों से सांप का संबंध विशेष दिखाते थे। अन्य पशुओं से उतना नहीं"।[१४] वीरों का सांपों से किसी न किसी प्रकार का संबंध प्राचीन काल से ही चला आया है। ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका ने आगे लिखा है कि :—

"सालमिस के युद्ध म जहाजों में एक सर्प प्रकट हुआ था, उसे वीर साइक्रीअस माना गया था। ये वीर किसी पाखंड (cult) की वस्तु हो जाते हैं या रोग-निवारक स्थानीय दई-देवता बन जाते हैं। इनकी समाधि के पास से जब लोग निकलते हैं तब आतंकित रहते हैं अथवा इनकी समाधि पर लोग भविष्य जानने या मानताएँ करने जाते हैं"। (एेन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका)

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाग या सर्प का वीर-पूजा से घनिष्ठ संबंध है। किन्तु नागपूजा का इतिहास बहुत लम्बा और बहुत पुराना है। यह जानना आवश्यक है कि नागपूजा का कौन-सा रूप जाहरपीर गुरू गुग्गा से संयुक्त हुआ और क्यों!

गुरू गुग्गा का सर्पों से संबंध मानने का आधार यह है :—

१ जसा बीकानेर गजेटियर में लिखा है कि गूगा को सर्पदंश से बचाने वाला माना जाता है।[१५] गोगानो गाँव में जहां गोगामेंड़ी का मेला होता है गोगाजी की समाधि है। इसकी जाति करने से सर्प कभी नहीं काटता।[१६]

२ मथुरा के मट्टानाथ वाले जाहरपीर के गीत में ये पंक्तियां आयीं हैं:

"जाहर की गैल में स्यांपु लहरिया लेइ
पापी चेला डसि लए दाता ऐ दर्शन देइ

इस गीत के अन्तर्गत ही यह कथा है कि जब बाछल घर से निकाल दी गयी तो वह अपने मायके के लिए चली। मार्ग में गाड़ी रुकी। गूगा पेट में थे। उन्होंने सोचा कि यदि मेरी मा ननसाल पहुँच गयी और वहाँ में उत्पन्न हुआ तो मेरा नाम "निनुआँ" पड़ जायगा। गूगा को मा का ननसाल जाना पसन्द नहीं आया। वह शक्ति के रूप में पाताल में बासुकि के पास पहुँचा और उससे कहा कि चलकर मेरी मा की गाड़ी के बैलों को डस लो। सर्पों को उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ा।

---

१४. 'The men of old time', as Plutarch observed, 'associated the snake most of all beasts with heroes'. (Enc. Brit.)

१५. राजपूताना गजटियर खंड तृतीय ए, पृ० २५६

१६. " " " " पृ० ३८७

इस 'अभिप्राय' में कहीं कहीं कुछ हेर फेर भले ही हो पर यह मिलता सभी में है।

३ कहीं कहीं 'नागपंचमी' को भी गुरू गुग्गा का ही त्योहार माना जाता है।

४ गुजरात की लोकवार्त्ता में उल्लेख है कि गूगा के साथ ही एक साँप भी उसकी माता के गर्भ से पैदा हुआ था। दोनों में बहुत प्रेम था। बाद में यह साँप गूगा को आड़े समय में सहायता करता रहा था।

नाग-पूजा में साम्प्रदायिक पाषंड की स्थापना होने तक हमें निम्न विकास-क्रम विदित होता है:—

अ:	ऐनिमिस्टिक अवस्था :[१७]	१ किसी जाति का 'नाग' टोटम से संबंध होना।
		२ जाति और टोटेम का एक नामकरण।
		३ वह जाति 'टोटम' की पूजा करने लगी।
आ:	माइथिलाजिकल (पौराणिक अवस्था)	४ उस जाति में पूज्य टोटेम विषयक गाथाओं का निर्माण
इ:	सिद्ध अवस्था	५ 'टोटम' को पूजा के लिए प्राप्त करन के प्रयत्न, तत्संबंधी सिद्धियाँ।

१७. ओ' मल्ले (O' Mallcy) ने 'पापुलर हिन्दुइज्म' में एक स्थान पर लिखा है:—"इस प्रकार उदय होती है ऐनिमिज्म (Animism) अर्थात् यह विश्वास कि सभी वस्तुओं में आत्मा है, अथवा और विस्तृत अर्थ में, ऐसी प्रत्येक वस्तु जो किसी न किसी रूप में मनुष्य को प्रभावित करने की कुछ भी कार्यक्षमता रखती है, रूह (Sptrit) से तथा मनुष्य जैसी इच्छा-शक्ति (will) से युक्त होती है। फलत: विश्व को उन आत्माओं से परिपूर्ण माना जाता है जो मानव को प्रभावित करने की शक्ति रखतीं हैं। इसका अनिवार्य परिणाम होता है व्रतव्यों का असाधारण वैविध्य, जिनका अच्छा सार मोनियर विलियम्म ने दिया है कि चट्टानें, लाट तथा पाषाण-खंड, पेड़,पुष्कर तथा नदियां, उसके व्यवसाय के औजार, उपयोगी पशु, भयावह सरीसृप, मनुष्य जो अपने असाधारण गुणों के लिए विख्यात हो चुके हैं, महान शौर्य, पवित्रता, गुण या दुर्गुण के लिए भी, अच्छे या बुरे दैत्य (demon), भूत और पिशाच, मृतपूर्वजों की आत्माएं, अर्द्ध देव, प्रत्येक ही, नहीं सभी के सभी, दैवी समादर या पूजा में अपना अपना भाग रखते हैं।" ए० सी० टरनर ने कुमांयू की जातियों का विवरण देते हुए डोमों के धर्म पर प्रकाश डाला है। डोमों का धर्म ऐनिमिस्टिक और दैत्य पूजापरक (demonistic) है। "अब भी डोमों के अपने देवता और मंदिर हैं और अल्मोड़ा में इनके देवता हैं भोलानाथ, गंगाराम, हरु, श्याम, ग्वाल, निरंकार, आदि। इनमें से कुछ तो ऐसे मनुष्य थे जिन्होंने घोर पाप कृत्य किये थे, इनके भूत की पूजा करनी पड़ती है, ऐसे भी हैं जिन्हे भयानक आघात मिला, या जो मार डाले गये, ये लोगों के सिर आ जाते हैं। डोमों में जगारिया (स्याने) यह बताते हैं कि कौन सा देवता सिर आया है। गाना और नाचना होता है, भेंट चढ़ती है, देवता या देवताओं की आत्मा जगारिया के सिर आती है, और वह तब निदान और प्रतिकार बताता है।"

ई:	सांप्रदायिक स्थिति	६	विशेष संप्रदाय अथवा पाषंड के रूप में स्थिति
उ:	ह्रास	७	संप्रदाय का ह्रास, अन्य पाषंडों से संबंध,
		८	और सर्प से रक्षा की चिकित्सा का प्राधान्य, पाषंड के संप्रदाय रूप का अभाव ।

नागपूजा के इस विकास-क्रम म 'गुरू गूगा' के पाषंड का आरंभ 'ह्रास' काल में हुआ माना जायगा। अत: निश्चय ही गुरू गूगा का सर्पों या नागों से कोई मौलिक संबंध नहीं। यह संबंध उसे संयोग से प्राप्त हुआ है।

"संयोग" किस प्रकार घटित हुआ होगा। इसके संबंध में निम्न विकल्प हो सकते हैं:—

१ गूगा का जन्म भादों में हुआ। इसमें 'नागपूजा' का महत्त्व है।

२ नागों से आजीविका करनेवाले समुदाय नाथ संप्रदाय में सम्मिलित हुए और उन्होंने ही "गूगापीर" को अपना लिया।

३ वह स्थान जहाँ गूगा ने समाधि ली पुराना नाग-पूजा का स्थल हो या नागों से संबंधित किसी सिद्ध आदि से संबंधित हो।

४ अथवा ऐसे सिद्धों-पीरों से सामान्यत: यह भावना संलग्न ही हो कि उनके प्रभाव से नाग या सर्प का दंश काम नहीं करता।

मुझे ऐसा विदित होता है कि ये सभी संयोग के कारण इस संबंध में प्रस्तुत रहे हैं।

(१) गूगा का जन्म भादों में नवमी को हुआ यह प्रसिद्ध है। यह नवमी गोगा नवमी कही जाती है। इस दिन सर्प के रूप में गोगा की पूजा होती है। या कहीं कहीं नागपंचमी को गोगा या गूगा पंचमी भी कहा जाता है। इस तिथि के एकीकरण से और गूगा की सर्पों को विवश करने वाली लोकवार्त्ता से गूगा और सर्पों का संबंध सिद्ध हुआ होगा।

(२) सँपेरे भी कभी नाथ-संप्रदाय के अन्तर्गत थे, आज भले ही न हों। वे जोगी तो विदित होते ही हैं। सँपेरों के उद्भव के संबंध में एक लोकवार्त्ता नाथों में प्रचलित है—

"गुरू गोरखनाथ अपने १४०० चेलों के साथ कामरूँ पहुँचे। वहां शहर के बाहर एक स्थान पर उन्होंने अपने डेरे तम्बू लगा दिये। सब चेलों में शिरोमणि थे औघड़नाथ। औघड़नाथ के आधीन समस्त चेलों को गोरखनाथ जी ने भिक्षा के लिए नगर में भेजा। सभी चेले नगर में इधर उधर भिक्षार्थ गये, तो वहां की स्त्रियों ने उन्हें कंकरी मार कर, किसी को मैना बना लिया, किसी को तोता, किसी को डूंड़ा बैल। गोरखनाथ ने बहुत प्रतीक्षा की। बहुत देर हो जाने पर भी कोई शिष्य लौटता नहीं दिखायी पड़ा। तब गोरखनाथ ने अपने थैले में से सोखनाथ को निकाला। सोखनाथ ने कामरूँ के सभी कुओं का जल सोख लिया। अपने डेरे के पास जो कुआँ

था उसमें ही रहने दिया। कामरूँ की स्त्रियां जल लेने उसी कुए पर आयीं, तो सोखनाथ ने उन्हें गदहिया बना कर एक पास की गुफा में बंद कर दिया। अब कामरूँ में शोर मचा। गोरखनाथ ने कहा—हमारे चेलों को तुम लोग मुक्त करदो तो तुम्हारी स्त्रियां भी मुक्त हो जायगी। पुरुषों ने घरों में बंद तोतों मैंनों के गले के बंधों को तोड़ डाला, गोरखनाथ के शिष्य अपना अपना रूप पाकर गुरू के पास आगये। औघड़नाथ रह गये। वे एक तेली के यहां बैल बने पाट चला रहे थे। गोरख ने बताया तो लोगों ने उन्हें भी मुक्त किया। तब गोरखनाथ ने सोखनाथ से कहा कि अब स्त्रियों को मुक्त कर दो। सोखनाथ ने सबको तो मुक्त कर दिया, पर वह एक धोबिन पर रीझ गया, उसे नहीं किया। उसने गुरू से कह दिया "भले ही मुझे 'भेख' के बाहर कर दीजिये पर मैं इसे नहीं दूंगा। गुरूजी ने धोबी को समझा दिया और सोखनाथ को शाप दिया कि तुम जंगलों में रहोगे और सांप खिला खिला कर अपनी जीविका चलाओगे। इन्हीं सोखनाथ की परंपरा में सँपेरे हैं।"[१८]

इससे यह विदित होता है कि सँपेरे कभी पूरी तरह गोरख संप्रदायानुयायी थे। गोरखनाथ ने कितने ही पंथों को अपने क्षेत्र में से वहिष्कृत कर दिया था। सँपेरे उन्हीं में से एक हैं। इस प्रकार सांपों का गोरख-संप्रदाय से अप्रत्यक्ष संबंध तो विदित होता ही है। गोरखनाथ सिद्ध थे, और उनकी आन मंत्रों में विद्यमान है*। सांपों को कीलने में अथवा उनका विष उतारने में भी गोरख-विधि का उपयोग होता होगा। अतः गोरख-संप्रदाय से संबंधित होने के कारण गूगाजी में भी गुरू विषयक सिद्धि की स्थापना हुई होगी, और गूगाजी सांपों से संबंधित हो गये होंगे। भादों में जन्म लेने से जो मान्यता उन्हें मिली वह इस संयोग से और दृढ़ हुई होगी। यहाँ यह बात लिख देना आवश्यक है कि गोगाजी का संपेरों से भी कोई सीधा संबंध है, इसके प्रमाण नहीं मिले। नाथ संप्रदाय की सँपेरोंवाली शाखा भी गूगाजी को मानती है यह विदित अभी तक नहीं हो सका है। गूगा को मानने वाले औघड़नाथजी की परंपरा में ही प्रायः मिलते हैं। (३) गोगामेंडो अथवा गोगानो पशुओं के मेले के लिए प्रसिद्ध है, गोगाजी की कथा से यह विदित होता है कि माता से अपमानित होने पर वे गोरखनाथ जी से मिले। गोरखनाथ जी ने कहा कि यहां तुम अपना घोड़ा घुमाओ घोड़े से बारह कोस का चक्कर लगाया, उसके बीच में धरती फट गयी, जिससे घोड़े के साथ गोगाजी समा गये। बारह कोस का वह घेरा जंगल होगया। यह कथांश यह संकेत करता है कि जहां गोगाजी ने समाधि ली वहां गुरू गोरखनाथ विद्यमान थे। इसमें ऐतिहासिक गोरखनाथ का उल्लेख है या नहीं, यह तो दूसरी बात है, पर यह कथांश इतना तो अवश्य ही बताता है कि जहां गूगा ने समाधि ली वह स्थान गोरखनाथ का स्थान था। वह अवश्य गूगाजी से पूर्व गोरख के नाम से प्रसिद्ध रहा होगा। वही प्रसिद्धि वहाँ गूगा को मिली। यह बात लक्ष्य करने योग्य है कि समाधि से कुछ ही दूर, संभवतः एक कोस पर, एक गोरखटीला आज भी गोगानो में विद्यमान है। इस

१८. सूखानाथ से प्राप्त। ये सिरोठी अछनेरा के हैं।

* देखिये—'भारतीय साहित्य' प्रथम अंक, 'मंत्र' शीर्षक लेख।

संभावना ने गूगा का नागों से संबंध दृढ़तर किया होगा। और (४) इसमें भी कोई संदेह नहीं कि सिद्धों और नागों का एक विशेष प्रकार का संबंध लोकवार्त्ता मानती है। घर के व्यक्ति मृत्यु पाने पर सर्प-योनि में पितृ की स्थिति प्राप्त करते हैं। और घर में अपने प्रियजनों के बीच बने रहते हैं। जो व्यक्ति बहुत धन छोड़कर मरता है, वह साँप बनकर उसकी रक्षा करता है। इस प्रकार सर्पयोनि, पितृयोनि है अथवा प्रेत योनि है। गोगाजी मृत्यु के उपरांत भी सिरियल से मिलते थे, यह प्रेत की स्थिति है और इसके कारण उनका सांपों से संबंध परिकल्पित हुआ। (५) सांपों को भूमि-पुत्र माना जाता रहा है। भूमि गोरूप होती है। गो की रक्षा में प्राण देने और भूमि में समा जाने के कारण भी गूगा को सर्पों से संबंधित माना गया होगा। भूमि में समाकर गोगाजी पाताल में गये होंगे। पाताल ही सर्प-लोक है, क्योंकि वे वहीं के देवता हैं। सीता जब भूमि में समायीं थीं तो पृथ्वी माता सर्पों द्वारा वाहित सिंहासन पर बैठ कर पृथ्वी में से निकली थीं।

गूगा के संबंध में मिलनेवाली लोकवार्त्ताओं में सर्पों या नागों से एक संबंध तो ब्रज की कहानियों में आता ही है कि गूगा ने बासुकी को अपने चमत्कार से विवश किया कि वह मा को गाड़ी के बैलों को डस ले। इसके अतिरिक्त भी साँपों से कई संबंध ब्रज से बाहरवाली कुछ कहानियों में हैं। गूगा जब विवाह के लिए गये तो मार्ग में सर्पों ने एक झील के ऊपर पुल बना दिया था। जिससे बरात पार उतर सके।[१९] बूंदी शहर में, जो किसी-किसी वार्त्ता में गूगा की ससुराल मानी गयी है, बासुकी की आज्ञा से सर्पों ने कोट का घेरा डाल दिया था। लुधियाने में यह माना जाता है कि गूगा मूलतः नाग था, पर एक सुंदरी से विवाह करने के लिए उसने मनुष्य रूप धारण किया, अंततः फिर नाग बन गया।[२०] यह भी कहीं माना जाता है कि बचपन में यह पालने में एक साँप का मुंह चचोरते देखा गया था। बासुकि नाग ने उसे सिरिअल से विवाह करने में सहायता दी थी। राजा ने जब सिरिअल का गूगा से विवाह करना अस्वीकार कर दिया तब बनखंड में जाकर गूगा ने बांसुरी बजायी जिससे वासुकि नाग आया और उसने तातिग नाग को उसके साथ कर दिया। तातिग नाग ने सिरिअल को डस लिया, फिर सँपेरा बन कर राजा के पास पहुँचा, और वचन लेकर कि राजा गूगा से सिरिअल का विवाह कर देगा, तातिग ने सिरिअल का विष उतार दिया।[२१] चम्बा की कहानी में बासुकि नाग गूगा का प्रतियोगी था, जिसे गूगा ने परास्त कर दिया था। कूलू की एक वार्त्ता में सुरयर नागनी बासुकी नाग की पुत्री थी। गुजरात की लोकवार्त्ता में गूगा के साथ साथ ही उसकी मा के ही पेट से एक साँप भी पैदा हुआ था। इसी कारण उस सहजात को वह बहुत प्यार करता था। इस प्रकार लोकवार्त्ता ने गूगा और नाग के जिस संबंध की कल्पना की है, वह ऊपर बताये गये कारणों से ही सिद्ध नहीं होती।

---

१९. Ind. Ant. XXVI. p. 54 quoted in Indian Serpent Lore.
२०. Ludhiyana Gazeteer 1904, p. 88.
२१. R. C. Temple, 'Legends, of the punjab—vol. I.p. 121ff

किन्तु इन सबसे भी अधिक जो संभावना इन लोकवार्त्ताओं की झाँकी से मिलती है वह यह है कि 'नाग पाषंड'' भारत का एक मौलिक और प्राचीन, संभवतः वेदों से भी प्राचीन पाषंड है। यह एक लोक-संप्रदाय था। जब बौद्धधर्म लोक-संप्रदाय के रूप में खड़ा हुआ तो उसने 'नाग संप्रदाय' को तो 'आत्मसात' करने की चेष्टा की, और इसके लिए एक विधि का उपयोग किया। उसने नागों से किसी न किसी प्रकार का संबंध स्थापित कर लिया। अतः नागों का बौद्ध-धर्म से घनिष्ठ संबंध हो गया। बौद्ध-धर्म के उपरांत नाथ संप्रदाय ने यही चेष्टा की, और बौद्ध-धर्म के अवशेष का नागों से जो संबंध रहा, वह गोरखनाथ से जुड़ा, वही जाहरपीर या गोगाजी से होगया। जाहरपीर के वृत्त में कई बौद्ध अवशेष विद्यमान हैं :—

१ भगवान बुद्ध की मा अपने मायके जा रही थीं, बुद्ध मायके में नहीं पैदा हुए बीच में एक कुंज में पैदा होगये। यह बात गूगा की कहानी में है। गूगा ने अपने नाना के घर जन्म लेना ठीक नहीं समझा, मायके के लिए बाछल चल पड़ी थी, पर बीच ही से लौटना पड़ा।

२ भगवान बुद्ध ने एक नाग को अपने तेज से वश में किया था[२२]। पैदा होने के पूर्व ही गूगा ने अपने तेज से वासुकि को परास्त किया और उसे अपना आदेश पालने के लिए विवश किया।

३ नागों ने भगवान बुद्ध के लिए पुल तैयार किया था।[२३] ऐसा ही पुल सर्पों ने एक झील के ऊपर गोगाजी और उनकी बरात के लिए किया था।[२४]

४ भगवान बुद्ध का घोड़ा उसी दिन उत्पन्न हुआ था जिस दिन भगवान बुद्ध हुए थे। इसी प्रकार गूगा और उसके घोड़े नीला या जवाड़िया का जन्म भी साथ-साथ हुआ था।

जे० पी० ऐच० वोगल, पी-ऐच० डी० ने अपनी पुस्तक "इंडियन सर्पेंट लोर" में नाग-पूजा के मूल और महत्त्व पर संक्षेप में विचार करते हुए कई मतों का उल्लेख किया है, जिन्हें हम अत्यन्त संक्षेप में यहां देते हैं :

---

२२. उरुविल्व के कश्यपों के यज्ञगृह में एक भयानक सर्प था जिसके तेज को अपने तेज से भगवान बुद्ध ने हर लिया था। तब उस सर्प को उन्होंने भिक्षा-पात्र में में डाल लिया था (महावस्तु, विनयपिटक, महावग्गा में 'इंडियन सर्पेंट लोर' में उल्लेख।)

२३. दे० दिव्यवदान। तक ISL पृ० ११६

२४. इस संबंध में वोगल महोदय की टिप्पणी सभिप्राय है :—

'This and some other details of his story seem to be reminiscences of Buddist Lore, ISL p. 264

१ मत	२ माननेवाले	३ साहित्य
१. नाग मूलतः सर्प नहीं थे। ये सर्पपूजक थे। ये उत्तरी भारत में बसे हुए थे और तूरानी शाखा की आदिम जाति के थे। इन्हें आर्यों ने आकर अपने आधीन किया। आर्य या द्रविड़ सर्पों की पूजा करने वाले नहीं थे।	जेम्स फरगुसन	ट्री एंड सर्पेंट वरशिप (१८६८)
२. नागों का संबंध उन दैत्य-सत्ताओं (demoniacal beings) से है जिनका सबसे अच्छा स्वरूप (were wolve) में प्रगट होता है। ये मनुष्य के रूप में भी दिखायी पड़ते हैं। इनका मूल वह भावना है जो पशुओं और मानवों में अधिकांशतः अभेद मानती है, इसी भावना के परिणाम स्वरूप 'नाग' देखने में आदमी लगते हैं जब कि हैं वे वस्तुतः सर्प। एक बौद्ध ग्रंथ के अनुसार उनका सर्प-स्वभाव दो अवसरों पर उद्घाटित होता है: यौन समागम तथा शयन में।	प्रो० ओल्डनबर्न	Die Religion des Veda
३. नाग सारतः जल-आत्माएँ (water sipirits) हैं। वे प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण हैं। साँपों की तरह गुंजलकें मारे बिजली उगलते हुए, वर्षा के बादल, आकाश के नाग हुए, ये ही झीलों और तालाबों में पृथ्वी पर उतार लिये गये, और अन्त में विषधर सर्पों से इनका एकीकरण होगया।	हेन्द्रिक कर्न	Over den Vermoldelijkan oorsprong der Naga-Verceringe Bijdr, etc
४. नाग सूर्यवंशी एक जाति थी, फनधारी नाग इनका टोटेम था। उत्तरी भारत में तक्षशिला इनका प्रधान नगर था। तक्षक उनका नायक था।	१. डा० सी० ऐफ० ओलधम २. ई० डब्ल्यू हॉपकिन्स	1. The Sun and the Serpent (London. 1905) १. ऐपिक माइथालोजी
५. यह मान्यता कि मृत राजा प्राचीन काल में सर्प-योनि में जन्म लेते थे, इसी कारण उनकी पूजा प्रचलित हुई।		

१ मत	२ माननेवाले	३ साहित्य
६. नागपूजा का मूल जटिल है। किसी एक बात को उसका कारण नहीं माना जा सकता:— १. सर्प की पशु रूप में पूजा है। २. सर्प केल हरने के साम्य से जल, स्रोत तथा नदी के देवी-देवताओं का प्रतीक भी यह होगया है। ३. इसमें वैदिक 'अहि' की जैसी भावना का भी आरोप हुआ है—जिससे तूफान और प्रकाश के अंधकार से होनेवाले संघर्ष विषयक महान गाथा (myth) का संबंध भी दिखायी पड़ता है।		
७. नागपूजा के आरंभ का पहला बीज वस्तुत: सर्पके भय से ही उगा। तब उनके विशिष्ट स्वभाव के कारण विविध कल्पित तत्त्व जुड़े: १. साँपों को पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्ग में व्याप्त २. उनमें माना गया। विलक्षण शक्तियों की उद्भावना की गयी।		

(अ) वर्षा में बिलों में पानी भरने से इनके बाहर निकलने से उद्भावना कि सर्पों में वर्षा लाने की चमत्कारिक शक्ति है।

(आ) उसके चलने में आवाज न होने, से उद्भावना—नाम लेते ही प्रकट होते हैं। अत: इनका नाम लेना ही वर्जित होगया।

(इ) सर्प दो जीभें निकालता है इससे उद्भावना कि सर्प हवा पीकर जीता है। हवा खाकर रहना तपस्वी का चरम उत्कर्ष, अत: सर्प तपस्वी का आदर्श।

(ई) केंचुली उतारना देखकर उद्भावना कि इस कचुली में आंख से लगा लेने पर आदमी अदृश्य हो सकता है।[२५] केंचुली में चमत्कारक गुण माना गया है।[२६] इसीसे सर्पों को अमर माना गया कि वे केंचुली उतारकर नया शरीर धारण करते हैं और अमर हो जाते हैं।[२७]

(उ) सर्प काटने से तुरंत मृत्यु होने के कारण उद्भावना कि सर्पों में वह जादुई

---

२५. सर्प में (आ) गुण के कारण और केंचली पड़ी मिलने के कारण यह धारणा बनी होगी।

२६. अथर्ववेद

२७. तांड्य महाब्राह्मण (२५, १५)

शक्ति होती है जिसे तेजस कहते हैं। उनके नथुनों से आग की लपटें निकलतीं हैं। साँप अपनी सांस से ही प्राण ले सकता है।

(ऊ) झील आदि के निकट मिलने से और बिलों में प्रवेश करने और निकलने से उद्भावना कि ये पाताल निवासी हैं।

(ए) जंगलों तथा घास-पातों में घूमने के कारण उद्भावना कि ये औषधियों के ज्ञाता हैं।

(ऐ) सर्प का प्रादुर्भाव वर्षा में, अतः उद्भावना कि ये उर्वरत्व के देव हैं।

(ओ) हवा खाकर रहने से तपस्वी भाव का फल (औ) से मिल कर ये संतान प्रदान कर सकते हैं।

(अं) घरों में दिखलायी पड़ते हैं: उद्भावना, कि ये घर के देवता हैं। इसी का विस्तार कि ये पुरखे हैं जो इस योनि में आये हैं।

(अः) घरों में जमीन में प्राचीन लोग धन गाड़ते थे। बिलों से सर्प निकलता देख उद्भावना कि पुरखे धन की रक्षा के लिए सर्प बने हैं।

(क) ऐसे ही अद्भुत कर्मों के कारण नागों को देवता माना गया। उन्हें रूप बदलने वाला भी माना गया। रूप बदलने में मनुष्य रूप को प्रधानता मिली।

इस समस्त ऊहा-पोह के उपरांत भी यह प्रश्न उठता है कि नाग और नाग-जाति में अभेद कैसे हुआ। 'नाग' पशु का नाम है या जाति का नाम है, या दोनों की अलग-अलग उद्भावना है। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व की समस्या यह है कि नाग-और नाग-जाति का संबंध कब और कैसे हुआ? यह संबंध आरंभ में संयोग से हुआ होगा। जहां नाग लोग रहते होंगे वहीं सर्प भी विशेष होंगे। इनके प्रति उनका आकर्षण हुआ होगा, उनका ज्ञान प्राप्त किया होगा, उन पर अधिकार किया होगा और उनसे अपना धार्मिक संबंध जोड़ा होगा। तब नाग और नाग-जाति का संबंध टोटेमधारी जाति के जैसा ही बनेगा। इस संबंध के स्थिर हो जाने के उपरांत और नाम पड़ जाने पर उक्त कारणों से 'नाग' लोग उसकी पूजा में प्रवृत्त हुए होंगे, और उसके आधार पर उन्होंने अपनी जाति का पाषंड स्थापित किया होगा। बौद्ध-पूर्व युग में भारत के सामान्य क्षेत्र में नाग पाषंड का बहुत प्रचार था जैसा ऊपर बताया जा चुका है। डवल्यू॰. डवल्यू॰. हण्टर, सी॰ आई॰ ई॰, ऐल॰ ऐल॰ डी॰ ने 'दि इण्डियन एम्पायर' (लंदन: १८८२) में (पृ॰ १७१—१७३) बताया है कि 'बौद्धधर्म ने आर्य-पूर्व की इन जातियों को भारतीय तंत्र (Indian Polity) में घुला-मिला लेने में बहुत प्रयत्न किया था। यूनानी-बाख्त्रिक तथा सिदियन आक्रमणों (३२७ ई॰ पू॰ से ५४४ ई॰) के दीर्घ संघर्ष-युग में भारतीय आदिम जातियों ने पूर्वापर अधिक महत्त्व प्राप्त किया होगा, चाहे शत्रु के रूप में, चाहे मित्र के रूप में। इसके बाद ये जातियाँ पूर्व में उत्तरी भारत के अच्छे क्षेत्रों में बिखरीं मिलतीं हैं। अब भी ऐसे ध्वस्त नगरों और किलों को हम अवध और उत्तरी भारत में विद्यमान् पाते हैं, जिनका संबंध इन आदिम जाति के लोगों

से स्थानीय वार्त्ता में बताया जाता है ; ये जातियाँ इस क्षेत्र का कभी शासन करतीं थीं। जनगणना के फलस्वरूप इनके अस्तित्व की और पुष्टि हुई है। इसीमें तक्षकों का उल्लेख हंटर महोदय ने किया है—इसी संबंध में वे कहते हैं : 'ये सिदियन तक्षक ही वस्तुतः महान् नागजाति का स्रोत माने जाते हैं—ये तक्षक या नाग संस्कृत-साहित्य में और कला में बहुत प्रमुख स्थान रखते हैं। आज भी इन्हीं के नाम की नाग जाति विद्यमान है। संस्कृत में तक्षक और नाग दोनों का अर्थ साँप होता है अथवा सपुच्छ दानव (monster)। तक्षकों को सिदियन टक्कों से संबंधित माना जाता है, अतः प्रमाणाभाव में अनुमान से एलखान के दूसरे पुत्र 'नगस' से इन नागों की उत्पत्ति बतायी जाती है, जो संदिग्ध है। ये दोनों नाम संस्कृत के लेखकों के द्वारा विविध अनार्य जातियों के लिए उपयोग में लाये गये हैं। महाभारत में पांडवों ने खांडव वन के तक्षक को जलाया था। तक्षक तथा नाग वृक्षों और साँपों के पूजक थे। इन जातियों के रिवाजों और देवताओं ने भारतीय वस्तु तथा चित्र-कला को बहुत अधिक प्रभावित किया है। चीनी भाषा में प्राचीन भारत की नाग-भूगोल का पूरा विवरण दिया हुआ है। नाग-राज्य बहुत से थे और शक्तिशाली थे। बौद्धधर्म ने अनेक नाग राजाओं को अनुयायी बनाया था। इस नाग-संप्रदाय को च्युत करके बौद्ध धर्म ने बुद्ध के समय में ही नाग-संप्रदाय के अनुयायी नागों को अपने वश में किया, और अपना अनुयायी बनाया। भगवान बुद्ध का नागों से घनिष्ठ संबंध हो गया, और बौद्ध धर्म का जो रूप लोक-क्षेत्र से संबंधित रहा, उस रूप में आगे की ऐतिहासिक गति से बौद्ध सिद्धों में उसने परिणति पायी और तब नाथों से उसका गठबंधन हुआ। उनके माध्यम से गुरु गुग्गा को नाग-संबंध प्राप्त हुआ। और यह संबंध उन कारणों से विशेष रूप से पुष्ट हुआ जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

यक्ष और गुरू गुग्गा

गुरु गुग्गा का नागों से संबंध तो लोक-वार्त्ता में भी प्रसिद्ध है। उन्हें नाग-देवता ही माना जाता है। किन्तु गोगाजी विषयक अनुष्ठानों का समाधान इस से नहीं होता इसीलिए यहीं हमें एक और संभावना पर विचार करना है। क्या 'गूगा' का यक्ष-पूजा से कोई संबंध हो सकता है। बौद्ध युग में, नहीं, बुद्ध के समय में ही, यक्ष भी उतने ही प्रबल थे, जितने नाग। यक्षों और नागों से संबंध वाली बौद्ध कथाएँ प्रायः एक-सी ही प्रतीत होतीं हैं। यक्षों को भगवान बुद्ध ने जिस विधि से वश में किया, कुछ वैसी ही विधि नागों के लिए भी रही। यहां तक कि यक्षों और नागों के प्रमुख नामों में भी बहुत साम्य मिलता है। यक्षों के स्थानों पर भी बुद्ध और बौद्धों ने युक्ति से अधिकार किया था। अतः यक्ष-पक्ष का लोक में उस आधार पर कुछ न कुछ प्रभाव रहना ही चाहिये जो बौद्ध धर्म के विकास अथवा ह्रास की कड़ी के रूप में प्रस्तुत हो। आज भी लोकवार्त्ता में ब्रज में 'यक्ष' जखया के नाम से पूजा जाता है। साधारणतः 'यक्ष' पूजा 'वीर' के नाम से होती है। अनेकों वीरों के थान आज भी जहाँ तहां बिखरे पड़े हैं। (देखिये: जनपद वर्ष १, अंक ३, वैशाख संवत २०१०,

'वीर-बरह्म' नामक निबंध लेखक : डा० वासुदेव शरण अग्रवाल। तथा 'ब्रजभारती')। गुरू गुग्गा के पापंड में जिन बातों से यक्ष-प्रभाव सूचित होता है वे ये हैं :—

१ गूगुल का महत्त्व।
२ सिर आने की प्रक्रिया।
३ नागों से संबंध।
४ यक्ष-ध्वज।
५ जागरण।
६ यक्ष प्रश्न।
७ वीर पूजा।

१ यक्षों का संबंध गूगुल से है, यह बात इससे सिद्ध है कि संस्कृत में गूगल का नाम ही 'यक्षधूम' है। गुरू गुग्गा का जन्म लोकवार्त्ता के अनुसार गूगुल से हुआ है। फल तो काछल ले गयी थी, बाबा गोरख की झोली में गूगुल ही था जो बाछल को मिला। इस प्रकार 'गुग्गा' का जन्म ही 'यक्ष योनि' से लोकवार्त्ता के द्वारा संबद्ध हो जाता है। परा-प्राकृतिक जन्म संबंध में 'दैवी फल' का अभिप्राय (कथानक रूढ़ि) बहुत प्रचलित है। कथासरित्सागर में महारानी वासवदत्ता ने पुत्र कामना से शिव का व्रत किया। शिव प्रसन्न हुए। उन्होंने वरदान दिया कि पुत्र होगा। एक रात को स्वप्न में एक जटाधारी ने आकर वासवदत्ता को एक फल दिया।[२८]

इसी स्थल पर पेंन्जर महोदय ने टिप्पणी में बताया है कि मार्खे, समाज तथा रिवाजों में परा-प्राकृतिक उत्पत्ति के समस्त प्रश्न पर 'दी लीजेंन्ड ऑफ परशिअन्श' खंड १ में पृ० ७१ से १८१ तक हार्टलैंड ने भली प्रकार विचार किया है।[२९] (वी० शौविन (V. Chauvin op cit, V. P. 43) के Conception extraordinaries शीर्षक भी देखिये।)

परित्यागमेन, उसकी धूर्त्त स्त्री और उसके दो बेटों की कहानी' में .....दोनों पत्नियों को दुर्गा से दो 'दैवी फल' मिलते हैं। यह कहानी Ocean of story V. II, P. 136 में दी हुई है। अध्याय cxx में भावी सम्राट् विक्रमादित्य की मा को शिव ने संतान निमित्त एक फल दिया। यह फल कभी आम होता है।[३०] स्टोकस में, पृ० ६१ पर लीची फल दिये गये हैं। अन्य कहानियों में 'अनार' दिया गया है।

किन्तु गुग्गा के संबंध में 'टाड' ने जौ का उल्लेख किया है, और ब्रज में तथा टेम्पल के पंजाबी गीतों में 'गूगुल' आता है। ब्रज लोकवार्त्ता में यक्ष-पूजा आज भी "जखैया" के रूप में होती है। जखैया पर घेंटे (शूकर के बच्चे) बलि दिये जाते

२८. Ocean of story V. II P. 136
२९. The Ocean of story. Part I. Appendix I. P. 203
३०. Stokes : Indian Fairy Tales, पृ० ४०, फेरे : Old Deccan Days पृ० २५४, शास्त्री: फोकलोर इन सदर्न इंडिया, पृ० १४०

हैं। घेंटों का हिन्दू समुदाय में भंगियों और महतरों से ही विहित संबंध है। अतः भारतीय रिवाज में दूरान्वय से यक्ष या जखैया का पूजने वाला समुदाय कभी महतरों में परिज्ञात हुआ। गुरू गुग्गा के प्रति महतरों की भक्ति का एक जातीय कारण यह भी हो सकता है।

२. सिर आने की प्रक्रिया का संबंध सामान्यतः यक्षों से लगाया जाता है। यक्षों में कितनी ही प्रकार की शक्तियां मानी गयी हैं। ये चाहे जब, चाहे जैसा रूप बदल सकते हैं। ये अदृश्य हो सकते हैं। वस्तुतः जैन साहित्य के विद्याधर और यक्ष एक ही विदित होते हैं। कथासरित्सागर में पेंजर ने बतलाया है कि यक्ष के अर्थ हो हैं, विद्या-शक्तियों का धारण करनेवाला (बीइंग पजैस्ड आव मैजिकल पावर्स)[३१]। सिर आने को प्रक्रिया का अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि सिर आने के दो रूप हैं। एक तो देवता सिर आता है। देवता सिर पर इसलिये बुलाया जाता है कि उससे होने वाले अन्य अनेक कष्टों से छुटकारा पाया जा सके और अभिलषित वस्तुओं का वरदान पाया जा सके। पीर अथवा देवी का सिर आना ऐसा ही होता है।

दूसरे प्रकार में खोरवाला सिर आता है। किसी को खोर हो जाने पर उस खोर करने वाले को अनुष्ठान द्वारा बुलाया जाता है, और उसे भगा देने की विधियाँ कीं जातीं हैं। भूत लग जाने या प्रेत लग जाने या मियाँ की खोर पर तो ये सिर आते ही हैं, साँप के काट लेने पर साँप भी सिर आता है। इस प्रकार के सिर आने का संबंध 'डैविल डान्स' से है, जिसके संबंध में यह कहा गया है कि:

A form of exorcism, said to be allied to the Shamanism of Northern Asia, prevalent in Southern India and appearing also in Ceylon, Northern India, Tibet, etc. It is usually employed to entice the demon from the body of a sick person into the body of the dancer . ...Devil dancing is found in the demonic Bon cult of Tibet.

Devil Dances and devil beating cerimonials found in various places in China may be a Lamaist importation. Data is incomplete. In Lamaist temples priests disguised as gods and devils attack each other in mock combat (R. D. J. Standard Dictionary of folklore, legend)

वस्तुतः 'गुरू गुग्गा' का प्रकार पहली कोटि का है। गुग्गा की खोर नहीं होती, यद्यपि जाहरपीर के गीत में आरंभ में ही, जब तक उसने जन्म भी नहीं लिया, वह वासुकि, अपने नाना और बाबा के सिर चढ़ा है, अपनी खोर की है। पर पाखंड अथवा संप्रदाय के रूप में वह खोर करने वाला नहीं, पहले उसकी मनौती की जाती है, पूजा

---

३१. The Ocean of Story. Part I., Appendix I, page 203.

की जाती है, तब वह सिर आता है, तब उसका आवेश होता है। अतः गुरू गुग्गा के जागरण में जो नाट्य होता है वह पारिभाषिक रूप में 'डेविल्स डान्स' नहीं माना जा सकता। फिर भी लोकवार्त्ता और नृविज्ञान के विद्वान इसके मूल के संबंध में जो मानते हैं, वह सत्य ही विदित होता है।

देवता या किसी आत्मा के सिर आने की भावना का आरंभ शामानिज्म से विदित होता है। इस शामानिज्म का संबंध बौद्ध श्रमण से है। श्रमण का समन, समन का शामन हुआ है। बौद्ध प्रचारक देश विदेशों में गये। ये प्रचारक ही नहीं थे, समाज के सेवक भी थे। चिकित्सा से इनका किसी न किसी प्रकार का संबंध बैठता है। विदित होता है कि इन्होंने चिकित्सा की दो प्रणालियाँ अपनायीं १—ओषधि आदि के द्वारा: जिसके आधार पर चले चिकित्सा-शास्त्र में आज भी एक अंग थेराप्युटिक्स कहलाता है। इस शब्द में थेर 'स्थविर' का ही पर्याय है। २—सिद्ध की आत्मा का आवाहन कर, उसकी सहायता से चिकित्सा करना। यही पद्धति 'शामानिज्म' कही गयी। इसमें 'शमन' शब्द बौद्ध श्रमण है। श्रमणों ने बौद्ध धर्म से आत्मावतरण का सिद्धान्त प्राप्त किया था, और किसी भी देश के आदि निवासियों के ऐनीमिस्टिक विश्वासों से उसका सामञ्जस्य करके देवता, भूत-प्रेत के सिर आने के व्यवहार को ग्रहण किया होगा। ऐनिमिज्म + श्रमणीय बौद्धधर्म = शामनवाद।

गुरू गुग्गा के संप्रदाय के साथ यह शामनिज्म = शामनवाद तो है ही क्योंकि 'जागरण' होता है और गूगापीर सिर आता है। वह पुत्र प्रदान करता है, अन्य अनेक रोगों को दूर करता है आदि। यह बौद्ध परंपरा + यक्ष परंपरा मिलकर सिद्ध परंपरा में परिणत हुई, नाथों के लौकिक स्तर पर गृहीत हुई और वहाँ से गुरू गुग्गा के अनुयायियों ने ली। इसके साथ 'पट' अथवा चंदोबे का विधान भी इस बौद्ध परंपरा की ओर संकेत करता है। बौद्धों में सिद्धों की जीवनी को प्रदर्शित करने वाले पट होते हैं जो धार्मिक अवसरों पर प्रदर्शित किये जाते हैं।

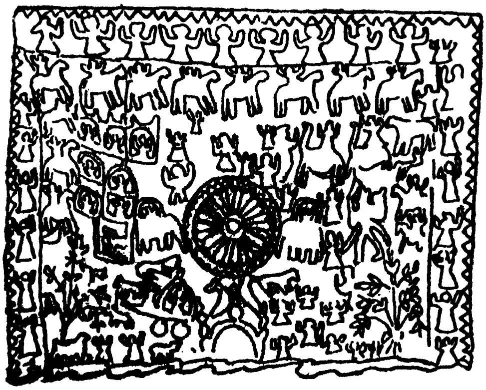
इस प्रकार सिर आने की प्रक्रिया के साथ निम्न तत्त्वों का घनिष्ठ संबंध है:

१ चंदोबा
२ यक्षध्वज
३ जागरण
४ चाबुक
५ यक्षप्रश्न

चँदोबा :

जाहरपीर के जागरण में एक चँदोवा पीछे दीवाल पर टाँगा जाता है, उसके समक्ष जागरण के समस्त अनुष्ठान होते हैं। इस चंदोबे में गुरू गुग्गा के जीवन की कुछ घटनाएँ चित्रित रहती हैं। गुग्गा की कहानी की मुख्य-मुख्य घटनाएँ पहले कपड़े

में से अलग अलग काट लीं जातीं हैं, फिर उन्हें एक पट पर सीं दिया जाता है। इसके मध्य में एक चक्र रहता है, तब शेष समस्त में घटनाओं के प्रतीक। यह चँदोबा



जाहरपीर चँदोबा लोहवन से

चित्र २

पट-पूजा को अत्यन्त प्राचीन प्रथा का रूपान्तर है। आरंभ में ये पट पत्थर के बनते थे। जैनियों में 'आयाग पट' का कितना महत्त्व है, सभी जानते हैं। बौद्धों में भी पत्थरों पर बुद्ध भगवान के जीवन की घटनाएं, जातक आदि की कथाएँ अंकित की जातीं रहीं हैं। जब बौद्ध लोग देश देशान्तरों में गये तो पत्थरों को ले नहीं जा सकते थे। तब संभवतः कपड़ों का उपयोग किया गया होगा। राहुल जी तिब्बत से अनेकों पट लाये थे जिनमें सिद्धों के चित्र हैं। ये पटना म्यूजियम में हैं। ऐसे पट तिब्बत के बौद्ध मंदिरों में विशेष उत्सवों के अवसर पर टाँगे जाते थे। इन पटों पर चित्र अंकित करने की कला भारत में पुरानी प्रतीत होती है। जैन भगवती सूत्र में १५,० में एक 'गोसाले मंखलीपुत्ते' का उल्लेख है। 'मांख' उन लोगों को कहते थे जो चित्र दिखा दिखा कर जीवन-यापन करते थे। मंखली वे होंगे जो ये चित्र बनाने का व्यवसाय करते होंगे। पतंजलि ने महाभाष्य (३,२, ३) में कृष्ण लीला के चित्रों के प्रदर्शन की बात लिखी है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस (अंक १) में 'यमपट' दिखा-दिखाकर जीविका अर्जित करने वाले का उल्लेख है। यह विदित होता है कि इन पटों के दो रूप होगये : एक तो अत्यन्त आनुष्ठानिक जो धर्म-कार्यों के अवसर पर काम में लाये जाते होंगे। दूसरे सामान्य, जिन पर कृष्ण-लीला या नरक-स्वर्ग चित्रित करके सामान्य साम्प्रदायिक भावना के साथ लोगों को दिखा-दिखाकर जीविका उपार्जित की जाती होगी। बंगाल की लोक-प्रवृत्तियों में ये दोनों प्रणालियाँ आज भी प्रचलित हैं। श्री आशुतोष भट्टाचार्य ने 'बाङ्लार लोकसाहित्य' नामक पुस्तक में लिखा है—"वर्त्तमाने प्रधानतः मेदिनीपुर, बाँकुड़ा, वीरभूम अर्थात् पश्चिम बंगेर पश्चिम सीमान्त-वर्ती कयकटि जिलाये चित्रकर वा 'पटुया' वलिया परिचित एक श्रेणीर लोक वास

करे। हिन्दू पौराणिक ओ लौकिक देवदेवीर चित्र अंकन ओ ताहादेर विवरण गृहे-गृहे गान करिया ताहादेर जीविका निर्वाह हइया थाके। ईहादेर व्यवहृत संगीत ईहादे निजेदेरइ रचित-इहाइ पटुवार गान वा पटुवा संगीत नामे परिचित।"

भट्टाचार्यजी ने पटवा जाति का कुछ विस्तृत वर्णन देकर यह अभिमत प्रकट किया है कि यह अनार्य जाति है। इस संबंध में उन्होंने एक युक्ति यह भी दी है कि पटवा जाति का एक वर्ग सँपेरा है। ये साँप खिलाते हैं। गीत गाकर पटों पर सर्प-देवी मनसा के चित्र दिखाकर जीविका उपार्जित करते हैं।

पट-जीविका के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए भट्टाचार्य जी ने बाण भट्ट के हर्षचरित और विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में इन्हें विद्यमान बताया है। अतः पट-जीविका की धारा छठी-सातवीं शताब्दी तक पहुँचायी है। उन्होंने बताया है कि इन पटों के मुख्य विषय तो हैं :—

१ बेहुला-लखीन्दर-मनसा विषयक

२ रामायण विषयक

३ भागवत विषयक

इन मुख्य विषयों के अतिरिक्त कहीं-कहीं निम्न विषय भी पटों पर अंकित रहते हैं :-

४ पार्वतीर ऊंशंख परिधान,

५ कमले कामिनी,

६ गौराङ्ग-लीला

७ गोसाईं पट

८ साहेब पट

९ डाकातेर पट इत्यादि

यहीं भट्टाचार्यजी के एक निष्कर्ष का शब्दशः उल्लेख करना आवश्यक है:

"प्रधाने लक्ष्य करिवार कयेकटि विषय आछे—पटवागण महाभारतेर काहिनी-विषयक कौन पट अंकन करे ना एवं मनसा-मंगलेर विषय रामायण एवं कृष्णलीलार तुल्य प्राधान्य लाभे करे। एइजन्यइ बलियाछि जे, संभवतः पटवागन पूर्वे केवल मात्र सापूड़े वा वेदेर व्यवसायी छिल, सुतराँ सर्पेर अधिष्ठात्री देवी मनसारइ माहात्म्य ताहारा पटेर मध्ये दियाओ प्रचार करित। अतएव कालक्रमे पटेर मध्ये अन्यान्य विषय वस्तु गृहीत हओया सत्वेओ मौलिक विषयटि इहादेर मध्ये केवल मात्र जे रक्षा पाइयाछे ताह नहे, समान प्राधान्य रक्षा करिते पारियाछे।[३२]

इस विवरण से हमें पटवा जाति, पट तथा नाग या मनसा-मंगल के पारस्परिक घनिष्ठ संबंध की सूचना मिलती है। इन पटों से धर्म-पाषंड का संबंध होते हुए भी, ये जीविका निर्वाह के साधन रहे। द्वार-द्वार पर इन्हें दिखाकर इनके बहाने कुछ धार्मिक चर्चा और मनसा का प्रचार करते हुए अपनी जीविका के लिए कुछ भिक्षा या शुल्क पटवा लोग पाते रहे।

३२. बाङ्लार लोकसाहित्य : श्री आशुतोष भट्टाचार्य पृ० १५३

इन पटों के साथ एक और प्रकार के पट बंगाल में प्रचलित हैं। लेखक के शब्दों में "तवे पूर्व बंगे एक श्रेणीर पट देखिते पाओया जाय, ताहा गाजीर पट नामें परिचित.....। हाते गाजी वा मुसलमान धर्म प्रचारकदिगेर अलौकिक जीवन-वृत्तांत समूह चित्र रूपायित हइया थाके।..... धर्म प्रचारेर वाहन—साहित्य रस परिवेशक नहे....।[33]

यद्यपि दो प्रकार के पटों का उल्लेख किया गया है, पर दोनों के साथ किसी न किसी प्रकार की धार्मिकता अथवा पाषंड लगा हुआ है और दोनों के विषय-वस्तु का लक्ष्य और विधान प्रायः एक ही है। किसी न किसी कथा को प्रस्तुत करने के लिए ही इन पटों का विधान हुआ है। उसके उपयोग भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न हो गये हैं। मूल का संबंध धर्म या पाषड से भी होना चाहिये और जीवन-कथा से भी। धर्म या पाषंड के साथ मूल में टोने का भाव भी धार्मिक होगा। समस्त इतिहास पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि इस प्रकार के जीवन-वृत्तों को धार्मिक भावना से अभिमंडित करके प्रस्तुत करने की प्रणाली जैनों और बौद्धों में प्रायः साथ-साथ मिलती है। नागों और यक्षों से इन दोनों का लौकिक धरातल पर घनिष्ठ संबंध था, अतः यह 'पट प्रणाली' इन संप्रदायों ने लोक से ही ली होगी। चित्रांकन की कला का मौलिक संबंध असुर-संस्कृति से विदित होता है, वाणासुर की कन्या 'उषा' चित्रकला मे अत्यन्त निपुण थी। चित्रकला के विधान को असुरों तथा नागों ने पत्थर में शिल्प के लिए अपनाया होगा। वहां से बौद्धों और जैनों ने इसे ग्रहण किया, तब बौद्धों ने अपनी श्रमणीय और परिव्राजकीय आवश्यकताओं की दृष्टि से तथा भौगोलिक कारणों से भी 'वस्त्रों' पर उसे उतारा होगा। तब पतंजलि के समय कृष्ण आदि के लिए भी इनका उपयोग होने लगा होगा। पटवा जाति के लोग ऐसे ही किसी बौद्ध वर्ग के होंगे जो पट बनाते होंगे। ब्रज में भी इस जाहरपीर का पौरोहित्य पटवा-नाथों से संबंधित है। ब्रज म आज पटवों और संपेरों का संबंध नहीं मिलता, पर जैसा बंगाली क्षेत्र से हमे विदित हुआ है पटवों और सँपेरों का जातिगत संबंध है। 'पट' के द्वारा सर्प की देवी (जो पश्चिम में देवता हो गया) का चित्र प्रस्तुत किया जाता होगा। बाद में 'पट' मात्र से संबंध रखनेवाले पटवा होगये, और सर्पमात्र से संबंध रखने वाले सँपेरे हो गये। उनके मुख्य विषय का संबंध सर्प अथवा नाग से अवश्य बना रहा। बंगाल में मनसा-'सर्पों की देवी' है यही पट से संबंधित है, तो ब्रज में गुग्गा या जाहरपीर भी सर्प के देवता हैं और चंदोबा उनका वही पट है, जिस पर उनका जीवनवृत्त अंकित है, और गीतों के द्वारा जिसे गाया जाता है।

श्री आशुतोष भट्टाचार्य जी ने बताया है कि :—

"चित्र एवं गीति उभये मिलियाइ एकटि अखंड रसेर सृष्टि हय—एक हइते अन्यरके विच्छिन्न करा जायपना। सेइजन्य पटवार निजस्व संगीत व्यतीत केवल मात्र ताहार चित्रेर स्वतंत्र कौन मूल्य नाइ, चित्र व्यतीत पटवा-संगीतेरओ कौन परिचय नाइ। ईहादेर एइ अखंड योगायोगेर भितर दिया ईहादेर उभयेरइ रस ओ सौन्दर्य विकाश पाय।"[34]

---

३३. वही　　"　　"　　पृ० १५८

३४. वही, पुष्ठ १५३.

चित्र से गीत साकार होता है, गीत से चित्र को अर्थ मिलता है। यह जीविका के लिए पट के उपयोग के साथ है। गूगा के पाषंड में भी यह संबंध तो है। चंदोबा गूगा के जीवन-वृत्त को कुछ चित्रों के द्वारा अंकित करता है और जोगी उसी जीवन-वृत्त को गाता है गीत में। पर यह संबंध 'पट-जीविका' व्यवसायी पटों की भांति उतना अनिवार्य नहीं। क्योंकि गुग्गा के जागरण में चित्र में कथा दिखाना अभीष्ट नहीं, न गीत के द्वारा पीर का चरित्र-वर्णन सुनाना ही अभीष्ट है। दोनों का संबंध दर्शकों या प्रेक्षकों से नहीं। दोनों का संबंध गुरू या पीर की पूजा, मनौती और अन्ततः उसके आह्वान के अनुष्ठान से है। अतः गीत भी इस अनुष्ठान का एक टोनेवाला अंग है। और चित्र भी उसी प्रकार एक टोनेवाला अंग है। दोनों अपने अपने निजी टोने विषयक गुण के कारण यहां आये हैं। टोने का यह गुण इन्हें आदिम प्रवृत्ति का अवशेष सिद्ध करता है। आदिम टोनेवाले चित्रों और गीतों से ही जीविका के पट-गीतों का आविर्भाव हुआ होगा। वहां से विविध क्षेत्रों में इन्होंने स्थान प्राप्त किया होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पट' का यक्षों से दूर का संबंध है। नागों से अवश्य निकट का संबंध है।

ध्वज :

चँदोबे के साथ एक ध्वज भी होता है। यह मोरपंखों का मुख्यतः बना होता है, और तरह तरह के पदार्थ, झंडियाँ, घंटियाँ इससे लटकी रहती हैं, इस ध्वज का संबंध यक्षों से हो सकता है, क्योंकि औपपातिक सूत्र में यक्ष मंदिर का जो वर्णन दिया हुआ है, उसमें ऐसे ध्वज का उल्लेख प्रतीत होता है। यक्ष-मंदिर का यह वर्णन कुमार स्वामी के अंग्रेजी अवतरण से रूपान्तर करके यहां दिया जाता है।

"चम्पा के निकट पुण्णभद्दे नामक चेइय (चैत्य) था। यह अत्यन्त प्राचीन था, जिसका वर्णन पहले जमाने में वृद्ध, यशस्वी, धनी और सुविख्यात लोगों ने किया है। यहाँ छत्र थे, ध्वजाएँ थीं और घंटियाँ थीं, पताकाएं थीं, पताकाओं पर पताकाएँ थीं जिससे यह सजा हुआ था, और 'लोम हत्थ' थे।..........

चौड़े वर्तुलाकार दीर्घ झुके लहराये स्तबक थे, सद्य मधु गंध पुष्पों के, पांच रंगों के पुष्पों के, जो वहाँ बिखरे हुएथे। कालागुरु, कुंदरुक्क और तुरक्क की प्रकम्पित धूम्रलहरियों की सुगंध से वह प्रसन्न था।.....यह चैत्य चारों ओर विशाल बन से आवृत था। इस बन के मध्य में एक चौड़ा स्थल था, वहां यह बताया जाता है कि एक विशाल और सुन्दर अशोक वृक्ष था जिसके नीचे यक्ष का स्थान था।"

इस वर्णन में और चीजों के साथ 'लोम हत्थ' का उल्लेख है। कुमार स्वामी महोदय ने लिखा है कि 'पाली में लोम हत्थ का अर्थ होता है 'रोंगटे खड़े होना (भय, आश्चर्य अथवा आनंद के कारण)। हो सकता है कि यहाँ इस शब्द का मात्र यही अभिप्राय हो कि देखने में भव्य। किसी वस्तु से अभिप्राय न हो, अथवा इसका अभिप्राय याक की पूँछ के चँवर से हो जो कि यक्ष-मन्दिर के लिए ठीक है।[३५] पर

३५. 'यक्ष', ले० कुमार स्वामी पृ० १६, २०।

वस्तुतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से कोई भी अभिप्राय ठीक नहीं, 'लोम हस्थ' मोरछली के बने इसी ध्वज को कहते हैं। मोरपंख जब खड़े लगाये जाते हैं तो लोम हस्थ की परिभाषा के अनुकूल ठहरते हैं।

जाहरपीर की समाधि भी यक्ष की भाँति एक विशाल जंगल में है, जिसके मध्य में गोगा का स्थान है। 'तवारीख राज श्री बीकानेर' में लिखा है कि गोगा जी के स्थान के इर्द गिर्द दूर तक जंगल पड़ा हुआ है। जंगल म खैरी के पेड़ हैं। खैरी का गोंद उत्तम समझा जाता है। गोगा जी के बेहड़ (बणी) से कोई दरख्त (पेड़) काट नहीं सकता।[३६] यक्ष का वृक्षों से घनिष्ठ संबंध है। ये 'रुक्ख देवता' हैं। भगवान बुद्ध का भी वृक्ष से संबंध है, गोगा का भी वृक्ष से संबंध है। पं० झावर मल्ल शर्मा ने एक और लोकवार्त्ता का उल्लेख किया है: 'गाँव गाँव खेजड़ी गाँव गाँव गोगो' प्रत्येक गाँव में खेजड़ी का वृक्ष मिलेगा और उसके नीचे गोगा का थान।

जागरण :

जागरण इस समस्त आयोजन का एक प्रधान अंग है। वस्तुतः जागरण स्वयं कोई महत्त्व नहीं रखता। देवी-देवताओं की मानता में समय ही इतना लग जाता है कि रात्रि-जागरण करना ही पड़ता है। ऐसे सभी कृत्य प्रायः रात्रि में ही होते हैं। जागरण का संबंध केवल जाहरपीर से ही नहीं, देवी आदि अन्य देवताओं से भी है। कुछ अन्य संस्कारों में भी वह अनिवार्य है: विवाह में 'रतजगा' अनिवार्य है। इस रतजगे में भी देवी मानता होती है। आज के विवाह विषयक रतजगे में तांत्रिक प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखायी पड़ती है। जागरण या रतजगा इसी सिद्धि-अनुष्ठान की दृष्टि से ऐसे अवसरों पर आवश्यक हो जाता है। डेविलडान्स में भी जागरण होता है। बंगाल में 'जाग-गान' होते हैं जो जागरण के समय गाये जाते हैं। सोनाराय या सोना पीर नामक एक पीर का भी जागरण होता है।[३७] जागरण का कोई अनिवार्य नियमित संबंध यक्ष पूजा से हो, ऐसा विदित नहीं होता। श्री आशुतोष भट्टाचार्य ने जाग-गान और जागरण का मूल युद्ध विग्रहोपरान्त वीर यश वर्णन की आदिम प्रणाली में माना है। आज न युद्ध-विग्रह रह गये हैं उस रूप में, न वैसा वीरस्तवन। उनका स्थान सन्तों-पीरों ने ले लिया है, वैष्णवों के प्रभाव में चैतन्य आदि भी इस जागरण-गान के विषय बन गये हैं। किन्तु प्रतीत होता है कि वीर-परंपरा एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू पीर-परंपरा है। पीरों का संबंध सिद्ध और सिद्धियों से है। इनमें जागरण का मूल होगा—किसी न किसी प्रकार की तांत्रिक आवश्यकता। 'वीर-पीर' दोनों परंपराओं के मिल जाने से तांत्रिक और औत्सविक दोनों प्रणालियाँ आज के जागरण औ जाग-गान से संबंधित हो गयी हैं।

---

३६. तवारीख राज श्री बीकानेर। पं० झावर मल्ल शर्मा के निबंध में उद्धृत।
३७. दे० वाङ्लार लोक साहित्य : श्री आशुतोष भट्टाचार्य पृ० १७९

४ चाबुक

चाबुक या कोड़ा भी इस सिर आने की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। यह देवी-देवता के सिर आने पर उपयोग में आता है। खेलने वाला इसे उछाल उछाल कर अपने शरीर पर ही प्रायः मारता है।

यहाँ पर कुमार स्वामी जी ने माली अज्जनए (Ajjunae) के उपाख्यान का उल्लेख करते हुए अन्तोगददसाओ के छठे अध्याय से 'जक्खमोग्गार-पाणि' के पाषंड तथा मन्दिर का वर्णन दिया है उसे दुहराना उचित होगा :—

> "किंबहुना मोग्गारपानि अज्जुनए के विचारों को जान गया। वह उसके शरीर में प्रविष्ट होगया (सिर आगया) ; इस आवेश के बाद उसने लोहे का मुद्गल उठाया और छः धूर्तो और स्त्री को मारा।
>
> अज्जुनए पर जक्ख अब भी सवार था, और इसी दशा में अब वह प्रति-दिन छः मनुष्यों और एक स्त्री को मार डालने लगा।'

यहां यक्ष के सिर आने का अर्थात् शरीर में आवेश का प्रकरण प्रस्तुत है, और यक्ष के आवेश से युक्त अज्जुनए के हाथ में मुद्गल है, जिससे वह पुरुष-स्त्रियों को मारता है किन्तु गूगा के सिर आने की प्रक्रिया में मुग्दर नहीं चाबुक या कोड़ा है। यह मुग्दर दूसरों को प्रताड़ित करने के लिए है, स्वयं अपने को प्रताड़ित करने के लिए नहीं।

लोकवार्त्ता में "फ्लैगेल्लेशन," कोड़ों की मार, का एक विशिष्ट स्थान है। यह खोर भगाने की विधियों में है। संसार भर में ऐसे खोर उतारने के अनुष्ठान में चाबुक या कोड़े का उपयोग होता है।

यह वात ध्यान में रखने के योग्य है कि यह चाबुक-प्रहार उसी समय होता है, जब प्रथम आवेश होता है। पीर के साथ वीर पूजा का भी घनिष्ठ संबंध है। वीर अश्वारूढ़ है। वह इस पुरोहित के शरीर को अश्व अर्थात् अपने वाहन का प्रतीक समझता है, और उसे मारता है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि पीरजी प्रार्थना सुनकर घोड़े पर सवार चाबुक फटकारते आ पहुँचे हैं।

यक्ष प्रश्नः

जब सिद्ध होता है कि देवता सिर आगये, तब प्रश्न पूछे जाते हैं। कुछ इन प्रश्नों को 'यक्ष प्रश्न' या ब्रह्मोद्य का नाम देते हैं, और इसके द्वारा यक्ष-प्रभाव दिखाते हैं। यक्ष-प्रश्न अथवा ब्रह्मोद्य वेदों में यक्ष का एक अंग माना जाता है, इसमें कुछ पहेलोबुझौवल जैसी चीज होती है। महाभारत में एक जलाशय के किनारे एक यक्ष ने पांडवों से प्रश्न पूछे हैं। पहले चार पांडव उन प्रश्नों का उत्तर न दे सकने के कारण मर गये, अंत में युधिष्टिर ने प्रश्नों का उत्तर दिया और अपने भाइयों को पुनरुज्जीवित कराया। सिर आने वाला देवता अथवा पीर स्वयं प्रश्न नहीं पूछता। उससे प्रश्न पूछे जाते हैं, और ये सभी प्रश्न खोर के निराकरण के उपाय, सन्तान आदि प्राप्त करने के पउाय और भविष्य के ज्ञान के संबंध में होते हैं। अतः वैदिक अथवा पौराणिक यक्ष-

प्रश्न से उसका संबंध ठीक-ठीक नहीं बैठता। यह स्पष्ट ही तांत्रिक अवशेष विदित होता है। देवता के सिर आने का अभिप्राय है उस देवता का सिद्ध होना, प्रत्यक्ष होना। सिद्ध या तांत्रिक जिस प्रकार सिद्ध हुए देवता से अपनी कामना-पूर्ति की याचना करता है, वैसी ही याचना यहाँ देवता से की जाती है।

इस विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि जाहरपीर या गुरू गुग्गा पर 'यक्ष-पूजा' का कुछ प्रभाव तो अवश्य है, पर वह आया उस जैसे अन्य प्रभावों के साथ लगकर ही है। यक्ष की अपेक्षा तो प्रेत-पूजा से इसका विशिष्ट संबंध प्रतीत होता है, प्रेत ही दूसरे के शरीर में आवेश के द्वारा अपना अभीष्ट पूरा करता है। 'पीर' वस्तुतः प्रेत ही होजाता है, क्योंकि मृत्यु के उपरान्त ही सिर पर आकर अपना अस्तित्व बताता है और अपनी पूजा चाहता है। प्रेतात्मा का संबंध भी वृक्षों से होता है।

यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि कुछ विद्वानों की दृष्टि में प्रेतात्मा विषयक विश्वास भी यक्ष-मत का ही परिणाम है। इस संबंध में कुमार स्वामी के ये शब्द सामने आते हैं:

"In fact the idea of alternate human and Spirit birth, the idea, in fact, of Sansara seems to be inseparably bound up with the yaksha theology."

नागों और यक्षों का घनिष्ठ संबंध है। दोनों ही का स्वरूप एक दूसरे में घुलमिल गया है। अतः यह स्वाभाविक है कि जिस सिद्ध पीर अथवा वीर का नागों से संबंध हो, उसके पाषंड में यक्ष-प्रभाव के अवशेष भी परिलक्षित हों।

वीर पूजा :

सिर आने की प्रक्रिया से ही नहीं 'वीर पूजा' के भाव से भी जाहरपीर अथवा गुरू गुग्गा को यक्ष-परंपरा की पूजा में मानना होगा। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि यह 'पीर' शब्द ही वीर का रूपान्तर है और यह 'वीर' शब्द वह 'वीर' है जो 'यक्ष' के लिए उपयोग में आता था। डा० वासुदेवशरण जी ने 'बरमवीर' या 'ब्रह्मवीर' से लेकर न जाने कितने वीरों का उद्घाटन काशी विश्वविद्यालय के गोंड़े में किया है। ब्रह्म भी 'यक्ष' का ही नाम था। केनोपनिषद् में प्रकट होने वाला 'यक्ष' था, उसे उमा हेमवती ने ब्रह्म नाम दिया था। इन वीरों के थान जहाँ तहाँ बने मिलते हैं। ये वीर चौंसठ योगिनियों के साथ गिनती पर चढ़कर 'बावन' होगये। यहाँ पर यह बावन "बावन" (५२) संख्या-सूचक से अधिक आकार द्योतक "बौने" का समानार्थी विदित होता है, और यह यक्ष वामन ही है। वामन वीरों के फिर तो नाम भी गिनाये गये हैं। वीर विक्रमाजीत ने इन बावन वीरों को सिद्ध करके वश में कर लिया था, वस्तुतः विक्रमादित्य ने सभी विद्याएँ सीखीं थीं। वह यक्ष–विद्या, अथवा विद्याधर विद्या का पंडित था। तभी 'वीर' कहलाता है। यह वीर विद्याधर है, यक्ष है, यह वह वीर नहीं जो अंग्रेजी 'हीरो' का पर्यायवाची है। स्पष्ट ही यहाँ वीर विषयक दो परंपराएँ दिखायी पड़तीं हैं:

१. वीर : यक्ष-परंपरा अथवा विद्याधर-परंपरा

२. वीर : शूरवीर (हीरो) परंपरा*

---

*वीर पूजा के संबंध में अलक्जेंडर कनिंघम महोदय ने (देखिये-आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इंडिया–खण्ड १७ पृ० १३६ पर 'डेमनवरशिप इन नार्दर्न इण्डिया) बहुत विस्तार के साथ लिखा है। इनके मत से प्रेत, भूत, बैताल, पिशाच, बीर तथा डाक पर्यायवाची ही हैं। 'बीर' शब्द तो इस अर्थ में आपके मत से भारत भर में प्रचलित है। आपका अनुमान है कि "पहले पहल संभवतः इसका प्रयोग केवल उनके लिए होता था जो युद्ध में काम आते थे। क्योंकि वीर, लेटिन के vir वीर की भाँति 'शूरवीर' (hero) का ही द्योतक है। दक्षिण में युद्ध में काम आनेवालों के स्मारक की शिलाएँ 'वीर-कल' अथवा 'शूरवीर शिला' कहलाती हैं। कनिंघम साहब ने बताया है कि आज 'वीर-पूजा' में केवल युद्ध-हत वीरों को ही पूजा नहीं, बीर-पूजा उस व्यक्ति के भूत-प्रेत की पूजा है जो किसी भयानक दुर्घटना से मौत का शिकार हुआ है, अथवा जिसकी अकाल मृत्यु हुई है। षडयंत्र से, दैवयोग से, विष अथवा रोग से जिसकी अकालमृत्यु हुई हो, वे स्त्रियाँ जिनकी प्रसव वेदना से मृत्यु हुई हो, जिनको किसी अपराध में मृत्यु दण्ड मिला हो, जिनको शेर-चीते ने मार डाला हो, बिजली गिरने से मर गये हों, अथवा अन्य किसी मर्मान्तक घात से जिनकी मृत्यु हुई हो; इन सभी के प्रेतों की पूजा होती है–और ये वीर कहलाते हैं।

ये 'वीर' अपनी मृत्यु के स्वरूप से नाम के अनुकूल विख्यात होते हैं—

ताड़-बीर—ताड़ वृक्ष से गिर कर मरने वाले का प्रेत

बाघत-बीर—बाघ से मारे जाने वाले का प्रेत

बिजलिया बीर—बिजली से मारे जाने वाले का प्रेत

नागया बीर—सर्पदंश में मारे जाने वाले का प्रेत

प्रसव वेदना अथवा प्रजनन में मर जाने वाली स्त्री का प्रेत 'चुड़ैल' कहलाता है।

यह प्रेत-पूजा उत्तर भारत के प्रत्येक भाग में विद्यमान है। प्रायः प्रत्येक गाँव में एक प्रेत वीर होता है, बहुतों में तो तीन या चार तक हैं। इसका इतना विस्तार है कि मुसलमान गाजी भी इसके क्षेत्र में आ गये हैं। बहराइच के विख्यात शहीद सालार बहुधा ग़ाज़ी पीर कहलाते हैं। इनकी कब्र पर हिन्दू-मुसलमान दोनों ही जाते हैं।

कनिंघम साहब का एक निष्कर्ष यह भी है कि जिन मृतात्माओं के प्रेतों की पूजा होती है वे अधिकांश आदिम जातियों के पुरखे हैं।

बीरों की पूजा में सर्वत्र फूल-फल, पक्षी, मेमने, घंटे, चढ़ाये जाते हैं। हाथी और घोड़ों की मृण्मूर्तियाँ चढ़ायीं जाती हैं, और आदमी मंत्र गाते हैं।

वीरों के मन्दिर मिट्टी के नीचे चबूतरे होते हैं जिन पर मिट्टी की पिंड़ियाँ या फार बने रहते हैं, इन पर सफेदी पुती होती है, और लाल धारियाँ पड़ीं रहतीं हैं। यह चबूतरा बहुधा पेड़ों के नीचे होता है।

कनिंघम साहब ने बताया है कि यह वीर-पूजा स्थानीय प्रेतों की ही होती है।

पं० झाबरमल्ल शर्मा जी ने पंच पीरों पर विचार करते हुए[३८] उन्हें उस वीर परंपरा के आधीन माना है जो दूसरे वर्ग में आते हैं, और 'हीरो वरशिप' के क्षेत्र में हैं। इस दूसरी वीर-परंपरा से ही 'अश्व' का घनिष्ठ संबंध होता है।[३९] गूगा

और आस-पास एक-दो गाँवों तक सीमित रहती है। पर सभी प्रेतों में तीन प्रेतों की पूजा स्थानीय सीमाओं को लांघ गयी है, और काफी विस्तृत प्रदेश में ये वीर पूजे जाते हैं—ये वीर हैं: गूगा चौहान, हरशू बाबा, तथा हरदौर लाल।

इस विवरण से स्पष्ट है कि कनिंघम महोदय गूगा चौहान की पूजा को मात्र वीर या प्रेत पूजा मानते हैं। पर जैसा गम्भीर अध्ययन से विदित होगा कि यह आंशिक सत्य ही है।

३८. दे० शोध पत्रिका, भा० १ अ० ३ सितं १९४७ पृ० १४२-१४३ तथा मरु-भारती, वर्ष ३, अंक ३, अक्टूबर १९५५ पृ० १९।

३९. **लोकवार्ता में अश्व—**

कथा सरित्सागर में 'विदूषक' की कहानी में उल्लेख है कि जब राजा आदित्यसेन के घोड़े ने एक जगह ठोकर खायी तो तीर की तरह वह राजा को ले उड़ा और विंध्य पहाड़ियों के दुर्गम जंगल में जाकर रुका। वहाँ घबड़ाये हुए राजा ने घोड़े के पूर्व जन्म को जानने के कारण—उसे दण्डवत करते हुए कहा:—

"तुम देवता हो; तुम्हारे जैसे प्राणी को अपने स्वामी से घात नहीं करना चाहिये। मैं तुम्हें अपना रक्षक मानता हूँ। मुझे किसी सुखद मार्ग पर ले चलो।" जब घोड़े ने यह बात सुनी तब उसे बहुत खेद हुआ······और उसने मनतः राजा की बात मान ली; क्योंकि श्रेष्ठ घोड़े दैवी होते हैं।"

(The Ocean of Story. Vol. II pp. 515)

पेंज़र महोदय ने यहाँ पाद टिप्पणी में घोड़ों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी दी है। उसका आवश्यक अंश यह है :—

"ग्रिम ने अपनी **ट्यूटानिक मायथालाजी** (दे० स्टाल्लीब्रस्स का अनुवाद, पृ० ३९२) में लिखा है—वीरों (heroes) को पहचानने के लिए एक मुख्य लक्षण यह है कि उनके पास बहुत समझदार घोड़े होते हैं, जिनसे वे बातें भी करते हैं। एचील्लीज़ (Achilles) के ज़ंथॉस (Xanthos) तथा वालियोज से बातें करने की घटना की पूर्ण तुल्यता सुन्दर वेयर्ड के कार्लिङ्ग उपाख्यान (Legend) में मिल जाती है।·········ग्रिम ने योरोपीय साहित्य से और भी बहुत से दृष्टान्त दिये हैं। कुमारी स्टोक्स के संग्रह की बीसवीं कहानी की तीसरी टिप्पणी भी देखिये और 'ग्रीकिस्से मार्के' (Griechische Marchen) में वर्नहर्ड स्किम्दत की टिप्पणियाँ भी पृ० २३७ पर। पूर्वकालीन आर्यों के लिए योद्धेय अश्वों की बहुत उपयोगिता थी, अतः वैदिक-काल से ही हमें घोड़ों की पूजा होती मिलती है। देखिए ऋ० ४.३३.। अश्व-पूजा तथा अश्ववलि पर, क्रुक की फोकलोर आव नार्दर्न इंडिया, खंड २, पृ० २०४-२०८ की टिप्पणियाँ पठनीय हैं। स्पेन निवासियों द्वारा जब मध्य अमेरिका के इंडियनों को सबसे पहले घोड़े मिले तब वे परा-प्राकृतिक माने

का अपने लीले बछेड़े या जवाड़िया से बहुत ही घनिष्ठ संबंध है। ब्रज की लोकवार्त्ता में यह घोड़ा भी पीर माना गया है क्योंकि जिस प्रकार गुरू गुग्गा गूगल से उत्पन्न हुए उसी प्रकार यह घोड़ा भी उत्पन्न हुआ, और दोनों एक दिन एक समय उत्पन्न हुए। इससे दोनों का संबंध सगे भाइयों जैसा था। आज भी जिन्हें गोगा के दर्शन गोगामेंड़ो में होते हैं, उन्हें वे घोड़े पर चढ़े ही दिखायी पड़ते हैं, क्योंकि वे घोड़े के साथ ही उस भूमि में समा गये थे।

जहाँ पीर से वीर पर पहुँचकर हम यक्ष वीरों की परंपरा में पहुँचना चाहते थे वहां हमें 'अश्व' के सहारे दूसरे प्रकार के वीरों के वर्ग में पहुँचना पड़ता है।

अतः अब हम कह सकते हैं नाग-यक्ष समुदायों से रूपान्तरित बौद्ध धर्म की वह शाखा जो आदिम जातियों के संपर्क में आयी और जो तंत्र से होकर गोरख संप्रदाय में सम्मिलित हुई वह ऐतिहासिक वीरपूजा और उसके उपाख्यान से मिलकर गुरू गुग्गा या जाहरपीर की परंपरा बनी। मुसलमानों का प्रभाव भी इस पर पड़ा या दूसरे शब्दों में मुसलमानों ने भी इसे ग्रहण कर लिया। यह मुसलमान जोगियों के माध्यम से हुआ। इस प्रकार इस पाषंड ने सभी धार्मिक प्रवर्त्तनों का प्रभाव ग्रहण किया और उनका कोई न कोई अवशेष अपने पूर्ण पाषंड में बनाये रखा।

इसी के साथ एक और विशिष्ट बात इस पाषंड के साथ गुँथी हुई है। राजस्थान के इतिहासकार यद्यपि पंचपीर को पंचवीर मान कर राजस्थान के पांच बड़े बड़े वीर-पुरुषों के नाम गिनाते हैं, पर गुरू गुग्गा के परिवार के, लोकवर्ता में मान्य पंचपीर कोई और ही हैं: वे हैं

१. लीला : लीली घोड़ी का
२. नरसिंह : ब्राह्मणी का पुत्र
३. भज्जू : चमारी का पुत्र
४ रतनसिंह : भंगिन का पुत्र
५. जाहरपीर : बाछल का पुत्र चौहान

ये पाँचों एक दिन, एक समय, एक ही विधि से उत्पन्न हुए थे। गुरू गोरखनाथ के गूगुल से।

जाते थे और वैसी ही उनकी पूजा होती थी। धर्मगाथा (या पुराण-कथा-मायथालाजी) में घोड़े के सम्बन्ध में जानकारी के लिए ट्यूटानिया मेंनेगेलीन; जूलाजिकल मायथालाजी, खंड १, पृ० २६०-२६६ तथा ३३०-३३५ में डे गुबेरनाटिक, "अबेर ग्लौबे (Aberglaube) में पाउली-विस्सोवा, पृ० ७६ फोक-लोर, खंड, १६, १६०८, पृ० ६५ पर क्रुक की होमेरिक फोक-लोर पर कुछ टिप्पणियाँ भी ध्यान देने योग्य है।"

सर्प-निवारण की क्रिया के साथ भी अश्व का सम्बन्ध भारत में वैदिककाल से विदित होता है, गृह्य सूत्रों में सर्पवलि का विधान है। यह 'सर्पवलि' नामक अनुष्ठान चौमासे भर होता है। इस अनुष्ठान में कुछ मंत्रों का उच्चारण भी होता है, जिसमें एक श्वेत प्राणी का भी आह्वान किया जाता हैं। इस श्वेत प्राणी का उल्लेख ऋग्वेद में आता

इस पंचपीरी विधान में एक अनोखी सामाजिक क्रान्ति के विधान के बीज मिलते हैं। सबसे उच्च वर्ण ब्राह्मण भी इन पंचपीरों में सम्मिलित है। सबसे निम्न-वर्ग भंगी भी यहाँ हैं। चमार भी सम्मिलित है और राजपूत भी। एक वर्ण इसमें नहीं है, वैश्य वर्ण। इसी के साथ एक यह तथ्य भी दृष्टव्य है कि वैश्यों से विशेषतः अग्रवालों से गोगाजी की मानता संबंधी नाता बहुत घनिष्ठ है।[४०]

जाहरपीर के स्वरूप को समझकर यह कहा जा सकता है कि यह कोई संप्रदाय अथवा मत नहीं, क्योंकि उसकी कोई दार्शनिक व्याख्या करने वाली संस्था नहीं। इसे तो एक 'पाषंड' (जिसे अंग्रेजी में कल्ट कहते हैं) मात्र ही माना जा सकता है। गुरू गुग्गा की मान्यता किसी आध्यात्मिक अभिप्राय से नहीं की जाती। गुरू गुग्गा की शरण में मोक्ष-प्राप्त करने अथवा ईश्वर-दर्शन की अभिलाषा से कोई नहीं जाता। इसकी समस्त मान्यता का तत्व यही है कि इसकी पूजा से जीवन के विघ्नों से मुक्ति मिलने की संभावना है। साथ ही संतान, धन, धान्य में भी श्रीवृद्धि होगी। इस दृष्टि से पंचपीरों में विविध वर्णों के समावेश से किसी दार्शनिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक समस्या पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने की बात इससे सिद्ध नहीं होती। जिस युग में इस संप्रदाय का यह स्वरूप निश्चित हुआ, उस युग की मनोवृत्ति का इस पाषंड के स्वरूप निर्माण में किसी न किसी सीमा तक हाथ अवश्य है। अपने इस स्वरूप से

है। यह वह घोड़ा है जो आश्विनी कुमारों ने पेदु (Pedu) को दिया था इसको इसी कारण 'पैड्व' भी कहते हैं। यह सर्पों को अपने खुरों से कुचलता है। विंटरनिज ने इसे 'सौर अश्व' (Solar Horse) बताया है।

४०. प्रो० सत्यकेतु विद्यालंकार डी० लिट०, (पेरिस) 'अग्रवाल जाति का इतिहास' नामक पुस्तक के छठे परिशिष्ट की दूसरी टिप्पणी में 'गूगापीर' पर बताते हैं कि :—

अग्रवाल जाति का गूगापीर के साथ विशेष संबंध है। प्रायः सभी प्रान्तों के अग्रवाल गूगापीर को मानते हैं। और भाद्र के महीने में जब गूगा का मेला लगता है, तो उसमें बड़े उत्साह से सम्मिलित होते हैं। जो लोग इस अवसर पर गूगा की समाधि पर पूजा करने के लिए जा सकते हैं, वे वहाँ जाते हैं, जो समाधि पर लगे मेले में शामिल नहीं हो सकते, वे अपने यहाँ ही गूगा का सम्मान करते हैं। गूगा की पूजा के तरीके सब स्थानों पर अलग अलग हैं। मध्य-प्रान्त के नीमार नामक स्थान पर गूगा की पूजा के लिए तीस हाथ लम्बा एक डंडा लेकर इस पर कपड़े और नारियल बाँधे जाते हैं। श्रावण-भाद्रपद में प्रायः प्रति दिन भंगी लोग इस डंडे का जुलूस शहर में निकालते हैं। लोग उसके सम्मुख नारियल भेंट करते हैं। अनेक अग्रवाल उसकी पूजा के लिए सिन्दूर आदि भी देते हैं। कुछ उसे अपने घर पर विशेष रूप से निमंत्रित करते हैं और रात भर अपने पास रखते हैं। सुबह होने पर अनेक भेंट उपहार के साथ उसे विदा दी जाती है। संयुक्त प्रान्त, बिहार, पंजाब आदि में भी गूगा की पूजा के लिए इससे मिलती जुलती पद्धति प्रचलित हैं।

इस पाषंड ने एक बात तो निश्चय ही सुलभ कर दी कि जाहरपीर की सीमा में मेले आदि के अवसर पर, ऊँच नीच की पारस्परिक छूआछूत नहीं रही।

निष्कर्ष :

१. गोगाजी, गुरू गुग्गा अथवा जाहरपीर एक पाषंड हैं, संप्रदाय नहीं।

२. इसका आनुष्ठानिक संबंध जोगियों से है। इन जोगियों का गोरख-संप्रदाय से दूर का संबंध रहा।

३. जोगियों ने गोरख से संबंध रखते हुए गोगाजी के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ बौद्ध धर्म की उस परंपरा के पाषंड को अपनाया जिसमें यक्ष-नाग-संस्कृति के अवशेष प्रबल थे, और जो आगे तंत्र, नाथ और मुस्लिम पीर परंपरा से प्रभावित हुई। किन्तु जिसकी आन्तरिक आत्मा 'एनिमिज्म' की थी।

४. ऐतिहासिक व्यक्तित्व के कारण 'वीर' पूजा के भाव इससे संबद्ध हुए।

५. गोगाजी के परिकर के 'पंचपीर' पंचायनी परंपरा के हैं। पंचपीरी परंपरा के तो अकेले गोगाजी हैं।

६. इतने समस्त प्रभावों के होते हुए भी इस पाषंड का संबंध आदिम ऐनिमिस्टिक तत्वों से है। अनुष्ठान का समस्त विधान यक्ष-नागों से संबंधित चित्र-दर्शन, सिर-आना, चाबुक, जंगल में मढ़ी, ये सभी तत्व प्रागैतिहासिक काल से चले आने वाले टोटेमिस्टिक संप्रदायों[४१] के अवशष हैं। यद्यपि आज इसका संबंध केवल भारत भूमि से नहीं, विश्व भर में ऐतिहासिक और टोटेमिस्टिक अवशेष जहाँ जहाँ मिलते हैं, गोगाजी विषयक अनुष्ठानों और तत्त्वों से मेल बैठ जाता है।

७. इस प्रकार यह पाषंड भारत के प्राचीन और नवीन सभी सांस्कृतिक विशेष सूत्रों को आज भी सँजोये हुए चल रहा है।

गुरू गूगा की कथा

गुरू गूंगा, गुग्गा अथवा गोगा की कहानी के कई रूप प्रचलित हैं। वोगेल ने लिखा है कि गूगा बागड़ देश का राजा था। यह चौहान जाति का वीर राजपूत था और पृथ्वीराज का

---

४१. Totemism is the magico-religious system charactristic of tribal Society. Each clan, of which the tribe is composed, is associated with some natural object, usually a plant or animal which is called its totem. The clansmen regard themselves as akin to their totem species and descended from it [Studies in Ancient Greek Society—George Thomson New Edi. 1954. P. 36].

समकालीन था[४२]। एक अन्य परंपरा से यह अपने पैंतालीस पुत्रों और साठ भतीजों के साथ महमूद गजनी से युद्ध करते हुए मारा गया। एक तीसरी परंपरा के अनुसार यह औरंगजेब के समय में था। यथार्थ में इसके इतिहास के संबंध में कुछ भी निश्चित ज्ञान उपलब्ध नहीं। हाँ, लोकवार्त्ता का तानाबाना अवश्य पुरा हुआ है। हम सुनते हैं कि कैसे गुरू गोरखनाथ की कृपा से यह बाछल से उत्पन्न हुआ, यद्यपि काछल ने षड्यन्त्र करके बाधा डाली थी, कैसे इसके धूर्त्त मौसरे भाई अरजन और सरजन ने इस पर आक्रमण किया, और वे युद्ध में हारे और मारे गये, कैसे मा ने इसे शाप दिया और अन्ततः यह भूमि में समा गया, और कैसे यह मृत्यु के उपरांत भी अर्द्धरात्रि होने पर अपनी पत्नी से मिलने आता था। इसका भक्त घोड़ा जवाड़िया ('जौ से उत्पन्न') इसके अद्भुत साहसों में महत्वपूर्ण भाग लेता है।[४३]

अनेकों कहानियों में नागों से इसका घनिष्ठ सान्निध्य माना गया है। लुधियाना में तो यहाँ तक कहा जाता है कि पहले यह साँप था, 'एक राजकुमारी से विवाह करने के लिए इसने मनुष्य का रूप धारण किया। बाद में अपना मूलरूप ग्रहण कर लिया।[४४] कुछ कहते हैं कि पालने में यह जीवित नाग का मुख चूसते देखा गया था। बहुत सी कथाओं में, इसका बासक नाग से संबंध बतलाया गया है जिसने इसे सिरियल (जो सुरैल, सुरजिल या छरिआल भी कही जाती है) से विवाह करने में सहायता दी थी।

राजा ने अपने वचन-भंग करके अपनी लड़की गूगा को नहीं दी, तो वह बन में गया, वहाँ बांसुरी बजाकर पशु-पक्षियों को मोह लिया। वासुकि नाग भी मुग्ध हुआ और उसने तातिग नाग को गूगा की सेवा में नियुक्त कर दिया। गूगा ने तातिग नाग को धूपनगर भेजा। यह नगर कारूं देश में था, जो जादूगरों का देश था। सिरियल को एक बाग के तालाब में नहाते देख कर तातिग सर्प बन गया। और सिरियल को डस लिया। फिर ब्राह्मण का वेष धारण करके सपेरा बन गया। राजा के सामने पहुँचाये जाने पर उसने राजा से यह लिखवाकर ले लिया कि यदि सिरियल ठीक हो गयी तो वह सिरियल का संबंध गूगा से कर देगा। तब उसने नीम का लहरा लेकर मंत्र पढ़ते हुए, अपने पैर के अँगूठे से सिरियल का विष चूस लिया। राजा ने सातवें दिन विवाह की तिथि निश्चित

४२—पृथ्वीराज के समकालीन होने का उल्लेख सर हेनरी ईलिअट ने भी किया है। 'He is said to be contemporary of Prithviraj.........;'

देखिये 'मैमोयर्स आफ दी हिस्ट्री, फोकलोर एण्ड डिस्ट्रीव्यूशन आव द रेसैज आव द नार्थ वैस्टर्न प्रोविन्सेज आव इंडिया' पृष्ठ संख्या २५५।

४३—पंजाब की पहाड़ियों में 'गूगा' के घोड़े का नाम 'नीला' है। यह उसी दिन उत्पन्न हुआ था जिस दिन गूगा हुआ।

This and some other details of his story seem to be reminiscences of Buddhist lore. ISL.

४४—Ludhiana District Gazetteer, 1904 (Lahore 1907) pp. 88 f.

की। इतना कम समय होते हुए भी, गूगा चमत्कार पूर्वक समय से ही फेरों के लिए धूपनगर पहुँच गया।[४५]

चम्पा में प्रचलित कहानी में बासक नाग गूगा का मित्र नहीं, वरन् प्रति-द्वन्द्वी है। जब नायक एक बड़ी बरात के साथ अपने भावी ससुर की राजधानी (ससुर बंगाल का राजा बताया गया है) को चला तो बासक और उसके दल ने उसका सामना किया, जिसमें नाग हार गये और नष्ट हो गये।[४६] [Indian Serpent Lore by Vogel pp. 26 ff.]

यों तो हम ऊपर कई कथाओं का उल्लेख कर चुके हैं, जिनमें गोगाजी के संबंध में अलग-अलग विवरण दिया हुआ है। प्रत्येक वृतान्त में कहा गया है कि गोगाजी पृथ्वी में समा गये थे। क्यों समा गये थे? इसके भी दो कारण दिये जाते हैं। एक तो यह कि माता से अभिशप्त होकर उन्होंने पृथ्वी में समा जाने का विचार किया। वे सिद्ध थे। अतः पृथ्वी ने उन्हें स्थान दिया। दूसरा यह है कि गुरु गोरखनाथ ने अथवा स्वयं पृथ्वी ने उनसे कहा कि पृथ्वी में तो मुसलमान ही स्थान पा सकते हैं, तो गोगाजी भागकर अजमेर[४७] गये, मुसलमान बने और तब मेड़ी पर आये जहाँ पृथ्वी फट गयी और वे उसमें समा गये। अभी तक गोगाजी के जिन वृत्तों का वर्णन हुआ है उनसे बिल्कुल भिन्न वृत्त पं० झावरमल्ल शर्मा जी ने 'मरु-भारती' वर्ष ३, अंक ३, अक्तूबर १९५५ 'राजस्थान के लोक-देवता' (पृष्ठ १०-११) में दिया है। इससे भी पूर्व 'शोध-पत्रिका' में उन्होंने विस्तारपूर्वक गोगाजी के वृत्त पर विचार किया है। शोध-पत्रिका के निबंध से आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

"प्राप्त गीतों और परंपरागत बातों के आधार पर किये हुए अन्वेषण से यह प्रकट है कि, गोगाजी चौहान दद्रेरा के राव थे और उनके अधीन ८४ गाँव थे। पिता का नाम सूरजपाल और पितामह का नाम झींवा था। राठौड़ धांधलजी के पुत्र प्रणवीर पाबूजी के बड़े भाई बूड़ाजी की पुत्री केलणबाई के साथ गोगाजी का विवाह हुआ था। ककिया श्वसुर होने पर भी पाबूजी गोगाजी से अवस्था में छोटे थे। केलणबाई के विवाह में कन्यादान के समय पाबूजी ने "राती धोली सांढ साँढ़िये[४८]" देने का संकल्प किया था। केलणबाई के ससुराल जाने पर जब पाबूजी के संकल्पित साँढ साँढिये नहीं पहुँचे, तब उसकी अन्तःपुर में हँसी उड़ायी जाने लगी। इससे केलणबाई को बड़ा दुःख हुआ। तानों को सुनते-सुनते वह तंग आगयी। अतएव उसने अपनी कष्ट-कथा सारालंभ पाबूजी को लिखकर उनके संकल्प की याद दिलायी। इस पर पाबूजी दूर-देशस्थ लंक-थली[४९] से जहाँ के उत्कृष्ट श्रेणी के ऊँट-ऊँटनी प्रसिद्ध थे, बड़े साहस के

४५—R. C. Temple-Legends of Panjab. Vol. I pp. 121 ff.

४६—कुलू में जो वृत्त है उसमें गूगा की दुलहिन सूरयर नागनी वासकी नाग की बेटी थी।

४७—कनिंघम ने आर्क्यालजिकल रिपोर्ट में 'मक्का' लिखा है। (ले०)

४८—ऊंटनी और ऊंट।

४९—लंका-थली सिन्ध में एक इलाका है, वहाँ की सांड़नी बहुत अच्छी होती थी। रिपोर्ट मर्दुमशुमारी मारवाड़—पृष्ठ २७।

साथ एक टोला (साँढ साढियों का समूह) घेर लाये और गोगाजी की भेंट कर दिया। गली-गली में ऊँट-ऊँटनी फैल गये। इस प्रकार पाबूजी अपने वचन का पालन कर यशस्वी बने।

गोगाजी की माता का नाम बाछलदे और मौसी का नाम आछलदे था। आछलदे के गर्भ से सुरजन-अर्जुन दो भाइयों का जन्म हुआ था। समीपवर्ती गाँव में उनका निवास था। जमीन-जायदाद को लेकर गोगाजी से उनका विरोध हो गया। इसके परिणाम में बादशाह के दरबार में दिल्ली पहुँच कर वे दोनों पुकारे और खास बादशाह को फौज चढ़ा लाये। फौज ने आक्रमण किया और गौएँ घेर लीं, जिसके लिए गोगाजी ने युद्ध किया। उनका 'बाला' भानजा भी मार्ग में साथ हो गया। दोनों ओर से घोर युद्ध हुआ। किन्तु गोगाजी ने गौएँ छुड़ा लीं। सुरजन-अर्जुन मारे गये। बहुसंख्यक योद्धा काम आये। जब गोगाजी की माता ने यह सुना कि, गोगाजी ने अपने मौसेरे भाइयों को मार डाला, तब वह क्रुद्ध हुई। गोगाजी युद्ध में घायल हो चुके थे। इसके बाद ददेरा[५०] का निवास त्याग कर गोगाजी मैड़ी[५१] चले आये और वहीं उनका देहावसान हुआ।"

इसी निबंध में पं० झाबरमल्लजी ने कुछ अन्य रूप भी गोगाजी की कथा के दिये हैं। जिनमें से एक श्री मुंशी कन्हैयालाल माणिकलाल-रचित 'Gurjar Problems' के आधार पर लिखित 'भारतीय विद्या', जनवरी, १९४६ में प्रकाशित एक नोट का सारांश है। वह यह है कि 'गोगा' चौहान को गूजर अपना एक पूर्व पुरुष मानते हैं। गुजरात में प्रति वर्ष गोगाराव का जुलूस निकाला जाता था जो पिछले ३० वर्षों से बन्द हो गया है। वहाँ गोगाराव का एक मिट्टी की बड़ी मूर्ति बना कर जुलूस के साथ गाँव के तालाब या नदी में पधरायी जाती थी। गोगा चौहान की कहानी एक बूढ़े सुलतान के कथनानुसार यह है कि "गोगा चौहान एक राजा का पुत्र था। माता के गर्भ से उसका जन्म होने के साथ ही एक साँप का जन्म भी हुआ था, जिसका पालन उसकी माता ने किया। गोगा बड़ा होने पर अपने सहजात भाई साँप को बहुत चाहता था। जब वह साँप गोगा को छोड़ कर जाने लगा, तब कह गया कि जब कभी आवश्यकता आ पड़े, तब मुझे बुला भेजना, मैं आऊँगा और तुम्हें बचाऊँगा। जब गूजर मुसलमान बन गये, तब गोगा को जाहिर 'पीर' कह कर स्वीकार कर लिया गया। अन्त में उस बूढ़े सुलतान द्वारा

---

५०. "ददेरा" नामक गाँव, इस समय बीकानेर राज्य के परगना राजगढ़ में है।

५१. "गोगा-मेढ़ी"—कस्बा नौहर से पूर्व की ओर ८ कोस के अन्तर पर अवस्थित है। हिसार एवं सिरसा जिले का समीपवर्ती स्थान होने के कारण गोगामेड़ी को Mehri के रूप में हरियाना जिले का गाँव समझने की भूल की जाती है। किसी समय यह चाहे हरियाने में रहा होगा, किन्तु इस समय तो बीकानेर राज्यान्तर्गत परगना नौहर का एक गाँव है।

साँप निकलने पर गुजरात में गाया जाने वाला निम्नलिखित गीत भी उद्धृत किया गया है।

१. दम मुदम गुगां मांडली
दम गाना सुलतान
गूगे हेंदु डेरे सेंदु
बोलन भीये नाग

२. एरे मुण्डे मातरी
नागे हाथ न पा
बिछु-परिया ए गंदला
मत खावन कायजा

३. ज्यारत आवन ज्यारती
लेणा गुग का नाम
जिस दम गुगा जामिया
ओ सुलखाणी थाम[५२]"

एक दूसरा वर्णन राजस्थान के महाकवि कविराजा सूर्यमलजी मिश्रण के वृहद ग्रंथ वंश-भास्कर की तृतीय राशी के ३२-३५ मयूखों में दिये गये वृत्त के अनुसार है। "वाणासुर के पुत्र रावण को मार कर अजमेर बसाने वाले अजयपाल चौहान के परपौत्र भीम[५३] का पुत्र गोगा चौहान था। उसकी माता का नाम मति था। वह विदर्भ के राजा की पुत्री थी। मति की छोटी बहिन नीति थी, जो गोड़ के राजा जयदेव को विवाही थी। उसके गर्भ से सुर्जन व अर्जन नामक दो भाइयों का जन्म हुआ था। राजकुमार गोग शुक्ल पक्ष के चन्द्र की भाँति कला को बढ़ाता हुआ सोलह वर्ष की अवस्था में पहुँच कर अपने लिए निर्दिष्ट अशोक घोड़े पर आरूढ़ हो शिकार के लिये जाने लगा। सिंह और वराह उसकी शिकार के लक्ष थे। इसके बाद उसने रावणासुर के पुत्र जटासुर-वकासुर को उनके संगी साथियों समेत मारा। उस लड़ाई में गोग के शरीर पर छत्तीस घाव आये थे।

५२—Gurjar Problems by K. M. Munshi, भारतीय विद्या, जनवरी सन् १९४६।

५३—अजयपाल चौहान
|
भटदलन
|
अनङ्गराज
|
भीम
|
गोग

पुत्र की इस विजय पर राजा भीम ने बहुत बधाइयाँ बाँटी और दान पुण्य किया। तत्पश्चात चन्द्रवंशीय बंगीय राजा श्रीधर की गुणनिधाना कन्या प्रभा के साथ गोग का विवाह सम्पन्न हुआ और राजा भीम ने अपनी रानी विदर्भ-कुमारी के साथ बन में योग मार्गावलम्बन पूर्वक ब्रह्मरंध्र मार्ग से देह त्याग किया।

अठारह वर्ष की अवस्था में गोग चौहान पिता की गद्दी पर बैठा। उसका पुत्र शुभकरण भी पिता के समान ही विक्रमशाली हुआ। गोग को तीर्थराज प्रयाग में गोतमवंशी कृपाचार्य से शास्त्र और शस्त्र-विद्या सीखने का सुयोग मिला। गोग का नाना निःसन्तान था, इसलिए उसने अपना राज्य गोग को सुयोग्य देख कर सौंप दिया और स्वयं अपनी रानी सहित वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर परलोकवासी हुआ। विदर्भाधिपति गोग के मातामह (नाना) की कनिष्ठा कन्या नीति गोड़ राजा जयदेव को ब्याही गयी थी। उसके दो पुत्र सुर्जन और अर्जुन गोग के मौसेरे भाई थे। जब गोग के इन दोनों मौसेरे भाइयों ने सुना कि नाना का देहान्त हो गया और उसका राजपाट गोग ने ले लिया, तब वे दोनों गोग के पास पहुँचे और साभिमान बोले—हमारा गोड़ कुल क्या निर्बल है कि तुमने अकेले ही नाना का धन-धाम सब कुछ ले लिया। उस पर तो तुम्हारा और हमारा समान अधिकार है। इसलिए आधा विभाग हमें दो। तुम कर्णाटक के राजा हो तो हम भी कंबोज के अधीश्वर हैं।

यह सुन कर गोग ने कहा कि, पहले आते तो तुमको कुछ मिल जाता। नाना जी ने तुमको बुलाया नहीं, इसलिए मैं तुमको कुछ नहीं दूँगा। नानाजी लोकान्तरित हो गये और अब तुम हिस्सा लेने आये हो? यदि दान लेना चाहो तो सब का सब दे दूँ! किन्तु उसमें बल-प्रकाश का, गर्जन-तर्जन का काम नहीं। इस कथनोपकथन के परिणाम में सुर्जन-अर्जुन गोड़ ने लड़ाई ठानी और उस लड़ाई में गोग चौहान ने उनको पराजित कर दिया। तब तो सुर्जन-अर्जुन दोनों भाई सब राजाओं के पास पुकार कर थक गये, किन्तु उनका कोई सहायक नहीं हुआ। अतएव यहाँ से निराश होकर प्रतिहिंसा की भावना से अटक नदी उतर कर वे ईरान के बादशाह अबूफरके दरबार में पहुँचे। उस बादशाह के पास बड़ी सेना थी। दोनों भाइयों ने उस प्रबल पराक्रमी यवन राज को गोग पर चढ़ाई करने के लिए उत्साहित किया।

अबूफर अपनी बड़ी सेना के साथ गोग चौहान पर आक्रमण करने के लिए अग्रसर हुआ। अपनी नाक कटा कर दूसरों को अपशकुन देने वाले की भाँति सुर्जन-अर्जुन गोड़ उसके साथ थे।

"लंघि सिन्धु सनामयों सरिता अबूफर साह आयउ।
और और न लूहि तोरस जोर सोर मही मचायउ।"

पाँच योजन (बीस कोस) का भू-भाग सेना से बादलों की तरह छा गया —यवनों की इस चढ़ाई का संवाद सुनकर और एक की पराजय सबकी पराजय समझी जायगी, तथा हमारी भूमि पर दुष्टों का अधिकार हो जायगा—यह विचार

कर गोग की सहायता के निमित्त बिना निमंत्रण ही—धर्मसम्मत नीति का अवलम्बन कर महामना राजा लोग एकत्र[५४] हो गये यथा—

"मिच्छ सों इक को बनै सु बनै समस्तन को पराजय
इक्क कारण एह ओ भूत्र जाय दुष्टन कै सु पै भय
यों बिचारि महीप सज्जित व्है भये सब आनि इक्कत"

....

इतने वीर योद्धाओं को अपनी पीठ पर उपस्थित देखकर गोग ने कहा कि आप क्यों लड़ें, पहले मुझे भिड़ने दीजिए। मुझे मार कर दुष्ट जब इधर को बढ़ें तब आप सब जूझें। यों गोग समुपस्थित ससैन्य राजाओं से वहीं ठहरे रहने का अनुरोध कर स्वयं रण के लिये सज्जित हुआ। उस समय वीरों का रूप बढ़ा और कायरों के मुख का पानी उतर गया। बादशाह अबूफर दो दिन का मार्ग एक दिन में ही तय कर सामने आया। उसने अपने तीस हजार घुड़सवार पहले ही गौएँ घेर लेने के लिए भेज दिये थे। गायों के घिर जाने पर त्राहि-त्राहि मची। पुकार सुनते ही गोग अपने अशोक घोड़े पर सवार होकर सजी हुई सेना के साथ चल पड़ा। पाँच कोस पीछा करके उसने यवनों की पीठ जा दबाई। बीस हजार शत्रुओं को मारकर उसने गोधन को छुड़ा लिया। इसके बाद भी चौहान दुश्मन को दबाये ही चला गया। गोग के भागिनेय बाल ने खूब हाथ दिखलाये। पीछे से वे राजा लोग भी गोग की सहायता पर आ पहुँचे। कुरुक्षेत्र में भारत की तरह बड़ी घमासान लड़ाई हुई। नर्मदा के उस पार तक मुसलमानों ने डटकर मुकाबला किया—किन्तु बाद में उनके पाँव उखड़ गये और वे भागने लगे। हिन्दुओं के शस्त्रों की मार खाते-खाते वे बागड़ होते हुए हरियाने पहुँच गये। हरियाने में पहुँचते ही राजाओं ने घेरा दे दिया। गोग ने झपट कर अबूफर पर वार किया जिससे

---

५४. गोग चौहान के सहायतार्थ बिना निमन्त्रण ही एकत्र हो जाने वाले राजाओं की नामावली वंश भास्कर के अनुसार इस प्रकार है :—

(१) विदर्भ की सेना के साथ हरिसेन का पुत्र बाल (गोग का भाग्नेय) (२) बंग देश के राजा का पुत्र प्रतर्दन (गोग का साला) (३) पटना का राजा सुव्रत। (४) अयोध्या के रघुवंशी राजा का पुत्र किन्नर (५) पांडव-वंशी नृपञ्जय। (६) शालीवाहन प्रमार का पुत्र जयसेन (७) प्रतिहार राजा सहल। (८) चोलाधिपति विदूखन का पौत्र विक्रम। (९) अर्बुद का चंद्रवंशी राजा सूर। (१०) कलिंग का राजा बीर राज। (११) केरल का राजा कुबेर। (१२) अंग का राजा चित्रसेन, (१३) सोरठ का राजा जयंत। (१४) साल्व का राजा शशिबिन्दु। (१५) डाहल का सुबाहु (१६) त्रिगर्त का जय (१७) कुन्तलेश्वर कर्मसेन (१८) मैथिल राजा प्रसेन (१९) तर्जिक का दुर्ग, (२०) सुवीर का प्रतीन, (२१) टकराज का केसरी (२२) मत्स्य देशाधिपति अर्जुन, (१३) चालुक्यवंशी सूकटक्षेत्र के राजा का पुत्र रणातिथि (२४) मद्रराज सुवर्म, (२५) मरु-महीप दुर्दम।

वंश भास्कर ७०३, ३४ वाँ मयूख, पृ० ७५५-५६

वह अपने घोड़े की रकाब में लटक गया। किन्नर ने अर्जुन गौड़ का सिर काट डाला सुर्जन भाग गया। हरियाने तक सभी म्लेच्छ मारे गये, और चौहान की जीत के नगारे बजने लगे। इस लड़ाई में गोग के पक्ष के वे सब राजा भी मारे गये, जिनके नाम पहले दिये जा चुके हैं। अपने बचे हुए सब राजाओं को एकत्र कर गोगा ने कहा कि अब हमारी भी जाने की अवधि आ गयी है। मेरा पुत्र शुभकरण अब वयस्क वीर है। उसके छोटे भाई १५ वीरगति पा गये। वंशभास्कर-कार के शब्दों में—

"अजित गती खट मित वरस,[५५] कलिजुग-जावतकाल।
दिन जिहिं जनम्यो ताहि दिन, पहुँच्यो नृप पाताल॥
निलय गोग चहुवान के, रचि जन-पद हरियान।
ताकों सब पूजत जगत, अब लग नृप चहुवान॥

....

गोग हि भूप प्रविष्ट गिनि नतिजुत रामनरेस।
पूजित जाहिर पीर कहि, कतिपय जवन विसेस॥
ताहि सर्पभय होत नहिं, वरनत जो यह बात।
सर्पहु गोग प्रभाव सुनि, जवी[५६] निलय[५७] तजि जात॥

वंशभास्कर-रचयिता-वर्णित गोग चोहान के चरित का यही सार है।

एक और वृत्त का उल्लेख उन्होंने ऐसे किया है:—

"सिरोही राज्य के रिटायर्ड लेंड रेवेन्यु ऑफिसर लल्लुभाई भीमभाई देसाई ने अपनी पुस्तक "चौहान कुल कल्पद्रुम" में पृथ्वीराज विजय और सिरोही राज्य के इतिहास से उद्धृत वंशावलियों में आये हुए चाहमान से ६ठी पीढ़ीस्थ गोपेन्द्रराज का ही नामान्तर गोगाराव अनुमान करते हुए लिखा है कि साँभर के चौहानों ने मुसलमानों के हमले में हर एक समय अपना वलिदान दिया है। बगदाद के खलीफा महमद बिन कासिम के साथ गोपेन्द्रराज उपनाम गोगाराव ने ११ लड़ाइयाँ लड़ीं और बारहवीं बार गौओं के रक्षणार्थ अपने ४३ पुत्रों के साथ मारा गया। उसकी राणी मेलणदे राठोड़ कन्या महासती थी। गोगाराव के पीछे उसकी ३५ राणियां सती हुईं। गोगाराव ने वि० सं० ७८२ में गढ़ साँभर में समर किया था। वर्त्तमान समय में इसकी गोगादेव के नाम से पूजा होती है। गोगाराव के युद्ध में वीर-गति-प्राप्त ४३ पुत्रों के विषय में एक "निशाणी" है—

"अचलो ऊदो, असपत, लालचंद, केशव लाड़ो।
प्रेमो, पीथल, दास, सदो, आसलमल्ल, छाँड़ो।

५५—६१३ वर्ष।
५६—जल्दी।
५७—घर छोड़ जाता है।

खेतसी, भीम, खगार, जोध, अमरो मान, जेतो।
जसो, डुंगो, जसराज, नगधीर माधव, नेतो।
हदो, कान, हरी, अंत पूते, गोर्धन, पचारण।
जिदो, वाग, वणिदास, नरू, आध वीजो नारायण।
सुजो, सातल, सखसूर, गोगराज सुत एम लड़े।
शाह ममूद सुकर, मामली तिरयाली तण दिन पड़े[५८]॥

पं० झाबरमल्ल शर्माजी ने अपने बाद के निबंध में कुछ ऐतिहासिक विचार भी दिये हैं। वे लिखते हैं:—

"गोगाजी का जन्म ददेरा[५९] नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता का नाम सूरजपाल था। भारतवर्ष के इतिहास में वीरता के लिए चौहान क्षत्रिय सुख्याति लाभ कर चुके हैं। जिन वंशों को भारत के सम्राट् पदासीन होने का गौरव प्राप्त है, उनमें एक चौहान वंश भी है। अपने हठ के लिये प्रसिद्ध दृढ़ प्रतिज्ञ हम्मीर चौहान ही था, जिसने अलाउद्दीन खिलजी के हृदय को अपनी वीरता से विकम्पित कर दिया था। दिल्ली के अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गोरी की प्रबल पराक्रमी सेना को सात बार रणांगण से भागने के लिये विवश किया था। गोगाजी भी चौहान वंशोद्भव वीर थे। उनका विवाह धांवलजी राठौर के बूड़ाजी की पुत्री केलणवाई के साथ हुआ था। वह पाबूजी राठोड़ की भतीजी थी। कन्या दान के समय पाबूजी ने "साँड़ साँड़िये"[६०] देने का संकल्प किया था। रिश्ते में ककिया-श्वसुर होने पर भी पाबूजी, गोगाजी से उम्र में छोटे थे। पाबूजी की ओर से साँड़ साँड़िये पहुँचाने में बिलम्ब होता देख ससुराल वाले केलणवाई की हँसी उड़ाने लगे। इस पर केलणवाई ने सन्देश भेजकर उनके संकल्प का स्मरण दिलाया। पाबूजी ने दूर देशस्थ सिंध लंकयली से एक दो या पाँच चार नहीं बल्कि साँड़ साँड़ियों का एक बड़ा टोला, दल, बड़े साहस के साथ लाकर गोगाजी के गुवाड़े बाड़े भर दिये और यों अपना वचन पूरने का यश प्राप्त किया। गोगाजी गोरखनाथ के सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उस समय राजस्थान में प्रायः नाथों की ही शिष्य परम्परा फैली हुई थी। गोगाजी जैसे वीर थे, वैसे ही साधक भी थे। साँपों पर उनका असाधारण प्रभाव था। इस समय भी गोगाजी साँपों के देवता कहकर पूजे जाते हैं। कर्नल टाड के "ऐंटीक्वटीज आफ राजस्थान" के नवीन संस्करण के सम्पादक विलियम क्रुक उक्त ग्रन्थ की पाद टिप्पणी में लिखते हैं:—

"Gugaji or Gogaji was killed in the battle with Ferozshah of Delhi at the end of the thirteenth Century A.D."

५८—चौहान कुल कल्पद्रुम—पृष्ठ २२, २३, ३०।

५९—ददेरा वर्त्तमान राजस्थान के बीकानेर डिवीजन में राजगढ़ से ८ कोस की दूरी पर है।

६०—ऊंट और ऊंटनी।

अर्थात् गोगाजी या गुग्गाजी तेरहवीं शताब्दी ईस्वी सन् के अन्त में दिल्ली के फीरोजशाह तुगलक की लड़ाई में मारे गये। यह सही है कि फीरोजशाह तुगलक का ददेरा पर आक्रमण हुआ था, किन्तु वह ईसा की १३ वीं नहीं—१४वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ था। श्री जगदीश सिंह जी गहलोत के "मारवाड़ राज्य के इतिहास" में गोगाजी का विक्रम संवत् १३५३ में द्वितीय फीरोजशाह देहली के चढ़ाई करने पर वीरता के साथ लड़कर काम आना माना गया है। यदि गहलोत जी की राय में यह जलालुद्दीन फिरोज खिलजी है तो उसकी मृत्यु संवत् १३४२ में हो चुकी थी [देखिये मूल इतिहास] और संवत् १३५३ में इतिहासवेत्ता मुन्शी देवीप्रसाद जी की "यवनराज वंशावली" के अनुसार फ़िरोज का भतीजा अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली का बादशाह था। अस्तु, यह ध्यान में रखने की बात है कि फिरोजशाह तुगलक का समय ईस्वी सन् १३५१ से १३८८ तदनुसार विक्रम संवत् १४०८ से १४४५ है। रिपोर्टमर्दुमशुमारी राज मारवाड़[६१] [सन् १८६४ई०] में संवत् १४४० में फीरोजशाह तुगलक के समय में ददेरे पर आक्रमण होने का उल्लेख मिलता है। यह ईस्वी सन् १३८३ होता है। यही गोगाजी के वीरगति प्राप्त करने का सही संवत् प्रतीत होता है। रिपोर्ट में लिखा है—

"गोगा चौहान, चौहानों में देवता हुआ है, जिसको साँप काटता है, उसके गोगा के नाम का डोरा बाँधते हैं। उसको 'ताती' कहते हैं। गोगा का थान, जिसमें साँप की मूर्ति पत्थर में खोदी होती है अक्सर गाँवों में होता है और इसीलिये यह ओखाणा (प्रवाद) चला है कि 'गाँव-गाँव गोगा ने गाँव गाँव खेजड़ी।' अर्थात् 'गाँव गाँव में गोगा गाँव गाँव में शमी (जांटी)। भाद्रपद कृष्णा ६ गोगाजी की पूजा का निश्चित दिन है।

केसरिया कुँवर

केसरिया कुँवर गोगाजी का आत्मीय पुत्र होना चाहिये। उसकी पूजा गोगा नवमी से पूर्व दिन अष्टमी को होती है। जिस प्रकार गोगाजी को नागरूप माना जाता है, उसी प्रकार कुँवर केसरिया को भी। मालूम होता है, केसरिया कुँवर गोगाजी से पहले दिन युद्ध में काम में आ गया था। केसरिया के स्तवन-गीत में महिलाएँ उसको 'पदमा नागण का जाया' पद्मा नागिन से उत्पन्न, फुलन्दे का 'वीरा' (भाई) तथा किस्तूरी का ढोला (पति) कहकर वन्दना करती हैं। गीत में 'मड़ी' का भी नाम आता है, जिसको ददेरा छोड़ने के बाद गोगाजी ने अपना वासस्थान बना लिया था। गीत के अनुसार केसरिया का बाजा (युद्ध का मारू बाजा) 'धुर मड़ी' अर्थात् 'ठेठ मड़ी' में ही बजा, उनकी ध्वजा वहीं फहराई। उस समय तक इधर नागवंश का अस्तित्व बना हुआ था, केसरिया की माता नागवंश की थी, इसका गीत से आभास मिलता है।"

---

६१. रिपोर्ट मर्दुमसुमारी राजमारवाड़, तीसरा हिस्सा, पृष्ठ १४।

गुरु गुग्गा की इस समस्त कथा के विविध रूपों में केवल निम्न बातें समान हैं :

१. गोगा जी अपनी माँ के इकलौते पुत्र थे ।
२. उनके दो मौसेरे भाई थे ।
३. गोगा जी और मौसेरे भाइयों में संपत्ति के लिए झगड़ा हुआ ।
४. मौसरे भाई मुसलमानों की फौजों को चढ़ा लाये ।
५. इन फौजों ने गायों को घेर लिया ।
६. गोगा जी ने गायों को छुड़ा लिया ।
७. युद्ध में मौसेरे भाई काम आये ।
८. मुसलमानी सेना हार गयी ।
९. मौसरे भाइयों की मृत्यु से गोगा जी की माँ उनसे नाराज हुईं ।
१०. गोगा जी जमीन में समा गये ।

इन अभिप्रायों के अतिरिक्त शेष सभी अभिप्राय असामान्य और भिन्न-भिन्न हैं जो विविध लोकवार्त्ताओं से गोगा जी के वृत्त के साथ जुड़ गये हैं। गायों की रक्षा करने के कारण और मुसलमानों की विशाल सेना को हरा देने के कारण 'गोगा जी' 'वीर-पूजा' के अधिकारी हुए। वीर हो जाने पर उनकी अमित शक्ति में दिव्यता का आरोप हुआ, और इस दिव्यता से सम्बन्धित अनेकों कहानियाँ तरह-तरह से उनके जीवन वृत्त से जुड़ गयीं। ऊपर का ढाँचा ऐतिहासिक विदित होता है। प्रचलित लोकवार्त्ता गीत में गोगा जी और मौसेरे भाइयों में संघर्ष का कारण असमीचीन है। गोगा जी अपने पिता की संपत्ति के अधिकारी हैं। उनके मौसेरे भाई अपनी मौसी यानी गोगा की मां से कहते हैं कि हमें आपने पाला-पोसा है। हम आपके पुत्र ही हैं, जैसे गोगा जी हैं, अतः संपत्ति में से हमें भी अपने पुत्र के बराबर अधिकार दिलाइये। गोगा जी की माँ इस बात के लिए प्रस्तुत हैं। पर गोगा जी तय्यार नहीं—अतः दोनों मौसेरे भाई मुसलमान राजा की शरण लेते हैं। यहाँ पर यह बात स्पष्ट है कि मौसेरे भाइयों का गोगा जी की संपत्ति में से हक चाहना अनुचित है। गोगा की माँ को भी इसके लिए प्रस्तुत नहीं होना चाहिये, और कोई शासक भी इस अनुचित माँग के लिए यथा संभव गोगा जी पर चढ़ाई नहीं करेगा। अतः सूर्यमल्ल जी का दिया हुआ कारण उचित विदित होता है। गोगा जी को नाना जी की संपत्ति अधिकार में मिली। नाना जी ने गोगा जी को पूरा राज्य सौंप दिया, और अपनी छोटी लड़की के पुत्रों को वंचित रखा। नाना जी की मृत्यु के उपरांत अर्जुन-सर्जुन मौसेरे भाइयों ने अपने हक़ का गोगा जी पर दावा किया, जो उनके अपने पुत्र की दृष्टि से समुचित था। गोगा जी ने देना अस्वीकार किया, यह गोगा जी की दृष्टि से भी समुचित था। गोगा जी की माता की स्वीकृति अर्जुन-सर्जुन के पक्ष में भी नैतिक दृष्टि से ठीक बैठती है। मुसलमान शासक को भी अर्जुन-सर्जुन का पक्ष अनुचित नहीं प्रतीत हुआ होगा। गोगा जी की मा को अर्जुन-सर्जुन का मारा जाना भी इसलिए अधिक अखरा होगा कि उनका हिस्सा भी हम लोगों ने हड़प लिया है, और उन्हें मृत्यु के घाट भी उतार दिया। बहिन के पुत्रों पर ममता का यह रूप अनुचित नहीं।

यह घटना पृथ्वीराज चौहान से पूर्व की भी हो सकती है, कम से कम पृथ्वीराज रासो के वर्त्तमान रूप में आने से पूर्व की तो अवश्य है; तभी इसे पृथ्वीराज चौहान से जोड़ दिया गया है—चौहान और मुसलमानी आक्रमण इन दो बातों के आधार पर ही ऐसा हुआ है। जयचन्द और पृथ्वीराज को इसी कारण मौसेरे भाई बना दिया गया है, और जयचन्द ने मुसलमानों को भारत पर चढ़ाई करने के लिए निमंत्रित किया, इसका समाधान कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में अभी और अधिक ऐतिहासिक अनुसंधान की आवश्यकता है।*

१. घोड़े की कहानी

२. गूगा के जन्म की कहानी—जिसके साथ गूगा के परिवार के लोकवार्त्ता विषयक पंचपीरों के जन्म की बात भी है।

३. बासुकि नाग अथवा नागों से सम्बन्ध की कहानी

४. सिरियल से विवाह की कहानी

५. मृत्यु के उपरान्त भी सिरियल से मिलते रहने की कहानी।

ये सभी लोकवार्त्ता से जोड़ी गयी हैं। इसके लोकवार्त्ता के रूप और स्रोत पर ऊपर यथास्थान विचार हो चुका है।

---

*महाभारत में कौरव विराट-नरेश की गायें घेर ले गये थे। अर्जुन ने उन्हें छुड़ाया था। गोगा के वृत्त से इस घटना में साम्य है।

परिशिष्ट

१—गुरु गूगा के पाषंड में बौद्ध अवशेष

ऊपर इस संबंध में संकेत किया जा चुका है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि—

(१) गुरु गूगा के जीवन-वृत्त में बुद्ध-जीवन-कथा के अवशेष विद्यमान हैं,

(२) इस पाषंड के अनुष्ठान की मूल आत्मा का सम्बन्ध बौद्ध श्रमण चिकित्सा पद्धति से है। उसके अवशेष दिखायी पड़ते हैं।

(३) पाषंड के जागरण अनुष्ठान में प्रयोग में आने वाले पट का प्रयोग बौद्ध पट-चित्रों की परंपरा में है।

(४) इन कुछ तत्वों के साथ पट में आने वाले कुछ अभिप्राय भी बौद्ध अवशेषों की शृंखला सिद्ध करते हैं। इसे ही यहाँ देखना है। गुरु गोगा जी के अनुष्ठान में काम आने वाले पट-चित्र में पशु और चक्र अवश्य होते हैं।

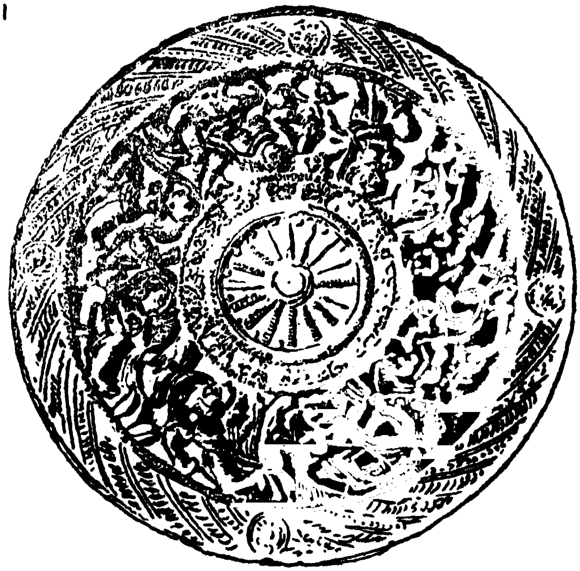


जाहरपीर : चंदोवा (सीरोठी)
चित्र सं० ३

इस पशु आवृत चक्र का मूल हमें अशोक-चक्र में दिखायी पड़ता है। अशोक स्तम्भ का ऊपरला चक्र पशुओं की एक पंक्ति के बीच में स्थित होता है।

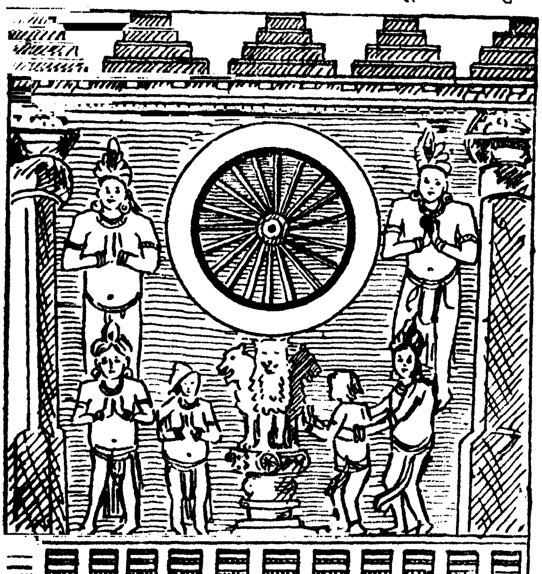
यह धर्मचक्र है, जिसका उपयोग यों तो भारत के सभी धर्मों में है। गीता में धर्मचक्र का उल्लेख कृष्ण ने किया है। जैनों के आयाग पटों में यह विद्यमान है, पर

जो कार्य यह धर्मचक्र बौद्ध धर्म में करता है, वह अन्य किसी धर्म में करता नहीं विदित होता ।



जैन आयागपट से--चित्र सं० ४

बौद्ध-धर्म में जब भगवान बुद्ध की मूर्ति या चित्र बनाने की प्रथा नहीं थी, उस समय वेदिका को या तो शून्य रखा जाता था और उस शून्यता से बुद्ध की सत्ता प्रकट की

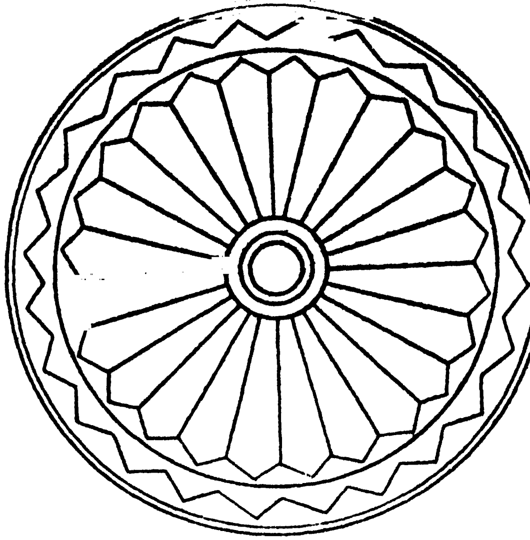


एक बौद्ध शिल्प
चित्र सं० ५

जाती थी, या उसके स्थान पर 'चक्र' प्रस्तुत किया जाता था। चक्र वहाँ बुद्ध का ही पर्याय हो गया था। यह महत्व चक्र को अन्यत्र नहीं मिला। [दे० चित्र ५]

गूगा-पट में चक्र ये दोनों धर्म प्रकट करता है—यहाँ चक्र धर्मचक्र भी है, और गूगा का प्रतीक भी,

इस चक्र के जैसे बौद्ध प्रतीक के रूप में दो प्रकार मिलते हैं, एक २४ अरों[1] वाला, और दूसरा बत्तीस अरों वाला,[2] वैसे ही गूगा सम्प्रदाय में हमें इसके दो रूप मिलते हैं।



अशोक चक्र :
चित्र ६

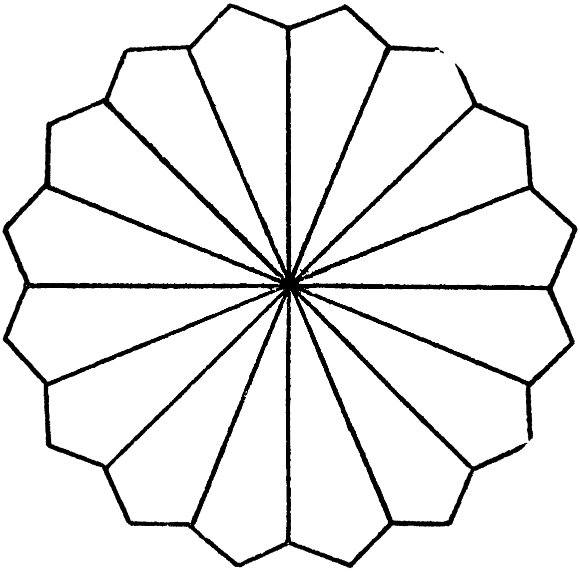
मथुरा वाले गूगा पट में [देखिये चित्र सं० २] ३२ अरे हैं। आगरा वाले में [देखिये चित्र सं० ७] १६; यद्यपि १६ अरे जैन आयाग पट में मिलते हैं [देखिये चित्र संख्या ४], किन्तु जैन चक्र का समस्त अभिप्राय बौद्ध अभिप्राय से भिन्न हैं। ३२ अरे वाले चक्र के साथ पशुओं की पंक्ति का अभिप्राय है। आगरे वाला चक्र ३२ के आधे १६ के द्विभुजों से ३२

---

१. ये बौद्ध धर्म के २४ सत्यों के प्रतीक हैं। २ अतियों की वर्जना: असंयम तथा तप, ४ आर्य सत्य, ८ अष्टांगिक मार्ग, तथा १० शील = २४ (डा० राधा कुमुद मुकर्जी अमृत बाजार पत्रिका मई १३,५६ के रविवासरीय संस्करण में 'अशोक चक्र' पर निबंध)

२. ये ३२ अरे महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों के प्रतीक माने गये हैं, इनका उल्लेख दीर्घनिकाय, विशुद्धिमग्ग आदि में हुआ है। [डा० राधाकुमुद मुकर्जी, उपरोक्त निबंध]

का इंगित करता प्रतीत होता है। और पशुओं की अवस्थिति आगरावाले चक्र को बुद्ध-परंपरा में ही पोषित करती है।



आगरा-पट का चक्र—चित्र संख्या ७

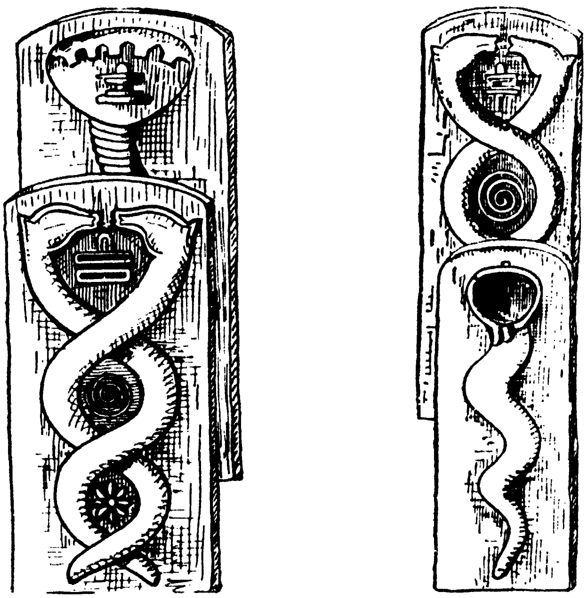
(५) इन्हीं के साथ नाग-तत्त्व की विद्यमानता भी इस पापंडको बौद्धों के निकट बताती है। नागों के संबंध में ऊपर विस्तृत चर्चा हो चुकी है। गूगा जी नाग थे, यह भी बताया जा चुका है। मंदौर में जो गूगा जी का शिल्प-चित्र दिया गया है, उसमें उसी शैली का उपयोग किया गया है जो बौद्ध कला में मिलती है। यहाँ एक चित्र मंदौर के गूगा-शिल्प-रेखन का दिया गया है (देखिये चित्र सं० १), और दूसरा एक बौद्ध-कला का नमूना है। (देखिये चित्र सं० ८]



बौद्ध शिल्प : नागों की बुद्ध पूजा—चित्र संख्या ८

दोनों की तुलना से स्पष्ट विदित होता है कि नागों का मूर्त्ताङ्कन करने के लिए बौद्धशिल्प ने जो शैली अपनायी थी, कि सिर पर सर्पफण दिखाया जाय, उसी का उपयोग गूगा जी के मूर्त्ताङ्कन में किया गया है।

गूगा जी के पंजाब में स्थित एक मंदिर का उल्लेख ऊपर किया गया है, जिसमें भूमि में से निकलता एक सर्प बनाया गया है, गूगा जी की मूर्ति के सामने। यह अभिप्राय भी उक्त बौद्ध चित्र सं० ८ में भीत में से निकलते हुए सर्प में दिखायी पड़ता है— ये कला-अवशेष भी बौद्ध-प्रभाव के द्योतक हैं, और आज भी इस संप्रदाय के द्वारा बौद्ध-धर्म के प्रभाव के रूपान्तर की कहानी कहते हैं। सर्प पूजा में पत्थर में टंकित नाग चढ़ाये जाते हैं जिन्हें नाग-कल कहते हैं। इनमें नागों के साथ चक्र भी रहता है। नाग और चक्र का यह संबंध भी ध्यान देने योग्य है।



नाग-कल—चित्र संख्या ९

नाग-पूजा का विश्व व्यापी रूप

यूनान में माइसीनियन समय से क्रिश्चियन समय तक नाग-पूजा होती रही है।

१. एपिइरोस में अपोलो का एक पवित्र कान्तार था। इसमें कुछ सर्प रहते थे, जिन्हें डेलफी के अहि की संतान माना जाता था। इनकी देख-रेख एक पुजारिन करती थी। केवल वही उस बाड़े में जा सकती थी जिसमें सर्प रहते थे। यह pre-deistic नाग-पूजा का ही अवशेष था, डेलफी से तो इसका संबंध आरोपित कर दिया गया है।

२. क्रोनोस की पहाड़ी पर, ओलिम्पिया के कुंज के सामने एलीथ्यइया का मंदिर था। इसमें सोसिपोली नाम का नाग रहता था। यह राष्ट्र-रक्षक माना जाता था। लोकवार्ता यह है कि ऐलिस पर जब शत्रु ने आक्रमण किया तो एक स्त्री गोद के बच्चे को लेकर

दोनों सेनाओं के बीच में बैठ गयी। उसका बच्चा तुरंत सर्प बन गया। शत्रु उसके भय से भाग खड़े हुए। वह सर्प पास ही बिल में घुस गया। उसी स्थान पर यह मंदिर बनाया गया।

३. हेरोडोटस के एक अवतरण में ऐरेकथीअस के मंदिर में रहने वाले नाग का उल्लेख है। फारसवालों ने जब एथेन्स पर आक्रमण किया था तो ये नाग देवता लुप्त हो गये थे। इस घटना से नगर-निवासियों ने नगर छोड़ने का आदेश ग्रहण किया था। इस नाग देवता की भी पूजा की जाती थी। इस नाम देवता में एरिकथीनियोस की आत्मा मानी जाती थी।

४. एरिकथीनियोस भूदेवी का पुत्र था, कुछ के मत से एथेना का पुत्र था। यह सर्प के रूप में पैदा हुआ था। यह भी कहा जाता है कि जन्म पर इसे एक सर्प-युग्म ने पाला-पोसा था।

५. नीलस्सन (Nilsson) नाम के विद्वान ने सिद्ध किया है कि वीर-पापंडों (Hreo-cults) का जन्म मृतक-पूजा से हुआ है—और ये वीर, सर्प के रूप में प्रकट होते थे।

६. प्लुतार्क ने बताया है कि प्राचीनों की दृष्टि में वीरों का अन्य जीवों से अधिक सर्प से घनिष्ठ संबंध रहा है। गिद्धों से क्लियोमीनीज़ की लाश की रक्षा एक साँपने की थी जो उसकी लाश पर गुञ्जलक मार कर बैठ गया था।

७. क्यक्रियस, सलामिस के युद्ध से भाग खड़ा हुआ तो उसे ऐलियूसिस में डिमेटेर ने शरण दी। यहाँ वह सर्प के रूप में डिमेटेर का परिपार्श्वक रहा। डिमेटेर भी माइनोअन सर्प-देवी है।

८. यूनान में आज भी वे बालक, जिनका बप्तिस्मा नहीं हुआ होता, 'ड्रकोइ' (Drokoi) कहलाते हैं—जिसका अर्थ है 'साँप'—क्योंकि यह माना जाता है कि ये कभी भी साँप बनकर लुप्त हो सकते है। इसमें आलिम्पिया के बालक की घटना की स्मृति आज तक सुरक्षित है। (दे० ऊपर सं० २)

९. प्राचीन मिस्र में भी सर्पों की ऐसी ही मानता थी। सर्पों को मृतात्माओं का अवतार सर्वत्र माना जाता है।

१०. पश्चिमी अफ़्रीका में इस्सापू (Issapoo) के नीग्नो कपेल्लो अहि (Cobra-Capello) को अपना संरक्षक देवता मानते है। इस साँप का चर्म लेकर वे एक बड़े वृक्ष से लटका देत हैं। उसकी पूंछ नीचे की ओर रहती है। ऐसा वर्ष में एक बार उत्सव के साथ होता है। इस लटकते चर्म के नीचे होकर उस वर्ष में हुए बच्चे निकाले जाते हैं। उनके हाथ पूंछ से लगाये जाते हैं।

११. सेनेगम्बिया में सर्प में यह विश्वास है कि बच्चा पैदा होने के बाद आठ दिन के अन्दर एक सर्प बच्चे को देखने आता है।

१२. प्राचीन अफ़्रीका में एक सर्प-जाति के लोग अपने बच्चों को साँप के सामने रख देते थे, उनका विश्वास था कि उनके अभिजात बालक को साँप हानि नहीं पहुँचायेगा।

१३. ब्रिटिश पूर्वी अफ़्रीका के 'आकिकयू' एक नदी के सर्प की पूजा करते हैं। और इनके यहाँ यह प्रथा है कि कुछ वर्षों के अन्तर से वे इस सर्प-देवता का अपनी कुमारियों से विवाह कर देते थे।

१४. तातार देश की एक कविता में एक ऐसी जादूगरनी का उल्लेख है जिसके प्राण उसके जूते के तले में रहने वाले एक सात फनवाले साँप में रहते थे।

१५. मिस्र में सृष्टि-कर्त्ता रे (Rc) से पूर्व आदिकाल में चार मेंढकों और चार सर्पों का अस्तित्व माना जाता है। इनसे 'रे' की उद्भावना हुई। 'रे' सूर्य का शत्रु है, यही अपौफिस नामका सर्प माना गया है, जो अंधकार का प्रतीक है। सूर्य को नाव में बैठकर यात्रा करनेवाला माना गया है। इसके मार्ग में एक सर्प इस पर आक्रमण करने और निगल जाने के लिए बैठा रहता है। उसे मार कर ही मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

१६. बेबीलोनिया में पृथ्वी की प्राकृतिक उत्पादिका शक्ति को सर्प के रूप में पूजा जाता था।

बेबीलोन के गिलगेमिश पुराण में उल्लेख है कि जब गिलगेमिश उत्नपिश्तिम से विदाई की भेंट में अमरौती का पादप लेकर लौट रहा था, तो मार्ग में एक तालाब के पास स्नान करने लग गया। उस अमरौती को उसने किनारे पर छोड़ दिया। इसी बीच में यह साँप आकर उस अमरौती को खा गया, तभी से साँप अमर हो गया।

१७. अत्यन्त प्राचीन काल की मृतक पुरुषों को समाधियों से जो कुछ शिल्प के अवशेष मिले हैं, उनमें सर्प को मनुष्य का ही दूसरा रूप माना गया है। मनुष्य का एक रूप तो मानवी रहा, दूसरा सर्प का। इस पर जेन हैरिसन ने भली प्रकार विचार किया है।

३—वैदिक सर्प तथा सर्प और आर्य

वेदों में वृत्र का उल्लेख है। वृत्र अहि है। यह वृत्र शब्द ऋग्वेद में कई स्थलों पर बहुवचन में आया है; जैसे, ऋ० ६-२९-६; ६-३३-३; ७-१९-४; ७-८३-९; ९-८८-४; १०-८३-७. यहाँ पर वृत्र शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं: १. बादल-समूह २. वृत्र नाम की जाति के लोग। इन वृत्रों का उल्लेख कहीं दस्युप्रमुखों के साथ हुआ है, कहीं दासों और अन्य आर्यों के साथ हुआ है। दस्युओं के साथ कहीं कहीं इन वृत्रों को अहि भी कहा गया है। इन प्रमाणों के आधार पर डा० अविनास चन्द्र दास ऐम० ए०, पी-ऐच० डी० इन्हें सर्पपूजक जाति मानते हैं।

ऋग्वेद में अर्बुद काद्रवेय सर्प का उल्लेख है। पंचविंश ब्राह्मण में एक सर्पोत्सव का उल्लेख है, उसमें एक अर्बुद ऋषि ग्रावस्तुत पुरोहित थे। इन अर्बुद काद्रवेय को ऐतरेय ब्रा० (६-१) तथा कौशीतकी ब्राह्मण (२९-१) में मंत्र-दृष्टा माना गया है।

ऋग्वेद और तद्विषयक ब्राह्मणों के अध्ययन से विदित होता है कि ऋग्वेद काल में दो वर्ग थे—एक वृत्र के अनुयायियों का। ये सर्पपूजक थे। वृत्र को ये 'देव' कहते थे। दूसरे इन्द्र के अनुयायियों का। इन दोनों में संघर्ष था। वृत्र जाति पूर्व पक्ष में थी, इन्द्रानुयायी उत्तर पक्ष में। इन्द्र ने वृत्र का संहार किया। वैदिक काल में वृत्र, सर्प और अहि संभवतः एक ही जाति के नाम थे, यही महाभारत काल में 'नाग'

कहलाये। गरुड़ भी एक जाति थी। गरुड़ और सर्पों में परस्पर युद्ध छिड़ा रहता था। महाभारत में उल्लेख है कि गरुड़ ने नाग या सर्प जाति को खदेड़ कर एक अत्यन्त ही सुंदर द्वीप में पहुँचा दिया था, और ये सर्प वहीं बस गये थे।

ऋग्वेद में सर्पराज्ञी नाम की सर्पजाति की ऋषिमहिला का उल्लेख है। इसने सूर्य पर पूरा सूक्त (ऋ० १०,१८९) ही रचा था। शतपथ ब्राह्मण में पृथ्वी को ही सर्पराज्ञी बताया है। यही ऐतरेय ब्राह्मण नें बताया है।

महाभारत से विदित होता है कि यायावर जाति के ऋषि जरतकारु ने वासुकि नाग की बहिन से विवाह किया था। इनका पुत्र आस्तीक था।

पणिस अथवा वणिक जाति के लोग भी वृत्र पूजक और वृत्रानुयायी थे। इन्हें भी आर्यों ने खदेड़ दिया था[1]।

हरिवंश में उल्लेख है कि ऋषि वशिष्ठ के परामर्श से राजा सगर ने शक, यवन, काम्बोज, परद, पल्लव, कोली, सर्प, महिषक, दर्व, चोल, कोल, आदि जातियों से वेदाध्ययन का अधिकार छीन कर देश से वहिष्कृत कर दिया था।

इन सब प्रमाणों से विदित होता है कि वैदिक काल में सर्प-पूजा प्रचलित थी। सर्प-पूजकों से आर्य घृणा करते थे। आर्यों और सर्पों में ब्राह्मण-काल में संधि हो गयी। सर्प-जाति के लोगों ने भी वेदों की ऋचाओं के निर्माण में भाग लिया। किन्तु ऐसा विदित होता है कि यह संधि अधिक नहीं ठहर सकी। आर्य लोगों की सर्पों के प्रति घृणा अन्तर्निष्ठ थी। संभवत: सोमरस के लिए ही इन्हें सर्पों से संधि करनी पड़ी। यह बात ध्यान देने की है अर्बुद काद्रवेय सर्प के मंत्र 'सोम' संबंधी हैं। सर्पराज्ञी के सूक्त 'सूर्य' विषयक हैं। क्योंकि सोम को सर्पों द्वारा रक्षित कहा गया है। बाद में आर्थिक कारणों से इसी सोम के लिए सर्पों का गरुड़ों से संघर्ष हुआ। आर्यों ने गरुड़ों का साथ दिया। सर्प खदेड़ दिये गये। गरुड़ ने सोम पर अधिकार किया। ये सर्प नाग जाति से मिल गये। इन सर्प-नागों से आर्यों का भयंकर युद्ध नित्य होता रहा। जैसे नाग-यज्ञ का जन्मेजय ने आयोजन किया था, वैसे कई यज्ञ भारतीय इतिहास में हुए हैं।

यहाँ पर यह सिद्ध करने से लिए कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है—ऋग्वेद से एक मंत्र का भाव दिया जाता है—यह मंत्र ऋ० ७-२१ का ३-७ है इस मंत्र के एक अंश का भाव यह है—

"तेंने अपनी शक्ति से वृत्र का संहार किया है। युद्ध में कोई शत्रु तेरा घात नहीं कर सका। पहले देवता तेरी दिव्य शक्ति के सामने झुक गये हैं; उनकी शक्ति तेरी दिव्य शक्ति से हार गयी है; उनकी शक्तियाँ तेरे महत्तम बल के सामने धूल चाटने लगी हैं।" आदि।

इससे विदित होता है कि वैदिक काल में इन्द्र ने वृत्र अथवा सर्प जाति को परास्त किया, सर्प जाति के लोगों ने इन्द्र के समक्ष हार मानी। सर्प के शक्ति-केन्द्रों में इन्द्र के शक्ति-केन्द्र स्थापित हुए।

---

१. यही कारण है कि वणिक जाति में आज भी गुरु गुग्गा या जाहर पीर की विशेष मान्यता है। दे० 'अग्रवाल जाति का इतिहास' विद्यालंकार

वैदिक इतिहास का यह पूर्व युग हुआ। बाद में कृष्ण ने इन्द्र को इसी प्रकार परास्त किया जिस प्रकार इन्द्र ने सर्प-जाति को किया था। यों कृष्ण ने नाग-जाति को भी ब्रज से निष्कासित कर दिया था।

किन्तु सर्प-नाग जाति समाप्त नहीं हो सकी। जन्मेजय के भयंकर नाग-यज्ञ के उपरांत भी यहाँ नागों और सर्पों की बहुलता रही। नागों और सर्पों को सम्पूर्ण विनाश से आस्तीक ने बचाया।

और इतिहास का एक और पृष्ठ कहता है कि भगवान बुद्ध के समय में नाग फिर उतने ही प्रबल हो गये थे, क्योंकि लोक-स्तर पर भगवान बुद्ध ने नागों को उसी प्रकार परास्त किया है, अपनी शक्ति के तेज से जैसे इन्द्र ने वृत्र को किया था। और बुद्ध ने समस्त नाग-केन्द्रों पर अधिकार स्थापित कर लिया। यों परास्त होकर नाग बुद्ध के अनुयायी हो गये। नागों और बौद्धों का घनिष्ठ संबंध हो गया।

और ये नाग गुरू गुग्गा के समय तक भी किन्हीं किन्हीं क्षेत्रों में अपना अस्तित्व बनाये रहे। लोकवार्त्ता में नागपूजा गुरु गुग्गा अथवा जाहरपीर के साथ ही जीवित नहीं, वह स्वतंत्र रूप से जीवित है और फल-फूल रही है। ब्रज में 'नागपंचमी' सर्वत्र मनायी जाती है। पूर्व में मनसा-पूजा इसी नाग अथवा सर्प पूजा का ही एक रूप है। गुरु गुग्गा अथवा जाहरपीर का संबंध भी नाग पूजा से है।

डा० अविनाशचन्द्रदास ने यह सिद्ध किया है कि सर्प या नाग सप्तसिंधु की घुमन्तु आर्यजाति ही थी। डा० अविनाश ने कहीं कहीं इन्हें जंगली जाति माना है जो सोम बेचने पहाड़ों से आती थीं, जिसे इन्द्रानुयायियों ने गरुड़ों की सहायता से निकाल बाहर किया था। उन्होंने इनको अवैदिक आर्य बताया है। प्रमाण में ये तर्क हैं:

१. कई सर्प जाति के ऋषि मंत्र दृष्टा हैं। अर्बुद काद्रवेय, सर्पराज्ञी, जरत्कारु आदि।

२. हरिवंश में सर्प जाति को क्षत्रिय माना गया है (हरिवंश अध्याय २)

जहाँ तक पहले प्रमाण का संबंध है, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि वह यहाँ की सोमाधिकारी जाति से समझौते का परिणाम था। यह बात भी दृष्टव्य है कि अर्बुद ऋषि को सर्प-यज्ञ का ही पुरोहित बनाया गया है। उन्होंने 'सोम' पर ही सूक्त रचना की। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि वैदिक आर्यों ने सर्पों का सम्मान किया। हरिवंश का प्रमाण बहुत शिथिल है। उसमें जिनको क्षत्रिय गिनाया गया है, वे सभी नृविज्ञान से आर्य नहीं हो सकते।

हमने आरंभ में बताया है कि नाग या सर्प 'टाटेम' या 'तत्वम' होना चाहिये। वैदिक आर्य तत्वमीय नहीं थे; अतः जो विद्वान सर्पों को आर्य जाति का मानते हैं; वे 'सर्प' को तत्वमीय नहीं मान सकते।

डा० आर० शाम शास्त्री आर्य नागों में तत्वम के अवशेष मानते है। और मैकडानल कश्यप (कछुआ), मत्स्य (मछली), अज (बकरी), शुनक (कुत्ते) कौशिक (उल्लू) आदि जातीय नामों में तत्वम मानते हैं। हापकिन्स तथा ब्लूमफील्ड नहीं मानते।

ब्लूमफील्ड ने लिखा है ।

"Totemism is founded on the belief that the human race, or, more frequently, that given clans or families drive their descent from animals : totemic names like 'Bear' and 'Wolf' carry traces of this sort of belief into our time. This particular question is a splendid theme, small of universal ethnology, but I have never been able to discover that it has any considerable bearing upon the ancient religion of India. The many hints at its possible importance should be substantiated by a larger and clearer body of facts than seems at present available"

(as quoted by Dr. Abinas Chandra Das in Regvedic Culture P. 103.)

ऐसे ही कुछ तर्कों से विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि यूनान म 'तत्वम' का अस्तित्व कभी नहीं था । किन्तु टामसन ने अपनी हाल की एक पुस्तक में 'सर्प', को ही मुख्य आधार बनाकर यह दिखाया है कि वहाँ 'तत्वम' का तत्व था । वह तर्क भारत के इतिहास पर भी लागू होता है । 'सर्प' की जैसी मान्यता और सर्प जाति का साँपों से संबंध, सर्प-पूजा की स्थिति, ये सभी बातें निर्विवाद सिद्ध करती हैं कि 'सर्प जाति और सर्प' का परस्पर 'तात्वमीय' (Totemic) संबंध था । अत: डा० अबिनासचन्द्रदास की भी मान्यता इन्हीं के तर्कों से ठीक नहीं ठहरती । सर्प जाति को सर्प के स्वभाव की तुलना से नाम दिया गया होता तो वह जाति सर्प-पूजक न होती । सर्प-पूजा तत्वमीय स्थिति का एक प्रमाण है ।

यह सर्प पूजक नाग जाति पंजाब में किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व बनाये हुए थी, यह गोल्डनबाउ में फ्रेजर महोदय ने बताया है । राजस्थान में इस जाति का अस्तित्व भी होना चाहिये, और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा बंगाल-आसाम में इसके पर्याप्त प्रमाण हैं ।

जोगी :

हिन्दी विद्यापीठ ने दो जोगियों से 'जाहरपीर' का गीत और सोहिले आदि संग्रह किये हैं । एक लोहबन, मथुरा के मट्टानाथ हैं । दूसरे आगरे में अछनेरे के पास के गांव 'सीरोठी' के सूखानाथ हैं ।

सूखानाथ ने बतलाया कि वह बाबा गोरखनाथ के चेला औघड़नाथ की शिष्य-परंपरा से संबंधित है । औघड़नाथ बाबा गोरखनाथ के चौदह सौ चेलों में से एक थे । औघड़नाथ के संबंध में सूखानाथ तो कुछ नहीं बता सके, पर डा० रांगेयराघव ने अपने प्रबंध में लिखा है :

"आगरे के श्मशान में कुछ दिन आकर ठहरने वाले, भैरव का चोला धारण करने वाले, लक्कड़ बाबा ने मुझे बताया कि वे आई पंथी थे । पूछने पर कहा कि

एक ओर गोरखनाथ बैठे, दूसरी ओर दत्तात्रेय, बीच में से औघड़ पीर पैदा हुए। उन्हीं से 'आईपंथी' हुए।"

किन्तु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, यह 'आईपंथी' सम्प्रदाय 'जाहरपीर' से उतना सीधा संबंध नहीं रखता, न नागों से। हो सकता है जाहरपीर संप्रदाय से औघड़-पंथियों का कभी मेल होगया हो, और जीविकोपार्जन के लिए इस जाहरपीर के जागरण को उन्होंने अपना लिया हो।

सूखानाथ ने अपने कच्चे ज्ञान के आधार पर जोगियों की निम्नलिखित शाखाएँ बतायीं :

१. चौबे जोगी—(परिखम, मथुरा।) २. डागोर जोगी—(सीरोठी, अछनेरा, आगरा) ३. ढाकरे जोगी—(पटपर, तहसील खरागढ़, आगरा) इनके परस्पर वैवाहिक संबंध हो जाते हैं। ४. नीमनाथिया—(खंडेरा, भरतपुर) ५. खिलवा जोगी—(परिखम, मथुरा) ६. बड़ गूजर जोगी—(सीरोठी, अछनेरा) ७. कछया जोगी—(बाँसी, भरतपुर) ८. पटवा जोगी—(शाहगंज, आगरा)।

जोगियों के गोत्र उसने ये बताये :—

१. ढाकरे २. बड़गूजर ३. डागौर ४. कछवाए ५. खेलावीर ६. चौबे ७. बमूरिया ८. कछैया ९. सोलंकी १०. कसड़िया आदि।

भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास

किसी भी भाषा के साहित्य में उपन्यास का महत्त्व होता है। उपन्यास में भी ऐतिहासिक उपन्यास का मूल्य सब से अधिक है। उपन्यास एक नई विधा है। यूरोपीय साहित्य में उपन्यास का वास्तविक आरंभ १७३०–४० के लगभग हुआ था। विश्व में उपन्यास-विधा का यही सबसे प्रथम आरंभ था। यद्यपि फ्रांसीसी साहित्य में "ले बेल्जे" उपनामधारी जीन लमाइरे (Jean Lemaire) लिखित "इलस्ट्रेशंस डे गाल एट सिगुलराइटिज डे ट्राय" को प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है, जो १५१३ में प्रकाशित हुआ था। किन्तु फ्रांस में भी ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा इसके बाद नहीं बन पायी। 'इलस्ट्रेशंस डे गाल' से १९ वीं शताब्दी तक केवल एक ही उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास बताया जाता है—इसका नाम था 'मार्गेराइट ड' आज्जू' (Marguerite d' Aujou)। अब्बे प्रेवॉस्ट इसके लेखक थे। और यह १७४० में लिखा गया था। भारतीय साहित्य में इस नई विधा का आरंभ इस प्रकार हुआ।

आसाम	१८९०
गुजराती	१८६६
मराठी	१८६१
बंगाली	१८५१
तामिल	१८७६
तेलगू	१८७८
कन्नड़	१८२३
हिन्दी	१८८९
उड़िया	१८७८
मलयालम	१८८७

इस प्रकार भारतीय साहित्य में उपन्यास का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इसके बाद यहाँ उपन्यास-साहित्य ने अत्यन्त तीव्र गति से प्रगति की, और इस प्रगति की तीन धाराएँ हुई—

१. क्षेत्रीय इतिहास से संबंधित,
२. भारतीय इतिहास से संबंधित,
३. अन्य इतिहास से संबंधित,

जिस क्षेत्र में जितना और जैसा ऐतिहासिक अनुसंधान हुआ उस क्षेत्र में उतना और वैसा ही ऐतिहासिक उपन्यासों का उत्कर्ष हुआ। प्रत्येक क्षेत्र के उपन्यासों ने अपने क्षेत्रीय व्यक्तित्व को कुंठित किये बिना ही अखिल भारतीय रूप को परिपुष्ट किया है, और समग्र भारत की समान चिन्तना, समान शैली और समान कला-सौष्ठव को सिद्ध करते हुए बौद्धिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक धरातल पर उसकी अखंडता का परिचय दिया है।

प्रस्तुत सामग्री के द्वारा यह देखा जा सकता है कि अखिल भारतीय ऐतिहासिक और औपन्यासिक मेधा का रूप कितना आकर्षक और कितना महान् है। कैसे-कैसे अमर पात्रों की सृष्टि भारतीय उपन्यासकारों ने की है, कैसी-कैसी ऐतिहासिक जटिलताओं को अपनी औपन्यासिक अनुभूति के द्वारा सुलझे रूप में प्रस्तुत किया है, और किस प्रकार पूर्वजों के चरित्रों को कल्पना से सजीव करके आज के मानव के लिए बौद्धिक सामग्री सँजोयी है। कला का उत्कर्ष भी अत्यन्त अभिनंदनीय है। यहाँ कला-मूल्यों का मूल्यांकन अभी नहीं किया गया। यहाँ तो यही उद्योग किया गया है कि पहले ऐतिहासिक उपन्यास की रूप-रेखा का अखिल भारतीय दृष्टिकोण से परिचय प्राप्त कर लिया जाय। मूल्यांकन का समय भी आयेगा और मूल्यांकन हमें केवल भारतीय साहित्य के दृष्टिकोण से नहीं, विश्व-साहित्य के ऐतिहासिक उपन्यासों की पृष्ठ भूमि पर विश्व-साहित्य की कसौटी से करना होगा।

प्रो० बिरिंचि कुमार बरुवा

असमिया साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास

अपने सच्चे अर्थ में उपन्यासों का आरम्भ और विकास पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव और ब्रिटिश शासन के प्रवेश के कारण ही हुआ। सन् १८२६ के लगभग जब ब्रिटिश सत्ता आसाम में आरूढ़ होगयी तो शीघ्र ही अमेरिका के बैप्टिस्ट मिश्नरी इस प्रान्त में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये आने लगे। उन्होंने शिवसागर में एक प्रेस खोला और "अरुणोदय" (१८४६ ई०) नामक असमिया मासिक का प्रकाशन प्रारंभ किया। बाइबिल और अन्य कहानियों के अतिरिक्त "पिलग्रिम्स प्रोग्रेस" आदि प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद ने असमिया के लेखकों को, अपनी साहित्यिक प्रक्रिया को पाश्चात्य टेकनीक के अनुसार विकसित करने के लिए, प्रोत्साहित किया। हेमचन्द्र बरुवा ने एक सामाजिक व्यंग "बाहिरे रंग चंग भीतरे कोवा भातुरि" की रचना की जिसमें उपन्यास के कुछ तत्त्व प्राप्त होते हैं। कुछ युवक असमिया लेखकों ने १८६६ में कलकत्ते से "जोनाकी" नाम की एक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया जो पाश्चात्य विचारों और संस्कृति का एक पुष्ट माध्यम बन गयी। इस युग में लक्ष्मीनाथ बैजबरुआ, हेमचन्द्र गोस्वामी, चन्द्रकुमार आगरवाला, रजनीकान्त बरदलै, पद्मनाभ गोहाइ-बरुआ आदि लेखकों ने कविता, कहानी, आत्मकथा और उपन्यास के क्षेत्रों में नये प्रयोग किये।

कहानी कहने की पुरातन परम्परा लोक-कथाओं और मैदानों और पहाड़ों में लोगों द्वारा गाये जाने वाले वीर-गानों के विस्तृत भंडार के साथ आसाम में वर्तमान थी। आसामी इतिहास की जनप्रिय घटनाओं ने लोगों के मन में अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम उत्पन्न किया और उन घटनाओं को दुहराने की प्रवृत्ति जागृत की। ऐतिहासिक साहित्य में आसाम अद्भुत रूप से सम्पन्न है।

अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के पाश्चात्य ढंग ने असमिया लेखकों को प्रोत्साहित किया कि वे आसाम को ऐतिहासिक घटनाओं और सामाजिक जीवन के चित्रण में उपन्यास और कहानी की टेकनीक का प्रयोग करें। उपन्यासों के विषय में हम देखते हैं कि पृष्ठ-भूमि और कथा-तत्त्व तो आसाम की भूमि से उत्पन्न हैं, पर टेकनीक पश्चिम की है। विश्रुत आसामी लेखक आनन्दराम टेकियाल फुकन की सुपुत्री पद्मावती देवी फुकननी

का "सुधर्मार उपाख्यान" असमिया का पहला उपन्यास माना जाता है। पर कुछ विद्वान इस मत का समर्थन नहीं करते, क्योंकि इसमें कुछ "क्लासिक" तत्त्व है।

पद्मनाभ गोहाइ बरुआ का "लाहरी" (१८९०) और "भानुमती" (१८९२), हरेश्वर शर्मा बरुआ का "कुसुम कुमारी (१८९६), रजनी कान्त बरदलै का "मिरि जीयोरी" (१८९५), "मनोमती" (१९००) और "दंडुवा द्रोह" (१९०९) और लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ की "पदुम कुमारी" (१९०५) ये असमिया साहित्य के कुछ प्रारंभिक उपन्यास हैं।

बीसवीं शती के आरम्भ के असमिया उपन्यासकारों पर, जनता की ऐतिहासिक रुचि का, मुगल और बर्मी आक्रमणकारियों के विरुद्ध प्रदर्शित आसाम के वीरों और वीरांगनाओं के राष्ट्रीय शौर्य का, जाति और जातिगत विद्वेषों के साथ साथ अन्य सामाजिक असमानताओं का, बाल-विवाह और हिन्दुओं की तथाकथित उच्च जातियों में विधवा-विवाह के विरोध की कुरीतियों का, किसी न किसी मात्रा में प्रभाव पड़ा। विवाह से पहिले युवकों और युवतियों में प्रेम और साहचर्य की स्वतंत्रता और परिणय से पूर्व माता-पिता की औपचारिक सम्मति, कुछ रोमानी उपन्यासों की प्रिय कथा-वस्तु हो गयी। पहाड़ों और मैदानों में रहने वाली आसाम की विभिन्न जातियों के विभिन्न रीति-रिवाजों और प्रथाओं ने लेखकों को यह अवसर दिया कि वे वहां के लोगों के प्यार और रोमांस की घटनाओं से भरे हुए सामाजिक इतिहास का वर्णन कर सकें।

आसाम के विस्तृत ऐतिहासिक साहित्य ने—विशेषतः आहोम-काल के इतिहास ने—उपन्यासों की कथावस्तु के लिए ऐतिहासिक कहानियां और चरित्रों को सुलभ कर दिया।

आसाम के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में रजनीकान्त बरदलै सबसे प्रमुख हैं। लक्ष्मीनाथ बैजबरुआ ने भी आसाम के इतिहास से कहानी लेकर "पदुमकुँआरी" नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। रजनीकान्त में पूर्ण नैपुण्य था पर लक्ष्मीनाथ ने राष्ट्रीय गौरव को मन में बैठाने का प्रयत्न किया। लक्ष्मीनाथ बैजबरुआ डिकेंस के 'पिकविक पेपर्स' की तरह के अपने "कृपाबर बरुवार काकतर टोपोला, कृपाबर बरुवार ओभातनी" में निरूपित सामाजिक हास्य के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं।

रजनीकान्त बरदलै १८६८ में गोहाटी में पैदा हुए थे। उन्होंने १८८९ में सिटी कालेज, कलकत्ता, से बी० ए० पास किया। वे आसाम सरकार की सेवा में एक आफिस असिस्टेंट की हैसियत से प्रविष्ट हुए। १८९१ में वे सब-डिप्टी कलक्टर हो गये और १९०१ में अतिरिक्त-सहायक कमिश्नर हो गये। । कुछ समय के लिए आसाम के नोगांव जिले के डिप्टी कमिश्नर रहे। १९१८ में उन्होंने सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त किया । अवकाश पाने के बाद कुछ सालों तक उन्होंने चाय की खेती का भी काम किया पर उनके सारे जीवन में साहित्य उनकी प्रिय वस्तु रही। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन को १८८८ में प्रारंभ किया और उसे निरंतर बिना व्यवधान के मृत्यु पर्यन्त निभाते रहे।

उन्होंने कुछ वर्षों तक एक धार्मिक मासिक "असम प्रदीपिका" (१९२०) का सम्पादन किया। १९२५ में नौगांव में वे असम साहित्य-सभा के सभापति बने। उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने निबन्ध भी लिखे जो अधिकांशत: आलोचनात्मक, वैज्ञानिक, धार्मिक, और हास्य प्रधान थे। ये "उषा" "आलोचनी" "बन्ति" "आवाहन" आदि पत्रिकाओं और जर्नलों में छपकर प्रकाश में आये। सर एडवर्ड गेट के कहने पर १८९४ में उन्होंने अंग्रेजी में एक किताब लिखी "मिरियों का धर्म" जो अप्रकाशित रह गयी। वे १९४० में गौहाटी में दिवंगत हुए।

रजनीकान्त बरदलै के उपन्यास :——

मिरिजियारी: (१८९५), मनोमती, (१९००) दंडुवाद्रोह (१९०९) राधा रुक्मिणीररणा (१९२५) 'असम हितैषी' पत्रिका में प्रकाशित रंगीली (१९२५), निर्मल भक्त (१९२५), तामेश्वरीर मन्दिर (१९२६), और रहदै लिगिरि (१९३०)।

इनके अतिरिक्त उन्होंने बहुत से निबन्ध और कचरी सन्मिलन, प्रथम चुतिया सन्मिलन, द्वितीय मिरि सन्मिलन आदि के सभापति पद से दिये गये भाषण भी लिखे।

मनोमती: यह १९०० में प्रकाशित असमिया का पहला ऐतिहासिक उपन्यास है। मनोमती बरानगर के चंडी बरुआ की दत्तक कन्या थी। बर्मा की अन्तिम लड़ाई में (१८२४ से २६) आसाम की स्वतन्त्रता के लिए बरुआ ने अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये थे। इस उपन्यास में बर्मा के तृतीय आक्रमण के समय की राजनैतिक हलचल की पृष्ठभूमि पर लक्ष्मीकान्त के साथ मनोमती के प्रेम के वृत्त का वर्णन है।

मनोमती, पदुमी, पामिली, शान्तिराम, लक्ष्मीकान्त और चंडी बरुआ जैसे आकर्षक चरित्रों से युक्त यह उपन्यास सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है। इस उपन्यास के आधार पर सिने चित्र का भी निर्माण हो चुका है।

असमिया के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास

	उपन्यास	लेखक	समय
१	मनोमती	रजनीकान्त बारदलै	१९००
२	पदुम कुँवारी	लक्ष्मीनाथ बैजबरुआ	१९०५
३	दंडुवा द्रोह	रजनीकान्त बारदलै	१९०९
४	रँगीली	,,	१९२५
५	निर्मल भक्त	,,	१९२६
६	तामेश्वरीर मन्दिर	,,	१९२६
७	रहदै लिगिरी	,,	१९३०
८	पानीपथ	शरत चन्द्र गोस्वामी	१९३०
९	चित्र दर्शन	हरिनारायण दत्त बरुआ	१९३०

मनोमती, पदुम कुँवारी, दंडुवा द्रोह, रँगोली, निर्मल भक्त, तामेश्वरीर मन्दिर, रहदै लिगिरी और चित्रदर्शन की कथावस्तु असमिया इतिहास से ली गयी है। पानीपथ मुगल इतिहास से संबंध रखता है। साहित्यिक टेकनीक की दृष्टि से लेखकों ने

सर वाल्टर स्कॉट और चार्ल्स डिकेंस के पद-चिह्नों का अनुसरण किया है। इन पुस्तकों के कथानकों में कहीं कहीं इतिहास से भेद भी कर दिया गया है पर इससे इन पुस्तकों के साहित्यिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि ही हुई है।

श्रेष्ठत्व के क्रम से मनोमती सबसे अधिक लोकप्रिय ऐतिहासिक उपन्यास है। यह १६०० में प्रकाशित हुआ था। विषय-वस्तु का विन्यास, चरित्र-चित्रण, और सबसे ऊपर, बर्मी आक्रमण के विरुद्ध आसाम के वीरों और वीरांगनाओं के राष्ट्र-प्रेम की अभिव्यक्ति से यह उपन्यास सर्वोत्तम हो गया है।

रँगीली (१६२५)—यह एक अहोम राजा चन्द्रकान्त सिंह की उस दासी की जीवन-घटना है जिसने अपने प्रेमी संतराम के बिछोह में अकथनीय व्यथा सही। जन-मानस को आकृष्ट करने की दृष्टि से इस उपन्यास को द्वितीय स्थान दिया जा सकता है।

"निर्मल भक्त" (१६२६), "पदुम कुँवारी" (१६०५) लोकप्रियता की दृष्टि से तृतीय और चतुर्थ स्थान के भागी हैं।

पदुम, पामिली, मनोमती, 'मनोमती' उपन्यास के प्रमुख स्त्री-पात्र हैं। शान्तिराम, लक्ष्मीकान्त और चंडी बरुआ मनोमती के पुरुषपात्रों में प्रधान हैं। "निर्मल भक्त" के निर्मल भक्त और रूपही तथा "पदुम कुँवारी" के पदुम कुँवारी, सूरज कुमार और फूल भी उल्लेखनीय हैं। रजनीकान्त के 'रँगीली' उपन्यास की रँगीली और उनके "रहदै लिगिरी के रहदै और दयाराम भी आकर्षक हैं।

मनोमती, रँगीली, पदुम कुँवारी, रहदै लिगिरी, निर्मल भक्त, तामेश्वरीर मन्दिर और चित्र दर्शन उपन्यास १७वीं शती से १८ वीं शती तक के असमिया इतिहास से संबन्धित हैं। पानीपथ १६ वीं शती के मुगल इतिहास से संबंध रखता है। 'पाम्पियार प्रलय काहिनी' जैसे कुछ अंग्रेजी से अनूदित उपन्यास भी हैं। यह यूरोपीय इतिहास से सम्बन्ध रखता है। यह उपन्यास अंग्रेजी के "दी लास्ट डेज़ ऑव पाम्पिआई" का अनुवाद है।

श्री देवी प्रसन्न पटनायक

उड़िया उपन्यासों का विकास

उड़िया उपन्यासों के विकास की दिशा का विवेचन करते हुए प्रसन्नता और आश्चर्य दोनों का भाव जागृत होता है। समय के विचार से यह विकास कितना ही स्वल्प हो पर अपने सौन्दर्य के कारण वह श्लाघनीय है। यह बात निःस्संदेह कही जा सकती है कि उड़ीसा के उपन्यासों का विकास पश्चिमी शिक्षा और उस शिक्षा के कारण अस्तित्व में आने वाले नए समाज के परिणाम-स्वरूप हुआ। पर जिस प्रकार अंग्रेजी उपन्यास बहुत कुछ रोमांसों और कहानियों पर आधारित होते हैं, उसी प्रकार उड़िया उपन्यास भी अपने अस्तित्व के लिए बहुत कुछ उड़ीसा में उपलब्ध रोमांस और कथाओं पर अवलंबित हैं। उड़ीसा में अपने धार्मिक कृत्यों से संबंधित लोक-साहित्य या लोक-कथाओं की कमी नहीं है। ये कहानियाँ कभी-कभी केवल विनोद के लिए ही लिखीं जाती हैं। इस प्रसंग में "चतुर विनोद" की तरह की कथाएँ ध्यान में आतीं हैं। पर "चतुरविनोद" या उसकी समसामयिक अन्य कृतियाँ सच्चे अर्थ में उपन्यास नहीं कहीं जा सकतीं। अतः उपन्यासों का विवेचन करते समय हमें और अधिक अर्वाचीन समय से प्रारंभ करना पड़ता है।

उड़िया का सर्व-प्रथम उपन्यासकार कौन है, इस विषय में बड़ा मतभेद है। प्रत्येक उपन्यासकार अपने को प्रथम बतलाता है और इसके लिए कारण केवल यही दिया जाता है कि दूसरे के द्वारा लिखा हुआ उपन्यास पूरे आकार का उपन्यास नहीं है। पर जहाँ तक हमें ज्ञात है रामशंकर राय का 'सौदामिनी' उड़िया का प्रथम उपन्यास है। सन् १८७८ से १८८० में प्रकाशित 'मधुप' नाम के पत्र में यह उपन्यास नियम-पूर्वक छपता रहा था। इस पत्र का प्रकाशन बन्द होने तक इस उपन्यास के लगभग तीस अध्याय प्रकाशित हो चुके थे। उसके बाद यद्यपि लेखक ने उपन्यास के अन्तिम अध्याय भी लिख लिए थे पर वे खो गये। लेखक ने अपनी ग्रंथावली में इस बात को स्वयं स्वीकार किया है। चूंकि यह उपन्यास अधूरा रह गया था, इसलिए लेखक अपने दूसरे उपन्यास 'बिबासिनी' को जो १७६१ में प्रकाशित हुआ था, उड़िया का पहिला उपन्यास बतलाता है। रमेश चन्द्र सरकार ने अपना 'पद्ममाली' उपन्यास १८८७

में लिखा और १८८८ में प्रकाशित कराया। पर रामशंकर उसे उड़िया का प्रथम उपन्यास नहीं मानते, क्योंकि उनका "सौदामिनी" उपन्यास उससे पहिले लिखा जा चुका था।

उड़िया उपन्यासों को हम तीन स्थितियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथमतः रामशंकर राय, गोपालबल्लभ दास और रमेशचन्द्र सरकार के नाम आते हैं। इस प्रथम स्थिति के उपन्यासों में ऊँची कला की खोज करना व्यर्थ है। इन्हें लम्बी कहानी कहना अधिक उचित होगा, जिनमें पात्र कहानी की गति से दबे से रहते हैं और कभी-कभी क्रिया-कलापों से इतना अधिक आक्रान्त हो जाते हैं कि बिल्कुल यांत्रिक से प्रतीत होने लगते हैं। पात्रों के कथोपकथन बहुत लम्बे हैं और पात्रों को अपने चरित्र को स्वतः अभिव्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देने के स्थान पर लेखक उनके गुण-दोषों की सूचना देने के लिए स्वयं विद्यमान रहता है। इन पुस्तकों में लम्बे-लम्बे वर्णनों की भरमार है, जिनसे पात्रों के चरित्र-विकास पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, केवल साधारण और अनुपयोगी अवान्तर प्रसंगों का ही विवेचन होता है। इन प्रथम स्थिति के उपन्यासों की विशेषता है आदर्श का अभाव और दुःखान्त कथाओं का न होना।

दूसरी स्थिति में उपन्यासकार फकीरमोहन सेनापति का आगमन हुआ, जिनकी प्रतिभा आज भी अप्रतिम है। जब कुछ पड़ोसी प्रान्तों के संकुचित और द्वेषपूर्ण प्रचार के कारण उड़िया भाषा की नींव ही हिल गई थी, तब उड़िया भाषा और साहित्य को, और उसके द्वारा उड़िया जाति की रक्षा करने वाले फकीरमोहन सेनापति ही थे। उनकी प्रतिभा सर्वजयी और सर्वतोमुखी थी। गद्य, पद्य, कहानी और उपन्यास सभी में उसका निखार हुआ था। उन्होंने उड़िया उपन्यासों के अब तक के कृतित्व को केवल समुन्नत ही नहीं किया, वरन् उड़िया उपन्यास को किसी भी स्थान के किसी भी प्रगतिपूर्ण उपन्यास की साक्षात् प्रतिद्वन्द्विता में एक विशिष्ट स्थान का भागी भी बना दिया। उनका विषय-निरूपण, उनका चरित्र-चित्रण और सबसे ऊपर उनकी परिचित घरेलू भाषा अपने ढंग की पहिली और अन्तिम चीज थी। तब से कोई भी उड़िया उनकी उत्तमता का अतिक्रमण नहीं कर पाया है। उनके उपन्यासों में जो सब से प्रमुख चीज है, वह है उड़ीसा के सामाजिक जीवन का शत प्रतिशत सच्चा चित्र। यद्यपि वे सुधारक और व्यंगकार थे, पर किसी पर उन्होंने आघात नहीं किया है। उड़िया साहित्य में अब तक कोई भी उनके हास्य-व्यंग को नहीं पा सका है। पर उनके उपन्यासों में उनके अपने दोष भी हैं। उनके पात्रों की संख्या बहुत अधिक है, उनके वर्णन बहुत लम्बे और विस्तृत हैं। पर समूची कृति का प्रभाव इतना जबर्दस्त होता है कि दोष नजर ही नहीं पड़ते। उड़िया में सेनापति का वही स्थान है जो हिन्दी में प्रेमचन्द का, बंगला में बंकिम का और अंग्रेजी में हार्डी का। उनकी कुछ प्रमुख कृतियाँ हैं "छमाण आठगुंठ", "प्रायश्चित्त", "मामुँ"।

फकीरमोहन ने उड़ीसा के दो प्रमुख लेखकों, नंदकिशोर बल और चिन्तामणि महान्ति को, बहुत प्रभावित किया है। सन् १९१५ तक फकीरमोहन अपने चार प्रमुख उपन्यासों को प्रकाशित भी कर चुके थे। नन्द किशोर ने अपनी 'कनकलता' को १९१४ में 'उत्कल साहित्य' पत्रिका में भागशः प्रकाशित कराया और १९२५ में उसे

एकत्र करके उपन्यास का रूप दे दिया। इस कृति में फकीरमोहन की छाप बहुत स्पष्ट है।

उड़िया उपन्यास की तीसरी स्थिति में हम अनेक प्रसिद्ध उड़िया लेखकों के नाम पाते हैं, जिनमें गोपीनाथ महान्ति, कालिन्दी चरण पाणिग्राही, कान्हु चरण महान्ति, राजकिशोर पटनायक, नित्यानन्द महापात्र, गोदवारीश मिश्र और महापात्र आदि कुछ नाम ऐसे महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका यहां उल्लेख कर देना आवश्यक है। उड़िया में इस समय भी बाहरी भाषाओं से अनूदित उपन्यासों की बहुत कमी है। उड़िया उपन्यासों के इस वर्तमान युग की विशेषता है मनोविज्ञान के प्रति आग्रह और कुचले हुए वर्ग के प्रति सहानुभूति। बहुसंख्यकों की यातना का विवेचन करने वाले उपन्यास बहुत कुछ प्रचार-साहित्य का रूप ले लेते हैं। कालिन्दी चरण पाणिग्राही का 'लुहार माणिप' इसका एक उदाहरण है। गोपीनाथ महान्ति का आदिवासियों के जीवन पर लिखा गया उपन्यास 'अमृतर सन्तान' अकादेमी के द्वारा उड़िया का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना गया है। उड़िया के आधुनिक उपन्यास जीवन की वस्तु-स्थिति की ओर ढले हुए होने के कारण साधारण पाठक को अपनी ओर बहुत आकर्षित करते हैं।

उड़िया के ऐतिहासिक उपन्यास :

प्रत्येक व्यक्ति इतिहास को एक अलग दृष्टिकोण से देखता है। इतिहास साधारणतः तथ्यों का निरूपण करता है और इसलिए उसमें कला बहुधा नहीं होती। पर ऐसा नहीं है कि इतिहासकार को अपनी रचना में कला के उद्घाटन का अवसर ही न हो। ऐतिहासिक उपन्यासकार किसी काल-विशेष के तथ्यों का निरूपण करते हुए भी मानव जीवन के सत्यों को इस रूप में अंकित कर सकता है कि वे साहित्य की चिरस्थायी सम्पत्ति हो जायँ।

विज्ञान के इस युग ने साहित्य में वस्तु-सत्यों के निरूपण का अवसर दिया और इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों के विश्लेशण का भी सुयोग हुआ। इतिहास के तथ्य इतिहास की महान् घटनाओं से भी महत्व पूर्ण बनने लगे। राष्ट्रीय जागरण के युग में सचेत मन ने अतीत को एक ऐसी दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया जिससे वह वर्त्तमान और भावी को एक सूत्र में आबद्ध कर सके।

इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए उड़िया के ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में कुछ बातें निश्चित रूप से कही जा सकती हैं।

प्रथम प्रकाशित उपन्यास है काहनु चरण महान्ति का 'शर्बरी'; इसमें उन्होंने आरम्भ से लेकर आज तक के मानवीय समाज के विकास की कथा लिखी है। भूमिका में लेखक ने लिखा है कि उसने मानवता को पिछले बीस हजार वर्षों से देखा है। उसके पात्र रात के सपनों में आए हैं और चले गए हैं। उन्होंने प्रागैतिहासिक जीवन के प्रति अपना प्रेम तो प्रदर्शित कर दिया है, पर उपन्यास आत्यन्तिक अयथार्थता से मुक्त नहीं है।

वास्तव में प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'पद्ममाली' है, जिसका उल्लेख हम

पहिले कर चुके हैं। इस उपन्यास में अलाउद्दीन खिलजी और चित्तौड़ पर उसकी चढ़ाई का वृत्तान्त है। उपन्यास का नायक राणा का पुत्र जयसिंह है और उसकी बचपन की मित्र सौदामिनी उपन्यास की नायिका है। इस उपन्यास का विभाजन 'दशकुमार चरित' की याद दिलाता है। दूसरा उपन्यास रामशंकर राय का 'बिबासिनी' है जिसका विषय है उड़ीसा में मराठों के अत्याचार और प्रान्त का तत्कालीन शासन। उन्होंने विधवा-विवाह के विरुद्ध अपने कुछ विचार भी इसमें व्यक्त किये हैं और अच्छे लोगों के पुरस्कार के रूप में बुरों को दंडित करने की वकालत की है। ऐतिहासिक तथा भौगोलिक कारणों से इसकी महत्ता होते हुए भी पुराने ढंग की वर्णन शैली के कारण साहित्यिक दृष्टि से इसकी कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं है।

'पद्ममाली' के लेखक ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि मुझे उड़िया भाषा के किसी अन्य उपन्यास का पता नहीं है। अपनी पुस्तक के सन् १९१२ के द्वितीय संस्करण में भी उसने यह दावा किया है कि यह उड़िया का पहिला उपन्यास है। इस पुस्तक का संबंध उड़ीसा की एक छोटी-सी रियासत नीलगिरी के इतिहास से है। इसमें नीलगिरी को हड़पकर ब्रिटिश राज्य में मिलाने और बालेश्वर जिले के मजिस्ट्रेट हेनरी रिकेट्स की कचहरी में नीलगिरी की जनता के मुकदमे का वर्णन है। अधिकांश तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक हैं। उन दिनों गड़जातों का शासन खतरे में था। अक्सर अंग्रेजों और गड़जात के राजाओं मे लड़ाई हुआ करती थी। उपन्यास में जो प्रेम-कथा दी गयी है, वह कोरी कल्पना है, जिसे पाठक को आकृष्ट करने के हेतु ही वहाँ रख दिया गया है। इस प्रेम-कथा में एक दुष्ट के द्वारा उसकी सुरक्षा की बात कही गई है। 'पद्ममाली' के दूसरे संस्करण के समय तक रामशंकर राय की 'बिबासिनी' प्रकाशित हो चुकी थी, पर लेखक ने इस उपन्यास को चर्चा के योग्य नहीं समझा। 'पद्ममाली' के अतिरिक्त भी श्री सरकार 'मुकुट' नाम की पत्रिका में 'उदासी' नाम से एक उपन्यास का नियमित प्रकाशन कर रहे थे। इसकी विषय-वस्तु क्योंझर रियासत की क्रान्ति थी।

ऐतिहासिक उपन्यासों की दृष्टि से फकीरमोहन की 'लछमा' नाम की कृति बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सबसे पहिले १९१४ में प्रकाशित हुई थी। इस उपन्यास में उड़ीसा में शक्ति-ग्रहण करने के लिए मुगलों और मराठों के बीच के १७४१ से ५१ के संघर्ष का और उसके द्वारा उत्पन्न अशान्ति का वर्णन है। उस जमाने में अलीवर्दीखाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा का नाजिम था और मुर्शिद कुली खाँ उड़ीसा का नायब नाजिम था। अलीवर्दी खाँ अपने दामाद को उड़ीसा का नायब नाजिम बनाना चाहता था। अतः उसने मुर्शिद कुलीखाँ से युद्ध किया और उसे परास्त कर दिया। मुर्शिद के एक मित्र ने नागपुर के रघुजी भोंसला की शरण ली। भोंसला ने भास्कर पंडित की अध्यक्षता में एक फौज भेजी। भास्कर अन्त में कत्ल कर दिया गया। उड़ीसा में दीर्घ काल तक भयंकर अशान्ति रही और जनता को बहुत कष्ट उठाने पड़े: लछमा की कहानी तो केवल एक अवान्तर प्रसंग है, जिसे पूरी कथा की औपन्यासिक रोचकता को बनाये रखने के लिए जोड़ दिया गया है। पर अलीवर्दी,

मुर्शिद कुलीखाँ, भास्कर पंडित आदि पात्र बिल्कुल ऐतिहासिक हैं। इन्होंने उस जमाने में सचमुच युद्ध किए थे। राईबणिया, हलदीपदा, फुलउआरा जैसे स्थान भी ऐतिहासिक हैं। फकीरमोहन ने उड़ीसा और भारतवर्ष के इतिहास को पढ़ा था और इतिहास के सूखे ढाँचे पर अपनी जीवित कल्पना का रंग चढ़ा कर उन्होंने इस अत्यंत लोकप्रिय उपन्यास 'लछमा' को प्रस्तुत किया।

फकीरमोहन के बाद दो व्यक्तियों का नाम लिया जा सकता है। एक हैं 'अन्नपूर्णा' के लेखक मृत्युञ्जय रथ, और दूसरे रामचन्द्र आचार्य जिन्होंने उड़ीसा में मुगलों और मराठों के संघर्ष के विभिन्न पक्षों पर आधारित 'कालापहाड़,' 'कमल कुमारी' और 'वीर उड़िया' की रचना की।

सन् १५६८ में उड़ीसा के अन्तिम स्वतन्त्र राजा श्री मुकुन्द देव को एक उड़िया ने सारंग गड़ के घेरे के समय परास्त किया और मार दिया। उसकी मृत्यु के बाद मुगलों का आगमन हुआ और फिर दो सौ वर्ष बाद १७५१ के लगभग मराठे उड़ीसा में आए। मुगल अपनी विलासिता के कारण और मराठे अपने आततायीपन के कारण उड़ीसा में सफल नहीं रहे। हिन्दू धर्म पर मुसलमानों के आक्रमण का और उड़ीसा के हिन्दू-मंदिरों के विध्वंस का इतिहास बतलाने वाली कृतियों में 'कालापहाड़' एक दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम है। रामचन्द्र आचार्य ने केवल इतिहास के तथ्यों को एक जगह जुटाने का ही कार्य नहीं किया उन्हे सुन्दर औपन्यासिक रूप देने का भी सफल प्रयास किया है। उनकी शैली आकर्षक है। उनका 'वीर उड़िया' उपन्यास उड़िया में मुसलमानों के अत्याचार की कथा कहता है। अपने उपन्यास में लेखक ने वर्तमान उड़िया संतति को अपने गौरवपूर्ण अतीत में श्रद्धा जगाने की प्रेरणा दी है। उन्होंने यह भी दिखाया है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही देव और दानव प्रकृति के व्यक्ति हैं। किसी एक व्यक्ति के बुरे कृत्यों के कारण दोनों जातियों में पारस्परिक घृणा का भाव उत्पन्न करना उचित नहीं है।

रामचन्द्र आचार्य का दूसरा उपन्यास है 'पीयूष प्रवाह' : १९३५। यह विक्टर ह्यूगो के 'ला मिज़राब्ल' के ढँग पर लिखा गया है। गोदावारीश की 'अभागिनी' की विषय-वस्तु भी लगभग वही है जो 'पीयूष प्रवाह' की। 'पीयूष प्रवाह' वाटरलू के युद्ध से प्रारंभ होता है। 'अभागिनी' में बांकी उड़ीसा के राजा के अंग्रेजों के साथ युद्ध का वर्णन है। 'पीयूष प्रवाह' के फ़्रांसीसी पात्रों के स्थान पर 'अभागिनी' में उड़िया पात्र लाये गऐ हैं।.'पीयूष प्रवाह' की 'मेरी' की तरह 'अभगिनी' की 'राधा' का चरित्र आदर्शवादिता के रंग में रंगा गया है। यद्यपि दोनों उपन्यासों की विषय-वस्तु समान है, पर वे दोनों ही पठनीय हैं। 'अभागिनी' 'पीयूष प्रवाह' से कम सफल है।

गोदावारीश मिश्र का एक बहुत सफल उपन्यास है '१८१७'। उड़ीसा सन् १९०३ में ब्रिटिश शासन में आया उस काल के अंग्रेजों के आधिपत्य और अत्याचार की कथा इस उपन्यास में है। पर खोर्द्धा के पाईक वीर आसानी से अंग्रेजों के कब्जे में नहीं आये, यद्यपि अंग्रेजों ने उन्हें पूरी तरह कुचल देने के लिए आक्रमण पर आक्रमण किये।

लगभग ग्यारह बार समझौते हुए । कौड़ी की जगह सिक्के चलाए गये । विनिमय की दर ऐसी थी कि लोगों को जितना देना चाहिए था उससे डयौढ़ा देना पड़ता था। उड़ीसा का राजा मुकुन्द देव जेल में डाल दिया गया था और इस बात ने उड़ीसा की जनता के हृदय को क्लेश पहुँचाया। देवता की तरह पूजे जाने वाले उड़ीसा के इस राजा पर आक्रमण और नमक पर कर, ये दो ही मुख्य कारण थे; जिन्होंने समस्त उड़िया विद्रोहियों को एक ध्वज के नीचे इकट्ठा कर दिया, यद्यपि उनका विद्रोह बाद को कुचल दिया गया। लेकिन उन्नीसवीं शती का यह अंग्रेजों के प्रति किया गया विद्रोह बीसवीं शती के स्वतन्त्रता संग्राम का अग्रदूत था। लेखक का कृतित्व वास्तव में सफल रहा है।

कान्हु चरण महान्ति का 'हा अन्न' (१९४६) उपन्यास एतिहासिक उपन्यासों के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी विषय-वस्तु उड़ीसा के १८६६ के अकाल की दुःख-पूर्ण कहानी है, जो उड़ीसा में ब्रिटिश शासन के इतिहास की एक कालिमा-पूर्ण घटना है। इस अकाल के परिणाम स्वरूप उड़ीसा की एक चौथाई जनता भूख से मर गई। उपन्यास में बड़े मार्मिक ढंग से यह दिखाया गया है कि किस प्रकार से बंगाली क्लर्कों ने नाम मात्र को कीमतों पर उड़ीसा की जमींदारी को खरीद लेने की युक्ति निकाली। बंगाली अफसरों ने उड़िया लोगों द्वारा लगान से मुक्ति पाने के लिये दी गई सब दरख्वास्तों को छिपा लिया और अपने अंग्रेज मालिकों को बंगालियों के हाथ उड़ीसा की जमीन बेच देने के लिए मनाया। तब से वे अपनी कमीनी हरकतों से उड़ीसा की जमीन के मालिक बन बैठे। इस उपन्यास का कोई भी पात्र उमा, जगू, नेती आदि ऐतिहासिक नहीं है। पर फिर भी शैली के प्रवाह के कारण और तथ्यों के संयोजन तथा मानवीय भावावेशों के उत्तेजन की क्षमता के कारण, यह उपन्यास एक सफल रचना है।

कान्हु चरण के दो उपन्यास 'स्वप्न ना सत्य' और 'बलिराजा' भी ऐतिहासिक उपन्यास माने जा सकते हैं। 'स्वप्न ना सत्य' में उड़ीसा के गड़जात सरदारों द्वारा अपने अंग्रेज मालिकों की छत्रछाया में किए गए अत्याचारों की कथा वर्णित है। प्रपंचसिंह, सर्वनाश, उच्छन्न और उद्धत आदि पात्रों के नाम बिल्कुल कल्पित हैं। पर ये किसी भी गडजात परिवार के लिए सही हो सकते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि इस उपन्यास को बहुत कुछ सामग्री कटक से थोड़ी दूर स्थित ढेंकानाल रियासत के बुरे शासन से ली गई है। इस पुस्तक में राज्य के अत्याचारों के प्रति प्रजा के विद्रोह की कथा कही गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस उपन्यास को केवल भविष्य की कल्पना कहा जा सकता है क्योंकि उन गड़जात राज्यों में बाद में जो कुछ हुआ वही इसमें वर्णित है। 'बलिराजा' (१९२९) में उड़िया लोगों के ऐश्वर्य, जावा, सुमात्रा, बाली और बोर्नियो से उनके व्यापार और वहाँ उनके उपनिवेश बसाने की चर्चा है। एक उड़िया युवक को बाली के सिंहासन पर अधिकार करने में सफल दिखाया गया है। उसने सब समुद्री डाकुओं का अन्त कर दिया और उड़ीसा और बाली में अच्छे व्यापारिक संबंध स्थापित किए। पुराने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इस उपन्यास की सर्जना

बहुत सफल हुई है। यद्यपि हार्डी के 'वुडलैंडर्स' का प्रभाव इस पर लक्षित होता है, पर स्वयं अपने गुणों मे भी यह उपन्यास प्रशंसनीय है।

बिबुधेन्दु का '१९४२' नामक उपन्यास अंग्रेजों के विरुद्ध सन् १९४२ के विद्रोह को लेकर लिखा गया है। सन् १९४२ का नौ अगस्त का दिन इस देश में बहुत प्रसिद्ध है। इस उपन्यास में विभिन्न प्रकार के लोगों की मानसिक विवेचना की गई है। राष्ट्रीयतावादी विद्यार्थी, पुलिस सब इंस्पेक्टर, विद्यार्थी नेता सभी की चर्चा इसमें है। मीना और किशोर का त्याग सचमुच बड़ा है। '१९४२' उपन्यास संघर्ष की कहानी अधिक है उपन्यास कम।

कालिन्दी चरण पाणिग्राही उड़ीसा के सर्व प्रमुख उपन्यासकारों में माने जाते हैं। उनका 'मुक्तागड़रक्षुधा' नामक ऐतिहासिक उपन्यास उस समय लिखा गया जब देश में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष चल रहा था और लोग वास्तव में इस पुण्य कार्य के लिए उत्सर्ग कर रहे थे। इस उपन्यास में लेखक ने प्रजा पर शासन करने वाले वर्ग के प्रतिनिधि नायक शुभकान्त के हृदय-परिवर्तन को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। पर स्वतन्त्रता के बाद इस समय में इस पुस्तक का बहुत-सा महत्त्व समाप्त होगया है। स्वतन्त्रता के प्रति अपने अनुराग के कारण और प्रेम के साम्राज्य की स्थापना के प्रति अपने आकर्षण के कारण लेखक ने 'मुक्ता गड़र क्षुधा' से बहुत पहिले 'माटिर माणिप' उपन्यास लिखा। किसी सीमा तक, जैसा कि लेखक ने स्वयं भी स्वीकार किया है, 'मुक्तागड़र क्षुधा' को प्रचार-साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। लेखक की 'अमरचिता' में शुभकान्त के जीवन में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देता है। जनता की सेवा के लिए हत्या और डकैती को भी साधन बनाया गया है। शुभकान्त एक साधारण अज्ञात व्यक्ति की तरह इस संसार में आया और बिना प्रसिद्धि लाभ किए हुए अनजाने ही चला गया। पर उसका जीवन का लक्ष्य केवल एक था––मनुष्य की सेवा।

इस लेख को समाप्त करने से पूर्व गोदावारीश महापात्र के 'राजद्रोही' उपन्यास का भी उल्लेख कर देना चाहिए। यदुवंश और भोईवंश के शासन काल में विदेशी व्यापारी उड़ीसा के समुद्र-तट पर उपद्रव खड़े कर रहे थे और दासों का व्यापार करते थे। किस प्रकार से राजा का पुत्र कुहुडि समुद्री डाकुओं द्वारा पकड़ा गया और निर्वासित किया गया और किस प्रकार वह वापस आया और गद्दी का अधिकारी बना, यह कथा इस उपन्यास में वर्णित है। यह वह समय था जब उड़ीसा में मुसलमान शासकों के अत्याचार जारी थे और देश मुगलों की लूटमार और डकैतियों से काँप रहा था। मुगल लोग खोर्धा के दुर्दान्त सरदार को दबाने में प्रयत्नशील थे और पुरी के मन्दिरों के पुजारी जगन्नाथ को सदैव इन नारकीय मुसलमानों और मुगलों से छिपाए रहते थे। खोर्द्धा के सिंहासन पर सरदारों की एक महत्त्वपूर्ण परम्परा चली और नारकीय मुसलमानों के प्रति उनकी स्वतन्त्रता की लड़ाई ही इस पुस्तक की मुख्य विषय-वस्तु रही। इतिहास के तथ्यों और उपन्यास की कल्पनाओं ने इस पुस्तक के रूप में सचमुच एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न हमारे समक्ष रखा है।

उड़ीसा के ऐतिहासिक उपन्यासकारों के विषय में कुछ विशेष ध्यान देने की बातें निम्नलिखित हैं। प्रथमतः वे अतीत के इतिहास के प्रति अनुरक्त थे पर उस पर एक विशेष मनोहारिता के साथ प्रकाश डालने का प्रयत्न उन्होंने किया। दूसरी बात थी वर्तमान को अतीत के आलोक में देखना और संघर्षमय भविष्य के लिए अतीत से प्रोत्साहन ग्रहण करना। उनके मन में यह भावना थी कि वे एक ऐसी पीढ़ी को जन्म दे सकें जो अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के लिए सर्वत्र प्रस्तुत रहे।

श्री गुरुनाथ जोशी

कन्नड़ के ऐतिहासिक उपन्यास

यह सभी साहित्यकार जानते हैं कि प्राचीन महाकाव्यों में कुछ प्रसंगों का विवरण देने के लिए गद्य की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसके फलस्वरूप चंपू काव्यों की परम्परा चली। कन्नड़ और अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् समालोचक प्रिन्सिपल श्री वि० कृ० गोकाक की राय है कि आज जीवन में विविधता के बढ़ जाने से समाज बहुमुखी बना हुआ है। विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के विशिष्ट प्रादुर्भाव से उत्पन्न विविधता एवं संकीर्णता का निरूपण करने के लिए पद्य उपयोगी माध्यम नहीं बन सकेगा और गद्य ही उपयोगी ठहरेगा। आधुनिक उपन्यास ही प्राचीन महाकाव्यों का काम कर सकेगा। War and Peace, Forsy Saga, The Brothers Karamazor आदि उपन्यास इस कथन के साक्षी हैं। महाकाव्य की कथावस्तु आज उपन्यासों की कथावस्तु बनी हुई है।

कन्नड़ साहित्य के विकास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि आधुनिक उपन्यास का-सा रसानुभव कराने वाले ग्रंथों का निर्माण कन्नड़ में हुआ है, यद्यपि कन्नड़ के साहित्यकारों की अभिरुचि और आसक्ति विशेषतः धार्मिक थी। धार्मिक ग्रंथों के साथ साथ लौकिक ग्रंथों की परंपरा भी चली आई है। पर वे अधिकांश में चंपू शैली में हैं और कुछ 'सांगत्य' नामक छंद में हैं। १०वीं सदी के अंत में बाणभट्ट की कादंबरी* का कन्नड़ में, चंपू शैली में, प्रथम नागवर्म ने अनुवाद किया; वह कर्नाटक कादंबरी के नाम से विख्यात हुई (९९०)। कन्नड़ साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० रंगनाथ मुगकीजी की राय में नागवर्म की यह रचना मौलिक रचना के सत्व से युक्त कन्नड़ साहित्य के अमर ग्रंथों में एक है और इसका जितना सुंदर भाषांतर कन्नड़ में हुआ है, उतना और किसी ग्रंथ का अनुवाद कन्नड़ में नहीं हुआ है। इस प्रकार उपन्यास के समान रसानुभव एवं आनंद प्रदान करने वाले ग्रंथ एक के बाद एक कन्नड़ में आने लगे जिनमें नंजुंड कवि (१५२५) तथा गंग कवि (१६५०) द्वारा रचित 'कुमार राम की कथा' गोविंद वैद्य (१६५०) रचित 'कंठीरव नरसराज विजय', तिरुमलार्य (१७०६) रचित 'चिक्कदेवराज विजय', लिंगण्ण (१७५०) रचित 'केलदि नृप विजय' प्रसिद्ध हैं। इनके

* कादंबरी का कन्नड़ में अर्थ होता है उपन्यास।

बाद ठेठ कन्नड़ गद्य में केंपुनारायण (१८५०) का 'मुद्रामंजूष' आया जो कन्नड़ का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास कहलाने योग्य है।

सामान्यतः कन्नड़ साहित्य के इतिहास में १९वीं सदी अवनति का काल है। पर उसमें साहित्यिक जीवन के लिए उपयुक्त परिवर्तन करने की, नये साहस को और उद्देश्य को सिद्ध करने की शक्तियाँ बढ़ने लगीं। कन्नड़ साहित्य के इतिहास में उनके फलस्वरूप बीसवीं सदी के साहित्य निर्माण की नींव पड़ी। पुराने और नये विचारों के बीच में किसी प्रकार का संघर्ष हुए बिना साहित्यिक रीति-नीति से संबंधित सांप्रदायिक विचार लुप्त होने लगे और गद्य की ओर पंडितों की जो कुछ तिरस्कार की भावना थी वह भी दूर होने लगी। गत सदी के तीसरे दशक में आधुनिक गद्य का श्रीगणेश हुआ और यह कार्य कर्नाटक में निवास करने वाले पादरियों ने शुरू किया। उनसे स्फूर्ति पाकर कुछ कन्नड़ सेवकों ने समाचार पत्रों का प्रकाशन शुरू किया। गद्य में सुलभता भी आने लगी। इस प्रकार बदलते हुए गद्य में अधिक मात्रा में अनुवादित रचनाएँ आने लगीं और इसका परिणाम यह हुआ कि गद्य एक सुंदर स्तर पर पहुँच गया। यह परकीय भाषाओं की रचनाओं के अनुवाद से ही हुआ। यह अनुवाद-कार्य १९वीं सदी के तीसरे दशक से शुरू होकर अंतिम दो-तीन दशकों में विशेष रूप से हुआ।

आधुनिक उपन्यासों की उत्पत्ति तो अनुवादित उपन्यासों से ही हुई। एक ओर से पादरियों के प्रचार के साधन, बाइबिल की कहानियाँ, दूसरी ओर से उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' जैसी कहानियाँ, अन्य भाषाओं से कन्नड़ में आने लगीं। परन्तु इन अनुवादित उपन्यासों की सूक्ष्म विवेचना न करके इतना ही कहना ठीक होगा कि आधुनिक उपन्यासों की रचना को प्रोत्साहन मिला Bunyan की रचना पिलग्रिम्स प्रोग्रेस के उस अनुवाद से जो १८४७ में T. Weigh ने किया, और डीफो की रचना राबिनसन क्रूसो के उस अनुवाद से जो १८५४ में एस० वी० कृष्णस्वामी ने प्रस्तुत किया। इनके बाद अरबी से कुछ कहानियाँ श्री वेंकट रंगो कट्टी द्वारा अनुवादित होकर आईं। इन रचनाओं ने लेखकों और पाठकों में एक नवीन मनोभूमि तैयार की। अंग्रेजी उपन्यासों को अनुवाद करने का प्रोत्साहन १८६५ के उपरांत मैसूर के नरेशों से अधिक मिला। अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद से कन्नड़ का उपन्यास-लेखन नया मार्ग लेने लगा। हू-ब-हू अनुवाद का मार्ग छोड़कर कुछ लेखक दूसरे रूप में विदेशी कहानियाँ कन्नड़ में लाने लगे (१८७५)। उदाहरण के रूप में Romeo and Juliet के आधार पर श्री वेंकटेश भीमराव भंडिवाड़ लिखित 'कमलाक्ष पद्मगंधी की कथा' को ले सकते हैं।

इनके उपरांत कन्नड़ में बी० वेंकटाचार्य जी ने बँगला से विशेषतः बंकिम बाबू के उपन्यासों का अनुवाद किया। बंबई कर्नाटक में वेंकटेश तिरको कुलकर्णी 'गळगनाथ' ने मराठी से हरिनारायण आपटे के उपन्यासों का सुंदर अनुवाद कन्नड़ में करना शुरू किया। इस प्रकार मराठी और बँगला से जो उपन्यास कन्नड़ में अनुवादित होकर आये वे विशेषतः ऐतिहासिक थे। उनमें देशाभिमान, स्वधर्माभिमान, धैर्य, साहस आदि गुण भरे हुए थे और उनका असर न केवल पाठकों पर पड़ा, बल्कि लेखकों पर भी पड़ा। मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रेरणा उनसे मिली। इसके अतिरिक्त बीसवीं सदी में जो आंदोलन

हुए और होनेवाले थे उन्होंने राष्ट्र में नव जागृति फैलाई और कन्नड़ साहित्य और संस्कृति की रक्षा एवं प्रगति के लिए मैसूर के नरेशों से प्रोत्साहन मिला। कन्नड के सेवा निवृत्त प्राध्यापक श्री ए० आर० कृष्ण शास्त्रीजी इन अनुवादों के बारे में कहते हैं कि कन्नड़ में आये हुए अन्य भाषाओं के ग्रंथ कन्नड़ के ही हैं, दूसरी भाषा के नहीं हो सकते, जैसे पराये घर से हमारे घर ब्याह होकर आई हुई कन्या अपनी ही हो जाती है। फिर भी कन्नड़ में मौलिक ऐतिहासिक प्रथम उपन्यास **'मुद्रामंजूष'** ही है जिसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। उसकी विशेषता यह है कि वह संस्कृत के 'मुद्राराक्षस' के आधार पर लिखा हुआ है, किन्तु यह अनुवाद नहीं है। केंपुनारायण ने १८२३ में तृतीय कृष्णराज के आस्थान में आश्रय में रहकर यह ग्रंथ लिखा। इसकी शैली प्रौढ़ और कहीं-कहीं सरल है। आधुनिक कन्नड़ गद्य का रूप इसमें मिलता है। इसकी कथावस्तु चाणक्य और चंद्रगुप्त विषयक है।

ऊपर कह आये हैं कि 'मुद्रामंजूष' के बाद अनुवादित उपन्यास ही कन्नड़ में विशेषकर आये। हमारे काल में ही मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास देनेवाले श्री गळगनाथजी हैं। इन्हीं के लिखे हुये 'कुमुदिनी' नामक उपन्यास को आधुनिक कन्नड़ का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास मानने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती। 'कुमुदिनी' की कथावस्तु उस समय की है जब कि विजयनगर के राजा अपना साम्राज्य खोकर छोटी सी रियासत चंद्रगिरी के लिए आपस में लड़ने लगे। एच्चमनायक इसका प्रधान नायक है और कुमुदिनी प्रधान स्त्री पात्र है। इसकी रचना १९१३ में हुई। इसके लेखक गळगनाथजी सामान्य प्राथमिक शाला के शिक्षक थे। हरिनारायण आपटे के उपन्यासों का और लोकमान्य तिलक का आप पर अप्रत्यक्ष रूप से असर हुआ और भाषा-सेवा को ही देशसेवा समझकर ये काम करने लगे। आपटे के उपन्यासों के साथ-साथ मौलिक उपन्यास रचना की प्रवृत्ति बढ़ी। आप का जन्म १८६८ में हुआ और मृत्यु २२–४–१९४३ को हुई। आपने कठिनाई से जीवनयापन करते हुए, 'सद्बोध चंद्रिका' नामक पत्रिका का संपादन करते हुए कन्नड़ साहित्य की खूब सेवा की। आपके अनुवादित उपन्यासों में **कमलकुमारी** (१९१०), **सत्वसार** (१९११), **'कन्नडिगर कर्मकथे'** (१९१६), **कुरुक्षेत्र, धर्मरहस्य** (१९२१) आदि प्रसिद्ध हैं। कुमुदिनी के उपरांत आपने **माधव करुणा विलास** नामक एक मौलिक बृहत् ऐतिहासिक उपन्यास १९२३ में लिखा, जिसमें विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की कथा का वर्णन है जिसके पढ़ने से बाहें फड़कने लगती हैं। उनमें निरूपित तत्वज्ञान से मन की उदात्तता बढ़ती है।

कुमुदिनी के उपरांत आये हुए मौलिक के समान लगनेवाला उपन्यास **'मडिद्युण्णे महाराया'** १९१५ में प्रकाशित हुआ जो श्री० एम० एस० पुट्टण्ण का लिखा हुआ है। उसमें तृतीय कृष्णराज ओडेयर के काल की कथा है।

यदुमहाराज––नामक मौलिक उपन्यास यद्यपि १९११ से 'सचित्र भारत' नामक पत्रिका में प्रकाशित होता रहा पर पुस्तक के रूप में वह १९१६ में आया। इसमें मैसूर राज्य के संस्थापक यदुमहाराज की कथा है। इसके लेखक हैं दिवंगत केरूर वासुदेवाचार्यजी।

वे वकालत करते हुए कन्नड़ साहित्य की सेवा करते रहे। इनके उपरांत आये हुए मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासों में से प्रधान उपन्यासों का ब्योरा नीचे लिखे अनुसार है—

हमीर या अद्भुतशौर्य—१९१८-१९ में श्री० आर० आर० गुड़िसागर और श्री० एल० जे० बेन्द्रेजी द्वारा लिखा गया और उसकी कथावस्तु राजस्थान के प्रसिद्ध राना हमीर की कहानी है।

नूरजहाँ—१९२० में पंडित केशवशर्मा गलगली ने लिखा। सम्राट् जहाँगीर की दिल की रानी नूरजहाँ की शूरता और कुशलता का वर्णन इसमें मिलता है।

माधवकरुणा विलास—१९२३ में श्री गळगनाथ जी द्वारा रचित सुन्दर उपन्यास है जिसका उल्लेख परिचय के साथ पहले किया गया है। इसी वर्ष एक और ऐतिहासिक उपन्यास कन्नड़ में आया और वह है, **नरगुंद बंडाय**। इसके लेखक हैं पंडित वी० जो० हुलिकवि। इस उपन्यास की कथावस्तु १८५७ से संबंधित है। नरगुंद (धारवाड़ जिला) के नरेश अप्पा साहब ने अंगरेजों से लड़ाई की थी। उसी का वर्णन इस में है।

मयूर—१९३० में श्री० देवुडु की समर्थ कलम से निकला। कदंब राजकुल के मयूर ने अपना राज्य जीत लिया, इसका वर्णन इसमें है। इसमें कन्नड़ जनता की संस्कृति का चित्र भी है और १६०० वर्षों के पहले विद्यमान यंत्रों का भी वर्णन है। इसमें इतिहास की अपेक्षा काल्पनिक सामग्री अधिक है।

राजयोगी—उपन्यास १९३४ में प्रकाशित हुआ और **अशांति पर्व** १९३५ में। ये दोनों उपन्यास श्री० बेटगेरी कृष्णशर्म 'आनंदकंद' की सत्वशाली लेखनी के फल हैं। **राजयोगी** में शुरू हुई कहानी **अशांति पर्व** में समाप्त हुई है। इन दोनों उपन्यासों में आये हुए विरूपाक्षराय, राजशेखर, पेद्दण्ण, नरसिंह नायक, मल्लिकार्जुन देव विजयनगर साम्राज्य के काल में प्रसिद्ध पुरुष थे। राजशेखर तो मल्लिकार्जुन देव, विजयनगर के सम्राट का पुत्र था। उसकी प्रियतमा हेमांबिका थी, परंतु दैवयोग से उसका विवाह विरूपाक्षराय से हुआ। राजशेखर ने हेमांबिका से कहा कि साम्राज्य के सम्मान की रक्षा करना ही जीवन का ध्येय हो। मुसलमानों के कुतंत्र से एक मुसलमानिन सम्राज्ञी बनाई गई तो राजशेखर ने विरूपाक्षराय की हत्या कर दी। पर अंत को उसी की हत्या ईश्वर-नायक की कुटिल नीति से हुई और सब जगह अशांति फैल गई। इसी कथा का विस्तार इन दोनों उपन्यासों में है। ये दोनों उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रथम श्रेणी के हैं और कन्नड़ साहित्य के सुन्दर रत्न हैं। श्री० बेटगेरी जी प्रसिद्ध कवि, कथाकार तथा संपादक हैं।

दौलत—

१९३७ में टीपू सुल्तान की कथा को लेकर दूसरी बार प्रकाशित हुआ। इसके लेखक हैं वीरकेसरी सीताराम शास्त्री जी। आप ही की कलम से एक और उपन्यास 'नगरद रानी' १९५३ में प्रकाशित हुआ।

औरंगजेब—

१९४६ में केरूर वासुदेवाचार्य जी की लेखनी से निकला। कथावस्तु का परिचय खुद उपन्यास का नाम ही देता है।

सम्राट हर्षवर्धन—

१९४६ में श्री नागेश द्वारा लिखा गया। स्थानेश्वर के प्रभाकरवर्धन के शासन के अंतिम भाग से लेकर हर्षवर्धन के शासन के अंत तक का इतिहास और पुलकेशी की कहानी इसमें वर्णित है।

१९४७ में भारत को स्वतंत्रता मिली। उसके बाद ऐतिहासिक उपन्यास कुछ अधिक संख्या में निकलने लगे। उनमें प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास ये हैं:—

कलिंग विजय—

की दूसरी आवृत्ति १९५१ में छपी। इसमें कृष्णदेवराय की कलिंग विजय की कथा वर्णित है और यह श्री मुरली की लेखनी से निकला है।

कुंतलेश्वर—

१९४९ में निकला हुआ प्रसिद्ध उपन्यास है। इसके लेखक हैं श्री० पाँ० भी० देसाई जी, जो कर्नाटक के प्रसिद्ध इतिहास संशोधक हैं। विक्रमादित्य (६ वाँ) कल्याण राजधानी में राज्य करता था। वह चालुक्य वंश का प्रसिद्ध राजा था। उसी की कथा इस उपन्यास में वर्णित है। इसका भी कन्नड़ साहित्य में श्रेष्ठ स्थान है।

वीर बंकेय—१९४८-४९ में प्रकाशित हुआ। इसके लेखक कन्नड़ के प्रसिद्ध विद्वान मुळिय तिम्मप्पय्याजी थे। इस उपन्यास में नृपतुंग कुमार, कृष्णराज के सामंत बंकेय कुमार की वीरगाथा वर्णित है। धारवाड़ जिले में बंकापुर नामक स्थान है जो प्राचीन काल में बंकेयपुर के नाम से पुकारा जाता था। इस उपन्यास का नायक इसी बंकेयपुर का निवासी था। ऐतिहासिक उपन्यासों में उसको भी उच्च स्थान प्राप्त है।

चेन्नबसव नायक—१९४९ में कर्नाटक के प्रसिद्ध कवि, कथाकार, नाटककार, समालोचक श्री मास्ति वेंकटेश ऐयंगार 'श्रीनिवास' की अमर लेखनी से निकला हुआ उपन्यास है। चेन्नबसव नायक शूर तथा संकोचशील व्यक्ति था। वह चाहता था कि नगर को हैदरअली के कब्जे में न जाने दिया जाय। मगर उसने शांतव्वा के गुणों पर लट्टू होकर नगर को खो दिया। वह अपने पति के लिए बलि हो गई। बिदनूरु ऐतिहासिक स्थान है। बसप्पनायक की महारानी के दुर्व्यवहार के कारण, मैसूर के शासन की अव्यवस्था से बिदनूरु हैदर के कब्जे में आ गया। यह इस उपन्यास की कथावस्तु है। उपन्यास का नाम यद्यपि चेन्नवसवनायक है तथापि यह विदित नहीं होता कि इसमें प्रधान कहानी किसकी है। फिर भी यह कन्नड़ का प्रथम श्रेणी का ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है।

चिक्कदेवराज—१९५३ में प्रकाशित हुआ। इसके लेखक श्री० एम० नरसिंह-मूर्ति जी हैं। यह उपन्यास अपूर्ण है। इसके और भी दो भाग प्रकाशित होने वाले हैं।

इस उपन्यास में यह कहानी है कि देवराज के उपरांत प्रजा की इच्छा के विरुद्ध केंपु देवय्य को सिंहासन पर बिठाया गया। वास्तव में सिंहासन के अधिकारी उसके बड़े भाई अप्पाजी थे। फिर भी वे सिंहासन नहीं चाहते थे। परन्तु उसके मित्र विशालाक्ष पंडित और देवांबा के प्रयत्न से उसको सिंहासन पर बैठना पड़ा और केंपु देवय्या को प्राण त्यागने पड़े। भ्रातृप्रेम, देशभक्ति, त्याग आदि गुणों की सुंदर विवेचना इस उपन्यास में पाई जाती है। इसकी उपमा 'मुद्रामंजूष' से दी जाती है। यह भी अच्छा उपन्यास है। मैसूर के इतिहास से संबंधित यह उपन्यास कन्नड़ साहित्य में उत्तम स्थान पा चुका है।

शांतला—१९५४ में प्रकाशित कन्नड़ का एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके लेखक हैं सुप्रसिद्ध व्यायाम पटु श्री० के० वी० ऐय्यर जी। यह हॉयसल राजाओं के इतिहास से संबंधित उपन्यास है। शांतला हॉयसल राजा कर्नाटकाधीश्वर विष्णुवर्धन की पत्नी बनी। उसको संतान नहीं थी। उसका वात्सल्य देवर कुमार पर था। राजा उसकी सखी लक्ष्मीदेवी से विवाह करने वाले थे। इसलिए शांतला कुमार के साथ शिवगंगा गई, बसव की प्रदक्षिणा करके पहाड़ पर से कूदकर मर गई। कुमार ने भी वैसा ही किया। राजा भी वही करनेवाले थे। परंतु लक्ष्मीदेवी ने समय पर आकर उसकी जान बचा दी। यही कहानी उक्त उपन्यास में वर्णित है। इसका अनुवाद हिन्दी में कराने का विचार साहित्य अकादमी ने किया है। यह भी कन्नड़ के ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रथम श्रेणी में गिना जाता है।

रक्तरात्रि और कंबनिय कुइलु १९५३ में प्रकाशित हुए। इसके भी एक वर्ष पहले **नृपतुंग** प्रकाशित हुआ। इन तीनों ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक श्री० न० रा० सुब्बराय हैं जो कन्नड़ के नोजवान साहित्यकार हैं। राष्ट्रकूट वंश का प्रसिद्ध राजा नृपतुंग सूरमा भी था, कवि भी था। उसकी कहानी सुंदर ढंग से 'नृपतुंग' में चित्रित हुई है। 'रक्तरात्रि' और 'कंबनिय कुइलु' में चित्रदुर्ग के सिंहासन के लिए मदकरिनायक ने जो संघर्ष किया उसकी कथा है। २८० वर्ष पहले की कहानी है।

इनके अतिरिक्त श्रीमती आर० कल्याणम्मा की **'भक्त मीरा'**, श्री० ति० ता० अच्युतराय की **'प्लासी की लड़ाई'**, श्री० मा० के० वेंकट रामय्या जी का **'रघुनाथ का साहस'**, श्री० नवगिरिनन्द का **'रानी अज्ञाता'**, श्री० बी० कृष्णप्पा का **'रायचूर विजय'**, श्री० एस० ए० कुलकर्णी जी का **'कर्नाटक साम्राज्य'** आदि ऐतिहासिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

इनके उपरांत गांधी-युग की विचारधारा से प्रेरित होकर कुछ लेखकों ने उपन्यास लिखे हैं। उनको हम ऐतिहासिक उपन्यास कह सकें तो वे ऐतिहासिक उपन्यास कहलायेंगे। उनमें गांधी युग की विचारधारा, गांधी युग की सामाजिक अवस्था, गांधी युग के संघर्षों का चित्रण आदि बातें मिलती हैं। १९४२ के आंदोलन के आधार पर लिखित उपन्यासों में श्री० इनामदार का **मूराबट्टे**, श्री मिर्जी अण्णाराव का **राष्ट्रपुरुष**, श्री० न० रा० सुब्बराय का **'रक्त तर्पण'**, श्री० अ० न० कृष्णराव का 'अमर आगस्ट',

श्री० बसवराज कट्टीमनी के 'स्वातंत्र्यद कड़ेगे', तथा 'माड़ि मड़िदवरु' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार कन्नड़ साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों का निर्माण होने लगा है जो उज्ज्वल भविष्य की सूचना दे रहा है। कन्नड़ का उपन्यास-क्षेत्र दिन दूना रात चौगुना विस्तृत और साथ ही साथ गहरा भी होता जा रहा है। आशा की जाती है कि इसकी उज्ज्वल परंपरा अक्षुण्ण बनी रहेगी।

जगन्मोहिनी (१९५३), शांतिवादी (१९५४), राजद्रोही (१९५५) के लेखक श्री कोरटी श्रीनिवासराव हैं जो आजकल कर्नाटक विश्वविद्यालय के एम. ए. के छात्र हैं। अल्पकाल में ही इन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर कन्नड़ साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। 'जगन्मोहिनी' में विजयनगर के प्रसिद्ध नरपति कृष्णदेवराय के समय की कथा है। इसमें वर्णित घटना तब की है जब कि कृष्णदेवराय उत्कल पर विजय प्राप्त करने गये थे। जगन्मोहिनी गजपति नंदिनी की पुत्री है जो एक नरहरि नामक शूर सैनिक को प्यार करती है। नरहरि गजपति की पत्नी और पुत्री की रक्षा करने जाता है और कृष्णदेवराय के हाथों मारा जाता है। यही इस उपन्यास की कथावस्तु है। 'शांतिवादी' में उस समय की कथा है जब कि बीजापुर के आदिलशाह पर कृष्णदेवराय ने धावा बोल दिया था इसमें समर की निस्सारता और विश्वशांति की ओर संकेत है। 'राजद्रोही' में कुसुमा नाम की राजनर्तकी की कथा है। कुसुमा श्री रंगपट्टण के कुमार वीरय्य के दरबार में नर्तकी थी और वह निम्मरस के पुत्र गोविंदराज की प्रेयसी थी। उसकी सुन्दरता पर कई मुग्ध थे और इसको अपनाना चाहते थे। सब की दुष्ट-दृष्टि से अपने को बचाती, दुष्टों से लड़ती, अपना निर्मल प्रेम निभाने के लिए लाचार होकर अपनी आत्महत्या कर लेती है। राजनर्तकी का निर्मल प्रेम, धैर्य आदि गुण सराहनीय हैं।

कन्नड़ ऐतिहासिक उपन्यासों के अमर पात्रः——

गळगनाथ विरचित 'कुमुदिनी' नामक उपन्यास में एच्चमनायक नाम का पात्र अमर है। क्योंकि उसकी स्वामिनिष्ठा हमें राजपूत ऐतिहासिक महापुरुष वीरवर दुर्गादास की याद दिलाती है। चंद्रगिरि से नरेश वेंकटने मरने के पूर्व कहा था कि सिंहासन पर अपने भतीजे को बिठाना चाहिये चूँकि वही सिंहासन पर बैठने के योग्य है। मगर इसके विरुद्ध कई राजाओंने प्रयत्न किया। लड़ाई छिड़ी सब के साथ शूरता से लड़कर उसने अपने प्रभु की आशा पूर्ण की। उसकी शूरता और स्वामिनिष्ठा ऊँचे दर्जे की हैं।

स्वर्गीय गळगनाथजी का एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है 'माधव करुणा विलास।' भारतीय इतिहासज्ञ और दर्शनशास्त्रज्ञ जानते हैं कि विजयनगर का साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय श्री. माधवाचार्य अर्थात् विद्यारण्य को प्राप्त है। विद्यारण्य ने धर्म की रक्षा के लिए, देश की रक्षा के लिए जो कार्य किया वह अत्यन्त उज्ज्वल है। उनके चरित्र में कहीं भी हीनता का भाव नहीं आ पाया है। उनमें लोकसंग्रह का भाव था, जिसे हम हिन्दी के अमर कवि तुलसीदास में पाते है। इस उपन्यास में लोकसंग्रह की दृष्टि से विरूपाक्षाचार्य, काशिमखान,

मादिग दुर्गप्पा पात्र उत्तम हैं । हुक्क या हरिहर तो ऐतिहासिक व्यक्ति ही है । उसमें उत्तम प्रजावत्सल नरेश बनने के सारे गुण मौजूद थे । इसीलिए विधारण्यने विजय-नगर साम्राज्य का राजा उसी को बनाया और उन्होंने देश, धर्म, प्रजा की रक्षा करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी ।

श्री० बेटगेरी कृष्ण शर्मा 'आनन्दकंद' द्वारा विरचित 'राजयोगी' और 'अशांति पर्व' उपन्यासों में राजशेखर पात्र उदात्त गुणों से परिपूर्ण है । वह कलाविद, शांति जीवी, वैराग्यप्रेमी, उपनिषदों का प्रेमी, शूर, स्वामिनिष्ठ, और देशप्रेमी था । प्रजा और देश के हित के कार्य में वह स्वयं बलि हो गया । 'राजयोगी' में खल विरूपाक्ष है । इन दोनों पात्रों को आँखों के सामने रखकर देखें तो हैमलट की याद आये विना न रहेगी । परन्तु विरूपाक्ष में हृदय या अंतःकरण नाम की कोई चीज ही नहीं दिखाई पड़ती, अगर वह दिखाई पड़ती तो मैकबेथ की याद आती । हेमांबिका प्रधान स्त्री पात्र है और राजशेखर एक अमर पात्र है । अशांति पर्व में रत्नांबिका भी एक अमर पात्री है, मनोविश्लेपणमात्मक दृष्टि से ।

केरूर वासुदेवाचार्य द्वारा विरचित 'यदुमहाराज' में यदुमहारज वर्तमान मैसूर नरेशों के मूल पुरुष थे । उनमें शूरता थी, प्रजा पर वात्सल्य था सारे उदात्त गुण — दुष्टों का निग्रह, शिष्टों का परिपालन-उनमें मौजूद थे । अतः यदुमहाराज एक अमर पात्र हैं ।

श्री० के० वी अय्यर द्वारा विरचित 'शांतला' में शांतला अमर पात्री है । शांतला होयसलेश्वर विष्णुवर्धन की ज्येष्ठ रानी, पट्टरानी थीं । संसार में अपनी शिल्प-कला के लिए प्रसिद्ध चेन्नकेशव मंदिर में चेन्नकेशव की मूर्ति की स्थापना उसीने कराई और वह आज भी बेलूर शिल्पकला प्रेमियों को अपनी ओर आकर्षित करता है । हलेबीड़ में, होयसलेश्वर—शांतलेश्वर का बड़ा मन्दिर इन राजदंपतियों के अनन्य प्रेम के स्मारक के रूप में केतमल्लनायक द्वारा बनवाया हुआ है । कर्नाटक के शिल्प में, शिलालेखों में, शांतलादेवी के गुणों की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है । क्यों ? क्योंकि शांतलादेवी का जब यह पूर्ण रूप से विदित हुआ कि उसके अपने गर्भ से वंश दीपक पुत्र उत्पन्न होनेवाला नहीं है, दत्तक आदि के लिए भी गुंजाइश नहीं है, तो उसने निश्चय कर लिया कि देश और वंश के लिए प्राण त्याग देने चाहिये और बहन का विवाह विष्णुवर्धन से कर देना चाहिए जिससे बहन के गर्भ से होयसल राजवंश ठहर जाय । शांतला का देश और वंश के लिए आत्मत्याग करना, उसकी कला-प्रियता, परमात्मा में अतुल विश्वास तथा भक्ति, प्रजानुराग आदि गुणों ने उसे कन्नड़ के उस ऐतिहासिक उपन्यासों की एक अमर पात्री बना दिया है ।

इनके अलावा श्री एम० सीताराम शास्त्री द्वारा विरचित 'दौलत' उपन्यास का अमर पात्र है। टीपू सुलतान जो भारतीय इतिहास का एक अमर कीर्तिशाली पुरुष था, उसने देश की स्वतंत्रता के लिए अपनी जान की कुर्बानी की और प्रजा का समान दृष्टि से परिपालन किया । उसी प्रकार देवुडुजी विरचित 'मयूर' उपन्यास का नायक

मयूर कदंब-नरेश शूरवीर पुरुष था और उसने वैदिक एवं कन्नड़ संस्कृति की रक्षा में जीवन को खपाया। अतः मयूर एक अमर पात्र है।

कन्नड़ के ऐतिहासिक उपन्यासों में मेरी दृष्टि में तीन उपन्यास सर्वश्रेष्ठ हैं। एक तो राजयोगी है, दूसरा अशांति पर्व, तीसरा शांतला।

कर्नाटक में पहले पहल लंबे लंबे वर्णनों से युक्त अनुवादित उपन्यास ही निकले थे। ऐतिहासिक उपन्यासों का उद्देश्य ठीक-ठीक सिद्ध नहीं हो रहा था। ऐसे समय में श्री बेटगेरी कृष्ण शर्माजी ने अनुवाद से मन को हटाकर अपनी इन मौलिक रचनाओं से एक नई दिशा दिखा दी, अनावश्यक वर्णनों को त्याग दिया। कर्नाटकियों के लिए स्फूर्ति-केन्द्र विजयनगर और उसके इतिहास के आधार पर दो सुंदर उपन्यास प्रस्तुत किये। श्री बेटगेरीजी की भाषा-शैली तो ठेठ कन्नड़ की है और खूब चित्ताकर्षक है। जहाँ जैसा भाव होता है, रस होता है वहाँ उसी के अनुरूप भाषा एवं शैली स्वाभाविकता से आ जाती है। पात्रों का परिपोषण, कथोपकथन, मुहावरेदार, ओजगुणयुक्त भाषा, ऐतिहासिक घटनाओं में परिवर्तन न किया जाना, पात्रों में मानवीयता भर कर पाठकों के सामने प्रस्तुत करने की कला आदि गुण इन दोनों में होने से ये श्रेष्ठ हैं।

तीसरा शांतला उपन्यास तो सर्व श्रेष्ठ है। इसकी प्रधान पात्री शांतलादेवी तो भारतीय आदर्श नारी है। इस उपन्यास में कर्नाटक की शिल्पकला, संगीतकला, कन्नड़ वीरों की शूरता, पर-हित के लिए आत्मत्याग करने की भावना बोलती है। माता-पुत्र, नरेश-मंत्री, राजा-प्रजा, पति-पत्नी, पत्नी-सपत्नी, सहोदरों के न होने पर भी सोदरी भाव को आदर्श रूप में रखनेवाली देवियों, और स्वर्ग-मृत्यु के संबंधों की सुन्दरता का निरूपण करने वाला चित्ताकर्षक कथानक इसमे पाया जाता है। भाषा तथा शैली भी विषयानुवर्ती बनाकर प्रवाहित होती है। अतः 'शांतला' कन्नड़ के सर्व श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों में एक है।

कन्नड़ के प्रधान उपन्यासकार

(१) श्री वेंकटेश तिरको कुलकर्णी 'गळगनाथ'।

आप धारवाड़ जिले के निवासी थे। अपना जीवन कन्नड़ प्राथमिक शाला के अध्यापक की हैसियत से शुरू किया। परन्तु, प्रेमचन्द जी की तरह आपकी अंतरात्माओं में एक आवाज उठी कि भाषा की सेवा साहित्य की सेवा है। नौकरी छोड़कर अगड़ी नामक गाँव गये। 'सद्बोध चंद्रिका' नामक पत्रिका निकाली और उसमें धारावाहिक उपन्यास प्रकाशित करने लगे। उन दिनों आपने अपनी रचनाओं द्वारा कन्नड़ जनता में वाचनाभिरुचि पैदा कर दी। आपके दर्जनों उपन्यास आज भी आदर से पढ़े जाते हैं। परन्तु आपका अंत भी वैसे ही हुआ जैसा प्रेमचन्द जी का।

(२) श्री० बेटगेरी कृष्ण शर्मा 'आनन्दकंद':

आप सर्व प्रथम कन्नड़ साहित्य क्षेत्र में कवि के रूप में आये। आपको 'कविभूषण' नामक उपाधि भी जनता से मिली। आपके चार ही उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। आप कन्नड़

के श्रेष्ठ उपन्यासकार माने जाते हैं। आपके कई गल्प-संग्रह, कविता-संग्रह, रेडियो नाटक प्रकाशित हुए हैं। आपकी कई रचनाओं को मैसूर तथा बम्बई सरकारों ने पुरस्कार भी दिये हैं। आपकी कविताएँ तथा कहानियाँ हिन्दी में रूपांतरित होकर 'राष्ट्रभारती', 'हंस,' 'कहानी' और 'आजकल' में प्रकाशित हुई हैं। आप अच्छे कथाकार, उपन्यासकार, समालोचक, रेडियो नाटककार हैं। आपकी भाषा शुद्ध सरिता की भाँति प्रवाहमयी होती है। आजकल आप 'जयंती' के संपादक हैं और कन्नड़ साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

(३) श्री० शिवराम कारन्त :

श्री० शिवराम कारन्त जी की प्रतिभा बहुमुखी है। आप केवल उपन्यासकार ही नहीं बल्कि कथाकार, नाटककार, कवि, समालोचक, कोशकार, नट, नर्तक, चित्रकार भी हैं। आजकल तो आपका नाम उपन्यास-क्षेत्र में अधिक प्रसिद्ध है। आपके दर्जनों उपन्यासकार हैं जिनमें 'मरिक मण्णिगे' अत्यंत प्रसिद्ध है और 'फिर धरती की ओर' के नाम से हिन्दी में आने वाला है। इसका अनुवाद अंग्रेजी में भी हुआ है। इस वर्ष आप कन्नड़ साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भी चुने गये हैं। आप की लेखनी बड़ी शक्तिशाली है और सत्य का प्रतिपादन निडर होकर करती है। आप आजकल मंगलोर जिले के पुत्तूर में रहते हैं।

(४) श्री० मास्ति वेंकटेश अय्यंगार 'श्रीनिवास' :

आप कन्नड़ साहित्य में आधुनिक कथा के पितामह के रूप में प्रसिद्ध हुए। आपकी सैकड़ों कहानियाँ प्रसिद्ध हुई हैं हिन्दी और अंग्रेजी में भी छपी हैं। आप केवल कथाकार ही नहीं, परन्तु कवि, नाटककार, समालोचक, उपन्यासकार भी हैं। आपकी रचनायें लोकप्रिय हैं। आप कन्नड़ साहित्य के मर्मज्ञ हैं। 'देवनागर' के सलाहकार मंडल के आप सदस्य हैं। आप मैसूर सरकार के उच्च अधिकारी थे। चीफ़ सेक्रेटरी भी रहे। आपकी रचनाओं में हम कन्नड़ जनता की मधुर संस्कृति अधिक पाते हैं। आपकी एक रचना 'सुब्बण्ण' संसार के साहित्य की एक अमूल्य रचना है। आप आजकल 'जीवन' मासिक पत्रिका का संपादन करते हैं। कन्नड़ साहित्य सम्मेलन के आप अध्यक्ष भी थे और कई वर्षों तक कन्नड़ साहित्य परिषद का उपाध्यक्ष की हैसियत से आपने संचालन किया गया है।

(५) श्री० अ० न० कृष्णराव :

प्रथमतः कथाकार के रूप में आप कन्नड़ सारस्वत समूह में परिचित हुए। प्रगतिशील लेखकों में आपका स्थान श्रेष्ठ है। कई कहानियों के संग्रह और एकांकी नाटक छपे हैं। कई विमर्शात्मक पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी में भी आपकी कहानियाँ 'हंस', 'राष्ट्रभारती' आदि में प्रसिद्ध हुई हैं। परन्तु आजकल उपन्यास लेखकों में ही आपकी गिनती की जाती है और आप एक श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। नटसार्वभौम, उदयराग, संध्याराग, आदि उपन्यास अत्यंत ख्याति प्राप्त हैं। 'संध्याराग' तो आपका अत्यन्त श्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है, जिसका अनुवाद हिन्दी में भी हो चुका है। आपने 'विश्ववाणी' मासिक पत्रिका और कन्नड़ नुड़ि साप्ताहिक का संपादन भी किया। कन्नड़ कलाकारों, साहित्यकारों का परिचय भी लिखकर कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे

हैं। आप भारतीय कलाकारों के शिष्ट मंडल के साथ रूस भी जाने वाले हैं। आप बेंगलोर के निवासी हैं और प्रगतिशील लेखक संघ के प्राण हैं,

(६) श्री के० बी० अय्यर जी--

बेंगलोर की सुप्रसिद्ध व्यायामशाला के संस्थापक और प्राध्यापक हैं। आपकी प्रसिद्धि व्यायाम क्षेत्र में है और वह देश विदेशों में भी फैली हुई है। आपने अंग्रेजी में और कन्नड़ में भी व्यायाम पर पुस्तकें लिखी हैं। यद्यपि आपकी मातृभाषा तमिल है फिर भी कन्नड़ में भी आपको काफी योग्यता है। आपने 'रूपदर्शी' नामक उपन्यास लिखकर काफी ख्याति प्राप्त कर ली। परंतु 'शांतला' ने तो आपकी ख्याति में चार चाँद लगा दिये। 'शांतला' जब हिन्दी में आयगी तब आपका ऐतिहासिक उपन्यासकारों में श्रेष्ठ स्थान होगा, इसमें संदेह नहीं।

(७) श्री त० रा० सुब्बराय--

मैसूर रियासत के चित्रदुर्ग के आप निवासी हैं। आप युवक प्रगतिशील लेखक हैं। आपने सामाजिक उपन्यासों के अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। आपका जन्मस्थान चित्रदुर्ग है और वह एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। उसी के इतिहास की भित्ति पर आप के उपन्यास खड़े हैं। आपकी शैली प्रवाहमयी होती है और भाव अर्थगर्भित होते हैं। आपकी रचनायें लोकप्रिय हुई हैं। आपसे कन्नड़ साहित्य बहुत आशा रखता है।

कन्नड़ साहित्यकारों में और कई बुजुर्ग और युवक नामी उपन्यासकार हैं। जिनका परिचय हिन्दी संसार को कराना है। उनका परिचय कराते जायँ तो लेख बहुत बढ़ जायगा। मैंने यहाँ विशेषत: ऐतिहासिक उपन्यासकारों का ही परिचय दिया है और सामाजिक उपान्यासकारों में उच्च स्थान पाने वाले दो उपन्यासकारों का परिचय दिया है जिनके परिचय के बिना यह लेख अधूरा बनता।

कन्नड़ के ऐतिहासिक उपन्यास

संख्या	उपन्यास का नाम	मौलिक या अनुवादित	लेखक तथा अनुवादक
१.	मुद्रामंजूष	(मौलिक)	केंपु नारायण
२.	कुमुदिनी	(,,)	वेंकटेश तिरको कुलकर्णी 'गळगनाथ'
३.	माधव करुणा विलास	(,,)	,, ,,
४.	ईश्वरी सूत्र	(अनुवादित)	,, ,,
५.	कन्नडिगर कर्मकथे	(रूपांतरित)	,, ,,
६.	कमलकुमारी	(अनुवादित)	,, ,,
७.	गृहकलह	(,,)	,, ,,
८.	छत्रपती	(,,)	,, ,,
९.	मराटर अभ्युदय	(,,)	,, ,,

संख्या	उपन्यास का नाम	मौलिक या अनुवादित	लेखक तथा अनुवादक	
१०.	शिवप्रभुविन पुण्य	(,,)	,,	,,
११.	स्वराज्य सुगंध	(,,)	,,	,,
१२.	वैभव	(,,)	,,	,,
१३.	राणी मृणालिनी	(,,)	,,	,,
१४.	राणा राजसिंह	(,,)	,,	,,
१५.	धार्मिक तेज	(,,)	,,	,,
१६.	कुरुक्षेत्र	(,,)	,,	,,
१७.	प्रबुद्ध पद्मनयने	(आधारित)	,,	,,
१८.	वीर प्रताप	(अनुवादित)	,,	,,
१९.	दुर्गेशनंदिनी	(,,)	बी० वेंकटाचार	
२०.	वंगविजेत	(,,)	,, ,,	
२१.	कोहिनूर	(,,)	,, ,,	
२२.	आनंमदठ	(,,)	,, ,,	
२३.	सम्राट हर्षवर्धन	(मौलिक)	नागेश	
२४.	अमात्य राक्षस	(,,)	,,	
२५.	प्रारब्ध प्रहार	(,,)	,,	
२६.	रक्त सिंचन	(,,)	,,	
२७.	सिराज उद्दौल	(,,)	,,	
२८.	सूर्यास्त	(,,)	,,	
२९.	ऊर्मिला	(,,)	,,	
३०.	अडमुट्ट सिपाही	(आधारित)	श्री० प० काळे	
३१.	कंकण चोर	(,,)	,, ,, ,,	
३२.	कुणिक्या	(अनुवाद)	,, ,, ,,	
३३.	नूरजहान	(मौलिक)	केशवशर्मा गलगली	
३४.	चालुक्यर पुलिकेशी	(,,)	एस० आर० सबरद	
३५.	नेताजी	(,,)	,, ,, ,,	
३६.	पतितोद्धरण	(,,)	नागेश	
३७.	प्लासी कदन	(,,)	अच्युतराव	
३८.	मराटरू इंग्लिपरू	(,,)	श्री० प० काळे	
३९.	मयूख	(आधारित)	,, ,, ,,	
४०.	वडगाँवद विजय	(,,)	,, ,, ,,	
४१.	शक्तिमई	(,,)	,, ,, ,,	
४२.	मंदाकिनी	(,,)	कर्जिगी	
४३.	वीरराज विजय	(मौलिक)	कृष्णय्य	

संख्या	उपन्यास का नाम	मौलिक या अनुवादित	लेखक तथा अनुवादक
४४.	हंसा	(आधारित)	श्री० प० काळे
४५.	यदुमहाराज	(मौलिक)	केरूर वासुदेवाचार्य
४६.	औरंगजेब	(„)	„ „
४७.	सूर्यग्रहण	(आधारित)	टी० एन० अम्मिनभावि और आर० टी० कपूर
४८.	रघुनाथन साहस	(मौलिक)	सी० के० वेंकटरामय्य
४९.	कर्नाटक सिंहासन स्थापने	(„)	एस० ए० कुलकर्णी
५०.	चिक्कदेवराज	(„)	म० नरसिंह मूर्ति
५१.	जयगोदावरी	(„)	पां० भी० देसाई
५२.	कुंतलेश्वर	(„)	„ „ „
५३.	पांपेय कोनेय दिनगळु	(अनुवादित)	ए० कृष्णमूर्ति
५४.	आर्यकुल प्रदीप	(मौलिक)	भवानी
५५.	कलिंग विजय	(„)	मुरली
५६.	देवी चौधरानी	(अनुवादित)	वी० वेंकटाचार्य
५७.	दौलत	(मौलिक)	ए० सीताराय शास्त्री
५८.	नरगुंद बंडाय	(„)	भी० जी० हुलिकवि
५९.	अद्भुत शौर्य	(„)	एल० जी० बेन्द्रे और आर० आर० गुडिसागर
६०.	नगरद राणि	(मौलिक)	वीरकेसरी
६१.	राक्षसन सोलु	(„)	ओ० एन० लिंगण्णय्य
६२.	अशांति पर्व	(„)	बेटगेरी कृष्णशर्मा 'आनंदकंद'
६३.	राजयोगी	(„)	„ „ „
६४.	राजा मलयसिंह	(„)	एम० ए० श्रीनिवासाचार्य
६५.	रायचूर विज	(„)	बी० कृष्णय्य
६६.	वीर बंकेय	(„)	मुळिय तिम्मप्पय्य
६७.	वीरराज विजय	(„)	डी० एन० कृष्णय्य
६८.	मयूर	(„)	देवुडु
६९.	भक्ते मीरा	(„)	आर० कल्याणम्म
७०.	चेन्न बसव नायक	(„)	मास्ति वेंकटेश अय्यंगार
७१.	माडिद्धुण्णो महाराया	(„)	म० पुट्टण्ण
७२.	भ्रातृ बन्धन अथवा गृहलक्ष्मियो ?	(अनुवादित)	के० दामोदर बंगेर
७३.	राणी अज्ञाता	(मौलिक)	नवगिरि नंद
७४.	शांतला	(„)	के० वी० ऐय्यर
७५.	रक्तरात्री	(„)	त० रा० सुब्बराय
७६.	नृपतुंग	(„)	„ „ „

संख्या	उपन्यास का नाम	मौलिक या अनुवादित	लेखक तथा अनुवादक
७७.	कंबनिय कुयिलु	(,,)	,, ,, ,,
७८.	हंसगीते	(,,)	,, ,, ,,
७९.	तिरुगु बाण	(,,)	,, ,, ,,
८०.	होस हगलु	(,,)	,, ,, ,,
८१.	जगन्मोहिनी	(,,)	कोरटी श्रीनिवासराव
८२.	राजद्रोही	(,,)	,, ,,
८३.	शान्तिवादी	(,,)	,, ,,
८४.	सम्राट श्रेणिक	(,,)	मिर्जी अण्णाराय
८५.	राष्ट्रपुरुष	(,,)	,, ,,
८६.	अमर आगस्ट	(,,)	अ० न० कृष्णराय
८७.	मूरा बट्टे	(,,)	व्ही० ए० इनामदार
८८.	स्वातंत्र्यदेडेगे	(,,)	बसवराज कट्टीमनी
८९.	माड़ि मड़िदवरु	(,,)	,, ,,
९०.	नायक मणी	(,,)	एं० नंजुंड शास्त्री
९१.	अमरनाथ	(,,)	गुरुराजन्
९२.	हेमचंद्र	(अनुवादित)	एस० आर० सबरद
९३.	वृतधारिणी	(,,)	आर्नेखिंडी
९४.	तरुण राजपूत सरदार	(,,)	व्ही० आर० कुलकर्णी
९५.	वीर हनुमंत गौड़	(मौलिक)	वायू० जी० कुलकर्णी
९६.	उत्कल विजय	(,,)	होसबेट्टू रामराय
९७.	कोटि चन्नय्य	(,,)	पंजे मंगेशराव

डा० भोगीलाल जयचन्द भाई सांडेसरा

गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यास

मध्यकालीन गुजराती साहित्य अधिकांश में पद्यबद्ध है। इसमें धर्म के पात्र में जीवन के सर्व रस घोले जाते थे। लौकिक पात्रों का चित्रण इसमें प्रायः नहीं मिलता। लोकरुचि भी धर्म का बाना पहिनकर ही साहित्य में प्रवेश पा सकती थी, यथा, शृंगारादि रसों की व्यंजना धार्मिक पात्रों की आड़ में होती थी।

अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य के प्रभाव के माध्यम से शिक्षित वर्ग के अग्रणी गुजरातियों को पश्चिम की संस्कृति और साहित्य के संपर्क में आनेपर नई प्रेरणाएँ मिलीं। समाज की तत्कालीन दशा की ओर इनका ध्यान गया। श्री नन्दशंकर तुलजाशंकर महेता 'करण घेलो' की भूमिका में लिखते हैं:—"इस प्रान्त (सूरत) के भूतपूर्व एजुकेशन इन्सपेक्टर मेहरबान रसेल साहब ने अंग्रेजी 'रोमांस' तथा 'नोवेल' जैसी रचनाएँ गुजराती में लिखवाने की अपनी इच्छा मुझसे व्यक्त की। तदनुसार मैंने इस पुस्तक की रचना की।"

ऐसी रचनाओं में लोकसिद्ध या इतिहाससिद्ध पात्रों के चरित्रचित्रण के माध्यम से जनता में मनोरंजन के अतिरिक्त समाज सुधार की प्रेरणा जागृत करना प्रमुख उद्देश्य था। यही इन ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रारम्भिक रूप है।

ऐतिहासिक उपन्यासों का आरम्भ

वॉल्टर स्कॉट की रोमांस प्रधान रचनाओं का प्रभाव ही गुजराती ऐतिहासिक उपन्यासों पर सर्वोपरि रहा है। यह धारणा गलत है कि इन उपन्यासों पर संस्कृत के सुबन्धु की वासवदत्ता तथा बाणभट्ट की कादम्बरी का प्रभाव पड़ा है। प्रारम्भ काल में अनुवाद ग्रंथों की ही संख्या अधिक थी।

इन अनुवादों में विशेष उल्लेखनीय कर्नल मेडोस टेलर की रचनाओं के अनुवाद हैं, जो पारसी अनुवादकों द्वारा किये गये थे। डच भाषा में लिखे गये अकबरकालीन कथा वस्तु पर आधारित उपन्यास 'इरावती' का अनुवाद श्री छगनलाल मोदी ने १८८० में किया। मिर्जा मुरादअली बेग नाम के इस्लाम धर्म में दीक्षित एक अंग्रेज के 'माउण्ट टोप' के आधार पर श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने १८८५ में 'हिन्द अने ब्रिटानिया' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा जो 'मासिक मनोरंजक यत्न' नामक सामयिक

पत्र में प्रकाशित हुआ था। उसी अंग्रेज लेखक की एक अन्य रचना 'लालन ध वैरागन' के आधार पर 'पेशवाइ नी पड़ती नो प्रस्ताव' लिखा गया। इन के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओं के उपन्यासों के भी अनुवाद हुए। नारायण हेम-चन्द्र ने बंगला से देवीप्रसन्न राय चौधरी, बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय, और रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यासों के अनुवाद किये। हिन्दी से अनूदित रचनाएँ 'काश्मीर अने केशरी' तथा "प्रमोदा' थीं। मराठी से अनूदित रचनाऐं 'अठारमी सदीनुं महाराष्ट्र,' 'धारा-नगरीनो मुंज' और 'उषःकाल' थीं। 'गुजराती,' 'गुजराती पंच', 'प्रजाबन्धु' आदि तत्कालीन साप्ताहिक पत्रों ने ई० स० १८६१ से वार्षिक भेंट के रूप में ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित करने की प्रथा प्रारम्भ की। ऐसी भेंटों के लेखकों में श्री मणिलाल छबाराम भट्ट, प्राणजीवन हरिहर शास्त्री, नारायण ठक्कुर, और चुनीलाल वर्धमान शाह प्रमुख हैं। श्री कनैयालाल मुनशी का ऐतिहासिक उपन्यास 'पाटणनी प्रभुता' 'गुजराती' साप्ताहिक की भेंट पुस्तक के रूप में ही प्रकाशित हुआ। इन रचनाओं की भाषा प्रायः संस्कृत-बहुला होती थी। अतः पारसी समाज इन्हें कठिन मानता था। उनके लिए 'पारसी-गुजराती' में निम्नलिखित पारसी लेखकों ने उपन्यास लिखे:—जहांगीरजी मर्जबान, तारापोरवाला, फरामजी वमनजी, जहांगीर अरदेशर तालियार खान।

प्रथम उपन्यास-कार—

नन्दशंकर तुलजाशंकर मेहता

इनका जन्म सूरत में ई० स० १८३५ में, वडनगरा नागर गृहस्थ ज्ञाति के संभ्रान्त परिवार में हुआ। आर्थिक कठिनाइयों के कारण पंद्रह साल की छोटी वयस में अभ्यास समाप्त करना पड़ा। फिर भी पुरुषार्थ से उन्होंने 'हेडमास्टर' की पदवी प्राप्त की। उनका परिचय 'मास्टर' से ही दिया जाता था। उन्होंने शिक्षण-संस्थाओं में गुजराती के अध्ययन के विषय में खास तौर पर ध्यान दिया। पहले पहल उन्होंने गुजराती में त्रिकोणमिति लिखी। 'गुजरातमित्र' साप्ताहिक में अंग्रजी में उन्होंने मजमून लिखे। ई० स० १८७० में नेत्र रोग हुआ और कार्य से निवृत्ति लेनी पड़ी। ई० स० १६०५ में उनका स्वर्गवास हुआ। उनकी कृति 'करण घेलो' (१८६६) गुजराती साहित्य का प्रथम उपन्यास है।

प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास

'करण घेलो' १८६६ में प्रकाशित हुआ। गुजरात के अंतिम हिंदू राजा करण का इतिवृत्त इसका वर्ण्य विषय है। लोकशिक्षण तथा समाज-सुधार की दृष्टि से खास तौर पर यह उपन्यास लिखा गया। कथावस्तु 'रासमाला' और अलबरूनी से ली गयी है। उनकी शैली पर वॉल्टर स्कॉट की छाया है। वस्तुविन्यास शिथिल-सा है। शिथिलता का कारण विस्तृत दृश्य वर्णन, उपदेशक दृष्टि और प्रायः असंबद्ध आनुषंगिक कथाएँ है। फिर भी, शिष्ट सरल भाषा, सजीव चित्रण, सूरत की तत्कालीन दशा का यथावत् अंकन, अद्भुत रस निष्पन्न करनेवाली चमत्कारपूर्ण घटनाओं की योजना, इस रचना को रोचक और सुवाच्य बनातीं

है। इसीलिए वह बहुत लोकप्रिय रही और उसके बहुत अनुकरण भी हुए, जिनमें अनन्त प्रसाद त्रिकमलाल वैष्णव लिखित 'राणकदेवी' (ई० स० १८७९) उल्लेखनीय है। 'करण घेलो' गुजराती गद्य के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसमें गुजराती गद्य को प्रौढ़ता प्राप्त हुई है।

उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास

(१) 'करण घेलो' : नन्दशंकर तुलजाशंकर महेता

(२) पृथ्वीवल्लभ
गुजरातनो नाथ } श्री कनैयालाल माणेकलाल मुनशी

(अबाधित कथाप्रवाह, घटनाओंका सन्नद्ध गुम्फन, पात्रों का विशिष्ट मानसलक्षण-युक्त दृढ़रेख सजीव आलेखन, वर्ण्य परिस्थिति के नाटयात्मक अंश को ग्रहण करनेकी सूझ, कथानक के आयोजन में उपलब्ध सामग्री के हेय-उपादेय अंशों का निर्णय करने वाली सूक्ष्म विवेक बुद्धि, निरूप्यमाण कालखण्ड के अनुरूप परिवेश का निर्माण करने की शक्ति, कल्पनाप्रवणता, पात्र-भेद को निभानेवाली और कार्यवेग में बाधा न डालनेवाली नुकीली संवाद-योजना और कथानक में जीवानुभूत तत्त्व रूप में अनुस्यूत हो कर रहनेवाली गुजरात की अस्मिता की भावना—ये सब लक्षण मुनशी जी के उपन्यासों की लोकप्रियता के कारण हैं। मुनशी जी ने मुख्यतः चालुक्य वंश की कथा का आलेखन किया है।)

(३) कर्मयोगी राजेश्वर : चुनीलाल वर्धमान शाह

(इस लेखक की रचनाओं में ऐतिहासिक सत्य का विपर्यास नहीं किया जाता। उनकी कल्पना ऐतिहासिक सत्य के अनुकूल हो कर प्रसंगों का चित्रण करती है। भावनाओं के निरूपण में काल-व्यतिक्रम दोष नहीं दिखायी देता। श्री शाह के उपन्यास बहुधा इतिवृत्तपरायण होते हैं।)

(४) धूमकेतु :— चौला देवी
(गौरीशंकर गोवर्द्धनराम जोषी) नायिका देवी

(धूमकेतु जी अपने रचनाकाल के उत्तरार्द्ध में गुजरात के चालुक्य वंश की ओर आकृष्ट हुए। मुहम्मद गजनवी के आक्रमण के बाद की घटना 'चौलादेवी' में आलेखित हुई है। इसमें 'चौला' का चरित्र अच्छा निखर आया है। धूमकेतु जी की कथा में भावना-प्रवणता ज्यादातर दिखायी देती है। 'नायिकादेवी' में उन्होंने शाहबुद्दीन गोरी को आबू की घाटी में पराजित करनेवाली रानी नायिकादेवी का प्रभावशाली आलेखन किया है। अब भारतीय इतिहास के सुवर्णयुग गुप्तवंश की ओर वे आकृष्ट हुए हैं। इस काल के उनके उपन्यास 'आम्रपाली' और 'वैशाली' खास तौर पर उल्लेखनीय हैं।)

(५) गुजरातनो जय :—स्व० झवेरचन्द कालिदास मेघाणी

(ईसाकी तेरहवीं शताब्दी में गुजरात के बाघेला (चालुक्य) राजाओं के मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल के जीवन और कार्य—यह इस नवलकथा का विषय है। इन मंत्रियों ने आबू के सुप्रसिद्ध मन्दिर बनवाये थे। लोक-साहित्य के महान अभ्यासी 'मेघाणी' गुज-

राती के विशिष्ट शैलीकार थे, यह बात इस उपन्यास से भी प्रतीत होती है। पात्रों का आलेखन प्रभावशाली है।)

(६) भारेलो अग्नि :—स्व० रमणलाल व० देसाई

(ई० स० १८५७ का सैनिकों का विद्रोह इस उपन्यास का विषय है। इसमें श्री देसाई ने अहिंसा का प्रभाव दिखाया है। इस दृष्टि से भावनाविषयक व्यतिक्रम-दोष हुआ है। रमणलाल देसाई की कथन शैली मनोरम होती है। पात्रालेखन भी सुरेख और सजीव होता है। भावनाप्रवणता उनमें भी पर्याप्त मात्रा में है। सुवाच्यता और शिष्ट मनोरंजकता उनके उपन्यासों के प्रधान लक्षण हैं। लेखक महोदय गांधी जी की जीवन दृष्टि से प्रभावित हुए थे।)

(७) सक्करबार
सरफरोश गुणवन्तराय आचार्य

('दरियालाल' से आचार्यजी ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्यकाल का आलेखन उपन्यासों में शुरू किया। उनके उपन्यासों का फलक भारत के बाहर अफ्रीका और अबीसीनिया तक फैला है। शक्र-अल-बहर का खिताब पानेवाले सूरत के अनाविल साहसवीर अमूलख देसाई इसमें केन्द्रवर्ती पात्र है। उन्होंने गुलामों को बेचने की अमानुषी प्रणाली के सामने अपना सिर उठाया। सागरजीवन और सागरयुद्ध का विशिष्ट परिवेश आचार्यजी के उपन्यासोंमें मिलता है।)

(७) दीपनिर्वाण :—मनुभाई पंचोली 'दर्शक'

(मौर्य समय के गणतन्त्र संबंधी इस कथा में तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन की अच्छी झलक हमें देखने को मिलती है। लेखक गम्भीर पर्यवेक्षक के रूप में खास कर के प्रख्यात है। उनके इस उपन्यास में तत्कालीन परिवेश का आलेखन, इतिहास के अनुकूल रहकर, कलामय और प्रतीतिकर रूपसे किया गया है। अपनी कल्पनाशक्ति से उस समय का तादृश आलेखन करने में 'दर्शक' जी सफल हुए हैं। गणतन्त्र की भावना को लेखक ने अच्छी तरह से निरूपित किया है। व्यक्ति और समष्टि का संघर्ष भी यहाँ निरूपित किया गया है। लेखक ने प्रणय का उदात्त स्वरूप प्रकट किया है। गम्भीर और उदात्त जीवन दर्शन 'दर्शक' जी की विशिष्टता है।)

गुजरात के इतिहास के प्रधान उपन्यास

(१) करण घेलो :—नन्दशंकर तुलजाशंकर महेता

(२) सधरा जेसंग
वनराज चावडो } —महीपतराम रूपराम नीलकण्ठ

(३) नारायण विसनजी :—महाराणी मणयल्ला, कच्छनी पद्मिनी ठक्कुर

(३) राणकदेवी :—अनन्तप्रसाद त्रिकमलाल वैष्णव

(५) कर्मयोगी राजेश्वर
सोमनाथनुं शिवलिंग } —चुनीलाल वर्धमान शाह

(६) पाटणनी प्रभुता, गुजरातनो नाथ,: राजाधिराज, जय सोमनाथ, भग्न पादुका } —श्री कनैयालाल मुनशी

(७) गुजरातनो जय रा'गंगाजळियो, समरांगण } श्री झवेरचन्द मेघाणी

(८) वाचिनी देवी, अजित भीमदेव, चौलादेवी, राजसंन्यासी, कर्णवती, राजकन्या, सिद्धराज जयसिंह, राजर्षि कुमारपाल, राय करण घेलो } धूमकेतु

(९) धीरजलाल ध. शाह :—लाटनो दण्डनायक, सान्तु महेता, महागुजरातनो मन्त्री, महाअमात्य

(१०) गुणवन्तराय आचार्य :—कालभैरव

अन्य ऐतिहासिक उपन्यास

(१)	प्राणजीवन शास्त्री :	नूरजहां, बेगमसाहेब
(२)	धीरजलाल नरभेराम	बाजीराव बल्लाल, पाणीपतनुं युद्ध
(३)	पुरुषोत्तम विश्राम मावजी :	शिवाजीनो वाघनख, हलदी घाटनुं युद्ध
(४)	नारायण विसनजी ठक्कुर :	प्लासीनुं युद्ध
(५)	मणिलाल छबाराम :	झांसीनी राणी
(६)	कृष्णलाल झवेरी :	औरंगजेब अने रजपुतो
(७)	इच्छाराम सूर्यराम देसाई :	हिन्द अने ब्रिटानिया
(८)	कनैयालाल मुनशी :	भगवान परशुराम, भगवान कौटिल्य, लोपामुद्रा
(९)	रमणलाल देसाई :	भारेलो अग्नि, क्षितिज
(१०)	धूमकेतु :	वैशाली, आम्रपाली, महात्मा चाणक्य
(११)	रामचन्द्र ठाकुर :	आम्रपाली
(१२)	'दर्शक'	दीपनिर्वाण
(१)	गुणवंतराय आचार्य :	सक्करबार, सरफरोश, हरारी, सरगोश

वेदकालीन :—लोपामुद्रा (कनैयालाल मुनशी)

मौर्यकालीन :—दीपनिर्वाण (दर्शक)

गुप्तकालीन :—मगधपति, वैशाली, आम्रपाली, (धूमकेतु)

चालुक्य कालीन :—पाटणनी प्रभुता, गुजरातनो नाथ, राजाधिराज, जय सोमनाथ (मुनशी) गुजरातनो जय (मेघाणी) धूमकेतुकी चालुक्य कालीन ग्रन्थावली का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

ईस्ट इण्डिया कंपनी और ब्रिटिश कालीन :—गुणवंतराय आचार्य के उपन्यास

श्री ति० शेषाद्रि

तमिल भाषा में ऐतिहासिक उपन्यास

गद्य साहित्य

जैसे हिन्दी में वैसे ही तमिल में भी, गद्य को साहित्य में बहुत बाद में स्थान मिला। अंग्रेजों के आने के बाद, छापे खाने के प्रचार के बाद ही गद्य को यह स्थान मिल सका। यद्यपि यह कहना अनुचित होगा कि तमिल में १५० साल पूर्व से ही गद्य आरंभ हुआ है तो भी यह सत्य है कि हमारे प्राचीन पंडित लोगों ने गद्य को इससे पूर्व साहित्य-वाहिनी का स्थान नहीं दिया[1]।

गद्य साहित्य के प्रचार का एक प्रबल कारण था। अंग्रेज लोग एक हाथ में शासन-विधान लेकर आये, इसकी हमारे शरीरों पर शासन करने के लिए आवश्यकता थी। दूसरे हाथ में इंजील थी। इसके बल से वे हमारी आत्मा पर भी शासन करना चाहते थे। यहां तमिल की पहली पुस्तक पादरियों ने ही सन् १५७५ में छपवायी[2]। इस लहर के विरूद्ध हिन्दुओं के महाभारत रामायण आदि की कहानियाँ भी तमिल में गद्य में लिखी गयीं।

दूसरा कारण था—सामयिक परिस्थिति। अब सब के लिए पद्य सुगम भी नहीं रहा था। पद्य को मामूली विषय का परिचारक बनाने के लिए पंडित तैयार भी नहीं थे। उस समय का गद्य भी पद्य से मिलता जुलता था।

आरनमुग, नावलर, रामलिंग, स्वामिगल आदि महानुभावों ने उठती हुई ईसाई लहर सामने अपना साहित्य गद्य में भी रचकर उसे रोकने का प्रयास किया।

गद्य-साहित्य में कहानियाँ ही लोगों को बहुत आकृष्ट कर सकीं[3]। इसी समय ताण्डवराय मुदालियर ने पंचतंत्र की कहानियाँ मराठी से अनूदित कीं। वीरासामी चेट्टियार ने 'विनोदरस मंजरी,' प्रकाशित की। अब कल्पित कहानियों की मांग होने लगी। लंबी कहानियाँ लिखने के लिए भी क्षेत्र तैयार हो रहा था।

---

(१) चिदंबर रघुनाथन, इलक्किय विमर्शनं अप्रैल '४८
(२) वैयापुरि पिल्लै, पार्तिबन कनवु की प्रस्तावना—३०-८-'४३
(३) वैयापुरि पिल्लै पार्तिवन कनवु की प्रस्तावना में ३०-८-'४३

प्रथम उपन्यास

देश में अंग्रेजी-शिक्षित लोगों की संख्या बढ़ने लगी। वे अंग्रेजी के उपन्यास-साहित्य से प्रभावित हुए। तमिल भाषा के पंडितों के हाथ यह काम नहीं हो सकता था। अधिकांश जनता मूक हो चली थी। वे न तमिल (साहित्यिक तमिल) जानते थे, न अंग्रेजी। उनको तमिल की पुरानी कविताएँ और उनकी कठिन टीकाएँ उबा रही थीं। तब तीन महान व्यक्तियों ने उपन्यास लिखने का साहस किया। वे उस साहस को सफलता में परिणत भी कर सके[1]। वेदनायकं पिल्लै, राजमय्यर तथा माधवय्या ये तीन ही वे साहसी लेखक हैं।

वेदनायकं पिल्लै भारतीय ईसाई थे। वे मायवरम् नामक स्थान में मुंसिफ का काम करते थे। उनके दो उपन्यास (१) प्रताप मुदलियार चरित्र, तथा (२) सुगुण सुंदरी हैं। उन्होंने अन्य पद्यमय उपदेशात्मक ग्रंथ भी रचे हैं।

राजमय्यर दो साल ही साहित्य-गगन में विचर सके। उनकी मृत्यु उनकी २७ साल की आयु में ही हो गयी। इसलिए वे 'कमलांबाल चरित्र' नाम का एक ही उपन्यास लिख सके।

माधवय्यर 'पद्मावती चरित्र', 'उदयमार्तण्ड चरित्र,' 'तिल्लै कोविन्दन' 'मुत्तु-मीनाक्षी' आदि के रचयिता हैं।

तिथि के अनुसार 'प्रतापमुदलियार चरित्र' सन १८७६ में प्रकाशित हुआ। राजमय्यर का 'कमलांबाल चरित्र' सन १८९७ में छपा। माधवय्या की कहानियाँ उसके लगभग बीस पच्चीस वर्षों के बाद छपीं। अब प्रथम उपन्यास लिखने का श्रेय किसे दिया जाय? इसमें मतभेद हो सकता है।

"नावल" नामक "नवीनम" को लिखने वाले मायूरम के श्री वेदनायकं पिल्लै हैं।[2] "मैं नहीं जानता कि इससे पहले ऐसी गद्यात्मक कथा तमिल में जनता को भेंट की गयी है।"[3]

इन दोनों के कथन में सत्य है ही। लेकिन प्रश्न उठता है कि उपन्यास के लक्षणों के अनुसार यह पूर्ण रूप से उपन्यास माना जा सकता है या नहीं?

"उसे उपन्यास की श्रेणी में नहीं रखना चाहिए"[4]—सुब्रह्मण्य अय्यर ने कहा। अब हम यह देख लें कि उपन्यास क्या है?

उपन्यास तथा गद्यकाव्य में भेद स्पष्ट करते हुए प्रो० वृद्धाचलम (नवलोलुप) लिखते हैं:

---

(१) चिदंबर रघुनाथ : इलक्किय विमर्शनं

(२) वे स्वामीनाथय्यर : नल्लुरै क्कोवै—दूसरा भाग—1946

(३) I am not aware that a similar work of prosaic fiction in Tamil has ever been presented to the public. वेदनायकं पिल्लै अपने उपन्यास की प्रस्तावना में—23-Aug. 1879

(४) ए० वी० सुब्रह्मण्य अय्यर : तकलित्तमिष इलक्कियंम्—1-1-1942

"उपन्यास (नावल या नवीनम) जीवन को, उसके विविध अंगों को और उन अंगों के परस्पर बंधन को आधार मान कर प्रवाहित होता है।

गद्य-काव्य मनुष्य की दैवी शक्ति का और आदर्श पुरुष का चित्रण करता है।

नावल मनुष्य को स्वाभाविक दुर्बलता, पतन, उसका उठना, उसके दोष आदि को दिखा-कर मनुष्य को मनुष्य के रूप में चित्रित करता है····उपन्यास का महत्त्व मनुष्य के सृजन की दक्षता में ही है।"

इस पृष्ठ-भूमि में देखें तो 'प्रतापमुदलियार चरित्र' में दैवी घटनाएँ बार-बार होती हैं। चरितनायक तथा नायिका पर आनेवाले संकट अमानवी शक्ति के कारण दूर होते हैं। ये उपन्यास कला के विरुद्ध हैं।[1]

वैसे ही 'प्रताप मुदलियार चरित्र' विक्रमादित्य चरित्र के समान उपाख्यानों का जमघट-सा हो गया है। पात्र कल्पित हैं सही, तत्कालीन समाज का चित्रण करने का भी प्रयास किया गया है, सही, तो भी पुराणों का-सा वातावरण, कहानी का रुक-रुक कर चलना, अमानवी शक्ति का समावेश, इन कारणों से वह "नावल" नहीं है। भाषा परिमार्जित है। कहानी रोचक है। उपदेशों की भरमार है। अतः उपन्यास साहित्य की अपेक्षा वह अधिक विस्तृत लक्ष्य लेकर चलने वाला 'गद्य काव्य' है।[2] तब इस प्रकार राजारामय्यर का स्थान निश्चित हो गया। 'कमलांबाल चरित्र' की महिमा सर्वत्र गायी जाती है। अब भी कहा जाता है कि वह जिस प्रकार तमिल का पहला उपन्यास है वैसे ही उसका अंतिम उपन्यास भी रह जायगा। मतलब ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण उपन्यास अब तक नहीं लिखा गया। यह डर किसी अंश तक ठीक है। वह पिछली सदी के अंतिम अंश में तमिल नाडु का हू-ब-हू चित्रण प्रस्तुत करता है। अपढ़ स्त्रियों का, तमिल पंडितों का, गाँव के जमीनदारों का, पुलिस का, तथा चोर का इतना सजीव चित्रण अत्यन्त दुर्लभ है। साथ ही ग्राम में होनेवाले मनोरंजन, आपसी फूट, अंधविश्वास आदि का ज्ञान बहुत ही प्रभाव शाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। खैर राजमय्यर प्रतिभावान लेखक थे। लेकिन उनकी प्रतिभा का तमिल नाडु बहुत लाभ उठा नहीं सका।

लगभग उसी समय में शरवणपिल्लै की "सरसांगी" का नाम भी मिलता है।

जनरंजन

ये नावल पढ़े तो चाव से गये; लेकिन विशेष रूप से स्त्रियों तथा अंग्रेजी न जाननेवाली मामूली जनता द्वारा ही। राजमय्यर प्रभृति इस से खुश नहीं हो सके। दक्ष लोगों से आदर पाना एक बात है, स्त्रियों को पाठ्य सामग्री देना दूसरी बात है। अंग्रेजी के ज्ञाता तमिल भाषा की ओर से विमुख थे। तमिल के पंडित लोग नये गद्य को साहित्य ही नहीं मानते थे। इस हालत में जिसका प्रचार खूब हो सका वह जन-रंजक उपन्यास-साहित्य था। इस मनोवृत्ति से लाभ उठाकर तीन व्यक्तियों ने दर्जनों

*(१) सुब्रह्मण्य अय्यर : तकलित्तमिष इलक्कियं
(२) 　„　　„

उपन्यास लिखे। वडुवूर दुरैसामी अय्यंगार, आरणी कुप्पुसामी मुदलियार, तथा श्रीमती वै० मु० कोदैनायकी अम्माल। इन तीनों के उपन्यासों के नाम गिनाने का प्रयास व्यर्थ है।

पहले दो अब नहीं रहे। श्रीमती कोदैनायकी अम्माल, मालूम पड़ता है, ७० से ऊपर उपन्यास लिखकर अब साहित्य-सेवन से दूर रहती हैं। इनमें दुरैसामी अय्यंगार अश्लीलता की हद तक पहुँच गये।

यह स्थिति बहुत दिन तक नहीं रह सकी धीरे-धीरे अंग्रेजी के विद्वान भी तमिल के उपन्यास पढ़ने लगे थे। इसलिए उपन्यास की शैली, विषय आदि परिमार्जित होने लगे। उस मध्यकाल में जबरदस्त लेखकों की दो धाराएँ मिलती हैं। एक में भाषा को व्याकरण से शुद्ध लिखने का प्रयास किया गया। भाषा बोलचाल की नहीं रही। उस धारा के लेखकों में श्री वी० गो० सूर्यनारायण शास्त्री तथा मरैमलै अडिगल के नाम लिये जा सकते हैं। इनका समय लगभग १९१०-१९२० का है। वे दोनों अब नहीं रहे। इसके बाद यह भी धारणा बनी कि उपन्यास में पात्र की स्थिति, शिक्षा-दीक्षा आदि के ख्याल से तदनुकूल भाषा लिखनी चाहिये।

नवीन धारा से नवीन काल उत्पन्न होता है। उसके प्रवर्तक कवि सुब्रह्मण्य भारती, व० रा० आदि को मान सकते हैं। लेकिन ये दोनों अपनी भाषा तथा शैली के लिए मशहूर हैं, न कि उपन्यास लिखने के लिए।

उपन्यास के विषय में विविधता आने लगी। जासूसी नावलें लिखने में जे० आर० रंगराजू विख्यात हुए। उनकी "राजांबाल" आज भी बहुत चाव से पढ़ी जाती है। वह लगभग तीस साल से पहले की लिखी हुई है।

अन्य उपन्यास

आधुनिक उपन्यासों के लेखक कई हैं। इस दल के दिवंगत कलकी, राजु चेट्टियार, नवलोलुप, रंगराजू आदि प्रमुख हैं। जीवित उपन्यासकारों में लक्ष्मी, अखिलन् मु० वरदराजन शंकरराम, मायावी, एस० ए० पी० कु० राजवेलु, चिदंबर रघुनाथ, वसन्तन् विन्दन् का-श्री-श्री आदि हैं। प्रस्तुत लेखक के भी दो तीन उपन्यास पुस्तकाकार तथा पत्रों में प्रकाशित हुए हैं। उपन्यासों की बातें कहते वक्त दो विषय उल्लेखनीय हैं। अनुवाद साहित्य का खूब स्वागत किया गया। बंगाली से अनुवाद करने मे ति० ना० सुब्रह्मण्यम्, मराठी से का० श्री० श्री०, हिन्दी से वीलिनाथ, सरस्वती रामनाथ आदि विख्यात हैं। तमिल नाडु को पत्र-पत्रिकाएँ भी इस साहित्य को प्रोत्साहन देकर बढ़ा रही हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास

इस पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक उपन्यास का विकास पीछे ही हो सकता था। वैसा उपन्यास लिखने के लिए कहानी कहने की कला के साथ इतिहास

का ज्ञान तथा उस काल का वातावरण तैयार करने की क्षमता इन दोनों की भी आवश्यकता है।

इतिहास लिखना, किसी राजा का चरित्र लिखना आसान है। जैसे नमशिवाय मुदलियार ने 'पृथ्वीराज चरित्र' लिखा, "तेजसिंह राजा" लिखा।

राजा की कल्पित कहानी लिखना भी आसान है जैसे वी० गो० सूर्यनारायण शास्त्री ने 'मतिवाणन्' लिखा जो उपन्यास होने का भ्रम पैदा करता है। परंतु सच्चे अर्थ में ये ऐतिहासिक उपन्यास नहीं हैं। एक तरह से यह मानना होगा कि तमिप में ऐतिहासिक उपन्यास पहले अनुवाद के रूप में ही आये।

अब मद्रास हाईकोर्ट के जस्टिस श्री० ए० एस० पी० अय्यर ने सन् १९३० में बालादित्य नामक उपन्यास अंग्रेजी भाषा में लिखकर प्रकाशित कराया। उसके बाद सन १९३९ में "Three Men of Destiny" लिखा। पहले उपन्यास में यशोवर्म तथा बालादित्य के हाथों हुई मिहिरगुल की हार का वर्णन है। पिछला उपन्यास चंन्द्रगुप्त, चाणक्य तथा सिकंदर को लेकर चलता है। इन दोनों का अनुवाद क्रमशः सन् १९३६ ई० तथा सन् १९४० में हुआ।

रमेशचन्द्र दत्त का उपन्यास "महाराष्ट्र जीवन उदय" के नाम से सन् १९४१ ई० में अनुवादित हुआ।

तमिल में मूल ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का श्रेय दिवंगत प्रतिभावान साहित्यकार कलकी* को ही है। उनके उपन्यासों में तीन के नाम प्रमुख है।

शिवकामियिन शपथं: दो साल से अधिक समय तक कलकी में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होने के बाद यह सन् १९४८ में पुस्तकाकार छपा। नरसिंह पल्लव १६०० वर्ष के पहले मामल्ल पल्लव के नाम से विख्यात थे। उनकी राजधानी कांची थी। यह कहानी उनके समय की है। तभी पुलिकेशी वातापि ने धावा किया था। वह 'आयनर' नामक शिल्पी की अतिरूपवती कन्या शिवकामी को कैद कर ले गया था।

नरसिंह पल्लव उस पर आसक्त थे। शिवकामी ने शपथ ली कि जब तक वातापि नरसिंह के हाथों ध्वस्त नहीं होगा तब तक वह अपनी कांची में वापस नहीं जायगी। उस शपथ का फल क्या हुआ इसका चित्रण ही इस उपन्यास का मुख्य विषय है।

***कलकी का पूरा नाम श्री रा० कृष्णमूर्ति है। वे राजाजी के चलाये हुए 'विमोचनं' नामक पत्र में सहायता करते थे। पीछे 'आनन्द विकटन' के संपादक बने। बाद को उसे छोड़कर 'कलकी' का संपादन शुरू किया। पत्रिका का नाम और उनका उपनाम दोनों एक हैं। उनके संपादकीय लेख, राजनीतिक लेख, कला संबंधी टिप्पणियाँ सब अपनी सफाई तथा गहरी चोट करने के गुण के लिए मशहूर हैं। उनकी शैली चुस्त नहीं होती थी लेकिन हास्य रस मिली सुन्दर और रोचक होती थी। सामयिक लेख बड़े प्रभावकारी हैं। उनकी कहानियाँ—सैकड़ों—तमिलनाडु को मुग्ध कर चुकीं हैं। उनके लगभग एक दर्जन उपन्यास छपे हैं। 'त्यागभूमि', 'चोर की प्रेमिका' आदि के फिल्म भी बने हैं। वे पारसाल दिवंगत हो गये।**

पार्तिवन कनवु का पहला संस्करण सन् १९४३ में छपा। यह भी नरसिंह पल्लव से संबंधित तमिल नाडु की कहानी है। चोल राज्य पल्लव के अधीन थे। पार्तिवन चोल राजा था। उसकी आकांक्षा थी कि चोल राज्य को फिर पहले के समान स्वतंत्र तथा प्रतापी बनाये। लेकिन वह लड़ाई में मर जाता है। उसका पुत्र विक्रम नरसिंह की पुत्री कुन्दवी से प्रेम करता है। महाराज नरसिंह की अप्रत्यक्ष सहायता से उन दोनों का विवाह होता है। यहाँ तक तमिल नाडु का इतिहास इस में वर्णित है।

पोयिन्नि शेलवन–उपर्युक्त काल के लगभग तीन सौ साल के बाद राजराज चोल हुए उनसे संबंधित यह लंबा उपन्यास अब तक पुस्तकाकार पूरा नहीं छपा है। केवल एक अंश अब तक छपा है। कलकी के बाद उल्लेखयोग्य ऐतिहासिक उपन्यास के लेखक सुदेशमित्रन के सह-संपादक श्री एस० भाष्यम जी हैं जिनका उपनाम शाण्डिल्यन् है।

'**उदयभानु**' उनका पहला उपन्यास है जो पुस्तकाकार छपा है। इसमें औरंगजेब के समय को राजपूतों की कहानी है। '**जीवि भूमि**' पहले 'अमुद सुरभि' नामक मासिक पत्र में धारावाहिक रूप से छपा। बाद को अक्टोबर १९५३ में पुस्तकाकार छपा। औरंगजेब की राजपूताने में हार इस कहानी की पृष्ठभूमि में है। दयालसाह, टाइबरखाँ, रतन चंदावत, सालुम्बरा, आदि ऐतिहासिक पात्रों के साथ अखिला, जयमल, जयसिंह आदि कल्पित पात्रों को लेकर, उन्होंने यह कहानी लिखी है। इस में अखिला आदर्श राजपूत स्त्री है। रतन को पहले मुगलों के अधीन रहनेवाले वीर के रूप में कल्पित किया गया है। बाद में अखिला के कारण वह मुगलों का विरोधी हो जाता है। यह भारत भूमि 'जीव भूमि' है। इसके वीर कभी-कभी अपना आदर्श भूले भी हैं। लेकिन समय आने पर वे चेत भी जाते है। यही इस उपन्यास का विषय है।

मलैवाशल—अभी पुस्तकाकार नहीं छपा है। कन्निमाडम् चोल-राजकाल को लेकर लिखी गयी कहानी है, जो अभी-अभी धारावाहिक रूप में 'कुमुदमं' नामक पाक्षिक पत्र में छपने लगी है। इनके अलावा अन्य उपन्यासकार भी कभी-कभी ऐतिहासिक उपन्यास लिखते है। ऐतिहासिक उपन्यास में कल्पना है, रोमांच है। राजवंश, वीरता प्रेम आदि का वर्णन है। इसलिए वे आकर्षक लगते हैं। उनकी मांग भी है।

ति० ना० सुब्रह्मण्यम ने "मयूरन" नामक उपन्यास नवंबर सन् १९५२ में प्रकाशित कराया है।

पल्लव साम्राज्य के अधीन रहनेवाले कुन्दल देश से संबंधित इस कहानी में मयूरन नामक राजवंश के पहले राजा का चरित्र कहा गया है। वह वंश विख्यात था। तीन सौ साल तक वह अपने प्रताप के साथ राज्य करता था। तो भी वह पल्लवों के अधीन ही राज करता था।

अभी हाल में 'उणायक्कन कोंट्टै" नामक एक उपन्यास हैदर और टीपू सुलतान दोनों के समय की पृष्ठभूमि में लिखा जाकर प्रकाशित हुआ है। इनके अलावा भी ऐतिहासिक नाटक लिखे गये हैं। 'राज राज चोल्लन' उनमें प्रमुख है।

हम देखते हैं कि तमिल भाषा में ऐतिहासिक उपन्यास की परंपरा अब तक दृढ़ नहीं हुई है। दो लेखक उस क्षेत्र में आये, कलकी तथा शाण्डिलयन। दोनों लोकप्रिय हो गये। कलकी की लोकप्रियता उनके तमिलनाडु के विगत भूले हुए गौरव को पुनः तमिलनाडु वालों के सामने लाने से हुई। शाण्डिल्यन की लोकप्रियता उनके कहानी कहने की रोचकता से हुई। कलकी तो अब नहीं रहे। शाण्डिलयन अभी लिख रहे हैं। उनसे तमिलनाडु बहुत आशा रखता है।

राजराज चोलन, कुन्दवै, कलिकाल चोलन्, शेरन चेंगुट्टुवन, पाण्डयन नेडुमारन, नेडुंचेषियन, आदि राजा तमिल नाडु के इतिहास में विख्यात हैं। वैसे ही, पल्लव के महेन्द्र, नरसिंह आदि भी। इन में से कुछ को कलकी ने तमिलनाडु वासियों के लिए अपनी कल्पना, अपने इतिहास, ज्ञान तथा मान, और अतिशय प्रतिभा के बल से सजीव कर दिया है। तमिलनाडु उमैयन और कट्टबोम्मन दोनों पर बहुत नाज करता है। वे ईस्ट इंडिया कम्पनी से जूझने वाले बृटिश विरोधी वीर जमीन्दार थे। इनको लेकर कभी-कभी एकांकी, कहानी आदि लिखे जाते हैं। लेकिन अब तक कोई उपन्यास नहीं छप सका। तमिलनाडु किसी प्रतिभावान लेखक की बाट जोह रहा है।

अब सुनने में आता है कि तमिलनाडु में ऐतिहासिक उपन्यास की मांग अधिक हो रही है। अतः उसका भविष्य उज्ज्वल है। आजकल "तमिलनाडु का इतिहास उपेक्षित रहा है" यह खेद प्रबल हो रहा है। अतः आशा होती है कि विद्वान अन्वेषक तमिलनाडु के इतिहास को अपनी खोजों के बल से निर्माण करके प्रस्तुत करेंगे। उस हालत में उपन्यास लिखने वालों को भी आवश्यक साधन और सहायता मिल जायगी इस दृष्टि से भी साहित्य के इस अंश की पुष्टि होगी यह विश्वास किया जा सकता है।

श्री ए० सी० कामाक्षिराव एम० ए०

तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यास

तेलुगु में उपन्यास को 'नवल' (Navala) कहते है। 'नवल' अंग्रेजी 'नावेल' (Novel) शब्द का रूपांतर है। शब्द को देखकर ही यह मालूम होता है कि तेलुगु में उपन्यास साहित्य का श्री गणेश अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के कारण हुआ है। वैसे तो तेलुगु का कथा-साहित्य बहुत ही प्राचीन तथा विशाल है किन्तु अंग्रेजी 'Novel' का जो रूप एवं टेकनीक है, वैसा रूप और टेकनीक लेकर तेलुगु में उपन्यासों का जो क्रम शुरू हुआ, वह अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के कारण था, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

तेलुगु साहित्य में उपन्यास साहित्य का जन्म एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ प्रतीत होता है। तेलुगु का पहला उपन्यास "राजशेखर चरित्र" है जो सन १८७८ ई० में प्रकाशित हुआ। इस प्रथम उपन्यास के लेखक श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु हैं। वीरेशलिंगम्जी तेलुगु के आधुनिक साहित्य के और विशेष रूप से गद्य साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी को जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान वीरेशलिंगम् जी को तेलुगु में प्राप्त है। उपन्यास, कहानी, नाटक, प्रहसन, निबंध—गद्य-साहित्य की प्रत्येक विधा को उन्होंने अपनी लेखनी से पवित्र किया, और उनके बाद साहित्य की इन विधाओं की गति अबाध रूप से चली। उस समय तक तेलुगु में गद्य-साहित्य की उतनी प्रगति नहीं हुई थी जितनी एक प्रगतिशील भाषा के लिए आवश्यक थी। जो गद्य उस समय तक उपलब्ध था, वह चंपूकाव्यों में पाया जाता था, और वह पांडित्य-प्रदर्शन की बहुलता के कारण कृत्रिम और जटिल बन गया था। केवल पंडितों की पहुँच उसके पास तक थी; साधारण जनता के लिए वह लोहे का चना था। साधारण जनता में पुस्तक-पठन की इच्छा जागृत करने तथा साधारण जनता की समझ में आने योग्य भाषा का रूप स्थिर करने और उसका उपयोग करने की उस समय बड़ी आवश्यकता थी। उस युग की माँग भी यही थी। इतना ही नहीं, वीरेशलिंगम् जी ब्रह्म-समाज के अनुयायी थे और अपने सम्प्रदाय का

प्रचार करना उनके जीवन का ध्येय था। इसके लिए दो बातें आवश्यक थीं। पहली आवश्यकता यह थी कि भाषा का एक ऐसा रूप स्थिर किया जाय जो साधारण पढ़े लिखे लोगों की समझ में आसानी से आ जाय। दूसरी यह थी, कि ऐसे गद्य-साहित्य का निर्माण किया जाय, जो लोगों को आकर्षित कर सके उनमें पढ़ने की रुचि पैदा करे और जिसके द्वारा लोगोंके हृदय में ब्रह्म-समाज के सिद्धान्तों के बीज, साहित्य के आश्रय से बोए जाँय। इस कार्य के लिए उपन्यास नाटक, कहानी, और प्रहसन आदि अनुकूल पड़ते थे। समाज में जो अंधो रूढ़ियाँ प्रचलित थीं, जैसे बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, मंदिरों में वेश्याओं (देवदासियों) को नियुक्ति, रिश्वतखोरी आदि। इन सब का खण्डन करने तथा विधवा-विवाह, स्त्रियों में पुनर्विवाह, तलाक, वर्णांतर विवाह, वर्ण-भेद का उन्मूलन जैसे समाज-सुधार-विषयक भावों का प्रचार करने के लिए उपन्यास उपयोगी साधन बन सकता था। इसके अलावा वोरेशलिङ्गम् जी ने यह भी अनुभव किया कि अंग्रेजी-साहित्य में जितनी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं उनका अनुकरण करना तेलुगु के सर्वतोमुखो विकास के लिए आवश्यक है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति-हेतु वीरेशलिंगम् जो ने 'राजशेखर चरित्र' नामक एक सामाजिक उपन्यास लिखा जिसमें उन्होंने समाज में उस समय प्रचलित कई कुप्रथाओं तथा अंधविश्वासों का निर्मम खण्डन किया। इस उपन्यास को लोकप्रियता इतनो अधिक बढ़ी कि इस का अनुवाद अंग्रेजी में भी हुआ। इस प्रकार वोरेशलिंगम् जो का दिशा-दर्शन पाकर युवक साहित्यकार उनका अनुसरण करने लगे। इसी समय वोरेशलिंगम्जो तथा कुछ अन्य साहित्य प्रेमियों के उद्योग से 'चिन्तामणि' नामक एक मासिक पत्रिका उपन्यास -रचना को प्रोत्साहन देने के लिए हर साल प्रतियोगिता चलाने लगी। इस पत्रिका के तत्त्वावधान में पहली प्रतियोगिता सन् १८९३ में चली। इस तरह यह प्रतियोगिता हर साल १८९३ से १८९९ तक चली और कई योग्य रचयिताओं को प्रोत्साहन मिला। इस संस्था से प्रेरणा प्राप्त करके १९ वीं सदी के अंतिम तथा २० वीं सदी के प्रथम दशक में कई संस्थाएँ उपन्यास साहित्य को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से स्थापित हुईं। इनमें प्रसिद्ध ये हैं :—विज्ञान चन्द्रिका मंडली, आंध्र-प्रचारिणी ग्रंथ माला; आंध्र-भाषाभिवर्द्धिनी ग्रन्थमाला; राम विलास ग्रन्थ माला; सरस्वती ग्रन्थ मण्डली। इन संस्थाओं के तत्त्वावधान में कई विषयों पर उपन्यास लिखे गये और दूसरी भाषाओं के कई उपन्यास अनूदित हुए। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इस दिशा में भारत भर की भाषाओं में बँगला के बाद तेलुगु किसी दूसरी भाषा से पिछड़ी नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यासों के संबंध में विचार करने के पहले एक दो बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। यह एक विडंबना की बात है कि तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यास पहले आंध्रदेश के इतिहास को लेकर नहीं निकले जैसा कि होना चाहिए या होता है। दुर्भाग्य की बात है कि आंध्र-देश का समग्र इतिहास आज तक पूरा-पूरा संपादित नहीं हुआ है। समय-समय पर जो खोजें हुईं हैं, उनसे आंध्र के कुछ राजाओं के संबंध में ऐतिहासिक आधार मिले हैं; किन्तु

आन्ध्रों का एक क्रम-बद्ध प्रामाणिक इतिहास अभी तक प्राप्त नहीं है। तेलुगु में सबसे पहले आंध्रों का इतिहास करीब १९२० के आसपास प्रकाशित हुआ है। यही एकमात्र इतिहास था, जिस पर उपन्यासकार निर्भर कर सकता था। किन्तु दूसरे प्रांतों के इतिहास तो कम से कम अंग्रेजी भाषा में मिल सकते थे। इसलिए तेलुगु में जो उपन्यास प्रारंभ में लिखे गये वे राजस्थान, काश्मीर और महाराष्ट्र के इतिहास से संबंधित हैं। ऐसा होते हुए भी प्रसिद्ध विजयनगर साम्राज्य और काकतीय साम्राज्यों के संबंध में जो लोक-कथाएँ और लोक-गीत उपलब्ध थे, उनके आधार पर भी कुछ उपन्यास लिखे गये।

तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यास दो रूप में मिलेंगे। एक तो वे हैं जिनमें देश और काल के साथ-साथ उपन्यास के प्रमुख पात्र भी ऐतिहासिक व्यक्ति होते हैं; दूसरे वे हैं जिनमें देश और काल तो अवश्य ही ऐतिहासिक हैं, परन्तु उनके नायक नायिका कल्पित होते हैं। ऐसे उपन्यास अधिकतर ऐतिहासिक चौखटे में जड़ी प्रेम की आख्यायिकाएँ हैं।

तेलुगु के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों को काल की दृष्टि से हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं:—

उदय कालीन उपन्यास (१८९६—१९१४)
उत्थान कालीन उपन्यास (१९१५—१९४०)
विकास कालीन उपन्यास (१९४१—अबतक)

उदयकालीन उपन्यासकारों के सामने कई कठिनाइयाँ थीं। एक ओर उनके लिये इतिहास संबंधी प्रामाणिक आधार कम थे। उपन्यास की टेकनीक में दिशा-दर्शन कराने वाले उपन्यास उस समय तक नहीं थे। इसलिये उनका सारा ध्यान उपन्यास को रोचक बनाने, घटनाओं के संविधान में विचित्रता बनाये रखने में केन्द्रित था। प्रायः उपन्यास किसी एक रहस्य से शुरू होता है और उसका पूरा-पूरा उद्घाटन उपन्यास के अंत में ही होता है। प्रत्येक उपन्यास में कोई न कोई एक ऐसा साधु रहता है, जो राज्य का निर्वासित या मृत्यु-दण्ड से दण्डित मंत्री होता है, जो राज्य की रक्षा हेतु यत्नशील रहता है। इसलिए इन उपन्यासकारों का ध्यान 'चरित्र-चित्रण' अथवा देश-काल, आचार-व्यवहार की ओर अधिक नहीं जा सका।

उत्थानकालीन उपन्यासों में लेखकों की कला कुछ प्रौढ़ हो चली थी। इतिहास की खोज के द्वारा कुछ हद तक कई नई बातें मालूम हो चुकी थीं। इस समय के उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य के साथ ही साथ पात्रों को चरित्र-चित्रण और देश-तथा काल का चित्रण बहुत सुन्दर हो गया है।

विकास कालीन उपन्यास ही सच्चे अर्थ में ऐतिहासिक उपन्यास कहलाने योग्य हैं। इस समय तक आन्ध्र के कई राजवंशों के इतिहास की खोज हो चुकी थी। इसलिए इसकाल के प्रायः सभी उपन्यास आन्ध्र के इतिहास को लेकर चले है। ऐतिहासिक उपन्यासों की कला में काफी विकास हो चला था। वर्णनों की यथार्थता, देश के आचार

व्यवहार, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थिति के साथ-साथ कथा में रोचकता लाने का सतत प्रयत्न, तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर जागरूकता इन उपन्यासों में दिखाई देती हैं। अब हम प्रत्येक काल के मुख्य उपन्यासों की चर्चा करेंगे।

उदयकालीन उपन्यास :

तेलुगु का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'हेमलता' (१८९६) है। इसके रचयिता श्री चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् हैं। लक्ष्मी नरसिंहम् जी का जन्म सन् २६ सितम्बर १८६७ ई० को पूर्व गोदावरी के खंडवल्ली नामक गाँव में हुआ था। विद्यार्थी-दशा से ही उनकी रूचि तेलुगु साहित्य की ओर अधिक थी, इसलिए मैट्रिक परीक्षा पास कर लेने के बाद वे तेलुगु तथा दूसरी भाषाओं का अध्ययन स्वयं करने लग गये। वे वीरेशलिंगम् जी के समकालीन थे और समाज-सुधार के कार्यों में वीरेशलिंगम् जी को अपना गुरु मानकर उनके साथ-साथ समाज-सुधार के कार्यों में लगे रहे। स्वाध्याय, चिंतन और मनन के कारण उनकी प्रतिभा चमक उठी और जब वे तेलुगु गद्य-लिखने लगे तो श्रेष्ठ-गद्य रचयिताओं में गिने जाने लगे। उन्होंने करीब-करीब १० ग्रन्थ लिखे जिनमें बहुतेरे उपन्यास और नाटक थे। उनके नाटक आज भी उतने ही लोकप्रिय हैं, जितने वे पहले थे। प्रसाद-गुण-पूर्ण शैली में नदी-प्रवाह के समान बहने वाले उनके गद्य की बराबरी आज तक बहुत कम लोग कर सके हैं। उनकी शैली की विशेषता, उनकी वाग्विदग्धता एवं शिष्ट हास्य में है। चालीस साल की उम्र में कठोर नियति ने उनकी आँखों की ज्योति छीन ली, फिर भी उसके बाद करीब २०-२५ साल तक वे आन्ध्र-साहित्य-देवी के मंदिर को अपने अमूल्य कृति-रत्नों से सजाते रहे। उनका स्वर्गवास १७-६-१९४६ को हुआ।

लक्ष्मी नरसिंहम जी का पहला ऐतिहासिक उपन्यास 'हेमलता' है। चिंतामणि पत्रिका के द्वारा चलाई गई प्रतियोगिता में इस उपन्यास को १८९६ में प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। यह चित्तौर की रानी पद्मिनी और राणा भीमसिंह के समय की एक प्रेम-कथा है। इस उपन्यास का नायक मदनसिंह है जो चित्तौर के सेनापति का भतीजा था। हेमलता इस उपन्यास की नायिका है। वह एक महाराष्ट्र-युवती थी, जिसके पिता और दादा अलाउद्दीन के कोप-भाजन बन गये थे। इन दोनों के प्रेम को केंद्र बनाकर उपन्यास की रचना हुई। यद्यपि इस उपन्यास में अलाउद्दीन का रानी पद्मिनी का मुँह देखने का दुराग्रह, भीमसिंह की गिरफ़तारी और छुटकारा आदि ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णित हैं, फिर भी उनका स्थान गौण है। गोरा-बादल के नाम भी इस उपन्यास में आये अवश्य हैं किन्तु उनकी वीरता का जो अतिरंजित वर्णन उत्तर के साहित्य में मिलता है, वह इसमें नहीं है। लेखक का सारा ध्यान कथा को रोचक बनाने के लिये आवश्यक घटना-संविधान में ही केंद्रित रहा। उपन्यास में लेखक की अनूठी कल्पना एवं मधुर शैली का परिचय मिलता है। देश काल का वर्णन तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर भी लेखक का ध्यान गया है।

"हेमलता" की सफलता ने लेखक के हौसले बढ़ा दिये और उन्होंने अहल्याबाई (१८९७)

और कर्पूरमंजरी (१८९८) नामक दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इन दोनों को चिंतामणि पत्रिका की प्रतियोगिता में क्रमशः १८९७ और १८९८ में प्रथम पुरस्कार मिला।

'अहल्याबाई' इन्दौर की महारानी थी। पति की मृत्यु के बाद वह खुद राजगद्दी पर बैठकर राज-काज सम्हालने लगीं। उनके सरदार स्त्री का शासन नहीं सह सके। इसलिए रानी को गद्दी से उतारने के उद्देश्य से वे शत्रु-राजाओं से मिलकर षड़यंत्र रचने लगे। अहल्याबाई ने सब बागियों का दमन किया और देश में शान्ति स्थापित की। इस उपन्यास में भी एक अंतर्वाहिनी प्रेम-कथा है, किन्तु वह गौण हो गई है। देश-काल के चित्रण में लेखक को संतोष-जनक सफलता मिली है।

'कर्पूरमंजरी' काश्मीर के इतिहास से संबन्ध रखने वाला उपन्यास है। काश्मीर के महाराज विक्रमसेन की मृत्यु के बाद उनका ज्येष्ठ-पुत्र हेमचन्द्र गद्दी पर बैठा। उसका भाई चित्रभानु बड़ा महत्त्वाकांक्षी था, और वह अपने भाई को तथा उनके परिवार को समूल नष्ट करके खुद राजा बनने का षड़यन्त्र रचने लगा। रुद्र भट्ट नामक एक कुटिल नीतिज्ञ की सहायता से वह अपने भाई की हत्या करने तथा भतीजों को कैद करने में सफल हुआ। किन्तु अंत में उसके पापों का घड़ा भर जाता है और दूसरे राजाओं की सहायता से हेमचन्द्र के पुत्र अपने चाचा को परास्त कर फिर राज्य प्राप्त कर लेते हैं। इस उपन्यास में कथा-वस्तु का संविधान इतना आकर्षक है कि हम लेखक की प्रतिभा पर मुग्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं इस उपन्यास में नवों रसों का ऐसा सुन्दर सामंजस्य हुआ है कि उसे पढ़ते समय महाकाव्य का सा आनन्द आने लगता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी लेखक सजग रहा है।

२०वीं सदी के प्रथम दशक में मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास एक दो ही निकले। हाँ, दूसरी भाषाओं से कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों का अनुवाद हुआ। इन अनुवादों में 'दुर्गेशनंदिनी' (बंकिमचंद्र) और 'नूरजहाँ' (सरदार जोगेंद्र सिंह) मुख्य हैं। सन् १९०९ में भोगराजु नारायण मूर्ति जी का 'विमलादेवी' नामक एक मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुआ जो राजस्थान के इतिहास से संबंधित है। सन् १९१० में केतवरपु वेंकट शास्त्री जी का "रायचूरु युद्धमु" प्रकाशित हुआ। श्री कृष्णदेवराय का प्रताप, वीरता एवं उदारता का चित्रण इस उपन्यास में बड़ा सुन्दर हुआ है। इसी साल राघवचन्द्र सच्छास्त्री का 'विजयनगर साम्राज्यमु' भी निकला जो विजयनगर के अतीत-गौरव का दिग्दर्शन कराता है। भोगराजु नारायण मूर्ति जी तथा केतवरपु वेंकट शास्त्री जी ने बाद को भी उपन्यास लिखे। इनके दो प्रारंम्भिक उपन्यासों में चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम जी जी का प्रभाव स्पष्ट दीखता है।

उत्थानकालीन उपन्यास:—

जैसे पहले ही कहा जा चुका है १९१५ से उपन्यास कला में प्रौढ़ता आने लगी थी। इन उपन्यासों में ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र को चित्रित करने की अधिक चेष्टा दीखती है। साथ ही साथ इतिहास की घटनाओं के प्रति वफ़ादार रहने के लिए लेखक प्रयत्न करने लगे। इस काल के मुख्य उपन्यासों का परिचय इस प्रकार है:—

प्रभातमु (१९१५) वंगूरि सुब्बारावजी:—यह लोक कथा के आधार पर लिखा हुआ कृष्ण देवराय के जीवन से संबधित एक सुन्दर उपन्यास है। अपने शत्रु कलिंग-नरेश गजपति

को परास्त करके कृष्णदेवराय उनकी पुत्री से विवाह कर लेते हैं। किन्तु यह विवाह संबन्ध गजपति को छोड़ कर उनके परिवार में किसी को पसंद नहीं था। राजकुमारी को उसकी माता तथा भाई बहनें सलाह देती हैं कि वह राजा को शयनागार में मार डाले। राजा को यह बात मालूम हो जाती है और तुरंत वे कलिंग की राजकुमारी को उसके मायके भेजने की व्यवस्था कर देते हैं। लेकिन राजकुमारी मायके नहीं जाती, वह कृष्णदेव के राज्य के सीमा-प्रांत में ठहरकर, वहीं रहते हुए अपने पति के ध्यान में अपना समय बिताती है। अंत में श्री कृष्णदेवराय की भेंट उससे हो जाती है। तब से उसके जीवन का सुप्रभात हुआ। राजकुमारी के अंतर्द्वन्द्व का बड़ा मार्मिक चित्र इसमें प्रस्तुत हुआ। उपन्यास में घटनाओं की प्रधानता उतनी नहीं है, जितनी चरित्र की प्रधानता है।

अस्तमयमु (१९१६) भोगराजु नारायण मूर्ति : विजय नगर साम्राज्य के अस्तमय को कथा को लेकर इसकी रचना हुई है। प्रसिद्ध विजयनगर राजाओं में अंतिम राजा रामराजु का शौर्य, न्याय-बुद्धि, धार्मिक उदारता तथा उनका दुर्भाग्य, इन सबका बड़ा हृदय-ग्राही वर्णन इस उपन्यास में हुआ है। इतिहास में विजयनगर के पतन के संबंध में तो हम पढ़ते हैं, किन्तु लेखक ने इसका जीता-जागता चित्र इस उपन्यास में बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है।

ताराबाई : १९१७ }
इच्छिनी कुमारी: १९२८ } केतवरपु वेंकट शास्त्री

तोधा नरेश सूरधान की पुत्री ताराबाई की वीरता तथा चित्तौड़ के राणा रायमल के दूसरे पुत्र पृथ्वीराज से उनके प्रेम को केन्द्र बनाकर 'ताराबाई' नामक उपन्यास की रचना हुई। उस समय के नरेशों तथा सरदारों की स्वार्थपरता तथा महत्त्वाकांक्षा, और राष्ट्रीय भावना के अभाव की ओर यह उपन्यास बड़ा सुन्दर संकेत करता है। वेंकट शास्त्री की शैली अपने ढंग की निराली है।

'इच्छिनी कुमारी' का कथानक गुजराती की 'रास-माला' से लिया गया है। इच्छिनी-कुमारी आबूगढ़ के नरेश परमार की पुत्री थी जो बड़ी ही वीर और साहसी थी। गुजरात का राजा भीम उससे विवाह करना चाहता है किन्तु इच्छिनीकुमारी दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान से प्रेम करती है। राजकुमारी का भीम के द्वारा अपहरण, पृथ्वीराज के द्वारा उनकी मुक्ति, राजा भीम की हार, आदि घटनाएं बड़े रोचक ढंग से वर्णित हैं।

अल्लाहो अकबर (१९२९) }
चंद्रगुप्त (१९३०) } भोगराजु नारायण मूर्ति जी
आंध्र राष्ट्रमु (१९३१) }

'अल्लाहो अकबर' विज्ञान-चंद्रिका मंडली नामक संस्था से पुरस्कृत उपन्यास है। ऐतिहासिक उपन्यास का रूप इस उपन्यास में बहुत हद तक निखर उठा है। यह राणा-प्रताप और अकबर के बीच के संघर्ष का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। लेखक ने राणा प्रताप व अकबर के चरित्र को चित्रित करने में पर्याप्त सहृदयता दिखाई है। इतिहास के कंकाल को लेखक ने अपनी उदात्त कल्पना के मांसल आवरण से ढँक कर इन दोनों पात्रों का ही नहीं बल्कि

उस समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत किया है कि हम मुग्ध होकर रह जाते हैं। राणा-प्रताप की असंख्य कठिनाइयों का हृदय स्पर्शी वर्णन पढ़ते समय शायद ही कोई ऐसा पाठक होगा जो आँसू न बहाता हो।

'चन्द्रगुप्त' मौर्य वंश के चंद्रगुप्त के बचपन से उनके राजतिलक तक की कहानी प्रस्तुत करता है। इसमें लेखक ने कई मौलिक उद्भावनाएँ की हैं जो अब तक के उपलब्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों में नहीं हैं। इस उपन्यास की मुरा अपने पति की हत्यारिणी है। अपने पुत्र चंद्रगुप्त को राजगद्दी दिलाने के लिए वह चाणक्य की बातों में आजाती है और चाणक्य के षड़यन्त्र का एक पुरजा बन जाती है। राजा की मृत्यु के एक दिन पहले उसका नारीत्व जागृत हो उठता है और उसके मन में सत्-असत् प्रवृत्तियों का तीव्र संघर्ष चलता है, किन्तु वह अंत में दानवी प्रवृत्तियों की शिकार बन जाती है। लेखक ने इस अंतर्द्वन्द्व का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

'आंध्र राष्ट्रमु,' काकतीय वंश की वीर-रानी रुद्रमदेवी के समय के विद्रोहों तथा विदेशी आक्रमणों का, तथा रुद्रमदेवी का शौर्य प्रस्तुत करता है। यह उपन्याम घटना-प्रधान अधिक है।

विकास कालीन उपन्यास—

इस समय के उपन्यासों में ऐतिहासिक उपन्यास-कला पूर्ण विकाम को प्राप्त हो चली थी। इतिहास के संबंध में भी काफी खोज हो चुकी थी। इस काल के प्रसिद्ध उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

हिमबिंदु (१६४६) अडवि बापिराजु:—तेलुगु के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार अडवि बापिराजु हैं। अडवि बापिराजु में ललित कलाएँ मूर्तिमान होकर आई हैं। संगीत, साहित्य, शिल्पकला, और चित्रकला में ये बेजोड़ हैं। वे पहले शिल्पकार हैं और बाद का चित्रकार, कवि, कहानीकार, उपन्यासकार और संगीतज्ञ हैं। इसलिए उनकी प्रत्येक कृति में वह रचनात्मक सौष्ठव, वह सृजन-शक्ति दृष्टिगोचर होती है, जो एक शिल्पकार की अभिजात संपत्ति है। इतना ही नहीं, आंध्रत्व उनमें मूर्तिमान हुआ है। उनका पहला ऐतिहासिक उपन्यास शातवाहन राजाओं में प्रमुख श्रीमुख शातवाहन के समय का है, इस काल में आंध्र साम्राज्य मगध तक फैला था। इस में तीन प्रणय-गाथाओं की अलग अलग धाराएँ चलती हैं—राजकुमार श्री कृष्ण शातवाहन और विषबाला; शिल्पकार सुवर्णश्री तथा वणिक् श्रेष्ठ चारुगुप्त की कन्या हिमविन्दु, वीर समवर्ति और सुवर्णश्री की बहन नाग बंधुनिका, इनकी प्रेम कथाएँ गौण हैं। मुख्य है—आंध्र-साम्राज्य के वैभव का वर्णन। इस उपन्यास में बापिराजु ने आंध्र संस्कृति का सर्वांगीण रूप प्रस्तुत किया है और यही उपन्यास का उद्देश्य भी है। आंध्रों की समृद्धि, उनकी उदारता, उनकी प्रतिभा, उनका कला-प्रेम उनके आचार-विचार इन सब का यथार्थ तथा उत्तम वर्णन इसमें हो पाया है। यही कारण है कि यह तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों में श्रेष्ठ स्थान पा सकता है।

'हिमबिंदु' के अलावा वापिराजु ने 'गोन गन्नारेड्डी' नामक एक और उपन्यास भी लिखा है, जो कला की दृष्टि से हिमबिंदु की बराबरी कर सकता है। 'नारायण

राव' उनका तीसरा उपन्यास है, जिसमें समकालीन आंध्र-जीवन का बड़ा ही उत्तम व यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है।

नारायण भट्ट (१९४८) } नोरि नरसिंह शास्त्री जी
रुद्रमदेवी (१९५०) }

आंध्र देशपर बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्रभाव पड़ने से उसका राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक पतन हो चला था। उस प्रभाव को दूर करने तथा लोगों में कर्मनिष्ठा को जागृत करने में व्यासकृत महाभारत के आंध्रोकरण का एक जबर्दस्त हाथ रहा। महाभारत का अनुवाद तेलुगु में तीन लोगों के द्वारा हुआ था, जिनमें प्रथम थे 'नन्नया'। किन्तु इस अनुवाद की आवश्यकता समझ कर नन्नया को इसके लिए योग्य जान, उनको प्रोत्साहन देते हुए महाभारत के कुछ पर्वों का अनुवाद कराने का श्रेय नारायण भट्ट को है। 'नारायण भट्ट' में आंध्र देश के तत्कालीन धार्मिक संघर्षों तथा बौद्धों के षड्यंत्रों का ही नहीं बल्कि उस समय के वेंगि देश के आंध्र चालुक्य राजाओं में प्रसिद्ध राजराजनरेन्द्र का विद्या तथा कला-प्रेम उस समय की प्रजा के आमोद-प्रमोद, आचार-विचार आदि का यथार्थ वर्णन भी पाया जाता है।

'रुद्रमदेवी' आंध्रजाति के उत्कर्ष की चेष्टा में दूसरा कदम प्रस्तुत करता है। जहाँ ',नारायण भट्ट'' उपन्यास में आर्ष-धर्म की व्याप्ति के लिए राजराजनरेन्द्र तथा नारायणभट्ट को हम प्रयत्नशील देखते हैं, वहाँ 'रुद्रमदेवी' में आंध्रदेश के उस समय का इतिहास प्रस्तुत हुआ है, जब कि आंध्र के शत्रु-राष्ट्र, काकतीय वंश के राजाओं को मटियामेट करके सारे आंध्र प्रांत को अपने राज्य में मिलाने का प्रयत्न करने लगे। इस विदेशी आक्रमण तथा गृह-कलह का सामना करने वाले रानी रुद्रमदेवी के विश्वासपात्र तीन सलाहकार थे—राजगुरु विश्वेश्वर शंभु देशिकुलु; राजकवि तिक्कना; और महामंत्री अन्नया। इसी समय तिक्कना ने व्यास के महाभारत के विराट, उद्योग और युद्ध पर्वों का अनुवाद किया था। रुद्रमदेवी के राज्य काल का बड़ा ही सुन्दर वर्णन इस उपन्यास में मिलता है।

तंजाऊरु पतनमु: (१९५३) कुमारी मल्लादि वसुंधरा
भुवन विजयमु (१९५४) धूळिपाळ राममूर्ति
सप्त पर्णि (१९५५) कुमारी मल्लादि वसुंधरा
ये तीनों उपन्यास आंध्र विश्वविद्यालय से पुरस्कृत हैं और वहीं से प्रकाशित हैं।

तंजाऊर के आंध्र राज्य के पतन की कथा को आधार मानकर 'तंजाऊरु पतनमु' नामक उपन्यास की रचना हुई है। यह घटना-प्रधान उपन्यास है। उसकी शैली एवं भाषा प्रौढ़ होते हुए भी आकर्षक है। कुमारी मल्लादिवसुन्धरा जी का दूसरा उपन्यास 'सप्तपर्णि' काकतीय वंश के अंतिम राजा प्रतापरुद्र देव की अविनीत तथा अदूरदर्शिता का तथा कातीय साम्राज्य के कला-वैभव का सुंदर वर्णन करता है।

'भुवनविजयमु' श्रीकृष्ण देवराय के वैभव का वर्णन करता है। राजा के वसंतोत्सव, साहित्य-गोष्ठो, ललित कला-प्रेम आदिका विशद वर्णन इसमें मिलता है।

इतना ही नहीं श्रीकृष्णदेवराय की विजय परंपराओं का तथा 'भुवनविजयमु' नामक विजय-मंडप में राजाके सपरिवार प्रवेश का वर्णन भी इसमें हुआ है। इस उपन्यास में कला एवं कल्पना का वह रूप नहीं मिलता जो एक ऐतिहासिक उपन्यास का प्राण है।

तेलुगु के उपन्यासों के प्रमुख पात्र :—

तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों में कई ऐसे पात्र हैं जिनका चरित्र ऐसे विलक्षण ढंग से चित्रित हुआ है कि उनकी तस्वीर हमारे मनपर सदा के लिए अंकित हो जाती है। ऐसे पात्रों में श्रीकृष्णदेवराय का स्थान पहला है। कृष्णदेवराय के प्रताप कला-प्रेम, वीरोचित उदारता का यथार्थ चित्रण कई उपन्यासों में हुआ है। 'अल्लाहो-अकबर' के प्रमुख पात्र अकबर और राणा प्रताप का भी बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन हुआ है। 'हिमबिंदु' के 'स्थौलतिष्य' की प्रतिभा हमें मुग्ध कर देती है। उसके समान गतिशील एवं विलक्षण पात्र तेलुगु के उपन्यासों में बहुत कम देखने को मिलते हैं। 'नारायण भट्ट' उपन्यास का नायक नारायण भट्ट और 'रुद्रमदेवी' उपन्यास के प्रधान पात्र तिक्कना, महामंत्री अन्नया ऐसे ही पात्र हैं। 'सप्त-पर्णि' उपन्यास के प्रमुख पात्र शिल्पाचार्य जक्कना को भी हम सदा स्मरण रखेंगे।

उपसंहार :—

तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। अब तक आंध्र देश के इतिहासके संबंध में काफ़ी खोज हो चुकी है, और प्राचीन काव्यों की खोज से बहुत सी नई बातें मालूम हुई हैं। इस दिशा में मद्रास विश्वविद्यालय के तेलुगु के आचार्य श्री निडदवोलु वेंकटराव ने काफ़ी मेहनत की है और कर रहे हैं। दक्षिण के आंध्र राजाओं के संबन्ध में बहुत सी बातें प्रकाश में आई हैं। इनमें कई ऐसे विषय हैं जो उपन्यास के लिए बड़ी सुन्दर वस्तु बन सकते हैं। आशा है कि आंध्र के तीनों विश्वविद्यालयों का ध्यान इस ओर जाएगा, और वे अपना उत्तरदायित्व पहचानेंगे और प्रतिभा-संपन्न लेखकों को प्रोत्साहन देकर ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करा सकेंगे।

प्रादेशिक इतिहास से संबद्ध उपन्यासों की सूची

१. विजय नगर साम्राज्यमु	(१९१०)
२. रायचूरु युद्धमु	(१९१०)
३. पाताल भैरवी	
४. प्रभातमु	(१९१५)
५. विज्जलदेवी	(१९१५)
६. अस्तमयमु	(१९१६)
७. नायकुरालिदर्पमु	(१९२०)
८. शापमु	(१९२७)
९. आंध्र राष्ट्रमु	(१९३१)
१०. हिमबिंदु	(१९४६)

११. गोनगन्नारेड्डी (१९४७)
१२. नारायण भट्ट (१९४८)
१३. गोरुवंक (१९४८)
१४. जक्कलदेवी (१९५०)
१५. रुद्रमदेवी (१९५०)
१६. शुभोदयामु (१९५१)
१७. मीनांबिका (१९५२)
१८. तंजाऊरू पतनमु (१९५३)
१९. भुवन विजयमु (१९५४)
२०. सप्त पर्णि (१९५५)

अप्रादेशिक भारतीय इतिहास से संबद्ध उपन्यास

(१) हेमलता १८९६
(२) अहल्याबाई १८९७
(३) कर्पूरमंजरी १८९८
(४) विमलादेवी १९०९
(५) टिप्पु सुलतान १९१२
(६) वसुमती वसंतमु १९१४
(७) रानी संयुक्ता १९१५
(८) ताराबाई १९१७
(९) प्रसन्नमुखी १९१८
(१०) वीरा बाई १९२०
(११) इच्छिनी कुमारी १९२८
(१२) अल्लाहो अकबर १९२९
(१३) स्वार्थत्यागी १९५०
(१४) शुभोदयमु १९५१

विदेशी इतिहास से संबंधित ऐतिहासिक उपन्यासों में अनुवाद ही हैं। मौलिक उपन्यास नहीं हैं।

कालक्रम से ऐतिहासिक उपन्यास की सूची

	प्रकाशन का वर्ष	उपन्यास का नाम	लेखक
(१)	१८९६	हेमलता	चिलकमूर्ति लक्ष्मी नरसिंहम
(२)	१८९७	अहल्याबाई	,,
(३)	१८९८	कर्पूर मंजरी	,,
(४)	१९०९	विमलादेवी	भोगराज नारायण मूर्ति
(५)	१९१०	रायचूर युद्धमु	केतवरपु वेंकट शास्त्री
(६)	१९१०	विजयनगर साम्राज्यमु	राघवचन्द्र सच्छास्त्री

(७)	?	पाताल भैरवी	ए० वी नरसिंहम्
(८)	१९१२	टिप्पु सुल्तान	अक्किराजु उमाकान्तम्
(९)	१९१४	वसुमती वसंतमु	वेंकट पावतीश कवि
(१०)	१९१५	प्रभातमु	वगूरि सुब्बाराव
(११)	१९१५	विज्जलदेवी	ए० वी० नरसिंहम्
(१२)	१९१५	राणी संयुक्ता	वेलाल सुब्बाराव
(१३)	१९१६	अस्तमयमु	भोगराजु नारायणमूर्ति
(१४)	१९१७	ताराबाई	केतवरपु वेंकट शास्त्री
(१५)	१९१८	प्रसन्नमुखी	च. माणिक्य शर्मा
(१६)	१९२०	वीराबाई	भाष्यकाचार्युलु
(१७)	१९२०	नायकुरालि दर्पमु	चि. वीरभद्रराव
(१८)	१९२७	शापमु	चिलकमूर्ति लक्ष्मी नरसिंहम्
(१९)	१९२८	इच्छिनी कुमारी	केतवरपु वेंकटशास्त्री
(२०)	१९२९	अल्लाहो अकबर	भोगराजु नारायण मूर्ति
(२१)	१९३०	चन्द्रगुप्तुडु	,, ,,
(२२)	१९३१	आन्ध्र राष्ट्रमु	,, ,,
(२३)	१९४६	हिमबिंदु	अडवि बापिराजु
(२४)	१९४७	गोन गन्नारेड्डी	,,
(२५)	१९४८	नारायण भट्ट	नोरि नरसिंह शास्त्री
(२६)	१९४८	गोरूवंका	पंडित सत्यनारायणराजु
(२७)	१९५०	रूद्रमदेवी	नोरि नरसिंह शास्त्री
(२८)	१९५०	जक्कल देवी	ता० लक्ष्मय्या चौधरी
(२९)	१९५०	स्वार्थ त्यागी	बू० गोपाल कृष्णमूर्ति
(३०)	१९५१	शुभोदयमु	एस० एस० वी० सोमयाजुलु
(३१)	१९५२	मीनांबिका	पिलका गणपति शास्त्री
(३२)	१९५३	तजाऊरि पतनमु	कुमारी मल्लादि वसुन्धरा
(३३)	१९५४	भुवन विजयमु	धूळिपाळ राममूर्ति
(३४)	१९५५	सप्त पर्णि	कुमारी मल्लादि वसुंधरा

परिशिष्ट— (श्री हनुमच्छास्त्री के लेख से)

श्री हनुमच्छास्त्री ने, 'धर्म चक्रमु,' और 'बद्दन्न सेनानी' नाम के दो ऐतिहासिक उपन्यासों का भी उल्लेख किया है। उनका विवरण इस प्रकार है—

धर्मचक्रमु:—इस ऐतिहासिक उपन्यास के रचयिता आधुनिक तेलुगु कवियों में अग्रगण्य कविसम्राट श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी (ज० १८९५) हैं। इसका इतिवृत्त शातवाहन के अनंतर आंध्र प्रांत पर राज्य करने वाले इक्ष्वाकु वंशी राजाओं से संबंधित है। इस वंश के मौलिभूत सम्राट श्री वीर पुरुष इस उपन्यास के नायक हैं।

इस उपन्यास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि श्री आ० सत्यनाथ अय्यर की "ए पोलीटिकल एंड कल्चरल हिस्ट्री आफ इंडिया" प्रथम भाग के पृष्ठ १८६ से ८७ पर देखी जा सकती है। इस उपन्यास में वीर पुरुष के प्रति श्रद्धा और इस श्रद्धा के पीछे उसके मन में वास करने वाली अवज्ञ चेतना का वर्णन ऐसे कुशल ढँग से किया गया है कि कृति बहुत अनोखी बन पड़ी है। इस उपन्यास के अनुसार इति वृत्त इस प्रकार है : शांतमूल और माठर देवी के कोई संतान नहीं थी। गोमुख शातकर्णी (वीरपुरुष) के द्वारा एक क्षत्रिय कन्या से वीर पुरुषदत्त का जन्म हुआ है। शांतमूल की बहन शांत श्री के द्वारा ऐसा प्रबंध किया गया था कि वीर पुरुषदत्त माठरी देवी की निजी संतान घोषित किया गया। इस प्रकार इक्ष्वाकु राजाओं की परंपरा चलती रही। परन्तु गोमुख शातकर्णी ब्राह्मण थे और कालिंदी क्षत्रिय-कन्या थी। इनकी संतान वीर पुरुषदत्त में इसी हेतु ब्राह्मणों के प्रति अज्ञात रूप से घृणा पैदा हुई। इसी घृणा के फलस्वरूप वे बौद्ध धर्मावलंबी हुए और उनके राजत्व काल में बौद्ध धर्म के चार चाँद लगे। उनकी पत्नियों में कट्टि देवी पट्ट महिषी थी। अन्य पत्नियों के नाम क्रमशः शांति श्री, बापिश्री, रुद्रधारा, और षष्टित्री थे।

कालिंदी अपनी संतान वीर पुरुषदत्त पर अत्यंत आसक्त थी, फिर भी विधि का ऐसा विकट खेल था कि वह यथार्थ वृत्तांत का उद्घाटन नहीं कर सकती थी। आखिर को जब वीर पुरुष पर सारा सत्य प्रकट होता है तो वह विस्मित रह जाता है। इस उपन्यास में सबसे मार्मिक तथा विचारोत्तेजक सन्निवेश वह है, जहाँ बौद्ध धर्म के गुरू भदंताचार्य, राजा वीरपुरुष दत्त तथा कालिंदी एकत्र समाविष्ट होते हैं। तब महाराजा के समक्ष भदंताचार्य और कालिंदी (जो बौद्ध सन्यासिनी के वेष में थी) में बौद्ध धर्म पर चर्चा चलती है। कालिंदी अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर भदंताचार्य को नीचा दिखाती है। इससे वीर पुरुषदत्त के मन से भी बौद्ध धर्म का व्यामोह हट जाता है। परन्तु तब तक उन्होंने राज्य भर में बौद्ध चैत्यों का निर्माण कराया था, ब्राह्मणों पर अत्याचार किया था। इस अवसर पर लेखक ने बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों की छान बीन करके उनकी पारस्परिक तुलना में, जो तर्क-वितर्क की कुशलता दिखायी है, वह अत्यंत स्तुत्य है।

इस उपन्यास में कालिंदी के आत्मत्याग-पूर्ण उदात्त-चरित्र का उज्जवल चित्रण (क्योंकि इसी ने अपनी संतान को राजमहल में राज्य की परिरक्षा के लिए पहुँचाया) वीरपुरुषदत्त की अज्ञात मानसिक वेदना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और कोडबलि (वीरपुरुष दत्त की स्त्री संतान) का विचित्र व्यक्तित्व, जो एक दम अस्त्रैणिक था, अत्यंत आकर्षक है। सारे उपन्यास में तत्कालीन धार्मिक वायुमंडल का अद्भुत निर्वाह हुआ है। इस वायु-मंडल के परिपोषण के लिए लेखक ने प्राकृत भाषा का उचित प्रयोग किया है। इस प्रकार उपन्यास अत्यंत सफल, भावोत्तेजक और विलक्षण प्रतिभा पूर्ण बन पड़ा है।

बद्दन्न सेनानी : यह भी श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी का लिखा हुआ ऐतिहासिक उपन्यास है। इसकी कथावस्तु वेलनाटिचोळ राजाओं के राजत्व-काल

की है (सन् ११०८ से १२०६)। वीर शैव और वैदिक धर्मों में प्रबल संघर्ष चल रहा था। विजय बाटिका पर करवाल भैरव का आधिपत्य था। करवाल भैरव अपनी भुजशक्ति और तलवार की करामात विजय वाटिका की पूर्वी दिशा में भी दिखाना चाहते थे। इस दृष्टि से वे हजारों वीर भैरवों के साथ निकल पड़े। करवाल भैरव को बद्दन्न सेनानी की तलवार से लोहा लेना पड़ा। वह उस के हाथों मारा गया। उस समय से बद्दन्न का यश परिमाल वेलनाडु (गुंटूर जिला), वेंगिनाडु (पश्चिम गोदावरी जिला), आदि प्रान्तों में खूब महकने लगा। बद्दन्न जन्म से अंत्यज थे, फिर भी उनमें देश-भक्ति इतनी प्रगाढ़ थी कि वे अपने देश (वेलनाडु) से शत्रुओं को निर्मूल करना चाहते थे। इस दृष्टि से सारे प्रांत के गाँव गाँव में जाकर गुप्त रीति से सेना इकट्ठी करते थे। वैंगिनाडु के त्रिपुरांतक से मैत्री करली। बद्दन्न की सरल विनय-शीलता इसमें है कि वह समय समय पर अंत्यज होने के कारण अपने को राज्याधिकार करने में अयोग्य समझते थे। श्रम उठाकर फल को सहर्ष दूसरे के हाथों में सौंप देने की एक अद्भुत कला उसमें थी।

जहाँ बद्दन्न का देश-भक्ति-पूर्ण व्यक्तित्व महान् था, वहाँ उनके वैयक्तिक जीवन में एक ऐसी कटुतिक्त मधुर घटना घटी जिससे वह और भी महान् हो गया। उसकी शास्त्रविद्या की गुर्विणी उससे वयोऽधिक एक चतुर्थज युवती थी। सामाजिक कट्टरता के अनुसार उन दोनों में विवाह की बात दूर रही, प्रेम का उदय भी मना था। परन्तु अनहोनी होकर रही। एक बार जब बद्दन्न की बीमारी में वह युवती शुश्रूषा कर रही थी तब दोनों के हृदयगत भाव व्यक्त हुए। चाहे समाज उचित कहे या अनुचित उन दोनों में प्रेम की गाँठ पड़ गई।

बद्दन्न की सेना ने जब देश भर से शत्रु सेनाओं को मार भगाया था, तब बद्दन्न के प्रति कृतज्ञतापूर्ण अंजलि अर्पित करने के बजाय देश उन प्रेमी-प्रेमिकाओं का न्याय-विचार करने लगा। बद्दन्न केवल दिल में यही चाहता था कि देश के आदमियों में उसके प्रति कम से कम कुछ कृतज्ञता का भाव तो रह जाय। मगर जब उसने देखा कि बात उलटी निकली तो उसका हृदय इतना व्यग्र हो गया कि जीवन के प्रति उसके मन में कोई मोह नहीं रह गया। वह पंचों के निर्णय का पालन करने के लिये प्रस्तुत था। नंबय्य (जो सर्वसेनाधिपति था) और बद्दन्न में द्वन्द्व-युद्ध चला था। नंबय्य के हाथ से तलवार उड़ा दी गई थी। बद्दन्न यदि चाहता तो नंबय्य का काम तमाम कर देता, परन्तु वह केवल अपनी तलवार का जौहर भर दिखाना चाहता था। आखिरकार उसने कहा "हम अंत्यज मिट्टी के पले हुए जीव हैं। हमारे हाथों तुम्हारा निधन शोभा नहीं देता।" बद्दन्न स्वयं अपनी मौत का आवाहन करके खड़ा रह गया। उसकी वीर-गति हुई। बद्दन्न की प्रेयसी बादम्मा रो पड़ी—"वह व्यभिचारी नहीं है। न मैं जारिणी। हम दोनों का प्रेम लिंग-ज्ञानातीत है।" फिर बादम्मा के प्राण भी निकल गए।

इस उपन्यास में बद्दन्न का चरित्र-चित्रण इतनी खूबी के साथ किया गया है कि वह किसी पौराणिक वीर से कम नहीं लगता। उसकी त्यागशील प्रवृत्ति, अधिकार-

लोभ की विमुखता तथा प्रेम की प्रगाढ़शीलता उसे एक दम पार्थिवता से उठाकर दिव्य भूमि पर पहुँचा देती है। वद्दन्न तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों में से निस्सन्देह एक महोज्ज्वल अमर वीर हैं। उसका व्यक्तित्व सदा के लिए सहृदय पाठकों के हृदयों पर अमिट रहेगा।

प्रो० विष्णुपाद भट्टाचार्य

बंगाली ऐतिहासिक उपन्यासों का संक्षिप्त इतिहास

बंगाली ऐतिहासिक उपन्यासों का इतिहास १९वीं शती के मध्य से आरम्भ होता है। बंगाली उपन्यासों के मूल स्रोत के अनुसंधान के लिए यह बात विशेष ध्यान में रखनी होगी कि बंगाली में उसके साहित्य के आरंभिक काल से ही किसी न किसी रूप में कथा-कथन प्रचलित था, फिर भी अँग्रेजी शिक्षा के प्रवेश से ही उपन्यास नाम के साहित्य का नया रूप अस्तित्व में आया।

सन् १८१७ में हिन्दू कालेज (आज जिसका नाम प्रेसीडेन्सी कालेज है) की कलकत्ते में नींव पड़ी जिसके द्वारा बंगाली युवक को अँग्रेजी साहित्य का अध्ययन करने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। आधुनिक बंगाली साहित्य के गद्य और पद्य के पहले दोनों ही अग्रणी, बंकिमचन्द्र चटर्जी (१८३९-१८९४) तथा माइकेल मधुसूदन दत्त (१८२४-१८७३), हिन्दू कालेज के ही विद्यार्थी थे। अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त अन्य वर्गों के लोगों में साहित्य की परम्परा के प्राचीन रूप के प्रति कोई अभिरुचि शेष नहीं रह गई थी। इस पृष्ठभूमि पर मधुसूदन और बंकिम ने प्रकट होकर १८५८ और १८६५ में, क्रमशः, अपने युग-प्रवर्तनकारी ग्रंथ प्रस्तुत किये।

जिस युद्ध ने ब्रिटिश शासन के लिए बंगाल में तथा वहाँ से भारत में मार्ग प्रस्तुत किया था, वह प्लासी का युद्ध सन् १७५७ में हुआ था; और उस समय से बंगाल की देशी भाषा को पाश्चात्य प्रभाव से अभिसिंचित होने में लगभग एक शताब्दी लग गई।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में बंगाल में कथा साहित्य ही, साहित्य का बहुत अधिक लोकप्रिय रूप रहा। अँग्रेजी तथा अन्य पाश्चात्य भाषाओं से बंगाली में इस समय जो बहुत बड़ी संख्या में अनुवाद हुए वे हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर के युवक मस्तिष्क को फ्रांस की भाषा से, कृष्णकमल भट्टाचार्य द्वारा अनुवादित, पाल एंड वर्जीनिया नाम के उपन्यास ने बहुत प्रभावित किया। भूदेवचन्द्र मुकर्जी के युवक मस्तिष्क में 'रोमेन्स आव हिस्ट्री' ने उत्तेजना प्रस्तुत कर दी। ब्रिटिश शासन के आरंभिक भाग की सबसे अधिक लोकप्रिय पुस्तकें थीं **'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस', 'रसेलस,' 'टोम जोन्स', 'गुलीवर्स ट्रेविल्स', 'रोबिन्सन क्रूसो,' 'द विकार ऑफ वेकफील्ड', 'लैम्बस टेल्स फ्रोम शेक्सपियर', 'आइवन हो'**, जिनमें

से बहुतों का बंगाली में अनुवाद हुआ। कितने ही अंग्रेजी नाटक भी बंगाली म उपन्यास-रूप में प्रस्तुत किये गये। इनके अतिरिक्त लिटन, हेगार्ड, स्कौट, ह्यूगो, ड्यूमा, डिकन्स, रेनोल्ड्स के उपन्यास भी बहुत पढ़े जाते थे और बंगाली पाठक इनसे परिचित थे। इनके अतिरिक्त भी और बहुत से लेखक थे जो कि पढ़े जाते थे और जिनका प्रभाव बंगाल के पाठकों और लेखकों पर पड़ा।

१८५१ में 'द वर्नाक्यूलर लिट्रेचर सोसाइटी' की स्थापना हुई। इसे सरकार ने भी सहायता दी। इसने अंग्रेजी और संस्कृत से कथा-साहित्य का अनुवाद करके बंगाली कथा-साहित्य के लिए मार्ग प्रशस्त करने में प्रमुख भाग लिया। अरबी फारसी और कुछ सीमा तक उर्दू से भी कथा-साहित्य (जैसे, **अलिफ लैला, चाहार दर्वेश, हातिमताई, गुलबकावली**) बंगाली में अनुवादित हुआ। किन्तु पढ़े लिखे लोगों की कल्पना को कथा-साहित्य का केवल अंग्रेजी रूप ही मुग्ध कर सका, अन्य सभी आदर्श असफल रहे। अँग्रेजी कहानियों का तो अनुवाद होता ही रहा और उन्हें बंगाली रूप में ढाला भी जाता रहा; अंग्रेजी उपन्यास के रूप के आदर्श का भी अनुकरण किया गया। बंकिम चन्द्र चटर्जी के माध्यम से ही, मुख्यतः पाश्चात्य प्रभाव के आधीन, सामाजिक ऐतिहासिक और रोमांसपूर्ण उपन्यास जैसे उपन्यासों के विविध प्रकार, बंगाली में आये।

पाश्चात्य साहित्य के अनुवादों अथवा अनूदित रचनाओं के अतिरिक्त बंगाली उपन्यासों का आरम्भ, विशेषतः सामाजिक उपन्यासों का आरंभ, पीछे १९वीं शती के प्रथम चरण तक माना जा सकता है, जबकि ब्रिटिश सरकार अथवा ब्रिटिश व्यापारियों की कृपा से 'बाबू' नाम का जो एक नया देशी आभिजात्य वर्ग पैदा हो गया था, उसके जीवन और कार्यों पर व्यंग-चित्र लिखे गये थे। हमारे देश के जो लोग अँग्रेजों के सम्पर्क में आये और जो अपने देश में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन की नींव जमाने में सहायक हुए, वे साधारण जन-समूह से छिप गये और उनका अपना ही एक नया वर्ग बन गया। हाथ में विशाल सम्पत्ति का संग्रह और एक पाश्चात्य ज्ञान का किंचिदंश, इन्होंने उन्हें अपमार्गी, दंभी, असंयमी तथा लोलुप बना दिया। ये लोग 'बाबू' कहलाते थे और इन पर व्यंग-उपहास लिखे जाने लगे, जो पत्रों में प्रकाशित हुए (कभी कभी तो पुस्तकों के रूप में भी निकले)। इनमें उनके अवगुणों, मूर्खताओं और ऊल-जलूलपन के चित्रण रहते थे। १८२१ में प्रकाशित '**बाबू**' और १८२३ में प्रकाशित '**नव बाबू विलास**' इस प्रकार के साहित्य के सबसे आरंभिक नमूने हैं। इनमें ही हमें उपन्यासों के आरंभिक तत्त्व मिल जाते हैं। इस परम्परा की सबसे श्रेष्ठ पुस्तक '**आलालेर घरेर दुलाल**' है। यह १८५५ में टेक चंद ठाकुर (प्यारी चंद मित्र का साहित्यिक उपनाम) ने लिखी थी; इनका स्मरण बंगाली साहित्य के इतिहास में एक से अधिक कारणों से किया जाता है। चरित्र-चित्रण, यथार्थवादी भावना और जीवन की आलोचना से मुक्त होने के कारण '**आलालेर घरेर दुलाल**' बंगाली का प्रथम उपन्यास माना जाता है।

अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति ने हमारे दृष्टिकोण में एक बड़ा परिवर्तन कर दिया। हमारा दृष्टिकोण अंग्रेजी आदर्श की नकल पर, धीरे-धीरे, पर निश्चित रूप में ढलने

लगा। अब तक हमारे देश में संयुक्त परिवार की जो प्रणाली दीर्घकाल से प्रचलित थी, ढहने लगी और तभी से बंगाली उपन्यासों को यह विषय बहुत ही प्रिय रहा है।

बंगाली उपन्यास-लेखन को समाज-सुधारकों से भी प्रोत्साहन मिला होगा। धनी पुरुषों के द्वारा बंगाली जीवन पर सामाजिक और घरेलू पहलू को लेकर उपन्यास लिखने के लिए पुरस्कार घोषित किया गया।

जिन मुख्य तत्त्वों ने बंगाली ऐतिहासिक उपन्यासों को प्रभावित किया है वे नीचे दिये, जाते हैं :—

(अ)—बंगाली पाठकों का अंग्रेजी उपन्यासों के नये प्रकार के रोमेंस से परिचय।

(आ)—अपने पूर्वजों के जीवन और कार्यों का ज्ञान प्राप्त करने और इस प्रकार भूत और वर्तमान को जोड़ने वाली लुप्त कड़ी को स्थापित करने की उत्कट अभिलाषा।

(इ)—देशभक्ति के ऊँचे आदर्शों ने नयी पीढ़ी को प्राचीन काल की वीर-कथाओं से प्रेरणा ग्रहण करने की ओर उन्मुख किया।

(ई)—ब्रिटिश लोगों ने हमारे देशवासियों पर जो अमानुषिक यातनाएँ ढहायीं, उन्होंने उपन्यासकारों को उभारा कि वे विगत प्रपीड़कों और पीड़ितों के पारस्परिक संबंधों के विशद चित्र उपस्थित करें और इस प्रकार प्रपीड़कों के विरुद्ध घृणा का भाव पैदा करें।

पहले कुशल उपन्यास लेखक भूदेवचन्द्र मुखर्जी (मुखोपाध्याय) (१८२४-१८९४) हैं। अपने पिता के इकलौते पुत्र के रूप में भूदेव का जन्म कलकत्ते में हुआ। इनके पिता विश्वनाथ तर्कालंकार अपने समय के महान् पंडित थे। भूदेव का एक सहपाठी माइकेल मधुसूदन दत्त जैसा बंगाल का एक होनहार महान् कवि था। १६ वर्ष की अवस्था में भूदेव का विवाह एलोकेशी से हो गया, जिसकी उम्र ११ वर्ष की थी। हिन्दू कालेज में शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् १८४५ में भूदेव की नियुक्ति एक विद्यालय में प्रधान-अध्यापक के पद पर हुई। कुछ समय उपरान्त बंगाल सरकार के शिक्षा-विभाग ने उन्हें 'कलकत्ते मदरसा' का द्वितीय अध्यापक नियुक्त किया, जहाँ वे क्रमशः प्रधान अध्यापक, इंस्पेक्टर आव स्कूल्स और अन्ततः लेफ्टीनेन्ट गवर्नर की कौंसिल के सदस्य तक हो गये। उन्होंने दो शिक्षा-विषयक पत्रों का सम्पादन किया १. 'शिक्षा दर्पण व संवादसार' और (२) 'ऐज्यूकेशन गजट'। उन्होंने लगभग १५ पुस्तकें लिखीं।

भूदेव केवल बंगाली भाषा और साहित्य के संवर्द्धन में ही नहीं लगे रहे, उन्होंने हिन्दी का प्रचार और संवर्द्धन भी किया। वे बहुत समय तक बिहार में विद्यालयों के निरीक्षक रहे थे। वहाँ उन्होंने कितने ही आदर्श विद्यालयों की स्थापना की थी। उन्होंने कई अच्छी बंगाली पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद कराया। उन्हीं के प्रस्ताव से बिहार की कचहरियों में फारसी के स्थान पर हिन्दी का प्रवेश हुआ। भिन्न भिन्न बोलियों और भाषाओं के बोलने वाले भारतीय नागरिकों में राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य है, भूदेव जी ने इस भाव का प्रचार भी किया और यह उनका अत्यन्त प्रिय विषय था। बंगाली के मानस और स्वभाव के कारण बंगाली साहित्य अधिकांशतः भावुकता-युक्त

है। भूदेव जी इसके अपवाद थे। उनका गद्य सीधा-सादा और बिना काव्योद्रेकों का है। भूदेव जी का साहित्यिक यश मुख्यतः उनके विविध विषय के निबंधों पर खड़ा हुआ है जैसे विज्ञान, दर्शन, इतिहास, भूगोल, गणित और ज्योतिष विषयक निबंध।

१. 'अंगुरीय विनिमय' (अंगूठियों का विनिमय) प्रकाशित (१८५७)—इसी वर्षमें सिपाही-विद्रोह हुआ था। यह बंगाली का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है। यह भूदेव चन्द्र मुखर्जी के द्वारा लिखा गया। मुखर्जी महोदय बंगाली के सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् और साहित्यकार थे।

रोशनारा जो दिल्ली के महान् मुगल सम्राट औरंगजेब की पुत्री थी, शिवाजी के द्वारा बन्दिनी बना ली गई। कुछ दिनों के पारस्परिक संबंध से वे दोनों एक दूसरे की श्लाघा करने लगे और परस्पर प्रेम भी। किन्तु सामाजिक बन्धनों ने उनके इस प्रेम को विवाह-रूप में सफल नहीं होने दिया। इस पुस्तक में विशेष आकर्षण रोशनारा के शिवाजी के प्रति प्रेम, उसका मानसिक संघर्ष और अन्त में अपने प्रिय के हित के लिए उसके द्वारा किये गये महान् त्याग के कारण आ गया है। औरंगजेब शिवाजी दोनों के चरित्र पूर्णतः ऐतिहासिक सत्य पर चित्रित किये गये हैं।

२. दुर्गेश नन्दिनी (१८६५)—यद्यपि 'अंगुरीय विनिमय' बंगाली का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है, तथापि उसके लेखक भूदेव मुखर्जी ने इस दिशा में और कोई प्रयत्न नहीं किया। यह बंकिमचन्द्र चटर्जी थे, जो कि बंगाल के यशस्वी उपन्यासकार हैं, जिन्होंने अपने अग्रणी के कदमों पर चलते हुए अपना प्रथम उपन्यास (जो ऐतिहासिक है) 'दुर्गेशनन्दिनी' १८६५ में उपस्थित किया। बंगाली साहित्य को नई प्रेरणा मिली। यह उपन्यास बंकिम के अन्य उपन्यासों की तुलना में ऊँचे स्तर का नहीं बैठता, फिर भी इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं कि 'दुर्गेशनन्दिनी' बंगाली में एक युगान्तरकारी उपन्यास है। इससे बंगाली कथा-साहित्य में और वस्तुतः बंगाली साहित्य में एक नया अध्याय आरंभ हुआ। बंकिम चन्द्र अपने कुछ कथानकों और पात्रों के लिए 'अंगुरीय विनिमय' और सर वाल्टर स्काट के ऋणी हैं, यह निर्विवाद है।

इस कहानी का कथानक १७वीं शताब्दी से संबंधित है, जबकि बंगाल में शक्ति-संतुलन के लिए मुगलों और पठानों में लड़ाई छिड़ी हुई थी। इसकी मुख्य कथावस्तु यह है–उपन्यास के नायक जगतसिंह से पठान राजा की पुत्री आयेषा प्रेम करने लगी। किन्तु उसने एक हिन्दू लड़की तिलोत्तमा के लिए अपने सुख का बलिदान कर दिया। यह तिलोत्तमा भी जगतसिंह से प्रेम करने लगी थी।

३. मृणालिनी (१८६९)—लेखक बंकिम चटर्जी। बंगाल के सेन वंश के अन्तिम राजा लक्ष्मण सेन के राज्य-काल में उस बंगाल की राजधानी नवद्वीप पर बख्तियार खिलजी के नेतृत्व में १७ तुरकी घुड़सवारों ने १२वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। मृणालिनी हेमचन्द्र की प्रेयसी थी जो अकेले ही मुसलमानी आक्रमणकारियों के विरुद्ध लड़ी थी और जिसे परिणाम में असफलता मिली। लक्ष्मण सेन के सेनानायक पशुपति ने विश्वासघात किया। इस प्रकार बंगाली इतिहास का हिन्दू-युग समाप्त हुआ।

४. बंगाधिप पराजय (बंगाल के राजा की हार) (१८६९)—लेखक-प्रतापचन्द्र घोष। बंगाल के इस सबसे बड़े ऐतिहासिक उपन्यास में प्रतापादित्य की मुगलों के महान् सेनानायक मानसिंह के हाथों पराजय हुई जो कि बहुत शक्तिशाली और प्रभावशाली बंगाल का जमींदार था। बंगाली उपन्यासों में इतनी विशद ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से युक्त कोई दूसरा उपन्यास नहीं है। किन्तु फिर भी यह लोक-प्रिय नहीं हो सका क्योंकि इसकी शैली गद्यमय (Prosaic) थी और छोटी छोटी अमहत्त्वपूर्ण बातों के विस्तार और विवरण से बोझिल थी। साथ ही कुछ अन्य दोष भी थे। इसका संक्षिप्त रूप आज पाठक को रोचक हो सकता है।

५. चित्तविनोदिनी (१८७४)—लेखक-गोविन्द चन्द्र घोष। यह उपन्यास १८५७।५८ के सिपाही-विद्रोह की पृष्ठभूमि पर खड़ा किया गया है। बंगाली उपन्यासकारों ने इस विषय की अब तक उपेक्षा की थी और इसे छूआ तक नहीं था। चित्त-विनोदिनी एक एंग्लो-इंडियन लड़की एम्मी का नाम है। यह मेरठ के रेमण्ड महोदय की पुत्री थी और इसका प्रेम चारु नामक एक बंगाली युवक से होगया था जो मेरठ में मिस्टर रेमण्ड के अधीन कमिसरियेट विभाग में काम करता था। इसे सिपाही-विद्रोह के समय विश्वासघात के अपराध में मृत्यु-दंड की आज्ञा हुई थी, किन्तु एम्मी की सहायता से दोष और दंड से मुक्त हुआ। अन्ततः एम्मी और चारु दोनों प्रेमियों का विवाह हो गया। लेखक ने एंग्लो-इंडियन जाति के जीवन और विचारों का तात्कालिक सच्चा चित्र देने का उद्योग किया है।

६. चन्द्रशेखर (१८७५)—लेखक-बंकिम चन्द्र चटर्जी। यह बंगाल के सबसे श्रेष्ठ उपन्यासों में से एक है। इसमें बंगाल के परम्परा-जर्जरित जीवन में नये युग के प्रवेश का वर्णन किया गया है। चन्द्रशेखर और उसकी पत्नी शैबलिनी की कहानी बंगाल के उस संक्रान्ति काल की भूमि पर खड़ी की गयी है जिसमें पुरानी मुसलमानी शक्ति ह्रास पर थी और नई ब्रिटिश शक्ति के सामने हारती जा रही थी। ऐतिहासिक उपन्यास का लक्ष्य है कि वह घरेलू जीवन और बृहत्तर ऐतिहासिक शक्ति के पारस्परिक संबंध को प्रकट करे और वह लक्ष्य इस उपन्यास में समुचित रूपेण अभिव्यक्त हुआ है।

७. दीप निर्वाण (१८७६) (दीपक का बुझना)—इस उपन्यास की मुख्य कथावस्तु दिल्ली के अंतिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज की पराजय और उनकी मृत्यु से संबंधित है, जो तुर्की आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी से होने वाली लड़ाई में हुई। इस उपन्यास की लेखिका स्वर्ण कुमारी देवी हैं, जो रवीन्द्र नाथ टैगोर की बड़ी बहिन थीं। भारत के क्षत्रिय राजाओं में जो आन्तरिक वैमनस्य और झगड़े थे उन्हीं के कारण भारत का पतन हुआ और वह विदेशियों से पद-दलित हुआ।

८. महाराष्ट्र जीवन प्रभात : (१८७८)—यह बंगाल का सर्वोत्तम और सर्वाधिक लोकप्रिय ऐतिहासिक उपन्यास है, जो रमेशचन्द्र दत्त की लेखनी से प्रस्तुत हुआ है। इसमें १६६३ से १६८० (जो शिवाजी की मृत्यु का वर्ष है) तक की घटनाओं का उल्लेख है। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं के साथ, जो कि मराठा-शक्ति के उदय के समय में हुईं, इस उपन्यास में, राजपूत हवलदार रघुनाथ और पुजारी की धर्म-पुत्री सरजू के प्रेम और विवाह के और एक महाराष्ट्रीय चन्द्रराव जुमलदार के द्वारा जो रघुनाथ की बहन लक्ष्मी के

पिता का हत्यारा था, लक्ष्मी के अपहरण और उसके विवाह के कथा-सूत्र भी नियोजित हैं।

९. राजपूत जीवन संध्याः (१८७९) यह रमेश चन्द्र दत्त का एक और ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें चित्तौड़ के उद्धार के लिए राणा प्रतापसिंह का अकबर से ऐतिहासिक संघर्ष चित्रित किया गया है और इसमें १५७६ से लेकर प्रताप की मृत्यु के वर्ष १५९७ तक का विवरण है।

१०. राजसिंह (१८८१)—इस उपन्यास के लेखक बंकिम चन्द्र के कथनानुसार राजसिंह ही उनका अकेला ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका मुख्य ध्येय भारत के मध्ययुगीन इतिहास के पृष्ठों से हिन्दुओं के शौर्य और पराक्रम को प्रकट करना है। कला के दृष्टिकोण से भी यह महान् उपन्यास है। इसमें औरंगजेब और राजसिंह के युद्ध को ही मुख्य वस्तु बनाया गया है।

११. आनन्दमठ (१८८२): लेखक बंकिम चन्द्र चटर्जी। आनन्दमठ में ही 'बन्दे-मातरम्' नाम का प्रसिद्ध गीत आया है। इस उपन्यास में बंगाल में पड़ने वाले उस महा दुर्भिक्ष के वर्ष में, यानी १७७६ में, होने वाले संन्यासियों के विद्रोह का उल्लेख है, जिसमें बंगाल की एक तिहाई जन-संख्या काल-कवलित हो गयी थी। इस उपन्यास का नायक सत्यानंद, विद्रोही संन्यासियों का नेता और राष्ट्रीयता के ऊंचे भावों से प्रेरित था। यह आनंदमठ का आतंकवादी क्रान्तिकारी, राजनीतिक आन्दोलन और अन्य सभी प्रकार के आन्दोलनों के लिए निरन्तर प्रेरणा का स्रोत रहा है और भगवत् गीता जैसे महान् धार्मिक ग्रंथ की भाँति ही बंगाली पाठकों पर सर्वाधिक प्रभाव डालने वाला उपन्यास है।

१२. कांचनमालाः (१८८३) यह उपन्यास बंगाल के ख्यात नामा विद्वान् हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है और इसमें ईसा पूर्व के महान् हिन्दू राजा अशोक के समय की कथा-वस्तु ली गयी है। अब तक ऐतिहासिक उपन्यासों का विषय या तो मुसलमानी काल से संबंधित था या ब्रिटिश काल से लिया गया था, किन्तु यह हरप्रसाद ही थे जो सबसे पहली बार अपने उपन्यास की कथा-वस्तु के लिए प्राचीन भारतीय इतिहास में इतनी दूर पीछे तक गये। कांचनमाला, जो इस उपन्यास की नायिका है, अशोक के पुत्र कुणाल की पत्नी थी। कथा में उस घटना का प्रतिपादन हुआ है, जिससे भारत-भर में और उससे बाहर बुद्ध-धर्म के प्रसार को अंकुश लगा।

१३. महाराज नन्दकुमारः (१८८५) लेखक चंडीचरण सेन—यह वही लेखक है जिसने श्रीमती स्टोवे के 'काका की कुटिया' का अनुवाद १८८३ में किया था। इन्होंने पाँच ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिसमें सबसे मूर्धन्य महाराज 'नन्दकुमार' है। इनके सभी उपन्यासों के विषय भारतीय इतिहास के ब्रिटिश-काल से संबंधित हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखन में यही अभिप्राय मुख्यतः गर्भित था कि हमारे देश के सीधे-साधे भोले-भाले लोगों पर ब्रिटिश लोगों ने जो आतंक और अत्याचार-चक्र चलाये उसे कहानियों द्वारा उद्घाटित करें। 'महाराज नंदकुमार' उपन्यास में उन घटनाओं का वर्णन

है जो वारेन हेस्टिंग्ज तथा अन्य लोगों के षडयंत्र से प्रस्तुत हुई और जिनके कारण नन्दकुमार को फाँसी पर चढ़ना पड़ा।

१४. शशांक (१९१४)-लेखक-राखालदास बनर्जी (बन्द्योपाध्याय)—बंगाल के इन महान् इतिहासकार की लेखनी का लिखा हुआ यह हमारी भाषा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें मगध के अन्तिम गुप्त सम्राट 'शशांक' (नरेन्द्र गुप्त) का जीवन-वृत्त है। इस उपन्यास में हिन्दू और बौद्धों के संघर्ष का वर्णन है। बौद्धों के पतन का और ७वीं शताब्दी के रीति-रिवाजों का वर्णन लेखक ने पूर्ण विस्तार के साथ किया है। इसी लेखक के दो और ऐतिहासिक उपन्यास हैं जो इतने ऊँचे स्तर के नहीं हैं।

१५. रामगढ़ (१९१८)-लेखिका-अनुरूपा देवी—ये सामाजिक उपन्यासों की यशस्विनी लेखिका हैं। इस पुस्तक में भारतीय इतिहास के उस प्राचीन काल की कहानी कही गई है, जबकि कोशल के शक्तिशाली सम्राट विरूढ़क तथा शाक्यों और लिच्छवियों के प्रमुखों में संघर्ष विशेष तीव्र था। इसमें एक पात्र महात्मा गौतम बुद्ध भी हैं; किन्तु इस उपन्यास में उनका प्रभाव विशेष उल्लेखनीय नहीं है।

यहाँ कुछ छोटे बंगाली ऐतिहासिक उपन्यासों का नामोल्लेख किया जाता है:—

१. बौठाकुराणीर हाट (बहू ठाकुरानी की हाट): १८८३। ले० रवीन्द्रनाथ टैगोर
२. राजर्षि (१८८५) लेखक रवीन्द्रनाथ टैगोर
३. अयोध्यार बेगम (अयोध्या की बेगमें): १८८७। लेखक चंडीचरण सेन।
४. विद्रोह (१८९०) लेखिका स्वर्ण कुमारी देवी।
५. एइकि रामेर अयोध्या (क्या यही है राम की अयोध्या)। १८९५। लेखक चंडीचरण सेन।
६. झान्सीर रानी (झांसी की रानी): १८९९। लेखक चंडीचरण सेन।
७. बेनेर मेये (बनिये की लड़की): १९१९। लेखक हरप्रसाद शास्त्री।
८. त्रिवेणी (१९२८) लेखिका अनुरूपा देवी।

बंगाली ऐतिहासिक उपन्यासों में विशेष महत्त्व के चरित्र ये हैं:—

१. शिवाजी—जिनका चित्रण भूदेव मुखर्जी के 'अंगुरीय विनिमय' (१८५७) में हुआ है और रमेशचन्द्र दत्त लिखित 'महाराष्ट्र-जीवन-प्रभा' (१८७८) में हुआ है।
२. औरंगजेब, जिनका चित्रण 'अंगुरीय विनिमय', 'महाराष्ट्र-जीवन-प्रभा' तथा बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'राजसिंह' (१८८१) में हुआ है।
३. आयेषा: बंकिम चटर्जी की 'दुर्गेश नन्दिनी' (१८६५) में।
४. मनोरमा: बंकिम चटर्जी की 'मृनालिनि' (१८७९) में।
५. शैवलिनी: बंकिम चटर्जी के 'चन्द्र शेखर' (१८७५) में।
६. जेबउन्निसा: औरंगजेब की पुत्री जिसका चित्रण बंकिम चटर्जी के 'राजसिंह' में हुआ है।

७. मबारक : 'राजसिंह' में ।

८. दरिया : 'राजसिंह' में ।

९. भवानन्द : बंकिम चटर्जी के 'आनन्दमठ' (१८८२) में ।

१०. कुनाल : हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखित 'कांचनमाला' (१८८३) में ।

११. बापूदेव शास्त्री : चंडीचरण सेन के 'महाराज नन्दकुमार' (१८८५) में ।

१२. अमरसिंह : चंडीचरण सेन लिखित 'अयोध्यार बेगम' (१८८७) में ।

१३. यशोधवल : राखालदास बनर्जी द्वारा लिखित 'शशांक' (१९१४) में ।

समय	उपन्यास का नाम	प्रकाशन तिथि	लेखक	प्रादेशिक या अप्रादेशिक	प्रसिद्धि की दृष्टि से स्थान
		हिन्दू काल			
५वीं शताब्दी बी० सी०	रामगढ़	१९१८	अनुरूपा देवी	अप्रादेशिक	
३री शताब्दी बी० सी०	कंचनमाला	१८८९	हरप्रसाद शास्त्री	,,	
६ठो ७वीं शताब्दी ए० डी०	शशांक	१९१४	राखालदास बनर्जी	,,	आठवाँ
९वीं शताब्दी ए० डी०	त्रिवेनी	१९२८	अनुरूपा देवी	प्रादेशिक	
१०वीं शताब्दी ए० डी०	वेनेर मेये	१९१९	हरप्रसाद शास्त्री	,,	
,,	विद्रोहल	१८९०	स्वर्ण कुमारी देवी	,,	
		मुस्लिम काल			
१२वीं शताब्दी ए० डी०	दीप निर्वाण	१८७६	स्वर्ण कुमारी देवी	अप्रादेशिक	छटा
,,	मृनालिनि	१८६९	बंकिम चटर्जी	प्रादेशिक	
१६वीं शताब्दी ए० डी०	बंगदीप पराजय	१८६९	प्रताप चन्द्र घोष	,,	
,,	राजपूत जीवन संध्या	१८७९	रमेश चन्द्र दत्त	अप्रादेशिक	
१७वीं शताब्दी ए० डी०	दुर्गेश नन्दिनी	१८६५	बंकिम चटर्जी	प्रादेशिक	पाँचवाँ
,,	अंगुरीय विनिमय	१८५७	भूदेव मुखर्जी	अप्रादेशिक	
,,	महाराष्ट्र जीवन प्रभा	१८७८	रमेश चन्द्र दत्त	,,	तीसरा
,,	राजसिंह	१८८१	बंकिम चटर्जी	,,	चतुर्थ
		ब्रिटिश काल			
१८वीं शताब्दी ए० डी०	चन्द्र शेखर	१८७५	बंकिम चटर्जी	प्रादेशिक	द्वितीय
,,	आनन्दमठ	१८८२	,,	,,	प्रथम
,,	महाराज नंद कुमार	१८८५	चंडीचरण सेन	अप्रादेशिक	सप्तम
,,	अयोध्यार बेगम	१८८७	,,	,,	नवम
,,	एइ कि रामेर अयोध्या	१८९५	,,	,,	
१९वीं शताब्दी ए० डी०	चित्त विनोदिनी	१८७४	गोविन्द चन्द्र घोष	,,	
,,	झाँसीर रानी	१८९९	चंडीचरण सेन	,,	

प्रो० एस० जी० राजवाडे

मराठी के ऐतिहासिक उपन्यास

मुद्रणकला के अभाव में मुखोद्गत करने की सुलभता के हेतु प्राचीन काल में कहानियाँ को पद्यबद्ध रूप मिला। परन्तु आधुनिक युग में इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वैसे तो प्राचीन काल में—संस्कृत काल में भी—गद्य के कुछ नमूने पाए जाते हैं। संस्कृत में उपन्यास भी लिखे गये थे, यह कहना इस लिये अनुपयुक्त न होगा कि आधुनिक युग में जिस लेखन प्रकार को हम उपन्यास कहते हैं, उसी के समान संस्कृत की 'कादंबरी' (बाणभट्ट) तथा कुछ अंशों में सुबंधु की 'वासवदत्ता' है। बाणभट्ट की कादंबरी का आकर्षण इतना जबर्दस्त रहा कि मराठी में उपन्यास को 'कादंबरी' ही कहा गया, जो आज भी प्रचलित है।

बाणभट्ट की कादंबरी तथा अधुनिक उपन्यास में एक हजार वर्ष का अंतर है। वर्त्तमान युग में भारतीय साहित्य को उपन्यास की देन संस्कृत से नहीं, अंग्रेजों से प्राप्त हुई। भारत की अन्य भाषाओं को ही तरह मराठी साहित्य में भी उपन्यास का आधार अंग्रेजी साहित्य ही है।

मराठी में उपन्यास साहित्य का प्रारंभ अनुवाद से हुआ। 'यानिक क्रमण' (Pilgrim's Progress), 'पॉल और व्हर्जिनिया', 'राबिन्सन क्रूसो,' 'गलिव्हरका प्रवासवर्णन' आदि उपन्यास अनुवाद ही हैं। इस कार्य का प्रारंभ मिशनरियों द्वारा किया गया। इसके पश्चात् पौराणिक कथाएँ लिखी जाने लगीं, जिन कथाओं में उपदेश के साथ अद्भुत का भी समावेश रहता था। आगे चलकर अद्भुत का आकर्षण बढ़ा और 'मंजुघोषा,' 'विश्वासराव' जैसे अद्भुत मंत्रप्रधान उपन्यास लिखे गये। इन उपन्यासों की विशेषता यह थी कि इनमें चरित्र-चित्रण की अपेक्षा भाषा की सजावट पर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। वर्णनों में जादू के प्रयोगों, सुरंगों, गुप्त दरवाजों आदि का उपयोग प्रयाण में किया जाता था। इनमें से अधिकांश उपन्यासों की केन्द्रीय कल्पना किसी न किसी अंग्रेजी उपन्यास से प्राप्त हुई है। इस दृष्टि से देखने पर मराठी में मराठी का अपना मौलिक उपन्यास इसके पश्चात् यानी १८६१ में लिखा गया। मराठी का सर्व प्रथम उपन्यास है 'यमुना पर्यटन' और इसके लेखक हैं श्री . बाबा पदमनजी। यह काल ऐसा था जब कि उपन्यास लेखक धीरे धीरे अद्भुत से आगे बढ़कर सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में प्रयत्नशील हो रहे थे। हमारा विषय मराठी के ऐतिहासिक उपन्यासों से

संबंधित है; अतः सामाजिक उपन्यासों के संबंध में विशेष कुछ न कहते हुए अब हम अपने मुख्य विषय की ओर मुड़ेंगे।

इस काल में ऐतिहासिक उपन्यासों का लिखा जाना स्वाभाविक था। ऐतिहासिक उपन्यास अद्भुत तथा यथार्थ को जोड़ने वाली एक कड़ी है। मराठी के उपन्यासों ने अपने प्रारंभिक दिनों में अद्भुत की सहायता से पाठकों का पर्याप्त रूप में मनोरंजन किया। परंतु अब धीरे धीरे प्रवृत्तियाँ यथार्थ की ओर झुक रहीं थीं। ऐतिहासिक उपन्यासों में अद्भुत-तत्त्व प्रधान उपन्यासों का ऐश्वर्यपूर्ण तथा इच्छापूर्ति- प्रधान वातावरण कायम रखा जा सकता है। ऐतिहासिक वातावरण के कारण उपन्यास में सत्यता का आभास होने लगता है। अपने पूर्वजों की वीरगाथाओं का स्मरण मनुष्य को पुलकित करता है। हमारे मन में ऐतिहासिक जीवन के संबंध में, उस युग में विचरण करने वाले पूर्वजों के संबंध में, जो स्नेह, प्रेम, आदर तथा अभिमान होता है, उसी के कारण ऐतिहासिक उपन्यासों का निर्माण होता है। एक बात स्पष्ट है कि यह आदर निष्क्रिय व्यक्ति के मन में उत्पन्न होना कठिन है। जिनके मन में कुछ कर गुजरने की महनीय आकांक्षायें हैं वे ही महाभाग इस क्षेत्र में अग्रसर होते हैं।

मराठी में ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण महाराष्ट्र इतिहास तथा महाराष्ट्रीय व्यक्ति है। १८१८ ईसवी तक मराठों का अपना स्वतंत्र सार्वभौम राज्य रहा था। अतः वे अभी अपने पूर्वजों की गाथाओं को भूल नहीं सके थे। उस काल में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी आँखों से राज्य के उलट फेर के अनेक दृश्य देखे थे। पूर्वजों के पराक्रम की गाथाओं का स्मरण दिलाकर फिर से एक बार समाज को देशभक्ति की भावना से प्रेरित कर कार्य-प्रवण बनाने के हेतु से भी ऐसे उपन्यासों का लिखा जाना असंभव नहीं था। मराठी के सर्व प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार श्री० रामचंद्र भिकाजी गुंजीकरजी ने अपने 'गोदावरी' नामक उपन्यास की भूमिका में ऐतिहासिक उपन्यास के संबंध में जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें देखते हुए उपरिनिर्दिष्ट मत और भी दृढ़ होता है।

दक्षिण महाराष्ट्र के बेलगाँव जिले में खानापुर नामक एक परगना है। जिस परगने में गुंजी नामक एक ग्राम है। यहाँ भिकाजी पंत नामक एक सज्जन रहा करते थे रामचंद्रराव इन्हीं भिकाजी पंत के दूसरे पुत्र थे। आपका जन्म ई० स० १८४३ में हुआ। आपकी प्राथमिक शिक्षा १८५३ ईसवी में प्रारंभ हुई। १८६४ ईसवी से आप कॉलेज में पढ़ने के लिये मुंबई चले आये। यहाँ आकर एल्फिस्टन कॉलेज में प्रवेश प्राप्त किया। परंतु सांपत्तिक कठिनाइयों के कारण बी० ए० न कर सके। १८६६ ईसवी में आप शिक्षक बने। शिक्षा-विभाग के विभिन्न पदों पर आपने ३२ वर्ष पर्यंत कार्य किया। इस काल में वे असिस्टेंट इन्स्पेक्टर ऑफ एज्युकेशन के पद तक पहुँच सके थे।

श्री० गुंजीकर अपने समय के उत्तम लेखकों में गिने जाते थे। १८६७ ईसवी में आपने "विविधज्ञान विस्तार" नामक मासिक पत्र का संपादन प्रारंभ किया और सात वर्षपर्यंत यह कार्य किया। इसमें आप विविध विषयों पर लेख लिखा करते थे। आपने एक उपन्यास भी लिखा। उसका नाम है "मोचनगढ़"। आपका दूसरा उपन्यास है "गोदावरी"। इसमें १६ वीं शती में पुर्तुगालियों द्वारा किये गये हिन्दुओं के धर्मच्छल का

वर्णन है । यह उपन्यास पूर्ण न हो सका । आपने मराठी का एक व्याकरण भी लिखा। इसके साथ ही कुछ नीतिकथाएं, चित्र-बोध अर्थात चित्रों के आधार से अक्षरों का परिचय आदि का लेखन किया ।

वृद्धावस्था में आपको अनेक दुःख झेलने पड़े जिनमें आपके भाई तथा जामाता की मृत्यु के आघात बड़े ही कठोर थे । इसी दुःख में अंत में १८ जून १९०१ को आपकी मृत्यु हुई ।

श्री गुंजीकर द्वारा लिखित "मोचन गढ़" मराठी का सर्वप्रथम उपन्यास माना जाता है । वैसे इसका प्रकाशन १८६७ ई० से 'विविधज्ञान विस्तार' में होता रहा परंतु पुस्तक रूप में वह १८७१ में प्रकाशित हुआ । लेखक ने इसे कल्पित कथा कहा है । परंतु यह कल्पित कथा केवल उपन्यास ही नहीं ऐतिहासिक उपन्यास कहलाने योग्य है । मराठी के एक प्रथित-यश विद्वान् श्री० अ० का० प्रियोलकर के अनुसार 'मोचनगढ़' ऐतिहासिक उपन्यास का उत्कृष्ट नमूना है ।

ऐतिहासिक उपन्यास के संबंध में श्री गुंजीकरजी ने अपने दूसरे उपन्यास 'गोदावरी' की प्रस्तावना में लिखा था—कल्पित कथा लिखने वालों का उद्देश्य उस काल के विशेष रीति रिवाज, धार्मिक मत, राजकीय विचारधारा, उनकी पोशाक, लड़ने की पद्धति, उनकी विचार-प्रणाली आदि का वर्णन होना चाहिये । श्री० गुंजीकरजी ने अपनी पुस्तक 'मोचनगढ़' में इन विचारों को मूर्त रूप दिया है । अतः यह कल्पित कथा होते हुए भी ऐतिहासिक है ।

उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र—रंगोपंत ठाणेदार, शामजी आदि तथा प्रसंग और स्थल काल्पनिक हैं, कहीं कहीं तानाजी, बाजी फासलकर जैसे नामों का निर्देश तथा अंत में क्षत्रपति श्री० शिवाजी महाराज का दर्शन ऐतिहासिक तथ्य है । श्री० प्रियोलकर जी ने ऐतिहासिक महत्कथा के संबंध में अपने विचार स्पष्ट करते हुये कहा[1] है कि ऐतिहासिक व्यक्ति, घटनाओं, स्थल, काल आदि की सहायता से जो व्यक्ति कथा लिखना चाहे, उसे चाहिये कि वह अपनी कथा को इस रूप में प्रस्तुत करे कि वह पूर्णरूप से ऐतिहासिक तथ्यों के साथ मेल खा सके । उसका नाम ऐतिहासिक महत्कथा होना चाहिए । परंतु जो व्यक्ति ऐतिहासिक उपन्यास लिखना चाहते हों उन्हें चाहिये कि वे प्रसंग तथा स्थल काल्पनिक लेकर पुराने रीतिरिवाज वातावरण आदि की सहायता से ऐतिहासिक सत्याभास का निर्माण करें । ट्रेव्हेलियन ने इसी प्रकार कहा है कि ऐतिहासिक उपन्यास में भूतकालीन सत्य घटनाओं का निरूपण अपवादात्मक होता है । उसमें तो ऐतिहासिक घटनाओं का अनुकरण कर नैसर्गिक जीवन की विचित्रता तथा समृद्धि से परिपूर्ण प्रातिनिधिक कथाओं की निर्मिति का प्रयत्न किया जाता है । श्री०गुंजीकरजी ने उपरिनिर्दिष्ट विचारों के आधार से अपने उपन्यास की रचना करके मराठी में ऐतिहासिक उपन्यास का मानो एक आदर्श निर्मित कर दिया है । जिसे आगे चलकर मराठी के उपन्यास सम्राट श्री० हरि नारायण आपटे ने भव्योज्ज्वल स्वरूप प्राप्त करा दिया ।

१. वाङमय सेवा मंडल, मुंबई में दिया हुआ भाषण; 'मोचनगढ़' आवृत्ति ३.

'मोचनगढ़' की भाषा एक दम सरल परंतु भावगर्भ है। जाम गांव के एक प्राचीन बाड़े का वर्णन करते समय वे "वह ईमानदार दीपक अपने अनुदार मालिक के घर की जीर्णावस्था प्रेक्षकों के ध्यान में न आसके, इसके लिये प्रयत्नशील था" जैसे वाक्यों से, मुगल राज्य में देशमुखों के उतरते हुये वैभव का तथा श्री हीन खानदानी-जीवन का सूचक चित्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। इस उपन्यास के एक पात्र 'दौलती' को देखकर "उष:काल" के 'सांवळया' का ध्यान आता ही है। 'मोचनगढ़' के सभी पात्र सीधे सादे तथा निष्ठावंत है। परंतु वे कृत्रिम नहीं जान पड़ते।

महाराष्ट्रीय लेखकों का 'शिवाजी तथा शिवकाल' एक अति प्रिय विषय है। प्रस्तुत उपन्यास भी शिवकालीन पार्श्वभूमि पर ही लिखा गया है। 'मोचनगढ़' के कारण ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रथा मराठी में बढ़ चली। 'मोचनगढ़' के पश्चात् 'प्रथम बाजी राव', 'संभाजी', 'चितुरगढ़ का युद्ध' आदि अनेक उपन्यास लिखे गये। इसी समय अनेक अनुवाद भी प्रकाशित हुये, उनमें 'एक ठग की जबानी', 'शिलादित्य', 'अनाथ पांडुरंग', 'मथुरा', 'रॉबिन्सन क्रूसो', 'गलिव्हर का प्रवासवर्णन' आदि उपन्यास अंग्रेजी के अनुवाद हैं। बंगला से श्री शिव छत्रपति (१८९३), दुर्गेश नंदिनी (१८९८) आदि का अनुवाद हुआ।

श्री. हरि नारायण आपटे का प्रथम उपन्यास 'म्हैसूरचा वाघ' १८९० ईसवी में प्रकाशित हुआ। कर्नल मेडोज टेलर के Tipoo Sultan का यह रूपांतर है। इसमें टीपू के राजत्वकाल, उसके अंग्रेजों तथा मराठों के साथ युद्ध तथा अंत का वर्णन है। इसके पश्चात् श्री० आपटेजी का मौलिक तथा सर्व श्रेष्ठ उपन्यास 'उष:काल' १८९५ से १८९७ ईसवी तक 'करमणुक' नामक मासिक पत्र में प्रकाशित होता रहा था। शिवाजी महाराज ने बचपन ही में तरुणों के संगठन का निर्माण करके मुसलमानी राज्यकर्ताओं के विरुद्ध शक्ति केंद्रित करने का प्रयत्न किया था। तानाजी, येसाजी, बाजी आदि अनेक तरुण इसमें उनका अनुगामित्व कर रहे थे। सुलतानगढ़ के किलेदार रंगराव अप्पा अपने समय के मुसलमान शासकों के एक स्वामि-भक्त सेवक थे। परंतु उनका पुत्र नानासाहेब शिवाजी से जा मिला। इसके पश्चात् तुरंत ही शिवाजी ने सुलतानगढ़ को जीतकर स्वराज्य का मुहूर्त किया। यही इस उपन्यास का कथानक है। इसमें रंगराव, नानासाहेब आदि प्रमुख पात्र कल्पित हैं। परंतु रंगराव के रूप में उस काल के प्रौढ़ व्यक्तियों का जीवन-पट हमारे नेत्रों के सम्मुख नाच उठता है। नानासाहब तरुणों की वैचारिक क्रांति का प्रतिनिधित्व करते हुये पाये जाते हैं। सावळया नामक बालक इस उपन्यास के चरित्र-चित्रण का एक नमूना है। इस उपन्यास की भाषा पूर्णतया मराठी है। 'उष:काल' के पश्चात 'गड आला पण सिंह गेला' (१९०३) प्रकाशित हुई। शिवाजी के दाहिने हाथ तानाजी ने सिंहगढ़ को जीतकर दो राजपूत स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा की, परंतु इस कार्य में तानाजी मारे गये। यह इस उपन्यास का संक्षिप्त कथानक है। 'रूपनगरची राजकन्या' (१९००–१९०२) में रूपनगर की राजकन्या रूपमती तथा उदयपुर के राजा राजसिंह के विवाह और

राजसिंह द्वारा औरंगजेब की पराजय का वर्णन है। 'वज्राघात' में विजय नगर साम्राज्य के नाश की कथा है।

स्वराज्य के 'उष: काल' के प्रारंभ करने के पश्चात् सूर्योदय होना स्वाभाविक ही था। अतः आपटे जी ने 'सूर्योदय' तथा 'सूर्यग्रहण' जैसे उपन्यास भी शिवाजी के जीवन पर लिखे। 'सूर्यग्रहण' में अफजलखाँ के आक्रमण तथा शिवाजी द्वारा उसके नाश की कथा है। इसके पश्चात् आपटे जी ने 'चंद्रगुप्त', 'कालकूट' आदि अनेक उपन्यास लिखे। आपटे जी के उपन्यासों का क्षेत्र विस्तृत है। उनके उपन्यासों के विषय केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित नहीं थे। दक्षिण में मैसूर, विजयनगर से लेकर दिल्ली, चित्तौड़ तक तथा प्राचीन काल से मगध-पर्यन्त उनके उपन्यासों के कथानकों की मर्यादा पहुँचती है।

आपटे जी के पश्चात् १६१४ ई० में श्री० चिं० वि० वैद्य का प्रसिद्ध उपन्यास "दुर्दैवी रंगू" प्रकाशित हुआ। ऐतिहासिक वातावरण तथा ऐतिहासिक घटनाओं के संबंध को पूर्णतया ध्यान में रखते हुए यह उपन्यास लिखा गया है। यह एक तरुण विधवा स्त्री की कथा है। रंगूबाई की हृदयविदारक परंतु उदात्त करुणमूर्ति निर्माण करके श्री० वैद्य पूर्णरूप से यशस्वी हुए हैं। विधवा-जीवन की करुण कहानी लिखते समय ही श्री वैद्यजी ने तत्कालीन समाज-स्थिति तथा विचार-प्रणाली का स्पष्ट ज्ञान कराया है। उपन्यास में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग पूर्णरूपेण किया गया है। नजीबखान से मिले हुए त्रिंबक शास्त्री नामक एक ज्योतिषी की नीचता के कारण पेशवा भाउसाहेब पानीपत के मैदान में ही रुके रहे। नजीब को यह महत्ता शास्त्री से मिली। इसी प्रकार अब्दाली को असावधानी की अवस्था में घेरने का पेशवा का उपक्रम, इसी शास्त्री ने सफल नहीं होने दिया। भाउसाहेब की पत्नी पार्वती बाई का यह विश्वास था कि भाउसाहेब नहीं मारे गये हैं। उस उपन्यास में इन प्रसंगों का सुन्दर चित्रण है। श्री० वैद्यजी उपन्याकार की अपेक्षा, इतिहासज्ञ की दृष्टि से अधिक मान्य हैं। अत: आपने अधिक उपन्यास न लिखे हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

शिवाजी महाराज के जीवन काल के विषयों को लेकर उपन्यास लिखने वाले दूसरे सज्जन श्री० द्वारकानाथ पितळे उर्फ 'नाथमाधव' हैं। आपके 'स्वराज्याची घटना', 'स्वराज्याचा कारभार', 'सावळया तांडेल' आदि उपन्यास प्रसिद्ध हैं। शिवाजी महाराज के द्वारा महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना हुई। यहाँ से प्रारंभ करते हुए लेखक ने संपूर्ण शिव-चरित्र, उपन्यास द्वारा चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से उसने शिवाजी के संबंध में अनेक उपन्यास लिखे हैं। 'स्वराज्याचा श्रीगणेश', और 'स्वराज्याची स्थापना' से इन उप-न्यासों का प्रारंभ हुआ है। श्री० आपटे तथा 'नाथमाधव' के उपन्यासों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि आपटे जी के लेखन में यथार्थ चित्रण को अधिक महत्त्व दिया गया है, पर 'नाथमाधव' के उपन्यासों में अद्‌भुत का मिश्रण अधिक है। सोमनाथ-मंदिर के विध्वंस के पश्चात् एक शिवलिंग के चमत्कार की कथा का आधार लेकर उन्होंने अपना एक कथानक गढ़ा है। इस लिंग के विषय में यह विश्वास था कि किसी युगपुरुष के हाथ ही में वह सुरक्षित रहेगा, अन्यों को उसके होने से संकट ही प्राप्त होगा। लेखक ने इस कथा का आधार लेकर यह बताया है कि वह लिंग शिवाजी महाराज के हाथों में

हो सुरक्षित रहेगा क्योंकि वे स्वराज्य के संस्थापक हैं। उनके उपन्यासों में इस प्रकार के अनेक स्थल हैं। फिर भी उनके उपन्यासों में शिवकालीन जमीन-महसूल की पद्धति, न्यायदान की विशेषता, किलों की व्यवस्था, सेना का अनुशासन, आदि का बड़ा ही यथातथ्य वर्णन मिलता है। यह वर्णन 'स्वराज्याचा कारभार' में है। इसमें ई० स० १६७४ से १६८० तक का महाराष्ट्र का इतिहास है। 'स्वराज्याची घटना' भी इसी काल पर आधारित है। 'सावळया तांडेल' में शिवाजी महाराज के नौदल निर्माण का इतिहास है।

'नाथमाधव' के पश्चात् तीसरे प्रसिद्ध उपन्यास लेखक श्री० वि० वा० हड़प हैं। आपने पेशवाओं का इतिहास उपन्यास के रूप में वर्णित करने के निश्चय से 'कादंबरीमय पेशवाइ' नामक उपन्यास माला लिखना प्रारंभ किया और इसमें चोदह उपन्यास लिखकर इस माला को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। सभी उपन्यास अच्छे नहीं बन पड़े हैं। फिर भी एक समय महाराष्ट्र के वाचक इन उपन्यासों की ओर पर्याप्त परिमाण में आकर्षित हो गए थे। पेशवाई की स्थापना के संबंध में 'पेशवाइचे पुण्याहवाचन', नामक उपन्यास से आपने इस माला का प्रारंभ किया। इस प्रथम उपन्यास में प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ को पेशवाई किस प्रकार प्राप्त हुई, आगे चलकर बालाजी ने दिल्ली जाकर स्वराज्य की सनदें किस प्रकार प्राप्त कीं तथा छत्रपति शाहू (शिवाजी महाराज के नाती-संभाजी के पुत्र) के हाथ किस प्रकार मजबूत किये, इसका वर्णन है। यह कार्य करते समय बालाजी को आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं से टक्कर लेनी पड़ी। इस उपन्यास के पश्चात् 'पेशवाइवरील गंडांतर', 'पेशवाइचे पुनर्वैभव', 'पेशवाइचा दिग्विजय,' 'पेशवाइचा धर्मसंग्राम' आदि प्रसिद्ध उपन्यास लिखे गये। 'पेशवाइवरील गंडांतर' और 'पेशवाइचे पुनर्वैभव' में बाजीराव प्रथम का वर्णन है। उसके युद्ध, तथा बचपन ही में बाजीराव ने जो अद्वितीय योग्यता सिद्ध करदी, उसका सुन्दर वर्णन है। 'पेशवाइचा पश्चिम दिग्विजय' में बाजीराव प्रथम के अनुज श्री० चिमाजी अप्पा ने जंजीरे के सिद्ध को पराभूत किया, इसका वर्णन है। 'पेशवाइचा धर्मसंग्राम', श्री० चिमाजी द्वारा किये गए वसई के आक्रमण, पुर्तगालियों द्वारा किये गये हिन्दुओं के धर्मच्छल, अत्याचार तथा चिमाजी द्वारा पुर्तगालियों को पराभूत करते हुए वसई, साष्टी आदि को जीतने का बड़ा ही रोचक वर्णन है। श्री० हड़प के अनेक उपन्यासों में "पेशवाइचा धर्मसंग्राम" बहुत ही अच्छा बन पड़ा है। आपके उपन्यास ऐतिहासिक तथ्यों के अधिक निकट होते हुए भी श्री० आपटेजी के उपन्यासों की समानता करने में असमर्थ हैं। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि आपटेजी को छोड़ कर अन्य उपन्यासकार अपने वर्णित काल में पूर्णरूप से लीन न हो सके। 'नाथमाधव', हड़प आदि उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में देशभक्ति, राष्ट्रभक्ति जैसे विचार, जो कि शिवाजी अथवा पेशवाई के काल में इस रूप में न थे, वर्णित किये हैं। श्री० आपटेजी के उपन्यासों के कार्य के बिंदु शिवाजी हैं। उनके लिये सब कुछ हो रहा है, कारण उस समय देश तथा राष्ट्र की कल्पना वर्तमान युग जैसी नहीं थी। उपर्युक्त दोनों लेखक इस बात को भूल से गए हैं।

श्री० हड़प के पश्चात् नाम लेने योग्य उपन्यास कार हैं—श्री० सहकारी कृष्ण। आपके 'शापित महाराष्ट्र' और 'छत्रसाल' उपन्यास एक समय पर्याप्त लोकप्रिय हुए थे। इसके

पश्चात् गो० गो० मुजुमदार साधुदास द्वारा लिखित 'पौर्णिमा,' श्री० चिं० ग० भानू का लिखा हुआ 'शृंगेरीची लक्ष्मी,' 'रक्ताचे गालबोट' (द० वि० परांजपे) आदि अनेक उपन्यास प्रकाशित हुए ।

उपरिनिर्दिष्ट सभी उपन्यास मराठी के उपन्यास-क्षेत्र में लोकप्रिय हैं । इनकी दूसरी विशेषता यह है कि ये सभी मौलिक हैं । तीसरे इनमें से अधिकांश उपन्यास शिवाजी अथवा शिवकालीन घटनाओं पर आधारित हैं । वैसे मराठी के ऐतिहासिक उपन्यासों का क्षेत्र पर्याप्त प्रमाण में विस्तृत है । उसमें केवल शिवकालीन ही नहीं मौर्य तथा मौर्य से भी पूर्वकाल के संबंध में उपन्यास लिखे गये हैं । जिनमें 'आर्यधर्माचा जयजयकार', 'मुंजराजाचे निधन', 'अंजना सुंदरी', 'शीलादित्य' आदि प्रमुख हैं ।

ऐतिहासिक उपन्यास में तत्कालीन समाजस्थिति, विचारप्रवाह, आचार-विचारों की पद्धति आदि का यथातथ्य चित्रण आवश्यक होता है । परन्तु उससे भी महत्त्वपूर्ण बात है-प्रभावी चरित्रचित्रण अथवा व्यक्तिलेखन (Characterisation) । भिन्न काल के व्यक्तियों के व्यक्तित्व में अंतर रहना स्वाभाविक है, परन्तु समकालीन व्यक्तियों के व्यक्तित्व में भी आश्चर्यजनक भिन्नता पाई जाती है । यह भिन्नता प्रकट करना ही व्यक्ति-लेखन कहलाता है । अनसूया तथा प्रियंवदा दोनों शकुंतला की सखियाँ थीं । काल, स्थल, सामाजिक स्तर, शकुंतला के संबंध में प्रेम आदि सभी बातों में दोनों समान हैं, फिर भी दोनों के स्वभाव भिन्न हैं । अनुसूया गंभीर है, तो प्रियंवदा नटखट है । कालिदास ने दोनों की विशेषताओं को बड़ी खूबी से प्रकट किया है ।

मराठी के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी कुछ पात्रों का व्यक्तिलेखन (चरित्रचित्रण) बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है । स्वर्गीय हरी नारायण आपटे के उपन्यासों के कुछ पात्र इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । 'उषःकाल' के नानासाहेब, तानाजी, येसाजी, सूर्याजी बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं । इन में भी नानासाहेब तथा उनके पिताजी रंगराव अप्पा का व्यक्ति-लेखन अति प्रभावी हुआ है। नानासाहेब अपने युग के प्रतिनिधि तरुण हैं । शिवाजी के संबंध में भक्ति, स्वधर्म का अभिमान, ये नानासाहेब की विशेषताएँ हैं । नानासाहेब युवक हैं, शूर हैं, साहसी हैं, परन्तु क्रोधी और अविचारी हैं । वे क्रोध में आकर चाहे जैसा अविचारी साहस कर बैठते हैं । इसके विपरीत तानाजी विचारी-साहसी हैं । वे सारी बातें सोच समझ कर ही करते हैं । उनकी इस मनोवृत्ति का उत्कृष्ट विकास "गड आला पण सिंह गेला" में दिखाई देता है । जगतसिंह जब अकेले ही गढ़पर चढ़कर कमलकुमारी तथा देवलदेवी की रक्षा करने के लिये कहता है तब तानाजी उसे शांत करता है । वह अपने साथियों को राह देखता है, उनके आने पर ही वह आक्रमण करेगा । 'उषःकाल' के रंगराव अप्पा अपने समय के प्रौढ़ व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं । विशेषतः ऐसे कार्यशील तथा योग्य व्यक्तियों का वे प्रतिनिधित्व करते हैं, जो योग्यता रहते हुए भी स्वामिभक्ति की अयोग्य कल्पनाओं के कारण स्वधर्म तथा अपनों के विरुद्ध ही कार्य करते हैं । वे अपने इकलौते पुत्र नानासाहेब को कैद करने में भी नहीं हिचकते उन्हें मुसलमानों से विशेष प्रेम है ऐसी बात नहीं, वे धर्मनिष्ठ हैं परन्तु आज तक जिसका नमक खाया उससे बेईमानी कैसे की जाय, ? यह सबसे बड़ा प्रश्न है । यहाँ तक

कि अपने आप को ईमानदार सिद्ध करने के लिये वे निर्दोषी होते हुए भी अपने आप को कैद करवा लेते है । उनकी मुख-मुद्रा, चालढाल, कपड़े, बोलने की पद्धति, ठेठ मध्ययुगीन मराठा व्यक्ति के समान है । रंगराव श्री० आपटे जी के उत्तम चरित्रों में से हैं ।

ऐतिहासिक व्यक्ति का चरित्र-चित्रण करना अति कठिन है । कारण, लेखक पर ऐतिहासिक बंधन रहते हैं । यदि चरित्र-चित्रण में थोड़ी भी विसंगति दिखाई दे तो पाठकों के मन पर विपरीत परिणाम होने का भय रहता है । उदाहरण के लिए श्री सोहराब मोदी द्वारा निर्मित 'झाँसी की रानी' में चित्रित रानी लक्ष्मीबाई अपने मूलरूप में न दिखाई देते हुए सिनेमा-अभिनेत्री के रूप में दिखाई देती है । अतः चित्रपट देखते ही प्रेक्षकों की अपेक्षाएँ भंग हो जाती हैं । कारण प्रेक्षकों के हृदय में रानी लक्ष्मीबाई की मूर्ति विराजमान है; वह भव्योज्ज्वल है । उसमें वीरता है, परंतु शालीनता के आवरण में; चपलता है, परंतु सभ्यता के आवरण में; जिसका कि चित्रपट की झाँसी की रानी में कहीं पता भी नहीं लगता । इस दृष्टि से ऐतिहासिक श्रेष्ठ व्यक्तियों के चरित्र-चित्रण में श्री० आपटे जी पूर्णरूपेण यशस्वी हुए हैं । ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र चित्रण में एक कठिनाई यह होती है कि लेखक न तो उन्हें देख पाता है, न उनके निकट हो जा सकता है । ऐसी स्थिति में गलती होने की पूर्ण संभावना रहती है । श्री० हरि नारायण आपटे जी के उपन्यासों में शिवाजी महाराज का व्यक्ति-लेखन अत्यंत उज्ज्वल तथा उत्कृष्ट हुआ है । श्री० आपटे जी ने श्री शिवाजी से संबंधित ३–४ उपन्यास लिखे हैं । परंतु एक ही शिवाजी का रूप हमें उन सबमें मिलता है । महाविभूतियों का चरित्र-चित्रण करना अति कठिन कर्म है । हमें उनका सहवास तो क्या दर्शन भी दुर्लभ होता है । छत्रपति शिवाजी तथा समर्थ रामदास के चरित्र-चित्रण में आपटे जी इस बात को भूले नहीं है । किसी भी ऐरे-गैरे व्यक्ति को महाराज के दर्शन होना सुलभ नहीं है । यहाँ तक कि ताना जी जैसे असामान्य व्यक्ति भी पूर्वसूचना के बिना उन्हें नहीं मिल सकते, फिर औरों का तो कहना ही क्या । आपटे जी के शिवाजी एक श्रेष्ठ विभूति हैं । वे न तो भावना-प्रधान हैं, न भावना-शून्य हैं । केवल शूरता प्रकट करते हुए मर जाना उन्हें पसंद नहीं । वे चतुराई से कार्य सिद्ध करने में प्रयत्नशील हैं । मराठों का यह गुण 'सूर्यग्रहण' उपन्यास में प्रकट हुआ है । जयसिंह के अपमानकारक संदेश के बाद शिवाजी महारजा के मन में क्रोध उमड़ पड़ता है । परंतु अंत में मराठा-वृत्ति की ही विजय होती है । वे शरणागति स्वीकार करते हैं । परंतु इस शरणागति के सहारे ही वे आगे स्वतंत्र राज्य की स्थापना करने में यशस्वी होते हैं । शिवाजी की दूसरी विशेषता है, मितभाषी होना । आवश्यकता से अधिक वे कभी नहीं बोलते । उनके हावभाव, पोशाक, व्यवहार सभी विभूतियों के योग्य ही हैं । उनके सारे प्रयत्न राष्ट्रवाद से प्रेरित अथवा मातृभूमि की सेवा के लिये नहीं हैं । वे गोब्राह्मण प्रतिपालक हैं । सद्धर्म के रक्षक हैं । विशेष रूप से कहने का कारण यह है कि शिवाजी के संबंध में नाथमाधव जी ने भी लिखा हैं, परंतु वे यह ध्यान न रख सके कि शिवाजी महाराज के समय धर्म का अधिष्ठान प्रबल था, राष्ट्रवाद का नहीं । इसी प्रकार श्री० हड़प के पेशवा, ब्रह्मेंद्र स्वामी मानों उपन्यास के मित्र हैं । उन्हें कभी भी और कोई भी मिल सकता है । उनके मुख में देश और धर्म की बातें हैं । कभी कभी वे राष्ट्रवाद भी बोल उठते हैं ।

श्री० आपटे जी के अन्य पात्रों में 'उषःकाल' का सावळया एक उत्तम पात्र है। यह बालक है, परंतु अति बुद्धिमान्। सावळया अपनी स्मरण-शक्ति तथा चपलता से अनेक प्रश्नों के उत्तर प्राप्त कराने में सहायक होता है। आयु से छोटा होते हुए भी शिवाजी महाराज के सम्बन्ध में उसके मन में पूर्ण निष्ठा है। उसे अपने धर्म का अभिमान है। वह साहसी है, चतुर है। जलती आग में घुसकर वह हिंदू महिला को बचाता है। यही सावलया तांडेल का नायक बना।

नीचे मराठी के कुछ ऐतिहासिक उपन्यास, उनका प्रकाशन काल, लेखक का नाम आदि के संबंध में संक्षिप्त सूची दी गई है।

प्रादेशिक उपन्यास

१. करण वाघेला, १८९९ ईसवी
२. अजिंक्य तारा, १९०९ : ना० ह० आपटे
३. लांछितचंद्रमा (राणा हमीर) १९२२, ना० ह० आपटे
४. केवल स्वराज्यासाठीं—संभाजीवध राजाराम कारकीर्द, १९२०, ह० ना० आपटे
५. गड आला पण सिंह गेला—तानाजी, १९०४—ह० ना० आपटे
६. म्हैसूरचा बाघ, टिपू—ह० आपटे
७. गंगा गोविंद सिंह—वॉरन हैस्टिंग्ज
८. रजपूतांचा भीष्म—राजकुमार चोंडा—ह० ना० आपटे
९. उषःकाल—प्राथमिक काल शिवबाचा ,,
१०. रूपनगरची राजकन्या-औरंगजेब—राजसिंह ,,
११. वज्राघात—तालीकोटची लढाई ,,
१२. अस्तनींतील निखारा—राघोबा, १९१८, द० बा० करकरे
१३. मेहेरुन्निसा—नूरजहाँ, १९२६, वि० ना० लेले
१४. पावनतीर्थ वास्कोडी गामा पोर्तुगीझांनी छळ, मो० वा० जोशी
१५. चव्हाणी समशेर—पृथ्वीराज चौहान, १९२३, ल० ना० जोशी
१६. महाराणा राजसिंह—१९१० गो० दा० दळवी
१७. सती पदमिनी १३००······१९१२, गो० दा० दळवी
१८. सांबळया तांडेल—शिवकाल १९१४ नाथमाधव
१९. स्व० श्रीगणेशा शिवकाल ,,
२०. स्व० घटना शिवकाल ,,
२१. स्व० स्थापना शिवकाल ,,
२२. स्व० दुफळी शिवकाल ,,
२३. स्व० संकट शिवकाल ,,
२४. राठोड वीर दुर्गादास—औरंगजेब, १९१६, तात्यानेमीनाथ पांगळ
२५. रक्ताचे गालबोट चंद्रराव मोरे का वध १९३४ ,,
२६. शृंगेरिची लक्ष्मी—शिवकाल १९२४ चिं० ग० भानु

२७. राणा हमीर, १६२४ चिं० ना० मुजुमदार
२८. पेशवाइचे पुण्यहावाचन—पेशवाइ, वि० वा० हड़प
 पे० स्थापना ,,
 पे० दरारा ,,
 पे० ध्रुव ढळला ,,
 पे० पुनर्जन्म ,,
 पे० ध्रुव दर्शन ,,
२६. धर्मसंग्राम—पेशवाइ—वि० वा० हडप
३०. उत्तर दिग्विजय ,,
३१. गंडांतर ,,
३२. शुभशकून ,,
३३. मोहनगड—गुंजीकर (शिवकाल) १८७१, रा० भी० गुंजीकर

अप्रादेशिक उपन्यास

१. सम्राट अशोक : १६१४ : बालचंद शहा
२. दुर्देवी रंगू : १६१४ : चिं० वि० वैद्य
३. लालन बैरागीण : दि० गो० वझे:
४. अंजना सुन्दरी : श्री रणदिवे
५. संसार की संन्यास : भावशर्मा
६. आर्यधर्माचा जयजयकार : १८२७ : ग० कृ० फाटक
७. १८५७ सालचे बंडाची धामधूम
८. अविचाराचा परिणाम
६. ठगाची जबानी
१०. मयूरसिंहासन : १९२१ : वि० धो० कर्वे

अभारतीय

१. शिलेदारी इंग्लैंड—वा० कृ० चोळकर
२. वीरधवल—नाथ माधव
३. खिलाफतीची स्थापना अथवा मुसलमानांचा विजय—भि० गो० भिडे
४. फ्रेंच राजसत्तेवर हल्ला

अनुवाद

आनंदिरमण—'तारा'—हिंदी का अनुवाद—वि० सी० गुर्जर
जीवनसंध्या—रमेशदत्त, वि० सी० गुर्जर
शशांक—बैनर्जी ,,
अकबर—हिंदी ,,

राक्षसी रणसंग्राम—'In the wild Maratha battle' का अनुवाद
शहजादा खुसरू—हरीसधन के खुसरू का अनुवाद
अयोध्येची बेगम—चण्डीचरण सेन
पाटणची प्रभुता, मुन्शी—अनुवाद गुलाबचंद्र व्होरा
अमृतपुलीन-चितोड़, १९०९, सहस्रबुद्धे
पृथ्वीवल्लभ, श्री मुंशी के उपन्यास का अनुवाद

श्री ए० चन्द्रशेखरन नय्यर

मलयालम साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास

मलयालम भाषा में उपन्यास के लिए 'नोवेल' शब्द का ही व्यवहार करते हैं। मलयालम में 'उपन्यास' शब्द है किन्तु उसका अर्थ होता है 'निबन्ध'। सामाजिक उपन्यास को 'सह्य नोवेल' तथा ऐतिहासिक उपन्यास को 'चरित्र नोवेल' कहते हैं। कुछ साहित्यिक ऐतिहासिक उपन्यास को 'आख्यायिका' भी कहते हैं।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से ही केरल में साहित्यिकों को आधुनिक ढंग के उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली। स्कॉट के ऐतिहासिक उपन्यासों तथा मेरी कॉरेली और जेन आस्टिन के सामाजिक उपन्यासों का प्रभाव पड़ा। मलयालम में पहला उपन्यास श्री टी० एम० अप्पुनेडुंगाडी का 'कुंदलता' ई० सन १८८७ में प्रसिद्ध हुआ। इसमें स्कॉट की कुछ रचनाओं का तथा शेक्सपीयर के 'सिंबेलीन' का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। दो वर्ष बाद श्री ओ० चन्तुमेनोन का सुविख्यात सामाजिक उपन्यास 'इन्दुलेखा' प्रकाशित हुआ। उसने मलयालम साहित्य में उपन्यास का स्थान सुस्थिर किया इतना ही नहीं एक नवीन साहित्यिक परम्परा की भी सृष्टि की। उपन्यास पढ़ने की ओर जनता की रुचि बढ़ी। चरित्र चित्रण, क्लाइमैक्स, भाषा, मनोभावों का यथार्थ सूक्ष्म चित्रण, रस-परिपोषण आदि गुणों के कारण यह उपन्यास मलयालम के सामाजिक उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

इसके पहले के काल में भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के समान मलयालम में भी महाभारत, रामायण, भागवत, पंचतन्त्र, हितोपदेश की कहानियों के आधार पर नैतिक तथा धार्मिक विषयों पर कहानियाँ लिखी जाती थीं। अंग्रेजी के सम्पर्क से यह स्वाभाविक था कि इस प्रकार के साहित्य के प्रति अरुचि उत्पन्न हो तथा जीवन के वास्तविक चित्रण की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट हो। अंग्रेजी 'नोवेल' की नवीनता ने मलयालम के उदीयमान साहित्यिकों को मोह लिया। बस, मलयालम 'नोवेल' का युग प्रारंभ हुआ।

केरल की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों ने साहित्यिकों को सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए प्रेरित किया। केरलीय समाज में नम्पू-

तिरी (ब्राह्मण) का विशेष स्थान, कुटुम्ब-व्यवस्था में मामा का अधिकार, इनके कारण उत्पन्न होनेवाली विषम परिस्थिति आदि का मार्मिक यथार्थ चित्रण करते हुए सामाजिक उपन्यासकार अपने समाज की स्थिति सुधारने के लिए पाठकों को प्रोत्साहित करना चाहता था। उसी प्रकार राजकीय क्षेत्र में वीरता का अभाव, पराधीनता की असह्य आंतरिक वेदना आदि के कारण ऐतिहासिक उपन्यासकार ने देश के इतिहास में जिस समय वीरता, स्वातंत्र्योत्साह, बन्धमुक्ति, विजयोत्सव, राज्यविस्तार के उदाहरण मिलते थे, उस समय की घटनाओं को चुनकर उपन्यास लिखना प्रारंभ किया।

अठारहवीं सदी के आरंभ से लेकर केरल का राजनैतिक वातावरण इतना जटिल था कि उपन्यास के अनुकूल असंख्य घटनाएं उसमें मिल सकती थीं। खासकर तिरु-वितांकूर (त्रावणकोर) के इतिहास में श्रीमार्ताण्डवर्मा[1] महाराजा और रामवर्मा[2] महाराजा के राज्यकाल क्रान्तिकारी घटनाओं से भरे पड़े थे। अन्तःकलह, बाहर से आक्रमण, राज्यविस्तार के प्रयत्न, अतिमानुष व्यक्तिओं का आविर्भाव, सब कुछ उपन्यास के लिए अनायास ही प्राप्त सामग्री थी। इनका समुचित अध्ययन कर उपन्यास लिखने का प्रयास श्री सी० वी० रामन पिल्लै ने किया। ये प्रतिभावान कलाकार ही मलयालम के प्रथम और प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास लेखक हैं।

सी० वी० रामन पिल्लै के माता-पिता दक्षिण त्रावणकोर में नेय्याट्टिनकरा तहसील के अरयूर गाँव के निवासी थे। रामन पिल्लै का जन्म तिरुवनन्तपुरम (त्रिवेन्द्रम) में ही ई० सन्[3] १८५८ में हुआ। आपका विद्यार्थी जीवन अतीव उज्ज्वल था। कालेज में पढ़ते हुए आपने कई प्रहसन लिखे और उनके अभिनय में भी भाग लेकर नाटककार तथा अभिनेता की ख्याति पायी। बी० ए० उत्तीर्ण होकर हाईकोर्ट में क्लर्क की जगह पर नियुक्त हुए। इसी समय इनका विवाह भी हुआ। सरकारी काम पर आपको राज्य भर का दौरा करना पड़ता था। ऐसे अवसरों पर जो ऐतिहासिक प्रमाण मिले उनके आधार पर आपने अपना पहला ऐतिहासिक उपन्यास 'मार्ताण्डवर्मा' लिखा। मद्रास में कानूनी परीक्षा की तैयारी करते हुए आपने यह उपन्यास लिखा। रामन पिल्लैजी ने हाईकोर्टके रजिस्ट्रार, सरकारी प्रेस के सुपरिंटेंडेण्ट आदि पदों पर सफलता से काम किया। वे एक सच्चे समाजसेवी, राज्यस्नेही तथा राजभक्त थे। 'मार्ताण्डवर्मा' के अतिरिक्त उन्होंने 'धर्मराजा' 'राम राज बहादुर' ये दो ऐतिहासिक उपन्यास तथा 'प्रेमामृत' नामक एक सामाजिक उपन्यास और कई प्रहसन भी लिखे हैं। ये रचनाएँ आज भी मलयालम साहित्य में पहली श्रेणी की मानी जाती हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक के नाते आपने जो उच्चपद प्राप्त किया था उसे आज तक कोई उनसे छीन नहीं सका। मलयालम भाषा की बाल्यावस्था में ही उसे रामन पिल्लै के जो ये उज्ज्वल उपहार मिले उनको देखकर कोई भी कल्पना कर सकता था कि उस भाषा की भारती का भविष्य कितना गौरवपूर्ण रहेगा। श्री सी० वी० रामन पिल्लै मलयालम के उपन्यास सम्राट थे।

---

१. ई० १७३०—१७५८ State Manual by T. K. Valuppillai.

२. ई० १७५८—१७९८

३. "सी० वी० रामन पिल्लै"—पी० के० परमेश्वरन पिल्लै

मार्ताण्ड वर्मा—(लेखक श्री सी० वी० रामन पिल्लै—मुद्रक—ऐडिसन ऐण्ड कम्पनी, माउण्ट रोड, मद्रास १८९१) युवराज मार्ताण्ड वर्मा (दिवंगत राजा का भागिनेय—त्रावणकोर में राजा का भागिनेय ही राजा के पश्चात सिंहासन का अधिकारी होता है) का निग्रह करके सिंहासन पर अधिकार जमाने की दुराशा से स्वर्गीय राजा के दो पुत्र षड्यंत्र रचते हैं। उस समय 'नायर' वंश के आठ प्रमुख घराने थे। इन 'एट्टु वीट्टि ल मिल्लमार' की सहायता राजपुत्रों को प्राप्त थी। सब मिलकर युवराज को धोखे से मारना चाहते हैं। किंतु प्रतापी युवराज वेष बदलकर चलते थे और राज-भक्तों का संघटन करते थे। अतीव साहस और चतुराई से अंत में उन्होंने दृढ़ शासन-की नींव डाली। चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार ने अपूर्व सामर्थ्य का परिचय दिया है। उपन्यास के पात्र व्यक्तिवैचित्र्य से गौरवान्वित हैं। 'अनन्तपद्मनाभ' तथा 'सुभद्रा' जैसे पात्र विश्वसाहित्य के किसी भी कथापात्र से कम उज्ज्वल नहीं हैं। भाषा कथा-नक के अनुकूल, ओजस्वी तथा रसीली है। इस प्रकार अनेक गुणों से युक्त यह उपन्यास मलयालम भाषा को एक महत्संपदा है। उपन्यास और पात्रों पर स्कॉट की अँग्रेजी कृति तथा पात्रों को छाप है। उपन्यास-रचना में रामन पिल्लै यद्यपि स्कॉट के शिष्य माने जा सकते हैं तथापि प्रतिभा में वे स्कॉट से पीछे नहीं हैं।

'मार्ताण्डवर्मा'[1] के बाद लगभग बाईस[2] वर्षों के उपरान्त इसी लेखक के दो अन्य ऐतिहासिक उपन्यास निकले। वे थे 'धर्मराजा' ,रामराज[3] बहादुर'। मार्ताण्ड वर्मा के बाद 'धर्मराजा' त्रावणकोर के राजा हुए। इनका असली नाम था रामवर्मा महाराजा। इनके समय की कुछ घटनाओं के आधार पर ये दोनों उपन्यास लिखे गये हैं। इनके मंत्री केशवपिल्लै थे जो एक निपुण सेनानी तथा राजनीतिज्ञ थे। धर्मराजा में वर्णित कथा का अवशिष्ट अंश ही रामराज बहादुर उपन्यास का विषय है। अचंचल प्रेम, रोमांच-कारी ऐतिहासिक घटनाएँ, अनुपम व्यक्तित्त्व आदि के चित्रण से ये दोनों उपन्यास मार्ताण्ड वर्मा से बढ़कर हैं। धर्मराज के पात्र साधारण व्यक्ति नहीं हैं। हरिपंचानन जैसे पात्रों की सृष्टिकर उपन्यासकारने एक तरह से विधाता को मानो सृष्टि करने का पाठ पढ़ाया है। धर्मराजा में देश के आन्तरिक युद्ध और केशव पिल्लै के असामान्य बुद्धिकौशल का चित्रण है तो रामराज बहादुर में केशव पिल्लै का टीपू सुलतान से जो युद्ध हुआ उसका वीररसप्रधान वर्णन है। इन दोनों उपन्यासों को विशेषता यह है कि इनकी घटनाएँ तथा पात्र दोनों ही ऐतिहासिक हैं। यद्यपि इनकी कथावस्तु त्रावणकोर से संबंधित है तथापि उपन्यासकार ने अपने वर्णन में मानव-मन के अन्तःस्तल तक पहुँचकर भावानुभूति से चमत्कृत हृदय के स्पन्दन को मुखरित किया है। आदि से ही पाठक की उत्कण्ठा एक-सी बनी रहती है। पात्र भी ऐसे रचे गये हैं कि पाठक अन्त तक उनके स्वाभाविक क्रमिक विकास को देखकर प्रसन्न होता है। इन तीन उपन्यासों को पढ़-कर पाठक अनुभव करता है कि उसने त्रावणकोर के विशिष्ट

---

१ घटनाकाल—ई० १७२०—१७३५।

२ ई० १९१३

३ ई० १७२०

व्यक्तियों, स्थलों और ऐतिहासिक घटनाओं का ही नहीं, संक्षेप में संसार और मानवमात्र के स्वभाव और व्यवहार का परिचय प्राप्त किया है। इन उपन्यासों में ऐतिहासिकता के साथ-साथ सामाजिकता भी है और आधुनिक उपन्यासों का मानस-शास्त्र भी।

रामवर्मा अप्पनतम्पुरान का 'भुतरायर' (१६२३ ई०) मलयालम का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। केरल की प्राचीन ऐतिहासिक वातावरण की भित्ति पर यह आधारित है। भूतरायर नामक व्यक्ति के अत्याचारों से केरल-धर्म मुक्त होता है। गुणनिधान चेरमान पेरुमाल चक्रवर्ती पद प्राप्त करता है। पेरुमाल के राज्यकाल की अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ इसमें वर्णित हैं। इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी भाषा शैली अनुपम है जो अनुप्रास और शब्द-विन्यास की सुंदरता के लिए प्रसिद्ध है। इसमें वर्णित घटनाएँ और पात्र-सृष्टि मूल्यांकन की दृष्टि से संतोष-जनक नहीं कही जा सकती।

एम० आर० राम कैमल का 'अहिभयम्' (१६२७)। 'मयूर सन्देशम्' नामक प्रसिद्ध केरलीय काव्य के आधार पर त्रावणकोर के इतिहास की एक स्मरणीय घटना[1] अर्थात् केरल वलिय कोयित्तम्पूरान के वन्दिवास को लेकर यह उपन्यास रचा गया है। इसमें आदि से अंत तक तत्वज्ञान की बातें और उपमादि विविध अलंकार युक्त भाषा है।

श्री के० एम० पणिक्कर द्वारा रचित "धूमकेतुविण्ढे उदयम्"[2] (१६२६) नामक ऐतिहासिक उपन्यास में त्रावणकोर की आधुनिक भौगोलिक स्थिति का हेतुपूर्ण इतिहास समाया हुआ है। इसमें यह ऐतिहासिक रहस्य व्यक्त हुआ है कि किस प्रकार तेक्कुंकूर, वडक्कुंकूर, चेम्पकशेरी आदि राज्य मार्ताण्डवर्मा महाराजा के अधीन हो गये। मार्ताण्डवर्मा महाराजा उपरोक्त राज्यों को जीतने के लिए उत्तर की ओर चले। जब उन्हें अनुभव हुआ कि इन देशों को जीतना आसान काम नहीं है तब उन्होंने हैदरअली से सुलह की। जब यह वार्ता तेक्कुंकूर के राजा रविवर्मा को मिली तब उसने सोचा कि यदि हैदर केरल में आयेगा तो केरल-धर्म नष्ट हो जायगा। उससे युद्धकर विजय प्राप्त करना भी असंभव है। तब क्यों देश में वृथा रक्तपात का अवसर आने दें। अंत में, उसने आत्महत्या करली। पणिक्कर जी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का दृष्टिकोण प्रमुख है। उपन्यासकार ने इसी उपन्यास में स्पष्ट रूप से सूचित किया है कि भविष्य में हैदर और टीपू के जो आक्रमण केरल पर हुए उसका मूल कारण मार्ताण्डवर्मा महाराजा ही हैं। केरल की प्राचीन युद्धकला 'कलरिप्पयट' का भी मनोहर चित्रण इसमें है। कुतूहल-प्रियता और चरित्रचित्रण की ओर कलाकार का ध्यान स्पष्ट ही है।

श्री पी० रामन नम्पीशन का लिखा 'केरलेश्वरन' (१६२६) मध्य केरल कोचीन और उसके आसपास के देश) के इतिहास की घटनाओं का औपन्यासिक रूप है। वेट्टत्तुनाडु

---

१. घटनाकाल—ई० १८८० State Manual vol 2 Page 637.

२. घटनाकाल—सत्रहवीं शती का अन्तिम चरण Cochin State Manual.

से कोचीन के राजकुटुंब में गोद ली गयी परम्परा में सुभद्रा कुमारी के पुत्र केरलवर्मा के जीवनकाल की कुछ घटनाओं के आधारपर यह कथा रची गयी है। इसमें वेट्टत्तु-नाड् 'चेरनाड्, पेरुम्पटप, कोषिक्कोड जैसे छोटे-छोटे देशों में से किसी का पक्ष लेकर दूसरे किसी एक या अनेकों को सताने के लिए उद्यत फ्रांस तथा पुर्तगाल के भारत-स्थित प्रतिनिधियों का इतिहास मिलता है। राजेन्द्र चोल नामक चक्रवर्ती के हाथों से केरल किस प्रकार मुक्त हुआ इसका विश्वसनीय वर्णन इसमें है। वर्णनरीति और शैली की दृष्टि से यह उपन्यास महत्त्व का है।

श्री अम्पाडी ए० नारायण पुतुवाल के 'केरलपुत्रन'[१] (१९२९) में लगभग डेढ़ हजार वर्ष के पूर्व केरल में जिन पेरुमाल राजाओं ने राज किया था उनका इतिहास है। उस समय को केरल की स्थिति और 'पंचमहासभा' (पंचों की महासभा) के अधिकार आदि का चित्रण इसमें है। 'भूतरायर' के पदचिह्नों को आदर्श मानकर लिखे हुए इस उपन्यास को वास्तव में हम ''भूतरायर' का छोटा भाई कह सकते हैं। इसमें गद्य-काव्य की शैली यत्र-तत्र मिलती है। आरंभ में वर्णित 'अराकुल' सरोवर इसका उदाहरण है।

श्री एन० के० कृष्णपिल्लै का 'वीरमार्त्ताण्डन्'[२] (१९३०) वीररस प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास है। मार्ताण्डवर्मा महाराजा ने 'देशिंगनाड्' (आधुनिक कोइलोन) को अपने अधीन कर लिया और वहाँ के राजा को अपने साथ ले आये। वीरमार्ताण्ड कुरूप 'देशिंगनाड्' का एक वीर पुरुष था। वह उस समय वहाँ नहीं था। किन्तु बाद में खबर पाते ही वह अपने तीन साथियों को लेकर त्रिवेन्द्रम आता है और अनन्तपद्म-नाभन तथा रामय्यनं (उस समय के मंत्री) से लड़कर बन्दी राजा को गुप्त रूप से छुड़ाकर ले जाता है। कथा के पात्र अस्वाभाविक और अविश्वसनीय हैं। वीररस प्रधान कथा लिखना ही उपन्यासकार का प्रधान लक्ष्य था। उसमें वह सफल है। इतिहास से अधिक कल्पना का प्राधान्य है।

जी० आर० वेंकिटवरदय्यंगार रचित 'उदयमार्ताण्डन'[३] (१९३०) नामक उपन्यास में मार्ताण्डवर्मा महाराजा के पूर्व के 'वेणाड्' (आजकल के इडवा से कन्याकुमारी तक के राज्य) को ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। इसमें चेर उदयमार्ताण्ड पेरुमाल और पाण्ड्य राजा के बीच के युद्ध और राज्यस्थिति का मार्मिक चित्रण है।

श्री के० एम० पणिक्कर का एक और ऐतिहासिक उपन्यास है 'परंकिप्पडयाली, (१९३४)। 'तेवलक्करा' मन्दिर का विध्वंस पुर्तगाली सिपाहियों ने किया था। इसका उल्लेख पुर्तगाली इतिहासकारों ने किया है। और वैंटवे ने भी 'हिन्दुस्थान में पोर्तुगीय शक्ति का उद्भव' नामक ग्रंथ में किया है। ऐसी इतिहास प्रसिद्ध घटना पर लिखा हुआ यह उपन्यास है। इसमें सामयिक देशाचार के सुंदर चित्रण आदि अंत तक छिटके

---

१. घटना काल—४५ से १२५ ई० Cochin State Manual.

२. घटनाकाल—१७३५ से १७५० ई०

३. ई० १७५०—१८०० Travancore State Manual Vol 2 Page ८९

हुए हैं। वेट्टत्तु राजा ने पुर्तगाल जाकर धर्मपरिवर्तन[1] किया और 'वट्टुतला' में युद्ध हुआ, ये दोनों ऐतिहासिक तथ्य हैं। इस उपन्यास का नायक अन्तोनियो-दि-चेइली कई युद्धों में वीरता से लड़ कर प्रसिद्ध हुआ और अन्त में एक समुद्री युद्ध[2] में मारा गया। यह व्यक्ति तेवलक्करा के मतिलकत्तु वीडु का नारायणन् नायर है।

श्री० सी० वी० रामन पिल्लै जी के उपन्यास बादके ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों के लिए पथप्रदर्शक थे। उनके अनुकरण में जो लोग सफल हुए उनमें से एक थे श्री एन० परमेश्वरन पिल्लै। इनका 'कुंजुत्तम्पिमार'[3] (१९३९) एक सुंदर उपन्यास है। शीर्षस्थानीय तम्पिमार श्री मार्ताण्डवर्मा महाराजा के मातुल पुत्र हैं। राज्याधिकार प्राप्त करने के लिए 'तम्पिमार 'एट्टुवीट्टिल पिल्लेमार' की सहायता से षड्यन्त्र रचकर युवराज को गुप्त रुप से मारने की चेष्टा करते हैं और खुलेतौर पर मदुरा की फौज की सहायता से युद्ध करते हैं। उसमें सफल न हुए तो राजमहल में जाकर महाराजा का वध करने का उद्योग करते हैं। किन्तु भाग्यवश स्वयं मारे जाते हैं। इसमें 'तम्पिमार' की बहन से मार्ताण्डवर्मा का और कथानायक शेखर का शारदा से प्रेम, उपन्यास को रोचक बनाता है। इसके सभी पात्र अपना--अपना व्यक्तित्व रखते हैं।

श्री के० एम० पणिक्कर का एक और प्रसिद्ध उपन्यास है 'केरलसिंहम' (१९४१)। फ्रान्स के सम्राट् विश्वविख्यात नेपोलियन को युद्ध में हरानेवाले सुप्रसिद्ध आंग्ल सेनानी ड्यूक आफ वेलिंग्टन (उस समय सिर्फ आर्थर वेल्सली) का कोट्टयम पयशि[4] राजा के साथ युद्ध हुआ। यही इस उपन्यास के कथानक का केन्द्रबिन्दु है। असाधारण वीर, प्रकाण्ड पंडित तथा सर्वगुणसम्पन्न उस पयशि राजा के लिए कोट्टएयम राजाओं के कीर्तिगान में उद्दण्ड शास्त्री का लिखा हुआ निम्नलिखित पद्य अक्षरशः अनुयोज्य है।

येषां वंशे समजनि हरिश्चन्द्र नामा नरेन्द्रः
प्रत्यापत्तिः पतग ! यदुपज्ञं च कौमारिलानां
युद्धे येषांमहित हतये चण्डिका सन्निधत्ते
तेषामेषां स्तुतिषु न भवेत् कस्य वक्त्र पवित्रम् ॥

लगभग पच्चीस वर्ष तक इन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों से युद्ध किया। इस काल में वे महाराणा प्रताप और छत्रसाल बुंदेला के समान वन-वन भटके। मुख्य कथा के साथ दो मनोहर प्रेम कथाएँ भी जोड़ी गयीं हैं। उपन्यास सभी प्रकार से सुंदर निखरा है।

सरदार श्री के० एम० पणिक्कर का एक और ऐतिहासिक उपन्यास है 'पुणकोट्टु स्वरूपम् !' (१९२८)

---

१. ई० १५४८—Cochin State Manual Page १२४
२. ई० १५७९ " " १०८
३. घटनाकाल—१७२५—१७३५— (ई० सन्)
४. ई० १७९२ Preface of 'Kerlasimham' by K. M. Panikkar.

तायाट्टु श्री शंकर मेनोन का 'उण्णिराम वर्मा' (१९२८), श्री आर० कैमल का 'कुन्नत्तु कुचेलन' (१९३२), श्री एन० परमेश्वरन पिल्लै के दो और उपन्यास 'वलुत्तम्पि दलवा' और 'इरवि मार्ताण्डन्' (१९३४), श्री शूरनाडु कुंजन पिल्लै का 'कल्याण सौधम्' (१९३६) विद्वान के० केशव पिल्लै का 'श्री पद्मनाभदासन', एम० सी० शंकर पिल्लै का 'उमयम्म राणी', श्री कुरुप्पुंवीट्टिल गोपाल पिल्लै का 'पोर कलत्तिन पिन्निल', श्री वेंकुलम परमेश्वरन पिल्लै का 'तलकुलत्तु तंकच्ची', जॉन पीटर तोट्टम का 'शंकरगिरि' ये भी मलयालम के अन्य ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

उपर्युक्त सभी उपन्यास केरल के इतिहास से संबंधित हैं। भारत की ऐतिहासिक घटनाओं के आधारपर रचित दो-चार उपन्यास भी मिलते हैं। उनमें प्रसिद्ध एक उपन्यास है श्री के० एम० पणिक्कर का 'कल्याणमल' (१९३६)। कल्याणमल एक रत्नव्यापारी के वेष में आगरा में रहते हैं। ये बुंदेलखण्ड में रामगढ़ के उत्तराधिकारी अजितसिंह है। कल्याणमल के छोटे भाई का पुत्र दलपतसिंह अपने स्वर्गीय पिता की आज्ञा पूर्ति के हेतु अजितसिंह या उनके पुत्र की खोज में निकलता है। आगरा पहुँचकर कल्याणमल की ही सहायता से अकबर के एक प्रधान सरदार राजा पातल (कवि पृथ्वीराज—बेलिकृष्ण रुक्मिणीरी के रचयिता) के अधीन एक नायब बनता है। आखिर वह अकबर का मित्र और सहायक बन जाता है और अपने चाचाजी अजितसिंह को पहचानता भी है। अजितसिंह दलपत को रामगढ़ का उत्तराधिकारी बना देते हैं। इस उपन्यास में उर्दू[1] शब्दों का यत्र-तत्र मलयालम में उपयोग किया है। अकबर की शासन-नीति, अन्तःपुर का कलह, राज्य की अवस्था, सामाजिक प्रथाएँ इन सबका स्पष्ट चित्रण इसमें है।

वैक्कम चन्द्रशेखर पिल्लै का 'बाष्पमंडपम्' (१९५२) अकबर के अंतिम काल और उनके पौत्र शाहजहां से निर्मित ताजमहल से संबंधित घटनाओं पर आधारित उपन्यास है। श्री गोपाल पिल्लै का 'आइषा देवी', पी० शंकरन म्पियार की 'चाणक्यन' इन उपन्यासों में भी भारतीय इतिहास की कथाएँ हैं।

अनूदित उपन्यासों में 'अकबर' (१८९४) 'दुर्गेशनन्दिनी' (१९१०) और 'वेल्लुवक्कन्मारन' भी प्रसिद्ध हैं।

केरलीय इतिहास संबंधी उपन्यासों में गुण और प्रसिद्धि की दृष्टि से सी० वी० रामन पिल्लै जी का 'रामराज बहादुर' ही सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है। इनके अन्य दो उपन्यासों की अपेक्षा इसकी घटनाएं विशद और गम्भीर हैं। इस ऐतिहासिकता के विस्तार के अनुकूल भावों में भी गांभीर्य है। भाषा भी तदनुसार है। कथा की गंभीरता के योग्य इसके पात्र पौढ़, गूढ़ और कर्मठ हैं। मानव मन की अत्यंत सुकोमल भावानुभूति से रंजित कथापात्रों की ऐसी सृष्टि अन्य उपन्यासों में कम ही मिलेगी। पात्रों के पूर्ण व्यक्तित्व विकास के कारण यह उपन्यास सर्वोच्च माना जाता है। रचना की सफलता के रहस्य से सी० वी० भली भाँति परिचित थे। उनकी यह कला मर्मज्ञता बढ़ते-बढ़ते इस उपन्यास

---

१. 'दिल पसन्द', 'दरवाजा' इत्यादि।

में पूर्णता पा गई है। इसमें कलाकार के हृदय के विविध भावों की प्रगल्भता की झलक पाठक पाते हैं। यही कारण है कि आज भी सी० वी० के इस उपन्यास के संभाषणों को शब्दश: लेकर रचे हुए नाटक को देखने के लिए शिक्षित मलयाली लोगों का उत्साह अवर्णनीय है।

दूसरा स्थान 'धर्मराजा' को और तीसरा 'मार्ताण्ड वर्मा' को दिया जा सकता है। पर मार्ताण्ड वर्मा को प्रथम स्थान देने वाले समालोचक भी मिलेंगे।

श्री० के० एम० पणिक्कर का 'केरलसिंहम्' ऐतिहासिक मूल्य की दृष्टि से आदरणीय है। काफी प्रसिद्ध भी है।

अप्पन तम्पुरान का भूतरायर भाषा की दृष्टि से और समय की मांग से प्रतिष्ठा पा चुका था।

एन परमेश्वरन पिल्लै के कुंजुत्तम्पिमार ने भी ख्याति पायी है।

इन उपन्यासों के विशेष उल्लेखनीय पात्रों के नाम नीचे दिये हैं—

उपन्यास	पात्र	उपन्यास	पात्र
मार्ताण्डवर्मा	मार्ताण्डवर्मा अनन्तपद्मनाभन सुभद्रा	भूतरायर	चेरमान पेरुमाल भूतरायर
धर्मराजा	हरिपंचानन योगीश्वर धर्मराजा केशव पिल्लै	केरलेश्वरन	वेट्टत्तु वलियतम्पुरान शूलपाणि वार्यर चेन्न कुरुप कुंजन इलयदु पारुकुट्टि
राम राज बहादुर	धर्मराजा केशवपिल्लै केशवन उन्नित्तान् टीपू सुलतान	केरलपुत्रन	करिकाल महाराजा इमय कुमारन पणिक्कर आशान पुलोमजा
अहिभंयम	वलिय कोइत्तम्पूरान महाराजा (आइल्यं तिरुनाल) अच्चन्नम्पूतिरि राज्ञी	धूमकेतुविण्डे उदयमम	मार्ताण्ड वर्मा महाराजा रवि वर्मा रामप्यन नीलकण्ठ कैमल इट्टुण्णा कुरुप कुञ्जिक्का
कुंजुत्तम्पिमार	मार्ताण्ड वर्मा महाराजा मूत्तत्तम्पि शंखरन अनन्तपद्मनाभन रामय्यन शारदा	परंगिप्पडयालि	अन्तोणियो डी चेइला डाम मार्टिन: डाना एलिवेरा

उपन्यास	पात्र	उपन्यास	पात्र
वीरमार्ताण्डन	मार्तण्ड वर्म महाराजा वीर मार्ताण्ड कुरुप अनन्तपद्मनाभन रामय्यन	केरलसिंहम	अम्पुनायर पलशिराजा वेल्सली चन्तुनायर कम्मु मांक्कोटिलम्म
उदयमार्ताण्डन	उदय मार्ताण्डन परान्तक विक्रम वीर पाण्डयन मार वर्म राज सिंहन कामेश्वरी	कल्याणमल	कल्याणमल अकबर दलपतसिंह पातल राजा

मिस जेनेट आर जोशुआ, वीमेन्स कालेज ट्रिवेंड्रम ने कुछ अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की भी सूचना दी है। वह इस प्रकार है :

"कैरली को सुप्रशंसित उपन्यास "परप्पुरम" (भाग १ और २) तथा "उदय भानु" (भाग १ से ४ तक) भेंट करने वाले के० नारायण कुरुकुल भी एक महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। इन उपन्यासों के प्रकाशन का श्रेय अंशतः "स्वदेशाभिमानी" के निर्वासित सम्पादक के० रामकृष्ण पिल्लई को है। इन दो उपन्यासों ने बड़ी निर्भीकता से बीसवीं शती के आरंभ में ट्रावंकोर में व्याप्त, उच्छृंखलता और भ्रष्टाचार का पर्दाफाश किया। "परप्पुरम" ने तो महाराजा की व्यक्तिगत दुर्बलताओं का उद्घाटन करके और महल के प्रिय व्यक्तियों तथा अफसरों द्वारा—जिनके अपने कोई सिद्धान्त नहीं थे—राज्य के मामलों में अनुचित हस्तक्षेप का भंडाफोड़ करके ट्रावंकोर की राजनीति में एक क्रान्ति ही उपस्थित कर दी थी। राज्य के प्रिय व्यक्तियों और अफसरों के कुचक्र और महाराज पर उनके प्रभाव को "परप्पुरम" में कल्पित पात्रों द्वारा बड़ी निर्भीकता से चित्रित किया गया है। साथ ही उस समय की सामाजिक अवस्था पर भी यह पुस्तक प्रकाश डालती है। पाठकों की अभिरुचि बढ़ाने के लिए एक प्रेम कथा भी वहाँ है।

कप्पन कृष्ण मेनन के 'चेरमान पेरूमाल' नामक उपन्यास में, मलावार युग से पहिले के केरल की कहानी से, कुछ घटनाओं का उल्लेख किया गया है। ये घटनाएं हमें प्राचीन केरल के वैभव को देखने के लिए एक अन्तर्दृष्टि प्रदान करतीं हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक अद्वितीय है।

एन० परमेश्वरन पिल्लई ने भी कुछ ऐतिहासिक उपन्यास जैसे "कुंजयम्पिमार", "वैलुथम्पी दलव", "एरवी मार्थण्डन" मलयालम साहित्य को दिए हैं।

सरदार के० एम० पन्निक्कर के "कल्याणमल" और "डोरास्सिन" भी उल्लेखनीय हैं।"

सङ्कलित

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास

प्रथम उपन्यास--

"हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकांता' है जो १८९१ में प्रकाशित हुआ।"

"हिन्दी उपन्यास के क्रमिक विकास का मूल 'तोता-मैना' और 'सारंग सदावृक्ष' जैसी कहानियों में खोजना पड़ेगा जिनका उद्गम उत्तर भारत में प्रचलित मौखिक कथाओं से हुआ जान पड़ता है।"............ये (कहानियाँ) १८६० के लगभग लिपिबद्ध हुईं।

"इन कहानियों में कला-रूप का प्रथम आभास व्यक्तित्व के विकास में मिलता है। 'तोता-मैना' में किसी व्यक्ति-विशेष का परिचय नहीं मिलता, मिलता है केवल एक मौखिक वादविवाद। किन्तु 'गुलबकावली', 'छबीली भटियारिन' और 'हातिमताई' में व्यक्ति-विशेष के दर्शन होते हैं जिनमें मानवचरित्र के सरल और सामान्य गुणों का समावेश मिलता है।......

"किन्तु इन उपन्यासों के रहते हुए भी देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता' से पहले हिन्दी में उपन्यास के साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा न हो सकी"...

किशोरीलाल गोस्वामी, जिन्होंने पहले-पहल हिन्दी उपन्यासों में नाटकीय कला के विविध गुणों का सफल आरोपण किया, खत्री के 'चन्द्रकांता' से भी पहले 'कुसुमकुमारी की रचना १८८९ में कर चुके थे, यद्यपि इसका प्रकाशन १९०१ के पहले न हो सका।"[१] यह हुआ एक विद्वान् का मत।

और दूसरे विद्वान लिखते हैं:

"ऐसे समय में जब कि हिन्दी जनता संस्कृत से अनूदित पौराणिक तथा धार्मिक कथाएँ और 'शुक बहत्तरी,' सारंगासदावृक्ष', 'किस्सा तोता-मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार,' और फारसी और उर्दू से ली हुई 'चहारदर्वेश', 'बाग़ोबहार', 'किस्सा हातिमताई',

---

१—डा० श्रीकृष्णलाल "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास" (१९००–१९२५) पृ० २७५।

'दास्तान-इ-अमीर हमजा,' 'तिलिस्म-इ-होशरुबा,' आदि कथा कहानियों से अपना मन बहला रही थी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक हिन्दी का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास प्रकाशित किया।" पूर्ण प्रकाश नायक और चन्द्रप्रभा नायिका है। बूढ़े ढुण्ढिराज की नवयुवती चन्द्रप्रभा की भांति वृद्ध-विवाह होने की प्रथा का लेखक ने विरोध किया है और लड़के-लड़कियों की शिक्षा पर जोर दिया है। कथानक सीधा है। अन्धे मन्दिरानन्द का अपनी पत्नी और नायक की बहन मधुरिया पर, जो अपने भाई से बात कर रही है, पर पुरुष से बात चीत करने का सन्देह करने वाला प्रसङ्ग मनोरंजक होने के साथ-साथ बड़ा ही सच्चा और हृदय को स्पर्श कर लेने वाला है। विवाह के समय बूढ़े दूल्हे का मजाक बना कर लेखक ने व्यंग्य के अमोघ अस्त्र का सहारा लिया है। कथानक में दक़ियानूसी और प्रगतिशील विचारों का सङ्घर्ष है। अन्त में विजय प्रगतिशीलता की होती है। अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी भारतेन्दु के नेतृत्व में युगधर्म की दीक्षा पाकर हमारे साहित्यिकों ने उपन्यास-कला में सम्पन्नता लाने की चेष्टा की। इस सम्बन्ध में किशोरीलाल गोस्वामी का नाम गर्व के साथ लिया जा सकता है। उन्होंने त्रिवेणी' (१८८८ ई०) स्वर्गीय कुसुम (१८८९ ई०)...............[१]

अतः इस लेखक ने जिसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास बनाया है, वह मौलिक रचना नहीं है। इन्होंने जो सन-संवत दिये हैं उनके आधार पर किशोरीलाल गोस्वामी की 'त्रिवेणी' पहला उपन्यास ठहरेगा। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकांता' को तब पहला साहित्यिक उपन्यास संभवतः नहीं माना जा सकता।

प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास--

हिन्दी साहित्य के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार स्वर्गीय किशोरीलाल गोस्वामी जी ही हैं। वैसे तो इन्होंने ६५ से ऊपर उपन्यास लिखकर प्रकाशित किये हैं और साहित्य की दृष्टि से ये हिन्दी के पहले उपन्यासकार माने जा सकते हैं।[२] इन उपन्यासों के अन्तर्गत पन्द्रह से अधिक ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें चार पाँच अब अप्राप्य हो गये हैं। उनके प्राप्य ऐतिहासिक उपन्यासों के नाम निम्नलिखित हैं और साथ साथ प्रकाशिन के वर्ष की भी सूचना नीचे दी जाती है—

(१) स्वर्गीय कुसुम अथवा कुसुमकुमारी	१८८९
(२) लवंग लता	१८९०
(३) राजकुमारी	१९०२
(४) तारा	१९०२
(५) चपला	१९०३
(६) कनक कुसुम	१९०३
(७) लखनऊ की कब्र	१९०६

१—डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय: "आधुनिक हिन्दी साहित्य भारतेन्दु कृत 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक मराठी उपन्यास के अनुवाद के बाद।"

२—रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ५००—५०१

(८)	सोना और सुगन्धि	१९११
(९)	लाल कुंवर	१९१२
(१०)	रजिया बेगम	१९१५
(११)	गुप्त गोदना	१९२६

इस प्रकार हम देखते हैं कि किशोरीलाल गोस्वामी जी का 'कुसुमकुमारी' ही हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है। 'हिन्दी ग्रन्थ साहित्य' के रचयिता माताप्रसाद गुप्त ने १८९० में लिखित 'लवंगलता' को प्रथम हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास माना है। संभवत: १९०१ में प्रकाशित 'कुसुमकुमारी' का दूसरा संस्करण ही उनके हाथ लगा हो और इस कारण से उन्होंने यह भ्रमपूर्ण धारणा अपनायी हो।

'कुसुमकुमारी' एक ऐतिहासिक रोमांस है। उसका कथानक यों है:—

बिहार के किसी छोटे राज्य के राजा कर्णसिंह के कोई सन्तान न थी। कई वर्ष तक पूजा, तीर्थाटन आदि के उपरांत अन्त में 'त्रंब्यक' नामक पण्डे ने कहा कि अगर आप अपनी पहली सन्तान को ईश्वर को अर्पण करने की शपथ खा लें तो शायद आप पिता बन जायें। राजा ने कसम खाली और उनकी पहली पुत्री चन्द्रप्रभा त्रंब्यक के हाथों ईश्वर की भेंट की गयी—छः महीने की आयु में।

छः सात बरस की हो जाने पर निरीह बच्ची चन्द्रप्रभा को मन्दिर के पंडों ने एक वेश्या को बेच दिया जिसके यहाँ वह अपनी वास्तविकता से अजान हो कुसुम के नाम से पली। एक नदी दुर्घटना में नवयौवना कुसुमकुमारी (चन्द्रप्रभा) वीर युवक बसन्तकुमार से बचायी गयी और दोनों में प्रेम हो गया। पर कुछ वर्ष उपरांत कुसुम को अपनी वास्तविकता का पता लग जाता है और ग्लानि व दु:ख से प्रपीड़ित हो वह यह बात बसन्त से भी छिपा रखती है बसन्त को दूसरी शादी करने के लिये वह विवश करती है। बसन्तकुमार से उसने राजा कर्णसिंह की लड़की गुलाबदेई का (अपनी सगी बहिन का—पर उसको यह बात विदित नहीं है) विवाह करा दिया और बसन्त से दूर रहने का प्रयत्न करने लगी। अन्त में राजा कर्णसिंह सब हाल जानकर पश्चात्ताप करते हैं और खुले रूप में वेश्या कुसुम को—अपनी पुत्री चन्द्रप्रभा को अपना लेते हैं फिर बसन्त—कुसुमकुमारी—गुलाबदेई का जीवन मंगलमय बन जाता है।

इस कथानक से स्पष्ट विदित है कि गोस्वामी जी का उद्देश्य देवदासी प्रथा का खण्डन व हिन्दू समाज का उद्धार है। देवदासी प्रथा के खण्डन में कुसुम का तर्क लेखक का अपना तर्क है।

इस उपन्यास की कुछ विशेषतायें:—

(१) लेखक पर तिलस्मी व ऐयारी कहानियों का प्रभाव इसमें लक्षित होता है। अनहोनी घटनायें इसमें बहुत हैं।

(२) नायिका-भेद के ढंग का नखशिख वर्णन, विरह में तड़पना।

(३) कथानक को सुखांत बनाने पर लेखक तुला हुआ है। दु:खान्त-प्रेमियों से लेखक का कथन है कि वे अन्तिम परिच्छेद न पढ़ें।

(४) शैली व भाषा मार्जित नहीं है। कहीं-कहीं लम्बे संस्कृत के कवितामय समासपद हैं तो कहीं ठेठ ब्रजभाषा के और कहीं उर्दू शैली का प्रयोग है। प्रत्येक परिच्छेद संस्कृत की फुटकल कविताओं से प्रारम्भ होता है।

(५) मुख्य पात्र व घटनायें ऐतिहासिक हैं। लेखक ने भूमिका में बताया है कि यह घटना १८४० में घटित है। कुसुम, बसन्त, गुलाबदेई एवं भैरोंसिंह को छोड़कर बाकी नाम कल्पित होने पर भी पात्रों के वास्तविक अस्तित्व के द्योतक हैं।

(६) १६०० में बँगला में लिखित 'कुसुमकुमारी' उपन्यास में लेखक अपने ही उपन्यास की छाया देखता है (द्वितीय संस्करण की भूमिका)

"गोस्वामी जी के अधिकतर उपन्यास किसी न किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर खड़े हैं। इन ऐतिहासिक उपन्यासों में शौर्य प्रेम, चरित्र की उच्चता, जातीय गौरव का यशोगान हिन्दू ललनाओं के सतीत्व आदि के चित्रण हैं। हिन्दू समाज के अनाचारों को भी दूर करने का भरसक प्रयत्न लेखक ने किया है। मुगल काल के अन्तिम दिनों के कथानक गोस्वामीजी को अधिक प्रिय मालूम पड़ते हैं।"[1]

इनके अतिरिक्त उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रणेताओं में जादेश्री उन्नदजी कवि, उदयराम कवि आदि प्रमुख हैं।

जादेश्री उन्नदजी कवि —खुशबूकुमारी (१८६१ में लिखित)—इसकी विशेषता यह है कि यह ब्रजभाषा में लिखित हिन्दी का एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास है।

उदयराम कवि—मोज़दीन महताब —(१८६३ में)

बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते ही कई उपन्यासकार गोस्वामी जी के अनुकरण में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने लगे। उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

(१) बलदेव मिश्र—	(अ) अनारकली	१६००
	(ब) पृथ्वीराज चौहान	१६०२
	(स) पानीपत	१६०२
(२) गंगाप्रसाद गुप्त	(अ) नूरजहां	१६०२
	(ब) वीर पत्नी	१६०३
	(स) कुमारसिंह सेनापति	१६०३
	(द) पूना में हलचल	१६०३
	(य) हम्मीर	१६०४
(३) मथुराप्रसाद शर्मा—नूरजहां		१६०५
(४) राम प्रताप शर्मा—नरदेव		१६०३
(५) विठ्ठलदास नागर—पद्माकुमारी		१६०३
(६) मिट्टूलाल मिश्र—रणधीरसिंह		१६०४
(७) श्यामसुन्दर वैद्य—पंजाब पतन		१६०४

१—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य—(पृष्ठ ६६)

(८) भगवानदास—उर्दू बेगम		१६०५
(६) लालजीसिंह—वीर बाला		१६०६
(१०) जैनेन्द्र किशोर—गुलनार		१६०७
(११) जय रामदास गुप्त (अ) काश्मीर पतन		१६०७
(ब) रंग में भंग		१६०७
(स) मायारानी		१६०८
(द) नबाबी परिस्तान		१६०६
(य) कलावती		१६०६
(र) मल्काचन्द बीबी		१६०६
(१२) बलभद्रसिंह (अ) सौन्दर्य कुसुम		१६१०
(ब) सौन्दर्य प्रभा		१६११
(स) जयश्री		१६११

अब तक के हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासों को हम किशोरीलाल गोस्वामी-काल के मान सकते हैं। यद्यपि गोस्वामी जी परवर्ती काल में भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखते रहे पर उनके तथा उपर्युक्त समकालीन लेखकों के ऐतिहासिक उपन्यास एक निश्चित कोटि में आते हैं।

उनकी अपनी कुछ विशेषतायें हैं जो परवर्ती ऐतिहासिक उपन्यासों में कम दर्शनीय हैं। ये उपन्यास ऐतिहासिक नाममात्र के लिये हैं। एकाध पात्र तथा कथानक की कुछ घटनायें ऐतिहासिक हो सकतीं हैं। पर ऐतिहासिक उपन्यास का मुख्य अंग—वातावरण का ऐतिहासिक रहना अथवा इतिहास के यथार्थ की रक्षा, यह इनमें नाममात्र के लिये ही है। नायिका—भेद के ढंग का प्रेम, नखशिख वर्णन, प्रेम के लिये युद्ध आदि की अवतारणा, शिथिल, शैली मार्जित भाषा का अभाव आदि इन उपन्यासों की विशेषतायें हैं। किशोरीलाल गोस्वामी जी को हिन्दी में स्कॉट की शैली पर उपन्यास लिखने वालों के बीच पहला स्थान देने वाले आलोचक[1] वास्तव में भ्रम करते हैं। सारांश यह है कि गणना के योग्य उच्चकोटि के साहित्यिक ऐतिहासिक उपन्यास गोस्वामी-काल में नहीं लिखे गये।

बीसवीं सदी के पहले दशक के पश्चात् २०, २५ तक वर्ष ऐतिहासिक उपन्यासों का दूसरा युग माना जा सकता है। प्रस्तुत काल में ऐतिहासिक उपन्यास अधिक सुष्ठु एवं मार्जित हो गये। इस युग के मुख्य उपन्यासकार एवं उनकी रचनायें निम्नलिखित हैं :—

(१) कृष्णप्रसाद सिंह अखौरी—वीर चूडामणि		१६१५
(२) रामप्रसाद सन्याल—अनंत		१६०६
[अपनी विशेषता के कारणयह इस दूसरे काल के अन्तर्गत आ जाता है।]
(३) ब्रजनंदन सहाय—लालचीन		१६१६

१—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिंदी साहित्य—पृष्ठ ६६

(४)	दुर्गादास खत्री—अनंगपाल	१६१७
(५)	मिश्रबंधु—वीर मणि	१६१७
(६)	भगवतीचरण वर्मा—पतन	१६२७
(७)	ऋषभ चरण जैन—ग़दर	१६३०
(८)	गोविंद वल्लभ पंत—सूर्यास्त	१६२२
		आदि ।

वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा 'गढ़कुण्डार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' के लिखे जाने से हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का तीसरा एवं आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। आधुनिक युग में आकर ऐतिहासिक उपन्यास, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के टक्कर का बन जाता है। वर्मा जी के ये दोनों उपन्यास सभी लोगों से मुक्तकण्ठ से प्रशंसित हो चुके हैं। कथानक पात्र, वातावरण, रोमांस आदि ऐतिहासिक उपन्यासों के सभी विभिन्न अंगों का पूर्ण विकास वर्मा जी के उपन्यासों में हुआ है। स्कॉट से भी कुछ बातों में वर्मा जी आगे बढ़े हुए हैं। 'विराटा की पद्मिनी' के पद्मिनी-कुंजरसिंह, तथा 'गढ़ कुण्डार' के तारा-दिवाकर की जोड़ी, आदि, हमारी स्मृति में गहरी छाप लगाने में समर्थ है।

वर्मा जी के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने उपन्यासों के कथानक प्रायः जनश्रुतियों से लेते हैं। जनश्रुतियों एवं दन्तकन्थाओं को वे इतिहास से भी अधिक मूल्यवान् समझते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में इतिहास साधारणतया उस सिकुड़े हुए टीन के बर्तन के समान है जिसमें देखने पर सुन्दर से सुन्दर मुख भी विरूप दिखाई पड़ता है। अतः वे जनश्रुतियों को अधिक महत्त्व देते हैं।

प्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा के शब्दों में 'वर्मा जी एक बीते जमाने की याद और आने वाले युग की बानगी जैसे हमारे बीच में खड़े हैं।[१] "प्रेमचन्द के समान इनमें भी साधारण जनता से गहरा प्रेम, धार्मिक अंध विश्वासों, सामंती अत्याचारों और जाति प्रथा से घृणा है। जनता की बोली, उनके सुख-दुःख आचार-विचार कला-प्रेम आदि के वे कुशल चितेरे हैं।[२]

वृन्दावनलाल वर्मा के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास :—

(१)	विराटा की पद्मिनी	१६३०
(२)	गढ़ कुण्डार	१६३६
(३)	मृगनयनी	१६५०
(४)	झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई	
(५)	मुसाहिबजू	१६४६
(६)	टूटे काँटे	१६५४
(७)	कचनार	

१—'नया पथ'—मार्च १६५५

२—'नया पथ'

इस आधुनिक युग के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वर्मा जी के अतिरिक्त मिश्रबन्धु गोविन्द वल्लभ पंत, भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव, बेनीप्रसाद वाजपेयी राहुल सांकृत्यायन, गुरुदत्त, जयशंकर प्रसाद आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्य लेखक और उनके उपन्यास--

(१) मिश्रबन्धु--	(१) चंद्रगुप्त मौर्य
	(२) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य,
	(३) पुष्य मित्र
	(४) विक्रमादित्य
	(५) स्वतंत्र भारत
	(६) उदयन
(२) भगवतीचरण वर्मा—चित्रलेखा	
(३) जयशंकरप्रसाद—इरावती	
(४) राहुल सांकृत्यायन्--	(१) जययोधेय
	(२) सिंह सेनापति
	(३) विस्मृति के गर्भ में
(५) रांगेय राघव--मुर्दों का टीला	
(६) बेनी प्रसाद वाजपेयी	(१) प्रभाबाई
	(२) चम्पावती
	(३) राजेश्वरी
(७) हरि भाऊ उपाध्याय—प्रियदर्शी अशोक	
(८) वियोगी हरि—प्रियदर्शी अशोक	
(९) सत्य केतु विद्यालंकार —चाणक्य	
(१०) गोविंद वल्लभ पंत—	(१) एक सूत्र
	(२) नूरजहाँ
	(३) चक्रकान्त
	(४) सूर्यास्त
(११) गुरुदत्त—	(१) स्वराज्य दान
	(२) स्वाधीनता के पथ पर

इन मुख्य लेखकों के अलावा अच्छे ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाले और भी कई लेखक हैं। संक्षेप में हम निस्संकोच कह सकते हैं कि हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का क्षेत्र अब अधिक उज्ज्वल बन गया है। बीते युग की पृष्ठ भूमि की अवतारणा करके नयी पीढ़ी को स्फूर्ति व प्रेरणा देने में ये ऐतिहासिक उपन्यास सफल रहे हैं[1]

---

[1]श्री के० सी० सुकुमारन नायर के नोट से।

मुनि कान्तिसागर

आचार्य सोमनाथ

ब्रजभूमि का सांस्कृतिक गौरव और इतिहास बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। इस के वैभवपूर्ण अतीत की गरिमा प्रेरणाशील परम्पराओं की जन्मदातृ शक्ति है। भारत का उच्चतम लोकोत्तर चिन्तन और मानव-संस्कृति का कला द्वारा पल्लवन, शताब्दियों पूर्व इस पावन-भूमि पर हुआ था। ब्रज की भूमि सदा साधना का, संस्कृति का और सौंदर्य-मूलक कला का अन्यतम केन्द्र रही है। माधुर्य और वात्सल्य रस की शीतल मंदाकिनी आज भी पूरे वेग से पूर्ववत् बह रही है। यहाँ का एक-एक कण शान्ति का अमर संदेश उद्घोषित कर रहा है। हृत्तंत्री के सुकुमार तारों को झंकृत करने वाले वहाँ के घंटानाद और आत्म-संगीत की स्वर लहरियाँ जीवन के नव-निर्माण का शाश्वत संदेश दे रहीं हैं। यमुना-कूल की पवित्र रज परम शान्ति का अनुभव कराती है। न जाने कितने साधकों के चरणों ने इसे पुनीत किया होगा? ब्रजभूमि का प्रत्येक कण महान् आत्माओं का स्मरण कराता है। शायद ही वहाँ कोई आध्यात्मिक केन्द्र ऐसा मिलगा जिसके पीछे किसी न किसी महापुरुष का पुण्य संस्मरण संयुक्त न हो। अध्यात्म, साधना, संस्कृति, साहित्य और सभ्यता का व्यापक समन्वय ही इस भूमि की मौलिकता है।

अतः ब्रज में शोध की अत्यंत आवश्यकता है। यद्यपि विज्ञों ने समय-समय पर अन्वेषण द्वारा इस के अतीत पर प्रकाश डालने का सुप्रयत्न किया है, पर इस का क्षेत्र इतना व्यापक है कि पूरी एक शताब्दी तक कई विशिष्ट कोटि के दृष्टि-संपन्न विद्वान् तन्मयता के साथ काम करते रहें तो भी अन्वेषण अपूर्ण ही रह जायगा। शोध कभी पूरी हो ही नहीं सकती। जहाँ तक अबतक की शोध का प्रश्न है, अधिकांश काम शिल्प पर ही हुआ है। पर ब्रज की सबसे महत्वपूर्ण देन है, साहित्य। हिन्दी का महान् चिन्तन इस भाषा के भंडार में भरा पड़ा है। यद्यपि ब्रजभाषा पर आज के अन्वेषकों ने पर्याप्त श्रम कर इस के अतीत को प्रकाश में लाने का भरसक प्रयत्न किया है, तथापि इसका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि आज भी ग्रामों में जाने पर कोई न कोई नूतन कृति अनायास ही उपलब्ध हो जाती है। साधारण विद्वान् के पास इतना समय कहाँ कि वह इस अन्वेषण-कार्य को निराकुल भाव से कर सके। यह कार्य तो शासन का है।

ब्रज के ग्राम भारत की आत्मा को सँजोये हुए हैं। यद्यपि मुझे समस्त ब्रज के भ्रमण का अवसर तो नहीं मिला, परन्तु, ग्वालियर से जयपुर आते समय कुछ क्षण मिल गये और धार्मिक कार्यवश भरतपुर दो महीने ठहरना पड़ा। इस बीच भरतपुर, वैर, और डैहरा व महुआ के जैन व अजैन पुरातन ग्रंथागारों के अवलोकन का सुअवसर प्राप्त हुआ। भले ही यह प्रदेश शासकीय दृष्टि से आज राजस्थान प्रान्तान्तर्गत हो, पर, सांस्कृतिक दृष्टि से वह ब्रजभूमि का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। इस संक्षेप भ्रमण में मुझे संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी-ब्रजभाषा का जो साहित्य प्राप्त हुआ और अवलोकन में आया उससे मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। मेरे मन में प्रश्न उठा कि इतनी विराट् सामग्री के बावजूद भी यहाँ के ग्रामों में शोधकार्य क्यों नहीं हो रहा है? यहाँ का साहित्यिक भंडार अछूता है। यहाँ अनेक ऐसे ग्रंथ मिलते हैं, जिनका, अद्यतन हिन्दी के इतिहास लेखकों ने उल्लेख तक नहीं किया। कई कवि भी ऐसे ज्ञात हुए जो आज तक साहित्यिक जगत में अज्ञात ही थे। अठारहवीं और उन्नीसवीं शती का हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास बिना इस भू-भागस्थ साहित्यावलोकन के अपूर्ण ही रहेगा। बल्कि मैं तो यह भी कहने की स्थिति में हूँ कि संस्कृत साहित्य के इतिहास को आलोकित करने वाली मौलिक सामग्री भी यहाँ बिखरी पड़ी है और दिनानुदिन दीमकों के उदर में समाती जा रही है। एक समय भरतपुर और वैर लघु काशी के सौभाग्य से मंडित थे। यहाँ की एक अमर विभूति के उल्लेख का मैं लोभ संवरण नहीं कर सकता। मेरा तात्पर्य पंडित प्रवर घासीराम जी से है। यह एक ऐसी विलक्षण प्रतिभासंपन्न विभूति थी, जिस का साहित्य, न्याय, अलंकार, व्याकरण, तंत्रशास्त्र, नाटक, साहित्य, आयुर्वेद और उपनिषदों पर समान अधिकार था। इन सभी विषयों पर पंडित घासीराम जी ने साधिकार लेखनी चला कर अपनी पांडित्यपूर्ण मेधा का परिचय दिया है। जितना अधिकार इनका संस्कृत पर था उतना ही हिन्दी पर भी। ये धरानन्द या कविराज के नाम से हिन्दी में कविता करते थे। इनके समस्त ग्रंथों पर यदि विस्तार से विचार किया जाय तो एक स्वतंत्र ग्रंथ ही तैयार हो सकता है। उनका "साहित्य रस सार चिन्तामणि" हिन्दी का रस संबंधी एक अद्भुत ग्रंथ है।

भरतपुर राज्य का प्रारंभिक इतिहास अत्यंत संघर्षपूर्ण रहा है। यहाँ के शासक सिनसिनवार गोत्रीय जाट थे। कुंभावती (कुंम्हेर) और दीर्घपुर (दीघ) क्रमशः इनकी राजधानी थे। पर अन्त में सूरजमल ने भरतपुर को राजधानी बनाया। वह सफल शासक और पूरा कूटनीतिज्ञ था। भरतपुर और वैर से उपलब्ध साहित्य-साधनों से विदित होता है कि जाट प्रारंभ से ही कला प्रेमी और साहित्योन्नायक रहे हैं। सूरजमल को अपने राज्यकाल का दीर्घभाग राजनैतिक संघर्षों में व्यतीत करना पड़ा और उनके पिता बदनसिंह भी शान्ति से सांस ही ले सके थे। इस संक्रान्ति काल में भी हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों का समादर कर साहित्य और संस्कृति के प्रति अनुराग व्यक्त करने में पिता-पुत्र पश्चाद् पद न रहे। महाराजा बलवंत सिंह के समय में तो यह परम्परा पर्याप्त उत्कर्ष पर थी। उन्होंने चिकित्सा, वेदान्त, भक्ति, चरित्र, योग, छंद, अलंकार, आखेट, धनुर्विद्या, धर्म और ऐतिहासिक तथ्योंपर मार्मिक प्रकाश डालने वाले मौलिक

ग्रंथों का प्रणयन करा के जो साहित्य-सेवा का आदर्श उपस्थित किया और हिन्दी के पुरातन प्रामाणिक ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करवा कर राजकीय पुस्तकालय स्थापित कर जो सांस्कृतिक अभिरुचि का परिचय दिया है, वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। संस्कृत और अरबी-फारसी के शताधिक ग्रंथों की भी इस समय प्रतिलिपियाँ हुईं और सब से महत्वपूर्ण काम यह हुआ कि आचार्य सोमनाथ आदि हिन्दी के तेजस्वी नक्षत्रों का साहित्य उर्दू में अनूदित हुआ। परन्तु मुझे आश्चर्य इस बात पर हो रहा है कि इतना पुष्ट और प्रेरणास्पद काम जहाँ पर हुआ, वहाँ आज के शोध-प्रधान युग में अन्वेषण क्यों नहीं हुआ ?

भरतपुर राज्य के समस्त सांस्कृतिक विकास पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो सरलता से एक थीसिस तैयार हो सकती है। यहाँ तो केवल आचार्य सोमनाथ के कतिपय ग्रंथ और उनके वैयक्तिक जीवन से संबद्ध नूतन ज्ञातव्यों पर ही विचार करना अभीष्ट है। जिस समय ग्वालियर में मुझे इन की नूतन और अज्ञात कृति 'संग्राम दर्पण' उपलब्ध हुई, उस समय मैंने कवि पर कुछ लिखा था। संयोग की बात है कि मुझे अपने पूज्य गुरु महाराज जी के साथ जयपुर जाते समय मथुरा और भरतपुर जाना पड़ा। भरतपुर, धार्मिक कार्यवश, दो माह रुकना पड़ा। इस बीच वहाँ की चिर संचित साहित्यिक-सामग्री जो सर्वत्र विशृंखलित, बिखरी पड़ी थी, एवं आचार्य सोमनाथ का निजी ग्रंथ-संग्रह भी देखने को मिला, उनकी स्व-हस्तलिखित प्रतियाँ भी दृष्टिगत हुईं। और उनके संबंध में फैली हुई किंवदन्तियाँ भी सुनी। जो कुछ भी हो यहाँ जो कुछ मुझे अनुभव हुआ उसी को व्यवस्थित कर पाठकों के समक्ष रख रहा हूँ।

जैसा कि भरतपुर जब से बसा तभी से वहाँ के शासक औदार्य-भावपूर्वक कवि और विद्वानों का समुचित आदर करते आये हैं। आचार्य सोमनाथ ऐसे ही कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। हिन्दी जगत में इनकी प्रतिष्ठापूर्ण कीर्ति है। आचार्य का आसन इन्हें प्राप्त है। इनकी साहित्यिक कृतियों पर हिन्दी भाषा और साहित्य के समर्थ समालोचकों ने सामान्य प्रकाश डाला है, पर वैयक्तिक जीवन पर अंधकार का आवरण यथावत पड़ा हुआ है। जो यत्किञ्चित लिखा भी गया है, वह सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है।

व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व उनकी कृतियों से परखा जा सकता है। वही उनके विचारों का प्रतीक है। परन्तु व्यक्तित्व के क्रमिक विकास का प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं। उनके साधना—स्थान, तत्संबँधिनी किंवदंतियाँ, उनका साहित्य-संग्रह और स्व-हस्तलिखित साहित्यिक ग्रंथों द्वारा यह प्रश्न सरलता से हल किया जा सकता है। कवि के आश्रय-दाता का अध्ययन और उनकी परिष्कृत रुचि का चिन्तन भी इस में सहायक हो सकता है।

आचार्य सोमनाथ ने अपने वैयक्तिक जीवन के विषय में बहुत ही कम लिखा है। अन्यान्य तात्कालिक ऐतिहासिक साधन भी ऐसे उपलब्ध नहीं, जिनसे कुछ प्रकाश मिल सके। इन पंक्तियों के लिखते समय मेरे सम्मुख केवल 'संग्रामदर्पण', 'रसपियूष-

सुधानिधि', 'रामचरित्र रत्नाकर' और 'ध्रुवचरित्र' की हस्तलिखित प्रतियाँ ही विद्यमान हैं। इनमें से केवल 'संग्रामदर्पण' और 'रामचरित्र रत्नाकर' की अंतिम प्रशस्तियों में अपने पूर्वजों का परिचय देते हुए केवल इतना ही सूचित किया गया है कि प्रपितामह माथुर कुलावतंश चतुर्वेदी नरोत्तम मिश्र जयपुराधीश रामसिंह के मंत्रगुरु थे। पिता नीलकंठ ज्योतिष-विद्या और कविता में प्रवीण थे। उदैचंद और शकुनी माधोराम कवि के अभिन्न मित्र और पारिवारिक थे। यों तो और भी परिवार के सदस्यों का नामोल्लेख किया है, पर उनकी यहाँ विवक्षा नहीं है। शकुनशास्त्रविद् माधोराम सचमुच अपने विषय के आचार्य थे। उन्होंने 'वसंतराज शाकुनम्' का समश्लोकी अनुवाद किया था, जिसकी उन्हीं के हाथ की लिखी एक प्रति भरतपुर राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। उदैचंद की भी हस्तलिखित प्रति आचार्य सोमनाथ के वंशज श्री केशवदेव के संग्रह में विद्यमान है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] से लगाकर श्री मोतीलालजी मेणारिया[2] तक के सभी हिन्दी-राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहासकारों ने आचार्य सोमनाथ का कविता काल वि० सं० १७९५—१८१० तक स्थिर किया है। यह मत भ्रामक है। इसका स्पष्टीकरण में 'अजंता' के जनवरी १९५५ के अंक में कर चुका हूं। अतः यहाँ पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कवि की प्रथम रचना 'संग्रामदर्पण' है जिसका रचना-काल वि० सं० १७८६ है। वि० सं० १८०९ या १८१० भी कविता का अंतिम काल नहीं है: कारण कि कवि की अन्तिम रचना 'ध्रुवचरित्र' मानी जाती है और वह वि० सं० १८१२ में पूर्ण हुई है, जैसा कवि स्वयं अन्त में इस प्रकार उल्लेख करता है——

माथुर कवि शशिनाथ ने ध्रुवचरित्र यह कीन
जाके गुन वर्नन सुने रीझें हीय प्रवीन ५६
संवत् ठाहरसे बरष बारह जेठ सु मास
कृष्ण त्रयोदशि वार भृगु भयऊ ग्रंथ परकास ५७

अतः इनका कविता काल वि० सं० १७८६ से १८१२ तक का मानना न्याय संगत होगा।

आचार्य सोमनाथ मिश्र 'छिरौरा' उपनाम के चतुर्वेदी थे। छिरौरा ग्राम मथुरा से पांच मील पर अवस्थित है। यहाँ से निकासी होने के कारण ही ये लोग छिरौरा कहलाये। भरतपुर निवासी श्री रावत चतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी से अवगत हुआ कि इन के पूर्वज इतःपूर्व चित्तौर के दुर्गपाल थे। उसके मुगलों के अधिकार में चले जाने पर वे मथुरा आकर बस गये। तभी से मथुरा में चित्तौरिया नाम से प्रसिद्ध हुए। आज जब कभी ल्हाण बँटती है तो इस मुहल्ला का नाम सब से पहले लिया जाता है।

इनके प्रारंभिक जीवन और मरण काल पर प्रकाश डालने वाले प्रमाण प्रयत्न

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ३१४।
२. राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० १९२।

करने पर भी उपलब्ध न हो सके। इन्होंने संवत १८०८ क्वार सुदी १३ के दिन मथुरा में स्वतंत्र मकान और भूमि क्रय की थी। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इन्होंने अंतिम समय मथुरा में ही बिताया होगा। यह क्रय-पत्र आज भी आचार्य श्री के वंशजों के अधिकार में है।

सोमनाथ सचमुच अपने समय के माने हुए कवि और विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध कवि श्री सूदनजी ने अपने 'सुजान चरित्र' में इनका बड़े ही आदर के साथ स्मरण किया है। 'रसपीयूषनिधि' ने कवि को अमर कर दिया। यह इनकी उत्कृष्ट रचना मानी जाती है, परन्तु, आज के युग में इसका प्रामाणिक संस्करण तक नहीं निकल सका है। यह कृति प्रकाशित है। ये महाराजा बदनसिंह के राज-कवि थे। साथ ही राज्य के उच्चतम सरदार और दानाध्यक्ष भी थे। इनकी प्रकाण्ड प्रतिभा देख कर ही बदनसिंह ने इनको अपने पुत्र सूरजमल का शिक्षक नियुक्त किया था। सूरजमल के लिए ही 'सुजान-विलास' नाम से सिंहासनबत्तीसी का अनुवाद आपने किया, जो इतना रसपूर्ण और आकर्षक है कि आगे चलकर बलदेवसिंह ने इसका उर्दू अनुवाद करवाया। जब प्रतापसिंहको—जो सूरजमल के लघु बांधव थे—वैर मिला तब वे उन के साथ वैर चले आये और निराकुल भावेन साहित्यिक साधना में समय व्यतीत करने लगे। यहीं पर आपने न केवल 'रसपीयूषनिधि' की ही रचना की अपितु 'राम चरित्र रत्नाकर' जैसे विशालकाय ग्रंथ का भी प्रणयन किया। इसमें संदेह नहीं कि प्रतापसिंह साहित्यिक रुचि के जीव थे। इन पंक्तियों का लेखक 'सोमनाथ की साधना-भूमि और उनका जर्जरित अध्ययन कक्ष व वहाँ का उनका खण्डित पुस्तकालय देख चुका है और उस पर से अनुमान करता है कि प्रतापसिंह ने स्वरुचि पोषणार्थ हिन्दी और संस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट ग्रंथों की हजारों प्रतिकृतियाँ करवा कर भारतीय साहित्य की सुरक्षा में योग दिया। सोमनाथ के अतिरिक्त भी श्रीकृष्ण भट्ट जैसे प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति को प्रश्रय देकर अपने सांस्कृतिक मस्तिष्क का सुपरिचय दिया है: सूरजमल की जालिम नीति के कारण प्रतापसिंह अधिक समय तक जीवित न रह सके। 'सुजान-संवत' में तो स्पष्टोल्लेख है कि प्रतापसिंह को सूरजमल ने स्वर्ग प्रेषित किया। जैसे—

है सचेत सूरज कुँमर, को जानें किहि भाइ।
सिंह प्रताप कुमार को, दीयौ स्वर्ग पठाइ॥

कवि की स्व-हस्तलिखित प्रतियाँ

कविवर उच्च कोटि के साहित्यिक होने के साथ-साथ सुलेखक भी थे और बाल्यकाल से ही आपमें यह रुचि थी। कविवर जब भरतपुर में रहे तब उनका अपना भी एक मकान बन गया था। यह आज भी विद्यमान है। इन पंक्तियों का लेखक इसे देख आया है। यहाँ पर पता लगाने पर उनका हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रह भी—जो शेष रह गया है—देखने को मिला। इस संग्रह द्वारा कुछ ऐसा ज्ञातव्य भी मिला जो इनके जीवन के एक पक्ष पर प्रकाश डालता है। कवि निश्चय ही वैष्णव थे, पर, शक्ति के प्रति उनका विशेष आकर्षण परम्परा से था। मुझे सोमनाथ के पूर्वजों के हाथ का लिखा तांत्रिक साहित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हुआ और उनका खुद का लिखा साहित्य भी पर्याप्त

मात्रा में दृष्टिगोचर हुआ। इससे इनकी वयक्तिक साधना-पद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस संग्रह से यह भी पता चला कि उनका परिवार ज्योतिष का विशिष्ट घराना था। भारतीय ज्योतिष की समस्त शाखाओं का मौलिक साहित्य यहाँ विद्यमान है। जान पड़ता है, पहले ये भी ज्योतिषी के रूप में प्रसिद्ध रहे। तदनन्तर आवश्यक साधन मिलने पर और निराकुल परिस्थिति से साहित्य के प्रति झुकाव हो गया। कवि की प्रथम रचना भी इसी विषय की है जिसका उल्लेख कवि स्वयं 'राम-चरित्र रत्नाकर' में इस प्रकार करता है --

कवित्त

काम अवतार से अनूप अति रूप कर सील करि सुन्दर सरद सुधाधर से।
कविता में ब्यास के समान कहि सोमनाथ जुद्धरीति जांनिबेंकों परथर से......।

'जुद्ध रीति' शब्द ही 'संग्रामदर्पण' की ओर संकेत करता है। यद्यपि कवि ने इस के निर्माण में 'नरपति जयचर्या' और 'समरसार' का ही उल्लेख किया है, परन्तु उनके संग्रह के अवलोकन से यह विदित होता है कि उनके समक्ष इस विषय के मौलिक ग्रंथ पर्याप्त थे जैसे--'मुकुन्दविजय', 'युद्धजयोत्सव', 'युद्धजयार्णव तंत्र' और 'युद्धविद्या प्रकाश' आदि आदि। ये सब ग्रंथ कवि के पारिवारिक और मित्र उदैचंद ने अपने हाथ से कवि के लिए ही लिखे थे।

हिन्दी संसार में कवि के 'सोमनाथ', 'शशिनाथ' और 'नाथ' ये तीन ही नाम प्रसिद्ध हैं परन्तु कवि का बाल्यकालिक नाम तो केवल 'सो मे श्व र' ही था जैसा कि इन प्रशस्तियों से विदित होता है—

१. **ज्योतिष शास्त्र शतक--पत्र ११**

लिपतं मथुरा मध्ये मिश्र निलकंठस्यात्मज मिश्र सोमेश्वर। संवत् १७७६ शाके १६४४ वर्षे माघ शुक्ले ११ चन्द्रवासरे। शुभं भवतु।

प्रति की प्रथम पंक्ति पर--

"पुस्तक मिश्र सोमेश्वर की है।"

२. **मंत्रराज साधन प्रकार--पत्र ८**

शाके १६४७ भाद्रपद सुदि १० चंद्रवासरे लिखितं मिश्र नीलकंठस्यात्मज मिश्र सोमेश्वर स्व पठनार्थं। शुभं भवतु।

३. **ललितापूजन पद्धति--पत्र ३४**

लिखितं मिश्र सोमेश्वर स्व पठनार्थं। संवत १७८२ वर्षे श्रावण वदि ८ गुरौ।

४. **युगलकिसोर सहस्रनाम, स्व कृत, पत्र ६२**

लिखितं सोमेश्वर

५. **केशवीय जातक पद्धति--पत्र ६५**

लिखितं श्री मिश्र छिरौरा नीलकंठस्यात्मज मिश्र सोमेश्वर।

६. रमलशास्त्र—पत्र १६

संवत् १७८४ शाके १६४६ वर्षे आश्विन शुक्ल ३ गुरौ ।। लिखितं मिश्र नीलकंठस्यात्मज मिश्र सोमेश्वर स्वपठनार्थं परोपकारार्थमिति ।

७. योगिनी दशा—पत्र ६

श्री गुरुनाथजी शुभं ।। संवत् १७८३ शालिवाहनस्य १६४८ प्रवर्त्तमाने आसाढ़ मासि शुक्लपक्षे प्रतिपदायां रविवासरे लिखित सोमेश्वरस्य पठनार्थं ।

८. अष्टोत्तरी विंशोत्तरी दशा—पत्र ६

सोमेश्वर । संवत् १७८४ मा० कृ० ६ शुभं ।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त कवि की स्वकृत रचना 'शृंगारविलास' और 'प्रेमपच्चीसी' का उल्लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६ अंक १ पृष्ठ ५५—५६ में किया गया है। आचार्यश्री की साधना-भूमि वैर के राजाधिराज और नगर के गण्यमान नागरिकों के संग्रह में सोमनाथ के हाथ के लिखे दर्जनों ग्रंथ पाये जाते हैं। जब मैं वैर गया था तब एक कबाड़ी के पास से कतिपय ग्रंथ खरीदलाने का अवसर मिला था। उस संग्रह में कवि की स्वहस्तलिखित रामायण और नायिकाभेद पर फुटकर पद्य और गद्य के पत्र मिले थे। भरतपुर के वयोवृद्ध साहित्यिक और ऐतिहासिक परम्परा के प्रतीक श्री मदनलालजी शर्मा के संग्रह में तो सोमनाथ की मूल्यवान् सामग्री विद्यमान है। ये लिपियाँ लेखन-कला और भाषा-विज्ञान के अध्ययन के तथ्य उपस्थित करती हैं। कवि की काट-कूटका नमूना तात्कालिक कविता-लेखन-पद्धति पर भी प्रकाश डालता है। प्राचीन पाठ भेदों की दृष्टि से भी इन प्रतियों का महत्त्व कम नहीं हैं। मेरा अनुमान है कि भरतपुर, वैर और निकटवर्ती ग्रामों में जो प्राचीन साहित्यिक संग्रह पाये जाते हैं उनकी गवेषणा करने पर सोमनाथ की और भी कई प्रतियाँ मिल सकती हैं। परन्तु, जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस दृष्टि से काम हुआ ही नहीं है।

सोमनाथ की उपलब्ध स्वहस्तलिखित प्रतियों में सबसे प्राचीन सं० १७७६ की है। इस से पता चलता है कि कवि ने सर्व प्रथम ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन किया था। तंत्र-परम्परा में भी उनकी आस्था थी। उनके जन्म-काल पर ये पुस्तिकाएँ सामान्य प्रकाश डालती हैं। यदि २० वर्ष की वय में उन्होने प्रथम प्रति का आलेखन किया हो तो उनका जन्म काल वि० सं० १७५६ हो सकता है। क्यों कि उस समय इनकी अवस्था बड़ी होती तो वह 'नीलकंठ' को 'निलकंठ' न लिखते। मिश्रबंधुओं ने इनकी पांडित्य-पूर्ण कृति 'रसपीयूषनिधि' को देख कर कल्पना की है कि यह कृति कवि ने ५० वर्ष की उम्र में लिखी होगी। इस अवस्था में उस कृति को रचना मान लेने पर इनका जन्म काल १७४४ ठहरता है और प्रथम प्रति के समय कवि की आयु ३५ वर्ष ठहरती है। परन्तु ३५ वर्ष का लेखक इतना परिपक्व हो जाता है कि कम से कम ह्रस्व-दीर्घ का ज्ञान तो रखता ही है। अतः मेरे विनम्र मतानुसार, जब तक समुचित प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक सोमनाथ का जन्म काल वि० सं० १७५६ माना जाय तो क्या आपत्ति है !

सोमनाथ हिन्दी जगत के अद्वितीय साधक थे। दशांग कविता पर उनका अधिकार था। उनका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक और भव्य था। इनके कतिपय वस्त्रों में एक जाँघिया भरतपुर में उनके निजो गृह में पाया गया था। वह इतना चौड़ा था कि मानों किसी पहलवान का ही हो। पर परिवार वालों की असावधानी से वह सुरक्षित न रह सका क्योंकि उससे एक स्वतंत्र वस्त्र बना लिया गया।

अन्वेषण द्वारा अद्यावधि कवि की इन कृतियों का पता चला है —"संग्राम-दर्पण" "रसपीयूष निधि" "सुजान विलास" "माधव विनोद" "कृष्णलीलावती" "पंचाध्यायी" "दशमस्कंध भाषा" "ध्रुव विनोद" "शशिनाथ विनोद" "राम कलाधर" "अध्यात्म रामायण" "अयोध्या काण्ड" "सुन्दर काण्ड" "किष्किन्धा काण्ड" "युद्ध काण्ड" "अरण्य काण्ड" "रस विलास" "राम चरित्र रत्नाकर" "प्रेम पच्चीसी" "शृंगार विलास" और स्फुट कविता। वैर के वर्त्तमान राजा साहब और वहाँ के ग्रामवृद्धों से पता चला कि आचार्य श्री ने अश्वचिकित्सा पर भी विस्तृत ग्रंथ लिखा था, पर आज वह अनुपलब्ध है—यहाँ पर प्रसंगवश यह सूचित करना आवश्यक जान पड़ता है कि कवि का अधिक समय तक और अधिकांश साहित्य की साधना वैर में रह कर ही हो सकी। वि० सं० १७९६ में प्रतापसिंह ने वैर का दुर्ग बनवाना प्रारंभ कर दिया था। कविराज दुर्ग में ही राजा के निकट रहते थे। इन पंक्तिओं का लेखक उनके निवास-स्थान के खंडहर देख आया है। प्रतापसिंह रामायण का इतना प्रेमी जान पड़ता है कि उसने उस समय दो कवियों को इस विषय पर लिखने की प्रेरणा दी थी। श्री कृष्ण नाम के कवि ने भी प्रतापसिंह के लिए एक रामायण, 'रामचंद्रोदय' नाम से लिखी है; इसपर सोमनाथ भी मुग्ध थे। कवि श्रीकृष्ण के वे निकट परिचय में आ चुके थे और उनके द्वारा रचित ग्रंथों की प्रतिलिपि भी अपने लिए उन्होंने करवायी थी जिन में से दो तो लेखक के संग्रह में सुरक्षित हैं। उनकी लेखन प्रशस्ति इस प्रकार है—

१ रामचंद्रोदय: बाल-काण्ड, कृष्ण कवि रचित

इति श्रीरामचंद्रोदये बालकाण्डे कवि श्रीकृष्ण कृतो दशरथ प्रमोदोनाम अष्टचत्वारिंशतितमो सर्गः ।४८।

संवत् १८०२ वर्ष माह मासे कृष्णपक्षे द्वितिया रवौ वैर मध्ये लिषितौऽयं ग्रंथः ।। पठनार्थं मिश्र सोमनाथजी । लिषितं पांडे लालचंद ।। श्री रस्तु ।।

२ दुर्गाभक्तितरंगिणी कृष्ण कवि रचित

इति श्रीदेवीमहात्म्यभाषायां कवि श्रीकृष्णभट्ट बिरचितायां दुर्गाभक्तितरंगिणां त्रयोदशमस्तरंगः ।

दोहा

नभ(०) निधि(९) मुनि(७) बिधु(१) मित बरष चैत मास सित पाप
हरि दिन कवि श्रीकृष्ण यह रची घनें अभिलाष

वैरगढ मध्ये मिश्रजी श्री सोमनाथी पठनार्थं, लिपितं पांडे लालचंद ।। संवत् १८०३ फागुन बदि ५ गुरौ । शुभमस्तु ।।

आचार्य श्री के ग्रंथों के उर्दू अनुवाद

मुगल शासक अकबर ने सांस्कृतिक रुचि से प्रेरित होकर अरबी, फारसी और संस्कृत साहित्य के विशिष्ट ग्रन्थों का पारस्परिक अनुवाद-विषयक पुनीत कार्य प्रारंभ किया था और वह महाराजा सवाई जयसिंह तक समान रूप से चलता रहा। इस सांस्कृतिक कार्य की परम्परा का समुचित पालन भरतपुर के जाटों ने भी यथा-शक्ति किया, ऐसा जान पड़ता है। विशेष कर बलवंतसिंह ने इस कार्य को और भी आगे बढ़ाया। इनके समय में बड़े-बड़े फारसी और अरबी ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार करवायीं गयीं और इतिहास की दृष्टि से जो महत्वपूर्ण साहित्य प्रतीत हुआ उन के अनुवाद की भी समुचित व्यवस्था की गयी। हिन्दी के ग्रंथों का उर्दू अनुवाद हुआ और उर्दू के ग्रंथों का हिन्दी में। भरतपुर के राजकीय पुस्तकालय में ऐसा साहित्य अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से पड़ा-पड़ा दिनानुदिन दीमकों के उदर में समाता जा रहा है। बलवंतसिंह नरेश ने आचार्य श्री के 'माधव विलास' और 'सुजान विलास' का उर्दू भाषा में अनुवाद करवाया था। हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में यह घटना विशेष महत्व रखती है। यद्यपि 'सिंहासन-बत्तीसी,' के अनुवादक ने सोमनाथ के नाम का उल्लेख नहीं किया है परन्तु जब 'माधव विलास' में उनके नामका उल्लेख है तो यह सहज में ही समझा जा सकता है कि 'सुजान विलास' के आधार पर ही अनुवाद किया गया होगा, जो सोमनाथ की कृति है। सूरजमल के लिए ही इसकी रचना हुई थी।

माधव विलास,

आदि भाग—

हम्द उस्की करूँ मैं अव्वल याद, हुस्न और इश्क जिस से हैं आवाद।
नाज साकी व नशे मुलका है, इश्क बुलबुल का हुस्न गुल का है,
गुल्ज अन्जार रहमत शरंगीं, सज्वै अज लुत्फ औ लताफत चीं।
शौक़ लैली वतवन अज्मूंदाद, जौक शीरींश दादे वा फरहाद

मध्य भाग :—

अव्वल राजे भावसिंह पिशरसां बनाम महाराज बदनसिंह कि साथ हशमत और शौकत के कार रियासत का करते थे बाद अजां फरजिंदौं उन्के से कलांतर महाराज सूरजमल कि साथ दुश्मन सौजी और दौस्तसाजी के मस्नद आराय मुल्कदारी के हुए विरादर शिकमी उन्के बनाम परतापसिंह कि अलहदे साथ अक्ल और दानाइतमाम के मशगूल मुल्कदारी के रहे पिसर राजे परतापसिंह बनाम बहादुरसिंह कि बावजूद शगल कार रियासत के इश्तिग़ाल हरइल्म वाहुनर का रखते थे, एक रोज सोमनाथ नामी शाइर हिंदी जवाँ से कि साथ जवां आबाद फरोशी के मारूफ था, कहा कि "माधो बनोद" नाम नाटक किसब वहज्जदिल दानिशमंद का है, लफ्ज़ै संस्कृत से जवान भाषा में तर्जमैं करे, उसने बमूजब फरमाइश उनके तर्जम उस अब्दाल का कि बियान इश्क माधौ और मालती का है जवान संस्कृत से भाषा में कीया

वह अहवाल अज वमूजब हुक्म महाराज ब्रजेन्द्र सवाई बलवंतसिंह वहादुर वहादुर-जंग के जवान भाषा से बीच लफ्ज़ उर्दू के वनाया जाता है। मैं गौरधन नामी कौम सूरध्वज ब्राह्मण कस्तरीन मुलाजमों महाराज ब्रजेन्द्र कैसे हूँ अगरच लियाकत वजा आवरी इस अमरपुरष तरकी वही रखता था वलाकिन वमुजब फरमायिश आकाय नामदार के कार साथ हिम्मत के दुरस्त करके वक़द्रमक़दूर मज्मूवंदी इस अब्दालकी कि अक्सरजा बीच गुजारिश शाइर हिंदी जवां के रत्वइवारत कमदर्याफ्त होता है। साथ जद्दुजहद तमाम के और साथ इस्म मुवारक रौजै वहिश्त में मकामके कि—तारीष सम्मत विक्रमाजीत की ऐ दादज्व रूफ उस्के से मुतावक है। मौसूम किया। उमेद दाना यान इम फन्न कैसे कि नजर इस्लाहदरेंगन से। अग़ागज दास्तान ।।

शाइर हिंदी जवां इस्क़दर जाहिर करता है कि वीच मज्लिस राजै वहादुरसिंह ममदुह के सरगिरोह लावत वाजोकेनें नुमाइश हुनर अप्नेंकी मुतावक भाजराय माधौविनोद नाटक के तज्वीज़ दे के असहाव महफिल राजैममदूह कैसे कहा कि जो साथ हुलिये दानिश के आरास्तगी कमाल रखते हो, हमें तन गोश हार्कैकै इस्तिमाअ दास्तान इश्क माधौ और मालती का करें और चश्म इनि।

इतना प्राथमिक भूमिका के पश्चात् नाटक खेलने की सामग्री का विस्तृत वर्णन है। इसके निर्माण में प्रतापसिंह के पुत्र वहादुरसिंह की भी प्रेरणा रही जान पड़ती है। इसकी भाषा यद्यपि उर्दू है पर वह संस्कृत के निकट है, कारण कि अनुवादक ने नाटक के पारिभाषिक शब्द ज्यों के त्यों रख कर संस्कृत की रक्षा की है। साहित्यिक दृष्टि से इसका महत्व है। इस से यह भी पता चलता है कि उन दिनों इतने लंबे नाटक खेले भी जाते थे।

सिंघासन बत्तीसी

सिंहासन वत्तीसी भारत में सर्वप्रसिद्ध कथा है। राजा सूरजमल जाट के लिए सोमनाथ ने इसे 'सुजान विलास' नाम से लिखा था। जहाँ तक मेरा अनुमान है इसी कृति के आधार पर इस का अनुवाद किया गया है। इन पंक्तियों के लिखते समय कवि की मूल कृति मेरे सम्मुख नहीं है। इस अनुवाद का अधिकांश कविता में ही है। अतः अनुमान की पूरी गुंजाइश है।

आदि भाग—

श्रीगणेशाय नमः ।। पोथी सिंघासन वत्तीसी उर्दू में।
रकम करपा मे अव्वल।
हम दवेचूं।
लिखा चाहै गर कछ ताजै मकां।
वह पालक सान ये कौनों मकां है।
उसी से बाग़ जन्नत का निशां है।

> सब्ब दास्तान का।
> जो अक्सर औकात गुंचा दिलकाव सबब चलने बाद मुखालफजमाने के वस्तमी तमाम रखता था और नैरंग साज़ी—फितरत ने बीच पतेदिलकुशा भरतपुर के बीच अहद महाराजाधिराज ब्रजइन्द्र सवाई बलबन्तसिंह बहादुर बहादर जंग के तरजमा किया और कसीदा मदह का माफक होसिले अपने के वास्ते नजर को लिखता हूँ कि बीच सिले उमके यह अफसाना नादर कि मुस्सम्माव बाग बहार है नजर फैज असर से गुजर के मौरदत हंसी का होवें।

अन्त भाग—

> तमाम हुई किताव सिंहासनबत्तीसी बमूजब फरमाय्शि महाराजै ब्रजेन्द्र सवाई बलवन्तसिंह बहादुर के लिखो गोरधन सूरध्वज ने मिती मार्गशीरव।५ ८ मंगलवार सं० १८६७।। शुभमस्तु। श्रीरस्तु,

उपर्युक्त कृतियों के अनुवादकों ने काल सूचक कोई संवत नहीं दिया परन्तु राजा बलवंत सिंह का समय वि० सं० १८२५ से १८५३ है। अतः इसी बीच का काल इनका माना जाना चाहिए।

प्रतापसिंह:

महाराजा प्रतापसिंह बदनसिंह के द्वितीय पुत्र थे। सूरजमल से ये छोटे थे। सूरजमल तो चतुर धूर्त और परम-स्वार्थी थे पर प्रतापसिंह स्वभाव से ही सरल और विनम्र थे। सूरजमल के राज्याभिषेक के समय सवाई जयसिंह जब भरतपुर गये तब वे उन्हे अपने साथ जयपुर लिवा लाये थे। ये वीर प्रकृति के राजवी थे। जयसिंह के साथ दक्षिण में इसने अपनी भुजाओं का सफल परिचय दिया था, जिसका, उल्लेख सूदन जी ने भी गौरव के साथ किया है। प्रतापसिंह ने वैर में एक स्वतंत्र दुर्ग का निर्माण करवाया था। कवि से इनका इतना आत्मीय संबंध था कि जब वैर में रहना इसने स्वीकार किया, तब, बदनसिंह से कवि माँग लिया गया था। कहा यह जाता है कि ये भरी सभा में कवि से लिपट गये थे। भले ही यह किंवदन्ती ही हो, परन्तु, इतना सत्य है कि दोनों का संबंध एक प्राण दो शरीर जैसा था। कवि का स्थान भी दुर्ग में ही था। इनके समय में वैर का सांस्कृतिक वातावरण बड़ा ही सुन्दर और प्रेरणास्पद था। मैं अपने अनुभवों के आधार पर कह रहा हूँ कि उस समय वहाँ पर हिन्दी के उच्चकोटी के कवि समादृत होते थे और भारतीय साहित्य की सभी शाखाओं से संबद्ध ग्रंथ भी लिखवाये जाते थे। फौजदार ब्रजवल्लभ जी की लिखवाई हुई ५०० से अधिक प्रतियाँ तो मैंने देखी हैं। इन में अधिकतर ग्रंथ अज्ञात और विशिष्ट श्रेणी के हैं।

प्रतापसिंह पर जयसिंह का अपार अनुराग था। इनके पूरे विवरण और ऐतिहासिक परिचय से विज्ञ प्रायः अपरिचित ही हैं। बल्कि कहना यह चाहिए कि सूरजमल के प्रचण्ड प्रताप के सम्मुख इनका स्वाभाविक व्यक्तित्व फीका पड़ गया, परन्तु, साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो इनका स्थान सापेक्षतः अधिक पुष्ट और गौरवा-

स्पद है। इनका उत्कर्ष सूरजमल से न देखा गया और एक दिन उनको अपने ज्येष्ठ बंधु द्वारा प्रेषित हलाहल का पान कर इहलीला संवरित करनी पड़ी। सभी इतिहासकारों ने इस ऐतिहासिक सत्य पर परदा डालने की चेष्टा की, परन्तु, तात्कालिक कवि श्री उदय ने अपने 'सुजान संवत्'' में इस विस्मृत तथ्य को दृढ़ प्रमाण के साथ उल्लिखित किया है। प्रतापसिंह और सूरजमल के जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का अंकन इस अद्यावधि अज्ञात ग्रंथ में विद्यमान है। मैं इसका संपादन राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण-मंदिर की ओर से कर रहा हूँ।

आचार्य सोमनाथ के समान और भी जो कवि हुए हैं, उन पर इस दृष्टि से काम किया जाय तो बहुत सी वास्तविक घटनाएँ प्रकाश में आ सकती हैं। इस उपेक्षित दिशा पर यदि विज्ञों ने ध्यान न दिया तो अवशिष्ट सामग्री से भी हमें वंचित रहना पड़ेगा।

जेहली जवाहिर

यह एक छोटा सा खंडकाव्य है। इसकी कथा हास्यरस-युक्त है। इसकी एक प्रति श्री मायाशंकर याज्ञिक को मिली थी, जो इस समय काशी के आर्यभाषा पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। पोथी नागरी अक्षरों में देशी कागज पर लिखी हुई है। इसमें १३ पत्रे हैं। प्रति पृष्ठ में १८ पंक्तियाँ हैं। लम्बाई ८¼ इंच और ६ इंच है। ग्रंथ ब्रजभाषा में हैं। इसके रचयिता कवि प्राणनाथ सोती थे। ग्रन्थ की प्रतिलिपि मिश्र नीलकंठ के पुत्र, श्री सोमनाथ मिश्र ने, सं० १७९० में, आषाढ़ शुक्ल १, रविवार के दिन समाप्त की थी, जैसा कि पुस्तिका से ज्ञात होता है।

यह काव्य सं० १७९० अर्थात् सन् १७३३ से कुछ समय पहले लिखा गया होना चाहिए। सम्भव है, इसकी रचना मुहम्मदशाह रँगीले के राज्यकाल के आरम्भ में हुई हो, जबकि नशे का रिवाज बहुत बढ़ गया था।

इस पुस्तक में जेहली (मूर्ख और आलसी) और सोफी (छैल और सुकुमार) तथा अमली (अफीमची) और नामर्द लोगों की लड़ाई का वर्णन किया गया है। जेहली, सोफी एक ओर थे और अमली, नामर्द दूसरी ओर। अमली मीठा पसंद करते थे। उन्होंने मिठाइयों का गढ़ बनाकर लड़ाई की। उनकी और नामर्दों की जीत हुई और जेहली एवं सोफी लड़ाई में काम आए।

रचना हास्यरस प्रधान है। काव्य की दृष्टि से साधारण कोटि की है। फिर भी जेबा (सन्नाह या कवच), मतवारे (— गढ़ के ऊपर से गिराए जाने वाले भारी गोले जो नीचे गिरकर फटते थे) आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भाषा में हुआ है। ये शब्द जायसीकृत पद्मावत में भी प्रयुक्त हुए हैं।

इस पुस्तक को यहाँ प्रकाशित करने के लिये मैं नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का अनुगृहीत हूँ।

प्रतिलिपिकर्ता की भाषा जैसी मिली है मैंने वैसी ही रहने दी है। एक ही प्रति पर आश्रित होने के कारण पुस्तक में कोई फेरफार या संपादन करना मैंने उचित नहीं समझा। किन्तु आशा है पाठक विशेष कठिनाई के बिना इसे समझ लेंगे। यदि ब्रज क्षेत्र के किसी साहित्य सेवी सज्जन के पास इसकी दूसरी प्रति हो तो वे कृपया सूचित कर मुझे अनुगृहीत करें जिससे पुस्तक की भाषा का सुधार और त्रुटित अंशों की पूर्ति हो सके।

वासुदेवशरण, अग्रवाल

।। श्री गणेशाय नमः ।।

।। अथ जेहली जवाहिर लिष्यते ।।

दोहा-- बानी बानी दीजिये बानी कहौं बनाइ ।
रानी तीन्यों लोक की माँनी मानों पाइ ।।१।।
जेहलिपुर में जेहली बसें सबै सुष पाइ ।
कातरपुर ता पास पुनि बस्यौ नयौ ही आइ ।।२।।

चौपाई--

नित उठि झगरौ लाग्यौ हौन । इँहि ठाँ आइ बसे तुम कौन ।
कातर किस बुरु जानि अनंत । देव कृपा तें एकै तंत ।।३।।
जो बकिहौ तौ इँहि ठाँ बसियै । नाही तौ इँहि कालहि नसियैं ।
मतौ करन कों कियौ विचार । तामे लगी तनिक सी बार ।।४।।
बरस छ सातक ह्वै कै गए । तब सब मिलि इक ठौरे भए ।।
नयौ गाँउ कातरपुर नाँउ । आनि बस्यौ है याही ठाँउ ।।५।।
बसन दीजियै कै अब नाँहि । मतौ विचारौ आपुन माँहि ।।
मतौ विचारन लागे सबै । देषें धौं अब कैसी फबै ।।६।।
कही कातरनु क्यों ह्याँ बसें । पंच सयाने हम कों हसें ।।
एक कहे ए करिहै कहा । तुम कत सोचु करत हौ महा ।।७।।
राते माँझ साँझ ह्वै आई । सभा उठी सेनाँ भहराई ।।
और दिनाँ पर ठहर्यौ बास । कातर मन में भए उदास ।।८।।
एक दिना ए नीके नाँहि । कछु विचारु कीजे मन माँहि ।।९।।

दोहा-- बास हमारौ तौ बनें नदी कल तरु होइ ।
मोह दाँत के माँस कों ले आयो कहि कोइ ।।१०।।

चौपाई--

बारह बरस आजु हूँ भए । छानी छप्पर नाँ हाँ छए ।।
औरें ठोर बसो तो नीकें । तौ सचु पावें सब ही जीकें ।।११।।
भाजें तौ ए घेरि पछारें । बिदा हौन कों मतौ बिचारें ।।
उलटि जाहि जौ उनके धाम । सोवत सबै राम हो राम ।।१२।।
सबै जगावन लागे जाइ । नींद सु कैसे हूँ न नसाइ ।।
तबै बिचारी मन में ऐसी । यह धों आनि बनी अब कैसी ।।१३।।
सब मिलि एकु जगाओ राउ । विदा होउ पुनि सब बहु राउ ।।
मिल पंचनु तब एकु जगायौ । जागत सों सौ एकु लगायौ ।।१४।।
जगे सही पै षोलो आँषि । नातरु सबनु मारिहों नाँषि ।।
उर पर कर इक आइ रह्यौ ज्यों । टारौ टारौ बेगि कह्यौ यों ।।१५।।
दूजो कर अरसेटें पर्यौ । सूधौ करौ जाइ जौ कर्यौ ।।
धर पर सिर न दिषाई देतु । कहा भयौ कोंन यह हेतु ।।१६।।

बेगि बनाइ देहु सब अंगु । इनकौं मारि करोंगो भंगु ।।
इती सुनत कातर उठि भाग्यौ । उषटयौ पाउ दरबि पै लाग्यौ ।।१७।।
जौ देषै तौ मालु अपार । हरुवे आनि कही उहि बार ।।
गथु अनंत किनि देषौ आइ । कहा पलाटौ याके पाइ ।।१८।।
देष धनु अरु कूटे छाती । प्रभु दरबि लहें किहि भाँति ।।
तब सब माँझ एकु उठि बोल्यौ । लष मालु मनु अपनो डोल्यौ ।।१९।।
ए जेहली कहा जौ जागे । सदा आरसी आरस लागे ।।
जागत इनके जैहें भजि कै । तब लों दाम लूटिहु रजि कै ।।२०।।
ए आरसी सुनौ गथ इनकी । हों जानों बातें तिन तिनकी ।।
एकु जेहली मूतन लाग्यौ । टारि परदनी बातनु लाग्यौ ।।२१।।
जोरु कराओ तौ यह निकसै । हा हा दई मोहि किनि बकसै ।
ए सब जित जेहली ठाढे । इन हीं कों क्यों निकरें गाढे ।।२२।।
मोहि मुताइ नाक नहि कर । क्यों करि साथ बनेगो पूर ।।
और आरसी और गाँउ । ताको आरस राइ जु नाउ ।।२३।।
भोजन करत एकु दिनु लाग्यौ । मिश्री माँपन पातु सभाग्यौ ।।
अटक्यो कौरु गरे के माँह । जुवती सों यों भाषी नाह ।।२४।।
क्यों हूँ कौर कढै तौ काढौ । नाँही दुषी होतु हों गाढ़ौ ।
दई दई बेकाजै देह । अपने प्रान क्यों न अब लेह ।।२५।।
पुनि षैबे की सोंहे षाई । ए जेहलि की बात सुनाई ।।२६।।

दोहा—जब लों जागें जेहली तब लों जेबी भाजि ।
धनु लीजे सुषु कीजियै राजन की जै गाजि ।।२७।।

चौपाई—

तब धन लूटन लागे सबै । जाकै हाथ जु लाग्यौ तबै ।
दिन कउक लों सब धन लूटयौ । नीठि नीठि कै जाइ अहूट्यौ ।।२८।।
ले सब गए आपने ठांउ । ज्यों भावे अब त्यों त्यों षाउ ।
षाँइ पियें अरु नित मिलि रोवें । ए प्रभुजू अब क्यों सुष सोवें ।।२९।।
इतने मे धन गरजन लागे । सुनिकै सबै जेहली जागे ।
देषे तौ घर में धनु नाँहि । कीनों सोचु कहाँ तें षाँइ ।।३०।।
इन नामरदन को मुहु कारौ । भच्छन कीनों मालु हमारौ ।
इन पै बेगि चढ़ाई कीजै । इनकों सजा मार की दीजै ।।३१।।
गहनौ पातौ बेचि मंगाऔ । घोरिनु कों एराक पठाऔ ।
जाइ साहि सों बिनती करी । घोरिनु एराकिन सों भरी ।।३२।।
प्यावौ दूधु बछेरा पालौ । बड़े होंहि तब ह्याँ कों हालौ ।
बिजुरी परे सुलोह मगाऔ । भली भली तरवारि गढ़ाऔ ।।३३।।
धसौ षाँनि में लोहु निकासौ । कीजै बषतर टोपा षासौ ।
भेंसा गेंडा चलिकै मारौ । कीजें ढालें नई सम्हारौ ।।३४।।

बग्रौ बाँस अरु छरु करि लेउ । दुहूँ ओर लोहे रचि देउ ।
अरजुन वारे बान मगाओ । वहै धनुष गुन वहै लगाओ ॥३५॥
जाइ फिरंगहि तोप भराओ । बेगि लाइकै मारि उड़ाओ ।
पहिले गाडा गाडी सबै । तिनकों दूरि करौ किनि अबै ॥३६॥
बीज बबूरन के बै आओ । होहिं बबूर बड़े गहि पाओ ।
तिनके गाडा गाडो करौ । तिन पर लोग अराबो धरौ ॥३७॥
सुरह गाइ के बछरा लेहु । बड़े भएँ बल कौ नहि छहु ।
नारिनि सों फिरि कीजै प्यार । तिनत सँत्तति बढ़ अपार ॥३८॥
ह्वै के ज्वान गह करवान । नामरदनु कौ कर निघान ।
वनु बइकै करि लोजै तूल । काति बुनाइ करौ पट सूल ॥३६॥
कपरा जोरि निसान बनाओ । उन वैरिनु को जाइ दिषाओ ।
तिल बइ तेलु तुन्त करि लेहु । करौ मसाल रहै ज्यों गेहु ॥४०॥
तब सिगरे मिलि गनक बुलाओ । बरस छ सातक मे सो आयो ।
वरस द्वैक म पत्रा खाल्यो । बरस एक पाछे मुष पाल्यो ॥४१॥
बीस वरस तक दिन हा नाँहि । तिन मे लरिवे कों चढ़ि जाहि ।
कही जहिलिनि हसि क बात । बगिहि गवन कह्यो सरलात ॥४२॥
बीस बरस की बात न करौ । परे पचास मुहूरत परौ ।
मेहु घामु अरु सीतु न होइ । चलिबे के दिन काढ़ौ साइ ॥४३॥
नामरदन की मजलसि रही । जासूसन जों की त्यों कही ।
सुनत बात नामरद पुकारे । बीस बिसे मारे रे मारे ॥४४॥
कहा रहे सिगरे तुम सोइ । अबकें जीवन बचै न कोइ ।
उन कीने हैं सुगम बिचार । हनें तुम्हें वे लगै न बार ॥४५॥
भाजौ रे भाजा र यारौ । बस्त भाउ पै डारौ छारौ ।
इतने में घन गाजे परे । मूँडन ऊपर ओरे परे ॥४६॥
कारे बदरन हाथी कहें । गरज गरजि यह चित में चहें ।
लषि बग पातिनि दांत बतावें । मति कहूँ गरेनि बीच लगावें ॥४७॥
चपला चाहि कहें तरवारि । ए डारंगी सबकों मारि ।
जहाँ जाहि तहँ यह छबि छई । कूकर वारी बिजुरी भई ॥४८॥
अमली बहुत बसत हैं जहाँ । गाँउ बसाओ अपनो तहाँ ।
बरनन कों सब ही चित दीजै । बढ़ै ग्रंथ थोरौ सुन लीजे ॥४६॥
ठौर ठौर तहँ कूँडा बाजें । मानों मेघ नए ए गाजें ।
पोस्त मलें पोसती एक । नाजु भषन की बाँधी टेक ॥५०॥
आफू सेर सेर इक षाहीं । कहें हमारी सम कोऊ नाहीं ।
तकर भीम इक करें कसूँभौ । तिन आगें कोऊ रहै न ऊभौ ॥५१॥
दारू एक कढ़ावें ठाढे । बलकें महा प्रेम के गाढे ।
दारू भाँग भषें इक लोई । चीना और मुरासा सोई ॥५२॥
गनें न जाहि जिते हैं फेर । ठौर ठौर भांगनु के ढेर ।
पोस्त के परबत करि घरे । सबै नाज के टौरा भरे ॥५३॥

फूलन की माला उर बनी । चंदन सौं सब देहै सनी ।
कोऊ तूती बुलबुल लीनें । कोऊ चंडु लवारस भीनें ॥५४॥
षिरकिनि वारी बाँधें पाग । तिन पर फूल धरें अनुराग ।
साठेनु को..............लिये । पटुकन की सुलगाँमें दिये ॥५५॥
तिन चढ़ि सैलन को नित जाँहि । मीठौ तजि कछु और न षाँहि ।
भाँति भाँति की मौजै करें । परमेसुर तें नाहीं डरें ॥५६॥
एक कहें सूरज गहि लेहु । गहि कै बंदीषानें देहु ।
सूझै नहीं कछू संसार । चलिके लूटें हाट बजार ॥५७॥
एकनु मिलि यह बात विचारी । पकरि चंद की कीजे थारी ।
तारे तोरि बनैयें हार । पहिरि दिषैयै सब संसार ॥५८॥
एक कहें घर लेंहि उठाइ । कहा रहें कूवा अरु वाई ।
एक कहें में अरजुन मारचो । एक कहें मैं करनु पछारचो ॥५९॥
एक कहें में रावन हन्यों । औरन कों तौ यो ही बन्यों ।
एक कह्यौ परबतहि उठाऊँ । तासों नभ को मारि गिराऊँ ॥६०॥
बादर कों दौरत इक फिरें । काहू के घेरे नहि घिरें ।
गावन बैठे अमली सँग । भाँति भाँति की उठे तरंग ॥६१॥
एक कहें पतिसाही लीजै । लै पतिसाही कौनें दीजे ।
आपुसु में कोऊ है इहि सार । मो अमलिनु कों बदि है प्यार ॥६२॥
एक कहें बैकुँठें जाँहि । एक कहें व्हाँ पोस्त नाहि ।
एक कहें कहा कियौ हमारौ । वैसी ठौरहि बिजुरी मारो ॥६३॥
मिलि अमलिनु नामरद बुलाए । कही कौंन विधि कै तुम आए ।
अपनी सबै हकीकति कही । जिहि विधि की जैसी जो भई ॥६४॥

दोहा

अमलिनु आदर करि कह्यौ सदनु तिहारौ आहि ।
न रती डरु करियै हियें धरती षैये वाहि ॥६५॥

चौपाई

जौ तुम पै जेहली चढेंगें । तिनके नीकें हाड गढेंगे ।
यारी हमें तुह्मं को हनें । यों सुनि महा सनेहै सनें ॥६६॥
बैठे सबै जेहली जहाँ । पहुची ठीक षबरि यह तहाँ ।
तबै जेहलिनु बात बिचारी । अब सोफिन सों कीजै यारी ॥६७॥
अमली इनके त्रासनु डरें । नामरदन के प्राननु हरें ।
सोफिनु कों दै पठई चींठी । तामें बात लिषी अति मींठी ॥६८॥
बाँचत सोफी दौरे आए । मिलत प्रीति के भेद जताए ।
प्रान दियें हम कहें बिचारें । अमली नामरदन कों मारें ॥६९॥
तब जेहली अतिरस पागे । ओढि पिछौरा सोंवन लागे ।
सोफिनु मिलिकैं कियौ बिचार । इनके संग में षैहें मार ॥७०॥

नौबति ठठ्ठ अनेक बजाए। चारि बरस में सबै जगाए।
जगे कहूँ घरियौ नहिं सोए। सोफी साथ सबै मिलि रोए ॥७१॥
सोफिनु गारी दै कै कह्यौ। अरि हत कों आवन कों चह्यौ।
जोर परेहैं बैरी सबै। तिनकी फिकिरि कीजियै अबै ॥७२॥
कह्यौ जेहलिनु सजौ हथ्यार। आपुस में कीनी निरधार।
झगा पाग की ठौहर बांधें। पाग झगा की ठौहर साधें ॥७३॥
जेबा पहिरें दोऊ पाइ। जिरह ठौर सूथनं बनाइ।
काँहूँ सिर पर टोपी दई। काँहूँ पाग बाँधि कें लईं ॥७४॥
काहूँ सज्यौ बतानौ भारी। दूषै हाथ भई अति ख्वारी।
काँहूँ जिरह गरे में लई। टोपा की सुधि भूल्यै गई ॥७५॥
उलटी बरछी लीनी हाथ। तीर लए दोऊ भरि बाथ।
बिनु गुन वारीं सजीं कमाँन। महारहीं लगि लईं काँन ॥७६॥
टूटे षपुना और कटाँरी। वैसियै बाँधी बिना सवाँरीं।
चाकर के कर ढालें दईं। भारी हैं निज जाति न लईं ॥७७॥
घोरिनु जीन सजे बिनु तंग। चढ़त गिरत बाढ़े अतिरंग।
बिना पलान चढ़े कोऊ ऊँट। फिरि फिरि देषें चार्यौ षूँट ॥७८॥
जीन लगाम बिना हय चढे। कहूं न हाथ चढिबौ पढे।
काहू गाडी एकै पैया। बैलुन ताँकैं एकै छैया ॥७९॥
एकै बरघु एकु ही चक्र। तिहि चढ़ि फूले मन ह्वै सक्र।
चारि चारि मिलि भैंसनु चढे। इक चढ़ि बैलनि सबत बढे ॥८०॥
नाँगें ही इक दौरे धाइ। कपरा पहिरेंगे फिरि आइ।
काँधें चढ़ि कै चले जु एक। हय न चढें यह कीनी टेक ॥८१॥
सोफिन कह्यौ रहौ तुम ठाढे। हमहूँ बषतर पहिरें गाढे।
सबनु न्हाइ कै कीनों दानु। कियौ सबनु मिलि आजु निदानु ॥८२॥
एकनु बषतर टोपा सजे। एकै जिरह पहिरि कै गजे।
घोरिनु सिलह सजी सब अंग। चढ़े चाइ सों जीतन जंग ॥८३॥
तीर कमाँन सजे सब नीके। सेल सम्हारि लए हित हीके।
काहूँ गुरजें लईं बंदूक। अरि के मारि करेंगे टूक ॥८४॥

दोहा

जिती जेहली सैन सब पाछें आओ आज।
हम हरौल हैं रावरे सबै करेंगे काजु ॥८५॥

चौपाई

इत सेना चढि ठाढी भई। उनकों षबरि तुरतहीं गई।
सुनि अमलिनु नामरद बुलाए। हम पै तुम पै अरि चढि आए ॥८६॥
इन पै उठि बाँधौ तरवारि। ना तौ ए डारेंगे मारि।
सेनामरदन सों बातें कहीं। जानि परी बुधि सिगरीं बहीं ॥८७॥

हम करवान न कर में लेंहि । बषतर कों चूल्हा में देंहि ।
टोपा पहिरत टूटे नारि । जिरह सुपहिरत जैयै हारि ॥८८॥
सुनत बँदूक मूरछा आवै । पकर्यौ सेल कौंन कों भावै ।
घोरा चढत डारि कै देइ । को हाथी के नामें लेइ ॥८९॥
गाडा चढत फिरौ जो भारी । लगै धूप बैठें अंबारी ।
षोदौ तहषानें दस बीस । तामें बैठे देंहि असीस ॥९०॥
अमलिनु कह्यौ सुनों रे भाई । पहिलें नीकी बात सुनाई ॥९१॥

सोरठा

अमलिनु कियौ बिचार कैसे जीतें फौज कों ।
लषत गहें करवार प्रान तजें नामरद सब ॥९२॥

चौपाई

असे मंत्र करौ ठिक ठाँइ । ए जीवें वे मारे जाँइ ।
चढी फौज इन सों नहिं लरियें । गढु सजियै तौ ऊपर परियै ॥९३॥
लाषनु अमली लोग बुलाए । गढु सजिबे को सिगरे आए ।
लोहे कौ गढ़ छिन में लेंहि । चीनी के गढ पाउ न देंहि ॥९४॥
कह्यौ जोतिगी जोति गुवाहि । आठ माँस गढु टूटतु नाहि ।
षोदी नीव सबनि मिलि झारी । कियौ षाँड कौ गारौ भारी ॥९५॥
दियें सिता के टौर वनाइ । नींव अडिग्ग करी चित चाइ ।
ईंट अँदरिषिन की करि भीति । लंका की छबि लीनी जीति ॥९६॥
दूध अधौटा को करि गारो । चूनों ताहि लगाओ प्यारौ ।
घेवरि की रचि चौषटि चार । आनि तिनगिनी किये किवार ॥९७॥
बाँधे बुरज लाइ कै चूरा । आनि जलेबी करे कँगूरा ।
चीनी के परबत करि धरे । लडुवन के मतवारे करे ॥९८॥
सरदा काटि करीं दिघ तोपें । दारू मुसक भरी अति ओपें ।
पेरा गोला तामें भरे । वे सुनि कै मन ही में मरे ॥९९॥
बीस कोस तक कीनी षाई । तामें सरबत नदी बहाई ।
बड़े मोंम के ग्राह बनाए । तिनतें डरिहें सबै सवाए ॥१००॥
भोंर बनाए ताके बीच । देषत भाजि जाँहिगे नीच ।
तहाँ नौंन की नाउ वनाई । चढे फिरें अमली चित चाई ॥१०१॥
साठिन की पतवारी करीं । दौरे फिरें घरी ही घरीं ।
पसमा की बनसी करिलीनी । टूक जलेबी आगें दीनी ॥१०२॥
गुरुकी मछरी पकरत फिरें । काहू के घेरे नहिं घिरें ।
करीं गडेरिनु की जुकमाँन । पसमाँ गुन लायौ करि ग्यान ॥१०३॥
दंदाननु के तीर बनाए । आगे लाइचदानें लाए ।
राषी फौज नदी के तीर । आइ सकेंगे कैसें नीर ॥१०४॥
ताकै आगें कियौ गढासु । सीरा को दलदल करि षासु ।
पाजें दंदाननु की करीं । सिगरे दलदल में लै भरीं ॥१०५॥

ताके ऊपर डारयौ बूरौ। जानों रेतु परै भ्रमु पूरौ।
सजे षांड के दीरघ हाथी। तिन पाछ राषे कछु साथी ॥१०६॥
कोस कोस पर सहिया राषौ। जब अरि आवें तब तुम भाषौ।
जीवन मरन परै न लषाई। तिगुनों अमल करौ चितचाई ॥१०७॥
जबहीं ऊगे अमल अपार। सुनी फौज आई निरधार।
ठाढे अमलो बुरजन लियें। दरभिस्तनु के जाठा कियें ॥१०८॥
सरदा फाँक करीं तरवारि। फेनिनि की ढालें कर धारि।
आस पास दल दल कै राषे। अमलिनु बचन जीति के भाषे ॥१०९॥
गुझन की करकरीं कटारीं। एकनि की कटि सोहति भारी।
मिश्री के ढीमें कर लीनें। ठाढे एक बीर रस भीनें ॥११०॥
मालपुवन के गहैं पहार। कोपु करें अमली निरधारि।
सावधान सब ठौहर भए। व्हाँ जासूस तुरत ही गए ॥१११॥
जाइ कही जासूसन बात। अब लरिबे की फौज घात।
कोलाहल सब दल में भयौ। यह गढु परमेसुर नें दयौ ॥११२॥
जिते जेहलो तिते चंदौल। सोफी सिगरे भए हरौल।
नौबति सजौ दस गुनी यातें। सोइ जाँईं जेहली न जातें ॥११३॥
दुंदुभि कैऊ लाष बजाए। अरु करनाल सबद छबिछाए।
झांझैं ढोल हजारनु साजें। मारू के बाज बहु बाजें ॥११४॥
गरदी उडी पहुँची असमान। नामरदन कों भूलें ग्यान।
अमलिन कह्यौ डरौ मति चित्त। बैरिन गरद करेंगे मित्त ॥११५॥
जा बिधि कौ बरनन करि आए। वैसेई फौजनु माँझ सिधाए।
कैउक अमलिनु कियौ बिचार। एक बेर चढि दीजै मार ॥११६॥
अमलो सहस बीररस भीनें। षांडन की गुरजें कर लीनें।
यारो चलौ कजाको करें। इनकों मारि मारि क्षिति भरें ॥११७॥
तुरत षांड के घोरा कीनें। सूरज के हय की छबि छीनें।
काठी मठ्ठ की ठिक ठईं। पूरी सों मढि कैते लईं ॥११८॥
दंदाननु कौ कियौ दहानों। षांड तंत ते बाग बषानों।
माँडेनु की पावर कटिधरीं। सबही घोरिन ऊप (र) परीं ॥११९॥
चढिकै सिगरेनु बागें लईं। देषत उनकी सब सुधि गईं।
उनके मुहरन के जे हाथी। दल में परे उलटि हनि साथी ॥१२०॥
कैऊ वाहि वाहि करें उनि डर। गुरजन मारे लोटत भूपुर।
उततें फिरि घोरे दौराए। सबै निलोहे गढ में आए ॥१२१॥
पहिलें जा विधि सेंना रची। सोफिनि फिरि वैसी यें सची।
सोफिन लषि आगें मैदान। बागलईं काढीं किरवान ॥१२२॥
सोफी बहु दलदल में परे। पाजें चुभि चुभि कैऊ मरे।
निकसन (के) जिनि भेद बिचारौ। जाठिनु वारिन मारि पछारौ ॥१२३॥
रहे सु सोफिन कियौ विचार। हेला दे मारौ परिपार।
दद्दल में जे लोटें परे। तेई मनों पुलुहें करें ॥१२४॥

हला मारयौ सोफिन संग । तोपनि मारि कियौ तन भंग ।
कंऊ बूडे कंऊ तरे । जिय म अति ग्रहन तें डरे ॥१२५॥
हयनु तराइ चले.....लोई । पकरन वारिन मारे सोई ।
थोरे से सोफी जब रहे । बचन जेहलिन सों यों कहे ॥१२६॥

दोहा——दोऊ परबत बीच व्है बाग लहुँ किनि सूर ।
होइ फते गढ़ तुरत हो करौ बुरज चकचूर ॥१२७॥

चौपई——

लई बाग ढिग गए पहार । मतवारेनु की परई मार ।
कैऊ मरे भूमि में लोटे । कंऊ भजे ऊँट की जाटे ॥१२८॥
कैउक भैंसनु भजे हजार । असवारन कों करिक ब्वार ।
बैल गए गाडा सब छोडि । रहे चढे यारन में ओडि ॥१२९॥

दोहा——बचे सहस दस जेहलो सोफी डेढ़ हजार ।
करि हमला पहुँचे बुरज परन लगी अति मार ॥१३०॥

चौपई——

बड़ी षांड की तोरें करीं । निकुती छरकन सों भरीं ।
छांडि दईं सब एकै बार । ताम कैऊ मरे हजार ॥१३१॥
ढालें जमधर कर में लीनें । उतरे लरन बीर रस भीनें ।
सोफी आए सिगरे काम । करें जेहिलिनि कों कतलाम ॥१३२॥
लिय जेहलो आगें धरिकें । लागे जुद्ध करन अरि अरिकें ॥
जब लगि जेहलि तेग सम्हारें । अमली पकरि पकरि गहि मारें ॥१३३॥
एक जेहली गारी देत । ढील कहा निज प्रानन लेत ॥
एक जेहली रन में पैंठे । पावँ मारु जाहि अति एंठे ॥१३४॥
एकनु तहाँ कमाँन सम्हारी । बिनु गुन लषि धरती में डारी ॥
एकनु लई बँदूकें कर में । बिनु दारू जियमें अति सरमें ॥१३५॥
एकनु उलटो सेलु चलायौ । लग्यौ न उन में मारि गिरायौ ।
एक जेहली बाँटे नेहु । हमकों तेग काढ़ि किनि देहु ॥१३६॥
एक कहें लें ठाढ़े करौ । ता पाछें हमसों तुम लरौ ।
एक कहें हम लरिहें प्रात । कितनी वार राति कों जात ॥१३७॥
भैंसा गाडा चढ़िकै लरें । तुमकों मारें कै अब मरें ।
सबै जेहलो रन में परे । केते ससकत केते मरे ॥१३८॥
महादेव दै दै कर तार । नाचन लगे हजारन बार ।
लड़वा एकनु की करि माल । संकट पहिरी परम रसाल ॥१३९॥
जुग्गिनि सबठौं नाँच षरीं । लडुवन सों लै गोदी भरीं ।
नारद बीनु बजावत भारी । एसो रारि न कहूँ निहारी ॥१४०॥
ठौर ठौर काली किलकारें । रहसि रहसि लडुवन कों मारें ।
सुर तैंतीसौ कोटि जुरि आए । आछी भाँति फूल बरसाए ॥१४१॥

भैरों भूत जिते अधिकारी । सरबत लोहू पीवत भारी ।
नामरदन कों लियौ बुलाई । देषत फिरें महा चित चाई ।।१४२।।
काहू कों बोलें तुतकारें । काहू को लडुवन सों मारें ।
काहू कों लषि मूँछ मरोरें । काहू सों आषें नहिं जोरें ।।१४३।।
एकनु सों कहें फिरिहू लरिहौ । इनहीं भाँति भांति कै मरिहौ ।
एकन के सिर ठोकर मारी । इन हमकों तब दीनी गारीं ।।१४४।।
जितकों कोऊ भोंह चढावै । तितकों कोऊ भूलि न आवै ।।१४५।।

दोहा

नामरदन अमलीन सों अैसें कह्यौ सुनाइ ।
कछु जीवत से देषियत इनकौ करौ उपाइ ।।१४६।।

चौपई

धंसि कै मारेंगे निसि सबै । तब हम भाजि सकेंगे कबै ।
अमलिनु कियौ विचार सु नीकौ । जामें जानु न काहू जीकौ ।।१४७।।
परवत तें पय नदी बहाओ । रहे अब तिनकों मारि बहाओ ।
परवत तें पय नदी जु छोड़ो । सिगरे बहे परी नहिं ओड़ी ।।१४८।।
अमलिनु अमलिन सों यों कही । नामरदन की रैयत सही ।
अमल करें सैलन कों जाँहि । नामरदन पै तें लै षाहि ।।१४९।।
जौ ए कह्यौ हमारौ डारें । तौ इनकों बातनु सों मारें ।।१५०।।

दोहा

मारे सोफी जेहली फते लही है आपु ।
कंचन रैयति प्रभु दई मिट्यौ सकल संतापु ।।१५१।।

इति श्री कवि प्राननाथ सोतीकृत ।
जेहली जवार समाप्तः ।। शुभमस्तू ।।
संवत् १७६० मिती आषाढ शुक्ला १ रवौ ।
लिषितं मिश्र नीलकंठस्यात्मज मिश्र सोमनाथ स्वपठनार्थं ।।

श्री क० म० शिवराम

प्राचीन तमिल साहित्य का संक्षिप्त परिचय

भारत की भाषाओं में तमिल भाषा का एक विशिष्ट स्थान है। जहाँ भारत की अन्य सभी भाषाओं पर संस्कृत का बहुत प्रभाव पड़ा है वहाँ तमिल पर कम ही पड़ा है। तमिल के कट्टर भक्त लोग "कन्नि तमिल" का उपयोग करने में अपनी और तमिल भाषा की बड़ाई मानते हैं। "कन्नि" 'कन्या' शब्द का विकृत रूप है। "कन्नि तमिल" से मतलब उस तमिल शैली से है जिसमें तमिल भाषा से किसी अन्य भाषा का स्पर्श नहीं हुआ। पर यहाँ भी एक बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। "कन्नि" शब्द स्वयं संस्कृत-स्पर्श प्राप्त है—अर्थात् कन्यापन से भ्रष्ट है। बात यह है कि जब तक मनुष्य मात्र में मिलने जुलने की प्रवृत्ति बनी रहेगी तब तक एक भाषा का दूसरी पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। इसमें संदेह नहीं कि तमिल पर संस्कृत का अवश्य प्रभाव पड़ा है और संस्कृत पर भी तमिल का प्रभाव पड़ा है। केवल मात्रा की बात है।

दक्षिण में प्रचलित प्रमुख भाषाएँ चार हैं: तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड़। अक्सर उत्तर भारत के लोग इन चार भाषाओं के नाम से परिचित नहीं हैं और दक्षिण की भाषा मात्र को "तैलंगो" कहते हैं चाहे उनका उद्देश्य "तेलगू" से हो, चाहे तमिल, कन्नड़ अथवा मलयालम से। ये चारों भाषाएँ एक दूसरे से इतनी ही भिन्न हैं जितनी मराठी, गुजराती, हिन्दी और बंगाली। ये चारों भाषाएँ द्राविड़ परिवार की भाषाएँ कहलाती हैं। इनमें तमिल को छोड़कर अन्य तीनों भाषाओं ने देवनागरी वर्णमाला के सब वर्णों को अपना लिया है—लिपि नहीं, केवल उच्चरित वर्ण। तमिल ने वैसा नहीं किया। यद्यपि वर्णों के क्रम में समानता पायी जाती है, पर तमिल में सभी नागरी वर्ण नहीं है। ऐसे भी कुछ वर्ण हैं जो नागरी में नहीं हैं।

तमिल भारत की एक बहुत प्राचीन भाषा है। डाक्टर काल्डवेल ने तमिल-साहित्य का काल-विभाजन करते हुए इसका प्रथम काल सन् ८०० ई० से माना है। पर डाक्टर साहब का विभाजन न वैज्ञानिक है, न इतिहास के अनुकूल। इस पाश्चात्य विद्वान् के विपरीत कुछ तमिल-भाषी विद्वानों की सम्मति है कि तमिल-साहित्य का प्रथम काल ईसा के पूर्व करीब ८००० से आरंभ होता है। श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री नामक विज्ञ ने अभी हाल में तमिल-साहित्य पर एक पुस्तक प्रकाशित की है। उनकी राय है कि प्रथम काल ईसा पूर्व १००० से मानना उचित होगा। मुझे भी यही उचित जँचता है।

तमिल लोगों में प्राचीन तमिल-साहित्य के तीन संघ काल प्रसिद्ध हैं: प्रथम संघ काल, द्वितीय संघ काल और तृतीय संघ काल। लोगों का विश्वास है कि शिव जी से तमिल की उत्पत्ति हुई और आर्यपुत्र अगस्त्य के हाथों उसका पोषण हुआ। इस समय प्राप्त अत्यन्त पुरानी रचनाओं में भी इन तीन संघों का उल्लेख पाया जाता है। कहा जाता है कि पहले संघ के नेता अगस्त्य थे और शिव, शिव-पुत्र मुरुगन (कुमार) आदि उसके सदस्य रहे और वह ४४०० वर्ष कूडल नामक दक्षिण मदुरा में बना रहा। ४४४९ कवियों ने अपनी रचनाएँ इस संघ के सम्मुख उपस्थित कीं। ८९ पांड्य राजाओं का इस संघ से सम्बंध रहा। दक्षिण मदुरा समुद्र में विलीन हुआ तो प्रथम संघ का अंत हुआ। दूसरा संघ कवाटपुरम में स्थापित हुआ। अगस्त्य, तोल काप्पियर आदि इसके ५९ सदस्य थे। यह ३७०० वर्ष बना रहा और ३७०० कवियों ने अपनी रचनाएँ इस संघ के सम्मुख उपस्थित कीं। ५९ पांड्य राजाओं का इस संघ से सम्बंध रहा। यह कपाटपुरम भी समुद्र में विलीन हुआ तो दूसरे संघ का अंत हुआ। इन दोनों संघ कालों की कोई रचना अब उपलब्ध नहीं है। केवल 'तोल काप्पियम' उपलब्ध है। यह दूसरे संघ का है। इसमें पहले संघ के अगस्त्य की रचनाओं के कुछ सूत्र उद्धृत हैं।

तीसरे संघ का ऐतिहासिक आधार है। आजकल मदुरा के नाम से प्रसिद्ध नगर में ही वह रहा। कहते हैं कि नक्कीरर इसके अध्यक्ष रहे, यह १८५० वर्ष तक बना रहा, इसके ४६ सदस्य रहे और ४४९ कवियों ने अपनी रचनायें इसके सम्मुख उपस्थित कीं। ४९ राजाओं का पोषण इस संघ को प्राप्त था। "तिरुकुरल" तमिल का एक अत्युत्तम ग्रन्थ है। तीसरे संघ ने इस ग्रन्थ को मान्यता देने से इनकार कर दिया। पर उस ग्रन्थ की उत्कृष्टता सिद्ध हो ही गयी। तब उस संघ का अंत हुआ। इस प्रसंग में यह बतलाना अनुचित नहीं होगा कि आजकल भी मदुरा में तमिल संघ साहित्य सेवा में लगा हुआ है। पर यह संस्था प्राचीन संघों से भिन्न है।

ऊपर जिस तोल काप्पियम का उल्लेख हुआ है उस शब्द का अर्थ है प्राचीन काव्य। तमिल-साहित्य का यही सबसे पुराना ग्रन्थ है। इसके लेखक का नाम तोलकप्पियनार है। कहा जाता है कि इनका असली नाम तृण दूमाग्नि था। इस पुरातन ग्रन्थ के विषय का परिचय पाकर हम तमिल के सांस्कृतिक विकास का अनुमान कर सकेंगे। इसके तीन खण्ड हैं: एपुत्तदिकारम (अक्षर खण्ड) शोल्लदिकारम (शब्द खण्ड) और पोरुलदिकारम (विषय खण्ड)। इन विभागों से विदित होता है कि यह एक रीति ग्रन्थ है। तीसरे खण्ड पोरुलदिकारम के दो विभाग हैं "अहम" और "पुरम" इन शब्दों के अर्थ क्रमशः अंदर और बाहर हैं। "अहम" में प्रेम-निरूपण है और "पुरम" में नैतिक, सामाजिक, अर्थ नीति सम्बंधी और सेना सम्बंधी विषयों का निरूपण। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ तमिल में अरम, पोरुल, इनबम और वीडु कहलाते हैं। "अहम" विभाग का विषय इनबम (काम) है और "पुरम" विभाग का पोरुल (अर्थ)। इस ग्रन्थ में कुल १२७६ सूत्र हैं और इन पर कई टीकाएँ हुई हैं।

प्रेम का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन हुआ है। एक प्रेम है "कलवियल" जिसका अर्थ है चोर-प्रेम। इसमें नायक और नायिका का मिलन छिपे-छिपे होता है। इसका पता पाकर यदि नायिका के मा-बाप विवाह की अनुमति न दें तो नायक नायिका को भगा ले जाता है। तब प्रेम की गहराई का विचार करके उनका विवाह कर दिया जाता है। दूसरा कर्पियल है, जिसका अर्थ है सती-प्रेम। इसमें सक्रम विवाह के बाद के प्रेम का वर्णन है।

इस खण्ड के दूसरे विभाग में वास-स्थान के विभाजनों का वर्णन है। कुछ लोग समुद्र-तीर के निवासी हैं, कुछ उर्वर-क्षेत्र के, कुछ वन-प्रदेश के, कुछ पर्वत-प्रदेश के और कुछ वीरान प्रदेश के हैं। युद्ध के कई भेद हैं: पशु-ग्रहण, चढ़ाई घेरा, प्रहार, विजय और सुलह। सेना के चार विभाग हैं। हर राजा की अपनी विशिष्ट पुष्प माला है जिसको पहन कर वह युद्ध में जाता है।

इस खण्ड के अन्य विभागों में रस, अलंकार और छंदों का निरूपण हुआ है।

यदि द्राविड़ों को दक्षिण के निवासी और आर्यों को उत्तर के निवासी मान लिया जाय तो कहना पड़ेगा कि उत्तरवालों ने दक्षिण पर खूब प्रभाव डाला। उन पर भी दक्षिण का प्रभाव पड़ा अवश्य। इन दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव इस ग्रन्थ के बहुत पूर्व संपन्न हो चुका था।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है "तोल काप्पियम" दूसरे संघ काल की रचना है। तीसरे संघ काल के साहित्यकारों में नक्कीरर सब से पुराने हैं। उनकी प्रसिद्ध रचना "तिरु मुरुगाट्रु पडै" में भगवान मुरुगा (कुमार) की कीर्ति गाई गयी है। इस रचना में ब्रह्मा, इन्द्र, बाराह, आदित्य, एकादश रुद्र और दो मरुतों का उल्लेख हुआ है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि तीसरे संघ काल के बहुत पूर्व ही तमिल भाषा पर संस्कृत का प्रभाव पड़ चुका था।

तीसरे संघ काल के प्रमुख कवियों में कपिलर, पार नार और अव्वयार के नाम उल्लेख योग्य हैं। इन में "अव्वयार" कवयित्री हैं। आज भी तमिल देश में पढ़ी लिखी वृद्धा "अव्वै" कहलाती है। ('आर' आदर सूचक प्रत्यय है—करीब हिन्दी के 'जी' के समान—और अव्वै के साथ मिलने पर "यार" हो गया।) संघ कालीन ३१ कवयित्रियों के नाम प्रसिद्ध हैं।

तीसरे संघ काल की रचनाओं के प्राचीन काल में ही तीन संकलन हुए। एक "एट्टु तोगै" है, दूसरा "पत्तु पाट्टु" है और तीसरा "पदिनेन कील कणक्कु" है। मालूम होता है साहित्य-प्रेमियों ने प्राचीन रचनाओं का सम्पादन करना आरंभ किया। पहले सम्पादक को आठ कवियों की रचनाओं का पता लगा। उस सम्पादक ने अपने संकलन का नाम "एट्टु तोगै" (आठ संख्या) दे दिया। दूसरे सम्पादक को दस रचनाएँ मिलीं तो उसने अपने संकलन को "पत्तु पाट्टु" (दस गीत) कहा। इसी तरह तीसरे का संकलन "पदिनेन कील कणक्कु" (अठारह निम्न अंक) कहलाया। पर ध्यान रखना चाहिये कि इन संकलनों की रचनाएँ कालक्रम गत नहीं हैं। कहीं कहीं तो केवल रचना मिली, कवि का कोई पता ही नहीं लगा। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि दूसरे संकलन का केवल नाम गीत है। वैसे ही तीसरे संकलन

का केवल नाम "कील कणक्कु" (निम्नअंक) है। तिरुकुरल नामक अत्युत्कृष्ट रचना भी इसमें सम्मिलित है।

प्राचीन तमिल के पंच महाकाव्य प्रसिद्ध हैं: १. शिलप्पदिकारम; २. मणिमेखलै; ३. जीवक चिन्तामणि; ४. वलयापति और ५. कुण्डलकेशी। इनमें पहले दो का संक्षिप्त परिचय देकर यह लेख समाप्त करूंगा। ये दोनों ईसा के बाद दूसरी सदी की रचनाएँ मानी जाती हैं। शिलप्पदिकारम 'इलंगो' नामक राजकुमार की रचना है और मणिमेखलै सात्तनार नामक तीसरे संघ के कवि की। इलंगो शेंगुट्टवन नामक चेर राजा का भाई था। कहा जाता है कि ज्योतिषियों ने बताया कि इलंगो राजा बनेगा तो शेंगुट्टवन बहुत चिन्तित हुआ। इलंगो ने संसार त्याग दिया। वह वैरागी हो गया। वह अनित्य मृत्यु-लोक का नहीं अपितु नित्य-आनन्दमय राज्य का राजा हो गया। सात्तनार मदुरा नगर के व्यापारी थे। तीसरे संघ मे कवि अपनी रचनाएं सुनाते थे तो रद्दी कविताएँ सुनते सुनते ये इतने व्याकुल हो जाते थे कि अपने हाथ की लोहे की कलम अपने सिर पर दे मारते थे। इससे इनके सिर में चोट लग जाती थी और पीब भर जाता था। इसलिये ये शीतलै सात्तनार ही (पीब सिर वाले सात्तनार) कहलाये। ये दोनों कवि समकालीन थे।

इन दोनों काव्यों का कथा-विषय भी बड़ा रोचक है! शिलप्पदिकारम की कहानी कोवलन नामक वैश्य-युवक की है। चोल राज्य के प्रधान नगर कावेरिपूम्पट्टिनम (यह पुहार भी कहलाता था) के एक धनी व्यापारी का वह पुत्र था। उसका विवाह कण्णकी नामक सती साध्वी से हुआ पर माधवी नामक गणिका के मोह में पड़ कर वह कण्णकी से दूर दूर ही रहा। जब उसकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी तब कहीं उसकी आंखें खुलीं। अपनी पत्नी कण्णकी को लेकर पाण्ड्य राज्य के प्रधान नगर मदुरा में जा पहुँचा। फिर से व्यापार करके अपनी स्थिति सुधारने के लिए उसे मूलधन की आवश्यकता हुई तो उसकी पत्नी कण्णकी ने अपना नूपुर दे दिया। उसको बेचने वह बाजार पहुँचा। उस समय रानी का नूपुर भी खो गया था। बहुत प्रयत्न करने पर भी चोर का पता नहीं लगा। एक अजनबी आदमी को अमूल्य सोने का नूपुर बेंचते देख कर लोगों को उस पर संदेह हुआ। वह राजा के सामने पेश किया गया। राजा के सम्मुख वह चोर सिद्ध किया गया। उसको मृत्यु दण्ड दिया गया। अपने पति की मृत्यु की खबर पाकर कण्णकी बेतरह परेशान हुई। वह राजा के सामने पहुँची। पूछा-आपने मेरे निर्दोष पति को किस आधार पर दण्ड दिया। आप का 'न्याय' तो संसार भर में प्रसिद्ध है! राजाने कहा, "आदमी नया था, मामूली हैसियत का था, उसके पास अमूल्य सोने का नूपुर था, इसका प्रमाण पेश नहीं कर सकता था कि वह उसी का है और यहाँ के लोगों ने पहचाना कि नूपुर रजवाड़े का ही है।" कण्णकी ने कहा: "महाराजा! क्या अमूल्य सोने का नूपुर केवल राजवंश में पहना जाता है? आप का न्याय कितना प्रसिद्ध है और आपने अब कैसा विचार-विहीन काम कर डाला। अच्छा यह तो बताइये कि आपके नूपुर के अंदर क्या था?" राजा ने कहा कि उसके अंदर मोती थे। कण्णकी ने अ

नुपुर तोड़ने को कहा तो उसके अंदर मानिक-कणिकाएँ पाईं गयीं। राजा ने अपनी भूल पहँचानी। वह इतना दुःखी हुआ कि वहीं बेहोश होकर गिर पड़ा। उसके प्राण उड़ गये। कण्णकी किसी तरह अपना दुःख सह न सकी। मारे क्रोध और दुःख के उसने अपना बाँयाँ स्तन काट कर फेंक दिया। स्तन का गिरना था कि नगर में आग लग गयी। सारा नगर जल गया। कण्णकी चेर राज्य में चली गयी। चेर राज शेंगुट्टवन ने उस सती की कीर्त्ति सुनी तो हिमालय से चट्टान मँगाकर एक मंदिर बनवाया और उसमें उस सती की मूर्ति स्थापित की।

मणिमेखलै की कथा शिलप्पदिकारम की कथा से सम्बद्ध है। जिस माधवी नामक गणिका से कोविलन का प्रेम हो गया था वह चित्रापति की पुत्री थी। कोविलन के उससे एक पुत्री हुई। उसका मणिमेखला नाम रखा गया। वह नाट्यकला में प्रवीण हुई। एक बार इन्द्रोत्सव के अवसर पर नाचने के लिए चित्रापति ने उसे बुला भेजा। परन्तु वह अपने पिता की मृत्यु के बाद संन्यासिनी वन गयी। अपने नाना के पास वह नहीं गयी। माधवी ने उसको फूल लाने के लिए पुष्पवाटिका में भेजा। वहाँ उदयकुमार नामक राजकुमार उस पर मोहित हो गया। पर वह तो संन्यासिनी हो गयी थी। वह एक रत्न-मण्डप में छिप गयी। भगवती मणिमेखला ने उसे वायु-मार्ग से ले जाकर मणिपल्लव नामक द्वीप में पहुँचा दिया। भगवती की कृपा से उसे तीन शक्तियाँ प्राप्त हुईं—आकाश में उड़ने की, मनचाहा रूप धारण करने की और भूख से बचे रहने की। उसको एक तालाब से एक अक्षय-पात्र भी मिला। उस समय देश में भयंकर अकाल पड़ा। उसने अपने अक्षय-पात्र के सहारे असंख्य लोगों को भोजन पहुँचाया। उदयकुमार उसका पीछा करते करते उसके बहुत पास पहुँच गया। बचने का कोई दूसरा मार्ग न पाकर उसने 'काय चण्डिका' का रूप धारण कर लिया। संयोग ऐसा हुआ कि काय चण्डिका कंचन नामक एक व्यक्ति की स्त्री थी। उदयकुमार को अपनी स्त्री का पीछा करते देख कंचन ने उसको मार डाला। उदयकुमार के मरण से मणिमेखला बहुत व्याकुल हुई। तब आकाशवाणी हुई कि "हे मणिमेखले! यह राजकुमार पिछले जन्म में तेरा पति रहा। अब इस जन्म में भी तेरा पीछा करता रहा। पर तुझे तो अपने कर्मों से निवृत्त होकर मोक्ष पाना है। इसलिए व्यर्थ की चिन्ता छोड़।" वह उड़ कर कण्णकि के मन्दिर पहुँची। वहाँ अपनी सौतेली मा कण्णकी की पूजा की। अरवण अडिगल नामक बौद्ध भिक्षु का उपदेश पाकर वह महा-निर्वाण के लिए तपस्या करने लगी।

राजकुमार-कवि इलंगो की प्रतिभा सात्तनार की प्रतिभा से बहुत उत्कृष्ट थी। पर सात्तनार धार्मिक तत्त्वों के विवेचन करने में बड़े सफल हुए। इन दोनों काव्यों में तत्कालीन रीति-रिवाजों का उल्लेख है, पर हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों का भी उल्लेख हुआ है।

मणिमेखलै के उपदेश का सार कुछ इस तरह है :—

पाया जन्म कि पाया क्लेश
अनजनमे का अमितानंद
इच्छा से ही होता जन्म
धन्य, मूल ही जिनका नष्ट।

श्री रमेश चन्द्र दुबे

रैदास और सहजोबाई की बानी में उपलब्ध रूढ़ियाँ

भारत की आध्यात्मिक परम्परा में जिन तत्त्वों का संग्रथन वैदिक काल से लेकर भक्ति-काल तक अविच्छिन्न रूप से होता रहा है, उन सब का समावेश किसी न किसी मात्रा में हमारे सन्तों की बानियों में मिलता है। दर्शन, पुराण, योग, भक्ति और लोकाचार, सभी के तत्त्व उनमें सहज रूप से अनुस्यूत हो गए हैं। भारतीय वाङ्मय का विपुल भाण्डार इन तत्त्वों के विवेचन से आपूर्ण है। पर इनमें से केवल वे ही तत्त्व, जो इस गंभीर विवेचन के फल स्वरूप प्रमुखतः निष्पन्न हुए और जो प्रचाराधिक्य के कारण जन-जीवन में पूरी तरह घुलमिल सके, इन संतों की बानियों द्वारा अभिव्यक्ति पा सके हैं। दर्शन की अनेक उपमाएं, योग की अनेक प्रक्रियाएं, भक्तों की अनेक गाथाएं और पुराणों की अनेक कल्पनाएं इन 'बानियों' में समाविष्ट हो कर संतों के उपदेश की रीढ़ बन गई हैं। इन संतों की काव्योक्तियों की मार्मिकता बहुधा इन विभिन्न क्षेत्रों से ग्रहीत रूढ़ तत्त्वों के समावेश से ही उत्पन्न होती है। संत-काव्य की इन रूढ़ियों ने हिन्दी-साहित्य में बहुत प्रचार पाया है और अधिकांश हिन्दी-काव्य की आत्मा को पहिचानने के लिए इन रूढ़ियों का परिचय बहुत आवश्यक है।

सम्प्रदायों की विभिन्नता होते हुए भी संतों की बानियों में बहुत से तत्त्व सामान्य हैं। नाम महिमा- गुरु महिमा, सत्संग-कीर्तन, निर्गुण, माया, विरह, मिलन आदि से संबद्ध रूढ़ उक्तियाँ, भक्तों की कथाएं, सांसारिक भोगों की कदर्थना, पाँच, पच्चीस, चौरासी आदि संख्याओं का रूढ़ अर्थों में उपयोग, इन सभी बानियों की विशेषता है। रैदास और सहजोबाई की बानियों में भी इन तत्त्वों का समावेश हमें मिलता है।

कबीर, सूर, जायसी, तुलसी सभी कवियों ने गुरु की महिमा गाई है। 'गुरु' को 'गोविंद' से भी अग्रणी माना गया है--

गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताय॥

तुलसी भी कथा के आरम्भ करने से पूर्व गुरु की वन्दना करते हैं—

बन्दउँ गुरु पद कंज, कृपा सिंधु नर-रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रवि-कर-निकर॥

अतः सगुण और निर्गुण दोनों के उपासकों ने गुरु की महिमा को स्वीकार किया है और इस महिमा का प्रचार इतना अधिक था, कि किसी भी संत ने उसकी उपेक्षा करने की हिम्मत नहीं की। रैदास कहते हैं—

गुरु को सबद अरु सुरति कुदाली,
खोदत कोई कोई हेरै ।।

अथवा

गुरु की साटि ज्ञान का अच्छर
बिसरै तो सहज समाधि लगाऊँ ।।

और सहजोबाई ने तो बड़े विस्तार से गुरु-महिमा का गान किया है—

सहजो कारज जगत के गुरु बिन पूरे नाहिं।
हरि तो गुरु बिन क्यों मिलें समुझि देख मन माहिं ।।

अथवा

सहजो गुरुवर्ती बचै, निगुरै अरुझत जाहिं।
बार बार नाते मिलें, लख चौरासी माहिं ।।

इस गुरु-महिमा के प्रसंग में सहजोबाई ने कई काव्य-रूढ़ियों का सुन्दर उपयोग किया है। पारस, मलयगिरि, और भृंग की उपमाएं तो बहुत प्रसिद्ध हैं। समदर्शिता के लिए मेघ का सब जगह एक समान बरसना भी कवियों द्वारा बहुत प्रयुक्त हुआ है। पर दीपक के द्वारा दीपक को प्रकाशित करने की उपमा बहुत प्रसिद्ध नहीं है। सहजो ने इन सब का प्रयोग किया है—

गुरु हैं चार प्रकार के, अपने अपने अंग।
गुरु पारस दीपक गुरू, मलयागिरि गुरु भृंग ।।
लोहे कूं पारस होय लागे। कंचन करै बेर नहिं तागे ।।
सिष पलास चंदन करि डारें। मलयागिरि हूँ कारज सारें ।।
सिष समान कीट के आवें। भृंगी ह्वै करि ताहि बनावें ।।
करै भिरंगी ढील न कोई। पलटै रूप पाछलो सोई ।।
बिना लोय दीपक सिष परसै। ह्वै दीपक तिनहूँ कूं दरसै ।।

मेघ से गुरु की समदर्शिता की उपमा निम्न पंक्तियों में दी गई है—

सहजो गुरु ऐसा मिलै, मेटै मन संदेह।
नीच ऊँच देखै नहीं, सब पर बरसै मेह ।।

अस्तु, गुरु की महिमा का बखान हिन्दी काव्य की एक बहुप्रयुक्त रूढ़ि है, जिसका उपयोग रैदास और सहजोबाई ने भी किया है। 'गुरु शिष्य को ज्ञानोपदेश द्वारा अपने समान बना देता है' इस तथ्य को उदाहृत करने के लिये तादात्म्य या ताद्रूप्य विषयक प्रथित

रूढ़ियों का उपयोग भी यहाँ उपलब्ध है। भक्त कवियों ने भक्त और भगवान के विषय में भी इन रूढ़ियों का उपयोग किया है—

पारस गुन अवगुन नहीं देखत कंचन करत खरो।

और

भइ मम कीट भृंग की नाईं।
जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥

रदास कहते हैं—

भाई रे सहज बंदो लोई। बिनु सहज सिद्धि न होई॥
लौलीन मन जो जानिए। तब कीट भृंगी होई॥

इन संतों की बानियों में उपलब्ध दूसरी रूढ़ि 'नाम-महिमा' विषयक है। तुलसी ने बालकांड के आरंभ में अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि 'कहहुँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें''। कबीर आदि निर्गुनिए संतों ने भी नाम की महिमा गाई है। रैदास कहते हैं—

नाम तुम्हारो आरत भंजन मुरारे।
हरि के नाम बिन झूठे सकल पसारे॥

अथवा

अनेक अधम जिव नाम गुन ऊधरे।
पतित पावन भए परसि सारं॥

और

ब्रह्म ऋषि नारद संभू सनकादिक
राम राम रमत, गए पार तेता।

कलियुग में इस 'नाम' की महिमा और भी अधिक है—

सतजुग सत त्रेता तप करते, द्वापर पूजा अचार।
तिहुँ जुगी तीनों दृष्टी, कलि केवल नाम अधार॥

यहाँ पर तुलसी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है—

त्रेताँ विविध जग्य नर करहीं।
प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा।
गावत नर पावहिं भवथाहा॥

सहजोबाई ने भी हरि-स्मरण का महत्त्व बताया है—

लाभ वही सहजो कहै हरि सुमिरन करि लेहु।

अस्तु कलियुग में नाम के विशेष महत्त्व की बात तो रैदास में तुलसी के प्रभाव से आई है, पर नाम-संकीर्तन की महिमा निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के भक्तों के काव्य में समान रूप से गाई गई है। अतः 'गुरु महिमा' के साथ ही 'नाम-महिमा' भी इन संतों के काव्य की एक रूढ़ि है।

गुरु-महिमा और नाम-महिमा के अतिरिक्त एक और चीज, जिसकी महिमा इन भक्त-कवियों ने मुक्त कंठ से गाई है, वह है 'सत्संग'। तुलसी ने कहा है—

सत संगति दुर्लभ संसारा।
निमिष कल्प भरि एकहु बारा॥

और

सत संगति महिमा नहिं गोई।
तदपि कह बिनु रहा न कोई॥

सूर, कबीर, मीरा और अन्य भक्त कवियों ने भी इसका महत्त्व स्वीकार किया है। रैदास जी की बानी में भी इस रूढ़ विषय का उल्लेख हमें मिलता है—

गली गली को जल बहि आयो,
सुरसरि जाय समायो।
संगत के परताप महातम,
नाम गंगोदक पायो॥

सूर और तुलसी ने भी अन्य जल के सुरसरि में मिलने पर उसका सुरसरि नाम पड़ जाने की बात कही है—

जब दोनों मिलि एक बरन भए
सुरसरि नाम पर्यो।

(सूर)

और

सुरसरि जल कृत बारुनि जाना।
कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना।
सुरसरि मिलें सो पावन जैसे।
ईस अनीसहि अंतर तैसे॥

(तुलसी)

रैदास ने भी यही बात इन्हीं शब्दों में कही है। तुलसी का प्रभाव यहाँ स्पष्ट है—

सुरसरि जल कृत वारुनी रे जेहि संत जन नहिं करत पानं।
सुरा अपवित्र तिनि गंगाजल आनिए सुरसरि मिलत नहिं होत आनं॥

अतः श्रेष्ठ के साथ हेय के मिलने पर हेय के श्रेष्ठ बन जाने के भाव के लिए सुरसरि के साथ अन्य जल के मिलने की उपमा कवियों द्वारा एक प्रचलित रूढ़ि के रूप में ग्रहीत हुई है। किसी ने उपका उपयोग 'संगत महातम' को दिखलाने के लिए किया है, किसी ने 'ईश' और 'अनीस' का संबध दिखलाने के लिए।

मनुष्य अच्छी संगति में पड़ कर अच्छा और बुरी संगति में पड़ कर बुरा बन जाता है, इस तथ्य को उदाहृत करने के लिए रैदास ने एक और सुप्रचलित रूढ़ि का आश्रय लिया है। स्वाँति का जल सीप में पड़ कर 'मोती' सर्प के मुख में पड़ कर

'विष' और कदली में पड़ कर 'कपूर' बन जाता है, यह हिन्दी काव्य की एक सुपरिचित रूढ़ि ह। बिहारी आदि के दोहों में इसका उपयोग हुआ है। रैदास भी 'संगति की अधिकाई' दिखलाने के लिए इस रूढ़ि का उपयोग करते हैं—

स्वाँति बूँद बरसै फनि ऊपर, सीस विषै होइ जाई।
ओही बूँद कै मोती निपजै, संगति की अधिकाई॥

सहजो कहती है :—

चरन छुए सब गति मत पलटैं पारस जैसे लोह सुना।
सीप परसि स्वाँती भयो मोती सोहत है सिर राज रना॥

इन सामान्य मान्यताओं के अतिरिक्त योग और दर्शन के अनेक पारिभाषिक शब्दों, संकेतों, उपमाओं और रूपकों का प्रयोग हिन्दी के संत-काव्य की विशेषता है। 'इड़ा', 'पिंगला', 'सुखमन नाड़ी', 'सुन्न', 'सहज', 'दशम रन्ध्र,' 'षट् कमल,' रसना का उलट कर लगाना, नाद, बिन्दु, सबद, सुरति, पिंड, अनाहद, ध्यान, पवन, समाधि, ये सब योग के विशेषार्थ युक्त शब्द हैं। संत-काव्य में इनका प्रयोग भरा पड़ा है और ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के काव्य में इनका प्रयोग, बहुत अधिक प्रचार के कारण, लीक पीटने के रूप में होने लगा। रैदास की निम्न पंक्तियों में इनका प्रयोग दृष्टव्य है—

(१) ऐसा **ध्यान** धरौं बनबारी।
　　मन **पवन** दै **सुखमन नारी**॥
(२) **पिंड** परे जिव जिस घर जाता।
　　सबद अतीत **अनाहद** राता॥
(३) **सहज समाधि** करूं हरि सेवा।
(४) **सुन्न सहज** में दोऊ त्यागे, राम न कहुँ दुखदाई।
(५) **नाद बिंद** ये सब ही थाके, मन मंगल नहिं गावै।

सहजो ने भी इनका खूब प्रयोग किया है :—

(१) **इड़ा पिंगला** ऊपर पहुँचे, **सुखमन** पाट उघारा।
　　भँवर गुफा में दृढ़ ह्वै बैठे, देख्यो अधिक **उजारा**॥
(२) **छहूँ कँवल** कूँ देख करि, **सतवें** में घर छाय।
　　रसना उलटि लगाय करि, जब आगे कूँ धाव॥

इन पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्ति कुछ संख्याएँ भी विशेष वस्तुओं के लिए रूढ़ हो गई हैं। इन संख्याओं का प्रचुर प्रयोग कहीं कहीं काव्य को पहेली बना देता है। पर इस प्रकार के प्रयोग अत्यधिक प्रचार के कारण रूढ़ि का रूप धारण कर लेने पर ही संभव हो सकते हैं। पाँच, आठ, दस, चौबीस, पच्चीस, चौरासी आदि संख्याओं का प्रयोग संत काव्य में रूढ़ अर्थों में हुआ है। रैदास ने पाँच का ही प्रयोग अधिक किया ह :—

(१) **पाँचों** मेरी सखी सहेली तिन निधि दई दिखाई।
(२) काम किरोध लोभ मद माया, इनि **पंचन** मिलि लूटे॥

(३) **पंच** व्याधि असाधि यह तन कौन ताकी **आस** ।
(४) **पाँचा** थकित भए हैं जहँ तहँ, जहाँ तहाँ **थिति पाई** ॥

सहजो बाई ने अन्य संख्याओं का भी उपयोग किया है :—

(१) **आठन** कूँ जानै नहीं, **दस** कूँ नाहीं भेद ।
चौबीसों समझै नहीं, कैसे छूटै खेद ॥
कैसे **छूटै** खेद **पंच** को जीतै नाहीं ।
और **पचीसौं** संग रहैं उनके हो माहीं ॥
दोय सदा लागी रहै **चौरासी** के फेर ।
चरनदास यों कहत हैं सहजो आया हेर ॥
(२) **पाँचौ करै** उजाड़ **पचीसौं** चरि चरि जाई ।
(३) बार बार नाते मिलें **लख चौरासी** माहिं ॥
(४) उनकी चौरासी नहिं छूटै ।
काल जाल जम जोरा लूटै ।

इन संख्याओं के प्रयोग से जो उलझन या रहस्यात्मकता उत्पन्न की गई है, वह हिन्दी-संत-काव्य की एक मुख्य प्रवृत्ति है । चमत्कार के द्वारा जन-साधारण के मन को अटकाने वाली कला जो उलटबाँसियों में दिखाई देती है, वह यहाँ भी अपनी छाया डाल रही है ।

योग के अतिरिक्त वेदान्त के अद्वैतवाद और अन्य सिद्धांतों की चर्चा भी रूढ़ शब्दावली और उपमाओं द्वारा इन संतों के काव्य में हुई है । ब्रह्म और जीव का अभेद सिद्ध करने के लिए दर्शन के रूढ़ उपमानों का प्रयोग रैदास ने किया है :—

(१) **रजु भुअंग** रजनी परगासा, अस कछु मरम जनावा ।
समुझि परी मोहि **कनक अलंकृत**, अब कछु कहत न आवा ॥
(२) **कनक कुण्डल सूत पट जुदा, रजु भुअंग** भ्रम जैसा ।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यौं, ब्रह्म जीव द्वति ऐसा ॥
(३) **कनक कटक** जल तरंग जैसे (पृष्ठ ३८ पद ५८)[1]
(४) अहै एक पै भ्रम से दूजो, **कनक अलंकृत** जैसे ।

सहजो कहतीं हैं :—

जल पाले में भेद ना, ज्यों सूरज अरुधूप । (पृष्ठ ४४)[2]

---

१. रैदास की पदावली-संग्रहकर्ता सदानन्द भारती ।
२. सहजोबाई की बानी-सहज प्रकाश बेलवेडियर प्रेस ।

प्रसाद जी ने भी 'जल' और 'हिम' के अभेद का रूपक 'कामायनी' के आरंभ में दिया है :—

ऊपर जल था नीचे हिम था,
एक तरल था एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन ।।

जीव के ब्रह्म में लीन हो जाने के लिए जल और समुद्र का रूपक भी बहु व्यवहृत है। रैदास कहते हैं :—

जब लग नदी न समुद्र समावै, तब लग बढ़ै हँकारा।
जब मन मिल्यो राम सागर सों, तब यह मिटी पुकारा ।।

और

सरिता गवन कियो लहर महोदधि, जल केवल जल माहीं।

कबीर की 'जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी' वाली उक्ति प्रसिद्ध ही है। प्रसाद जी ने भी अपनी 'अक्षयनिधि, को स्वरूपाङ्कित करने के लिए समुद्र का ही रूपक चुना है—

चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं
अवगुंठन आज सँवरता सा।
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा
लहरों में मस्त विचरता सा।
अपना फेनिल फन पटक रहा
मणियों का जाल लुटाता सा।
उन्निद्र दिखाई देता हो
उन्मत हुआ कुछ गाता सा ।।

(कामायनी:काम सर्ग)

ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और व्यापकता का सिद्धान्त भी दर्शन से ग्रहीत होकर रूढ़ शब्दावली में काव्य में प्रयुक्त हुआ है। निर्गुण ब्रह्म के विशेषण समस्त भक्ति-काव्य में समान रूप से ग्रहीत हुए हैं। रैदास की निम्न पंक्तियों में इन्हीं रूढ़ विशेषणों का प्रयोग हुआ है—

(१) निस्चल निराकार अज अनुपम, निरभय गति गोविंदा।
(२) सदा अतीत ज्ञान घन वर्जित निरविकार अविनासी।
(३) अखिल खिलै नहिं का कहि पंडित, कोइ न कहै समुझाई।
अबरन बरन रूप नहिं जाके, कहँ लो लाइ समाई ।।

चंद सूर नहिं राति दिवस नहिं, धरनि अकास न भाई ।
करम अकरम नहिं सुभ असुभ नहिं, का कहि देहुँ बड़ाई ।।
सीत वायु ऊसन नहिं सरवत, काम कुटिल नहिं होई ।
जोग न भोग क्रिया नहिं जाके, कहौ नाम सत सोई ।।
निरंजन निराकार निरलेपी, निरवीकार निसासी ।

सहजो ने 'हरि' के लिए 'नेति नेति' के रूढ़ विशेषण का प्रयोग किया है—

हरि कौ कोई न जानत भेद,
सब के बड़े सोई पचिहारे नेत नेत कहि बेद ।

ब्रह्म और जीव के भेदाभेद का निरूपण करते हुए 'चार बुद्धियों' के मनुष्यों के लिए जल, भूमि, पाहन और तेल की बूँद की रेखाओं की उपमा दी है । स्थायित्व के आपेक्षिक न्यूनाधिक्य को प्रदर्शित करने के लिए इन रेखाओं की उपमा काव्य में बहुधा प्रयुक्त हुई है । सहजो बाई की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

आप सबनि में सब ते न्यारे । चारि बुद्धि के मनुष सँवारे ।।
प्रथम बुद्धि जल लीक खिचाई । खिजतो जाइ सोई मिटि जाई ।।
दूजाँ बुद्धि लीक रस्ते की । चलै मनोरथ मिटै हिये की ।।
तीजी बुद्धि पाहन की रेखा । घटै सही पर बढ़ै न नेका ।।
चौथी तेल बूँद जल माहीं । फैलत फैलत फैलत जाहीं ।।
छोटी से दीरघ परकासै । बरन बरन के रंग निकासै ।।

तुलसी की 'दोहावली' में 'पाहन, सिकता, पानि' की रेखाओं की उपमा दी गई है—

उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि ।

अस्तु ब्रह्म और जीव के संबंध को लेकर दर्शन की अनेक रूढ़ियों का प्रयोग यहाँ दृष्टिगत होता है। संसार के मिथ्यात्व, माया, भव-समुद्र, तन का हेय होना, मनुष्य देह का दुर्लभ होना आदि रूढ़ विषयों का भी उल्लेख इस काव्य में मिलता है । इस संसार को इंद्रजाल और उस ब्रह्म को ऐंद्रजालिक बताने की रूढ़ि दर्शन से काव्य में आई है—

बाजीगर सों राँचि रहा, बाजी का मरम न जाना ।
बाजी झूठ साँच बाजीगर, जाना मन पतियाना ।।

—रैदास

तीन लोक छल रूप हैं, सहजो इन्दर जाल ।

और

सहजो जगत अनित्य है, आतम कूँ नित जान ।

—सहजोई बाई

सांसारिक ऐश्वर्य बहुत क्षणिक है, इसमें ममत्व रखने से ही मनुष्य माया में पड़ जाता है, ये उपदेश भी भक्ति-काव्य में रूढ़ हो गए हैं। सहजो कहतीं हैं—

धन जौबन सुख सम्पदा, बादर की सी छाँह।

और रैदास का कथन है कि—

मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों कैसे करि निस्तारा।

यहाँ पर भी रैदास पर तुलसी की छाया स्पष्ट है—

मैं अरु मोर तोर तें माया।
जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया।

मन के माया में भूल जाने और उसके चंचल होने की बात भी अतिप्रयोग के कारण रूढ़ि बन गई है—

मन माया हाथ बिकानूं।
चंचल मनुवाँ चहुँ दिसि धावै।
पाँचौ इन्द्री थिर न रहावै॥

और

माया के भ्रम कहा भूल्यो जाहुगे कर झारि।

—रैदास

'भव-सागर' का रूपक भी बहुत पिष्ट-पेषित है—

(१) अति संसार अपार भवसागर।
(२) भव सागर मोहि इकटक जोवत, तलफत रजनी जाई।
(३) भव बूड़त भयभीत जगत जन करि अवलंबन दीजै हो हरी।

—रैदास

इस शरीर को भक्तों ने व्याधियों का मन्दिर और नश्वर कहा है। पर मनुष्य शरीर को हरि-भजन के लिए दुर्लभ बता कर, उसके द्वारा भोग-विलास में लिप्त रहने वाले जीवों की डट कर भर्त्सना भी की गई है। इस प्रकार की उक्तियाँ भी भक्ति-काव्य में रूढ़ हो गई थीं। रैदास कहते हैं—

पंच व्याधि असाधि यह तन, कौन ताकी आस।

सहजो ने भी इस 'तन' को नश्वर और क्षणिक कहा है—

पानी का सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय।
पीव मिलन की ठानिए, रहिए ना पड़ि सोय॥

पर मनुष्य-शरीर को दुर्लभ बता कर उसे व्यर्थ गँवाने वालों को धिक्कारा भी है—

रैनि गँवाई सोइ करि, दिवस गँवायो खाइ रे।
हीरा यह तन पाइ करि, कौड़ी बदले जाइ रे॥

—रैदास

और

(१) दुख खे खे करि यह तन पायो ।
सहजो हरि गुरु बिना गँवायो ।

(२) यह अवसर दुर्लभ मिलै, अचरज मनुषा देह ।
लाभ वहो सहजो कहै, हरि सुमिरन करि लेहु ।।

—सहजो बाई

तुलसी ने भी कहा है कि—

नर तन सम नहिं कवनिहुँ देही ।
जीव चराचर जाचत तेही ।।
सो तनु पाइ विषय मन देहीं ।
पलटि सुधा ते सठ विषु लेहीं ।।

भक्ति और प्रेम की तथा वाह्य लोकाचारों के खंडन की भी कुछ रूढ़ियाँ बन गई हैं, जिनका प्रयोग काव्य में वहुधा दिखलाई पड़ता है । 'नवधा-भक्ति' का उल्लेख भक्ति की एक रूढ़ि है । रैदास और सहजो ने इसका उल्लेख किया है—

हम जानौ प्रेम प्रेम रस जानै नौ बिधि भगति कराई ।

—रैदास

और

सहजो नवधा भक्ति करांजै, आप तिरौ औरनि कूं तारै ।

सूर और तुलसी ने इस 'नवधा-भक्ति' का विस्तृत उल्लेख किया ही है ।

भक्तों की कथाएँ भी अन्तर्कथाओं के रूप में काव्य में अनुस्यूत होकर निरन्तर उल्लेख के कारण रूढ़ि बन चुकी हैं । अजामिल, गनिका आदि का नामोल्लेख भर ही पर्याप्त हो जाता है--

(१) गनिका थी किस करमा जोग

× ×

नामदेव कहिए जाति के ओछ
भगति हेत भगता के चले ।
अंक माल ले बीठल मिले ।।

(२) अजामिल गज गनिका तारी काटी कुंजर की पास रे ।

—रैदास

भक्तमाल और पुराणों की कथाएं मध्ययुगीन हिन्दी काव्य की एक विशिष्ट अंग बन गई हैं । देवताओं की पौराणिक रूप-कल्पना भी काव्य में विभिन्न रसों की जन्मदात्री बनी है । शिव जी का वेष कवियों का प्रिय वर्ण्य विपय रहा है । विद्यापति, सूर, तुलसी

और पद्माकर ने उनके रूप को लेकर सुन्दर काव्य प्रसंगों की सृष्टि की है। रैदास ने 'महेस' के 'विकट भेस' की चर्चा निम्न पंक्तियों में की है—

उर भुअंग भस्म संतत वैरागी।
जाके तीन नैन अमृत बैन, सीस जटा धारी।
कोटि कलप ध्यान अलप, मदन अंतकारी।।
जाके लील बरन, अकल ब्रह्म, गले रुण्ड माला।
प्रेम मगन, फिरत नगन, संग सरवा बाला।
अस महेस विकट भेस, अजहूँ दरस आसा।।

हरि और भक्त के अनन्य भाव के प्रेम को लेकर चातक और मेघ, चंद्र और चकोर तथा घन और मोर की रूढ़ उपमाओं का प्रयोग भी काव्य में मिलता है। रैदास ने इनका उपयोग किया है—

(१) प्रभु जी तुम चंदन हम पानी। जाकी अँग अँग बास समानी।
प्रभु जी तुम घन वन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा।।

(२) दरसन तोरा जीवन मोरा। बिन दरसन क्यों जिवै चकोरा।।

(३) इक अभिमानी चातृगा, विचरत जग माहीं।
यद्यपि जल पूरन मही, कहूँ वा रुचि नाहीं।।

(४) चक्र को ध्यान दधि सुत सों हेत है, यों तुम तें मैं न्यारी।

प्रभु के चरणों को कमल बना कर अपने मन की भ्रमर से उपमा देना भी एक सुप्रख्यात रूढ़ि है—

तुझ चरनारविंद भँवर मन।

—रैदास (पृष्ठ ३४ पद ५०)

और प्रभु के गुण-कथन के लिए सनक, सनंदन, नारद, व्यास निगम, शेष और शारदा की वर्णन-सामर्थ्य को कम बतलाना भी एक अति प्रचलित रूढ़ि है, जिसका उपयोग रैदास ने किया है—

सनक सनंदन महामुनि ज्ञानी।
सुक नारद व्यास यह जो वखानी।।
गावत निगम उमापति स्वामी।
सेस सहस मुख कीरति गामी।।

भक्ति की इन सगुणमार्गी प्रभाव-संपन्न रूढ़ियों के अतिरिक्त प्रेम, विरह और मिलन की रूढ़ उक्तियाँ भी संतों के काव्य का अंग हैं। सहजोबाई 'प्रेम में दीवाने' हो जाने की चर्चा करतीं हैं—

प्रेम दिवाने जो भए, पलटि गयो सब रूप।
सहजो दृष्टि न आवई, कहा रंक कहा भूप।।

और रैदास 'पिय की बिरह बिथा' की बात कहते हैं—

पिय बिनु सेजइ क्यों सुख सोऊँ, बिरह बिथा तन खाई।
मेटि दुहाग सुहागिन कीजै, अपने अंग लगाई।
कहि रैदास स्वामी क्यों बिछोहे, एक पलक जुग जाई ।।

और मीरा की तरह यह भी अनुभव करते हैं कि—

सो कहा जानै पीर पराई।
जाके दिल में दरद न आई ।।

रैदास ने कबीर की शब्दावली में बाह्याचारों का खंडन भी किया है—

(१) भगति न मूड़ मुड़ाए, भगति न माला दिखाए।
(२) कहा भयो जे मूड़ मुड़ायो, कहा तीर्थ व्रत कीन्हें।

और सूर की तरह 'हरि के टाँड़े' की तथा तुलसी की तरह 'मदन-भुवंग' की भी चर्चा करते हैं—

(१) हरि को टाँड़ो लादे जाइ रे, मैं बनिजारो राम को।
राम नाम धन पाइयो ताते सहज करूँ व्योहार रे ।।

और

(२) मदन भुअंग नहि मंत्र जंता।

अस्तु रैदास और सहजोबाई के काव्य में योग, दर्शन, भक्ति, पुराण और काव्य की अनेक शैलीगत और विषयगत रूढ़ियों का उपयोग हमें दृष्टिगत होता है। ये रूढ़ियाँ इस काव्य की महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इनको निकाल देने पर काव्य का सार निकल जायगा और इनको समझे बिना काव्य की आत्मा को पकड़ना कठिन हो जायगा। रूढ़ियों के इस आकलन से विभिन्न प्रभाव-स्रोतों के अनुदान का पता चलता है और काव्य की मान्य परम्पराओं के प्रचलन का बोध होता है। इन रूढ़ियों ने हमारे काव्य को अभिव्यञ्जना की अतिशय सामर्थ्य दी है और विभिन्न विषयों के सुगम अवबोध की चामत्कारिक क्षमता दी है। संतों के हाथ में ये रूढ़ियाँ जनता को प्रभावित करने का सुलभ और मार्मिक साधन बन गई थीं।

श्री अगरचंद नाहटा

दवावैत संज्ञक हिन्दी रचनाओं की परम्परा

हिन्दी साहित्य में विविध प्रकार की छोटी-मोटी रचनाएँ मिलती हैं, जिनके प्रकार और संज्ञाओं के सम्बन्ध में अभी तक अनुसंधानात्मक कार्य नहीं हुआ। इस दिशा में मैंने कुछ प्रयत्न किया है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५८ अंक ४, सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी अनुशीलन, कल्पना, मरुभारती, राजस्थानी, राजस्थान भारती, जैन सत्यप्रकाश, भारतीय साहित्य आदि में मेरे कई लेख प्रकाशित हुए हैं। थोड़े-से रचना-प्रकारों के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने 'जनपद' आदि में चर्चा की है। पर वह बहुत ही अपर्याप्त है। वास्तव में एक-एक प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में स्वतंत्र[1] अन्वेषण होना आवश्यक है। एक-एक रचना प्रकारों की जितनी भी रचनाएँ प्राप्त हों उन सब की भली भाँति खोज की जाय। वह परम्परा कितनी पुरानी है, पीछे से उसमें क्या परिवर्तन या विकास हुआ और यदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं में वैसी रचनाएँ मिलती हों तो उनका तुलनात्मक अध्ययन करके सांगोपांग विवेचन किया जाना आवश्यक है। बहुत-सी रचनाओं की परम्परा तो अपभ्रंश काल से चली आरही है; पर छोटी-छोटी अपभ्रंश रचनाएँ जो जैन भण्डारों मेंप्राप्त हैं, उनका हमारे विद्वानों को कुछ भी पता नहीं है। इसी तरह प्राचीन राजस्थानी या गुजराती में जो ऐसी रचनाओं की परम्परा चली आरही है, उनकी भी जहाँ तक जानकारी प्राप्त नहीं की जायगी, हिन्दी रचनाओं की परम्परा ठीक-से बताई नहीं जा सकेगी। कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जो बहुत थोड़ी मिलती हैं और प्रान्त विशेष में ही वे निर्मित हुई हैं, अर्थात् उनकी परम्परा बहुत थोड़े समय तक चलीऔर किसी विशेष प्रदेश में ही सीमित रही। प्रस्तुत लेख में ऐसे ही एक रचना-प्रकार "दवावैत" के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा रहा है।

"दवावैत" संज्ञक रचनाएँ प्रधानतया राजस्थान में ही रचीं गयीं। एक कच्छ में रचित भी मिली है; पर वह राजस्थान की रचना के अनुकरण में ही बनी है। उसके रचयिता पहले राजस्थान में रहे हैं और कच्छ में जाने पर भी उनका

---

१. आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ में डा० सत्येन्द्र के निर्देशन मे दो अनुसंधित्सु, हिन्दी-साहित्य के विविध रूपों पर विधिवत् अध्ययन कर रहे हैं।

राजस्थान, और राजस्थानी भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस रचना-प्रकार की परम्परा विशुद्ध भारतीय न हो कर फारसी से आई प्रतीत होती है। मुसलमानी साम्राज्य के समय उनके साहित्य के प्रभाव से भारतीय साहित्यकारों में भी इसका प्रचलन हुआ प्रतीत होता है। बैत या बैता पंजाबी भाषा में काफी मिलती हैं। इसका सम्बन्ध फारसी से स्पष्ट है। फारसी में बैत[1] संज्ञा काव्य के प्रकार-विशेष की है। मुसलमान सबसे पहले सिंध में आकर जमे, अतः उनकी भाषा और साहित्य का प्रभाव पंजाबी भाषा व साहित्य पर अधिक पड़ना स्वाभाविक ही था।

पंजाब से राजस्थान मिला जुला है—विशेषतः बीकानेर, जोधपुर और जैसलमेर राज्य की सीमाएँ तो पंजाब से संलग्न हैं। अतः दोनों प्रान्तों के लोगों का आवागमन विशेष रूप में रहा और इसी घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण राजस्थान के कई कवियों ने पंजाबी व सिन्धी भाषा में रचनाएं कीं, पंजाब की रचनाओं को अपने संग्रह में लिखकर रखा एवं पंजाब की लोक-वार्त्ताओं को अपनाया। जिसके फलस्वरूप बहुत-सी राजस्थानी बातों में गद्य-भाग तो मारवाड़ी भाषा का है और पद्यात्मक दोहे आदि पंजाबी भाषा से प्रभावित हैं। पंजाबी-सिन्धी में रचना करने वाले और पंजाबी रचनाओं को अपने भण्डारों में सुरक्षित रखने वाले अधिकांश जैन विद्वान् हैं और पंजाबी लोक-वार्त्ताओं को राजस्थानी में लिखनेवाले प्रधानतया चारण रहे हैं।

'दवावैत' का सम्बन्ध बैत से होना सम्भव है, पर फारसी छन्दों का तथाविध ज्ञान न होने से, मैं उसके स्वरूप व प्राचीन परम्परा आदि के सम्बन्ध में विशेषरूप से व निश्चयात्मक नहीं कह सकता। पर मुझे लगता है कि पंजाब की ओर से ही यह रचना प्रकार राजस्थान के जैन और चारण कवियों ने अपनाया है। पंजाब में रचित दवा-वैतों के मिलने पर ही इसकी परम्परा पर ठीक प्रकाश डाला जा सकेगा। प्राप्त रचनाओं में सबसे पहली दवावैत या दुवावैत "नरसिंह दास गौड़ की दवावैत" है जो भाट गंगादास के पोते मालीदास ने बनाई है। यह अनूप संस्कृत लायब्रेरी के राजस्थानी विभाग के गुटके नम्बर ८६ में लिखी मिली है जो १८ शताब्दी पूर्वार्द्ध का लिखा हुआ प्रतीत होता है। अतः इस रचना-प्रकार का प्रारम्भ १७ वीं शताब्दी से होना सम्भव है। १८ वीं शताब्दी की तो कई रचनाएँ प्राप्त हैं और १९ वीं की भी एक दो मिली हैं। इसके बाद की कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिली। अतः लगभग २०० वर्षों के सीमित समय में ही इस रचना-प्रकार का सृजन व प्रचार रहा ज्ञात होता है। राजस्थान में रची जाने पर भी इस प्रकार की रचनाओं की भाषा हिन्दी है, जिसमें फारसी शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। दूसरी रचना "जिन सुखसूरी मजलस या दवावैत" है जिसे जैन विद्वान् रूपचंद ने, जिनका दीक्षानाम रामविजय था, सं० १७७२ में बनाई। सम्भवतः उन्होंने इसकी रचना सिंध में रहते हुए की हो। हम सर्वप्रथम इनके रचना प्रकार के सम्बन्ध में राजस्थानी छन्द-ग्रंथ रघुनाथ रूपक से इनका लक्षण व उदाहरण देकर फिर प्राप्त रचनाओं का परिचय व उद्धरण देंगे।

---

१. उर्दू हिन्दी कोष में बैत का अर्थ कविता, छंद, मसनवी में का कोई एक छंद दिया है, छंद रत्नावली में का पारसी छंदों का विवेचन बैत पर भी प्रकाश डालता है।

'रघुनाथ रूपक' कवि मंछ ने सं० १८६३ में बनाया है। इसमें राजस्थानी गीतों के ७२ प्रकारों का वर्णन करके कवि ने दवावैत के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:–

तवै मंछ कवि ह्वै, तिके, दवावैत विध दोय।
एक "सुद्धबंध" होत है, एक "गद्दबंध" होय ।।

अर्थात् दवावैत 'सुद्धबंध' याने पद्यबंध और 'गद्दबन्ध' याने गद्यबंध, इन दो प्रकारों की होती हैं। इसमें पद्यबंध का उदाहरण इस प्रकार दिया है :—

प्रथम ही अयोध्या नगर जिसका बणाव,
वारै जोजन तो चौड़े सोले जोजन की धाव ;
चोखर फूंके फैलाव चौसठ जोजन के फिराव,
तिसके तले सरिता सरिजू के घाट,
अत उतावल सूँ वहै चासर कोसों के पाट।

×　　×　　×　　×

दोहा :—कहै मंछ इतरी कही, पदबंध नाम प्रबन्ध।
दवावैत फिर दूसरी, कहूँ इमै गदबंध ।।

गद्यबंध का उदाहरण :—

हाथियों के हलके खंभू ठाणा तैं खोले,
अरापत के साथी भद्रजाती के टोले।
अत देहुके दिग्गज विंध्याचल के सुजाव,
रंग रंग चित्रे सुंडा डंडूके वणाव।
झूल की जलूसें वीर घंटूके ठणके,
बादलों की जगमगा भरे भोंरों की भकी भंणके।

इस ग्रन्थ का सम्पादन स्व० पुरोहित हरनारायण जी के तत्त्वावधान में महताबचंद खारैड़ ने किया है और नागरी प्रचारणी सभा से सं० १९९७ में छपा है। सम्पादक ने दवावैत के सम्बन्ध में विशेष टिप्पणी देते हुए लिखा है कि "यह कोई छन्द नहीं है जिसमें मात्राओं, वर्णों या गणों का विचार हो। यह अन्त्यानुप्रासमय गद्यचाल है। अन्त्यानुप्रास, मध्यानुप्रास और किसी प्रकार सानुप्रास वा यमक लिया हुआ गद्य का प्रकार है। यह संस्कृत भाषा, प्राकृत, फारसी, उर्दू और हिन्दी भाषा में अनेक कवियों और ग्रंथकारों द्वारा प्रयोग में आया हुआ मिलता है। आधुनिक लल्लूजी लाल के प्रेम सागर आदि ग्रंथों में तथा उर्दू के बहार बेखिजां, नौवतन आदि ग्रंथों में तथा फारसी के ग्रंथों में भी देखा जाता है। संभव है डिंगलवालों ने भी उनका अनुकरण किया हो। यह दवावैत दो प्रकार की होती है। एक सुद्धबंध अर्थात् पदबंद जिसमें अनुप्रास मिलाया जाता है और दूसरी गद्दबंध जिसमें अनुप्रास नहीं मिलाते हैं।"

इससे राजस्थान में इस रचना-प्रकार की प्रसिद्धि और प्रचार का कुछ पता चलता है। राजस्थानी के छन्द-ग्रंथ में जब उसका उल्लेख या उदाहरण दिया गया है

तो दवावैत संज्ञक रचनाएँ यहां काफी मिलनी चाहिए। इनकी शोध शीघ्र ही की जानी आवश्यक है। मैं तो उस शोध की प्रेरणा के लिए ही अपनी जानकारी में प्राप्त दवावैतों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रकाशित कर रहा हूँ।

जैसा कि पहले कहा गया है, उपलब्ध रचनाओं में "नरसिंहदास गौड़ की दवावैत" प्रथम रचना है। इसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है।

"ब्राह्मणों का आशीर्वाद—भाटों की आसीस, चारणों का सुभराज, जाचकों की जगीस। चित का मावीत, मन्त्र का प्यार। दिल का दरियाव, चित्तका उदार। संकट का वक्रम, सो जवौनेत का वंस, अन्नपाल का धावा, गोड़ों का सूर्य, दूनी सिरदावा।

सबां मरदां जागता है—जगत के बखतों जागता है। भोमीया शत्रु भागता है। तरों गिरों आलागता है, नित दान त्यागते हैं, गोसूर बन्दते हैं। असनान सँझते हैं, सेवा विस्तरते हैं। पूजा पारते हैं। दहलौ बारते हैं। सहिलों सिधारते हैं।"

दूसरी रचना 'जिन सुखसूरी मजलस या दवावैत' का कुछ उद्धरण इस प्रकार है। (इसमें खरतरगच्छ के आचार्य जिनसुख सूरि का वर्णन है)—

दुश्मन दूर है, सब दुनी में हुक्म मन्जूर है। मगरूरों की मगरूरी दफै करते हैं—छत्रधारी की भी रौस धरते हैं। बड़े-बड़े छत्रपति गढ़पति देशौत डंडौत करते हैं। चिकारे मुक्कारन् भुंज मरते है। और भी कैसे हैं—गुण के ग्राहक हैं: गुण के जान हैं, गुण के कोट् हैं, गुणके जिहाज हैं, विजै जिनराज हैं, षट् दर्शन के महाराज हैं, सब दुनी बीच जस नक्कारे की आवाज हैं।"

इस का प्रारंभ ठीक नीचे दी जानी वाली दवावैत जैसा है; इससे वह प्रभावित है, यह स्पष्ट है।

तीसरी रचना जो उपलब्ध रचनाओं में सबसे बड़ी है कच्छ भुज के महारावल लखपत[1] की दवावैत है जो जैन कवि कुँवर कुशल[2] ने बनाई है। अभी-अभी इसकी टिप्पणाकार प्रति सौजन्य मूर्ति मुनिवर पुन्य विजयजी से प्राप्त हुई है। यह दुवावैत बहुत ही महत्त्व की है। इसमें महारावल लखपत और उनके पुत्र महाराव कुमार गौड़ जी का वर्णन है। वर्णन बहुत ही विस्तार से है जिससे रचयिता की बहुमुखी प्रतिभा व विशिष्ट जानकारी का पता चलता है। करीब ५०० श्लोक परिमित यह गद्य काव्य अपनी वर्णन शैली में अनोखा व अपूर्व है। यहाँ उसमें से बहुत थोड़ा-सा अंश ही दिया जाता है, जिसमें दीवाली और हेमन्त ऋतु का कुछ वर्णन है—

ऐसे नीकी ऊ सरत रिति, सुख भोगवत महाराज।
लखपति! फिर, आयो कातिकमास, बढ़े मनमे हुलास।
देवता जागे हैं, लोग पूजवै को लागे हैं।
कातिकमास के वरत अपने उछाह तें मानवी करत।
दीपमालिका आई, मन में बहुत भाई।

१—२ इनके सम्बन्ध में मेरे लेख, जीवन साहित्य, ब्रजभारती आदि में देखने चाहिये।

रूपे की, सोने की, बिलोर की समादान, ऐसी नहीं जोति इन्द्र के विमान ।
बारह-सूरज को प्रकाश, इन्द्र लखपति के अवास ।
फूलभरी हवाई तोपें, आतस बाजी छूटै ।
तिनकी धमक तें शिखरी के सृङ्ग टूटै ।
पूजते हैं गोधन, राजी करते हैं मन ।
अधिक एक तें एक, दिवारी के खेल अनेक ।
सरस खूबी रुसनाई, महाराव कों दई महमांई ।
भी कैसे हैं--अब हेमन्त रिति आई, महाराव के मन में भाई ।
उतर कों दिशि को लग्यो पवन, हिम बरफको भयो आगमन ।
बड़े भोगी भवर, विघाइत कराई तहखाना घर ।
मिसरू बुलगार मुखमल सैज पें बिछावने ।
ऐन रुई सुछिम पर भरे तन को सुहावने ।
अपने दिलमें आई, ऐसी कराई रुसनाई ।
अपने अनेक नायिका को संग, रूचि अपने जैसो रंग ।
किसनाग कशतूरी अगर, सौंधा फुलेल, चूआ अतर ।
एलची लोंगे तंबोल पान खावै, अनेक तान गीत गान रस वरसावै ।
ऐसे सुख पावत सही अमर, महाराव लखपति भोगवै भोगी भंवर ।
भी कैसे हैं--
ससिर रिती मानते हैं, हिमाचल सिखरतें बधे हिमके बरफ,
नदी, सर द्रह के जल जमें चिहूँ तरफ ।
दिनकी भई लघुताई, राति ने बढ़ाई पाई,
शीत भय तें सूरज उत्तर को पंथ छांडियों ।
तेज होन होय दछिन दिसि अपनो रस भाण्डियो,
जैसे घर जवाँई तेज हीन होय ।
तैसे सूरज देव बिना तेज जोय,
जैसे घर जवाँई घर आवत जातकी खबर न पड़ें ।
तैसे सूरज उदय अस्त भयो न जान्यों सीत तें डरें,
जैसे बडेन कै संग छोटो पावै बड़ाई ।
तैसे दिन के संग राति गही गुरताई,
जैसे छोटुन से संग, बड़ो पावे लघुताई ।
तैसे रात के संग दिन की हरूवाई,
जैसे बधै सुहागिनि स्त्री के पयोधर,

तैसे बधन लागे अंब तरवर।
जैसे विरहनी नायिका के मुख विरह तें जरै,
तैसे कमल पोयनी बनसपति डाह से बरै।

अब प्रारंभ और अंत की भी पंक्तियाँ दे देना उचित होगा—

आदि—

अहो आओ वे यार, वैठो दरबार।
ये चंदनी राति, कहो मजलस की बात।
कहो कौन कौन मुलक, कौन राजा देखे।
कौन कौन पातस्याह देखे।
कौन कौन दईवान देखे।
कौन कौन महीरवान देखे।
दिल्ली दैवान औरंगसाही देख।

और बड़े-बड़े पातशाह, फिरंग, अंगरेज, विलंदे, फरासीस डींगमार, अरब, भागड़िये और पूरब के राजा, दछिन के राजा, उत्तर के राजा, मध्यदेश के, उदैयपुर, जोधपुर, आंबेर, बीकानेर, जैसलमेर, कन्नौज, छत्रशाल, औरछ, हाड़ोती, गौडवाल, गुजरात, सोरठ, हलार, मलवार, चन्दो, चन्दावर, सुरंग-पटन, जोलों लंका, पलंका, त्रिलंका के घर तिनि के राजा। बड़े-सुविहान हैं, बड़े मेहरबान हैं, बड़े शिरेदार हैं, बड़े बूझीदार हैं, बड़े दातार हैं, तिनमें कच्छदेश पति सो कैसे हैं—

अंतः—भी कैसे हैं महाराव् लखपति जिनों के भुज नगर पाटशहर, और आप नाम को बसायो लखपति नगर, पाँच योजन-बिसतार, जहाँ आय बसे बरण अठार,

इन्द्र की नगरी अलका समान, कैते करों एक जीभ ते बखान।
जहाँ आए दोय रत्नाकर, मीठा महिराव और लवन-समुन्दर।
जहाँ हजारै आवें जिहाज, अनेक चीज व्योपारी समाज।
और नीको बसंत बन्दर, तेसी समीप धुनैरी सुन्दर।
जखऊ-मण्ड़ै शहर सुहावै, **भुनरा अंजार** मन भावै।
बालमर्मा **आड़ीसर** पच्छिमसिघड़ी, राहू मास हितकोरी को अनवीस **घड़ी**।
जिनों के अनेक शहर, **मोरबी सांतलपुर रायपुर**।
अनेक गाम अनेक ठाँव।
कच्छ देश की आस पास, चौदह चाल।
एक-एक चाल में चौदहसो गाँव रसाल।
इनके राजा **श्री लखिपति** महाराऊ, बड़े दानि करै लाख कोरि पसाऊ।
ईश्वरावतार, कच्छ सिंध के करतार।
किस्ण महाराज के अंस, जिनि दीपायो **जादौ** वंस।

जिनकी नीकी करनी, काहू ते न जाय बरणी।
अतुल तेज उच्छाह तें चारों जुग अमर,
यह सदा सफल असीस देत कवि **कुँअर**।
इति श्री महाराऊ **लखपति दुवावैत** सम्पूर्णः।

चौथी रचना "जिन लाभसूरि द्वावैत" जैन यति बसता [विनय भक्ति] की रचना है। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ के जैनाचार्य जिन लाभसूरि का वर्णन इसमें किया गया है। इसमें बीच-बीच में पद व गीत भी सम्मिलित हैं। इसमें गद्य की संज्ञा "वचनिका" दी गई है। 'जिनसुख सूरि मजलसा-द्वावैत' से तो यह चौगुनी से भी अधिक बड़ी है। कतिपय अंश इस प्रकार हैं—

अैसे श्री मुनीश्वरूं के महाराज, गच्छाधिराज।
जहाँ करते हैं विहार, तहाँ दफै होजात है ईत अरू मार।
बड़े बड़े साह, करतें हैं उछाह।
पोलुंकी झलकार, सिणगारतें हैं बजार।
पडि रहती है नौबतुं का ठोर, मनुं जलधर कीसी घोर
पंच सबद का उचार झालरु के झणकार
मादलुं के धुंकार ढ़ोलुं के ढमकार
अैसें हो रहती हैं छतीस, वाजुं की आवाज मानुं दरीयाव कैसी गाज।
लगी रहतें हैं गायवै कैरमझोल, कई करते हैं कल्लोल।
हंवरूं के हणकार, गजराजुं की गुंजार।
कई पालखी नालकी सुख पालुंकी असवारी कई प्यादे,
आन हाजर होत है कई साहजादे अरु तैसें ही रायजादे।
देखत ही नूर, हो रहते हैं मगरूर।
वड़े बड़े खांन सुलतांन, आंन मिलती हैं छत्तीस पोंन जहांन।
अैसे से आडंबरूं कीधक चाल, पाउ धारतें हैं पोसह साल।
तिन ही वख्त, विराजते हैं तख्त।
अंबर में अधर, विराजत हैं मेघाडंबर।
झिगमिगत झलके, चामरूँ के चिलके।
उनहो चेर, आसपास आंन बेंठते हैं साधुं का घेर
साख-साख के दीपक, परवादीयुं के जीपक।
बुद्धि के प्रकाम, उकति के आवास।
चौदह विद्या के चुस्त, इम्मान दुरस्त।
अकल फाजलुं के उस्ताद, असल जिनुं की औलाद।
हकीमी में हुसीयार, निजुंमी के निगहदार।

पढ़ते हैं पुरांण, कई वाचते है कुराण।
कई सेतपोस बुजरक्, वदराह सें तरक् ।
तैसें ही स्याह पोस गबरू, जिनुं की बड़ी सीने की अरु तैसाही अबरू ।
कई ल्यावते हैं नई नई उक्ति, करते हैं तर्क्क की युक्ति ।
साहित्य नाटक के समझवार, सब सासत्रुं में आरपार ।
करि बैठतें हैं मोंन, साधते हैं पोन ।
षट् चक्र के खोजी, निगम के नौजी ।
नष्ट उद्दिष्ट प्रसतार, कई करते हें वाही का विसतार।
चौरासी असल छंदु की जाति, ताही में कई नई नई सी भाँति ।
पिंगल के दरम्यांन, नागराज से उकति निधान ।
अष्ट अरू बत्तीसावधान, साधन में तैसे ही सावधान ।
काम धेनु गतागत समुद्रबंध, अैसे से कुल रूपकुं के प्रबंध ।
नव रस षोडसालंकार वाही के निगहदार
षट् राग छत्तीस रागणीयुं के विचार, अैसे संगीत के भी भेद है अपार
सूरिज सोम यादुं पमांर, वंसु का है बड़ा सा विसतार ।
वेसी वंशावलीयुं के पवारगीर, रजमत उजीर ।
सभा चातुरी के कोस, वैसे ही बड़े वतपोस ।
तैसे ही मुनसी मसलत हार, पारसी राजनीति सामुद्रक के भी पगार ।
अैसी परिगह की टुक सोभा कहाई, सोहु श्रीगछाधिराजुं ही की बडाई ।

इनके अतिरिक्त ईसरदे ठाकुर की दवावैत बारहठ दुरगादत्त की कही हुई सीतारामजी लालस के संग्रह में है। इसका कुछ अंश इस प्रकार है:—

बेवकूफों का वास। धूरतूं का धाम। मूंगतूं का मोहल्ला। कागलूं का कोर। हींजडूं का सहर। जारूं का जोर। चुगलूं का चबूतरा। रुगलूं का रैवास। कुकरमूं का कोठार। अधुमूं का ऐवास। भूख का भांडा। मालजादूं का मकान। अतीत का अखाड़ा अदंत का आरामा······?

इसके अतिरिक्त एक दूसरी 'दवावैत द्वारकादास दधवाड़िया की है जो उदयराजजी उज्वल के पास है, जिसमें वीर दुर्गादास तथा अन्य राठोड़ों का मुगलों से युद्ध का वर्णन है। यह प्रति महत्त्व की होनी चाहिये, पर उसकी नकल अभी नहीं मिल सकी है। अभी अभी और भी अज्ञात व नई रचनाओं की जानकारी मिली है उनके सम्बन्ध में फ़िर कभी प्रकाश डाला जायगा ।

टिप्पणी

मंत्र

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ के अनुसन्धान पत्र "भारतीय साहित्य" में प्रकाशित डा० सत्येन्द्र का "मन्त्र" विषयक लेख बहुत रोचक और प्रकाशप्रद है। लेखक ने इस बात का प्रयत्न किया है कि वह पाठक के समक्ष मन्त्र की प्रकृति और कार्य के विषय में, वैदिक काल से लेकर आज तक के भारतीय धर्म-विचार की विभिन्न स्थितियों में समझे गए स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध में, ढेर सारी महत्त्वपूर्ण सामग्री जुटा सके। लेखक ने यह संकेत किया है कि मोटे तौर पर मन्त्र दो मुख्य वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं, धार्मिक और जादू टोने सम्बन्धी। लेकिन इतिहास की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इनमें से एक प्रकार दूसरे से विकसित हुआ है। धर्म के क्षेत्र में मन्त्र तत्त्व के चारों ओर बहुत से दार्शनिक ऊहापोह इकट्ठे होगये और इन दार्शनिक विचारों को आलोचनात्मक दृष्टि से परखने पर यह विदित होता है कि उनमें से यदि सब नहीं तो कुछ, किसी तात्कालिक आवश्यकता के कारण विकसित हुये। आज हमारे इस बीसवीं शताब्दी के लोक जीवन में भी ये मन्त्र, जिनके विषय में यह विश्वास किया जाता है कि वे किसी रहस्य या जादू भरी शक्ति से युक्त होते हैं, बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ रखते हैं। रक्षा करने वाले वर्णों, औषधि, सम्मोहन और टोने के रूप में इनका बहुत विस्तृत उपयोग होता है, विशेष रूप से देहात में। लेखक ने दोनों प्रकार के मन्त्रों की चर्चा की है। दर्शन और धर्म में मन्त्र की किस प्रकार व्याख्या की गई है, इस चर्चा में जाते हुए उसने बहुत से अनुरंजक उद्धरण देकर यह स्पष्ट किया है कि मन्त्र भारतीय ग्राम्य जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। लेखक के महत्त्व को बिना कम किए हुए हम यह संकेत करना चाहते हैं कि लेखक ने अपने विवेचनों में यदि दोनों प्रकार के मन्त्रों को मिला न दिया होता तो अच्छा होता। दोनों प्रकार के मन्त्र अलग अलग ठीक से विवेचित किए जा सकते थे। हम लेखक का ध्यान एक और तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहते हैं जो उसके लिए [illegible]क होगा। उन्होंने प्रसंगवश अपने लेख में महायान बौद्ध धर्म के बाद के स्वरूप के समय के मन्त्र तत्त्व को भी विवेचित किया है। यह स्वरूप "मन्त्रयान" के रूप में सुख्यात है। हम यह बताना चाहते हैं कि महायान बौद्ध धर्म ने अपने क्षेत्र के भीतर अपने शून्यता के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार मन्त्र तत्त्व की एक अपनी ही दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की थी। उदाहरण के लिए हम असंग की "बोधिसत्व भूमि" के एक परिच्छेद की ओर संकेत कर सकते हैं, जिसमें यह बताया गया है कि मन्त्र स्वभाव से ही बिल्कुल अर्थशून्य होते हैं। पर यह अर्थ-शून्यता ही मन्त्रों की वास्तविक अर्थवत्ता है। मन्त्रों को गुनगुनाने और उस पर ध्यान लगाने से कुशल व्यक्ति एक मनोवैज्ञानिक धारणा विकसित कर लेता है जो उसे अर्थशून्य प्रकृति

वाले धर्म्मों" पर ध्यान केन्द्रित करने में सहायता पहुँचाती है और यह धारणा फिर अपने अवसर पर कुशल व्यक्ति को अन्तिम सत्य या "धर्म्म" की अतिशय अर्थशून्य प्रकृति, शून्यता, को अनुभूत करने में सहायता पहुँचाती है। *

डा० शशिभूषण दासगुप्त,
एम० ए० पी०-ऐच० डी०, अध्यक्ष आधुनिक-
भाषा विभाग, कलकत्ता विश्व विद्यालय,

* डा० शशिभूषण दासगुप्त का इसी विषय पर एक निबंध 'द रोल आफ़ मंत्र इन इंडियन रिलीजन', बुलेटिन आफ़ रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट आफ़ कल्चर खंड ७. अंक-३., मार्च, १९५६ में प्रकाशित हुआ है, जो पठनीय है। [संपादक]

असमीया मंगलकाव्य

असमीया साहित्य में भी बंगाली हिन्दी आदि साहित्यों की भाँति मंगलकाव्य हैं। इन काव्यों में देवी की महत्ता दिखाई गई है। असमीया में यह काव्य मनसा काव्य कहलाता है।

असमीया मंगल काव्यों के रचयिता ये हैं। (१) मनकर (२) दुर्गावर और (३) नारायण देव। पद्मपुराण स्वर्गखण्ड के बेउला और लखिन्दरको कहानी का सहारा लेकर इन्होंने ये काव्य लिखे हैं।

(१) मनकर—पन्द्रहवीं सदीके शेष भाग अथवा सोलहवीं सदी के आदि भाग में इनका समय माना जा सकता है। कोच राजा विश्वसिंह के समय में सम्भवतः वे जीवित थे। उन्होंने कम उम्र में ही "बेउलार गीत" नाम से मंगल काव्य की रचना की। काव्य की विषय वस्तु हर-गौरी विवाह और अयोनिसम्भवा पद्मा का जन्म थी। युवावस्था में लिखने के कारण रचनायें सुश्राव्य, सुललित तथा चित्ताकर्षक हुई हैं। वाक्यों में अनुप्रास, शब्दों का उच्चारण आदि अर्थबोधक हुये हैं।

(२) दुर्गावर—उन्होंने कोचराज्य के विश्वसिंह के राजत्व काल में (ई० सं० १५१५-१५४० तक) 'बेउला गीति काव्य' की रचना की। 'गीतिरामायण' नामपर ताल-मान युक्त दूसरा एक ग्रन्थ उन्होंने लिखा। दुर्गावर का घर कामरूप के प्रसिद्ध कामाख्या पीठ में था। उनका पितृ नाम चन्द्रधर था। दुर्गावर कवि, संगीतज्ञ और सिद्धहस्त गायक थे। पद्मपुराण से बेउला आख्यान का अनुवाद कर उन्होंने सती के सतीत्व का आदर्श असमीया समाज के सामने खड़ा किया है।

(३) नारायण देव—ये बहुत जनप्रिय कवि थे। इनके पिता नरसिंह थे, इनको "बासत्तरीय ब्राह्मण" के घर का कहा जाता है। दुरंग के राजा की आज्ञानुसार "सभापण्डित" नारायण देव ने इस बेउला गीति काव्यकी रचना की। पद्मपुराण की कहानी के सहारे पर गाने लायक पदों में इस काव्य की रचना की गई। "शुकनाम्नी" नाम से यह ग्रन्थ मशहूर है।

पद्मा का जन्म, चन्द्रधर का जन्म, पार्वती का वर, वाणिज्य यात्रा, चण्डी के द्वारा चन्द्रधरको हेमताल देना, पद्मा से चान्द का विरोध और उनके छः पुत्रों की मृत्यु, विषहरि तथा सदाशिव की कृपा से बेउला के स्वामी का जीवन लाभ और चान्दो के द्वारा विषहरि की पूजा के लिए सम्मत होना इत्यादि घटनाओं का इस काव्य में वर्णन किया गया। कवि की रचना से उस समय के लोगों के स्वभाव, चरित्र आदि का स्पष्ट रूप देखने को मिलता है। रचना का माधुर्य शब्दों की झंकार, योजना, पदलालित्य इत्यादि देखने से मन मुग्ध हो जाता है।

असमीया मनसा काव्य का मूल पद्मपुराण है। मनसा काव्य गीतिकाव्य के रूप में रचे गये थे। पुराने जमाने में असम में "ओजा-पलि" नामक संगीतानुष्ठान था। ओजा-पालि के लोग जगह जगह पर इन मंगल काव्यों के पदों का गायन करते हुए लोगों को आनन्द देते थे।

—यतीन्द्रनाथ गोस्वामी, जोरहाट

सम्मति

'भारतीय साहित्य' का प्रथम अंक देखा इसके द्वारा आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का कार्य लोगों को दूर से भी दृष्टिगोचर हो सकेगा। जैसा कि नाम से ही विदित होता है इसका दृष्टिकोण व्यापक और उदार है। सामग्री भी उस उदार दृष्टिकोण के अनुकूल गम्भीर और पांडित्यपूर्ण है। विद्यापीठ का परिचय और उसके उद्देश्यों को बतलाने वाले, संस्थापकों के भाषणों के पश्चात् डा० सुनीतकुमार चटर्जी का 'हिन्दी का उत्तराधिकार' लेख है। उससे हिन्दी के विस्तार और विकेन्द्रीकरण और केन्द्रीकरण की समस्याओं पर विस्तृत प्रकाश पड़ने के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं का, विशेषकर भारत की आर्य भाषाओं का सर्वेक्षण हो जाता है। विद्यापीठ के अध्यक्ष, डाक्टर विश्वनाथ प्रसाद का 'भाषा के रागात्मक तत्त्व' लेख कुछ पारिभाषिक होते हुए भी उसमें भाषा सीखने के लिए व्याकरण के अलावा उसकी प्रकृति को किस प्रकार पकड़ना चाहिए इसका व्यावहारिक निर्देश किया गया है। हिन्दी की विभिन्न बोलियों के रागात्मक तत्त्वों के अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है और उस अध्ययन के साथ ही उन प्रदेशों के रहनेवाले लोगों की प्रकृति और स्वभाव पर भी प्रकाश पड़ सकता है। डा० सत्येन्द्र का 'मंत्र' शीर्षक लेख लोकवार्ता का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें लोक-मानस का विकासवादी दृष्टिकोण प्रधान है। हमारे भारतीय चिन्तकों का इन विषयों की ओर उतना ध्यान नहीं गया है, जितना पाश्चात्य पंडितों का। इस दृष्टि से भी यह लेख विशेष स्वागत योग्य है। 'उड़िया में कृष्ण भक्ति साहित्य' (श्री गोलोक बिहारी धल) और 'ब्रज बोली की कहानी' (डा० सुकुमार सेन) में अन्य बातों के साथ, बंगाल, बिहार और उड़िया प्रदेशों में कृष्ण-भक्ति-साहित्य का दिग्दर्शन कराया गया है। ब्रजबोली का कुछ स्पष्ट रूप हमारे सामने आ जाता है। 'मलयालम भाषा की उत्पत्ति और व्यापकता' तथा 'गुजराती साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा', ये दोनों लेख दो प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं का परिचय कराते हैं। 'चरण दासी सम्प्रदाय का अज्ञात हिन्दी साहित्य', मुनि कान्तिसागर जी का विशेष शोधपूर्ण लेख है। माचवे जी के लेख 'मराठी निर्गुण कविता की समाप्ति के कारण' में यह बतलाया गया है कि संसार से विमुखता और वैराग्य ही उसके ह्रास का कारण हुआ। यह बात हिन्दी के निर्गुण साहित्य के लिए भी कही जा सकती है। 'मंगल काव्य' में श्री अगरचन्द नाहटा प्रभृति कई विद्वानों ने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के मंगल काव्यों पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार मंगल काव्य की देश और काल व्यापी झाँकी मिल जाती है। और भी कई लेख हैं जैसे 'काव्यगत रूढ़ियाँ और कवि शिक्षा साहित्य' (श्री रमेश चन्द्र दुबे) जो अपना महत्त्व रखते हैं। एक महत्त्वपूर्ण चीज और भी दी गई है : अलाउल द्वारा किये हुए पद्मावती के बंगला अनुवाद का कुछ अंश, श्री वासुदेव शरण अग्रवाल के प्राक्कथन और श्री सत्येन्द्र नाथ घोषाल की भूमिका के साथ। यह क्रमशः प्रकाशित होता रहेगा। सभी सामग्री विद्यापीठ के गौरव के अनुकूल है।

बाबू गुलाबराय एम० ए०, आगरा

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

जुलाई १९५६

AGRA UNIVERSITY
1927
तमसो मा ज्योतिर्गमय

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

जुलाई १९५६

तृतीय अंक

सम्पादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

अध्यक्ष

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ

मुद्रक

एच० के० कपूर, आगरा यूनीवर्सिटी प्रेस, आगरा

प्रकाशक

डा० विश्वनाथ प्रसाद,

अध्यक्ष, आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ, आगरा

विषय-सूची

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

वर्ष १]　　　　जुलाई १९५६　　　　[अंक ३

श्री अगरचन्द नाहटा

मनोहरदास निरंजनी के पाँच ग्रन्थों का विशेष परिचय

हिन्दी के राष्ट्र भाषा स्वीकृत होने के बाद हिन्दी के प्रेमियों और विद्वानों का कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है। अब तक जो हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनसे हिन्दी साहित्य की पूरी जानकारी नहीं मिल पाती; क्योंकि मौलिक खोज तो दो-चार विद्वानों को छोड़कर किसी ने कुछ भी नहीं की। अधिकांश विद्वानों ने एक दूसरे का अनुकरण कर पिष्ट पोषण ही किया है। उनके ग्रन्थों में आलोचना आदि मे कुछ भिन्नता है, पर पीछे से ज्ञात ग्रन्थों व ग्रन्थकारों का उचित मूल्यांकन करके उनका समावेश नहीं किया गया। खोज रिपोर्टों द्वारा हजारों हिन्दी ग्रन्थों का पता चला है, पर उन ग्रन्थों का अध्ययन कर उन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया गया। इधर डॉक्टरेट के लिए जो थीसिस तैयार हुए उनमें से पांच सात में ही अप्रकाशित ग्रन्थों को देखकर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। बाकी तो प्रायः प्रकाशित ग्रन्थों पर ही आधारित हैं। अतः अब जोरों से खोज का काम होना चाहिए और नये ज्ञात ग्रन्थों का अध्ययन कर साहित्य के इतिहास में उनको उचित स्थान देना चाहिए।

हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास-निर्माण का कार्य नागरी प्रचारिणी सभा आदि ने हाथ में लिया है, यह बहुत ही हर्ष की बात है। आशा है अब तक जो कुछ खोज हुई है उसका उपयोग समुचित रूप से उसमें कर लिया जायगा। सम्वत् १९८० में "हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पहला भाग" सभा ने प्रकाशित किया था। उसमें सन् १९०० से १९११ तक की खोज रिपोर्टों का सार संकलित किया गया था। उसके बाद गत ४४ वर्षों में जो खोज हुई है उसका भी ऐसा ही सारगर्भित विवरण प्रकाशित होना चाहिए। संवत् २००० में इसका प्रकाशन प्रारंभ हुआ था और कुछ फर्मे मुझे मिले। पर थोड़ा छप करके ही छोड़ दिया गया। उसे पूरा प्रकाशित करना आवश्यक है। राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर से राजस्थान के हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का विवरण चार भागों में छपा है। उसकी जानकारी भी उस ग्रंथ में सम्मिलित कर लेनी चाहिये। इससे हिन्दी के अज्ञात ग्रन्थों की शोध का कार्य सुगम होने के साथ २ बहुत सी भूल भुलइयों का संशोधन भी हो जायगा, एवं किस ग्रंथ की, कहां २, व कब की लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं, इसकी जानकारी मिलने से उन ग्रन्थों के संपादन में भी सुविधा हो जायगी।

अभी राजस्थान, पंजाब आदि कई प्रांतों में तो हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों के शोध का कार्य बहुत ही कम हुआ है। हजारों महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अज्ञात अवस्था में पड़े हैं। मैं जहाँ जहाँ जब भी जाता हूँ हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करता हूँ और मुझे नित्य नई सामग्री मिलती रहती है। अभी अभी मैं जयपुर तीन दिन ठहरा, तो करीब ६० अज्ञात महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का परिचय मिला।

राजस्थान के संत साहित्य, जैन साहित्य और राजाओं से सम्बन्धित कवियों के रचित ग्रंथों की खोज तो और भी कम हुई है। एक एक सम्प्रदाय के अनेक संतों ने बहुत बड़ा साहित्य बनाया है, जिनका उल्लेख आज तक किसी भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में नहीं हुआ, न डा० मोतीलाल मेनारिया के "राजस्थान का पिंगल साहित्य" में ही उसका उल्लेख है, जो कि राजस्थान में रचित हिन्दी साहित्यिक विवरण देने के लिए ही लिखा गया है।

बहुत से ऐसे भी ग्रंथ हैं जिनका खोज रिपोर्टों से पता तो चलता है, पर उन ग्रंथों को देखकर किसी ने भी उनका भली भाँति परिचय नहीं दिया। इसमें कई ग्रंथ ऐसे भी हैं जो हिन्दी गद्य में लिखे गये हैं। हिन्दी का प्राचीन गद्य बहुत कम मिलता है, यह अक्सर कहा जाता है, पर वास्तव में यह धारणा भ्रमपूर्ण है। वैसे कुछ ग्रंथ १४वीं १६वीं शताब्दी के ऐसे मिलते हैं जिनमें गद्य के काफी उद्धरण पाये जाते हैं। पर कुतुबुदीन की वार्ता तो प्राचीन हिन्दी गद्य का बहुत सुन्दर नमूना है। उसकी प्रतियाँ भी बहुत मिलती हैं, जिनमें काफी पाठ भेद है, पर उसको आज तक प्रकाशित करने का प्रयत्न ही नहीं किया गया। अब मैं इसे शीघ्र प्रकाशित करने का विचार कर रहा हूँ। १७वीं शताब्दी से तो गद्य रचनाएँ बराबर लिखी जाती रही हैं। अट्ठारहवीं के प्रारम्भ से अंत तक की सैकड़ों गद्य रचनाएं मिलतीं हैं जिनमें से कई मौलिक हैं और बहुत सी भाषा-टीकाओं के रूप में हैं। वल्लभ संप्रदाय के विद्वानों द्वारा वार्ताओं का साहित्य बहुत विशिष्ट और अच्छे परिमाण में लिखा गया है, जिनमें से कुछ का स्वतन्त्र प्रकाशन हो चुका है, अन्यका होने वाला है। कुछ वार्ताएं "वल्लभीय सुधा" में भी क्रमशः प्रकाशित हो रहीं हैं। राजस्थान के संतों ने भी कई गद्य ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें से मनोहरदास निरंजनी के दो गद्य ग्रंथों का परिचय इस लेख में दिया जा रहा है। निरंजनी संप्रदाय के पचीसों विद्वानों ने करीब एक लाख श्लोक परिमित रचनाएं कीं हैं पर उनकी ओर विद्वानों का ध्यान बहुत ही कम गया है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में इस संप्रदाय के साहित्य का जो परिचय दिया था, २५ वर्ष हो जाने पर भी हमारी जानकारी उससे बढ़ नहीं पाई, यह बहुत ही खेद की बात है। इतना ही नहीं जिन रचनाओं का उन्होंने उल्लेख किया है, उनके अध्ययन करने का भी किसी ने कष्ट नहीं उठाया है। यह स्थिति बहुत ही अशोभनीय है।

संत साहित्य के विशेष अध्येता श्री परशुराम जी चतुर्वेदी ने अपने "उत्तरी भारत की संत परम्परा" नामक वृहद् और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ में लिखा है—"इस पंथ के अनेक महापुरुषों ने ग्रंथ रचे हैं जो अभी तक अप्रकाशित हैं। निरंजनी संप्रदाय का कोई श्रृंखलाबद्ध इतिहास उपलब्ध न होने के कारण इनके प्रधान प्रचारकों का परिचय नहीं मिल पाता और न इनकी गुरु परम्परा व शिष्य परम्परा के अनुसार उनका समय निश्चित करने का कोई

साधन पाया जाता है। यदि पूरा साहित्य प्रकाश में आ जाय, तो सम्भव है इसके वास्तविक महत्त्व तथा मुख्य देन का पता चल जाय।"

अभी मैंने निरंजनी संप्रदाय के संत हरिरामदास जी की रचनाओं का परिचय सरस्वती में प्रकाशित किया। इस संप्रदाय के दूसरे विद्वान संत मनोहरदास के ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया जा रहा है। इस संप्रदाय के अन्य २० संतों की रचनाओं की सूची भी मुझे स्वामी मंगलदास जी से उपलब्ध हुई है। उसे अपनी जानकारी के साथ दूसरे लेख में प्रकाशित करूँगा।

मनोहरदास निरंजनी की रचनाओं का विवरण सन् १९००, १९०३ व १९०६ से १९०८ तक की रिपोर्टों में आ चुका है। पर उनके आधार से तैयार किये गये सभा के पूर्वोक्त ग्रंथ में रचना काल, पद्य संख्या आदि का विवरण नहीं दिया गया। उनके जो दो ग्रंथ गद्य में हैं, उनका भी उसमें निर्देश नहीं है। स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इनकी तीन रचनाओं का उल्लेख करते हुए 'ज्ञान मंजरी' का रचना काल सम्वत् १७१६ बतलाते हुए तीसरे ग्रंथ वेदान्त भाषा के रचना काल के सम्बन्ध में "कदाचित् इसकी रचना भी इसी समय के आस पास हुई" ऐसा संदिग्ध सूचन किया है। पता नहीं उनके सामने यह रचना थी या नहीं ? क्योंकि वेदान्त भाषा में रचना काल का स्पष्ट उल्लेख है।

उत्तरी भारत की संत परम्परा में मनोहरदास के केवल नाम ही का उल्लेख है। उनका समय सम्वत् १७७७ सूचित किया गया है जो वास्तव में स्मृति या मुद्रण दोष है। वास्तव में इनका समय सम्वत् १७१७ के आस पास का है।

'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' के पृष्ठ ११६ में इनकी पाँच रचनाओं का उल्लेख है—

(१) षट्प्रश्नी (२) शत प्रश्नोत्तरी (३) ज्ञान मंजरी (४) वेदान्त परिभाषा (५) ज्ञान (वचन) चूर्णिका। इनमें से बड़थ्वाल जी ने नं० ३, ४, ५, का ही उल्लेख किया है।

अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में इनकी पाँचों रचनाएँ हैं। पर स्वामी जी से प्राप्त मेरे संग्रह के गुटके में ४ रचनाएँ ही हैं, अतः उनका परिचय पहिले दे रहा हूँ। 'षट्प्रश्नी' का अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, लालगढ़ जाकर विवरण लिख डाला वह, पीछे दिया जायगा। निरंजनी सम्प्रदाय का मुख्य ध्येय निरंजन की उपासना था। इसके प्रवर्त्तक हरिदास जी को सन्मार्ग प्रदर्शित करने वाले तो कोई नाथ सम्प्रदायी थे। जैसा कि हरिदास जी की जीवनी से विदित होता है कि उन्होंने ४५ वर्ष की अवस्था तक तो गृहस्थ जीवन बिताया। ये लूटमार भी करते थे। अतः ये अधिक पढ़े लिखे नहीं थे, अनुभव की पूंजी से इन्होंने अपना पंथ प्रचारित किया। प्रायः बहुत से सम्प्रदायों के सम्बन्ध में यही बात हुआ करती है कि सम्प्रदाय प्रवर्तक अधिक विद्वान् नहीं होते। अतः उनके उपदेश तो अनुभव-प्रधान सीधे-सादे पर जनता के हृदय को छूने वाले होते हैं, इसी से उनका सम्प्रदाय चल पड़ता है। आगे चलकर जब बहुत से शिष्य व अनुयायी हो जाते हैं तो उनमें से कुछ व्यक्ति प्रतिभाशाली विद्वान् भी निकलते हैं जो अपन सम्प्रदाय की नींव और विचार-धारा को सुदृढ़ और सुव्यस्थित बना

देते हैं। हरिदास जी की परम्परा में भी कई विद्वान् हुए जिनमें से हरिरामदास, मनोहर दास, भगवान दास आदि संस्कृत के अच्छे विद्वान् मालूम होते हैं। उन्होंने निरंजनी सम्प्रदाय में वेदान्त के आधार से उच्च स्तर की रचनाएँ कीं। मनोहरदास जी की रचनाएँ वेदान्त के सिद्धान्तों पर आश्रित व कुछ तो उनके अनुवाद रूप हैं[१]। प्रायः सभी सम्प्रदायों में मूल रूप में समय-समय में परिवर्तन होकर कालान्तर में कुछ दूसरा ही रूप प्रगट हो जाता है। अब करीब दो सौ वर्षों से निरंजनी सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय जैसा हो गया है। उनमें मन्दिरों की पूजा, यज्ञोपवीत रखना, तिलक, कंठी माला रखना, रामायण की कथा करना आदि प्रचलित हैं। इससे पहले इस सम्प्रदाय के आचार-विचार बहुत भिन्न थे। उस समय की उपासना में निर्गुण भक्ति, नाम-स्मरण, त्याग-वैराग्य से रहना व कंठी तिलक आदि से कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रारंभिक कालीन आचार-विचार-साधना में पीछे से बहुत परिवर्तन आगया। कहाँ वेदान्त की उच्च विचार धारा, कहाँ व्यावहारिक सगुणोपासना-रूप भक्ति मार्ग। उनकी मूल विचारधारा के सम्बन्ध में डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने अपने लेख में प्रकाश डाला है। उसी के आधार से परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' में इस सम्प्रदाय का कुछ परिचय दिया है। अब हम मनोहर दास निरंजनी के चारों ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

१. ज्ञान मंजरी——

यह ४० पद्यों की रचना है। इसमें तीन प्रकार के मुमुक्षुओं और सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधिआदि विषयों का सुन्दर निरूपण है। प्रारम्भ और अन्त के कुछ पद्य इस प्रकार हैं:—

प्रारंभ——आतम के अज्ञान तें, सबै उपजे जान।
ज्ञान भए तें लीन सब, नमस्कार तिहु मान ॥१॥

कवित्त——प्रथम मुक्त कहि दूसरो मुमुछी सोउ, तीसरौ विषई चौथो पामर विचारो है।
च्यारि पुरुष संसार मांझ निरधार है बन्धन मुकत डार मुक्त तौ न्यारो है।
बन्धन त छूट्यो चाहे मुक्तकौं जो उमाहै, सोई तौ मुमुक्षी आहे ——मोक्ष निरधारो है
भोग विषई सुख चाहै विष-कहावै सोई, पामर सौ पेट भर मेटरा पियारो है ॥२॥

प्रश्न——वेद, आंमना कौन परि, हमसौं कहि सो भाख।
यथा अर्थ है वेद कौ, गोपि कछु जन राख ॥३॥

उत्तर——वेद सबै त्रिकाण्ड हैं, कर्म, उपासना, ज्ञान।
मुक्त परि कोउ काण्ड नहि, सो है ब्रह्म समान ॥४॥

---

१ देखें सरस्वती मार्च १९५६ में प्रकाशित मेरा लेख

विषई परि नहीं आमना, भोग कौं साधित नांहि ।
नासवन्त सब भोग है, झूठै सुख ता माहि ॥५॥
तात्पर्य सब वेद कौ, एक मोक्ष परि जान ।
भोग हूं लोक प्रलोक के, ता परि नही बखान ॥६॥
'सांचो बोले' साच कूं, साच लहे सांई साच
साँचो झूठ न बोलहीं, साची जाकी वाच ॥७॥
साचो ईश्वर जानि, साची वानी वेद ।
साचौ चाहै मुख सुख, लह्यौ वेद कौ भेद ॥८॥
वेद मुमुक्षी परि सवै, वेद मोक्ष कौ हेत
जीवेश्वर की एकता, महावाक्य करि देत ॥९॥
मुमुक्षी तीन प्रकार है, उत्तम मध्यम मन्द
तीनों परि त्रिकाण्ड है, मुकु भाव करि सन्द ॥१०॥

अन्त—निरंजन अंजन रहित है, अंजन सों परकास ।
मनोहरदास निरंजनी, सबै निरंजन वास ॥३९८॥

कवित्त—पंचों विषय पंच फूल संकल्प सो गंगाजल शुभाशुभ चन्दन सो केसरि चढ़त है ।
गिरा कौ उच्चार जाप, निद्रा सो समाधि ध्यान, इच्छ्या तो अखण्ड रूप आरती जरत है ॥
सामग्री ब्रह्माण्ड सब पूजा कौं प्रकाश कीन्ही, देह मठ मांझ ताकी प्राप्ति धरत है ।
अचित अरूपरूप चित्त कौ स्वरूपी ह्वै कै, आत्माकी पूजा आप आत्मा करत है । ३९९
आठ अंग योग जानें भगति नौधा कौ मानै, प्रेम उर मध्य आनि दशईं हू कीजिए ।
उग्रहू वैराग धारै नेह सबसौं निवारै, काम क्रोध लोभ मोह मारि मेटि दीजिए ।
केवल प्रकाशै ज्ञान आप हूं में आप जांन, चैतन्य स्वरूपी रूप जोइ जानि लीजिए ।
आस तें अनास वास देह में विदेह जास, जीवन्मुक्त जोगी जग मांझ जीजिए ॥४००॥

दोहा—सम्वत् सत्रहसै मही वर्ष सौ रहै मांही ।
वैसाख मास है शुक्लपक्ष, तिथी पुन्यूं है ताहि ॥४०१ ॥

सोरठा—भाषा ग्रन्थ कहि एह, सबै वैखरी वाक है ।
परापश्यन्ती जेह, मधिमा पीछै पाईयै ।।४०२।।

कवित्त—अपौरूषी वानी वेद अद्वैत है ब्रह्म जामै
द्वैत तामें भेद नाहीं, एक रूप सब है ।
ताकौ है स्वरूप परा पश्यन्ति है मधिमा सो ।
बैखरी अनन्त रूप, च्यार वेद जब है ।
ताम है सो काण्ड तीन, कर्म उपासना सो,
ज्ञान काण्ड तीजों जान औरन कौ तब है ।
रिष वांनी लिए ज्ञान,
तैई तौ वहै प्रमान, ज्ञान लिए नरवानी भेद कहो कब है ।।४०३।।

दोहा—त्वं पद देव त्रिजंच ऋषि, नर किंनर सब जान ।
ततपद ईश्वर देख सब, त्वं तत तत् त्वं भान ।।४०४।।
मनोहर दास निरंजनी, सो स्वामी सो दास ।
स्वामी दास भयौ एकसों, महाकाश घटाकाश ।।४०५।।
इति ज्ञान मंजरी नाम भाषा सम्पूर्ण

२. **वेदान्त महा वाक्य भाषा**– यह २९५ पद्यों में है ।

आदि :—कर्त्ता ग्रन्थ करिवै में निर्विघ्न सुख चाहै है—

दोहा —मंगल देव मोहि देव गणेश, मंगल दे मोहि सरस्वती
मगल दे मोहि देव महेश, मंगल दे मोहि पारवती ।।१।।
ग्रन्थ का प्रयोजन अरु विषय कहीय है=

चौपाई—आत्म लाभ तें औरन कोई, यहु भाषत हैं मुनि सब सोई
लाभ अर्थ कवि करें वखांण, आतम कौं ईश्वर करि जांन । २।।

अन्त —एक एक तांह एक नहि, दोइ कहूं को तीन
जीवेश्वर साक्षी नहि, निर उपाधि समलीन ।।२८४।।
मोमें जीवन्मुक्ति नहीं, नहि विदेह मम मुक्ति ।
गुरू शिष्य द्वै मम भाव नहि, नहि अज्ञान मम युक्त ।।२८५।।
साधन सिद्ध मोमें नहीं, मोम नहीं रस रीत ।
परमानन्द स्वरूप मम, परम प्रम परतीत ।।२८६।।
साधन आराधन नहीं, जीवेश्वर नहीं भास ।
निर्विकल्प चिदघन सदा, परमानन्द प्रकाश ।।२८७।।
गुणतीत मन वच अगम, निगम कहत है जाहि
सोई ब्रह्म आतम लखे, ज्ञानी कहिये ताही ।।२८८।।

ग्रन्थ को नाम—वाक्य अर्थ भाषाकरी, गुरू शिष्य सो सम्वाद ।
वेदान्त भाषा नाम यह, समझैं पावै स्वाद ।।२८९।।
ग्रन्थ को अधिकारी कहीए है—

दोहा —अधिकारी या ग्रन्थ को, कहिए साधन सिद्ध ।
सो समझै या ग्रन्थ को, लहै मोक्ष सो निद्ध ।।२९०।।
मनोहरदास निरंजनी, करी सुभाषा सार ।
थोरी सी विस्तार नहीं, अर्थ सबै विस्तार ।।२९१।।
सुगम करी कवीश्वरी, कठन कछु नहिं सोई ।
जाकी बुद्धि विशाल ह्वै, समझै ज्ञानी होई ।।२९२।।

साधन कहीए है—

कवित्त—बार बार बूझै मन अर्थ सूझे सबै, याके मुमुक्षु जो होई सोई पावै गुरू गम तें ।
निन्दारू स्तुति तजै, मानरू बड़ाई छोरे, कपट लम्पट त्यागै चित्त राखे सम तें ।।
विवेक वैराग दोई. सम दम और सोई, उपरति तितिक्षा सु सरधा में रमतें ।
समाधान मोक्ष में न और कहूँ समाधान, ध्यान धरै रैन दिन राखै मन तम तें ।।२९३।।

दोहा —सम्वत सतरासै मही, सोरह वर्ष वितीत ।
वर्ष सतरवे महि करि, षट्मास जाहि वितीत ।।२९४।।
आसौज बदि है चतुरदशी, कृष्ण पक्ष शनिवार ।
भाषा पूर्ण सब भई, मास एक कृत कार ।।२९५।।
इति वेदान्त महा वाक्य भाषा नाम ग्रन्थ सम्पूर्ण

३. ज्ञान चूर्ण वचनका

इसके प्रारंभ में ११ दोहे हैं फिर गद्य में है ।

आदि

दोहा —रवि गुरू द्वै सम तुल्य ज्यौं, तम अज्ञांन करें दूर ।
जगउर में परकाश करि, वन्दन कूँ निज मूर ।।१।।
जीवेश्वर चैतन्य महि, कहीए है द्वै नाम ।
सर्वज्ञता अल्पज्ञ पुनि, संसारी सुखधाम ।।२।।

गद्य:—ता स्वरूप का ज्ञान अज्ञान दोनों नाहीं अरु विद्याज्ञान को अधिकरण अरु अविद्या ज्ञान को अधिकरण है सु एक अन्तः करण हैं अरु अन्तः करण में मिल्यो है चैतन्य ताकौं जीव कहीए सो अन्तः करण अज्ञान को कार्य है। सोई अज्ञान स्वरूप अज्ञान कहीए सो जाको स्वरूप को अज्ञान है ताहि को विद्याज्ञान चाहिजे इति स्वरूप है सुविद्या अविद्या को विरोधी नाहीं सो ब्रह्म कहीए अरु अज्ञान ते अनोप हत कहीए। अज्ञान सो उपहित जीव कहीए।

अन्त—

दोहा—भाषा ग्रन्थ यह वचनका, औषध चूर्ण सोई।
ज्ञान चूर्ण यह वचनका, नाम जु याकौ होई ॥१॥
सप्त नीर चूरन भखै, उदर रोग सब जाई।
त्यौं साधन सहित विचार तैं, संसार रोग नसाई ॥२॥
संसै रोग संसार सब, नासै करै विचार।
कहै **मनोहरदास निरंजनी** यह निहिचै निरधार ॥३॥
निर्गित अजन रूप जहँ, सोई निरंजन जांन।
सोई अपनपौ आप है, अहम् रोग बिलमान ॥४॥
इति श्री ज्ञान वचन चूर्णका सम्पूर्ण।

४. शत प्रश्नी उत्तर—

यह ६ खण्डों में विभक्त है। इसमें १०६ प्रश्नों के उत्तर गद्य में दिये हैं। १०६ प्रश्न इस प्रकार है।

आदि—वाच्य लक्ष्य करिजांन, निर्गुण सर्गुण यो कह्यौं।
करि नमस्कार बखांन, वाच्य त्याग करि लक्ष्यकौं ॥

द्वि. खंड अथ प्रश्न—(१) अव्याकृत कौन ? (२) माया कौन ? (३) अविद्या कौन ? (४) विद्या कौन ? (५) बन्ध कौन ? (६) मुक्त कौन ? (७) जाग्रत कौन ? (८) स्वप्न कौन ? (९) सुखपति कौन ? (१०) मूर्च्छा कौन ? (११) समाधि कौन ? (१२) तुरया कौन ? (१३) जीव कौन ? (१४) ईश्वर कौन ? (१५) साक्षी कौन ? (१६) ब्रह्म कौन ? (१७) आनन्द कौन ? (१८) आनन्दमय कौन ? (१९) ज्ञानमय कौन ? (२०) मनोमय कौन ? (२१) प्राणमय कौन ? (२२) अन्नमय कौन ? (२३) कर्त्ता कौन ? (२४) कर्म कौन ? (२५) क्रिया कौन ? (२६) ज्ञाता, (२७) ज्ञान, (२८) ज्ञेय, (२९) प्रमाता, (३०) प्रमाण, (३१) प्रमिति, (३२) प्रमाज्ञान, (३३) अप्रमाज्ञान, (३४) प्रकरण, (३५) महावाक्य, (३६) सविकल्प वाक्य, प्रकृति वाक्य, निर्विकल्प वाक्य, (३७) अवान्तर वाक्य, (३८) कर्म काण्ड, (३९) उपासना काण्ड, (४०) ज्ञान काण्ड, (४१) वेदान्त, (४२) वेद, (४३) योग, (४४) योग के अंग, (४५) इन्द्रिय, (४६) विषय, (४७) अन्तस्करण, (४८) सर्व के देवता, (४९) प्राण, (५०) शरीर, (५१) अभिमानी, (५२) अधिष्ठान, (५३) प्रलय, (५४) उत्पति, (५५) स्थिति,

(५६) काल (५७) कर्म, (५८) सुभाव, (५९) गुण, (६०) निर्गुण, (६१) सगुण, (६२) साकार, (६३) निराकार, (६४) आकार निराकार दोनों नह, (६५) गुरू, (६६) शिष्य, (६७) उपदेश, (६८) दीक्षा, (६९) मन्त्र, (७०) वर्ण, (७१) आश्रम, (७२) अत्याश्रम, (७३) धर्म, (७४) अधर्म, (७५) मरण, (७६) जन्म, (७७) विष, (७८) अमृत, (७९) गुण, (८०) दोष, (८१) जस, (८२) अपजस, (८३) पण्डित, (८४) मूर्ख, (८५) रोगी (८६) अरोगी, (८७) क्षेत्र, (८८) क्षेत्रज्ञ, (८९) सत्, (९०) असत्, (९१) चित, (९२) जड, (९३) आनन्द, (९४) दुख, (९५) अस्ति, (९६) भाति, (९७) प्रिय, (९८) नाम, (९९) रूप, (१००) दृश्य, (१०१) दृष्टा, (१०२) परिच्छन्न, (१०३) पूर्ण, (१०४) परिच्छन्न पूर्णतया रहित, (१०५) संशय, (१०७) जीवन्मुक्ति, (१०८) विदेह मुक्ति, (१०९) स्वरूप ।

उदाहरण--

उत्तर—१. बन्ध कौन सु कहीए है ? —अनात्म विषै आत्म बुद्धि ताकों बन्ध कहिये, । अनात्मा कहीए । देह इन्द्रिय मन प्राण सम्बन्ध ता विषै आत्म भान की देहोहं सोई बन्ध कहीए । इति बन्ध प्रश्न—

उत्तर २. मुक्त कौन ? सु कहीए है—कि ताही अभिमानकी कि देहाभिमान की जो निवृति ताको मुक्त कहीए इति मुक्त प्रश्न ।

उत्तर ३. कर्म कौन ?—जबलों ज्ञान उपजे नहीं तोलों संचित प्रारब्ध क्रियमाण कर्म, क्रिय विधि-भूत भविष्य वर्तमान प्रतिबन्ध लीने इति कर्म प्रश्न ।

उत्तर—गुरू कौन ?—गुरू ज्ञान मूर्ति, ईश्वर तुल्य । शिष्य कौ संसार ते पार करे, सो गुरू ।

उत्तर—शिष्य कोंन—विवेक वैराग्य सम दम उपरति तितीक्षा समाधान श्रद्धा मुमक्षता इति चतुष्ट साधन सहित होई सोई शिष्य, नतु अहं देहं भर:

उपदेश कोंन—आत्मा अनात्मा को विचार जाते पाइये, शिष्य को अपने स्वरूप को ज्ञान होई । इति उपदेश ।

उत्तर दीक्षा कौं —जब निर्मल ज्ञान दयौं गुरू तब जन्म मरण को क्षय भयो ।

उत्तर मन्त्र कों --अद्वैत वाक्य तत्वमसि, तू ब्रह्म है तब शिष्य कहै अहं ब्रह्मास्मि तातें महा वाक्य मन्त्र तत्वमसि मन्त्र ।

अन्त--

तुरिया ब्रह्म आत्मा जानो, ब्रह्म सो साक्षीरूप बखानो ।
साक्षी अहं लक्षणां लहिये अहं ब्रह्म ए कैसो कहीए ।।५।।
लक्षार्थ कह्यो यह सोई जामहि द्वैत भान नहीं होई ।
द्वैत भान बाधक रयो, जामहि, फल फलं नाम दोई नहि तामहि ।।६।।
फल सो चिदाभास परमाता अहं ब्रह्म कहायो विख्याता ।

स्वरूप मांझ द्वै फल ए नाहिं, विकल्प रहित रहै सो तांही ।।७।।

इति शत प्रश्नोत्तरी भाषा मनोहरदास निरंजनी कथ्यते नवम् खण्ड ।

हौं में हौं, तू नाहीं हों, तू हौं, मैं हों कहौ । सब है हौं तूं माहि, हौं तू हौं तूं एक है ।

(सं० १८२५ व्यास पोकरण मोहन लिखित निरंजनी धर्मदास पठनार्थ, गुटका में पत्र ७७ पं० २६ अ० २० से २५)

षट् प्रश्नी—यह दो भागों में है। प्रथम भाग में ३ प्रश्नों का उत्तर है, पद्य संख्या २३२ है। दूसरे भाग में तीन प्रश्नों का उत्तर है २६४ पद्यों में दिया है। बीच बीच में गद्य भी है।

आदि—"प्रथम ग्रंथ कौ कर्ता है सुग्रंथ की आदि इष्ट देवता है सु ताको सरूप चितवन दिखावतु है। अरु जा ग्रंथ की निर्विघ्नता सिद्ध करिवे कौ हृदय मांझ ताको सरूप करि कै नमस्कार करतु है।

दृष्टा एक सरूप है, जीवेस्वर नहिं भेद ।
मो स्वरूप उर बंदिकै, विघ्न सबै तजि वेद ।

अंत—

जीव ईश के भेद महिं, जीव ईश पक्ष दोय ।
जीव ईश पक्ष बहु कहो, एक अज्ञान ते सोइ ।
साक्षी सब में मानीय, साक्षी है निरवार ।
जीव ईश यहि देखिये, चैतन्य साक्षी सार ।।२८।।
जीवेस्वर साक्षी कह्यो मत कत कै अनुसार ।
तीनों प्रश्न विचारि के, तीन प्रश्न उर धार ।।२९।।
जीव कह्यो ईश्वर कह्यो, साक्षी कह्यो अब सोइ ।
बंध मोक्ष सब एक है बंध्योरू मुक्तो जोइ ।।३०।।
षट् प्रश्न में किये, समाधान करि ताहि ।
षट् प्रश्नी निर्णय नाम यह, भाषा ग्रंथ यह जाहि ।।३१।।
मनोहर दास निरंजनी, भाषा करि है सार ।
थोरी सी विस्तार नही अर्थ कछु विस्तार ।।३२।।

इति श्री षट प्रश्नी निर्णय नाम भाषा ग्रंथ मनोहरदास निरंजन कृते प्रथम अर्धभाग ३ प्रश्न अर्धभाग महि करिकै समाधान करि आये तीन प्रश्न और रहे ताकौ समाधान पूरण भाग महि कहियेगो। ता कहिवे कै तांइ प्रथम जा चैतन्य मांहि वंध अरु मुक्त अरु बंध्यो मुक्तौ का रहि जाय सुकहिये है।

दूसरे भाग का अंत—

बाय तीन आकाश में, और लीन कछु नांही ।
सोहै देव में लीन त्यौ और लीन का मोहि ।।२।।

देव स्व प्रकाश स्वरूप है, साक्षी देवे सोइ ।
और देव अदेव सब, साक्षी बिना न होइ ।।

दूसरी प्रति में अंत का पद्य इस प्रकार है—

अहंब्रह्म बिश्रामता, सो असंगता देख ।
मन बचने कै सौ परें, रह्यो अेक अवशेष ।

इति षट् प्रश्नी निर्णय नाम भाषा ग्रंथ मनोहरदास निरंजनी कृत संपूर्ण । सं० १८४८ पो० ब० ४ कस्बा नोहर में जोसी बगसीराम जयपुर वाले द्वारा लिखित पत्र ८४ प्रति पृष्ट पंक्ति १८ प्रति पंक्ति अक्षर १८ । इसमें ज्ञान मंजरी पूर्ण, शतप्रश्नी अपूर्ण है ।

दूसरी प्रति बहुत महत्त्व की है । उस में पाँचों ग्रंथ है । सं० १८३८ भा० सु० १५ में बालक दास ने इसे लिखी है । प्रति बहुत सुन्दर है । पत्रांक १५९ से २८५ में षट् प्रश्नी लिखित है ।

परिशिष्ट

निरंजनी साधु

इनका पंथ भी संवत् १६०० के पीछे हरिदास जी से चला है । हरिदास को कोई साँखला और कोई बीदा राठोड़ बताते हैं । असली नाम हरिसिंघ था । ये धाड़े मारा करते थे । एक दफे अकाल पड़ा था । लोग सिंध में जा जाकर नाज लाते थे । इनके साथियों ने उधर से एक कतार के आने की बात सुनकर इनको खबर दी । ये रात को रास्ते में छुपकर बैठ गये और अपने साथियों को इधर उधर खबर लाने के वास्ते भेजा कि इतने में कतार आगई । कतार वाले आपस में अपने घर की बातें करते आते थे । कोई कहता था कि मैं चार रोज का नाज छोड़ आया था और कोई कहता था कि मेरे घर में दो ही दिन का नाज था । फिर नहीं मालूम कि बच्चों का क्या हाल हुआ होगा । इन बातों के सुनने से हरिसिंघ के दिल में दया आगई । उसने कहा कि मैं जिन को लूटने को बैठा हूँ उनका तो यह हाल है, अब जो मैं इनकी कतार लूटूंगा तो इनके बाल-बच्चे अभी नहीं मरे होंगे तो अब मर जावेंगे और मैं इन काल के मारे भूखे गरीबों का नाज लूट कर कितने दिन जिऊँगा । यह सोच विचार कर उन से कहा कि भाई चलो कतार तो दूसरे रास्ते से निकल गई । अब बैठे क्या करें फिर देखेंगे । इस तरह उन लोगों को घर भेज कर अपने हथियार तोड़ डाले और साधु होकर डीडवाने के पास एक अच्छी जगह देखकर बैठ गये और निरंजन, निराकार परमेश्वर का नाम जपने लगे जिससे उन के चेले निरंजनी कहलाये ।

फारसी किताब 'दबिस्तानुल मज़ाहिब' में हरीदास जी को बेनीदास साँखला की बस्सी का जाट लिखा है और कहा है कि वे नागोर के इलाके में रहते थे। एक दिन उन्होंने हिरनी का शिकार किया। वह ग्याभिन थी। तीर का जखम बच्चे के भी लगा। यह हाल देखकर हरीदास की हालत बदल गई। तीर कमान तोड़, कपड़े फाड़, जंगल को निकल गये। और बारह बरस तक चुपचाप एक जगह बैठ कर ध्यान करते रहे। बहुत लोग उनके चेले हो गये। उन्होंने अपने पंथ का भी नाम निरंजनी रक्खा। वे सन् १०५५ (संवत १६०२) में शाहजहाँ बादशाह के राज्य में 'राम सरण' हुए।

नावें के निरंजनी साधुओं ने लिखाया है कि हरीसिंघ जी सांखला राजपूत गाँव कापड़ोद के रहने वाले थे जो हकूमत डीडवाने के कसबे कोलिया से तीन कोस पश्चिम की तरफ बसता है। कोलिया और डीडवाने के रास्ते पर बोड़िया नाम का एक कुआ है। उसके दरखतों में छुपकर मुसाफिरों को ये लूटा करते थे। उस जमाने में गुरु गोरखनाथ जी भरथरी की गुफा में, जो डीडवाने के पास है, तपते थे। एक दिन कोलिया को जाते हुए हरीसिंघ ने उन्हें भी घेरा कि तुम जोगी बन कर दुनियाँ को ठगते हो। गोरखनाथ जी ने पूछा कि तुम धन लूटकर क्या करते हो। इसमें जो पाप होता है उसका भी कोई तुम्हारा सीरी है। हरीसिंघ ने कहा कि धन घरवालों को देता हूँ। पाप के भी सीरी वे ही हैं। गोरखनाथ जी ने कहा कि उनसे जाकर पूछो तो सही कि वे भी पाप में सीरी होने की हाँ करते हैं कि नहीं?

हरीसिंघ जी गोरखनाथ जी को एक पेड़ से बाँध कर घरवालों से पूछने गये तो उन्होंने साफ साफ़ कह दिया कि हम पाप के सीरी नहीं हैं। तुम ऐसा धन ही क्यों लाते हो। यह सुनकर हरीसिंघ घबराये हुए आये और गोरखनाथ जी को खोल कर, उनके उपदेश से साधु हो कर तीर्थनाथ जी डूंगरी पर जा बैठे, जो उस जगह से एक कोस दक्खिन की तरफ गाँव रार्यासघपुरे की सीमा में है और निरंजन निराकार का स्मरण करने लगे। उनके चेले निरंजनी कहलाये। हरीदास जी का जन्म सम्वत् १४७५ में हुआ था और सम्वत् १५८५ में १२० बरस की उमर पाकर वे देवलोक वासी हुए।

डीडवाने के निरंजनियों ने उनका भेख लेना यानी साधु होना सम्वत् १५०० के करीब बताया है। मगर इसमें इनकी भूल है क्योंकि जोधपुर के निरंजनी साधु नवलराम वगैरह ने हरीदास जी को प्रागदास जी का चेला लिखाया है, जो कृष्णदास जी पबहारी के शिष्य अगरदास जी के चेले थे और कृष्णदास जी खुद सम्वत १५५० के करीब हुए हैं। प्रागदास जी उनकी तीसरी पीढ़ी में थे फिर हरीदास जी, जो प्रागदास के चेले थे कैसे उनसे १०० बरस पहले हो सकते हैं। हमारी समझ में, उनके देवलोक होने का समय जो किताब 'दबिस्तानुल मज़ाहिब' में लिखा है, सही मालूम होता है।

हरीदास जी के ५२ चेले थे। जिन चेलों से निरंजनियों के ५२ थांमे, हरीदासोत, पुरणदासोत, अमरदासोत और नारायणदासोत वगैरा कायम हुए हैं। निरंजनी भी कुछ तो घरबारी हैं और बाकी निहंग है। घरबारी गृहस्थियों के से कपड़े पहिनते और रामानंदी

तिलक लगाते हैं निहंग खाकी रंग की गुदड़ी गले में डाले रहते हैं और माँग कर खाते हैं। घरबारी मंदिरों की पूजा करते हैं जो पीछे से आजीविका के वास्ते इन लोगों ने शुरू कर दी है ठेठ में तो निर्गुण उपासना ही थी और यही हरीदास जी भी करते थे।

घरबारियों के ब्याह रामवतों वगैरा में होते हैं और नाते का भी दस्तूर है। औरतें विशेष करके सफेद छींटे के घाँघरे पहनती हैं। मर्द धोती के नीचे कोपीन रखते हैं। भाई-बाँट में बड़े भाई को कुछ ज्यादा बाँट मिलता है। खोलायत के गले में चार भाई बंदों के सामने कंठी बाँधने से खोला पक्का हो जाता है। अब कुछ वर्षों में दोहिता का भी खोले आना शुरू हुआ है। मुरदे जलते हैं और उनकी सतरवीं होती है।

डीडवाने के पास एक गाढ़ा नामक जगह है। वहाँ हर साल फागुन सुदी १ से १२ तक मेला होता है जिसमें हरीदास जी की गूदड़ी के दर्शन कराये जाते हैं। मेले में इस पंथ के साधु बहुत आते हैं। जिनको बारह दिन महेश्वरी महाजन मिठाई की रसोई देते हैं; जिसमें ढाई गुनी खाँड़ पड़ती है और १२वें दिन राज की तरफ से सीरे की रसोई दी जाती है।

गाढ़ा निरंजनियों की पाट जगह है। यहाँ इनके महंत और बहुत से साधु रहा करते हैं। मकान भी अच्छे अच्छे बने हुए हैं। कुछ निरंजनी साधु गले में सेली बांधते हैं क्योंकि हरीदास जी को जब गोरखनाथ जी ने उपदेश दिया था तो एक टोपी और एक सेली भी दी थी!

हरीदास की बाणी की भी एक पुस्तक है और उनकी साखियाँ भी बहुत चमत्कारी हैं। जैसे—

साखी

आद अंत गोबिंद सगो, दूजो सगो न कोय।
हरिदास दूजो सगो, सो फिर बैरी होय!

महाराज श्री विजयसिंह जी के गुरु आत्माराम जी, जिन की भविष्य वाणी नाथों के हाल में लिखी गई है, निरंजनी साधु थे। डीडवाने में रहा करते थे। एक दफे महाराज श्री बखतसिंह जी नागोर से उनके दर्शनों को गये तो उन्होंने एक पत्थर उठाकर महाराज कुंवर विजयसिंह जी के हाथ में पकड़ा दिया। इसको उस वक्त तो ठीक नहीं समझा गया था मगर जब महाराजा बखतसिंह जी का जोधपुर में राज हुआ तो यह बात मानी गई कि वह पत्थर देना जोधपुर के किले के हाथ आने का वरदान था। फिर आत्माराम जी को इस किले में बुलवा लिया गया। महाराजा श्री विजयसिंह जी उनका बहुत मान करते थे। जब वे मरे तो उनको किले में ही समाधि दिलवाई। उस दिन मट्टी देने के बहाने रास, पोकरण, आसोप और नीमाज के ठाकुरों को बुलाकर कैद और कतल किया गया जिन्होंने मुल्क में फितूर डालकर महाराजा जी को दुःखी कर रखा था और आत्माराम जी भी कहा करते थे कि जब मैं मरूँगा तो तुम्हारा यह दुःख ले जाऊँगा। इसी वास्ते किसी चारण ने कहा है—

केहर देवा छत्रसी दल्लो राजकुमार, मरते मोड मारिया चोटी वाल चार।

आत्माराम जी का यह वचन अँगरेजी राज होने के बाबत मारवाड़ में मशहूर है—
कलकत्ते रो कामनी करसी एकोकार, आपां सूँ अलगी रहै काँकड़ आगे कार।

मुनि कान्तिसागर

कवि वृन्द के वंशजों की हिन्दी सेवा

कवित्व की प्रतापपूर्ण प्रतिभा सभी में समान भाव से नहीं पाई जाती। अनुभूति का समुचित वैयक्तिकरण ही यदि कविता है तो मानना पड़ेगा कि अनुभूति प्राप्त करने के लिए भी वैसी ही मानसिक पृष्ठ भूमि अपेक्षित है । किसी भी वस्तु विशेष के आन्तरिक रहस्य को समझना हरएक के लिए उतना सम्भव नहीं, जैसी जिसकी रसवृत्ति होगी वैसा ही उसे अनुभव होगा। रसग्रहण वृत्ति में भिन्नत्व का होना स्वाभाविक है। अन्तर के अमूर्त भावों को व्यक्त करने की उच्चतम क्षमता अत्यल्प व्यक्तियों में ही पाई जाती है। बहुत कम ऐसे व्यक्ति एवं परिवार मिलेंगे जिनको उत्तराधिकार में सम्पत्ति के साथ ज्ञान की परम्परा भी सम्प्राप्त हो । यद्यपि प्रतिभा वैयक्तिक होने के कारण साधना की परिणति है; तथापि भारतीय परम्परा में विश्वस्त मनुष्यों के लिए कुलागत एवं आनुवंशिक संस्कार का भी विशेष महत्त्व है । उच्चकोटि के संस्कार-सम्पन्न मानव का विकास सामान्य निमित्त को पाकर उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाता है । जब कि संस्कार-हीनों के लिए सतत् प्रयत्न भी विफल हुए देखे गये हैं । यहाँ जिन कवियों के सम्बन्ध में लिखा जा रहा है, उनके विषय में ऐसा लगता है कि कवित्व की मौलिक प्रतिभा पूर्वजों की चिरआचरित साधना द्वारा परम्परा के रूप में जीवित रही और आज भी है। मेरा तात्पर्य राजस्थान के सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि वृन्द से है । इनके पिता रूपजी भी उच्च कोटि के कवि व ग्रंथकार थे । वृन्द कवि स्वयं भी इतने उच्च कोटि के प्रतिभा-सम्पन्न आशुकवि थे कि औरंगजेब जैसे काव्य-रस-हीन व्यक्ति को भी प्रभावित कर उसके दरबार में प्रमुख कवि के रूप में रहे । इतना ही नहीं इनसे बादशाह इतना प्रभावित हुआ कि अपने पुत्र का प्रधान अध्यापक भी इन्हें ही नियुक्त किया । महाराजा राजसिंह ने कालान्तर में बादशाह से इन्हें माँग कर अपने यहाँ किशनगढ़ में बसा लिया । तब से इनके समस्त वंशज यहाँ रहे और आज भी हैं । साहित्यिक जागरूकता एवं कविता के प्रति स्वाभाविक झुकाव आज भी इस परिवार की मौलिक निधि है । आश्चर्य की बात यह भी है कि जिस प्रकार कवि के वंशजों में कवित्व प्रतिभा का निखार होता गया, उसी प्रकार आश्रयदाताओं में भी कवित्व विषयक शक्ति का प्रवाह कुछ वर्ष पूर्व तक अविच्छिन्न

गति से चला । महाराजा मदनसिंह जी के पूर्व किशनगढ़ के सिंहासन पर ऐसा कोई नरेश नहीं हुआ जिसने कोई न कोई स्वतंत्र ग्रंथ न रचा हो । यहाँ तक कि रानियाँ भी कवयित्रियां थीं ।

किशनगढ़ के राजघराने द्वारा भारतीय कला एवं साहित्य के विकास व संरक्षण में उल्लेखनीय योग प्राप्त हुआ है । इस वर्ष मार्च में मुझे हरिदुर्ग–कृष्णगढ़–किशनगढ़–गिरिधरनगर–नगधर जाकर वहाँ के राजकीय सरस्वती भंडार एवं तत्रस्थित अन्य पुरातन साहित्यक पंडितों के हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रह देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । संग्रह के निरीक्षण-परीक्षण से ज्ञात हुआ कि आज भी किशनगढ़ में हिन्दी साहित्य के मुख को उज्जवल करने वाली विविध विषयक कई महत्त्वपूर्ण कृतियां अन्वेषण की प्रतीक्षा में हैं । स्वयं शासकों के द्वारा रचित साहित्य भी इतने विपुल परिमाण में पाया जाता है कि यदि समुचित प्रकाशन की व्यवस्था हो तो कई ग्रंथावलियाँ तय्यार हो सकती हैं । जिन महाराजा राजसिंह के संबन्ध में प्रसिद्ध है कि वे कवि थे और वे ही वृन्द जी को लाये थे—उनकी आधे दर्जन से अधिक रचनाएँ तथा सैंकडों फुटकर कवित्त साहित्यिकों की दृष्टि में अज्ञात हैं; जब कि सरस्वती भंडार में कई प्रतियाँ बहुत ही सुन्दर व सुवाच्य लिपि में अंकित हैं । शासकों का कला-प्रेम केवल साहित्यिक रचनाओं तक ही सीमित न था, न उन्होंने उच्च कोटि के हिन्दी के कवियों को समादृत करके ही स्वकर्तव्यों की इतिश्री समझी, बल्कि उन्होंने ललित कला की एक शाखा—स्थितिशील चित्रकला—के विकास पर भी उतना ही ध्यान दिया । अपने यहाँ राज्य की ओर से उन्होंने स्वतंत्र चित्रशाला भी स्थापित की, जिसमें सामान्य चितेरों तक को प्रतिदिन तीन रुपये मिलते थे । कलाकार निराकुल चित्तवृत्ति से यदि साधना में तन्मय हो जाय तो वह विश्व को बहुत कुछ दे सकता है । अर्थ और सम्मान दोनों ही यहाँ के कलाकारों को प्राप्त थे । इसी कारण से दत्तचित्त होकर किशनगढ़ के कलाकारों ने न केवल प्राचीनतम राजस्थानी चित्रकला एवं तदंगीभूत कलोपकरणों की ही रक्षा की, अपितु अपनी स्वतंत्र शैली का भी सूत्रपात किया, जो चित्रकला–समालोचक वर्ग में किशनगढ़ शैली के नाम से विख्यात है । किशनगढ़ शैली के चित्र बहुत दूर से ही पहिचाने जाते हैं । आँखों में एवं मुख मंडल पर जो स्वाभाविक ओज और आभा का अपूर्ण समन्वय पाया जाता है वह सचमुच प्रेक्षणीय है । यद्यपि डिकसन[१] ने किशनगढ़ को चित्रशैली पर कुछ प्रकाश डाला है, पर वहाँ के वर्तमान नरेश श्री सुमेरसिंह जी के संग्रह में जो चित्र मैंने देखे, उससे तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अभी यहाँ के चित्रों का समुचित अध्ययन और मूल्यांकन नहीं हो पाया है । इन चित्रों का न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्व है, अपितु हिन्दी जगत् के सुपरिचित विद्वानों के चित्र, बहुलता से सुरक्षित रहने के कारण, साहित्यिक दृष्टि से भी यह संग्रह बड़ा ही दिव्य है ।

किशनगढ़ के शासकों का कला एवं साहित्य की विभिन्न शाखा व भाषाओं से कितना नैकट्य था इसका पता तो सरस्वती भंडार में संग्रहीत ग्रंथों से ही लगता है ।

---

१. "किशनगढ़ शैली में बनी ठनी राधा"—पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ ।

जिस प्रकार चित्रशाला एक स्वतंत्र राजकीय विभाग था उसी प्रकार पुस्तकों का भी स्वतंत्र विभाग रहा जान पड़ता है। वहाँ के धूलि-धूसरित सरस्वती भंडार में छोटे बड़े कई परिमाण के गुटके एवं कई विभिन्न आकार के कटे हुए कागज एवं काटने के औजार व लेखन की अन्य सामग्री पड़ी हुई है। कुछ बस्तों को टटोलते हुए कुछ पत्र ऐसे पाये गये, जिनमें ग्रंथों के क्रय-विक्रय का हिसाब व लेखकों के पारिश्रमिक का उल्लेख था। कादम्बरी, शिशुपालवध, कुमारसम्भव आदि ग्रंथ, दस दस आने में सम्वत् १७६१ में खरीदे गये। आठ प्रतिलिपि करने वाले वहाँ सदा के लिये नियत थे। तीन चित्रकार केवल ग्रंथस्थ चित्रालेखन के लिए ही नियुक्त थे। प्रसंगतः एक बात का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है; बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि महाराजा सावन्तसिंह-नागरीदास उच्चकोटि के कवि तो थे ही, साथ ही सफल चित्रकार भी थे। वहाँ कई ऐसे रेखाचित्र देखने में आए जिन पर उन्होंने स्वहस्त से अंकित किया है—

'तस्वीर महा० सावन्तसिंह की वणायी'।

कलाकार का हृदय ही कलाकार का समुचित सम्मान कर सकता है। शासन का कलाप्रेम केवल कागज के टुकड़ों पर ही व्यक्त नहीं हुआ, अपितु वह उनकी नस नस में व्याप्त था; यह विक्रम सम्वत् १७६२ के एक विस्तृत चित्र से ज्ञात हुआ। इस चित्र में निम्न प्रकार के भाव अंकित हैं :—

'एक पालकी में कवि विराजमान हैं पूरे राजकीय सम्मान के साथ।
महाराणा स्वयं इस पालकी को उत्साहपूर्वक कंधा दिए हुए हैं।'

यह चित्र विद्वानों के प्रति आन्तरिक भक्ति का यह अविस्मरणीय प्रतीक है। भूषण और छत्रसाल की स्मृति इस चित्र को देखकर जग उठती है। यद्यपि इस कृति में कवि का स्पष्ट नाम निर्दिष्ट नहीं है, पर ऐसा अनुमान होता है कि ये हरिचरणदास ही होने चाहिए। वे बिहार के थे, जो किशनगढ़ आकर बस गये थे; मूलतः यहाँ के निवासी नहीं थे। वे ही उन दिनों वृन्दाबन से किशनगढ़ पधारे थे। यह चित्र वल्लभ कवि का नहीं हो सकता क्योंकि वे तो स्थानीय कवि थे ही। इसलिए ऐसा सम्मान बाहर के आगंतुक कवि को ही दिया जाना विशेष युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

---

२. श्री मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थानी भाषा और साहित्य के प्रथम संस्करण के पृष्ठ १८६ में लिखा है कि 'ये किशनगढ़ के रहने वाले थे' पर वस्तुतः यह सत्य नहीं है। वे किशनगढ़ के निवासी निश्चय ही नहीं थे। हाँ, वहाँ बस अवश्य गये थे। मूलतः वे बिहार के निवासी थे, जैसा कि वे स्वयं ही अपनी लेखनी से 'कर्णाभरण' की अंतिम पुष्पिका में इस प्रकार सूचित करते हैं :—

राजत सुबे बिहार में　है सारनि सरकार।
सालग्रामी सुर सरित　सरजू सोम अपार ॥३८॥
सालग्रामी सुर सरित　मिली गंग सों आय।
अंतराल में देस सो　हरि कवि को सरसाय ॥३९॥

प्रस्तुत निबन्ध में, बृन्द के वंशजों की पूरी साहित्यिक सेवाओं का विवेचन तो सम्भव नहीं है। बल्लभ, दौलत, खुसराम और जयलाल के ग्रंथों के सम्बन्ध में ही संक्षेप में विचार किया जायेगा। यद्यपि उपर्युक्त सभी कवियों के जन्मादि सम्वत् एवं उनके व्यक्तित्व को प्रकाशित करने वाले ऐतिहासिक साधन प्रयत्न करने पर भी उपलब्ध नहीं हुए हैं, किन्तु इनमें से कतिपय के ग्रंथों में रचना काल एवं उनका प्रणयन किस शासक के समय में हुआ, इसका स्पष्ट निर्देश है। व्यक्ति के ऊज्ज्वस्वल व्यक्तित्व का वास्तविक ज्ञान उसकी विचारधारा के अन्तः परीक्षण से ही हो सकता है। इनके ग्रंथ ही इनके गहन चिंतन एवं रसपरिपाक के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

बल्लभ

ये अपने पिता के बाद महाराजा राजसिंह की सभा के कवि रत्न थे। इनके दो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं: 'बल्लभ विलास' और 'बल्लभ मुक्तावली'। 'बल्लभ विलास' का प्रसंग नायिका-भेद से सम्बद्धित है। दोहा, सोरठा इत्यादि सभी छन्द पाँच सौ की संख्या में हैं। नायिका-भेद विषयक ग्रंथ होने पर भी कवि ने इस ढंग से अपने विचार व्यक्त किये हैं कि पढ़ने वाले को एक सरस कथा का आनन्द आता है। विभिन्न प्रकृति की स्त्रियों के द्वारा भिन्न भिन्न रुचि की रस-सम्बन्धी सारी स्थिति स्पष्ट कराई गई है। उस समय इस ग्रंथ का इतना पठन पाठन था कि किशनगढ़ के राजाओं ने जो रस-सम्बन्धी ग्रंथ निर्मित किए हैं, उनमें भी बल्लभ के 'बिलास' का प्रचुर परिमाण में उपयोग किया है। यही इसकी तात्कालिक प्रसिद्धि का सब से बड़ा प्रमाण है। दुर्भाग्य से बल्लभ ने अपने ग्रंथों में रचना-काल नहीं दिया है। 'बल्लभ बिलास' की १८३५ बैशाख सुदी पूर्णिमा सोमवार की लिखित प्रति मेरे सम्मुख है, जिसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है:—

आदि भाग

श्रीगुर गणपति सारदा हरिहर सुक श्री व्यास
दोष रहित दीणे उकति मांगत कविता तास।
प्रसन्न होहिंगे देवता कविता सुधरण काज
प्रीत रीत चाहत कह्यों देहु देव वर आज।

परगन्ना गोआ तहाँ गांव चैनपुर नाम।
गंगा सों उत्तर तरफ तहँ हरि कवि को धाम ॥४०॥
सरजू पारी दित सरस बासुदेव श्रीमान।
ताको सुत श्रीराम धन ताको सुत हरि जान ॥४१॥
नवा पार में ग्राम है चढ़या अभिजन तास।
विस्वसेस कुल भूपबर करत राज बिभास ॥४२॥
मारवाड़ में कृष्णगढ़ तिह किय हरि कवि वास।
कोस जु कर्नाभरन यह कीनौ है जू प्रकाश ॥४३॥

अंत भाग

यह विलास संषप ही में यह कह्यो सुभाव
एक त्रिया की प्रीत यह ऐसी कही गनाय ॥४५॥
सुकीया परकीया अवर सामान्या नव अंग
छैल कियो नहि आप बस त्रिय भई विवस अनंग ॥ ॥
गहिबे कुं भारत फंदा परत त्रिया फंद आय
निकसत कसकत मेनसर हिय सौं उलटि उपाय ॥ ॥
मुगधा मध्या जे त्रिया प्रौढा प्रीति प्रवीन
अन अपनी कीनी सबनि होत नांहि आधीन ॥ ॥

कवित्त

पूरन प्रभू की कृपा पूरन भई है ऐसी दांन किरपान लियें सुन्दर सुजांन है।
विद्या के विधान बुधिवांन छलवान छैल जानत जिहांन जग देत जिन्ह मांने है।
वस्त्रम सुकवि कहै बाजत निसान जहाँ रंग किरपा न सुने जग में बषान है।
कौंन करै मानना सौं सुंदर सुजांन नारि बारंवार बारी जात प्रानन के प्रान है।

दोहा

या पोथी कों सुनतही महाराजा राजान
श्री मुषसों कहिकबु कवि किय वस्त्रम को सवान ॥ ॥

इस ग्रंथ की एक और प्रति कविवर खुसराम के—जो कवि श्री बल्लभ के प्रपौत्र थे—द्वारा लिखी हुई उपलब्ध हुई है जिसकी अंतिम प्रशस्ति इस प्रकार है—

"इति श्री कवि बल्लम कृत बल्लभ विलास सम्पूर्णम् ।

सम्वत् १८८७ का फाल्गुन शुक्ल ११ एकादश्यां मंगलवासरे मगनीरामेण लेखि कृष्णगढ़ मध्ये ।[3]

कविवर बल्लभ ने ग्रंथ के अतिरिक्त बहुत से प्रासंगिक कवित्त भी लिखे थे जिनका एक संग्रह किशनगढ के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है। किशनगढ की प्राकृतिक सुषमा से प्रभावित होकर कवि वाणी का मौन सहन नहीं कर सका। फलस्वरूप किशनगढ पर ८८ पद्य इतने भावपूर्ण लिखे हैं कि किशनगढ का सर्वांगपूर्ण शब्द-चित्र ही समुपस्थित कर दिया है। तात्कालिक नरुका परिवार पर कवि अप्रसन्न हुआ, परिणामस्वरूप शिष्टतावश जितने भी कटु वाक्यों का प्रयोग कवि कर सकता था कवित्तों में किया है। बल्लभ के पुत्र

---

३. मगनीराम कवि का चालू नाम है और कविता प्रबोध में खुसराम का प्रयोग हुआ है जैसा कि कवि स्वयं अपने ग्रंथों में अपने नाम के सम्बन्ध में इस प्रकार स्पष्टीकरण कर चुका है—

"न्यात जात व्यवहार में मगनीराम कहात
कविता छन्द प्रबन्ध में कवि खुसराम विख्यात"

सनेहीराम थे, इनके फुटकर कवित्तों के अतिरिक्त कोई महाकाव्य कृति अवलोकन में नहीं आई ।

दौलत

ये बल्लभ के पौत्र व सनेहीराम के पुत्र थे । हिन्दी जगत में अद्यावधि किसी भी इतिहास में इनकी कृतियों का उल्लेख नहीं हुआ । 'रस प्रबोध और रितु सुख सार' दो कृतियां उपलब्ध हुई हैं । 'रस प्रबोध' नायिका भेद विषयक महत्वपूर्ण कृति है जिसके वर्णन में कवि ने भानुदत्त कृत 'रस तरंगिणी' और 'रस मंजरी' का उपयोग किया है । २१५ पद्यों में कवि ने अपने विषय को बहुत ही सुन्दर रीति से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उपलब्ध प्रति कवि के विचारों को प्रथम ही व्यक्त करने वाली जान पड़ती है—अर्थात् प्रथमादर्श है । कारण कि प्रथम पृष्ठ में अपने विषय के समर्थन के लिए कवि ने कहाँ से प्रेरणा ली इसका उल्लेख है एवं मतिराम कृत रसराज ग्रंथ से नायिका लक्षण स्वकृत लक्षण को स्पष्ट करने के लिए उद्धृत किया है एवं साहित्य दर्पण की एकाध पंक्ति भी आलेखित है । ग्रंथ का रचना काल १८४६ असाढ कृष्णा दशमी गुरुवार, किशनगढ है और लेखन काल श्रावण वदी ११ रवि १८४६ है । तात्पर्य यह है कि ग्रंथ रचना के ठीक १५ वें दिन पर यह प्रतिकृति तैयार हुई जो राजस्थान पुरातन मंदिर जयपुर में सुरक्षित है । क्रमांक २२५० साइज $८\frac{३}{४} \times ४\frac{१}{२}$ । लिपि अतीव सुन्दर व सुपाठ्य होने के साथ ही परिवर्तित विषय रक्ताक्षरों से आलेखित हैं । ग्रंथ का आदि अन्त भाग इस प्रकार है:—

आदि भाग

हित कर नर मुनि ध्यांन धरि दानव देव समाज ।
सुष सौं बितबत रेंन दिन चितवत जे बृजराज ।।

अंत भाग

स्थाई संचारी सु अो विभावादि सब गीत
बरने नंहि विस्तार सौं ग्रंथ बढन को मीत ।।२११।।
कियौ भानु रसमंजरी रसतरंगिनी लेष
यह प्रबंध भाषा कियौ ताही को मत देष ।।२१२।।
कवि कुल मंडन वृंद जिहि प्रपितामह अभिराम
सुपितामह बल्लम सुकवि पिता सनेहीराम ।।२१३।।
तिहि सुत कवि दोलत कियो लच्छन लच्छ समेत
रस प्रबोध दिय नाम कवि सोध लेऊ कर हेत ।।२१४।।
संवत षटयुग सिद्धिससि गुरु आसाढ उचार
बदि दशमी भो ग्रंथ यह कृष्णदुर्ग अवतार ।।२१५।।

इति श्री कवि दोलत विरचित रसप्रबोधाख्योयं प्रबंध :।।समाप्त:।।: शुभंभवतु ।। श्री वो भूयताम् मिती श्रावण बदि ११ रविवार संवत् १८४६ का ।। लिखितमिदं पुस्तकं ।। ।।श्रीरस्तु।। ।।

६ ऋतु सुखसार

'ऋतु सुख सार' दौलत की दूसरी कृति है जिसमें छहों ऋतुओं पर एक एक अष्टक व कुछ पद्य हास्य रस से सम्बद्ध हैं। रचना फुटकर पद्यों में होकर भी गुणों से गरिष्ठ है। कविवर ने यह कृति विक्रम सम्वत् १८५५ पौष शुक्ल द्वादशी के दिन दीवान गोपालसिंह के पुत्र सावन्तसिंह के लिए निर्मित की और १८६३ कार्तिक सुदी तृतिया बृहस्पतिवार को मगनीराम अर्थात् कविवर खुसराम (जो दौलत का पौत्र है) ने कृष्णगढ़ में लिखी। आदि व अन्त भाग इस प्रकार है :

आदि भाग

दोहा

व्यापक सब जग ज्योति मय रस मय ब्रह्म सरूप।
तिहि प्रताप दौलत कियो रितुसुषसार अनूप ।।१।।
सब जग पालक धर्ममति श्री गोपाल दीवान।
तिहिं सुत सालमसिंह बली रिपु दल षंडन जान ।।२।।
ताके सुत सामत सुमति वीर धीर दातार।
दौलत बरने हुकम तिहिं कवित पचास सुधार ।।३।।

अंत भाग

देस मरुधरा मेड़तें नगर बडनिकौ बास।
रूपनगर में मान नृप रषें कृपा कर पास ।।११।।
सुपितामह वल्लभ सुकवि प्रपितामह है वृन्द।
पिता सनेहीराम सुत दौलत कवि मति मन्द ।।१२।।
पोस शुक्ल कवि द्वादशी ठारह पचपन वर्ष।
दौलत रितुसुखसार किय सुरगढ सामत हर्ष ।।१३।।

इति श्री कवि दौलत बिरचित षडरितु बर्नने रितु सुख साराख्यो ग्रंथः समाप्तः सं० १८६३ कार्तिक सुदि ३ तृतीयायां बृहस्पतिवासरे लिखितं मगनीरामेण स्वाध्ययनाय कृष्णगढ़ मध्ये ।।

संवत् विष्ठप अंग हैं सिद्धि हिमांशू नाम
कार्तिक सुदि तृतीया तिथिहि लिखितं मगनीराम।
देस मरुधर मांहि यह शहर कृष्णागढ नाम
तामे रितु सुषसार यह लिख्यो सुमगनीराम।

खुसराम—

कविवर खुसराम या मगनीराम कथित दौलत के पुत्र हैं। ये भी पिता के समान न केवल भावुक दृष्टि सम्पन्न कलाकार ही थे अपितु तात्कालिक जन जीवन के साथ इनका भी घनिष्टतम सम्बन्ध रहा जान पड़ता है। कविता के प्रति बचपन से ही इनके

हृदय में पर्याप्त रुचि थी। यद्यपि इनके सांसारिक वैयक्तिक जीवन पर प्रकाश डाल सकें, ऐसे साधन प्रयत्न करने पर भी उपलब्ध नहीं हो सके, किन्तु उनकी स्वहस्त लिखित कपितय प्रतियाँ मेरे निजी संग्रह में एवं राजस्थान पुरातत्व मंदिर जयपुर में सुरक्षित हैं, उनसे विदित होता है कि कविप्रिया, रसिकप्रिया जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ इन्होंने सम्वत् १८५७ में अपने हाथ से लिखी थीं। साथ ही तात्कालिक या निकटवर्ती कवियों के साथ भी इनकी घनिष्ठता थी जैसा कि बिहार निवासी किशनगढ़वासी ब्रजभाषा के अच्छे कवि हरिचरणदास कृत भाषा-दीपक और सभा-प्रकाश आदि ग्रंथों की प्रतिकृतियों से सिद्ध है।[1]

इनका कविता काल विक्रम सम्वत् १८७४ से १९१७ पड़ता है। पूर्वजों के प्रति इनके हृदय में अपार श्रद्धा थी अतः अपने प्रत्येक पूर्वज कवि के ग्रंथों का स्वहस्त से आलेखन किया और पुत्र पौत्रों में साहित्यिक भाव भरे। अभी तक यही माना जाता है कि इनके पुत्र बलदेव ही थे पर हरिचरणदास कृत भाषा-दीपक की लेखन प्रशस्ति से विदित हुआ कि छगनीराम भी इनके एक पुत्र थे। कविवर की निम्न कृतियां अद्यावधि उपलब्ध हुई हैं :—

सं०	ग्रंथ का नाम	रचना काल	पद्य सं०
१	२	३	४
१.	नीति प्रबोध	१८७४	५६
२.	खुशबिलास	१९०४	७१५
३.	वैराग्य विनोद	१९०५	३५
४.	श्री देवी स्तुति	१९०७	११
५.	काली स्तुति		६
६.	गंगानवक	१९१३	९
७.	यमुनाष्टक	१९१४	
८.	शांतिनवक	१९१४	
९.	रसनिबन्ध	१९१४	१८१
१०.	शीतला चरित्र	१९१५	
११.	गणेश जी की आरती	१९१६	
१२.	सबद	१९२०	
१३.	अलंकार लहरी		

१. इति श्री हरिचरणदास कृतो भाषादीपकाख्योयं ग्रंथ संपूर्ण ॥
संवत १८८६ का जेष्ठ मासे कृष्ण पक्षे तिथौ नवम्याँ बुधवासरे
मगनीरामेणालेखि कृष्णगढ़ मध्ये चिरंजीव छगनीराम पठनार्थं ॥
भाषा दीपक ग्रंथ को पढ़ै सुनै मन लाय
वे ह्वै सुकवि समाज में कविता नित पुन दाय ॥१॥
श्रीरस्तु। कल्याणमस्तु। लेषकपाठकयोः शुभंभूयात्।
राजस्थान पुरातत्व मंदिर—
क्रमांक २०३८.

ग्रंथ का नाम		पद्य संख्या
१४.	श्यामाजी की आरती	६
१५.	भैरव जी की आरती	
१६.	बाला जी की आरती	३
१७.	पुष्कराष्टक	
१८.	पृथ्वीसिंह शिकार वर्णन	
१९.	गूढ़ दोहा	
२०.	रत्नविजय कवित्त	

उपर्युक्त कृतियों में 'रस निबन्ध' और 'खुशबिलास' ही मुख्य हैं। शेष कृतियों का नामोल्लेख केवल इसीलिए कर दिया है कि इनके निर्माण में कवि ने सम्वत् का निर्देश किया है। रचनाएँ सामान्य हैं। परिचय आगामी पंक्तियों में दिया जा रहा है।

खुसराम के साहित्य के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि ग्रंथस्थ रूप में सामयिक प्रसंगों पर जो गूढ़ विचार व्यक्त किये गये हैं वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इनकी कीर्ति को प्रज्वलित करने के लिए जितने ग्रंथ पर्याप्त हैं उससे भी कहीं अधिक महत्व उन कवित्तों का है जो कवि न विशिष्ट प्रसंगों को चिरस्थायी बनाने के लिए लिखे और जिनका सम्बन्ध तात्कालिक राजकीय पुरुष, व्यापारिक, नागरिक एवं जनता के विभिन्न लोकनायकों से है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन कवित्तों का विशेष महत्व है। विशेष कर इन व्यक्तियों का कवित्तों में वर्णन आया है :—

गम्भीरमल	मोती सिंह	चन्द्रभान
चिमन सिंह नरुका	इन्द्र मल	पुरोहित शिवनाथ
केसरीचन्द	व्यास मनीराम	रामनाथ मोहता
सोमजी भुणोत	सहसकरण मोहता	लक्ष्मीचन्द यति (अजमेर)
हमीरमल मोहता	चिमन जी बाफणा	रिद्धकरण मोहता
पूनमचन्द घडिया	सिद्धकरण मोहता	रूपराज लूणिया
सालिगराम	सोजावत चान्दसिंह	गम्भीरमल
दोलतराम धूत	माणिकचन्द	रामदयाल
बदनमल	फतेह नाथ	अजगरअली
रावराजा रामसिंह	पीरजादा	मदनसिंह
नेमीचन्द घडिया	जगन्नाथ वक्षी	बागमल मरूकतिया
जशरूप	मोहताजी	बुधसिंह दीवान
रामचन्द्र ढड्ढा	गजमल लूणिया	छगनीराम छाजेड
पारख हरकचन्द	रणधीरसिंह	माणकचन्द ढड्ढा
दीवान किशन सिंह	सिंधी रतनचन्द	हरगोबिन्द जोशी
हिन्दूसिंह	लाला शम्भुदास	फौजसिंह
पुरोहित मेघराज	दीवान सालिगराम	शिवलाल बौहरा
छत्ता मल	राणा जोरावरसिंह	राणा स्वरूपसिंह

गिरधरसिंह	ओनाडसिंह	मेहता फतेहसिंह दीवान
महेशदास भुणोत	बाफणाजी	हरकचन्द
प्रतापमल मोहता	हमीर चोरडिया	भैंरूलाल गोलेछा
पृथ्वीसिंह का फाग वर्णन	सेरसिंह (उदयपुर)	आसाराम बूंदी
सूरजसिंह	चिमनसिंह	रतनराज

उपर्युक्त सभी व्यक्ति न केवल किशनगढ के या राज्य के ही थे अपितु सम्पूर्ण राजस्थान से इनका सम्बन्ध था। कवि के सकत बीपी शाकद्वीपीय ब्राह्मण होने के कारण इनका विशेष सम्बन्ध ओसवाल समाज से ही था। कारण कि ओसवालों के सामाजिक व्यवहार में सेवकों का स्वतंत्र स्थान उन दिनों था। नेग दस्तूर लेने के लिए इन्हें राजस्थान में भ्रमण भी करना पड़ता था। यदि कोई दाता मुक्त हस्त से दान देता तब तो उसकी प्रशंसा के पुल बँध जाते पर ऐच्छिक दान न मिलने पर ये सेवक कभी-कभी द्वैपायन ऋषि के अवतार भी हो जाया करते थे। कवि खुसराम स्वयं भी इसके अपवाद नहीं है। अजमेर और किशनगढ के प्रमुख नागरिक श्री गजमल लूणिया (जिनकी गली आज भी अजमेर में विख्यात है) पर कवि अप्रसन्न था। अतः इनके विरुद्ध शिष्टता के नाते जितने अपशब्दों का प्रयोग वह कर सकता था उसने किया है।

कवि धर्म से किस परम्परा में विश्वास करता था निश्चित रूप से कहना इसलिए कठिन है कि उसने सभी परम्पराओं के संबंध में स्तुति, स्तोत्रादि साहित्य का सृजन किया है। इससे ऐसा लगता है कि वे सभी धर्मों के प्रति समान आस्था रखने वाले थे। किशनगढ के प्रति कवि का इतना मोह रहा है कि वहाँ का शायद ही कोई देवस्थान या सुन्दर प्राकृतिक स्थान बचा हो जिन पर इनके विचार कविता के रूप में न फूट पड़े हों।

खुसराम न केवल सांसारिक वासना-वर्द्धक साहित्य के ही स्रष्टा थे अपितु पारलौकिक जीवन के प्रति भी पूर्ण जागरूक तत्वदर्शी के रूप में रहे जान पड़ते हैं। विक्रम सम्वत् १९१७ तक ये विभिन्नरूपेण साहित्यिक साधना में निमग्न रहे। अंतिम समय पर कवि ने अपनी अंतिम रचना सबद के रूप में की जिसमें त्याग, वैराग्य, समत्व आदि आध्यात्मिक भाव छलक रहे हैं। कवि जीवन के अंतिम क्षण के शांतिपूर्ण बीतने की इष्ट से प्रार्थना करता है। विक्रम सम्वत् १९२० में इनका देहान्त हुआ जैसा कि कवि के पुत्र के द्वारा लिखित निम्न दोहे से सिद्ध है—

> संवत् जानो व्योम° कर² षंडहि⁶ रवि¹ अरु आनि
> पिता गये स्वर्गलोक में भाद्रहि रवि कुरु जानि।
> दादाजी मगनीराम जी देहान्त हुआ जी साल रो दुयो।

खुसराम कृत महत्वपूर्ण कृतियों का परिचय इस प्रकार है —

नीति प्रबोध

५६ पद्य की यह कृति कुंवर शेरसिंह को पढ़ाने के लिए ही कवि ने लिखी है, जैसा कि अंतिम पद्यों से स्पष्ट है। इसमें राजाओं के दैनिक कृत्यों का सामान्य विवेचन है। राज्य-संचालन में किन किन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए, किन किन

परिस्थितियों में शत्रु व मित्र के साथ कैसा व्यवहार रखना और प्रधान मंत्री से लगाकर सामान्य राज कर्मचारी के साथ कैसा सम्बन्ध होना चाहिए आदि सभी महत्वपूर्ण ज्ञातव्यों का इसमें जो संग्रह किया गया है वह तात्कालिक राज्य-संचालन-पद्धति पर अच्छा प्रकाश डालता है। इस कृति पर महाराजा राजसिंह द्वारा रचित 'राजप्रकाश' का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कहीं कहीं शब्द-साम्य भी है। दिखने में यह रचना अवश्य ही लघुतम है पर गुणों की दृष्टि से कम गरिष्ठ नहीं। कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है:—

आदि भाग

श्री गणाधिपत्ये नमः

श्री गुरु गनपति के चरन सविनय करौं प्रनाम
ताकी कृपा कटाछते सिद्ध होत सब काम ॥१॥

छन्द ललित त्रिभंगी

दिवस रैन हिय ध्यान धर नर मुनि रहत अनंद
ऐसे प्रभु सिर नायके नित बंदौ नंद नंद।
बंदौ नंद नंदा आनंद कंदा काटे फंदा बृज चंदा
सेवें सब देवा कर पद सेवा भये न पावे विधि छंदा
अघ मर्दनकारी कंसप्रहारी कुंज बिहारी चिर नंदा
जय जय सुषकारी कृष्ण मुरारी गिरवरधारी गोविंदा।

अथ नृप वंश बर्ननं

राजसिंघ महाराज के वीरसिंघ सुत वीर
ताके सुत थे अमंसिघ सूरजसिंघ रस धीर ॥३॥
रूपनगर गढ परगने है सूरजगढ नाम
लोक प्रसिद्ध रलावता रमणीयक सुभधाम ॥१॥
उदे उद्य श्री उमगत पावै प्रजा अराम
सुषद सरोवर बाग जुत ओम घोम अभिराम ॥४॥
सूरज प्रगट नरसे तहां राजवंस अवतंस
सुबुध सुजान उदार अति को मगि करौं प्रसंस ॥५॥

कवित्त

सुकवि कुलप धीर वीर कुल भूषन है जाकी महि मंडल में कीरत अमाप है
पौरस प्रसिद्ध पूर परम प्रकासमान भासमान बाढै आन अरितन ताप है
कवि खुसराम राग रंग रिझबार महा भैरजांन बुद्धि को विधाता किधौं आप है
ऐसो महाराज आज सूरज नरेस ताको दिन दिन अधिक दिनकर सो प्रताप है

अथ राजपत्नी वर्णनं

दोऊ कुल परम पवित्र चित्त सुद्ध जाको सब ही सौ मधुर मनोज्ञ मृदु बानी है
जामै सुभ स्वच्छ सब लखन विशेषिय तब पतिव्रत पारबे कों जैसी शिवरानी है

कवि खुसराम त्यौं सुहाग कमल सो लसै सुबुध सुजान ऐसी ही बरबानी है
राठवर बंस अंसधारो नृप सूरज राजावत राजत विशेष महारानी है
है सूरज महाराज कै तनुज तीन परबीन
महावीर जसवंत सुत पुनि अर्जुन जस कीन ॥८॥
सेरसिंह लघु तनुज तिहि हे वर बुद्धि समेत
हुकम कियो नृपनीत कौं ताहि पढावन हेत ॥९॥
कह्यो नित्य राजाँनकी नीत रीत व्यवहार
शीघ्रसमझ आवे इसो करियें कछू निहार ॥१०॥
ताकौ हुकम प्रमान कर रति मति हितकर सोध
सुगम ग्रंथ भासा कियो नाम जु नीत प्रबोध ॥११॥

अन्त भाग

अथ कवि वंश वर्णन

कवि कुल भूषन सुभूषन सभा के वृन्द भए वरदाई ते प्रसिद्ध जगनाम हैं
राठवर वंस महाराजा राजसिंघ ताकौं राषे सनमान बहु देके धनधाम हैं
ताके सुत बल्लभ सुबल्लभ नराधिप के सुकवि पद पायो अस्सांनी अभिराम हैं
सुबुध सनेहीराम ताके सुत दौलत यौं सुकवि विष्यात सब सास्त्र ही के धाम हैं ॥११॥

दोहा

च्यार तनुज ताकै बड़े महा सुकवि अषैराम
सब ही ते लघु तनुषमति मंद महा षुसराम ॥५२॥
कृष्ण दुर्ग पुनि मैडते है जु हमारे वास
नृप सूरज सुभ दृष्टिकर रषे आपके पास ॥५३॥
श्री सूरज महाराज के हुकम प्रमान विचार
कियो जु नीत प्रबोध यह मेरी मति अनुसार ॥५४॥
ह्वै पुनरुक्त क्रमादि जो दूषन सबै निहार
स्मृति आयो त्यौंहि कह्यो लीज्यो सुकवि सुधार ॥५५॥

संवत् पट ६ मुनि ७ सिद्धि ८ ससि १ गुरु आश्विन शुभवार । सुद आठै अजमेर में भयो ग्रंथ अवतार ॥५६॥

---

१. इस पद्य के आगे अन्याक्षरों से यह पद्य भी अंकित है :—

सवैया

है वर वुद्धि विचच्छन आप अमाप छयो जस भूमि भलाई
मान गुनीजन दान कित्यं रहे त्यौं खुसराम सुकीरत गाई
छत्रिय धर्म में पर्म प्रवीन रहो तिहि नाथ सहाय सदाई
सूरज ज्यौं नृप सूरज आज सरोरुह सज्जन कौं सुषदाई ॥७॥

इति श्री कवि षुसराम कृत नीत प्रबोधाख्योयं प्रबंध समाप्त : ।।
सं० १८७६ पोस कृष्ण सप्तम्यां गुरुवासरे मगनीरामेण लेखि अजमेर मध्ये ।

खुस विलास

प्राचीनतम लोकभाषा विषयक कृतियों में विलास संज्ञक रचनाएं प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती हैं । प्रस्तुत खुसविलास भी उसी परम्परा का अनुकरण है । कवि की समस्त रचनाओं में यह कृति सब से बड़ी और सार-गर्भित है । इसमें सात विलास-परिच्छेद हैं । पद्य संख्या ७१५ है । प्रथम में शृंगार रस को प्रमुखता देते हुए कवि ने नायक और नायिकाओं के प्रसिद्धतम भेदों पर मार्मिक और बोधगम्य भाषा में पर्याप्त प्रकाश डाला है । छठवें विलास में शृंगारादि नवरसों पर पांडित्यमय शैली में गम्भीर विचार व्यक्त किये हैं । शेष प्रकरणों में भाव, अनुभाव, संचारी भाव एवं उद्दीपनादि का विशद् वर्णन है । सप्तम विलास में कवि ने अपने वंश व आश्रयदाता राजा तथा दीवान का वर्णन किया है । इस प्रकरण के २१ वें पद्य में अपने अन्य नाम मगनीराम का भी उल्लेख कर दिया है ।

यद्यपि मूल ग्रंथ में नहीं पर अंतिम लेखन प्रशस्ति में इस बात का सूचन है कि प्रस्तुत कृति का प्रणयन कवि ने स्वपुत्र बलदेव के लिए किया है । छासठ पत्रक से कुछ पंक्तियों से ऊपर तक के भाग की प्रतिलिपि भी बलदेव ने ही की है, शेष भाग लेखक के हस्ताक्षरों से अंकित है । ग्रंथ का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है:—

आदि भाग

श्री महागणाधिपतये नमः

अथ कवि खुसराम कृत षुसबिलास लिख्यते

दोहा

श्री गुरु गनपति सारदा वरदा बुद्धि विकास
ताकौ बंदन कर करौ कविता षुसबिलास ।।१।।

अथ गुरुदेव स्तुति

कवित्त

सुकृत करम दिल मरम बिहंडन है मंडन सुधर्म प्रतिपालन की पज है
वेद विधि गावै आधि व्याधि मिटि जावै जन जाके ओर ताके भये सिद्ध काज है
कहै षुसराम ताहिके अधार भव पार्ई होय हृदय सिंघासन विराज है
सुर मुनि ध्यावै कंज चरण कहावै धन्य ऐसे गुरुदेव गुरु गरीब नवाज है ।।२।।

अथ गनपति स्तुति

छप्पय

मधुप गुंड मद तुंड सुंड गज गर्जित घनरब
ललित ललाट सिंदुर करन चल दुष भजात भव
एक दंत अति दयावंत दीरघ दुति दाता

अष्टसिद्ध नव निद्धि वृद्धि वर बुद्धि बिधाता
षुसराम आदि सोधत सदा सिर सुषदायक चंद वर
विनति बहार सुनिये करो गवरिनद आनंदकर ।।३।।

अथ सरस्वती स्तुति

कवित्त

अति उमंगी रस सरब सुरंगी मन मुनिजन सगुन ओ निर्गुननि वाहिनी
ब्रह्म विष्णु शिव सनकादि वेद गाई आदि अभै वर विद्या अक्षमाला अवगाहिनी
कहै षुसराम वरदाई विप्र देवन की सेवन की सोभा सुधा बानी की प्रवाहिनी
सारद के चंदसों प्रकासित मुखारविंद हृदय कवीन्द्र के विराजै हंसवाहिनी ।।३।

दोहा

शुचि रसके अधिपति कहे श्री बृंदावन चंद
ताकि त स्तुति कौ कहौ तातै होत अनन्द ।।५।।

छंद ललित त्रिभंगी

दिवस रैन हिय ध्यान धर नर मुनि रहत अनंद
ऐसे प्रभु सिर नायकै नित बंदों नंद नंद ।।१।।
बंदौ नंद नंद आनंद कंदा काहै फंदा बृजचंदा
सेबै सब देबा कर पद सेवा भेद न पावै बिधि छंदा ।।२।।
अघ मर्दन कारी कंस अयारी कुंज विहारी चिरनंदा
जय जय सुषकारी कृष्णमुरारी गिरवरधारी गोविंदा ।।६।।

दोहा

सब कविकौ सिरनाअके यों उमंग मन धार
ग्रंथ नाम दीनौ भलौ खुसबिलास सुखसार ।।७।।
कवि षुसराम कियो प्रगट यथा बुद्धि अनुसार
जो कछु सुद असुद्ध हो लिजो सुकवि सुधार ।।८।।

अंत भाग

अथ नृपवंश कवि वंश वर्णन

दोहा

मरुधर मांही मेडतो गहर सहर नाम
तहां बडन का बास है बन उपबन अभिराम ।।१।।
चार भुजा बकुंठपति जहां बिराजत आप
मालक महर करै प्रसिद्ध हरै त्रिबिधि तन ताप ।।२।।
तहां वरदाई विप्र कुल भए वृंद कवि राज
विचरत दिल्ली सहरमें सोभित सभा समाज ।।३।।

तहां विराजत मान नृप मारू महिष मरद
पातिसाह मरजी लिये गैनिनि करै जरद्ध ॥४॥
ताके सुत नृप राजसिंह कंवर पदे अभिराम
ताहि पढ़ावन को रखे वृंद सुकवि सुन धाम ॥५॥
पढ़ि पढ़ि गुन गाहक भए गुनिजन के सुखदैन
वीर पराक्रम भीमसो अति सरूप मनु मैन ॥६॥
रूपनगर गढ़ गढ़पति मारू कुल रविचंद
अविचल राज करै अवनि सोभत तहां कवि वृंद ॥७॥
तिन सनेह निज संग में निज मरजी में लाय
वृंद नंद बल्लभ सुकवि कियउ पढाय पढाय ॥८॥
फिर अति महर निगाह कर करी धान्य धन वृद्धि
बल्लभ बल्लभ हेत पुनि भए कलपतरु सिद्धि ॥९॥
राजनंद बहादुर बली महर कृष्णगढ़ आप
जोधनगर जयनगर के बीच सुथाने थाप ॥१०॥
कृष्णदुर्ग बंकट बिकट बैरिन कौ भयभीत
जल अथाह सर बागबन मन सुख पावे मीत ॥११॥
जुरै जुद्ध कर क्रुद्ध जब तहां भय अरिजेर
आन बहादुर सेर की डग्ग अडग्ग सुमेर ॥१२॥
बल्लभ सुत तिनपै रहै सुकवि सनेहीराम
महाराज निय महरकर दीने धन धर धाम ॥१३॥
नंद बहादुर के नृपति भए बिरद बुधवान
पंडित सुकवि समाज के हृदय बसै हुय प्रान ॥१४॥
नंद सनेहीराम के दौलत सुकवि विख्यात
सुभ कविजन की मंडली गुन कविता सरसात ॥१५॥
ताकौ नृप विरदेस अति राखे कर सनमांन
विरद नंद परताप नृप माने सुभ गुन ज्ञान ॥१६॥
नृप प्रताप नंदन भए श्री कल्यान महाराज
छत्र छत्रधारीन के मनु सोबत सुरराज ॥१७॥
तिनके पुत्र महाबली मोकमसिंह नरेस
दै दुर्जन सिरमाल दिल कीनें खुसी महेस ॥१८॥
तिन के पुत्र प्रसिद्ध है पृथीसिंह नरनाह
सुजस बितांन तन्यौ रहै निस दिन बुद्धि अथाह ॥१९॥
छत्र छांह तिनकी बसै दौलत सुत खुसराम
पृथीसिंह महाराज को शुभचिंतक गुन ग्रांम ॥२०॥
न्यात जात व्यवहार में मगनीराम कहात
कविता छंद प्रबंध में कवि खुसराम विख्यात ॥२१॥
तिन दिलके हुल्लास कर खुस विलास किय ग्रंथ

पढ़ै सुनै सुख पाय है जो जानै रस पंथ ।।२२।।
जोर जोर जस जुगत सौ पढ़वौ करौं विचार
पृथीसिंह महाराज को यह दिल में अवतार ।।२३।।

अथ आसीर्वाद वर्नन

कवि बरदाई गाई कीरति सवाई रहो समता कौ पाई रहो तेज मारतंड की
रहो खुसराम महाराजा पृथीसिंह जू को जसको वितांन चहूं ओर नव खंड की
दिलके हुलास तें विलास रहो मित्रन पै यत्र तत्र सत्रुनपै त्रास मेजदंड की
बीरवल बिक्रम यो प्राक्रम अखंड रहो संवत अनंद रहो आयु मारकंड की

अथ जस प्रताप वर्नन

कमध करारो क्रूर मोकम नरेन्द्र नंद, कंस अरि दुष्टनिकों मारत मुरारि
वीर क्रम विक्रमी सराह अवगाह श्रो, उछाह कर प्राक्रम बखांन त्रिपुरारि
कहै खुसराम अवतारी है उदित भान, भारी सुखमाहै सुर इंद्र के अगारलौं
परम प्रतापी पृथीसिंघ महाराज ताको फैल्यो है प्रताप छिति पारावारलौं।।२५।

पुन: कवित्त

सज्जन सनेही महाराजा मोकमेस नंद, आनंद कंद सुधा बैन परसीलौ है।
कहै खुसराम देख्यो विक्रम पराक्रम है, गौरिन के हेत रतिदेव गरबीलो है।
मांन में मिलित तेज मान कविराजनके, दांन में दिलीपनंद जैसौ परसीलौ है।
गाजै गुन गौरव में छाजें छवि सौरभ में, राजा पृथीसिंघ राजें रसिक रसीलो है।

अथ अमृत ध्वनि

धड धड धडकत धाड धड भड झड भजत अतप्प
पृथीसिंह नरनाहको तत्तत्तत्प्प प्रतत्प्प
तत्तत्प्पन प्रतत्प्पप्पुहमि प्रसिद्धप्परपर
वब्ब व्यन बुलत्तत्तननि चत्त त्तर तर
तज्जुग यह यतज्जत्तिय सुनिय तुप्प धड धड
दिनकर दूजो धरनि पर कुल अबतर निसि पत्त
पृथीसिंह महाराज रण वंडव्वन बनपत्त
बंडव्बन बनपत्ति प्रवल परत्तप्पर पर
अग्ग भग्गिय अडग्ग हुगि हुय षष्षष्षर षर
चच्चद्दल फल दुष्वव्वठकर अग्गग्गिन कर
भीमभ्भुज नृप भट ज्जुड रूप रत दिनकर
कर धर वीर महाबली पृथवीसिंह नृपषग्ग
चढ तुरंग बैरिन दलें भग्ग हुरित अलग्ग
भग्ग हुरित अलग्गग्गहि अगमग्गहियत
बग्ग व्विस्तर दरिद्र द्धर दर दुष्षद्द हियत

कित्तवकरत कबुल्ल वकहि बतरित्तप्पर धर
कित्तत्र तरसुत्त तर तृण तवकक्कर धर
झटपट कटक चढ़ें जबैं पृथीसिंह मल मट्ट
रज तुरंग चढि गगन रवि ढक्कढढ्कि यतबट्ट
ढक्कढ्ढकियत बटस्सुत अरि भम्भम्मड कस जद्द धर कम धज्ज ध्धर
धूजलुट्टत्तटपट झझझच्छनन पगप्पप्पर पर भग्ग झझट पट

दोहा

अब्द बेद ४ नभ० निधि ९ अवनि १ अगहन मास उचार
सुद द्वितिया गुरु कृष्णगढ भयो ग्रंथ अवतार

इति श्री कवि षुसराम कृते षुसबिलासे नृपवंश कविवंश बर्ननो नाम सप्तमो बिलास ।।७।। सम्पूर्णम् भवत् ।। संवत् १९०८ का मिति सावण सुद ९ नवम्यां भौमवासरे मगनीरामेणा लेषि कृष्णगढ मध्ये ।।

दोहा

साढ़ी छासटलौं लिषे पत्र तनुज बलदेव
ता पीछे पूरन लिषी मगनीराम सुबेस
चिरंजीव बलदेब के हेत बनाओ ग्रंथ
नवरस भाव बिभाव के समझ लेहु शुभ पंथ
जो लिषियें जा ग्रंथकौं जामें सरस सुबुद्धि
सोधि लेइ फिर ताहिकौ तब समुझो वह सुद्ध
लेषक पाठकयोः शुभं भूयात् ।। श्रीरस्तु ।।

वैराग्य विनोद

कवित्व की पूर्ण प्रतिभा का विकास जीवन के सर्वांगीण रहस्य को प्रगट करने में सक्षम होता है। यों तो कवि खुसराम कहने को दरबारी कवि थे एवं राग रंग की कृतियों में अपने महा प्रभुओं को प्रसन्न करने वाली रचना ही किया करते थे किन्तु जीवन का दर्शन ऐसा होता है कि कभी अन्तः चेतना उदबुद्ध होने पर सांसारिक वृत्तियों के प्रति औदासीन्य भी प्रगट हो जाता है। कवि के 'वैराग्य विनोद' में उपर्युक्त विचार परम्परा सजीव हो उठी है। इसका रचना काल वि० सं० १९०५ है। जीवन की क्षण भंगुरता एवं संसार की असारता व मानव जीवन की सार्थकता के मौलिक कारणों पर जितना सुन्दर एवं विचारोत्तेजक प्रकाश प्रस्तुत कृति में सुग्रथित है वह एक संत की चिराचरित साधना का सुस्मरण दिलाता है। यद्यपि पद्यों की संख्या अधिक नहीं है पर सीमित शब्दावली में कवि ने अन्तर के अमूर्त भावों को व्यक्त किया है। कला का वैशिष्ट्य इस अल्पाधार में पूर्ण प्रतिनिधित्व पा रहा है। आदि एवं अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि भाग

गणाधितये नमः

अथ कवि षुसराम कृत वैराग्य विनोद लिख्यते

दोहा

जय जय सुषद सरस्वती जय गुरु ज्ञान प्रमोद ।
सुष कैवल्यक कारणे किय वैराग्य विनोद ।।

कवित्त

सुमरन साचो या अषंड जाति ही को
जानगूढ गुरु जाप जू की साची सरनाय ।
छिन मांहि वासाजाय करैगो मसांन ए
निसांना न रहेंगे एन संपत रह जायगी ।।
कहे षुसराम भूल्यो भरमन को डोलें मूढ़
पवन झकोर दीप जोति ज्यों बुझायगी ।
कालको चक्कर रे चलैगो चहू ओर
तब भौंरपरी नाव जैसे आब डूब जायगी ।।

अंत भाग

दोहा

इहि बैराग्य बिनोद कौ पढै सुनै चित्त लाय ।
ज्ञान वृद्धि ताके हियें पर अपवर्ग हि पाय ।।३३।।
बत्तीसी बैराग्य को कीनी यथा विवेक
कवि षुसराम विनोद सौं सुन सुष लेहु अनेक ।।३४।।
पांडव ५ नभ० निधि ९ एक १ हैं अष्ट असाढ सुमास ।
कृष्ण दुर्ग सुद सप्तमी शुक्र सांत परकास ।।३५।।
।। इति श्री कवि षुसराम कृत वैराग्य विनोद बत्तीसी सम्पूर्णः
संवत् १९०५ का असाढ शुक्ल ७ शुक्रवासरे मगनीरामेणालेखि ।।
कृष्णदुर्ग

हरिगुन सदा अदोष है यामैं दोष न देहु
कुकविन सौं नांही कहौं सुकवि समझके भेहु ।।१।।

देवी स्तुति

आदि भाग

तूं मोरी जजमांन सांवरी तू मोरी जजमान
ब्रह्मादिक सब तेरेई अनुचर तेरोई करत बखान
जननी तू मोरी जजमान

अंत भाग

उमग उमग मन मगन महोत्सव करत तिहारो ध्यानं
जननी तूं मोरा जजमान
सम्पूर्णम्—मगनीरामेणालेखि कृष्णगढ़ मध्ये सम्वत् १९०७
प्रथम बैसाख कृष्ण ११ चंद्रवासरे ।। श्री कृत्याः जयास्तु ।।

प्रति राजस्थान पुरातत्व मंदिर जयपुर में सुरक्षित है
क्रमांक २२७९.

अन्य लघुतम कृतियों का संग्रह उपर्युक्त संग्रहालय में सुरक्षित है। उनका विशेष महत्व न होने के कारण ही इस निबन्ध में विस्तार न किया जा सका। ये सब कृतियाँ कवि की स्वहस्त लिखित ही हैं।

शांति नवक

यह कवि की आध्यात्मिक रस मूलक कृति है। इसमें जीव को लक्षित करते हुए कवि ने आत्मजयी होने की सूचना दी है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही आत्म जय है। आत्मजयी ही संसार का विजेता हो सकता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मात्सर्य आदि विकार हैं। खुसराम ने इन पर विजय प्राप्ति का सरल मार्ग इन नव शांत रस मूलक पद्यों में बताया है। संसार की असारता सीमित शब्दों में इसमें सन्निहित है। आदि अन्त भाग इस प्रकार है:—

आदि भाग

कवित्त

संतान कहा है यहा आतमा को सोध ह्वै
कर अरूढ़ा दिल साच अर्थ गूढ़ा कौ।
मोद गर्व गंज मंजु हृदय निहार यार
छाँड़ बरबाद छाँड़ ऊढा रु अनूढ़ा कौं।
कहैं खुसराम पर पंत्र कौं परम मत
सांच है कि झूठे पाछै लाग पूछ बूढ़ा कौं।
ढूंढ़बात ऊंडी मूंडी ताग ताग जाग मूढ़
भय दुषताग अरे ढूंढ़ ढूंढ़ ढूंढ़ा कौं।।

अंत भाग

पति पुत्र बधू मित भ्रात रु तात चढ़े रहैं
स्वारथ ही के मदारथ सब झूठ प्रपंच।
कहैं षुसराम रे बैठ मतो यह मोह महा
रथ अति क्रोध को मार्यो कोलाहल क्यों
करैं लोभ को मार्यो मचावत भारत अब
सुन्य पर हैं मति गुण्य हिये मधिराम को
नाम कैं पुण्य पदारथ ।।९।।

इति श्री मगनीराम कृति शांति नवक सम्पूर्णम् ।।सं० १९१४
असाढ कृष्ण ५ शुक्ल मगनीरामेणालेखि कृष्णगढ मध्ये ।।

रस निबंध

प्रस्तुत कृति में नायक और नायिका भेद के वर्णन के बाद नव रसों का सुन्दर और प्रभावोत्पादक आलेखन है। कवि ने इसे भी सात भागों में विभक्त किया है। ऐसा लगता है, 'खुस विलास' में जो रसादिका विवेचन है वह इतना शास्त्रीय है कि सामान्य पाठक को हृदयंगम करना कठिन हो जाता है इसीलिये सम्भवत: कवि ने सरल विवेचन इसमें प्रस्तुत किया है। आदि एवं अंत भाग इस प्रकार है:—

आदि भाग

श्री गणेशाय नमः

अथ कवि षुसराम कृत रस निबंध लिख्यते

छंद चर्नाकुलक

ब्रह्म सरूप करें सुख साता गनपति रिद्धि सिद्धि के दाता
सरसति चरन सरन कौं गहिहौं रस निबंध भाषा करि कहि हौं—१
पद्मिनि पतरी बुद्धि अपारै चित्रिनि चित्र पवित्र निहारैं
हस्तिनि स्थूल चले गज चालहि संखिनि कलह करैं वे हाल हि—२

अंत भाग

अथ कवि वंश बर्नन

वंश उदैकारी कविराजा बृंद भए गुन छिति पर छाजा
ताके बल्लभ सुकवि विख्याता गुन गौरव में गनपति भ्राता—७५
नंद सनेहराम जु ताके ताके दौलत कविता पाके
तिनके सुत खुसरांम कहावै रसनिबंध कर भाषा गावै—७६
वेद ४ इंदु १ निधि ८ ब्रह्म १ कहावै संवत माधव मास कहावै
शुक्ल पक्ष सातै ७ गुरुवारहि भो अजमेर ग्रंथ अवतारहि—७६
।।इति सप्तमो निबंध ।।
इति श्री कवि खुसरांम कृत रस निबंधाख्यो प्रबंध।
समाप्त:
न्यात जात व्यवहार में मगनीराम कहात
कविता छंद प्रबंध में कवि खुसराम विख्यात
संवत १९१४ का बैसाख शुक्ल ७ सप्तम्यां गुरौ समाप्तिमभवत्, अजमेर मध्ये।
लेखक पाठकयो शुभं भूयात् मगनीरामेणालेखि
मूसक जल पवनादि तें रक्षा करो सुजान ।।श्री।। क्रमांक २२५१ पत्र १८ ।

अलंकार लहरी

इस कृति की केवल एक और वह भी अपूर्ण ही प्रति उपलब्ध हो सकी है। अतः राजस्थान पुरातत्व मंदिर के सूची पत्र में इसका उल्लेख "अलंकार भेद विषयक कवित्त" के रूप में ही किया गया है। वस्तुत: यह फुटकर कवित्तों का संकलन न होकर स्वतंत्र कृति ही है और इसका संकेत कवि ने स्वयं आदि भाग के तीन पद्योंमें किया है। "अलंकार लहरी" इसका नाम है। कवि कृत प्रास्ताविक अन्य कवित्त भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हुए हैं। उन पर प्रास्ताविक संज्ञा का स्पष्ट सूचन है। यदि ये फुटकर पद्य संग्रह ही होता तो संकेत भी कवि स्वयं कर देता।

यद्यपि प्रस्तुत कृति अपूर्ण होने से इस पर अधिक क्या कहा जा सकता है, पर इतना कहने का लोभ संवरण नहीं किया.जा सकता कि यह कृति कवि का प्रथमादर्श है। कवि को जब कभी प्रसव पीडा हुई तभी उसने इसे लिपिबद्ध किया और जहाँ पुन: संस्कार की आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ पूर्व लिखित भाग को मिटा कर नवीन विचार आलेखित कर दिये। कहीं-कहीं तो क्लिष्ट भावों को स्पष्ट करने के लिए और अलंकार विषयक नवीन उदाहरण देने के लिए कई नवीन पद्यों को बाद में हांसिये पर भी लिखना पड़ा है। इस प्रति का शायद ही कोई पद्य ऐसा होगा जिस पर कवि की लेखनी पुनः न चली हो। इस स्थिति के कारण ही मुझे कल्पना पड़ रही है कि यह कवि का स्वहस्ताक्षर संयुक्त प्रथमादर्श है।

कृति इतनी ही है या विस्तृत रही होगी? अन्य पत्र विलुप्त हैं या कवि ने इतना भाग लिख कर छोड़ दिया? आदि बातें अंधकार के गर्भ में हैं। पर हाँ, जो भाग उपलब्ध है और उसकी जो विवेचन शैली है उस पर से तो कहना पड़ता है कि ये महाकाव्यकृति होनी चाहिए, क्योंकि एक एक अलंकारिक भाव को सुगमरीत्या व्यक्त करने के लिए कवि ने बहुत श्रम किया है। आदि एवं प्राप्त अंत भाग इस प्रकार है:

आदि भाग

श्री गणेशाय नमः

सिधि रिधि निधि दाता सरस, सुख दाता सुत अंब
सूंडा दंड प्रचंड जुत जय जय श्री हेरंब

कवित्त

लुबध भंवर मद मंडित कपोल जाने घोल घोल सिंदूर लगावैं सुर अंगना
गावै गीत ध्यावैं मन वंछित मनोज्ञ पावै सब सुख संपत मैं पागी नृप जंगना
कहै खुसराम जाकी सरन सुषद असरन कौं सुषद जम जीतत है अंगना
बिघन बिनासन कों दोरत तुरत एक दंत जयवंत जाकी मिटत उमंगना

आदि कविन कीने बहुत अलंकार के ग्रंथ
अलंकार लहरी कही निरषि ताहि को पंथ
सब्द पयोनिधि में प्रगट लहरी भई अनूप

सा लहरी खुसराम हिय खुभी सुनौं कवि भूप
जा कछु सुद्ध असुद्ध ह्व भो को जान अबुद्ध
मुद्ध वृंद गादी निरषि करो कवीसर सुद्ध

उपलब्ध प्रति का अंतिम भाग

व्याघात

जो साधक नहि ताहि सो कारज ह्वै व्याघात
क्रोध भरो पियकौ कर लै परसनकी घात
बहुरि विरोधी तैं कहै कारन सोऊ व्याघात
विप्रनिकौं संग लेइक राज रण मे जात

जयलाल

कवि मगनीराम—खुसराम के पुत्र बलदेव थे। परन्तु इनकी कोई कृति या फुटकर कवित्त मेरे अवलोकन में नहीं आये। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बलदेव को साहित्यिक कृतियों से प्रेम अवश्य था जैसा कि 'खुशविलास' की अंतिम लेखन प्रशस्ति से ज्ञात होता है। उसमें बताया गया है कि बलदेव ने 'खुशविलास' के साढे छांसठ पृष्ठों की प्रतिकृति की एवं अतिरिक्त भाग स्वयं मगनीराम ने लिखा। लिपि से ज्ञात होता है कि बलदेव शुद्ध लेखक थे। अनुस्वार एवं अर्ध बिन्दु की जहाँ जैसी आवश्यकता अपेक्षित थी वहाँ बलदेव ने इस परंपरा का पूर्णतः पालन किया है।

कवि जयलाल बलदेव के पुत्र थे। पितामह खुसराम इन पर बहुत अनुराग रखते थे। असम्भव नहीं कि इनके द्वारा साहित्याध्ययन में भी जयलाल को पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई हो। खुसराम ने अपनी बहुत सी प्रतियों की प्रतिकृतियों की प्रशस्ति में सूचित किया है कि वे जयलाल के अध्ययनार्थ लिखी गईं। जैसा भी हो पर यह निश्चय है कि परपितामह द्वारा कविता की साधनापूर्ण अखंड परम्परा को जयलाल ने न केवल स्व-प्रतिभा के बल पर सम्भाले ही रखा अपितु वस्तुतः पांडित्य द्वारा काव्य विवेचन में भी इसका भलीभांति निखार किया। इनकी कविता-भक्ति एवं साहित्य विपयक ज्ञान बहुत ही प्रौढ़ एवं विलक्षण था। रसग्राहक शक्ति जितनी इनमें प्रबल थी उससे भी कहीं अधिक वैयक्तिकरण का प्राबल्य था। इनके पांडित्यपूर्ण ओजस्वी साहित्यिक व्यक्तित्व के लिए "जलवय शहनशाह इश्क" की "इश्क प्रकाशिका" टीका ही पर्याप्त है। मूलतः यह कृति महाराजाधिराज पृथ्वीसिंह के द्वितीय पुत्र जवानसिंह द्वारा सं० १९४५ प्रथम चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को रची गई थी। इसके ४५ पद्य हैं। जिस प्रकार कविवर बनारसीदास की समस्त रचनाओं का संग्रह 'बनारसी बिलास' नाम से विख्यात है उसी प्रकार महाराजा जवानसिंह कृत रचना संग्रह का नाम 'रस-तरंग' रखा गया है। इसमें उनके द्वारा रचित ईश-भक्ति मूलक पद, गोपीनाथ की दीक्षा, गिरधरजी एवं अन्य कोटि के गोसाइयों की विनतियाँ व बधाइयों का सुन्दर संग्रह है। प्रत्येक पद्य प्राचीन राग रागनियों में गुंफित है। नगधर आपकी छाप है। किशनगढ़ के राज परिवार में किंवदन्ती है कि जवानसिंह को खुसराम ने पढ़ाया था। पृथ्वीसिंह की सभा के रत्न तो कविवर थे ही।

'जलवय शहनशाह इश्क' 'इश्क चिमन' और 'रसिक चिमन' कोटि की कृति है पर टीकाकार ने अपनी पांडित्यपूर्ण विवेचना शक्ति द्वारा इसमें ऐसा प्राण संचार कर दिया कि संगीत और साहित्य की यह एक अपूर्व कृति बन गई। ब्रज गद्य के साथ अरबी फारसी शब्दों का इसमें इतना प्राचुर्य है कि जहाँ कहीं ईश भक्ति मूलक शब्द आया नहीं कि इन्होंने लैला मजनूं के स्नेह सूचक शृङ्गारिक शब्दों का प्रयोग बिना किसी संकोच के कर दिया। आशुक-माशूक, महबूब, कादर, नादर आदि शब्दों द्वारा प्रभु के श्री चरणों में किस प्रकार सर्वस्व समर्पित किया जाना चाहिए व किसके प्रति किस के हृदय में स्थायी अनुराग, प्रेम, श्रद्धा और भक्ति का स्रोत होना चाहिए आदि बातों पर इतना सुन्दर प्रकाश डाला है कि सम्पूर्ण विश्व के समस्त अंगोपांग एवं जीवन के दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त उपादानों तक को भक्ति की इस विरह-वेदना मूलक दृष्टि से देखने की चेष्टा इसमें अन्तर्निहित है। इस टीका की महत्वपूर्ण विशेषताओं की ओर विज्ञों का ध्यान आकृष्ट करने के पूर्व एक बात की ओर और ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है कि जयलाल के पूर्वज कवियों ने भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रकाश डाला। एक ही व्यक्ति के लिए भिन्न २ विषयों पर लेखनी चलाना उतना असम्भव नहीं जितना कि एक ही विषय को सर्वाङ्गपूर्ण रूप में विवेचन के साथ उपस्थित करना, वह भी तत्सम्बन्धी पुरातन ग्रंथों के उद्धरण से युक्त करके जो-श्रम साध्य है। यह कहना व्यर्थ है कि कलाकार का हृदय रसोन्मेष का भव्य प्रतीक होता है। जयलाल का वाचन कितना विस्तृत गम्भीर एवं बहुमुखी था इसका वास्तविक परिज्ञान 'इश्क प्रकाशिका' टीका के अंतः परीक्षण से होता है। जहाँ कहीं भी जिस किसी भी विषय का समर्थन कवि को करना पड़ा है वहाँ कवि ने न केवल इसे धर्म मूलक कृतियों तक ही सीमित रखा है अपितु अलंकार, काव्य, रस, ध्वनि, संगीत आदि अन्य समस्त विषयों के प्राचीन पंडितों के द्वारा रचित मूल ग्रंथों के उद्धरण भी दिये हैं। उदाहरणार्थ टीका में इन ग्रंथों का अधिक उपयोग किया गया है :—

रस तरंगिणी	उज्जवल गीत मणि	विद्वन् मंडल
गीत गोबिन्द	गोवर्द्धन सप्तशती	अमर कोष
वात्स्यायन सूत्र की जय मंडल टीका	सूर सागर	रसिक चिमन
विहारी सतसई	परमानन्द सागर	८४ वैष्णवों की वार्ता
नागरीदास का समस्त साहित्य	भागवत	भाषा भूषण
सभा प्रकाश	रस प्रबोध	मनु स्मृति-आदि।

अलंकार, संगीत और ध्वनि का इन्हें इतना सूक्ष्म ज्ञान था कि श्रुतियों तक का विशद् विवेचन पुरातन ग्रंथों के अधार पर किया है। जहाँ तक मेरा अनुमान है कवि श्री के सम्मुख इन विषयों पर विवेचना करते समय 'राधा माधव संगीत सार' नामक कृति अवश्य ही रही होगी। यह महाराजा प्रतापसिंह द्वारा रचित संगीत का सर्व संग्रह है। गीत, वाद्य एवं नृत्यों का न केवल इसमें विस्तृत विवेचन ही है अपितु प्रत्येक वाद्यों के निर्माण एवं नृत्य की परम्परा का तात्कालिक लोक-जीवन में प्रभाव आदि सम्पूर्ण विवेचन सक्रिय विदित होता है।

अलंकारों में संदेहालंकार, पर्यायोक्तिलंकार, विवस्वरालंकार, हेतु अलंकार, पर्याया-लंकार, समलंकार, उदात्तालंकार, काव्यलिंगालंकार, भावनालंकार, उत्प्रेक्षालंकार, परिकरालंकार, स्वभावोक्ति अलंकार, लुप्तोपमाअलंकार, समभेदरूपकालंकार, समुच्या-लंकार एवं एकावली आदि अलंकारों का समावेश किया गया है। यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि प्रथम और बत्तीसवें पद्यों की टीका स्वयं महाराजा जवान सिंह ने की है ऐसा टीका-कार स्वयं उल्लेख करते हैं। परमानन्द सागर, सूर सागर एवं नागरीदास के ग्रंथों का इतना अधिक प्रयोग किया गया है कि कई पद्य व दोहे ज्यों के त्यों उद्धरित कर दिये हैं। तात्पर्य यह है कि टीका बड़ी सुन्दर, विस्तृत, प्रभावोत्पादक एवं सारगर्भित तथ्यों का पुंज है।

वैसे जयलाल के समय मुद्रण कला सापेक्षतः विकसित हो चुकी थी। उस समय किशनगढ राज्य की ओर से कई ग्रंथों का प्रकाशन हुआ जिनके सम्पादक जयलाल थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि १६४५ प्रथम चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन इस ग्रंथ की समाप्ति हुई और १६४५ आश्विन शुक्ला दशमी के दिन हरिदुर्ग—किशनगढ—में नृपाज्ञानुसार जयलाल ने टीका समाप्त की। टीका का आदि एवं अन्त भाग इस प्रकार है :—

आदि भाग

।। अथ जलवय शहनशाह इश्क लिख्यते ।। राग सारंग ।। इकताल ।।

हुआ है अमल इश्क का दिल यार की जुदाई।
हैरत है मुझ को ए ज्यान यह क्या कह रहे खुदाई ।।१।।
।। इति मूलं ।।

।। श्री गोपीजन बल्लभाय नमः ।। अथ जलवय शहनशाह इश्क की टीका इश्क प्रकाशिका लिख्यते ।।

सोरठा

जय जय नन्द किसोर
श्री राधा रस वस रसिक
जैसे चंद चकोर
विहरत जमुना तीर पर ।।१।।
यह जानऊ वृत्तांत
जलदी टीका रचन को
नृप मन को सिद्धांत
यथा योग्य जाहिर रहें ।।२।।
ग्रंथ कठिनता जाँन
पीछे टीका रचत जब
रहि जावें कुछ हाँन
वक्ता के सिद्धान्त में ।।३।।
मंझन सुमति सुधार
खंझन को खंझन करो

समझऊ सब निरधार
इश्की जनके वचन में ।।४।।

दोहा

व्रज जन जीवन प्रान यह प्रथम सोरठा चीन
तिहिकी टीका नृप करी पुनि जय कौं कहि दीन ।।१।।
त्यौं टीका जय कवि रचत रसिक चरन रज धार
जानऊ इश्क प्रकाशिका टीका नाम विचार ।।२।।

ऊबाह हैं अमल इति

या में ग्रंथ कर्त्ता कवि निज मन दशा कहत हैं
अथवा कवि ईश्वरसौं वीनती करें हैं
यार जो नटनागर रूप उजागर जाकी जुदाई हैं
सोई दिल में-इश्क का अमल कहिय राज हुआ है
फेर संबोधन दे कहैं हैं ए ज्यान ए नंदनंद प्यारे
मुझकों हैरत हैं । आश्चर्य है यह खुदाई हैं क्या अथवा
खुदाई कहर है ईश्वर की क्रूरता हैं
कहर खुदाई कहिये को यह भाव हैं
जुदाई में आनंद तो अधिक हैं
परन्तु दु:सह हैं । सहिबे में आवें नहीं
अरु निज मन दशा के विषय में और अर्थ तो यही
परन्तु ए ज्यान यह संबोधन मस्त हाल में है ।
अरु ग्रंथ कर्त्ता के दिल में इश्क को राज भयौ तासौं
इश्क के राज समाज वर्नन करिबे का ग्रंथकर्ता मन में उमंगधरी हैं ।।

संदेहालंकार है

भाषाभूषन

सुमरन भ्रम संदेह ए लच्छन नाम प्रकाश ।। इति ।।
यहाँ जुदाई हैं अथवा इश्क को अमल हैं अथवा
कहर खुदाई हैं यह संदेह ।।

राग सारंग लछना

कर धृत बीणा सख्या सहोपविष्टा च कल्पतरु मूले
दृढ तर निबद्ध कवरी सारंगा सा सु रागिनी प्रोक्ता ।

सोरठा

व्रजजन जीवन प्रान
हैं इलाहि महबूब नित

कृष्ण करे जिहि ध्यान
हैं अधीन जिनके सदा ।१। इति मूलं

... ...

या दोहा की टीका ग्रंथकर्त्ता
महाराज
आप निज बुद्धि सौं करी

...

अन्त भाग

या मे ग्रंथ समाप्ति को संवतादि बर्नन है सो स्पष्ट हैं ।।

ग्रंथ प्रशस्ति

दोहा

इश्क प्रकाशक वाक्य को रूपक इहि विधि चीन
टीका इश्क प्रकाशिका नाम ग्रंथ को दीन ।।१।।

छप्पय

श्री वल्लभ मुख वाक्य भागवत भानु प्रमानौं
श्री विट्ठल मुख बचन सुधानिधि सम पहिचानौं
अष्ट छाप नक्षत्र गुरु जयदेव सुगानी
भानुदत्त कवि आदि की सु हीरा सी बांनी
नागर चिराक इनसों हरैं इश्क प्रकाशिका मरम तम
है इश्क राजरूपक सुहित जयरचना खद्योत मम ।।२।।

कवित्त

इश्क की प्रकाशिका या रसिक विलास का है या कौं जोई जोइगो ।
प्रेमपथ पेखिवे कौं परम प्रतीति पूर पावैंगो महायता श्री रसमैं समोइगो ।
रसिक सराहबेको रसिक समाज बीच सुजस बढाईबेको नीकें बीज बोइगो ।
सुनि सुनि रीझि रिझि मगझेंगो पढैगो याकौं इश्क मतवारे कौ इश्की सांई होइगो ।।३।।
रसिक गुमानी ज्ञानी तिनकी दयावानीसों रसिकन सीखवेकौं सिक्षक कहानी है ।
रसमें लुभानो मति इश्कहीके मानी जो हैं जाके बांचबेके हेत कीनी गुनवानी है ।
सकल सरानी अति उत्तम उठानी सुकवि युक्त हैं अनुक्त उक्त नाहीं या पुरानी है ।
इश्क राजधानी कौं सुहांनीं सन्मांनीं करि नृपति जवानसिंह जी के दरमानी हैं ।।४।।

दोहा

पैंताली उगनीस सुदि आश्विन दशमि विचार
किय टीका हरिदुर्ग मधि नृप आज्ञा अनुसार ।।५।।

[इति श्री मन्महाराजाधिराज महाराज श्री पृथ्वीसिंहजी त द्वितियपुत्र श्री जवानसिंह जी तदाज्ञानुसार कवि जय विरचितं जलवय शहनशाह इश्क की टीका इश्क प्रकाशिकासंपूर्णः ।]

इति श्री मन्महाराजाधिराज महाराज श्री पृथ्वीसिंहजी त द्वितीय पुत्र महाराज श्री जवानसिजी कृत रस तरंगस्य प्रथम तरंग सम्पूर्णः ।।१।।

कविवर जयलाल के हस्तलिखित ग्रंथ एवं उनके द्वारा रचित 'नव रात्र कवित्त' राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर में सुरक्षित है।

पृथ्वीसिंह सुजस पच्चीसी

कविवर की यह प्रशंसात्मक रचना है। इसमें मोकमसिंह के पुत्र पृथ्वीसिंह की आलंकारिक रूप से पर्याप्त गौरव गाथा वर्णित है। इसमें संदेह नहीं कि इस लघुतम कृति में कवि ने अपना साहित्यिक पांडित्य पर्याप्त प्रकार से बिखेर रखा है। बली, रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र और शिवराज आदि नरेशों से पृथ्वीसिंह की तुलना की गई है। अनुप्रास अलंकार भावगाम्भीर्य एवं भाषा का प्रौढत्व सचमुच प्रेक्षणीय है। प्रसन्नता की बात यह है कि कवि ने इन पच्चीस पद्यों पर विवरण भी लिखा है जो तात्कालिक गद्य का नमूना तो है ही, साथ ही विषय के स्पष्टीकरण की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। दुर्भाग्यवश इसकी एक मात्र प्रति राजस्थान पुरातत्व मंदिर जयपुर में सुरक्षित है और वह भी दीमकों द्वारा भक्षित है। बहुत सा पाठ नष्ट हो गया है तथापि इसका अपना महत्व है। आदि एवं अन्त भाग इस प्रकार है:

आदि भाग

श्री गुरुभ्योनमः

अथ सुजस पचीसी लिष्यते

दोहा

गनपत गन पत शिव करन सरसत सरसत बेन,
गुर वर बरसत वरसु सुर तिनकौं नत दिन रेन ।।१।।
हंस बंस अवतंस हैं भूपति श्री पृथवेस।
हंस संस ह्वं तेज तं कहौं सुजस तिह वेस ।।२।।
कमधज ते कमधज नृपत वरधर बर धर पुंज।
निज दल ते हूकम बल्लभ के सब सर्ण ।।३।।

अन्त भाग

दोहा

जय भाष सदा नीत रीति ध्रमलीन।
श्री पृथिसिंघ को सुजस पचीसी कीन ।।२४।।

यामें काहु अशुद्ध जो माफ करहु कवि ईस
कहाँ श्लेष कहां जमक है कहाँ अभिधा जुबरीस ।।२५।।

इति श्रीमन्महाराजाधिराज महाराजा श्री श्री १०८ श्री श्री पृथ्वीसिंघ जी कस्य कवि जय लालेन कृतं सुजस पच्चीसी संपूर्ण ।। सं० १८३१ का द्वितीय प्रमाढ कृष्ण ५ रवौ कृष्णगढ मध्ये स्वयं लिखितं ।।

उपर्युक्त कृति का कविकृत विवरण इस प्रकार है :

श्री गुरुभ्यो नमः

अथ सुजस पचीसी की टीका लिष्यते

गनपति इति । नमस्कारात्मक मंगलाचरन है तहाँ कविवचन सर्वत्र । गनपत जोगपौसुजी हैं ताकौं रैन दिन नत नमस्कार करौं हौं, कैसे हैं गनेसजी तिनके शिव करने को नाम सर्वजनों के कल्यान करने को पत कहियें पण है तिनौं को ऐसे तू गन नाम जान । अथवा गणेशजी गन पत गनों के पत मालिक है फर कैसे कहे शिव करन कल्यान के करन वाले । सरसत जा सरस्वती जो ताकौं भी नत नमस्कार करौं हौं कैसे कहे सरस्वती जी सरसत जो कामल बैंन वचन ताकौं देत है । अथवा सरसत वैंन स कहियें वा सरस्वती है सो रसतें वचन देत हैं । अथवा सर नाम सार तिनमें सत नाम साचे बैन देत है उत्तमों से उत्तम यह अर्थ ।।
छंद के वस तें गुर कौं जैसे बिहारी एव दरा वद राह ।
बादर कौं बदरा कह्यो । गुरवर गुर श्रेष्ठ कौं भी नमों हों कैसे कहें गुरु गुरु कहियें भारी जो वर है वरदान हैं नाम देवें हैं ।
अथवा गुरवर जो भारो वर है सो वै गुरु श करें हैं यह ध्वनि
सो रसतें सरस तातें वर हैं ताकौं पद आकांक्षित हैं जमकालंकार भाषा भूषन जमक शब्द वह हीर है जुदो ह्वै जाय । दोहा नाम ।।१।
हंस बंस इति ।।

हंस वंस जो सूर्य बंसा राजा हैं तिन में अवतंस हैं ऐसे महाराज पृथ्वी सिघ जी हैं । फर जिनों के तेज तें हंसजो सूर्य हैं संस ह्वै संसिन होता है यह सूर्य है या नहीं यह अर्थ तिनको वे ससुन्दर सुजस हैं ताको कहौं हौ । प्रावृत्ति दीपाकालंकार । आवृत्ति दीपक तीन विध आवृति पद की होय, पुनि है आवृति अरथ की दूजें कहि मत सोय । पद अरु अरथ दुहून की आवृति तीवें लेष । दोहा नाम ।।२।।

कमधज इति । कमधज जो राठवर तिनतें ओर नृपत हें सो कमधज हें कम पराक्रमी हें यह लौकिक हें या में तो कछु भी धज नहीं है वर धर वर जो बल धर जो पृथ्वी ता कौं वरध नाम बधाई हुई रषुंज नाम राषौ । अथवा वर श्रेष्ठ जो धर है ताहि ओर वैसे ही यहाँ जकार निश्चय में वा पादपूरण । निज दल तें नाम नाम आप के दल तें हुकम अहल है । दल ते फौज तें रिपु रिपु पुंज समूह सो दलित है । जमकालंकार दोहा नाम ।।३।।

उपसंहार

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में वृन्द के वंशजों की परम्परा ने जो योग दिया है वह उल्लेखनीय है । राजघराने को भी इसी परम्परा ने साहित्यिक सेवा के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि कला के क्षेत्र में भी उत्प्रेरित किया । सम्पूर्ण कवि परम्परा किशनगढ राज्य के जन मानस में इस प्रकार घर किए है कि आज भी प्रासंगिक रूपेण बहुत से पद्य जन कंठ में सुरक्षित हें जो अवसर पाकर मुखरित होकर हृदयतंत्री के तारों को झंकृत कर देते हैं । यद्यपि किशनगढ राज्य में हिन्दी साहित्य की दृष्टि से अद्यावधि समुचित शोध कार्य नहीं हुआ है । यदि अन्वेषण और अनुशीलन किया जाय तो निस्संदेह बहुसंख्यक नूतन साहित्यिक कृतियाँ समुपलब्ध हो सकती हैं । जहाँ पर इतना बड़ा कविता प्रेमी परिवार लगभग दो शताब्दियों तक रहा हो वहाँ उसका सार्वभौमिक सांस्कृतिक प्रभाव न पड़ा हो यह तो माना ही नहीं जा सकता ।

रूपनगर, सलीमाबाद, मसौदा और किशनगढ ये उस समय की सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना के प्रमुख केन्द्र थे । जहां माता सरस्वती के वरद पुत्र न केवल नूतन साहित्यिक सृजन में ही तन्मय रहा करते थे अपितु एक ऐसा भी वर्ग था जो केवल पुरातन महत्वपूर्ण ग्रंथ स्थवांङ्य की प्रतियाँ कर भंडार की वृद्धि करता था ।

किशनगढ़ के राजकीय पुस्तकालय में पंडितों द्वारा आलेखित पर्याप्त प्रतियाँ सुरक्षित हैं उनमें से कतिपय सचित्र भी हैं । सलीमाबाद तो निम्बार्क सम्प्रदाय का केन्द्र ही है और वहां इस सम्प्रदाय का सबसे बड़ा साहित्यिक भंडार अभी भी बताया जाता है । यों तो अजमेर के निकटवर्ती बहुत से ऐसे ग्रंथ मेरी सूची में हैं जहाँ पुरातन ग्रंथ एवं चित्रों का संग्रह असुरक्षित उपेक्षित दशा में बिखरा पड़ा है । राजस्थान शासन का प्राथमिक कर्त्तव्य होना चाहिए कि इन सांस्कृतिक प्रतीकों के सक्रिय अनुशीलन के लिए प्रयत्नशील हों अन्यथा अवशिष्ट सामग्री से भी हमें हाथ धोना पड़ेगा ।

किशनगढ के राजघराने द्वारा की गई हिन्दी सेवा और उसके निमित्त वृन्द की परम्परा ने जो योग दिया, ये विषय अवर्णनीय हैं। आशा है दूसरे स्वतंत्र निबन्ध द्वारा प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा सकेगा ।[1]

---

(१) इस निबंधलेखन में मुझे राजस्थान पुरातत्व मंदिर (जयपुर) के हस्त लिखित ग्रंथ संग्रह का विशेषरूप से उपयोग करना पड़ा है. तदर्थ में मान्यवर मुनीश्वर जिन विजय जी का सादर आभार मानता हूँ ।

कविवर वृन्द की वंशावली

वृन्द
|
वल्लभ
|
सनेही राम
|
दौलत
|
खुमराम
|
बलदेव[1]
|
जयलाल

यद्यपि अभी तक वृन्द के वंशजों के रूप में श्रीपथ विद्यमान हैं, जो स्वयं अच्छे कवि व कविता-पाठक हैं; पर निबन्ध का विषय जयलाल तक ही होने के कारण आगे की वंशावली देना समुचित प्रतीत नहीं होता।

---

१. अन्यान्य ग्रंथों में मगनीराम के पुत्र बलदेव का ही उल्लेख आता है। छगनीराम का उल्लेख केवल सं० १८८६ की भाषा-दीपक की पुष्पिका में ही लेखक ने किया है। अनुमान होता है कि लेखक का स्वयं का नाम मगनीराम था अतः अपने पुत्र का नाम भी छगनीराम रखा हो तो आश्चर्य नहीं। जैसे कि कवि स्वयं कविता में अपना नाम खुसराम रखता है वैसे ही यह भी बहुत सम्भव है कि छगनीराम का सांस्कृतिक नाम उसने बलदेव रख दिया हो। पर जब तक निश्चयात्मक उल्लेख उपलब्ध नहीं हो जाते तब तक किसी भी अंतिम निर्णय पर पहुंचना कठिन ही है।

कविवर वृन्द के वंशजों द्वारा रचित ग्रंथों की अनुक्रमणिका

सं०	ग्रंथ रचयिता		ग्रंथ का नाम	रचना काल
१.	वल्लभ	१.	वल्लभ विलास	—
		२.	वल्लभ मुक्तावली	—
२.	सनेहीराम		कोई कृति उपलब्ध नहीं	
३.	दौलत	१.	रस प्रबोध	सं० १८४६
		२.	ऋतु सुखसार	सं० १८५५
४.	खुमराम	१.	नीति प्रबोध	सं० १८७४
		२.	खुशविलास	सं० १९०४
		३.	वैराग्य विनोद	सं० १९०५
		४.	श्री देवी स्तुति	सं० १९०७
		५.	काली स्तुति	
		६.	गंगानवक	सं० १९१३
		७.	यमुनाष्टक	सं० १९१४
		८.	शांतिनवक	सं० १९१४
		९.	रसनिबन्ध	सं० १९१४
		१०.	शीतला चरित्र	सं० १९१५
		११.	गणेश जी की आरती	सं० १९१६
		१२.	सबद	सं० १९२०
		१३.	अलंकार लहरी	
		१४.	श्यामाजी की आरती	
		१५.	भैरव जी की आरती	
		१६.	बाला जी की आरती	
		१७.	पुष्कराष्टक	
		१८.	पृथ्वीसिंह शिकार वर्णन	
		१९.	गूढ दोहा	
		२०.	रत्नविजय कवित्त	
५.	बलदेव		कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं	
६.	जयलाल	१.	पृथ्वीसिंह सुजस पच्चीसी	सटीक
		२.	जलवय शहनशाह इश्क की टीका	सं० १९४५
		३.	नवरात्री कवित्त	

लोकनाथ भराली

असमीया भाषा और उसके विकास में दूसरी भाषाओं का योग

असमीया भाषा के विषय में साधारणतया यह धारणा पायी जाती है कि यह भाषा भारत-यूरोपीय भाषाओं के साथ कोई विशेष संबंध नहीं रखती। इसका उद्भव और विकास सभी भारत-यूरोपीय भाषायों से अलग रहकर ही हुआ है। लोग इसके पीछे यही युक्ति रखते हैं कि असमीया भाषा के चारों ओर आर्येतर भाषाएं ही पाईं जातीं हैं, जिनके साथ उसका सम्बन्ध ऐतिहासिक समय से है। किन्तु यह धारणा मूलत: निर्मूल नहीं है। अपने चारों ओर की आर्येतर भाषाओं के साथ सम्बन्ध रखते हुए भी इसने भारत-यूरोपीय भाषाओं से नाता नहीं तोड़ा, बल्कि इसमें प्रमाण रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं है कि यह भाषा उपरोक्त गोष्ठी की है। यह पूर्ण रूप से भारत-यूरोपीय भाषा है जिसका विकास भारत की दूसरी आधुनिक आर्य भाषाओं के साथ हुआ।

मुझे मालूम है कि मैं एक पुराना सवाल उठाने जा रहा हूँ। मुझे यह भी मालूम है कि इस सवाल का उत्तर कभी का दिया जा चुका है। किन्तु अब भी कुछ विद्वानों में यह धारणा काम कर रही कि असमीया भाषा और कुछ नहीं है केवल पड़ोसी बँगला भाषा का एक अपभ्रष्ट रूप है। इस सवाल का यदि डट कर जवाब दिया जाय तो उसके लिए एक अलग निबंध लिखना पड़ेगा। संक्षेप में मुझे इतना ही कहना है कि न असमीया भाषा बँगला का अपभ्रष्ट रूप है और न उसमें आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के किसी तत्त्व की कमी है। यदि भाषा का उद्गम और साहित्य रचना का इतिहास देखा जाय तो बँगला भाषा असमीया की तुलना में परसों की मालूम पड़ेगी।

असम राज्य का 'असम' नाम आधुनिक काल का है। यह नाम आहोम नामक मंगोल जाति से आया है जो तेरहवीं शताब्दी में श्याम देश से असम में घुस आई थी। इसके पहले इस राज्य का नाम अलग अलग कालों में अलग अलग पाया जाता है। पुराण या इतिहास के विभिन्न ग्रंथों में इसका उल्लेख पाया जाता है। इस आहोम जाति से, पहले इस राज्य का नाम पड़ता है और बाद को राज्य की भाषा का। इसके पहले तो इस राज्य की भाषा को कामरूपी ही कहा जाता था। यद्यपि राज्य की भाषा का नामकरण एक मंगोल जाति के नाम के साथ हुआ पर इसका यह अर्थ नहीं कि यह भाषा

भी मंगोल कुल की है। यह पूर्णरूप से भारत-यूरोपीय भाषा-गोष्ठी की भाषा है जिसके बारे में डा० वाणीकांत काकती ने अपनी पुस्तक "आसामीज इत्स फार्मेसन्स एण्ड ग्रउथ" में पूर्ण रूप से विवेचन किया है। डा० ग्रियर्सन साहब ने भी अपने "भाषा सर्वे" नामक ग्रन्थ में इसी मत का पूर्ण प्रतिपादन किया है।

असमीया भाषा का प्राचीनतम चिह्न ईसवी सन् सातवीं शताब्दी में ही मिल जाता है। उस समय असम (उस समय कामरूप) में कुमारभास्कर वर्मा ने राज्य किया था। ठीक उसी समय चीनी परिव्राजक ह्यु एनसाँग भारत-भ्रमण के लिए आए थे। कुमार-भास्कर वर्मा के निमंत्रण को स्वीकार कर वे असम में भी आए। उन्होंने अपने भ्रमण वृत्तान्तों में और विषयों के साथ, प्राचीन असमीया समाज और भाषा के बारे में भी उल्लेख किया है। वे लिख गये हैं कि उस समय असम में बोली जाने वाली भाषा मध्य भाग में बोली जाने वाली भाषा से कुछ भेद रखती थी। ह्यु एनसांग का इस तरह से कहने का उद्देश्य यही था कि ई० सातवीं शताब्दी में ही भारत के पूर्वी हिस्से (असम) में ऐसी एक भाषा का प्रचलन होने लगा था जो उस समय मगध, मिथिला आदि स्थानों में बोली जाने वाली अपभ्रंश भाषा से भिन्नता रखती थी। यद्यपि असमीया भाषा आधुनिक भारतीय पूर्वी भाषा की शाखा में है तथापि उसमें ई० सातवीं शताब्दी में ही मागधी अपभ्रंश से धीरे धीरे हटती हुई प्रवृत्ति पाई जाती है। संभवतया इसी कारण से ह्युएन्सांग ने उसके विषय में ऐसा कहा है। असमीया भाषा का उद्गम पूर्वी मागधी यानी मागधी से हुआ है।

प्राचीन असमीया भाषा में आने वाले शब्द हम पुरानी शिलालेख आदि में स्थानों के नामों के रूप में पाते हैं। ह्रास कालीन बौद्ध तान्त्रिक और योगियों द्वारा लिखी गयी रचनाओं में प्राचीन काल से चलित लोकगीत आदि में भी ये शब्द पाये जाते हैं। इसके अलावा आठवीं और बारहवीं शताब्दी के रचे गये चर्यापद की भाषा में भी असमीया शब्दों के नमूने पाये जाते हैं। चर्यापद की भाषा तो पूर्वी भारत-यूरोपीय भाषाओं की साधारण भाषा है। कभी बंगाल के पंडितों ने इसकी भाषा को प्राचीन बंगाल का रूप माना था। महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन की खोजों के बाद एक प्रकार से उस प्रकार के दावे समाप्त हो गये हैं। चर्यापद की भाषा के शब्दों के साथ आधुनिक असमीया भाषा के शब्दों का बहुत साम्य है। डा० वाणी कान्त काकती ने अपनी ऊपर उल्लिखित पुस्तक में यह अच्छी तरह दिखाया है कि चर्यापद के शब्दों के साथ असमीया भाषा के शब्दों का किस तरह ध्वन्यात्मक और रूपात्मक साम्य है। प्राचीन कामरूपी भाषा का क्षेत्र आज का असम राज्य ही नहीं था। पश्चिम में इसका क्षेत्र आधुनिक पश्चिमी बंगाल के जिला दिनाजपुर और पूर्वी पाकिस्तान के रंपुर आदि तक था। इन जिलों के विभिन्न स्थानों के नाम आज भी इसका प्रमाण देते हैं कि इनका साम्य आजके असम राज्य में पाये जानेवाले स्थानों के नाम के साथ है। कुमार भास्कर वर्मा के समय तो कामरूप की पश्चिमी सीमा मिथिला राज्य तक थी। ऐसी हालत में यदि उत्तरी बंगाल की भाषा से असमीया भाषा मिलती है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। चर्यापद भी इसी क्षेत्र के आसपास कहीं लिखा गया था। इस दृष्टि से चर्यापद की भाषा से असमीया भाषा अधिक मिलती है तो ठीक ही है।

असम में अब तक पाये गये प्राचीन शिला लेखों में नगाओं जिले के कपिलि नदी की घाटी में मिला हुआ शिलालेख सर्व प्राचीन है। इसका काल ई० सन् ५५५ के करीब है। इस समय में पाये गये दूसरे शिला-लेख, और इसकी भाषा संस्कृत है। किन्तु इतना होते हुए भी इन प्रशस्तियों में कहीं कहीं देशज शब्द पाये जाते हैं। जो असमीया भाषा के जन्म की बात कहते हैं। इन शब्दों में व्यक्ति के नाम, नदी के नाम, गाँव आदि के नाम, वाचक शब्द हैं। 'कामरूप शासनावली' नामक ग्रंथ में भी पूर्वी भारत में किसी दूसरी एक देशी भाषा के रहने की बात की सूचना मिलती है। भारत के किसी भी विद्वान् को तब तक यह मालूम न था कि कामरूप में भी एक प्रकार की प्राकृत भाषा का कभी प्रचलन था, जब तक डा० बेणी माधव बरुवा ने 'इण्डियन हिष्टिरिकेल क्वार्टरली' में लेख लिखकर इस प्रकार की भाषा के रहने की तरफ संकेत नहीं दिया।

डा० वाणी कान्त काकती ने डा० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित "बौद्ध गान ओ दोहा" की भाषा की छानबीन करके अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में लिखा है कि उस की भाषा के बहुत सारे तत्त्व आधुनिक असमीया भाषा में ज्यों के त्यों हैं। वडु चण्डीदास-कृत कृष्ण-कीर्तन की भाषा में भी पूर्वी मागधी अपभ्रंश के तत्व पाये जाते हैं। कृष्ण-कीर्तन की भाषा में असमीया भाषा से अधिक साम्य पाया जाता है, जिसके साथ परवर्ती बँगला भाषा का कम साम्य दिखाई पड़ता है। जैसे, असमीया में 'नहीं' अर्थ के द्योतन के लिए 'न' प्रत्यय को क्रिया के पीछे लगाया जाता है और बंगला में क्रिया के आगे। कृष्ण कीर्तन में पहला लक्षण पाया जाता है।

भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास-काल के अनन्तर उत्तरी भारत में, जिसमें असम भी आ जाता है, सिद्धों, योगियों, और तान्त्रिकों का ऐसा एक साधना-मार्ग चल पड़ा था जिस से प्रेरित होकर उन्होंने साहित्य की रचना की थी। चर्यापद या 'बौद्ध गान ओ दोहा' इन्हीं की साहित्य-साधना है। इनमें से आचार्य मीननाथ प्राचीन कामरूप राज्य के रहनेवाले थे, जिसकी प्रामाणिकता के बारे में शायद अब विद्वानों में मतभेद नहीं है। आचार्य मीननाथ ने, 'बाह्यान्तर बोधिचित्त वन्धो प्रदेश,' नामक ग्रंथ की रचना की थी। राहुलजी ने इसका पाठोद्धार तिब्बत से किया है। उन्होंने उसकी भाषा से असमीया भाषा का सादृश्य दिखाया है। ('असमीया भाषा डा० विरिंचि बरुवा')।

असमीया भाषा के ऊपर इसके चारों ओर की भाषाओं का ध्वन्यात्मक, रूपात्मक और अर्थात्मक प्रभाव पड़ा है। इसके कारण अन्य आधुनिक भारत-यूरोपीय भाषा में से उपरोक्त सभी क्षेत्रों में वह भिन्नता रखती है। असमीया भाषा की शब्दावली बहुत कुछ इन्हीं भाषाओं के शब्दों से पुष्ट है। डा० काकती के अनुसार असमीया देशज शब्द अधिकांश आष्ट्रिक भाषा से आये हैं। कामाख्या, कामरूप, तेजपुर, डिमापुर आदि स्थानों का नाम इसी मूल से है। बड़ा, कछारी, आहोम भाषाओं का दान भी कम उल्लेखनीय नहीं है। इस प्रकार असमीया शब्दावली नीचे लिखे अनुसार पाई जाती है—

१, संस्कृत या भारत-यूरोपीय भाषाओं के शब्द जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न कालों में विकसित हो कर असमीया में आये हैं, जिन्हें तद्भव कहा जाता है ।

२. वे शब्द जो सभी नव भारत-यूरोपीय भाषायों में पाये जात हैं, जिनके चिह्न भारत-यूरोपीय गोष्ठी में नहीं पाये जाते । ऐसे शब्दों को देशीय कहा गया है ।

३. नव भारत-यूरोपीय भाषाओं से समय समय पर लिये गये शब्द ।

४. आर्येतर भाषायों से आये हुये शब्द ।

५. यूरोपीय भाषायों से आये हुये शब्द ।

६. संस्कृत भाषा के या तो उसके मूलरूप में या अपनी रुचि के अनुसार गढ़े गये शब्द । ऐसे शब्दों के पहले समूह को तत्सम कहा गया है, और दूसरे समूह को अर्द्धतत्सम कहा गया है ।

पहले समूह के शब्द ही असमीया शब्दावली का मूल और मुख्य स्रोत हैं । भाषा के रूपात्मक विकास के लिए आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को जिस कठघरे से होकर जाना पड़ता है, असमीया भाषा का भी वही साँचा है । पूर्वी भारतीय आर्य भाषाओं में पश्चिमी भाषाओं की तुलना में जो ध्वन्यात्मक भेद है, वह और आर्येतर भाषाओं के ध्वनितत्त्व को साथ लेकर असमीया की शब्दावली के ध्वनि-विकास का फल है । संस्कृत या भारत-यूरोपीय भाषाओं से शब्द लेने के समय भी इसी सिद्धान्त ने काम किया है। दूसरे समूह के शब्द भी असमीया भाषा में कम नहीं हैं । देशज शब्द किसी भी भाषा की अपनी संपत्ति होते हैं। इनके बिना उसका काम चलना मुश्किल है । तीसरे और पाँचवें समूह के शब्द असमीया में नगण्य हैं। इन का प्रचलन आधुनिक काल में ही अधिक हुआ है। चौथे समूह के शब्द असमीया में भरे पड़े हैं । मंगोल, आष्ट्रिक, द्रविड़ आदि भाषाएँ इन में मुख्य हैं । इन्हीं के आधार पर कुछ विद्वान असमीया को आर्येतर भाषाओं के साथ घसीटना चाहते हैं। छठे समूह के शब्द जो तत्सम और अर्द्ध तत्सम कहे जाते हैं, कहीं मूल अर्थ में और कहीं अर्थ-विपर्यय के साथ असमीया भाषा में बहुत बड़ी मात्रा में आते हैं ।

जिन आर्येतर भाषाओं के शब्द असमीया भाषा में पाये जाते हैं, उन्हें इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है—

१. आष्ट्रिक—(क) खासी (ख) मुण्डा (ग) मालय।

२. तिब्बत-बर्मी—(क) बड़ो।

३. टाई--(क) आहोम

आष्ट्रिक जाति के लोग असम के सब से प्राचीन निवासी हैं, ऐसा विद्वानों का कहना है। अतः इस जाति की भाषा की शब्दावली असमीया भाषा के शब्द-भण्डार को यदि पुष्ट करे तो स्वाभाविक ही है । परवर्ती काल में असम में आई हुई आष्ट्रिक जाति के लोगों को अपने पूर्व स्थान से भगा दिया गया था, तब उन्होंने समतल को छोड़कर पहाड़ियों में

आश्रय लिया था । शायद इसीलिए आज केवल खासी पहाड़ में ही आष्ट्रिक भाषा जीवित है । मुंडा और मालय भाषा के शब्दों के अतिरिक्त आज उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं है, यद्यपि आज भी संथाली भाषा-भाषी लोग असम में एक लाख के करीब हैं । किन्तु धीरे धीरे उनकी संख्या कम होती जा रही है । आष्ट्रिक भाषाओं का अब असमीया भाषा पर और कोई प्रभाव नहीं रह गया है, सिवा उनकी शब्दावली के बड़ो जाति और उसकी भाषा असम राज्य की सभ्यता और संस्कृति पर अमिट छाप छोड़ गई है । असमीया भाषा साहित्य पर इसलिए इसका गहरा प्रभाव है । असमीया शब्दावली में इस भाषा के बहुत सारे शब्द हैं । तो भी यह असमीया भाषा में कोई रूपात्मक परिवर्तन लाने में सफल नहीं हो सकी । संभवतया असमीया भाषा के आर्येतर शब्द इसी भाषा के ही सबसे अधिक हैं । दीर्घकालीन संसर्ग और आर्य भाषी लोगों के साथ इसका निकट का सम्बन्ध होने के कारण ही ऐसा हुआ है । असम पूरे भारतवर्ष का एक छोटा सा नमूना है, भाषा और संस्कृति की दृष्टि से यह बात पूर्ण रूप से सत्य है । अतः असमीया भाषा को विभिन्न कालों में विभिन्न भाषाओं के संसर्ग में आना पड़ा है । किन्तु इतना होने पर भी असमीया भाषा का कोई रूपात्मक परिवर्तन इसके कारण नहीं हो सका । इसका कारण डा० विरिंचि कुमार बरुवा यह देते हैं कि प्राचीन काल से ही आर्यों का स्रोत असम में आता रहा है । और आर्य भाषा की इस निरविच्छिन्न धारा के कारण असम में इसका प्रभाव बराबर बना रहा और इसका आर्य रूप ही अटूट रहा ।

असमीया भाषा में ईरानी आर्य शाखा, हामी परिवार की अरबी भाषा और तुर्की आदि भाषाओं के भी बहुत से शब्द पाये जाते हैं । इन भाषाओं के शब्द असमीया भाषा में तुर्क और मुगल काल से ही पाए जाते हैं । उपरोक्त जातियाँ राजनीतिक क्षेत्रों में ही अधिक सीमित रहीं, इस कारण इन भाषाओं से राजनीतिक और कानूनी शब्द ही अधिक आये हैं । आधुनिक काल में अंग्रेजी भाषा से भी उपरोक्त विषयों के शब्द आये हैं । इस तरह आर्य और विभिन्न आर्येतर भाषाओं से समय समय पर आये हुए शब्दों के द्वारा असमीया भाषा का शब्द-भंडार पुष्ट हुआ है ।

इसके शब्दों की व्युत्पत्ति के स्रोत को आसानी से खोजा जाना आज भी संभव नहीं हुआ है । असमीया में व्यवहार में आनेवाले ऐसे कई शब्द मिलते हैं जिनका मूल विद्वानों ने हब्शी भाषाओं में खोजा । यद्यपि असमीया भाषा राज्य की अधिकतर पहाड़ी जातियों के भावों के आदान-प्रदान का माध्यम है, तो भी इसमें इन जातियों की निजी भाषाओं के उतने शब्द नहीं पायें जाते जितने प्रकृतितः होने चाहिए । यह एक रोचक समस्या है, जिसका समाधान भाषा-विज्ञानी ही दे सकता है । यों तो आज असमीया भाषा के अध्ययन के माने यह हैं कि पूरे असम राज्य की भाषाओं का ही अध्ययन किया जाय । असमीया भाषा के चारों तरफ पाई जानेवाली भाषाओं के अध्ययन से हमें कितनी नई बातों का भी पता चल सकता है । उदाहरण के तौर पर उल्लेख किया जा सकता है कि अब तक मणिपुरी भाषा को भाषा-विदों ने तिब्बत-बर्मी गोष्ठी की माना है । किन्तु आज कुछ मणिपुरी विद्वान् उसका सम्बन्ध प्रशांत महासागरीय भाषा-परिवार से जोड़ना चाहते हैं । इसके पीछे वे मणिपुरी

भाषा के कुछ ध्वनि-संकेतों सम्बन्धी तर्क रखते हैं। संक्षेप में असम की भाषाओं के अध्ययन से भाषा संबंधी बहुत से नये तथ्यों का पता लगने की संभावना है।

आधुनिक असमीया भाषा की "खड़ी-बोली" शिवसागर और नगाओं जिले की शिष्ट भाषा है। इस भाषा का प्राधान्य अंग्रेजों के समय से ही हुआ। इसके पहले इसका नाम तो कामरूपी ही था। ईसाई मिशनरियों ने अपना धार्मिक साहित्य इसी पूर्वी भाषा में ही लिखा था। इसके पूर्व का असमीया साहित्य पश्चिमी बोली में लिखा जाता था। वैष्णव कालीन साहित्य में उड़िया भाषा के बहुत से संज्ञा और क्रिया शब्द मिलते हैं। हिन्दी भाषा की ही तरह असमीया की भी बहुत सी बोलियाँ हैं। बोलियों की संख्या कामरूप जिले में सबसे अधिक है। यहाँ बोलियों की इतनी विभिन्नता है कि हर पाँच-दस मील के अन्तर से इनका भेद पाया जाता है। लक्षिमपुर जिले में भी जहाँ मंगोल जाति के लोग अधिक बसते हैं, बोलियों की विभिन्नता पाई जाती है।

विभिन्न बोलियों के सहयोग, आपस के सहज मिलन और अबाध आदान-प्रदान के फलस्वरूप असमीया भाषा की अपनी उन्नति होने के साथ ही वह यहाँ की बोलियों का मिलन-क्षेत्र भी हो गई है। जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि इस अबाध संसर्ग से असमीया भाषा में कोई व्याकरणिक परिवर्तन नहीं हुआ है, किन्तु ध्वन्यात्मक परिवर्तन इसमें और आधुनिक भारत यूरोपीय-भाषाओं से शायद सबसे अधिक हुआ है। "श, ष, स" का उच्चारण किसी भी भारतीय भाषा के साथ, चाहे वह द्रविड़ समूह की हो, या भारत-यूरोपीय शाखा की हो, नहीं मिलता है। चवर्ग और टवर्ग का उच्चारण भी भारत की पश्चिमी भाषाओं से नहीं मिलता है। ध्वनि सम्बन्धी ये परिवर्तन असमीया भाषा के आस-पास में पाई जानेवाली भाषाओं के कारण ही हुए हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि असमीया में ऐसी कुछ ध्वनियाँ हैं जो न आर्य भाषाओं में पाई जाती हैं और न आर्येतर दूसरी भाषाओं में हो। इन विशेष ध्वनियों के कारण यह भाषा और भाषाओं से थोड़ी अलग खड़ी हो जाती है। बड़ो, तिब्बत-चीनी या तिब्बत-बर्मी भाषाओं की ध्वनि भी असमीया में पाई जाती है।

संसार में विशुद्ध रक्त की जाति की बातें करना जिस प्रकार मूर्खता की बात होती है, उसी प्रकार विशुद्ध भाषा का दावा करना भी अपनी बुद्धि के दिवालेपन की निशानी है। कोई भी भाषा अपने सीमित साधन और बन्द घेरे के भीतर विकास नहीं कर सकती है। भाषा के विकास में औदार्य-गुण भी कुछ माने में काम में आता है। असमीया भाषा भी अपने सीमित घेरे में विकास नहीं कर सकती थी। अपने चारों ओर की भाषाओं से अनुकूल तत्त्वों को ग्रहण करके ही वह विकास कर सकती थी। असम की ये अगणित भाषाएँ यदि असमीया भाषा का प्राण नहीं हैं तो इसका शरीर अवश्य हैं। इन्हीं से उसके विकास का बाहरी घेरा बना है।

श्री शांति आँकड़ियाकर

गूर्जर ज्योतिर्धर प्रेमानन्द और उनकी चमत्कृतिः मामेरु

गुजराती साहित्य का मध्यकाल ९०० से १८५० ई० तक माना जाता है। उस काल में गुजराती साहित्य को स्थिर और विकसित करने वाले कई भक्त कवि हुए। उन सबमें अधिक प्रकाशित और प्रतिभाशाली गूर्जरी गिरा के सेवक हैं भक्त नरसी और गूर्जर ज्योतिर्धर[१] प्रेमानन्द। प्रेमानंद ने गुजराती काव्य-देह को प्रौढ़ और नियमित बनाया[२]। गुजरात के इतिहास में १६०५ से १७४५ ई० तक का समय शांति का समय है। उस समय में, प्रेमानंद ने सामाजिक जीवन को अपने काव्यों में गूँथा।

उनका जन्म बड़ौदा में १६३६ के आस-पास हुआ। उनके पिता कथाकार थे। माँ-बाप के मरण के बाद प्रेमानन्द अपनी मौसी के घर गये। किंवदंती है कि प्रेमानन्द बचपन में बिलकुल मूर्ख था, पर किसी साधू से सेवा के फलस्वरूप वरदान प्राप्त हुआ। फलतः प्रेमानन्द को काव्यकला की महान सिद्धि प्राप्त हो गई। कवि होते हुए मानसशास्त्र और न्यायशास्त्र का उनका अध्ययन बहुत उच्च कोटि का है।

वे देहातों में हाथ में माण (एक तरहका वाजित्र) लेकर घूमते रहते, और शाम होते ही देहातियों को इकट्ठा करके उनके समक्ष पुराणकी कथा के आधार पर और गुजराती जीवन की पार्श्वभूमिका पर रचे गये अपने 'आख्यान' संगीतमय मधुरवाणी में प्रस्तुत करते थे। वे संगीत में भी निपुण थे।

पौराणिक वस्तुओंके आधार पर उन्होंने निम्न रचनाएं कीं :—

१.	दशमस्कंध	२.	नलाख्यान
३.	ओखाहरण	४.	मृदालशाख्यान
५.	सुदामा चरित्र	६.	रणयज्ञ
७.	दानलीला	८.	अभिमन्यु आख्यान
९.	वामनचरित्र	१०.	प्रह्लादाख्यान
११,	सुधन्वाख्यान	१२.	विवेकवणझारो

---

१. गुजराती साहित्य की रूपरेखा, प्रा० वि० क० वैद्य।

२. साहित्यरत्न भा० ३, रमण वकील।

१३. मामेरुं[३]	१४. नरसिंह मेहते के बाप का श्राद्ध
१५. नरसी मेहेता की हुंडी	१६. हारमाला
१७. डांगवाख्यान	१८. संपूर्ण भागवत्
१९. रामायण	२०. रेवाख्यान
२१. महाभारत्	२२. अश्वमेध

२३. वल्लभ झघड़ो, आदि ।

ऐसा माना जाता है कि कुल मिलाकर उन्होंने एक लाख से भी अधिक पंक्तियाँ लिखीं। हर पंक्ति में उनकी प्रतिभा, प्रज्ञा, और न्याय-दृष्टि दृष्टिगत होती है। कहा जाता है कि वे एक समय गाई हुई पंक्ति दुबारा नहीं बोलते थे। उनका आलेखन अपूर्व और सुन्दर है। गुजराती के एक विद्वान ने तो उन्हें शेक्सपियर[४] के साथ आसन दिया है। 'प्रेमानंद की प्रतिभा निरामय धात्री है: उनकी उत्तर भारत की यात्रा और सद्गुरु की प्रेरणा।'[५]

प्रेमानंद की कवित्व शक्ति असाधारण थी। काव्य में कवि जो कहना चाहता है, पाठक उसका हूबहू चित्र अपनी आंखों के समक्ष तैरता देखता है। 'रस-भाव में तो अब तक उसकी बराबरी करने वाला कोई कवि ही गुजराती में नहीं हुआ है।'[६] जहाँ वह चाहते हैं पाठकों को रुदन कराते हैं, हँसाते हैं, और शांत रस के एकाध कोने में ले जाकर उनके साथ सरलता और सहजता से, आसान भाषा में गूढ़ तत्त्व की चर्चा भी करने लगते हैं। उनकी मुख्य विशेषता तो यह है कि वे पाठकों को एक रस के स्रोत से दूसरे रस के प्रवाह में बहुत जल्दी ही ले जा सकते हैं। अपने नपे हुए सभी प्रकार के निशान तक, पाठकों को बड़ी सरलता और सावधानी से ले जाते हैं और अपने इच्छित असर का वातावरण पाठकों के सामने खड़ा कर देते हैं; क्योंकि उनके पास जन स्वभाव का गहरा और अध्ययनपूर्ण ज्ञान है। उनकी ग्रंथ-संकलना भी उच्च कोटि की है। उनकी भाषा शुद्ध, प्रौढ़, और शैली सीधी, सरल और संक्षिप्त होती है—सच्चे अर्थ में लोकभाषा युक्त पदों का बंधन सरल, और कोमल है।

आज भी कई ब्राह्मण उनके काव्यों की पूजा करते हैं (कुछ स्वार्थ के कारण भी)। सहस्रों गुजराती लोग हर शनिवार को उनके 'सुदामा चरित्र' का पाठ करते हैं। 'नरसी मेहता की हुंडी' का हर इतवार को श्रद्धालु जन पूजन करते हैं। चैत मास में तो गुजरात के हर ग्राम-नगर गली-गली और घर-घर में 'ओखाहरण' का पवित्र रव गुंजित हो जाता है। श्राद्ध के दिनों में देहात-शहरों के रामजी मंदिरों पर 'नरसी मेहता के बाप का श्राद्ध' पूर्ण श्रद्धा से गाया जाता है। लड़की के सीमंतोन्नयन अवसर पर

---

३. साहित्य अकादमी ने 'मामेरुं' पुस्तक भारत की सभी भाषाओं में अनूदित करने के लिए पसंद की है—शां० अं०

४— साहित्य रत्न भा० ३, पृष्ठ ११, प्रिन्सिपल रमण वकील।

५—गुजराती साहित्यनी रूपरेखा, पृष्ठ, ७६ प्रा० वि० क० वैद्य।

६—'मामेरुं' की प्रस्तावना, आदि विवेचक नवलराम ल०।

हर हिंदू कुटुम्ब में 'मामेरुं' से उद्धृत कुछ पंक्तियाँ गाने का रिवाज है। जब वर्षा होती है तो किसानों को कुछ काम नहीं होता। इससे वर्षा के दिनों में गुजरात के छोटे-बड़े देहातों के ठाकुर-मंदिरों पर श्रद्धालु किसान जमा होते हैं और गाँव के पुरोहित उन्हें प्रेमानंद विरचित 'सपूर्ण भागवात्' या 'दशमस्कंध' सुनाते हैं। इस तरह चार शताब्दी के पूर्व अपनी रस-सरिता को बहाने वाले प्रेमानंद आज भी अपनी अनुपम काव्य-शक्ति के रूप में गुजरात के देहातों और शहरों में विद्यमान् हैं, और यही साहित्यकार की बड़ी देन होती है।

ईस्वी १७२४ में लगभग सौ साल की उम्र में प्रेमानंद इस संसार को छोड़ गये।

उनके पीछे उनका अपना विस्तृत शिष्यमंडल था। एक शिष्य हिंदी में, एक ब्रज में, एक मराठी में, और एक संस्कृत में काव्य रचना किया करता था। उनकी मृत्यु के समय 'दशमस्कंध' अधूरा था और उसे उनके पुत्र और शिष्य वल्लभ ने पूरा किया।

'मामेरुं' की वस्तुः[७]

सौराष्ट्र के जूनागढ़ में चौदहवीं शताब्दी में एक भारत प्रसिद्ध भक्त कवि नरसिंह हुए थे। वे बड़े पहुँचे हुए कवि थे। उनके दो संतान थीं, एक पुत्र शामल, और एक बेटी कुँवरबाई। जाति से वे नागर ब्राह्मण थे। नरसिंह के जीवन में भी हरेक भक्त के जीवन की तरह चमत्कार हुये। उन चमत्कारों में एक चमत्कार 'कुंवरबाई का मामेरा' प्रभु ने आकर पूरा कर दिया। कुंवर को सीमंत आना है। गरीब पिता 'मामेरा' लेकर आते हैं। प्रभु आकर नरसिंह की मदद करते हैं। इस सामाजिक प्रसंग को लेकर प्रेमानंद ने 'मामेरुं' काव्य की रचना कर दी। 'मामेरुं' प्रेमानंद की उत्कृष्ट कृति मानी जाती है।[८]

इस काव्य में कुल मिलाकर ६१२ पंक्तियाँ हैं। कड़वे १५ हैं। आठ राग-धनाश्री, रामश्री, केदारा, प्रभाती, मारू, सामेरी, मल्हार सामेरी, गोडी—प्रयुक्त हुए हैं।

भक्त चरित्र नीरस और काव्य-प्रेमियों को समान रूप से प्रेरणा देता है। प्रेमानंद की कलम ने यह विषय बहुत ही सरस और मनोहर बना दिया है। भक्त चरित्र का एक रस-बीज लेकर प्रेमानंद ने तुरन्त एक सुन्दर वृक्ष बना दिया। जगत-भगत की गति परस्पर विरुद्ध है; और वह विरोधाभास हो कवि के कुशल हाथ में एक नवीन रस का साधन बन गया है।'[९]

काव्य के आरंभ करने के पहले कवि श्री गुरु, गणपति और शारदा का स्मरण करते हैं :

७— 'मामेरुं' का गुजराती अर्थ है : पुत्री के सीमंतोन्नयन अवसर पर माता-पिता की ओर से दिया जाने वाला दहेज। 'मामेरुं' एक खास उत्सव है। राजस्थान में उससे मिलती जुलती एक क्रिया, मेरी माहिती के अनुसार विद्यमान है। (ब्रज में 'भात' कहलाता है)।

८— गुजराती साहित्यनी रूपरेखा; प्रा० वि० क० वैद्य।

९— 'मामेरुं' की प्रस्तावना पृष्ठ १८; न० ल०।

श्री गुरु, गणपति, शारदा।
समरुं सुखदाई सर्वदा ।।
मनमुदा कहुं।
मामेरुं मेंता तणुं रे ।।

नरसिंह के ऊपर ईश्वर की कृपा होती है। ईश्वर उनसे कहते हैं: हे भक्त! तुम जब मेरा स्मरण करोगे, मैं उपस्थित हो जाऊँगा। लोकाचार के भय के बिना तुम मेरी भक्ति में लीन हो जाओ:

मस्तक ऊपर हाथ मूक्यो, पोते श्री गोपाल:
दुःख वेला संभारजे, धाई आवीरा त्यां तत्काल
कीर्तन भक्ति करे मारी, तरिश भव संसार
आ जुओ तेवी लीला गाजे, केवल रस-शृंगार

× × ×

रखे लोकाचारनो भय गणे, मस्तक साटे मुक्ति!
राधा-कृष्णनो रास गाजे, जुए तेवी जुक्ति!

अन्तत: नरसिंह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने पर भी भक्त ने ईश्वर नाम को नहीं छोड़ा:

दामोदरनी सेवा करे; मुद्रा, तिलक ने माला धरे;
साधू, वैरागी वैष्णव संग; शंख, ताल, ने वाजे चंग;
चोकमांहि तुलसीनां वन; अहर्निश थाये किर्तन;
नहि खेती, उद्यम, वेपार; एक भक्तितणो आधार;
जे आवे ते वैष्णव जमे; हरि गुण गाय, ने दिन निर्गमे;
विश्वंभर पूरुं पाडे अन्न; विश्वास घणो मेहेताने मन!

नरसिंह हरिगुण गाने में मस्त हैं। इस तरह कई वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। भक्त को एक पुत्र-शामल-और एक पुत्री-कुंवरबाई-प्राप्त होते हैं। कुछ वर्ष के पश्चात् नरसिंह की पत्नी वैकुंठ चली जाती हैं। उस समय नरसिंह के मुँह से निकले शब्द उनकी भगवद्मय स्थिति के प्रतीक हैं। उन शब्दों के उच्चारण के पीछे हम बहुत उच्च कोटि की साधना और आध्यात्मिक पार्श्वभूमि का दर्शन करते हैं:

भलुं थयुं भांगी जंजाल, सुखे भजीशुं श्री गोपाल!

यदि भक्त संसार में रहते हों तो उनकी इच्छा होते हुए भी उन्हें सामाजिक रीति-रिवाजों के वशीभूत होना पड़ता है। नरसिंह ने अपनी बेटी का विवाह सम्बन्ध कर दिया। सम्बन्ध के पश्चात् बेटी स्वसुरगृह जाती है। सामाजिक नूरुढ़ि के अनुसार, के कुँवबराई के निर्धन घराने से आई होने के कारण धन के अभिमानी सास, ससुर, ननद आदि उसको दुःख देते हैं। उसकी दिल्लगी उड़ाते हैं।

ससरो श्रीरंग मेहेतो नाम, मोटु ं घर कहावे भाग्यवान्;
छे सासरियाने धन अभिमान, न दे कुंवर बहूने बहु मान
कुंवरबाई ने दुर्बल गणे, नणंद-जेठाणी वाकुं भणे:
'आवो वैष्णवनी दीकरी, सासरवेल शो पावन करी!'
करे चेष्टा सासु गर्वे भरी, कुंवरबाई नव बोले फरी;
छे लघु वेषे भरथार, कांई प्रीछे न विवेक विचार!

आखिर कुंवर का सीमंत आता है। सीमंत के समय कुंवर के पिता निर्धन होने के कारण मामेरा लेकर नहीं आ सकेंगे—यह समझकर श्वसुर पक्ष में कुंवर की सब हँसी उड़ाते हैं:—

नरसिंह मेहतो छे हरिनो दास, मूको मोसालानी आश;
वहुने ओरियो बीते खरो, कांईक मोसालुं धरथी करो!

× × × ×

कुँवर उपहास से ऊब जाती है। मनही मन अपने पिता की गरीबी के लिए ईश्वर को धिक्कार देती है। सारे दिन उदास बैठी रहती है। उसे उदास रहती देखकर आखिर उसकी सास अपने पति श्रीरंग मेहेता को समझाती है कि, नरसी को 'मामेरा' लेकर आने के लिए समाचार भेजो। श्रीरंग एक आदमी को पत्र में यह समाचार देकर जूनागढ़ भेजता है। यहाँ श्रीरंग मेहता की पत्नी का श्रीरंग मेहता पर कितना अधिकार है—यह वर्णन श्री कवि ने बहुत अच्छी तरह से किया है। श्रीरंग मेहता ने नरसी के ऊपर उस समय जो पत्र लिखा है उसे बहुत रसमय और कवि की अनुभव दृष्टि का प्रतीक होने के कारण कुछ अंश में यहाँ उद्धृत करना आवश्यक समझता हूं—

स्वस्ति श्री जूनागढ गाम, जे हरिजन वैष्णव विश्राम;
नागरि न्यात तणा शणगार, साधू शिरोमणि परम उदार;

× × ×

सर्वोपमा जोग करुणाधाम, मेंता श्री नरसिंह नाम;

× × ×

एक बधामणी नो समाचार, अमारा भाग्यतणो नहीं पार;
कुँवर वहू (!) ने आप्युं सीमंत, अम ऊपर त्रुठया भगवंत!
माघ शुदि सप्तमी रविवार, अमो मूरत लीधुं निरधार!
ते दोडे निश्चय आवजो, सगां-मित्र साथे लावजो!

× × ×

जो मेंताजी तमो नही आवो-तो खराखर दुभाईशुं अमो!

कुँवर बाई भी, भावी ताने के काल्पनिक भय से करुणाभरी ध्वनि में समाचार-चालक को निम्न समाचार देने को कहती है। तात्कालिक नागरी जाति के कुटुम्ब-जीवन को हम उसके द्वारा जान सकते हैं:

कांई मोसालु' सारुं लावजो, संपत होय तो ह्यां आवजो !
कांई नाम थाय आ पृथिवी तले, सासरियानु' मेहेणु' हले !
जो आ अवसर सुनो जशे, बोलबाण नणदी मारशे
शत्रुनु' काम दियर सारशे, भवनु' मेणु' मुझने थशे !

× × ×

पत्र और कुंवर का मौखिक समाचार लेकर दूत जूनागढ़ आता है। पत्र पढ़ते ही भक्त नरसो को प्रथम तो कुछ चिंता होती है :

मामेरु' पुत्री ने करवु' ! घरमां न थी एक दाम जी !

पर तुरंत ही वे ईश्वर-स्मरण करके उस व्यावहारिक कार्य की जिम्मेवारी ईश्वर के ऊपर डाल देते हैं :

त्रीकमजी त्रेवडमां रहेजो, द्रव्य तणु' छे काम जी !

× × ×

शामके ईश्वर भजन के समय नरसी अपने वैष्णव साथियों के समक्ष कुँवर के 'मामेरा' की बात रखते हैं :

मोसालु' लई आपणे जावु', बाईनु' छे सीमंतजी !

वैष्णव तो नरसो की सेवा के लिए अवसर चाहते थे। उन्होंने यह अवसर तुरंत पकड़ लिया। किसी ने अपना शकट दिया, तो किसी ने अपने बैल यों 'मामेरा' ले जाने के लिए तय्यारी हो चुकी :

जूनी वेल ने धू'सरि वांकी, सांगी सोटा भांगी जी;
कोंना तलावा, नें कोंनी पिंजणियो, बलद आव्या बे मात्री;
मेहेताजी मामेरे चाल्या समर्था श्री जगदीश जी !

भक्त के साथ अपने विशिष्ट भक्तों की मंडली थी—जातिजन नहीं। क्योंकि जाति के कोई आदमी उनके साथ आने को तैयार न हुए। मंडली जब जूनागढ़ से चलती है उस समय का, सशक्त कविने अपनी हास्यकला के द्वारा बहुत सरस वर्णन किया है :

त्रण सखिनों संगाथे चालीं, वेरागी दश-वीश जी
दात्रड़ी त्रांबा केरी संपुट, तेमां बालमुकुंद जी !

× × ×

नरसैयाने निर्भय मनमां, भोगवशे गोपालजी !

माँगे हुए बैल और शकट के साथ नरसी की भक्त मंडली जब आगे बढ़ती है तो मार्ग के दृश्यों को कवि ने बहुत ही हास्यपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है :

बलहिन बलदियां शु'हिंडे ? ठेले वैष्णव साधजी,
सारे पाडे ने ढाल चड़ावे: "जय जय वैकुंठनाथजी !"

× × ×

साले साल त्यां जुजवां दीसे, ढल थाय छे ढग जी !

आखिर दुपहर के बारह बजे नरसी और मंडली कुँवर के श्वसुर के गाँव पहुँचे। नरसी, कुँवर को 'मामेरा' करने के लिए आ पहुँचे हैं, यह सुनकर नागरी जाति के सदस्य उन्हें देखने के लिए आने लगते हैं :

मध्यान्हे मेतोजी पोंता; जोवा मल्युं सौ गामजी,
शुं जाणे वैष्णवनो मारग; विषयीपूरन्तं लोकजी !

नागरी जातिके सदस्य आपसमें उपहास करते हैं :

'कोड पोंतां कुँवर वहूना; मामेरुं छे रोकजी
रोक मामेरुं मेतो लाव्या, जुओ वैष्णवनी विसातरे
अकेकि माला आपशे, तो पेरंशे नागरी न्यातरे !'

नरसिंहजी 'मामेरा' लेकर आ पहुँचे हैं— यह जानकर समधी श्री रंग जल्दी से उनके पास आ पहुँचते हैं। दोनों समधी भेंटते हैं—इसलिये कि भेंटनेका रूढ़िगत रिवाज़ है। भेंटते समय श्रीरंग मेहेतो को मनमें तो लज्जा होती है :

सुणी श्रीरंग मेहेतो आव्या धाई, भावे भेट्या बेऊ वेवाई !

× × ×

भेट्या वेवाई जाणे वलग्युं भोड़, हवे पोंता मननां कोड़ !

× × ×

कपटे भेंटे, पाछा खसे; सामग्री जोई जोई, हसे !

आखिर नरसी और मंडली के निवास के लिए एक मकान दिया जाता है। मकान जीर्ण है। ऊपर खपरैल भी टूटे हुए हैं। ऐसा मकान देकर मेहेता का उपहास किया जाता है :

उतरवा घर आव्युं एक, मच्छर, जुआ माँहि विशेक;
खाड़ा-टेकरा, वसमो ठाम, ऊपर नलियानुं नहीं नाम;
कोह्युं छाजु ने जूनी वली, भांतो दोदश बेवड़ वली;
भाभा मांकणु भाभा जुआ, त्यां मेहेताना उतारा हुआ !

कुँवरबाई अपने पिता से मिलने जाती है तो ननद मर्मवचन बोलती है :

आ शुं पिता पुत्रीने हेत, सगांने करवा आव्यो फजेत;
लजाव्युं सात पेढ़ीनुं नाम, साथे वैरागीनुं शुं हतुं काम ?

मर्मवचन का कुँवर जवाब देती है :

× × ×

कोनो बाप लखेशरी कहावे, ते मारे शे अर्थ आवे ?
रंक पिता आव्यो मुझ घेर, एक कागडुं सोनानो मेर !
तमो मन माने ते कहो, एवो पिता मारो जीवतो रहो !

× × ×

फिर बाप-बेटी की मुलाक़ात होती है :

दूर थकी दीठी दीकरी, मेते उठी समर्या हरि
अन्यो अन्ये नयणां भरी, भेट्या बन्ने आदर करी

नरसो पुत्री से क्षेम-कुशल के प्रश्न पूछते हैं :

× × ×

कहो कुँवरबाई कुशल-क्षेम ? सासरिया राखे छे प्रेम ?
रूडो दिवस आव्यो दीकरी, तो मोसालुँ करशे श्री हरि !

पर बेटी बिना धन और कुछ सामग्री लाए आए हुए पिताकी ओर क्रोधित नजर से देखती हुई जवाब देती है :—

× × सामग्री कांई पासे नथी,
क्यम नागरी न्याते रहेशे लाज, धन विना आव्या शे काज ?
निमलि निर्धननो अवतार, निर्धननुं जीव्युं धिःकार !
निनर्धनाँ सौ कौतुक करे, निर्धनने सौ घेलो गणे,
निर्धननुं कोई कान न धरे, नव राखे ऊभो आंगणे !
लोक वोलावे 'दुर्बल' कही, एथी माड़ुं कांई बीजुं नहि !

पर उस समय कुँवरको उसकी माता याद आती है। आज माता जीवित नहीं है। वरना पिताको बिना कुछ सामग्री लाए आने ही कैसे देती। वह मातृहीना पुत्री का वर्णन करता है :

माता विना सुनो संसार, नमायानो शो अवतार,
जे बालकनी माता गई मरी, वापनी सगाई साथे ऊतरी,
जेवुं आथमता रविनुं तेज, मा विना तेवुं वापनुं हेत,
सुरभी मरतां जेवुं वच्छ, जल विना तलपे जेम मच्छ,
टोला वछोई जेवी मृगली, मा विना पुत्री एकली,

× × ×

गोल विना भोलो संसार, माता विना सुनो संसार !

पुत्री का कलपना सुनकर भक्त नरसिंह प्रभु का स्मरण करते हैं और दुःखो पुत्री को आश्वासन देते हुए कहते हैं : हे बेटी, तुम घवराइयो मत !' 'मामेरा' में जिन चीजों की जरूरत हो उनकी एक सूची तैयार करके मेरे हाथ में दे दो। मुझे अचल विश्वास है कि, प्रभु अवश्य तुम्हारी और मेरी सहायता करेंगे' :

मेते मस्तक मूक्यो हाथ, 'मोसालुं करशे श्री नाथ,'
पेरामणी करवी जेहली, आशाभी लखी लावो तेहली,
लखजो सासरिया समस्त, विसारशो मा एके वस्त !

पिता के ये वचन सुनकर कुँवर अपनी सास के पास जाती है और 'मामेरा' के लिए आवश्यक वस्तुओं की सूची बना देने को कहती है। सास यह सुनकर मन ही मन हँसती है, और सोचती है कि कुँवर के पिता के पास तो तुलसी की मालाओं के सिवा कुछ है नहीं, वह कैसे 'मामेरा' करेंगे। फिर भी अभिमान से सूची बनवाती है। अधिक से अधिक चीजों को वह सूची में दर्ज करवाती है :

लखो, पांच सेर कंकु जोइए, श्रीफल लखो सो सात !
वीश मण वांकड़िया पत्रेफल, मलशे मोती न्यात...!
पाँच वस्त्रना पंचवीस वागा; चार चोकड़ी तास;
लखो, पछेड़ी पंदर कोड़ी; पटोलां पंचाश...।

× × ×

सासने खूब चीजें लिखवाई। सूची लेकर कुँवर अपने पिता के पास गई। रास्ते में विचार करती जाती है : 'हे प्रभु ! गरीब और भक्त पिता को दुःखी करने के लिए तुमने मुझे सीमंत का अवसर क्यों दिया ?' पिताके पास जाकर वह दुःखी हृदय से कहती है—

वड सासूने विपरीत लखाव्युं, कहो हवे शुं थाशे ?

× × ×

मारा पिताजी हुँ तम पासे, कोड़ी एक न देखुं !
पिताजी तमे गामे सधारो, ह्यां रहे इज्जत जाशे रे...!

पर नरसी को तो ईश्वर पर अचल विश्वास है :

मेतोजी कहे : 'पुत्री मारी, रहो तमे विश्वासे !
शामलियो नहीं अवसर भूले, तूं कां आंसू पाडेरे !

× × ×

जो मोसालुं हरि नहि करे, तो उपहास एनो थाशे रे

कुँवर को अपने पिता के वचन पर विश्वास हो उठता है। वह आनंदित मुख से घर लौटती है :

ज्ञान, धैर्य, दीकरीने आव्युं, सुणी तातनी वाणी रे
कुँवरबाई फरी मंदिर आव्या, विश्वास रुदेमां आणी रे !

फिर मेहेता जी अपने वैष्णव भक्तों के साथ भोजनार्थ समधी के गृह आते हैं। भक्त की मंडली को देखकर सब उपहासमय हास्य करते हैं। समधिन ने नरसिंह के स्नानार्थ पानी गर्म कर रक्खा है। नरसिंह तो शीतल जल से स्नान करते हैं। वे समधिन से कहते हैं, मुझे तो शीतल जल चाहिए। यह सुनकर कुँवर की जेठानी मर्मवचन बोलती है :

माग्यो मेह वरसे मेताजी, तो अम पासे शुं मांगोजी

यह सुनकर भक्त ने ईश्वर का स्मरण करके मल्हार राग गाना आरंभ किया। विशेष बात तो यह है कि प्रेमानंद ने भी यहाँ मल्हार राग में काव्य की रचना की है !

'उपहास थाय छे दासनो, शामलिया करो सहाय रे
उष्णोदक घणुं ऊकले, नांख्युं श्रीफल फाटी जाय रे
कढ़ा उकाळी तेलनी, कोप्यो हंसध्वज राय रे
तारी कृपाए टाढुं थयुं, कीधी सुधनवानी सहाय रे
हुंडी सकारी शामला, आप्या रुपैया सौ सात रे
ते विश्वासे वळगी वळगी रह्यो, विट्ठल ! मोकल जो वरसात रे
समोवण नहीं आपो, शामला ! तो मोसालुं करशो क्यम रे !

कुछ देर में ही बादल घिर आए, बिजली चमकने लगी और मूसलाधार वर्षा पड़ने लगी :

पल मायमां आभ घटा थई, चौदश चढ्यो अंधकार रे
× × × ×
वेवाईना घरमां जल धस्युं, सहु नागे, करे पोकार रे !

चारों ओर पानी पानी हो गया। समधी के घर में भी पानी आ गया। जाति के सभी सदस्य भक्त के चरणों में पड़ गए :

श्रीरंग में तो स्तुति करे, वेवाणो मागे मान रे
वरसाद विसर्जन थयो, मेता जीए कीधुं स्नान रे

वर्षा बंद हुई। सबों को भक्त का परिचय हो गया। दूसरे दिन मंडप में 'मामेरा' देने के लिए भक्त और मंडली आए। सारी जाति के लोग वहाँ जमा थे :

मंडप मेतो आविया, हाथ ग्रही छे ताल रे
नागर सहु बेठा रही, कहे 'आवो जे गोपाल रे !'

नरसी ने एक बड़ा थाल मँगवाया। मामेरा की चीजों के बजाय उसमें उन्होंने अपना शंख रखा। लोग चकित दृष्टि से अब क्या नाटक होता है यह देखने लगे :

मेताजीए शंख पूर्यो, विनति श्री हरिने करी;
मेते वजाड्यो शंख, समर्या वनमाली !

नागरी नारियाँ भी उस वक्त वहाँ देख रही थीं :

सज्या सोल शणगार, चरणां, ने चोली
जोबन मदमातो नार, करे बहु ठंठोली
× × × ×
कोई छूटे अंबोडे नार, वेणी लांबी छे
कोने झांझरनो झमकार, कड़ला कांबी छे !

विप्रने, थाल में शंख रखा देखकर उपहास किया कि : हे मेहेता ! थाल पर पत्थर रखो, नहीं तो बहुमूल्य वस्त्र वायु से उड़ जायेंगे :

मूको छाब में पहाण, वाए ऊड़ी जाशे रे !
× × × ×

विप्रका यह उपहास सुनकर कुंवर को दुःख होता है । वह अपने पिता की ओर दुःखपूर्ण दृष्टि से नजर करती है । मेहेता उसे इशारे विश्वास रखने को कहते हैं :

मेहेते कीधी सान, "रहेजे विश्वास !"

मेहेता ने, फिर एक कागज थालमें रखा । हाथ में करताल लेकर ईश्वर-स्मरण किया :

रिक्त छाबमां कागज धरी, नरसैं मेने समर्या हरि !

नागर लोग आश्चर्य और कुछ उपहास से थाल की ओर देखने लगे । पर यह क्या ? थाल से एक बहुमूल्य साड़ी बाहर निकली :

जुओ छाबमाँ, मूको शोर ! निकली कमरवाली कोर !

पर नरसिंह तो बस, माधवकी स्तुतिमें लीन हो गये हैं :

जय दामोदर, बालमुकुंद, नरक निवारण परमानंद,
विश्वेश्वर बंद्रावनचंद्र, देवकीनंदन, आनंदकंद,
गोपीनाथ, गोविंद, गोपाल, अनाथबंधु, दीनदयाल !
हुं सेवकनी लेजे संभाल, मोशालानी करजो थाल !

× × ×

तमो प्रतिपालो पोतानादास, माटे मुझने छे विश्वास !

× × ×

शुं ? सूना छो बंद्रावन मांय ? शुं राधाजी चांपे पाय ?
के, लंपट को मली सुंदरी, तेणे भक्त गयो विसरी ?

× × ×

शुणि नरसियानी विनति, उठी धाया वैकुंठ नाथ रे !

भक्त नरसिंह की आवाज वैकुंठ् में पहुँचती है । प्रभु मेरा भक्त मुझे याद करता है कहते हुए गरुड़ की खोज करने लगते हैं :

उधड़ की उडियो वेग वैकुंठ पति
गरुण क्यां ? गरुण क्यां ? वाणी

× × ×

नरसैयो नागरो, भक्त ते माहरो
छाब भरो तेहनी--सिद्ध थाओ !

भगवान् व्यापारी के रूप में आकर कुंवरबाई के मामेरे के लिए तैयार किए हुए मंडप में प्रवेश करते हैं । साथ में व्यापारी की पत्नी भी हैं--लक्ष्मी जी ! :

भक्त नरसैयानुं दुःख जाणी रे
उठी धाया पुरुष--पुराणी रे
थया शेठ ते सारंग पाणी रे
साथे लक्ष्मी थयां शेठाणी रे

किसी अज्ञात सेठ-सेठानी को कुंवर के मामेरा के लिए आए हुए देखकर सब नागर हैरान रह जाते हैं :

अुतर्या नागरीनां अभिमान रे
जाणे उग्या शशियर भाण रे

सेठ-सेठानी के रूप में ईश्वर आए हैं—यह नरसिंह समझ गए। उन्होंने तुरंत ही अपना भजन आगे बढ़ाया :

भले आव्या, शेठ शामलिया रे
मेंतो माधवजीसु मलिया रे

भजन गाते गाते नरसो सेठको भेंटने जाते हैं। सेठ और नरसी भेंटते हैं। भेंटते समय सेठ नरसी से कहते हैं कि हमें प्रकट मत करिये, आपको जो कुछ माँगना हो माँगते जाइये—मजे से :

भेटतां बोल्या सुंदर शाम रे!
'मारुं प्रकट न लेशो नाम रे!
रखे बात अमारी चर्चा रे!
तमारे जे जोईए ते खर्चो रे!
कुंवर बाईना पूरो कोड़ रे!'
एम कही बेठा रण छोड़ रे!

फिर सेठ सेठानी से कहते हैं तुम जाओ कुँवरबाई के पास। प्रेम से उसका चुंबन करो और माता की भाँति प्रेमपूर्वक क्षेम-कुशल पूछो :

जाओ सेठाणी, दुःख कापो रे
कुंवरबाईने ह्रदयासुं चांपो रे

सेठानी कुंवर को प्रेमपूर्वक पूछती है :

मारी मीठी! न भरिए आंसू रे
तेडो क्यां छे तमारी सासू रे?

कुंवर सासको बुलाती है। सास आकर सेठानी से पूछती है : आप मेहेताजी से क्या होते हैं? सेठानी जबाव देती है : नरसी तो हैं ब्राह्मण और हम हैं बनिया! किन्तु हम मेहेताजी के पैसों से व्यापार करते हैं : इसलिए आज हम कुँवर को मामेरा करने आए हैं! :—

वेहेवाण कमलाने पूछे रे
मेता साथे शगपण शुं छे रे
कोकिला स्वरे अमृत वाणी रे
तब हसिने बोल्या सेठाणी रे,
वेहेवाण तमो ए शुं न जाणीया रे
तमो ब्राह्मण ने अमो वाणिया रे
वेपार दोशीनो घेर कोटी रे

अमारे ओथ नरसीनी मोती रे
अमो धन मेहेतानु लीजे रे
वेपार कापड़नो कीजे रे
अमो आव्या मोसालु करवा रे
ठाली छाब सोनैये भरवारे
मेंते जे जे वस्त्र मंगाव्यां रे
अमो लख्या प्रमाणे लाव्यां रे।

फिर 'मामेरा' होता है। सब नागर दहेज के लिए आते हैं। सब को मनपसंद चीज मिलती हैं:

ओढ़े बालक जाणे कांई आपे
मन वांछित पाम्या सहू
मामेरिया सर्वे बखाने
'पिहर पनोती कुँवर वहू!'

सबको दहेज पहुँचाकर ईश्वर अपनी पत्नी के साथ अंतर्धान हो जाते हैं। इतने में कुँवर की एक ननद पुनः परीक्षा के लिए क्रोधित होकर आती है: कुंवर वहू! तेरे पिता ने तो दूसरी जाति के लोगों को दहेज दे दिया, घर वाले तो सभी बाकी हैं। उनके दहेज का कुछ प्रबन्ध कर दीजिए:

पेरामणि परन्याती पाम्या, घरना माणस गया भूली जी,

× × × ×

कुँवर पुनः दुःखी दिल मे पिता के पास आती हैं और कहती हैं: "हे पिता! घरवाले तो दहेज बिना ही रह गये। अब क्या होगा?"

कुँवर पिता कने आव्या, ओरे बाप जी शु थाशे रे?
आटले खरचे मेणु रव्धु ते हवे केम जीवाशे रे?

× × × ×

यह सुनकर ही नरसी फिर से ईश्वर स्मरण कर कहते हैं:

मेतो जी कहे: पुत्री मारी! समरो श्री गोपाल जी!
एक तातणो हुंथी न मले, बेठो वजाडु ताल जी!

फिर तो नरसी पुनः ईश्वर भक्ति में लीन हो जाते हैं:

फरी ध्यान धरियु माधवनु त्रीकम! राख जो टेक जी!

इतने में आकाश से वस्त्र गिरता है:

पचरंगनु गगन विशेथी पड्यु कापडु एक जी!

× × × ×

काम समाप्त होता है। 'मामेरा उत्सव' धूमधाम से पूरा होता है। सब नागर नरसी की शक्ति से परिचित हो जाते हैं। दूसरे दिन कुँवर को साथ में लेकर[१०]

---

१० गुजरात के कौटुम्बिक जीवन में यह रिवाज है कि बेटी प्रथम प्रसूति अपने पिता के घर करती है और वह सीमंतोन्नयन के अवसर के पश्चात् ही तुरंत अपने पीहर चली जाती है। —शां० आं०।

नरसी जूनागढ़ जाने के लिए रवाना होते हैं। उस समय सब नागर नरसी की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं :

नागरि न्याते मोटो नरसिंह, माथे सारंगपाणिजी,
धन्य मेहेताजी, तम समोवड, आ कलजुगमां नोंय जी,
नागरि न्यातनो महिमा राख्य, उजलुं किधुं सौ कोई जी,
अमने तो विश्वास न हो तो जे मं तो करे मामेरुं जी !
सर्वनी लज्जा प्रभुए राखी, मेणुं टल्युं भव केरुं जी !

× × ×

सहुको वलावी पाछा वलियां, धन धन वैंकुंठ राय जी !

अंत में प्रेमानंद काव्य पूरा करते हुए काव्य को पूर्ण करने के वर्ष का उल्लेख करते हुए लिखते हैं :

वीरक्षेत्र वडोदरुं (बड़ौदा) गूजरात मध्ये गाम जी,
चतुर्वंशी ज्ञाति ब्राह्मण भट्ट प्रेमानंद नाम जी,
संवत् सतरह ओगणचालो, आसो सुदि नौमी, रविवार जी,
पूरण ग्रंथ थयो ते दिवसे, यथा बुद्धि विस्तार जी,
प्रीत करी जे गाय सांभले, दरिद्र तेनुं जाय जी,
कहे प्रेमानंद प्रेम सर्वने, हरि राखो मन मांय जी !

श्री रङ्गनाथ दिवाकर,

कन्नड़ का भक्ति साहित्य

[श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर जी बंबई विश्वविद्यालय के एम० ए०, एल-एल० बी० पदवीधर हैं। विद्याध्ययन के उपरांत आपने अपने जीवन का श्रीगणेश शिक्षण क्षेत्र में प्रवेश करके किया। हुबली के एक स्कूल में कुछ समय शिक्षक का काम किया और उसके बाद कोल्हापुर और धारवाड़ के कालेजों में अंग्रेजी और कन्नड़ के प्राध्यापक रहे। १९२० में पूज्य बापू के प्रभाव में आये। तब से आपका प्रधान कार्यक्षेत्र राजनैतिक क्षेत्र रहा है। इसके साथ ही साथ आपने अध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण किया। आपकी प्रतिभा अध्यात्मिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में चमकने लगी। अध्यात्म के गहरे अध्ययन और अध्यात्मवादी जीवन-यापन के फलस्वरूप आपने कन्नड़ वाङमय-देवी के चरण-कमलों में सुंदर सुरभित पुस्तक-पुष्प चढ़ा दिये हैं जिनमें उपनिषत् रहस्य, अंतरात्मा से, गीता का रहस्य, हरिभक्ति-सुधा, वचनशास्त्र रहस्य, उपनिषत् की कहानियाँ, छांदोग्य और बृहदारण्यकोपनिषत्, रामकृष्ण परमहंस प्रधान हैं और राजनैतिक क्षेत्र के चिंतन तथा क्रियात्मक अनुभव के फलस्वरूप सत्याग्रह और उसका तंत्र, बापू जैसा मैंने देखा आदि अनेक सुंदर ग्रंथ भी कन्नड़ साहित्य को आपकी अपूर्व देन हैं। अंग्रेजी में भी आपने कई पुस्तकें लिखी हैं। आप बहुभाषा-विद् हैं। बंगला, मराठी, हिन्दी भी अच्छी तरह जानते हैं। 'नागरिक' नामक एक सुंदर कन्नड़ नाटक का आपने हिन्दी में अनुवाद किया है। कन्नड़ साहित्य सम्मेलन के बल्लारी अधिवेशन के अध्यक्ष स्थान को आपने अलंकृत किया था। आपकी कई पुस्तकें हिन्दी में अनूदित हैं और उनके कारण आप काकाफी परिचय हिन्दी जगत् को हो चुका है। यहाँ हम आपके द्वारा लिखित 'हरिभक्ति सुधा' पुस्तक की भूमिका का अनुवाद दे रहे हैं, जिसमें कन्नड़ भक्ति साहित्य का संक्षिप्त किंतु सुंदर निरूपण है। —अनुवादक]

भक्ति का उद्गम

आदि-मानव ने इस विचित्र एवं विविधता से भरी सृष्टि की ओर आँखें खोल के पहले-पहल जब देखा होगा तब वह शायद विस्मय-सागर में डूबा होगा। गरजनेवाली मेघ-माला, चमकनेवाली चंचला, आंखों को चकाचौंध करने वाला सूर्य, प्रकाशमान सूर्य-चंद्रादि का उदयास्त, लबालब भरकर बहनेवाली नदियाँ, फेनिल-तरंगों से शोभित सागर, झड़ीदार

वर्षा, संचारी समीर आदि सृष्टि की क्रियाओं ने मानव को आदिशक्ति का परिचय कराया। इस अपूर्व-सुन्दर शक्ति-दर्शन से वह कभी विस्मित, कभी भयभीत और कभी श्रद्धायुत होने लगा। उसकी इन प्रथम विस्मय-भावनाओं में ही भक्ति का बीज रहा। वह यह भी समझ गया कि अधिमानव-शक्ति वाले देवता ये अगाध, अचरजकारक प्रयोग करते हैं। इस प्रकार प्रयोग करके दिखाने वाले देव-देवताओं के प्रति उसके हृदय के अंकुरित भय एवं आदर ये ही भक्ति-भाव के प्रथम स्वरूप हैं, ऐसा कह सकते हैं। परमात्मा की प्रचंड-शक्ति और उससे होने वाले विध्वंस-कार्य आदि देखकर पहले वह डरा होगा। उसी प्रकार परमात्मा के अनुकूल और कल्याणकारी कार्यों को देखकर उसमें आदर-श्रद्धा का भाव जागृत हुआ होगा। अतः वह परमात्मा के सामने नतमस्तक हो शरणागत हो प्रार्थना करने लगा कि परमात्मा की विध्वंसक शक्ति से अपनी हानि न हो और उसकी संरक्षक-शक्ति से उसको सुख की प्राप्ति हो। इस प्रकार अगर हम यह कहें तो भूल न होगी कि अल्पशक्ति के मानव के अनंत शक्ति युक्त परमात्मा की प्रार्थना करने में भक्ति का प्रथम उदय हुआ है। मानव के हृदयस्थ विस्मयाकाश में भक्ति ही प्रथम उद्भूत धर्मभाव है। वह यद्यपि पहले केवल प्रार्थनारूप में प्रकट हुआ तथापि आगे चलकर नानारूप धारण करके नाना प्रकारों से सामान्य जनता को मुक्ति का मार्ग दिखाने में समर्थ हुआ। हम संसार के किसी धर्म के मूल ग्रंथों को उठाकर पढ़ें और किसी राष्ट्र के सर्वप्रथम या आदि-कवियों की रचनायें उठाकर पढ़ें, तो उनमें हमें यह दिखाई पड़े बिना न रहेगा कि इसी भक्ति भावना का बीज स्पष्ट रूप में विद्यमान है।

अनुभूति से शांति

पर, मानव इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ वह परमात्मा की सीमातीत शक्ति-सामर्थ्यों का वर्णन करके, ईश-महिमा का गान करके, भलाई माँगकर, भलाई के अभाव की निंदा करके नहीं रुका। परमात्मा की अगाध शक्ति का यथार्थ स्वरूप जानने की उसकी जिज्ञासा की प्यास नहीं बुझी। हमारे पूर्वज आर्य नाना देवों की प्रशंसा करके थक गये। नाना देव एक ही महादेव के रूप हैं, जब यह उन्होंने जाना तब उस महादेव की मन-भर प्रशंसा की। होम-हवन आदि करके अग्नि के द्वारा देवताओं को आहुति देकर के भी देखा। पर, किसी से न उनको अत्यंत सुख मिला, न नित्यानंद मिला, न परम-शांति की प्राप्ति ही हुई। अंत में उपनिषदों में वर्णित आत्म-स्वरूप को देखने पर ही उन ऋषियों को संपूर्ण समाधान हुआ। तभी उन्होंने ऊंची आवाज से संसार को बता दिया—'तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषां', अनुभवियों की शांति ही शाश्वत शांति है, न कि दूसरों की। तभी से आज तक आत्मदर्शन पाना, आत्मानंद पाना, अनुभवामृत पीना ही समाज में सबसे प्रधान ध्येय बना है।

भक्ति-मार्ग

हमारे पूर्वज केवल अपने ध्येय की घोषणा करके चुप नहीं बैठे। उन्होंने इस ध्येय की प्राप्ति के लिए आवश्यक सभी साधन-मार्गों का शोध करके, उनका प्रयोग करके और उन्हें पूर्णता तक पहुँचा करके हर एक मार्ग का एक एक शास्त्र भी लिख रक्खा है। भक्तिमार्ग या भक्तियोग उनमें से एक है। इस भक्तिमार्ग के सामान्य स्वरूप का और

संतों की वाणियों में प्राप्त होने वाली भक्ति की भावनाओं का किंचित् निरूपण यहाँ किया जाता है।

जो शक्ति हम में राग-द्वेष, प्रीति-अप्रीति, क्रोध-भय आदि आवेगों को उत्पन्न करती है उसे हम भावना-शक्ति (Emotion) कहते हैं। भक्ति मार्ग में यही भावना शक्ति-प्रधान अवलंबन है। बुद्धि-शक्ति और क्रिया-शक्तियाँ भी इस मार्ग में हमारी सहायता करेंगी। पर ये प्रधान शक्तियाँ नहीं हैं। परमात्मा के प्रति हमारी जो प्रेम-भावना है उसी के द्वारा हम भक्तिमार्ग में आगे बढ़ते हैं। "सा परानुरक्तिरीश्वरे भक्तिः" परमात्मा से अनुरक्त होना ही भक्ति है, यों शांडिल्य-सूत्र में भक्ति का निरूपण किया गया है। नारदीय सूत्र में कहा गया है—"सा भक्तिः कस्मैचित्परमा प्रेमरूपा" किसी के प्रति रही हमारी परमप्रीति ही भक्ति है। अन्य विषयों की हमारी प्रीति को उन विषयों से अलग करके परमात्मा में ही केंद्रित करना चाहिये और भक्त को मोक्ष की आशा भी किये बिना, हेतु-विहीन हो अपनी प्रेम-भावना को शुद्ध करना चाहिये। कीर्तन, श्रवण, सेवा आदि से इस भावना को संग्रहीत करना या बढ़ाना चाहिये, उस भावना को इधर से उधर, उधर से इधर बहने न देकर अपने वश में रखना चाहिये और उसे ईश्वर के चरणों में लगा देना और अंत को संपूर्णतः ईश्वर को अर्पण कर देना चाहिये। यह भक्ति-भावना की पराकाष्ठा है, भक्तियोग की चोटी है। इस भक्ति के कई नाम हैं जैसे अहेतुकी, मुख्या या रागात्मिका भक्ति। यह सात्विक भक्ति है: इस प्रकार की भक्ति से युक्त व्यक्ति सबसे श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति कर लेगा। परम-पद उसको अनायास मिल जावेगा। किसी प्रकार की सकाम सहेतुक भक्ति, जिज्ञासु की या अर्थार्थी की भक्ति गौण समझी जाती है। ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है, मैं कनिष्ठ हूँ, ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, मैं अल्पशक्तिमान् हूँ, आदि की कल्पना में भक्ति का बीज यद्यपि अंकुरित हुआ तथापि वह आगे चलकर भावोपभावों और भाव-छायाओं के रूप में पल्लवित हो, पुष्पित हो शाखोपशाखाओं में विकसित हो एक सुन्दर वृक्ष बन गया है। ज्यों ज्यों भक्ति को ईश्वर की ज्ञान-बल-क्रियायें सूझती जायंगी त्यों त्यों उसके हृदय में प्रेम-भाव अनंत रूप धारण करेगा और कई बार कवि-प्रतिभा युक्त भक्तों के मुंह से दिव्य काव्य का वसन पहनकर बाहर उमड़ बहेगा। इसी कल्पना ने कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, विकसित हो इस तरह की कई विविध कल्पनाओं को जगह दी कि ईश्वर विश्व की सृष्टि-स्थिति-लय का कारण है, वही विश्व का आधार है, विभु है, सर्वान्तर्यामी है। इस प्रकार होने से भी ईश्वर तो भक्त से दूर ही रहा। पर अवतार की कल्पना के जन्म से भक्तिमार्ग को एक तरह की विशिष्ट कांति मिली। इसके पूर्व भक्ति-मार्ग में शांत-भाव का ही प्राधान्य रहा और ईश-महिमा का वर्णन, ईश की कीर्ति का गान, परमात्मा के गुण कीर्तन, प्रचार में थे। इसके उपरांत ईश्वर को स्वामी के रूप में, स्नेही के रूप में, पिता के रूप में, प्रियतम के रूप में, पूजने के भाव रूढ़ि में आये। इनमें से अंतिम भाव को अर्थात् मधुर-भाव को अत्यंत उच्च-स्थान प्राप्त हुआ और वही सब तरह की भक्तियों का समन्वय माना गया। कई मुनियों ने इसी भाव के द्वारा परम-पद को प्राप्त कर लिया। अपने और अन्य साधकों के अनुभवों को एकत्रित कर उन्होंने भक्तिशास्त्र का निर्णय किया। शांडिल्य सूत्र और नारद के भक्ति-सूत्र भक्तिशास्त्र के सूत्रग्रंथ हैं। ये दोनों

ग्रंथ भक्ति साहित्य के मध्य-बिंदु हैं। इन्हीं के आधार पर कई संतों ने अपने अपने अनुभवों और आराधना के तरीकों के अनुसार कई भक्ति-ग्रंथों की रचना की है। इन ग्रंथों के विषयों की संपूर्ण समालोचना इस छोटे से लेख में करना कठिन-सा है। इतना ही यहाँ कहना पर्याप्त होगा कि विष्णु, शिव और शक्ति इन तीन देवताओं की भक्ति लोकप्रिय हुई और सूर्य-भक्त, गणेश-भक्त, दत्तात्रेय-भक्त, शक्ति भक्त, राम-भक्त, कृष्ण-भक्त आदि कई भक्ति संप्रदाय बने।

यह भक्ति मार्ग अन्य ज्ञान-कर्म मार्ग की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय बन गया इसका कारण यह है कि इसमें साधनों की सुलभता है, कठोर नियमों का अभाव है, जाति, लिंग, उम्र आदि का कोई बंधन नहीं है। यह सभी के लिए मुक्त, खुला हुआ मार्ग है। इस मार्ग पर अग्रसर होनेवालों को एक ही पूंजी की आवश्यकता है और वह है प्रेम! यह प्रेम सब को परिचित है। ऐसा कौन आदमी इस भूमि पर है जिसमें प्रेम नहीं है। सब में प्रवाहित इस प्रेम-प्रवाह को परमात्मा की ओर घुमाना ही भक्ति कहलाता है। इस भक्ति की महिमा भागवत और गीता में गायी गई है जैसे—

यदि भवति मुकुंदे भक्तिरानन्दसांद्रा।
विलुठति चरणाब्जे मोक्ष-साम्राज्य-लक्ष्मीः॥

भक्त के चरणों में मुक्तिवनिता लुढ़केगी। भक्त कितना ही नीच क्यों न हो, वह धर्मात्मा हो सकता है, इस प्रकार का आश्वासन श्री कृष्ण ने भक्तों को दिया है। 'न मे भक्तः प्रणश्यति' मेरे भक्त का नाश नहीं, 'यो मे भक्तः स मे प्रियः' मेरा भक्त मुझे प्रिय है, "भव मद्भक्तः" मेरे भक्त बनो, "ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम्" ज्ञानी भक्त तो मैं ही हूं आदि छोटे छोटे वाक्यों से श्रीकृष्ण ने भक्ति की महिमा की प्रशंसा की है।

कर्नाटक में भक्ति

मोक्षसाम्राज्य के सिंहासन की राजवीथी भक्ति मार्ग कर्नाटक में प्राचीन समय से प्रचलित है। बीच बीच में वह कभी-कभी लोगों को अधिक प्रिय बन गया है। भक्ति का जन्म यद्यपि दक्षिण भारत में हुआ था तथापि भक्ति देवी 'वृद्धि कर्नाटके गता' कर्नाटक में फूली फली। कर्नाटक में सर्वप्रथम श्रेष्ठ भक्त पुराणकाल के श्री हनुमान थे जो श्री रामचन्द्र जी के महान सेवक रहे। उनमें दास्यभक्ति की पराकाष्ठा दीख पड़ती है। वीरशैव संप्रदाय के प्रवर्तक श्री बसवेश्वर आदि शैव भक्तों ने भी भक्ति को अग्र-स्थान दिया है। इतिहास काल में वायुदेव के तृतीय अवतार माने जाने वाले मध्वाचार्यजी[1] भी परम-भक्त हुए हैं। उनकी दिव्य स्फूर्ति से कर्नाटक में वैष्णव संतमंडली जो 'दासकूट'

(१) खेद है कि पंडित रामचन्द्र शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है 'गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य जी (संवत् १२५४–१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके।'— देखिए पृष्ट ६२: संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण: 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'। पर वास्तव में बात यह है कि कर्नाटक में स्वामी मध्वाचार्यजी ने अपना द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया और उनकी

नाम से प्रसिद्ध हुई है, स्थापित हुई और उससे भक्ति का अधिक प्रचार हुआ। इतिहासज्ञों का कथन है कि बंगाल के प्रसिद्ध गौरांग, चैतन्यपंथी भी मध्वाचार्य के ऋणी हैं। संतों में श्रेष्ठ श्री पुरंदरदास जी ने तो कन्नड़ में भक्ति को एवं भक्ति साहित्य को अत्यंत उच्च स्थान दिला दिया। उन्हीं की वाणी से उन्हीं के कीर्तनों से स्फूर्ति पाकर तेलुगु भाषा में संत त्यागराज ने असंख्य भक्तिगीतों की रचना की। वैष्णव भक्तों की भांति शैव एवं वीरशैवों ने भी कई भक्ति-रस से भरे गीतों की रचना की है। इनके गीतों से कन्नड़ साहित्य की अपार श्रीवृद्धि हुई और इनका काल कन्नड़ साहित्य का वसंतकाल समझा जाता है।

सन्तों के सद्गुण

कर्नाटक के संत संप्रदाय के करीब सभी संतों में और उनके रचित गीतों में कुछ समान गुण दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने यह विश्वास नहीं किया कि परमात्मा केवल बुद्धिगम्य है और न उन्होंने तत्त्वज्ञान को इतना अधिक महत्त्व दिया। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से करीब सभी कर्नाटक के संत माध्व संप्रदाय के द्वैत हैं। उनके रचित कुछ ही गीत उनके संप्रदाय का निरूपण करते हैं और अन्य सभी गीतों में परमात्मा के प्रति प्रेम-भक्ति ही है। कोई भी देश क्यों न हो, जहाँ जहाँ मानव के हृदय में परमात्मा के प्रति प्रेम-तरंगें उठेंगी वहाँ वहाँ इन गीतों का गुणग्रहण हुए बिना न रहेगा। उन्होंने बुद्धिमार्ग को तजकर अनुभूति के मार्ग का अनुसरण किया है। आत्मानुभूति जहाँ कहीं भी हो एकसी है। संतों ने एक उद्देश्य से गीतों की रचना की है। उनका वह उद्देश्य यह है कि परमात्मा के प्रति अपने हृदयों में उमड़नेवाली भाव तरंगों को मुक्त बहने देना। उनमें बनावटीपन व दंभ के लिए स्थान नहीं है। उनके सभी गीत गाने योग्य हैं। उन्होंने ऐसी कन्नड़ भाषा में लिखा है कि सामान्य मनुष्य भी उसे समझ सकता है और उनसे अपार आनंद की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार कन्नड़ के संतों ने संस्कृत के भक्ति साहित्य का भंडार फोड़कर सरल कन्नड़ में कर्नाटक की जनता को भक्ति का पीयूष पिलाया है। भाव-राज्य में विहार कर हमें अपनी मीठी वाणी द्वारा मधुर-प्रेम-रस का पान कराया है।

ये सामान्य गुण सभी संतों में पाये जाते हैं, पर हर एक का एक विशिष्ट गुण भी है। इस नश्वर देह के प्रति उपेक्षा, संसार के प्रति वैराग्य और परमात्मा में भक्ति, मुक्ति की आशा आदि के प्रति अनुराग सब में पाया जाता है। लेकिन पुरंदरदास के गीतों में प्रसाद गुण

परंपरा आज तक कर्नाटक में चली आती है। गुजरात में उनका प्रभाव पड़ा होगा और बहुत से लोग उनके संप्रदाय की ओर झुके होंगे। — अनुवादक

श्री मध्वाचार्य जी का जन्म दक्षिण कन्नड़ ज़िले में उडुपी के पास पाजक या पादुका क्षेत्र में सन् ११९९ में विजयदशमी के दिन हुआ। उनकी माता का नाम वेदवती और पिता का नाम मध्यगेह भट्ट था। पहले वासुदेव नाम रखा गया था। उडुपी के अच्युत प्रेक्ष नामक गुरु से संन्यास की दीक्षा दी गई और पूर्णप्रज्ञ नाम दिया गया। अच्युत प्रेक्ष ने अपने पीठ पर इनको बिठाया और नाम रखा आनन्दतीर्थ। यही आनन्दतीर्थ जी मध्वाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपका द्वैत सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है।

अधिक पाया जाता है और विविध भावों का परिपाक अच्छा हुआ है। उनकी उपमायें तो अद्वितीय हैं। कनकदास की वाणी शुद्ध और ओजस्वी है और उनके विचार स्पष्ट होते हैं। उनके गीतों में अनुभूति की गहराई एवं विविधता दिखाई पड़ती है। उनकी पहेलियाँ भी बहुत सुंदर हैं। विजयदास के गीत पुरंदरदास के गीतों से मिलते-जुलते हैं। और वे सरलता पदलालित्य, प्रसादगुण आदि से विभूषित हैं। जगन्नाथ दासजी तो बड़े पंडित एवं तार्किक थे, अतः उनके गीतों में संस्कृत के शब्दों की बहुलता और तत्त्व-विवेचन अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। इस प्रकार कन्नड़ के अन्य संतों मे भिन्न भिन्न गुण पाये जाते हैं। उत्तम काव्य-लक्षणों से सभी की रचनायें ओतप्रोत हैं. आकर्षक हैं, गंभीर हैं, सरल हैं, उद्बोधक हैं और मोक्षदायक भी हैं। साथ ही साथ उनमें आध्यात्मिक विषय भी सरलता से प्रतिपादित हैं।

संत वाणियों का कार्य

कर्नाटक में संतों की वाणियों से जो लोक-शिक्षा का कार्य हुआ वह भी कम नहीं है। भक्ति के तत्त्व, भक्ति-भाव, उसका निरूपण, विवरण आदि को उनमें देखा जा सकता है। संत तो स्वयं श्रेष्ठ साधक थे, अहेतुक निर्मल भक्ति से प्रेरित थे। उच्च आध्यात्मिक अनुभव-प्राप्त थे। इसलिए उन्होंने स्वयं जिस भक्ति के विविध भावों का अनुभव प्राप्त किया था उसे सुंदर, अलंकारमय कन्नड़ भाषा के ढांचे में ढालकर पंडितों-पामरों के सम्मुख रखा है। विष्णुपुर में उद्भूत इस दिव्य गंगा का जल छोटे छोटे सोने के कलशों में भरकर संतों ने बालकों-बालिकाओं, दीनों-हीनों को देकर उन्हें पावन कर दिया। कोश, निरुक्त, व्याकरण आदि की सहायता के बिना सहज में समझ में न आनेवाले संस्कृतस्थ तत्त्वों और भक्तिभावों को अपने अनुभव से कन्नड़ भाषा के माध्यम से अपने गीतों में ऐसा व्यक्त किया है कि सामान्य अपढ़ आदमी भी उन्हें सुनकर ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उन्होंने मठ-मंदिरों में आबद्ध धर्म-तत्त्वों को घर घर पहुँचाया है। कुछ ही लोगों के लिए खोले हुए मुक्ति-मंदिर को सब के लिए खोल दिया है। कठिन तत्त्वों को जनसाधारण तक पहुँचाकर उन्हें प्रचलित करने का श्रेय इन्हीं संतों को प्राप्त है। इनकी वाणियाँ गाने योग्य होने के कारण कर्नाटकी संगीत शास्त्र को भी प्रोत्साहन मिल गया है। भावहीन संगीत रसहीन फल की भाँति, सुवास-हीन सुमन के समान है। भाव जितना ही पवित्र एवं उच्च होगा उतना ही गीत मीठा एवं मधुर लगेगा। हम कहते हैं कि अंदर और बाहर जो शुद्ध हो वही वास्तव शुद्ध है, त्रिकाल में जो शुद्ध हो वही शुद्ध है। उसी प्रकार जिसमें भाव, शब्द, अर्थ और स्वर ये चारों शुद्ध एवं शास्त्रीय हों तो वही उत्तम संगीत है। इस प्रकार का श्रेष्ठ संगीत संतों ने हमें प्रदान किया है।

भक्ति-साधन

यह कहा जा सकता है कि धर्म आदमी को ऊंचे स्तर पर पहुँचानेवाला मार्ग है। अपना आज का स्तर जानकर, वहाँ से आगे जाने का प्रयत्न करना ही मुमुक्षता है। यदि एक बार मानव ने यह प्रयत्न शुरू किया तो वह धीरे धीरे आगे आगे जा सकता है। उसमें विद्यमान पशु-प्रवृत्तियाँ लुप्त होंगी और देवत्व प्राप्त करने आगे बढ़ सकेगा। उसके द्वारा भाव, विचार, आचार आदि ऊंचे स्तर पर पहुँच सकेंगे। वे ही मोक्ष के साधन कहलावेंगे। ऐसे साधनों में आजकल के समय में भक्ति ही सब से श्रेष्ठ साधन है, यों भक्त एवं भागवत कहते आये हैं।

एक और दृष्टि से भी भक्ति-साधन की ओर देखना आवश्यक है और वह है कि हम में विद्यमान भावना शक्ति का संस्कार और उससे हो सकनेवाला समाज-हित ।

हम दिन-रात यह प्रयत्न करते हैं कि बाह्य शक्तियों का संस्कार करके उन्हें अपने वश में रखें और उनका अपने सुख के लिए उपयोग करें । अग्नि, वायु, बिजली का उपयोग तो हम घोड़ों-बैलों की तरह कर रहे हैं । इसलिए बाह्य जगत पर मनुष्य का अधिकार कई गुना बढ़ गया है । किंतु अंतः शक्तियों पर जितना चाहिये उतना अधिकार नहीं कर पाये हे । इसलिये जहाँ कहीं भी देखिये वहाँ स्वार्थ, कपट, क्रूरता-शोषण आदि दीख पड़ते हैं । अगर इन सब को मिटाकर समस्त मानव-कुल में एक ही एक बंधु-भाव संचारित करना चाहते हैं तो हमें अपनी आंतरिक शक्तियों पर प्रभुता जमानी चाहिये । जैसे जैसे यह प्रभुता बढ़ती जायगी वैसे वैसे आत्म-संयम बढ़ेगा; राग-द्वेषादिता का हमला कम होता जायगा; शांति, बंधु-भाव, प्रेम आदि का साम्राज्य स्थापित होगा । भावना-शक्ति को अच्छा संस्कार भक्ति-साधन से मिल सकेगा । क्योंकि भक्ति साधन में भावना-शक्ति का शुद्धीकरण, उसका संग्रह, परमात्मा के चरणों में उसका अर्पण ये ही प्रधान बातें हैं।

इस प्रकार भक्ति-साधन तो केवल व्यक्ति का ही उद्धार नहीं करता बल्कि समाज में सुख-शांति, समानता आदि की स्थापना करने में सहायता पहुँचा सकता है, अतः वह सर्वोपकारी है ।

श्री मे० राजेश्वरय्या

कर्नाटक के संत बसवेश्वर

युग प्रवर्तक बसवेश्वर की वाणी में समाज सुधारक, धर्म सुधारक और सुभाषितकार की एक त्रिवेणी है। यदि एक साथ भगवान बुद्ध और महात्मा गांधी दोनों को देखना हो तो आप भगवान बसवेश्वर में पा सकते हैं। बुद्ध, बसव (बसवेश्वर) और बापू जैसी महान् आत्माओं का जन्म कभी संसार में एक और कभी युग में एक हुआ करता है। विशेषकर बापू और बसव में एक तरह से फड़कती हुई समानता को देख कर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है।

बसवेश्वर के समय के राजनीतिक और धार्मिक आन्दोलनों की जानकारी रखना आवश्यक होगा।

११वीं और १२वीं शताब्दियाँ सारे संसार में धर्म के आन्दोलन की दृष्टि से अधिक महत्व रखती हैं। योरप में पुनरुत्थान की गतिविधियों का सूत्रपात हो रहा था। भारत में शैव और वैष्णव धर्मों का पुनरुत्थान जोर पकड़ता जा रहा था। उत्तर भारत में मुसलमानों का अड्डा जमता जा रहा था। दक्षिण भारत में शैव धर्म और विशेषतः दक्षिण में वीरशैव धर्म का प्रचार खूब तेजी के साथ हो रहा था।

दक्षिण के एक बहुत बड़े हिस्से पर २०० वर्षों से स्थित चालुक्य संतति के राज्य की जड़ अब हिल चुकी थी। दक्षिण के उत्तर में देवगिरि के यादव लोग और दक्षिण द्वार पर समुद्र के होयसल लोग शक्तिशाली होते गये। नारमुडितैल या त्रैलोक्यमल्ल नामक चालुक्य राजा के यहाँ एक साहसिक सेनापति और मंत्री हुआ। उसका नाम बिज्जल था। वह स्वामिद्रोही था। ई० ११६१ में उसने राजा के विरोध में विद्रोह करके सिंहासन का अपहरण कर लिया और स्वयं राजा बन गया। कल्याण नगरी उसकी राजधानी बनी।

बसवेश्वर का जीवन

११वीं शताब्दी में बीजापुर जिले के बागेवाडी में शैव-ब्राह्मण जाति के मादिराजा और मादलांबिका रहते थे। उनके यहाँ करीब ई० ११२८ वैशाख सुदी तीज को एक पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम बसव रखा गया। वह लड़का बड़ा होशियार तथा होनहार प्रतीत हुआ। कहा जाता है कि धार्मिक प्रवृत्तिवाला होने के कारण उसने अपने बचपन में ही शैवागमों का अध्ययन कर लिया। जब वह आठ वर्ष का हुआ तो उसके माता-पिता ने ब्राह्मणों के यहां प्रचलित मताचार के अनुसार उसके उपवीत संस्कार करने की तैयारियाँ कीं; पर बेकार ! बसव ने उस उपवीत को 'कर्मलता' कहकर वैदिक धर्म को कर्मकांड प्रधान

बताकर उपवीत धारण नहीं किया। साथ ही बसव ने अपने को शिवजी का एक विशेष प्रकार का भक्त घोषित किया।

अब बसव घर में नहीं रह सका। वह घर से बिदा होकर पास के कप्पडी गाँव में पहुँचा और मालापहारी और कृष्णा नदी के संगम पर स्थित संगमेश्वर को अपना आराध्य देवता मानकर आध्यात्मिक अध्ययन में लग गया। ऐसा प्रसिद्ध है कि वहाँ उसे जातवेद नामक एक पहुँचे हुए मुनि का मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ।

यह बताया जा चुका है, कि उस समय कल्याण देश का राजा बलापहारी बिज्जल था। उसके प्रधान मंत्री का नाम था बलदेव। वह बसव का मामा था। उसने बसव की प्रतिभा और साहस से प्रभावित होने के कारण अपनी पुत्री गंगाम्बिका का विवाह बसव से करा दिया। इसके पश्चात् कुछ ही दिनों में बलदेव स्वर्ग सिधार गया। तब तक बिज्जल भी बसव के व्यक्तित्व से काफी प्रभावित हुए। राजा ने बसव को कल्याण राज्य का प्रधान मंत्रित्व स्वीकार करने के लिये बुलावा भेजा। बसव अब दुविधा में पड़ा। जहाँ प्रधान मंत्री पद स्वीकार करने से शैव धर्म के खूब प्रचार करने में सुविधा थी वहाँ सारे कल्याण के राजकाज में व्यस्त रहने से अपने आध्यात्मिक जीवन में धक्का पहुँचने का डर भी था। राजा बिज्जल के बहुत मनाने से बसव मान गया और प्रधान मंत्री बना।

राजा के पास अपने दूसरे मंत्री सिद्दण्णा की उदारता से दत्तक में ली गयी एक कन्या थी। उसका नाम नीलांबिका था। राजा ने बसव को प्रसन्न रखने के लिए नीलांबिका की शादी कर दी। बसव ने कल्याण नगरी के कल्याण के लिए अथक परिश्रम किया। राज्य के शासन में कई सुधार किये। देश को संपन्न बनाया और राज कोष को संवृद्ध किया। राजा ने अपने प्रधान मंत्री के इन कार्यों पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की; परन्तु यह प्रसन्नता अधिक दिनों तक न रही क्योंकि राजा शक्की मिजाज का आदमी था। याद रखना चाहिए कि राजा बिज्जल स्वयं बलापहारी होने के नाते स्वामि-द्रोही था। इसके अतिरिक्त राजशक्ति किसी को भी अधिक उन्नत नहीं देखना चाहती है। यहाँ तो बसव लोकप्रिय बनता जा रहा था। विशेषतः बसव के सामाजिक एवं धार्मिक सुधार अत्यंत क्रांतिकारी थे। बसव जाति की रीढ़ तोड़कर एक धर्म निरपेक्ष राज्य का निर्माण करने लगा। धर्म का व्यावहारिक रूप रखा गया। 'अनुभव मंटप' की नींव डाली गयी। भारत के कोने-कोने से लोग बसव के यहाँ खिंच आने लगे। वीरशैव धर्म का प्रसार व प्रचार दिन दूना रात चौगुना होने लगा। राजा अब सचमुच बसव से भय खाने लगा। इसलिए वह बसव को दबाने के लिए समय की ताक में रहा।

ब्राह्मण कुलोत्तम मधुवरस की पुत्री का विवाह अस्पृश्य जाति के हरलय्या के पुत्र से बसव ने कराया। राजा आग बबूला हो गया। ब्राह्मण देवताओं में खलबली मची। प्रजा को भड़काया गया। बसव ने प्रजा को बहुत समझाया; पर बेकार। बसव अपने मंत्री-पद को पटककर कूडल संगम देवता के मंदिर की ओर चल दिया। इससे बसव के अनुयायियों को राजा पर क्रोध आया। इसी सम्बन्ध में इधर राजा बिज्जल का वध हुआ, उधर बसव अपने इष्ट देवता संगमेश्वर में लीन हो गया। गांधी जी जैसे बड़े-बड़े

लोग अपने ही सिद्धांत के शिकार बने हैं और ठीक वैसे ही बसव भी ११६८ ई० के लगभग अपने धर्म-निरपेक्ष राज्य के सिद्धांत का स्वयं शिकार बना।

बसव तथा समाज-सुधार

१२ वीं शताब्दी में वर्ण भेद, जाति भेद, लिंग भेद एवं वृत्ति भेद रूपी कराल साँप अपनी हजारों जिह्वाओं से मानव समाज को यत्र तत्र सर्वत्र डस रहा था। अंध श्रद्धा का अंधकार दश दिशाओं में फैला हुआ था। अर्थ-शून्य कर्म कांड के बोझ से मानव समाज की रीढ़ झुककर अब टूटने को थी। संक्षेप में कहना हो तो कह सकते हैं कि जीवन एक अभिशाप बना हुआ था।

वर्ण भेद अपनी प्रारंभिक दशा में भले ही वैज्ञानिक रहा हो परंतु इस समय वह बिलकुल अवैज्ञानिक-सा बना था। क्योंकि अब वर्णभेद का आधार गुण, शील, विद्या न रह कर केवल जाति हो गई थी। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के यहाँ पैदा होने वाला कितना ही गुणहीन विद्याविपन्न और चरित्रहीन क्यों न हो, वह ब्राह्मण कहा जाता था और समाज रचना के उच्च पद पर उसे बिठाकर उसका सम्मान किया जाता था! ठीक वैसे ही किसी शूद्र के यहाँ पैदा होने वाला कितना ही गुण, शील, विद्या-संपन्न और चरित्रवान क्यों न हो वह शूद्र ही कहा जाता था और समाज रचना के निचले पद पर उसे ठुकराकर उसका अपमान किया जाता था!!

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों से हजारों जातियों का उद्भव हुआ। इससे समाज बेढब बना। मानवता की बलि हो गई। आदमी आदमी के बीच की इस असमानता के कारण द्वेष का तांडव होने लगा और घृणा फैलने लगी। जनता विनाश की ओर बढ़ी जा रही थी।

तभी बसव ने जाति की रीढ़ को ही तोड़ने का बीड़ा उठाया। उसने एक ऐसे धर्म निरपेक्ष राज्य की कल्पना की जहाँ अन्तर्जातीय विवाह हो और अंतर्जातीय भोजन हो। सामाजिक दृष्टि से कोई किसी से बड़ा न रहे और कोई किसी से छोटा न रहे। याद रखना चाहिए कि अभी अभी भारत ने धर्म निरपेक्ष राज्य बनने की दिशा में जो कदम उठाया है, वही सिद्धान्त कोई आठ सौ वर्ष पूर्व बसव द्वारा कार्य रूप में परिणत किया गया था। बसव ने जोरदार शब्दों में कहा है—

> 'हत्यारा ही अन्त्यज है, अभक्ष्य खानेवाला ही चांडाल है।
> जाति किस चिडिया का नाम है?
> नहीं तो उन हत्यारों और चांडालों की जाति है कौन सी?"

कुछ लोगों को संदेह हो सकता है कि बसव ने वीरशैव धर्म के प्रचार के द्वारा वीरशैव नामक एक जाति का निर्माण किया। अतः वह जिस जाति नामक गड्ढे से पार उतरना चाहता था उसी का शिकार आप बना! यहाँ लोग भूलते हैं। बसव ने उस समय विद्यमान हजारों जातियों की संख्या के साथ एक और जाति जोड़ने की कोशिश कदापि नहीं की। ठीक इसके उल्टे समग्र जातियों को समूल नष्ट करने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। हाँ, शिव-भक्ति की डोरी में सबको बाँधना चाहा। जाति से कोई वीर शैव

नहीं बन सकता था। गुण से, भक्ति से कोई भी वीर शैव बन सकता था। वीर शैव बनने के बाद आपस में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाता था। क्योंकि सह-भोजन और सगाई-संबंध चलते रहे। बसव ने कहा:—

"कुल तो चाहे जो हो हमारा क्या ? शिवलिंग युक्त ही कुलीन है।
शरणों में जाति सांकर्य हो जाने के बाद कौन उनके कुल का छिद्रन्वेषण करे।"

शिवे जाता कले धर्म पूर्व जन्म विवर्जितः।
उमा माता पिता रुद्रो ईश्वरः कलमेव च ॥

हे कूडल संगम देव ! इसके अनुसार उनके यहाँ प्रसाद ग्रहण करूँगा, सगाई-संबंध करूंगा और उन शरणों पर विश्वास भी करूंगा।"

एक दूसरी जगह बसव ने कहा है :—

"देव ! हे देव ! कुछ मेरी बिनती सुनो
विप्र से लेकर अंत्यज तक चाहे जो हों
यदि वे शिव-भक्त बने हैं तो उन सब को मैं समान मानता हूँ।"

ध्यान से देखने की बात यह है कि शिव-भक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि सबके आपसी ऊँच नीच के भेद भाव को मिटाकर सबको एक ही स्तर पर लाने वाली बनी थी। चेन्नय्या अछूत था, कक्कय्या डोहर था, किनरी बोम्मय्या सुनार था, मधुवय्या ब्राह्मण था; पर ये सब समान माने गये थे शिव-भक्ति के समतल सपाट मैदान में !

वृत्ति-भेद एक दूसरा साँप था जिसने समाज को अत्यंत विषैला बना दिया था। एक ओर वह जाति-सूचक थी और दूसरी ओर वह सामाजिक स्तर का मापदंड थी। आज भी हम देखते हैं कि लोगों में धारणा बनी हुई है कि मानसिक-वृत्ति दैहिक परिश्रम से की जानेवाली वृत्ति से कई गुना ऊँची है। अर्थात् चहार दीवारी के भीतर बैठकर की जानेवाली क्लर्की बाहर खेत में की जानेवाली कृषि से अच्छी समझी जाती है। बीसवीं सदी में जब यह हाल है तब १२वीं सदी की बात कौन कहे !

बसव ने वृत्ति को न जाति-सूचक ठहराया और न किसी की उच्चता या नीचता का द्योतक। सभी वृत्तियों को आपस में एक दूसरे के बराबर माना। वेदों को पढ़कर शास्त्री बनना उतना ही महत्व रखता है जितना कि कपड़ों को धोकर धोबी बनना। शौचगृह शुद्ध करनेवाले की वृत्ति भी उतनी ही पवित्र है जितनी कि जंगम बनकर दीक्षा देना। तभी तो बसवने कहा :—

"लोहा गरमाने में लुहार बना, कपड़ा धोने से धोबी बना, बुनने से जुलाहा बना, वेद पढ़ने से ब्राह्मण बना, कामों से जन्म लेनेवाला कोई है, इस संसार में ?"

अतः बसव ने जोरदार शब्दों में बताया कि वृत्ति कदापि जाति-सूचक नहीं होती। वृत्ति गौरव या अगौरव सूचक भी नहीं होती है। वृत्ति ऊँच नीच नहीं होती

है और न होनी चाहिए। सभी वृत्तियां गौरववान ही होती हैं और होनी भी चाहिए। इसी वृत्ति को आजीविका भी कह सकते हैं अर्थात् वृत्ति एक जीवनोपाय है, और इसी जीवनोपाय को बसव ने अपनी पारिभाषिक शब्दावली में "**कायक**" कहा है। कायक बहुत सुन्दर और अर्थपूर्ण शब्द है। शरीर से किया जानेवाला परिश्रम 'कायक' है। दूसरे शब्दों में इसी को दैहिक परिश्रम कह सकते हैं। दुनियाँ जानती है कि बिना किसी जीवनोपाय से जीना कठिन है। क्योंकि अच्छा या बुरा जीवन बिताने के लिए भी कम से कम जीवित रहना पड़ता है। जीवित रहने के लिए कोई न कोई जीवनोपाय नितांत आवश्यक हो जाता है। अतः वृत्ति का अगौरव नहीं करना चाहिए। हाँ, अमीरों के पास आजीविका का प्रश्न उतना कड़ा नहीं होता है। परन्तु बसवने कहा कि यह अमीरी या गरीबी का प्रश्न नहीं है। यह स्वावलंबन का, स्वतंत्र जीवन का प्रश्न है। स्वावलंबन की एक झलक पर कुबेर का सारा कोष निछावर करने योग्य हो जाता है। जो आदमी आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र रहता है, वह अपने विचारों में भी स्वतन्त्र रह सकता है। विचार स्वातंत्र्य तथा वाक् स्वातंत्र्य ही आदमी को आदमी बनाते हैं। चाहे लखपती हो चाहे भिखारी हो किसी को भी परान्नभोजी नहीं बनना चाहिए। क्योंकि इससे बुरा जीवन दूसरा नहीं है। आजीविका पर प्रत्येक मानव का अधिकार होता है। अपने पेट के लिए अपनी कमाई से अच्छी चीज और क्या हो सकती है? अपनी कमाई की रोटी में जो स्वाद एवं आनंद मिलता है वह पराये की मिठाई में कहाँ? गाँधी जी तो बराबर कहा करते थे कि हर एक आदमी को प्रतिदिन कम से कम आठ घंटों का दैहिक परिश्रम करना चाहिए। दैहिक परिश्रम किये बिना जो भोजन किया जाता है वह परान्नभोज है। अतः वह स्तेय है, चोरी है। गांधी जी ने यह भी कहा था कि धनोपार्जन का अधिकार किसी को भी नहीं। जो आदमी आजीविका से अधिक धन लेता है और स्वार्थ से उसका संचय कर लेता है वह चाहे जान में हो या अनजान में दूसरों की आजीविका छीनता है। अतः यह भी स्तेय है, चोरी है। कोई आठ सौ वर्ष पहले बसव ने इसी सिद्धांत को कार्यान्वित किया था। उसने यह भी कहा था कि भिक्षा-वृत्ति कोई वृत्ति नहीं है और वह जीवन के लिए एक अभिशाप है। जंगम लोगों के लिए भी कायक करना अनिवार्य था। क्योंकि अपनी ओर से भगवान को वही चीज अर्पित करने योग्य होती है जो अपनी निजी कमाई की हो। बसव ने इस कायक पर धार्मिक मुद्रा का जादू चढ़ा दिया था। बसव के अनुसार हर एक आदमी को प्रतिदिन कायक करना पड़ता था। अपने लिए कायक चुनने में वह स्वतंत्र था। उसके बाद ऋजु मार्ग में ही उसे अपना कायक करना पड़ता था। विशेषतः कायक में तृप्ति की बात भी थी। उस दिन के लिए अपने या अपने परिवार के लिए जितना चाहिए था उतना ही कमा लेना पड़ता था। उससे ज्यादा कमाना साधु नहीं था। फिर उस दिन की कमाई को सब से पहले भगवान शंकर के लिए अर्पण करना पड़ता था। यह समझा जाता था कि भगवान इससे प्रसन्न होकर प्रसाद के रूप में उस चीज को लौटा देगा। तब

उसका गृहण करके उस दिन को गुज़र से मुक्त होता था। उसे न कल की चिन्ता होती थी और निराशा की भावना ही जगती थी। भगवान पर भरोसा रखकर और उसी का गुणगान करते हुए रात को सो जाना पड़ता था। उदाहरण के लिए बसव के एकाध वचन लीजिए :—

"सुवर्ण में से एक रेखा, साड़ी में से एक धागे को आज के लिए या कल के लिए चाहिए करके उसकी उपेक्षा करूँ तो, तुम्हारी सौगंध ! तुम्हारे पुरातन भक्तों की सौगंध !"

"मैं अपने तन के तिल मिलाने से डरकर तुम से 'बचाओ' नहीं कहूँगा।"

"जीवनोपाय से डर खाकर मैं तुम से याचना नहीं करूँगा। 'यद् भाव तद् भवति' संकट आवे चाहे संपद आवे--

'चाहिए, नहीं' नहीं कहूँगा;

हे कूडल संगम देव ! न तुम्हारा मुँह ताकूँगा और न मनुजों से माँगूँगा; सौगंध है तुम्हारी सौगंध है।"

तिस पर "अगर मैं मृड देव प्रणाम' कहकर भीख माँगने जाऊँ तो तुम वहाँ उनसे 'आगे चल देव कहाओ प्रभु।"

सामाजिक विषमता को दूर करने में और समता की स्थापना करने में बसव के कायक की योजना कार्ल मार्क्स के सिद्धांत से भी उदात्त रही है। उदात्त इसलिए कि कायक भगवान के लिए किया जाता था। हर एक दिन की कमाई भगवान् के लिए पहले चढ़ाई जाती थी और बाद को भगवान से प्राप्त प्रसाद के रूप में उसका ग्रहण किया जाता था। जब भगवान के लिए चढ़ाना पड़ता था तब ऋजु मार्ग से ही आजीविका कमानी पड़ती थी। अतः धर्म की मोहर कायक पर लगाई गई थी। न तो अमीर और न गरीब ही परान्न भोजी बनता था। हर एक आदमी उद्यमी होता था। इससे बढ़ कर समाज की आर्थिक व्यवस्था और क्या हो सकती है ? क्या बीसवीं सदी का समाजवाद या साम्यवाद बसव के इस 'कायक वाद' से होड़ ले सकता है ? तभी तो सभी ने मुक्त कंठ से कहा है कि "कायक ही कैलास" है। अर्थात् किसी भी उद्यमी या धर्म भीरु आदमी को अपने कायक के अच्छी तरह से करने में ही स्वर्ग-सुख का आनन्द प्राप्त होना चाहिए। इस तरह बसव मर्त्य लोक पर ही कैलास को उतार लाया !

लिंगभेद तो उस समय इतना किया जाता था कि कुछ कहा नहीं जा सकता। धार्मिक क्षेत्र में कौटुंबिक जीवन को कोई मान्यता नहीं दी गयी थी और वहाँ स्त्री तो खासकर बाधक समझी गई थी। स्त्री को धर्म-ग्रंथों के अध्ययन की आज्ञा न थी। वह मुक्ति पाने योग्य नहीं समझी गयी थी। सारे संसार की खराबी की एक मात्र जड़ स्त्री मानी गयी थी।

ऐसे समय पर बसव ने स्त्रियों को तार दिया और अबलायें तो बिलकुल सबलाएँ बना दीं; लिंग भेद को हटा करके स्त्री को पुरुष के समान घोषित किया। धर्म ग्रंथों के अध्ययन की कैद को उठा दिया और स्त्रियाँ बाधक नहीं बल्कि साधक मानी गयीं।

मुक्ति की अधिकारी ठहरायी गयीं। कौटुम्बिक जीवन को धार्मिक क्षेत्र में भी काफी मान्यता दी। बसव ने कहा है कि "विवाहितों को समरस भक्ति को भगवान शंकर सानंद स्वीकार करते हैं।" स्वयं बसव विवाहित था और उसके अनुयायियों में से मोलिगे मारय्या आदि दर्जनों विवाहित थे। मान्य दिवाकर जी ने बताया है कि उस समय कोई तीस स्त्री वचनकार थीं। महादेवी जी तो लोक प्रसिद्ध हैं। महादेवी जी को तो बसव आदि सभी शिव शरणों ने 'अक्क' याने 'बड़ी बहन' कहकर उनके प्रति अपना गौरव सूचित किया है।

इस तरह बसव ने समाज का सुधार प्रत्येक दृष्टि से करने की चेष्टा की। अतः वह सर्वांगीण सुन्दर बना।

बसव तथा धार्मिक सुधार

१२वीं सदी का धार्मिक वातावरण अत्यन्त दूषित था। कर्मकांडों के बोझ से धर्म दब गया था। अंध-श्रद्धा और अज्ञान के कारण धर्म का स्वच्छ रूप कहीं भी देखने को नहीं मिलता था। अर्थ हीन बाह्याचरणों की धूम मची थी। बात बात पर जप-तप, यज्ञ-याग, व्रत-उपवास और तीर्थ-यात्रा का राग आलापा जाता था। कभी-कभी मारी मसानी आदि देवताओं के लिए बेकसूर भेड़-बकरों को बलि चढ़ाई जाती थी। बाह्याचरण खोखले थे। कथनी जैसी करनी न थी। कोई तैंतीस करोड़ देवताओं की पूजा होती थी! गृह देवता की प्रथा का प्रचलन बीसवीं सदी के इस विज्ञान युग में भी जब है तब उस अज्ञान युग की बात कौन कहे! स्वर्ग की कल्पना भी अद्भुत की गयी थी। इस लोक के जीवन की अवहेलना की गयी थी। संसार को एक सराय घर समझा गया था। हर किसी की आँखें ऊपर स्वर्ग की ओर लगीं रहती थीं। अर्थात् लोग पलायनवादी बने थे।

बसवने युग धर्म को पहचाना और बहुदेवोपसना का खंडन किया। देखिए :—

"कंघी एक देवता, धनुष की सिंजिनी एक देवता
पतीली एक देवता और टोंटेदार लोटा भी एक देवता!
यह एक देवता और वह एक देवता कहकर अपने पग
धरने के लिए भी खाली जगह नहीं रख छोड़ी है!!"

ऐसा मालूम होता है कि भारत में जितने भारतीय थे उनसे भी ज्यादा उनके देवता लोग थे!

बसवने बताया कि भगवान के नाम भले ही कई हों पर वह होता है एक ही—

"देव तो होता है एक ही; पर इसके नाम होते हैं कई;
परम पतिव्रता का पति होता है एक ही।"

भगवान के प्रति प्राणिबलि चढ़ाने के बदले में भक्ति चढ़ाने को कहा। ध्यान देने की बात है कि तब यज्ञ-यागादि के समय ब्राह्मण लोग भी प्राणिवध करते थे। अश्वमेध यज्ञ का अर्थ आखिर क्या है? घोड़े की बलि देना। बसव ने अत्यंत मार्मिकता के साथ एक निर्दोष बकरे के प्रति अपने उद्गार यों निकाले हैं—

"हे बकरे ! 'बात की बात में मुझ को मार डाला है' कहके तू रो, समझा !
वेदाध्यायियों के सामने रो, समझा !
शास्त्रज्ञों के सामने रो, समझा ! ...."

याद रखना चाहिए कि वेदों में, शास्त्रों में प्राणिबलि के लिए मान्यता दी गयी है ! तभी तो यहाँ बसव ने वेद और शास्त्रों पर व्यंग कसा है । जब अत्यन्त विवेकी ब्राह्मणों की यह हालत है तो अविवेकियों का वर्णन कौन करे ! बसव ने बड़े ही मर्मभेदी शब्दों में यों कहा है :—

"सूप के तले रख कर पूजे जाने वाले छोटे-छोटे देवों को भेंट चढ़ाकर खुशियाँ मनाते हैं "

क्या उनकी रक्षा जिनसे भगवान रूठ गया है, भेड़ कर सकेगी, मर कर ?"

प्राणिहिंसा न करके भूतदया से काम लेने के लिए उसने भाँति-भाँति से अनुरोध किया है। बुद्ध और गांधी जी ने तो बताया कि 'अहिंसा परमो धर्मः।' परन्तु बसवने एक कदम आगे बढ़कर बताया कि 'दया ही धर्म की जड़ है।'

दूसरे शब्दों में अहिंसा की जड़ दया या करुणा है । केवल हिंसा न करना दया नहीं है। बसव का यह लोकप्रिय वचन लीजिए :—

"दया रहित धर्म कौन है भाई ?
दया ही अपेक्षित है, समस्त प्राणि जगत में,
दया ही धर्म की जड़ है भाई;
ऐसों के बिना, अन्यों को कूडल संगय्या पसन्द नहीं करता है ।"

बसव ने न दुनियां को माया का घर बताया, न संसार को सराय घर बताया और न स्त्री को मुक्ति मार्ग की बाधक शक्ति ही बताया । उसने कथनी और करनी पर जोर दिया। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक की नयी व्याख्या सुनाई और जीवन को जीने योग्य बनाया । आदमी को पलायनवादी बनने से बचाया। आत्मपक्ष के साथ लोकपक्ष का समावेश किया । वैयक्तिक कल्याण के साथ लोक-कल्याण की उदात्त भावना का प्रचार किया । जनता के दृष्टिकोण को ही बदल डाला। बसव ने कहा है :—

"स्वर्ग लोक मर्त्यु लोक और नहीं हैं, जान लो भाई ।
सत्य बोलना ही देवलोक है और असत्य बोलना ही मर्त्यलोक ।
आचार ही स्वर्ग है और अनाचार ही नरक............।"

यदि स्वर्ग नामक दूसरा लोक भी हो तो मर्त्यलोक के जीवन पर ही बसव ने जोर दिया है :—

"हे कूडल संगम देव !
सृष्टिकर्ता का टकसाला है मर्त्यलोक
यहाँ चलने वाले सिक्के वहाँ भी चलते हैं
यहाँ न चलने वाले सिक्के वहाँ भी नहीं चलते हैं ।"

बसवने कहा इन्द्रिय भोग करना कोई पाप नहीं है; विवाह करना कोई अपराध नहीं है; परन्तु पर स्त्री पर कुदृष्टि दौड़ाना बड़ा पाप है ।

"इन्द्रिय निग्रह करूँ तो उपजेंगे कई दोष ।
सामने आ आकर बारंबार सताएँगी पंचेन्द्रियाँ !"

ऐसे कई निदर्शन उसके पास थे जिन्होंने भोगी बनकर भी भगवान का साक्षात्कार किया है—

"सति पति रति सुख को क्या तजा सिरियाल चंगला ने ?
सति पति रति सुख भोगोपभोग विलास को क्या तजा सिंधु बल्लाल ने ?"

इसके साथ साथ उसने लोगों को चेतावनी भी दी है :—

"आँख नहीं उठाना चाहिए पर स्त्री पर, मुँह नहीं खोलना
चाहिए पर स्त्री से, हरगिज मुँह नहीं खोलना चाहिए
भेड़ के पीछे पीछे जानेवाले कुत्ते के समान नहीं बनना चाहिए ।
ऐसी एक लालसा हजारों वर्षों तक नरक में गिरा देती है ।"
कूडल संगम देव ।"

बसव ने जप-तप, याग-यज्ञ, व्रत-उपवास, तीर्थ-यात्रा आदि बाह्याचरणों की कड़ी आलोचना की है । क्या वीरशैव क्या वीरशैवेतर दोनों को फटकार सुनाई है । कबीर की याद एक बार अपने आप ही आती है । बसव के अनुसार :—

"मृदु वचन ही समस्त जप है
मृदु वचन ही समस्त तप है
सद्विनय ही सदाशिव को रिझाने का तरीका है ।"

ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहा है :—

"हे प्रभो ! तुम्हें न समझने के कारण हाथ में घास फूस !
तुम्हें प्रणाम न करने के कारण गले में पाश !
मरोड़ना क्यों कर, धोना क्यों कर ?
नाक पकड़कर डुबकी बारंबार लगाना क्यों कर ?"

फिर वीरशैवों को फटकार सुनाते हुए कहा :—

"बाहर लेप कर क्या कर सकूँगा जब तक भीतर शुद्ध नहीं है ?
बाहर रुद्राक्षी बांधकर क्या कर सकूँगा जब तक मन उन्हें स्पर्श नहीं करता है ?
सैकड़ों पढ़कर क्या कर सकूँगा जब तक अपने कूडल संगम देव
का ध्यान मन से नहीं करता हूँ ।"

तब क्या करना चाहिए ? बसव ने इसका जवाब यों दिया है :—

"चोरी मत करो, हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो;
कुपित मत होओ, औरों के प्रति घृणा मत करो;

अपनी स्तुति मत करो; औरों की निंदा मत करो,
अंतरंग शुद्धि यही है, बहिरंग शुद्धि भी यही है;
यही हमारे कूडल संगम देव को रिझाने की रीति है।"

जाति, जनन, मरण आदि पंच सूतक वास्तव में पंच भूत बन कर समाज पर हमला कर रहे थे। वैसे तो शैव सिद्धांत में इन सूतकों का खंडन किया गया है। बसव ने तो इन सूतकों को दे मारा। क्योंकि इन सूतकों के मारे जनता हैरान हो गयी थी। सूतक से मुक्त, बाह्याडंबर से रिक्त, भक्ति से युक्त सुमधुर जीवन बिताने को उन्होंने कहा। भगवान का साक्षात्कार करने के लिए केवल भक्ति चाहिए :--

"राह भटक कर मत तड़पो, विभूति मत खरीद लाओ;
प्रसन्नता से एक बार 'शिव प्रणाम' कहो भाई;
कूडल संगम देव भक्ति-लंपट होने के कारण
शिव शब्द लेने वाले को मुक्ति प्रदान करेगा।"

और वह भी निजी भक्ति होनी चाहिए :--

"अपनी भूख मिटाने व अपनी पत्नी से समागम करने के लिए कोई अपने बदले में किसी दूसरे से कह सकता है क्या ?

करनी चाहिए भक्ति, मन से;
करनी चाहिए भक्ति, तन से।"

इस तरह बसव ने धार्मिक क्षेत्र में युगांतर उपस्थित किया। यह सब अकेले बसव से कैसे साध्य हुआ, यह पूछा जा सकता है। बसव केवल एक व्यक्ति नहीं था, वह एक समाज था। बसव ने एक खास गोष्ठी की स्थापना की थी और उसका नाम 'अनुभव मंटप' रखा था। धार्मिक विषयों पर विचार विमर्श करना इस संस्था का उद्देश्य था। इससे बसव ने खूब लाभ उठाया।

डा० हार्नली

हिन्दी-धातु-संग्रह : व्युत्पत्ति और वर्गीकरण

हिन्दी-धातु से तात्पर्य है उस स्थायी तत्व से जो अर्थ के आधार पर संबद्ध शब्दों में किसी न किसी रूप में पाया जाता है। किसी शब्द के वर्तमान, अन्यपुरुष, एकवचन प्रत्यय (ऐ, ए) को निकाल देने से हिन्दी धातु अवशिष्ट रह जाती है।[1] हिन्दी तथा संस्कृत धातुओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह सब से अधिक सुविधा जनक नियम है। इसका कारण यह है कि हिन्दी धातुओं में से अधिकांश की उत्पत्ति सीधे शुद्ध संस्कृत धातुओं से नहीं हुई है, बहुधा उनका जन्म संस्कृत-धातुओं के परिवर्तित रूपों से हुआ है। ये परिवर्तित रूप अधिकांश वर्तमान काल के हैं।

जब हिन्दी धातुओं के साथ प्रत्यय जुड़ता है तो उनमें नियमतः कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। केवल प्रेरणार्थक क्रिया रूपों में कुछ विकार आ जाता है: दीर्घस्वर सदैव ही ह्रस्व कर दिया जाता है :—

बोलना—बुलाना।
खेलना—खिलाना।

इसके अपवाद स्वरूप हिन्दी धातुओं में कुछ ऐसी भी धातुयें हैं जिनका रूप भूतकालिक कृदन्त तथा अन्य भूतकालिक रूपों में विकृत हो जाता है। ऐसे अपवाद कर, धर, जा, ले, दे, मर आदि हैं।

धातुओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: यौगिक तथा अयौगिक (Secondary and Primary)! अयौगिक धातुएं वे हैं जिनका मूल रूप कुछ ध्वन्यात्मक विषयों के साथ संस्कृत में मिल जाता है। यौगिक धातुओं में वे धातुएं आती हैं जिनके मूल रूप संस्कृत धातुओं में नहीं हैं। पर उनकी उत्पत्ति संस्कृत शब्दों से हुई है। जसे हिन्दी 'पैठ' का संबंध संस्कृत धातु से नहीं है क्यों कि संस्कृत में 'प्रविष्ट' कोई धातु नहीं है, किन्तु संस्कृत कृदन्त 'प्रविष्ट' से हिन्दी 'पैठ' का संबंध है। इन धातुओं को यौगिक धातुओं के वर्ग में रखा जाता है।

अयौगिक धातुओं में कुछ तो ऐसी हैं जिनमें हिन्दी तक आते आते कोई ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं हुआ है जैसे 'चल' धातु। किन्तु अधिकांश हिन्दी धातुओं में किसी न

---

१ उदाहरणतः बोली, बुलाहट, बुलाना, बोला, बोले के मूल में 'बोल' धातु है।

किसी प्रकार का ध्वन्यात्मक परिवर्तन अवश्य हुआ है। ये ध्वन्यात्मक परिवर्तन सात प्रकार के हो सकते हैं। इन प्रकारों में से कभी एक कभी अनेक धातु को प्रभावित करते दीखते हैं। ध्वन्यात्मक परिवर्तन इस प्रकार हैं :—

(१) ध्वनि संबंधी व्यतिहार व्यंजन का लोप या उसका मृदु हो जाना अथवा उसके समकक्षी स्वर का संकोच आदि।

सं० खाद > हि० खा।

(२) वर्गीय प्रत्यय (Class suffix) का योग। संस्कृत में प्रत्यय धातु और पुरुषवाचकान्त के मध्य में रहता है। इसी आधार पर संस्कृत, धातुओं को दस वर्गों में विभाजित किया जाता है। हिन्दी में प्रत्यय धातु के साथ मिला दिए जाते हैं।

(३) कर्मवाच्य प्रत्यय 'य' का योग जैसे दि + या (दा)।

(४) धातु वर्ग-परिवर्तन। संस्कृत-धातुओं को प्रत्ययों या ध्वन्यात्मक विकारों के अनुसार दस वर्गों (गणों) में विभाजित किया जाता है। इन वर्गों में से छठे वर्ग की धातुएं सब से सरल हैं। उनमें कोई आन्तरिक विकार नहीं होता; केवल 'अ' प्रत्यय का योग पर्याप्त है। हिन्दी में प्रायः सभी वर्गों की धातुओं को इस छठे वर्ग की धातुओं के रूपों में परिवर्तित कर दिया जाता है। वह या तो छठे वर्ग के प्रत्यय को अन्य वर्गीय प्रत्ययों के स्थान पर जमा देने से हो जाता है अथवा अन्य वर्गीय प्रत्ययों के अन्त्य स्वर को 'अ' में परिवर्तित करने से होता है।

(५) वाच्य-परिवर्तन। हिन्दी की कुछ धातुओं का उद्गम संस्कृत धातुओं के कर्म वाच्य रूप से है।

(६) काल-परिवर्तन। कुछ हिन्दी धातुओं का उद्गम संस्कृत धातुओं के भविष्य रूपों से है।

(७) ध्वन्यात्मक प्रत्यय 'अपि' का योग प्रेरणार्थक धातुओं में। यह नियम अपवाद रहित है।

यौगिक धातुओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) व्युत्पन्न धातुएं वे हैं जिन में मूलस्वर को ह्रस्व करके धातुएं बनाई जाती हैं।

(२) नाम धातुएँ—वे हैं जो संज्ञाओं को धातु रूप में ग्रहण करने से बनती हैं।

जन > सं० जन्म

ये संज्ञाएं या तो सत्ववाची होती हैं या कृदन्त।

(३) मिश्रित धातुएँ: इनमें संस्कृत धातु 'कृ' तथा इससे शासित संज्ञाएँ रहती हैं। इसकी पहचान अन्त्य व्यंजन 'क' है।

इस वर्गीकरण के पश्चात् भी कुछ धातुएँ इस प्रकार की रह जाती हैं जिनकी व्युत्पत्ति अभी ठीक ठीक निरूपित नहीं की जा सकी है, जैसे 'ढो' (ले जाना) तथा 'लौट (वापस)। 'देख' धातु के संबंध में अनेक अनुमान लगाए जाते हैं। हिन्दी धातुओं के संबंध

में इन साधारण नियमों के उल्लेख के साथ नीचे हिन्दी की मुख्य-मुख्य धातुओं का एक संकलन व्युत्पत्ति तथा इतिहास सहित दिया जा रहा है।

(अ) मूल धातुएं :-

१. अट् (कमरा)—सं० अट्, कर्मवाच्य अट्यते (कर्तृ वाच्य के भाव संयुक्त) प्रा० अट्टइ (हेमचन्द्र, ४,२३०) हिन्दी-अटै।

२. अनुहर (समान दीखना) सं० अनु + हृ, प्रथमवर्ग-अनुहरति, प्रा० अणुहरइ (हेमचन्द्र ४,२५९), पू० हि० अनुहरै।[1]

३. आव् (आना)—इस धातु की व्युत्पत्ति का संतोषजनक निरूपण अभी नहीं हो पाया है। कुछ लोग इसका संबंध संस्कृत धातु 'आ-या' से जोड़ते हैं जिससे मराठी धातु 'ये' (आना) व्युत्पन्न हुआ है। इस विचार के अनुसार अन्त्य व्यंजन 'व' की व्युत्पत्ति की समस्या रह जाती है। एक बात हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि 'आव' के रूप तथा 'पाव' (सं० 'प्राप्) क्रिया रूपों में अत्यन्त समानता है। किन्तु 'आव' के रूपों की समानता धातु 'जा' (जाना) (सं० 'या') से नहीं है। इस प्रकार वर्तमान कृदन्त का रूप पूर्वी हिन्दी में 'आवत' तथा पश्चिमी हिन्दी में 'आवतु'[2] (आता हुआ) पूर्वी हिन्दी के 'पावत' तथा पश्चिमी हिन्दी के 'पावतु' (पाता हुआ) समान हैं। इसी प्रकार इन सभी क्रिया रूपों की समानता निर्विवाद है। इसमें भारतीय आधुनिक भाषाओं की क्रिया रूपों की अनुरूपता का सिद्धान्त कार्य कर रहा है। इस प्रकार 'आव' का 'व्' 'पाव' के प्रभाव के कारण है ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार की अनुरूपता अत्यन्त प्राचीन है तथा इसके चिह्न प्राकृत तथा जिप्सी बोलियों में मिलते हैं।

४. आहर (खिलाना)—सं० आहृ, प्रथम वर्ग-'आहरति, प्रा० आहरइ (हेमचन्द्र, ४, २५९ सं० खादति) पूर्वी हिन्दी 'आहरै।'

५. उखाड़ (उखाड़ना)—सं० उत्कृप्, प्रथम वर्ग 'उत्कर्पति', प्रा० उक्कड्ढइ (हेमचन्द्र ४, १८७) हि० उखाड़ै।[2]

६. उघाढ़ (निरावण करना)—सं० 'उद्घट्', दशम वर्ग उद्घाटयति, प्रा० उग्घाडेइ, अथवा छठा वर्ग, 'उग्घाडइ' (हेमचन्द्र, ४३३) हि० उघाड़ै।

७. उठ् (Rise)—सं० उत्-स्था, कर्तृवाच्य—उत्थीयते (कर्तृवाच्य के भाव संयुक्त) प्रा० उट्ठेइ अथवा छठा वर्ग, उट्ठइ (हेमचन्द्र ४१७) हि० उठ। प्राकृत के छठे वर्ग का रूप 'उट्ठाअइ' अथवा 'उट्ठाइ' (वररुचि, ८२६) भी मिलता है।

८. उड् (Fly)—सं० उद्डी, छठा वर्ग, उड्डीयते, प्रा० उड्डेइ अथवा छठा वर्ग, उड्डइ, हि० उड़ै।

९. उतर—सं० उत्-तृ', प्रथम वर्ग उत्तरति, प्रा० उत्तरइ (हेमचन्द्र, ४३३९), हि० उतरै।

---

१. पश्चिमी हिन्दी में यह रूप नहीं मिलता। २. ब्रज में अधिकांश 'आयतु' मिलता है।

२. ब्रज भाषा में—ड़ का र हो जाने से उखारै रूप मिलता है।

१०. उथल् (upset, come off from, come down) सं० उत्शल, प्रथम वर्ग उत्शलति (उच्छलति) प्रा० उत्थलइ (हेमचन्द्र, ४१७४) हि० उथलै।[1]

११. उथार या उथाल (upset, take down)—सं० उत्शल, प्रेरणार्थक उत्शालयति, प्रा० उत्थालेइ अथवा, छठा वर्ग 'उत्थालइ' हि० उत्थालै या उथारै।[2]

१२. उपज् (grow up) सं० उद्पद्, छठा वर्ग उत्पद्यते, प्रा० उप्पज्जइ (हेमचन्द्र, ३१४२) हि० उपजै।

१३. उबल (Boil)—सं० उद्ज्वल, प्रथम वर्ग 'उज्ज्वलति', प्रा० 'उव्वलइ', हि० उबलै। =[ब्र० उबरै]

१४. उबार (Keep in reserve)—सं० उद्वृ, प्रेरणार्थक उद्वारयति, प्रा० उव्वारेइ या छठा वर्ग उव्वारइ, हि० उबारै।

१५. उभार् (raise up or excite) सं० उद्भृ व प्रेरणार्थ-उद्भारयति, प्रा० उब्भारेइ या छठा वर्ग उब्भारइ, हि० उभारै।

१६. उरह् या उलह् (grow up, also reprove)—सं० उद्लभ्, प्रथम वर्ग उल्लभते उल्लहइ (त्रिविक्रम ३, १. १३३ निस्सरति हेमचन्द्र ४,२५६ में उल्लुहइ) पूर्वी हि० उरहै, प० हि० उलहे।

१७. उहर् (Subside)—सं० अवत्, प्रथमवर्ग, अवतरति, प्रा० ओहरइ, (हेमचन्द्र ४,८५ ओअरइ हि० उहरै।

१८. ऊंघ् (be drowsy)—संस्कृत ? प्रा० उंघइ (हेमचन्द्र, ४,१२ निद्रायति) हि० ऊंघै।

१९. ऊभ (be excited, raised up)—सं० उद्भू, प्रथमवर्ग उद्भवति, प्रा० उब्भवइ (वररुचि ८. ३) या उब्भइ) हि० ऊभै; अथवा ऊर्ध्व, प्रा० उब्भ (हेमचन्द्र २,५९)।

२०. ओढ़—इसकी व्याख्या यौगिक धातुओं में है।

२१. औट् (burn) सं० अवकुट्, छठा वर्ग अवकुट्यति, प्रा० ओउट्टइ, हि० औटै।

२२. औस (rot)—सं० अपवस्, प्रथमवर्ग अपवसति, प्रा० अववसइ, या ओवसइ, हि० औसै[3]।

२३. कर् (do)—सं० कृ, अष्टमवर्ग करोति, वैदिक (प्रथमवर्ग) में भी करति, प्रा० करइ (वररुचि, ८. १३) हि० करै। प्रा० में (दशम् वर्ग) करेइ (हेमचन्द्र ४, ३३७) भी है। वैदिक (पंचम वर्ग) में कृणोति भी है, प्रा० कुणइ वररुचि ८.१३)।

२४. कस् (Test) सं० कष्, प्रथम वर्ग कषति प्रा० कसइ हिन्दी कसै।

२५. कस् (Tighten)—सं० कृष्, प्रथमवर्ग 'कषति', छठेवर्ग में 'कृषति' भी, इससे प्रा० कसइ, हि० कसै।

---

१. प० हि० में उछलै रूप मिलता है तथा ब्रज में उछरै।

२. ब्र० में उतारै।

३. ब्रज में—औजै मिलता है।

२६. कह (say)—सं० कथ्, दशम वर्ग कथयति, प्रा० कहे (सप्तशतक: हाल) (V. ३५) या छठे वर्ग में कहइ (हेमचन्द्र, ४. २. पृष्ठ ९९) हि० कहै ।

२७. काट् (cut)—सं० कृत्, प्रेरणार्थक, कर्तयति, प्रा० कट्टइ या छठे वर्ग में—कट्टइ (हेमचन्द्र, ४, ३८५) हि० काटै ।

२८. काढ़ (draw)=इसकी व्याख्या यौगिक धातुओं के साथ है ।

२९. कांप या कप् (tremble)=सं० कंप, प्रथम वर्ग कम्पति प्रा० कंपइ, (हेमचन्द्र १,३०) हि० काँपै या कपै । *[ब्रज में इससे भाववाचक संज्ञा—कपकपी भी बनता है]

३०. किन् या कीन (buy)=सं० क्री, नवम वर्ग—क्रीणाति प्रा० किणइ (वररुचि, ८३०) या किणइ (Delius Radices Pracriticae) हि० किनै या कीनै ।

३१. कूट् (Pound)=सं० कुट्ट, दशम वर्ग (कुट्टयति, प्रा० कुट्टेइ या छठवां वर्ग कुट्टइ, हि० कूटै ।

३२. कूंद या कूद (jump)=सं० स्कुंद (या स्कद), प्रथम वर्ग 'स्कुंदते, प्रा० कुंदइ, हि० कूँदै, कूदै ।

३३. कोड़ या कोर (scrape)=सं० कुट्, दशम वर्ग, कोटयते, प्रा० कोडेइ या कोडइ, प० हिन्दी कोड़े या पू० हि० कोरै ।

३४ कोप् (be angry)=सं० कुप्, छठा वर्ग 'कुप्यति', प्रा० कुप्पइ (हेमचन्द्र, ४,२३०) हि० कोपै ।

३५. खप् (be expended, sold)=सं० क्षप, दशमवर्ग अथवा प्रेरणार्थक (कर्म वाच्य का) क्षप्यते, प्रा० खप्पइ, हि० खपै ।

३६. खा (eat)=सं० खाद्, प्रथम वर्ग 'खादति', प्रा० खा अइ या इसका संकुचित रूप 'खाइ' (हेमचन्द्र, ४,२२८) हि० खाय् ।[1]

३७. खाँस (cough)=सं० कास्, 'प्रथम वर्ग 'कासते', प्रा० कासइ, या खासइ (हेमचन्द्र, १, १८१)=खासिअं=कासितं, हि० खाँसै ।

३८. खिल (be delightad, flower)=सं० क्रीड़्, कर्मवाच्य—क्रीड्यते, प्रा० खिड्डइ या खिल्लइ (हेमचन्द्र ४,१६८ खेड्ड तथा ४,३८२ खेल्ल) हि० खिलै ।

३९. खीज या खीझ (be vexed)=सं० खिद, छठवां वर्ग खिन्दति; सप्तम वर्ग में खिन्ते या चतुर्थ वर्ग में खिद्यते, प्रा० खिज्जइ (हेमचन्द्र, ४,२२४,) हि० खीजै या खीझै ।

४०. खल (open)=सं० खुड्, कर्मवाच्य खुड्यते, प्रा० खुड्डइ या खुल्लइ, हि० खुलै ।[2]

---

१. प्राकृत में इसका कर्मवाच्य रूप खाद्यते भी प्रयुक्त हुआ है । किन्तु यह प्रयोग कर्तृवाच्य के भाव को स्पष्ट रूप से लिए हुए है, जैसे 'खज्जंति' 'वे खाते हैं ।'

२. खुल, खोल, खूट धातुएँ एक दूसरी से संबंधित हैं । इनका संबंध संस्कृत धातुओं, क्षोट, खोट, खोड्, खोर्, खोल खुड खुण्ड, खुर, क्षुर बताया जाता है । इन सब का अर्थ होता है, लंग गति, विभाजन करना, या तोडना । इनका मूल रूप क्षोट, क्षर, या क्षुट् है ।

४१. खूट (Pluck) = सं० क्षोट, कर्म वाच्य, क्षोट्यते, प्रा० खुट्टई (हेमचन्द्र ४, ११६ यह प्रयोग सं० तोड़ते का स्थानापन्न बताया जाता है जिसकी धातु 'तुड़' है, हि० खूट।

४२. खेल् (Play) = सं० क्रीड् (कील तथा खेल) प्रथम वर्ग क्रीडति, प्रा० खेड्डइ (हेमचन्द्र ४,१८८) या खेल्लइ (हेमचन्द्र, ४, ३८२) हि० खेलै (प्रा० में कीलइ भी मिलता है[1])।

४३. खो (Throw away lose) = सं० क्षिप्, छठवाँ वर्ग क्षिपति, प्रा० खिवइ, हि० खोय।

४४. खोल् (open) सं० खुड्, (divide) दशम वर्ग खोड्यति, प्रा० खोडेइ या छठवां वर्ग खोडइ या खोलइ, हि० खोलै।

४५. गठ् (बाँधना) = सं० ग्रंथ, दशम वर्ग ग्रथाति, प्रथम वर्ग ग्रन्थति, प्रा० गंठइ (हेमचन्द्र ४, १२०) हि० गठै।

४६. गढ़् या गड् (बनाना या खोदना) सं० घट्, प्रथम वर्ग घटते, प्रा० गढइ (हेमचन्द्र ४, ११२) हि० गढ़ै or गड़ै।

४७. गढ़ाव् (बनाना) सं० घट्, प्रेरणार्थक घाटयति, प्रा० गढावेइ या गढावइ (हेमचन्द्र ४, ३४०) हि० गढ़ावै।

४८. गन् या गिन् (गिनना) = सं० गण, दशम वर्ग गणयति, प्रा० गणेइ (सेतुबन्ध, ११, २७) या छठवाँ वर्ग गणइ (हेमचन्द्र, ४, ३५८) हि० गनै या गिनै।

४९. गम् (जाना) = सं० गम्, कर्म वाच्य गम्यते, प्रा० गम्मइ (वररुचि, ७, ६. ८, ५८) हि० गमै।

५०. गरियाव् या गलियाव (गाली देना) = सं० गृहं या गल्ह्, दशम वर्ग गर्हयति प्रा० गरिहावइ (हेमचन्द्र २, १०४) या गलिहावइ, पूर्वी हि० गरियावै (गरिहावै)

५१. गल् (पिघलना) = सं० गल्, प्रथम वर्ग गलति प्रा० गलइ (हेमचन्द्र ४, ४१८) हि० गलै।

५२. गह् (पकड़ना) = सं० ग्रह्, नवम वर्ग गृह्णाति, प्रा० छठवाँ वर्ग गेंहइ (वररुचि ८, १५) या गहइ (त्रिविक्रम २, ४, १५७) हि० गहै।

५३. गा (गाना) = सं० गै, प्रथम वर्ग-गायति, प्रा० गाग्रइ, या इसका संकुचित रूप गाइ (वररुचि ८, २६) हि० गाय।

५४. गाढ़् या गाड़् या पूर्वी हि० गाई—इसकी व्याख्या यौगिक धातुओं में है।

५५. गिर् (गिरना) = सं० गृ, छठवाँ वर्ग गिरति, प्रा० गिरइ, हि० गिरै।

५६. गुह (धागा) = सं० गुफ् छठवाँ वर्ग गुफति, प्रा० गुहइ (हेमचन्द्र, १, २३६) हि० गुहै।

५७. गोच् (catch) = सं०, ग्लुंच (ग्रुच), प्रथम वर्ग ग्लुंचति, प्रा० गुंचइ, हि० गोचै।

५८. घट् (कम होना) = सं० घट्ट, कर्म वाच्य घट्टयते, प्रा० घट्टइ, हि० घटै।

---

१. Delius Radices Pracriticae, पृ० ४७।

५९. घड़ (बनाना, घटित होना) = सं० घट्, प्रथम वर्ग घटते, प्रा० घडइ, (हेमचन्द्र, ४, ११२) हि० घड़।

६०. घस् या घिस् (रगड़ना) सं० घृष्, प्रथम वर्ग घर्षति, प्रा० छठवाँ वर्ग घसइ (= घृषति) या घिसइ (हेमचन्द्र ४, २०४) जहाँ यह ग्रसति का स्थानापन्न बताया गया है। हि० घसै या घिसै।

६१. घाल् (फेंकना, नष्ट करना, मिलाना) = सं० घट्ट, प्रथम वर्ग घट्टते, प्रा० घड्डइ या घल्लइ (हेमचन्द्र ४, ३३४; त्रिविक्रम, ३, ४, ६ जहाँ यह क्षपति का स्थानापन्न बताया गया है, हि० घालै

६२. घुल् या घोल (द्रवीभूत पदार्थों का मिलना) = सं० (घूर्ण, घुण् और घोल् भी) प्रथम तथा छठवाँ वर्ग घूर्णति (घोणते, घुणति घोलयति भी) प्रा० घुलइ या घोलइ (वररुचि ८, ६; हेमचन्द्र ४, ११७) हि० घोलै, घुलै।

६३. घूम (घूमना) सं० घूर्ण छठवाँ वर्ग-- घूर्णति, प्रा० घुम्मइ (हेमचन्द्र, ४, ११७) हि० घूम।

६४. घेर् (इकट्ठा करना, घेरना) सं० ग्रह ?

६५. चढ़् (बढ़ाना, बढ़ना) सं० उत्‌शद्, छठवाँ वर्ग उच्छर्दति, प्रा० (उ का लोप करते हुए) चड्ढइ या चड्डइ (त्रिविक्रम ३,१·१२८) हि० चढ़ै[1]।

६६. चप् (be abashed) = सं० चप् (दबाना) कर्मवाच्य चप्यते; प्रा० चप्पइ, (हेमचन्द्र ४, ३९५) चंपिज्जइ; त्रिविक्रम, ३, ४, ६५ चप्पिज्जइ) हि० चपै। इसका सकर्मक रूप चाप् या चाँप है।

६७. चर् (घास चरना) = सं० चर्, प्रथम वर्ग चरति, प्रा० चरइ, हि० चरै।

६८. चल् या चाल् (चलना) = सं० चल्, प्रथम वर्ग चलति, प्रा० चलइ, या चल्लइ (हेमचन्द्र ४, २३१, हि० चलै या चालै)।

६९. चव् (drip) = सं० च्यु, प्रथम वर्ग च्यवते, प्रा० चवइ (हेमचन्द्र ४, २३३) हि० चवै।

७०. चाव् (चबाना) = सं० चर्व्, प्रथम वर्ग चर्वति, प्रा० चव्वइ, हि० चावै)

७१· चित् (सोचना) सं० चित्, दशम वर्ग चिन्तयति, प्रा० चिंतेइ (सप्तशतक १५६, हेमचन्द्र ४, २६५) या चिंतइ (हेमचन्द्र ४, ४२२) हि० चितै।

---

१. उत्‌शद् का अर्थ ऊपर की ओर गिरना है। यह शब्द संस्कृत का एक अद्भुत शब्द है। संयुक्त उत् + पत् की भांति लिया गया है। अन्त्य 'द्' (शद्) प्रा० में 'ड' हो जाता है (हेमचन्द्र ४, १३० झडइ और वररुचि ८, ५१; हेमचन्द्र ४, २१९ सडइ) आरंभिक 'उ' का लोप हो जाता है। 'छ' का महाप्राणत्व 'ड' के साथ संलग्न हो जाता है अथवा बिल्कुल समाप्त हो जाता है जैसे उच्छाह > (उत्साह) से चाह अथवा 'इच्छा' से। पुरानी हिन्दी में धातु 'चड्ढ' है; मराठी में चढ और चड दोनों हैं; गुजराती, सिन्धी तथा बंगाली में 'चड' है। यही रूप हेमचन्द्र ने दिया है (४, २०६--चडइ) त्रिविक्रम (३, १२८) चड्डइ और चडइ दोनों देता है।

७२. चिन् (इकट्ठा करना) = सं० चि०, पंचम वर्ग चिनोति, प्रा० छठवाँ वर्ग चिणइ (वररुचि ८, २९, हेमचन्द्र ४, २४१) हि० चिनै ।

७३. चुन् (एकत्रित करना, छाँटना) = सं० चि०, पंचम वर्ग चिनोति, प्रा० छटवाँ वर्ग चुणइ (हेमचन्द्र ४, २३८) हि० चुन ।

७४. चू (चूना) = सं० च्युत (या श्च्युत) प्रथम वर्ग च्योतति, प्रा० चोग्रइ, या चुग्रइ (हेमचन्द्र २, ७७) हि० चूए ।

७५. चूम् (चूमना) = सं० चुंब, प्रथम वर्ग चुम्बति, प्रा० चुंबइ (वररुचि ८, ७१) हि० चूमै ।

७६. छा (Thatch) = सं० छद्, दशम वर्ग छाद्यति, प्रा० छाएइ (Delius Radices Pracriticae, ५४) या, छठवाँ वर्ग छाग्रइ (त्रिविक्रम २, ४, ११० या छायइ, हेमचन्द्र ४, २१ या (संकुचित होकर) छाइ; वररुचि ८, २६) हि० छाय् ।

७७. छिप् या चिप् या छुप (छुपना) -- सं० क्षि (गुप्त रूप से रहना) प्रेरणार्थक कर्म वाच्य क्षेप्यते, प्रा० छेप्पइ or छिप्पइ, हि० छिपै, चिपै या छुपै ।

७८. छो या छोह (छूना) = सं० स्पृश् छठवाँ वर्ग स्पृशति, प्रा० छिहइ या छिवइ (हेमचन्द्र ४, १८२) हि० छोहे or छोयै ।

७९. छीज् (नष्ट होना) सं० छिद् कर्म वाच्य छिद्यते प्रा० छिज्जइ (हेमचन्द्र, ४,४३४) हि० छीजै ।

८०. छू या छुह्—(छूना) = सं० छुप छठवाँ वर्ग छुपति, प्रा० छवइ, हि० छूए या छूहै ।

८१. छूट् या छुट (छूटना) = सं० छुट् (काटना), कर्मवाच्य छुट्यते, प्रा० छुट्टइ, हि० छूट या छुटै ।

८२. छोड़ (छोड़ना) = सं० छुट्, प्रेरणार्थक छुट्यति, प्रा० छोडेइ या छठवाँ वर्ग छोडइ, हि० छोडै ।

८३. जन् (जन्मदेना) = सं० जन्, प्रेरणार्थक जनयति, प्रा० जणेइ (सप्तशतक, ७५) या छठवाँ वर्ग जणइ, हि० जनै । संस्कृत के छठवें वर्ग में जायते भी है, प्रा० जाग्रइ (हेमचन्द्र ५, १३६) हिन्दी deest.

८४. जप् (उच्चारण करना) = सं० जल्प, प्रथम वर्ग जल्पति, प्रा० जंपइ (वररुचि ८, २४) हि० जपइ ।

८५. जर् (ज्वर पीड़ित) सं० ज्वर, प्रथम वर्ग ज्वरति, प्रा० जरइ, हि० जरै ।

८६. जल् (जलना) = सं० ज्वल्, प्रथम वर्ग ज्वलति, प्रा० जलइ (हेमचन्द्र ४, ३६५)

८७. जा (जना) = सं० 'या', द्वितीय वर्ग याति, प्रा० छठवाँ वर्ग जाग्रइ या (संकुचित जाइ) (हेमचन्द्र ४, २४०) हि० जाय ।

८८. जाग् या जागर (watch) सं० जागृ, द्वितीय वर्ग जागर्ति, प्रा० प्रथम वर्ग जागरइ तथा छठवाँ वर्ग जग्गइ (हेमचन्द्र ४, ८०) हि० जागरै या जागै ।

८९. जान् (जानना) = सं० ज्ञा, नवम वर्ग जानाति, प्रा० छठवाँ वर्ग जाणइ (हेमचन्द्र ४,७) हि० जानै ।

९०. जी (रहना)=सं० जीव् प्रथम वर्ग जीवति, प्रा० जीअइ (हेमचन्द्र १, १०१) हि० जीऐ।

९१. जुझ् (लड़ना)=सं० युध्, चतुर्थ वर्ग 'युध्यते', प्रा० जुज्झइ (वररुचि, ८, ४८) जुझै, पुरानी हिन्दी में 'झुझ्' रूप भी मिलता है।

९२. जुट् (लगजाना) सं० जुट्, कर्मवाच्य 'जुट्यते', प्रा० जुट्टइ, हि० जुटै।

९३. जोड़ (join)=सं० जुट्, दशम वर्ग 'जोटयति', प्रा० जोडेइ, या छवठाँ वर्ग हि० जोड़ै।

९४. झट् (Argue)=सं० झट्, प्रथमवर्ग झटति, प्रा० झटइ, हि० झटै।

९५=झड़् या झर (गिरना)=सं० शद्, छठवाँ वर्ग—शदति, प्रा० झडइ, (हेमचन्द्र ४,१३० छडइ) हि० झड़ै, झरै।

९६. झाँट् (Rush about)=सं० झट्, कर्मवाच्य झट्यते कर्तृवाच्य के भाव को लिए हुए प्रा० झंटई (हेमचन्द्र ४, १६१, झट्टइ) हि० (झाँटै झट से सं० झाट (झाड़ी) आता है, हि० झाट, आंझाड़)

९७. झाड् (झाड़ना)=सं० शद्, कर्म वाच्य 'शादयति', प्रा० झडेइ, या छठवाँ वर्ग में झाडइ; हि० झाँड़ै।

९८. झाल् (Polish)=सं० ज्वल (चमकना) (?) कर्मवाच्य ज्वालयति, प्रा० झालेइ या छठवें वर्ग में झालइ, हि० झालै। (cf.) सं० झल्ला (चमक) झल्लक्का (लपट)।

९९. टक् या टंक (सीना)=सं० टंक्, प्रथम वर्ग—टंकति, प्रा० टंकइ, हि० टंकै या टकै (संम्भवतः यह 'कृ' धातु की एक संयुक्त धातु हो!)

१००. टूट् या तूट् (टूटना)=सं० त्रुट्, छठवाँ वर्ग – त्रुटति (चौथे वर्ग में त्रुट्यति भी है) प्रा० तुट्टइ (हेमचन्द्र ४,२३०) या टुट्टइ (पिंगल, में डा० राजेन्द्र लाल मित्रा द्वारा उद्धृत, पृ० ९९) हि० तूटै, टूट।

१०१. ठक् (धोखादेना)+सं० स्थग्, प्रथम वर्ग—स्थगति, प्रा० ठगइ, हि० ठगै।

१०२. डार् (डाल)=सं० दृ (बिखराहुआ) प्रेरणार्थक—दारयपि, प्रा० डारेइ या छठवें वर्ग में डारइ, हि० डारै या डालै।

१०३. डाँस् या डास (काटना)=सं० दंश् या दस्, प्रथम वर्ग—दंशति या दसति प्रा० डसइ (हेमचन्द्र १,२१८) या डंसइ, हि० डाँसै, डासै या डसै।

१०४. डोल् (झूलना)=सं० दुल्, दशम वर्ग—दोलयति, प्रा० दोलेइ (हेमचन्द्र ४, ४८) या डोलेइ (देखो हेमचन्द्र १,२१७ डोला) या छठवें वर्ग में डोलइ हि० डोल।

१०५. ढक् (ढकना)=स्थग्, कर्मवाच्य में स्थग्यते, प्रा० ढक्केइ (सप्तशतक A. ५४ ठग्गेइ) या छठवें वर्ग में ढक्कइ (हेमचन्द्र, ४, २१, जहाँ यह 'छाद्' का स्थानापन्न बताया गया है, हि० ढकै (सप्त शतक, पृ० ४३,६४, ६७)[१]।

---

१. सम्भवतः 'स्थाग्'—कृ धातु की यह संयुक्त धातु हो!

१०६. ढाँस (Accuse) = सं० ? प्रा० ढंसइ (हेमचन्द्र, ४, ११८ जहाँ यह सं० विवृत का स्थापापन्न बताया गया है) हि० ढाँसै[२]।

१०७. ढूक् (पहुंचना) = सं० ढौक्, प्रथम वर्ग—ढौकते, प्रा० ढुक्कइ, हि० ढूकै।

१०८. ढूंढ़् (खोजना) = ढुंढ, छठवें वर्ग में ढुण्ढति, प्रा० ढुंढइ, हि० ढूंढ़ै।

१०९. तप् (जलना) = सं० तप्, प्रथम वर्ग—तपति, छठवें वर्ग में—तप्यति भी, प्रा० तप्पइ (हेमचन्द्र ४, १४० संतप्पइ) हि० तपै।

११०. तर् (पारकरना) = सं० तॄ, प्रथम वर्ग तरति प्रा० तरइ (हेमचन्द्र ४८६) हि० तरै।

१११. ताक् (attend) = सं० तर्क, दशम वर्ग—तर्कयति, प्रा० तक्केइ, (हेमचन्द्र, ४,३७०) या छठवें वर्ग में, तक्कइ, हि० ताकै।

११२. तान् (खींचना) = सं० तन्, प्रेरणार्थक—तानयति, प्रा० ताणेइ या छठवें वर्ग में ताणइ, हि० तानै।

११३. तार् (बचाना) = सं० तॄ (पार करना) प्रेरणार्थक—तारयति, प्रा० तारेइ या छठवाँ वर्ग—तारइ, हि० तारै।

११४—तुल् (तोलना) = सं० तुल्, कर्मवाच्य तुल्यते, प्रा० तुल्लइ, हि० तुलै।

११५. तोड़ या तोर् (तोड़ना) = सं० त्रुट्, प्रेरणार्थक त्रोटयति, प्रा० तोडेइ, या छठवाँ वर्ग तोडइ (देखिए, हेमचन्द्र ४, ११६) प० हिन्दी तोड़ै, पू० हि० तोरै।

११६. तौल् या तोल् (तोलना) = सं० तुट्, दशम वर्ग—तोलयति या प्रथम वर्ग में—तोलति, प्रा० तोलेइ या तोलइ (त्रिविक्रम, २,४६७) हि० तोलै या तौलै।

११७. थम्म या थम्ह (be arrested, be supported) = सं० स्तंभ, प्रथम वर्ग स्तम्भते, प्रा० थम्मइ, हि० थम्मै या थम्है।

११८. थाम् या थाम्ह् या थाम्व् या थाँभ् (Stop) = सं० स्थंम् (be firm) प्रेरणार्थक स्थम्यभति, प्रा० थंभेइ, या छठवें वर्ग में थंभइ, या हि० थाँमै।

११९. थोप (ढेर) = सं० स्तूप, चतुर्थ वर्ग—स्तूप्यति, प्रा० थुप्पइ, हि० थोपै।

१२०. दब् (be pressed down) = सं० दम्, कर्मवाच्य दम्यते, प्रा० दम्मइ या दब्बइ, हि० दबै।

१२१. दल् (Split) = सं० दल्, प्रथम वर्ग-दलति, प्रा० दलइ (हेमचन्द्र ४, १७६) हि० दलै।

१२२. दह् (जलाना) = सं० दह्, प्रथम वर्ग—दहति, प्रा० दहइ (पिंगल, डा० राजेन्द्र लाल मित्रा द्वारा उद्धृत पृ०. ११३, हेमचन्द्र २,२१८—में 'डहइ' किन्तु-डह् धातु हिन्दी में नहीं है, हि० दहै।

१२३. दार् (Split) = सं० द्र, प्रेरणार्थक-दाहयति, प्रा० दारेइ या छठवें वर्ग में दारइ, हि० दारै।

---

२. सम्भवतः डाँस का ही एक रूपान्तर है!

१२४. दाह् (जलाना) = सं० दह्, प्रेरणार्थक दाहयति, प्रा० दाहेइ या छठवें वर्ग में दाहइ, हि० दाहै ।

१२५. दिस् (दिखाता) = सं० दिश्, छठवें वर्ग में—दिशति, प्रा० दिसइ, हि० दिसै ।

१२६. दिस् या दीस् (प्रकट होना) = सं० दृश्, कर्मवाच्य दृश्यते, प्रा० दिस्सइ या दीसइ (हेमचन्द्र ३,१६१) हि० दिसै या दीसै ।

१२७. दे (देना) = सं० दा, कर्मवाच्य दीयते, प्रा० देइ (Cowell's Edn. of प्राकृत प्रकाश, पृ० ९९, हेमचन्द्र ४,२३८) हि० देय या दे । सम्भवत: छठवें वर्ग में दइ (सप्तशतक ५,२१६) हि० deest.

१२८. देख् (देखना) = सं० दृश् भविष्य द्रक्ष्यति (वर्तमान के भाव में प्रयुक्त) प्रा० देक्खइ (हेमचन्द्र ४, १८१) हि० देखै ।

१२९. धर् (रखना, पकड़ना) = सं० धृ, प्रथम वर्ग धरति या धरते, प्रा० धरइ (हेमचन्द्र, ४, २३४) हि० धरै ।

१३०. धंस् या धस् (डूबना, घुसना) = सं० ध्वंस्, प्रथम वर्ग—ध्वंसते, प्रा० धंसइ या धसइ (पिंगल, राजेन्द्रलाल मित्रा, पृ० ११८ में 'धावति' का स्थानापन्न बताया गया है) हि० धंसै, धसै ।

१३१. धार् (hold) = सं० धृ, प्रेरणार्थक धारयति, प्रा० धरेइ या छठवाँ वर्ग-धरइ, हि० धरै ।

१३२. धो (धोना) = सं० धाव्, प्रथम वर्ग-धावति, (या धू, छठवाँ वर्ग-धुवति) प्रा० धोअइ Delius : Radices Pracriticae, पृ० ७८) या धोवइया धुअइ (सप्तशतक, ५, १३३, २८३) या धुवइ (हेमचन्द्र ४, २३८) हि० धोए या धोवै ।

१३३. नट् (नाचना) = इसकी व्याख्या यौगिक धातुओं में देखिए ।

१३४. नव् या नौ (bend, bow) सं० नम्, प्रथम वर्ग-नमति, प्रा० नमइ (देखो-हेमचन्द्र १, १८३ नमिम) या नवइ (हेमचन्द्र, ४, २२६) हि० नवै, नौए ।

१३५. नवाव या निवाव (bend, fold) सं० नम्, प्रेरणार्थक नमयति, प्रा० नवावेइ या छठवाँ वर्ग-नवावइ, हि० नवावै या निवावै ।

१३६. नहा (नहाना) = सं० स्ना, द्वितीय वर्ग-स्नाति, प्रा० चतुर्थ वर्ग ण्हाअइ (Delius : Radices Pracriticae, पृ० २०) या (संकुचित) ण्हाइ (हेमचन्द्र ४, १४) हि० नहाय ।

१३७. नाच् (dance) = सं० नृत्, चतुर्थ वर्ग, नृत्यति, प्रा० नच्चइ (वररुचि ८, ४७; हेमचन्द्र ४, २२५) हि० नाचै ।

१३८. निकाल् या निकार् (बाहर खींचना) = देखि यौगिक धातुएं ।

१३९. निकास् = सं० निस्-कस्, प्रेरणार्थक-निष्कासयति, प्रा० निक्कासेइ या छठवें वर्ग में निक्कासइ, हि० निकासै ।

१४०. निखोड़् या निखोर् (Peel) देखिये यौगिक धातुएँ।

१४१. निखर् (साफ़) = सं० नि-क्षर्, प्रथम वर्ग निक्षरति, प्रा० निक्खरइ हि० निखरै।

१४२. निखार्—(Clean, peel) = सं० निक्षर (या नि-क्षल्) प्रेरणार्थक निक्षारयति; प्रा० निक्खारेइ या छठवें वर्ग में निक्खारइ, हि० निखारै।

१४३. निगल–(Swallow)—इसकी व्याख्या यौगिक धातुओं के साथ है।

१४४. निथार[1] (साफ़ करना) = सं० निस्थल, प्रेरणार्थ-निस्थलयति, प्रा० नित्थालेइ या छठवें वर्ग में-नित्थालइ, हि० निथारै।

१४५. निबड़् (अलग होना, निर्णय होना, पूर्ण होना) = सं० निर्-वट् (विभाजित करना), दशमवर्ग निर्वटयति, प्रा० निव्वडेइ या निव्वडइ (हेमचन्द्र, ४, ६२ जहां इसका अर्थ पृथक बताया गया है, स्पष्टो वा भवति) हि० निबड़ै।

१४६. निबाह् (Accomplish) = सं० निस्-वह, प्रेरणार्थक-निर्वाहयति, प्रा० निव्वाहेइ या छठवाँ वर्ग-निव्वाहइ, हि० निबाहै या निभाय (महाप्राणत्व की अदला-बदली हो गई)।

१४७. निबाड़् (पृथक आदि) = सं० निर्-वट् (बाँटना), प्रेरणार्थक-निर्वाटयति, प्रा०निव्वाडेइ, हि० निवड़ै।

१४८. निबेड़ (पृथक आदि) = सं० निर्-वंड, प्रथम वर्ग-निर्वंडते, प्रा निव्वंडइ, हि० निबेड़ै, यह (१४७) का एक दूसरा रूप है।

१४९. निवार् (hinder) = सं० नि-वृ, प्रेरणार्थक निवारयति, प्रा० निवारेइ (हेमचन्द्र, ४, २२) या छठवां वर्ग-निवारइ, हि० निवारै।

१५०. निसर् (निकलना) = सं० निस्-सृ, प्रथम वर्ग-निस्सरति, प्रा० निस्सरइ (राजेन्द्रलाल मित्रा, पृ० १०७) या नीसरइ (हेमचन्द्र, १, ६३, ४, ७६) हि० निसर।

१५१. नोच् (pinch) = सं० निकुंच, छठवां वर्ग-निकुंचति, प्रा० निउंचइ, हि० नोचै (इ+उ) का 'ओ' हो गया।

१५२. पच् (हजम होना) = सं० पच्, कर्मवाच्य-पच्यते, प्रा० पच्चइ, हि० पचै।

१५३. पठाव् (भेजना) = सं० प्र-स्था; प्रेरणार्थक प्रस्थापयति; प्रा० पट्ठावेइ, या छठवाँ वर्ग पट्ठावइ (हेमचन्द्र ४, ३७) हि० पठावै।

१५४. पड़् या पर (गिरना) = सं० पत्, प्रथम वर्ग पतति; प्रा० पडइ (वररुचि ८, ५१) प० हि० पड़ै; पू० हि० परै।

१५५. पढ़् (पढ़ना) = सं० पठ, प्रथम वर्ग पठति; प्रा० पढइ (हेमचन्द्र १, १९९, हि० पढ़ै।

१५६. परख् या परक् (परीक्षा करना) = सं० परि-ईक्ष, प्रथम वर्ग-परीक्षते; प्रा० परिक्खइ, हि० परखै (इस शब्द का एक गौण अर्थ अभ्यस्त होना और है)।

१५७. परच् (जान पूछ होना) = सं० परि-चि, प्रा० छठवाँ वर्ग-परिच्चइ, हि० परचै।

---

१. यह शब्द जल के संबंध में प्रयुक्त होता है। वह पानी जो निथर जाता है।

१५८. पला या परा (भाग जाना) = सं० पलाय, प्रथम वर्ग पलायते, प्रा० पलाग्रइ या संकुचित पलाइ, हि० पलाय् या पराय्।

१५६. परिहर् (छोड़ना) = सं० परि-हृ; प्रथम वर्ग-परिहरति; प्रा० परिहरइ (हेमचन्द्र ४, २५६) हि० परिहरै।

१६०. परोस् (खाना देना) सं० परि-विष्, प्रेरणार्थक-परिवेषयति, प्रा० परिवेसइ या छठवाँ वर्ग-परिवेसइ, हि० परोसै (ओ इवे)

१६१. पसर् (फैला हुआ) = सं० प्र-सृ, प्रथम वर्ग-प्रसरति, प्रा० पसरइ (हेमचन्द्र ४,७७) हि० पसरै।

१६२. पसार् (फैलाना) = सं० प्र० सृ, प्रेरणार्थक, प्रसारयति, प्रा० पसारेइ या छठवें वर्ग में पसारइ, हि० पसारै।

१६३. पसीज् (Perspire) = सं० प्र—स्विद्, चतुर्थ वर्ग-प्रस्विद्यति; प्रा० पसिज्जइ (हेमचन्द्र ४,२२४) हि० पसीजै।

१६४. पसूज् (Stitch) = सं० प्रसिव्, चतुर्थ वर्ग—प्रसीव्यति, प्रा० पसुज्जइ (सम्भवत: 'पसि विज्जइ' का संकुचित रूप) हि० पसूजै।

१६५. पहिनाव् या पिहनाव (पहनाना) = सं० पि-नह, प्रेरणार्थक-पिनाहयति; पिनहावेइ; या छठवां वर्ग पिनहावइ, हि० पिहनावै (न तथा ह का विपर्यय हो गया) या पहिनावै (इ और 'अ' का विपर्यय)।

१६६. पहिर् (पहनना) = सं० परि-धा; कर्मवाच्य-परिधीयते, प्रा० परिधेइ या परिधइ या परिहइ, हि० पहिरै (र और ह का विपर्यय)।

१६७. पहिराव् (पहनाना) = सं० परिधा, प्रेरणार्थक-परिधापयति, प्रा० परिधावेइ या छठवां वर्ग—परिधावइ या परिहावइ, हि० पहिराव (र और ह का विपर्यय)।

१६८. पहुँच् (पहुँचना) = सं० प्र-भू; प्रथम वर्ग प्रभवति, प्रा० पहुच्छइ या पहूच्चइ (हेमचन्द्र ४,३६०) हि० पहूछै, पहूचै, पहुँचै[1]।

१६६. पाड़् (let fall) = सं० पत्; प्रेरणार्थक पातयति; प्रा० पाडेइ (हेमचन्द्र ४२२) या छठवें वर्ग में—पाडइ (हेमचन्द्र, तीन, १५३) हि० पाड़ै।

१७० पार् (Accomplish) = सं० पृ; प्रेरणार्थक- पारयति! प्रा० पारेइ; या छठवें वर्ग में पारइ (हेमचन्द्र, ४८६) हि० पारै।

१७१. पाल् (पालना) = सं० पा; प्रेरणार्थक-पालयति; प्रा० पालेइ या छठवें वर्ग में पालइ हि० पालै।

१७२. पाव् (प्राप्त करना) = सं० प्र—आप्; पंचम वर्ग प्राप्नोति; प्रा छठवाँ वर्ग—पावइ (हेमचन्द ४,२३६) हि० पावै।

---

१. इसका निर्माण निरर्थक प्रत्यय 'स्क्' के आधार से हुआ है। केवल इसी शब्द में 'स्क' 'च्छ' में परिवर्तित हो जाता है और पीछे महाप्राणत्व का लोप हो जाता है।

१७३. पिघल् (पिघलाना) = सं० अपि या, पि-गल्, प्रथम वर्ग; अपिगलति, प्रा० पिगलइ, हि० पिघलै ।

१७४. पी (पीना) = सं० पा, प्रथम वर्ग पिबति, प्रा० पिअइ (हेमचन्द्र, ४१०) हि० पीयै ।

१७५. पीच् (कुचलना) = सं० पिष्, भविष्य-पेक्ष्यति (वर्तमान के भाव के साथ), प्रा० पेच्छइ हि० पीचै '(छ' के महाप्राणत्व का लोप हो गया ।)

१७६. पीड़् (कष्ट होना) = सं० पीड्, प्रथमवर्ग पीडते, प्रा० पीडइ, हि० पीड़ै ।

१७७. पीस् (grind) = सं० पिष्; सप्तम वर्ग-पिनष्टि, प्रा० दशमवर्ग, पिंसेइ, (हेमचन्द्र ४,१८५) हि० पीसै ।

१७८. पुराव् (Fill, thread) = सं० पृ, प्रेरणार्थक-पूरयति, प्रा० पुरावेइ या छठवें वर्ग में-पुरावइ, हि० पुरावै (या प० हि० मे पिरावै भी मिलता है)

१७९. पूछ् (पूछना) = सं० प्रछ्, छठवाँ वर्ग-पृच्छति, प्रा० पुच्छइ (हेमचन्द्र, ४,९७) हि० पूछै ।

१८०. पूंछ या पोंछ (wipe) = सं० प्र—उंछ, प्रथम तथा छठवें वर्ग में —प्रोञ्छति, प्रा पोंछइ या पुंछइ (हेमचन्द्र, ४,१०५) हि० पोंछै या पूँछै ।

१८१. पूज् (पूजना) = सं० पूज्, दशम वर्ग किन्तु प्रथम वर्ग में भी पूजति प्रा० पूजइ, हि० पूजै ।

१८२. पइर् या पैर् (तैरना) = सं० प्रतृ, प्रथम वर्ग–प्रतरति या छठवें वर्ग—प्रतिरति, प्रा पइरइ, पूर्वी हि० पइरै, प० हि० पैरै ।

१८३. पइस् या पैस् (घुसना) = सं० प्र-विश्, छठवें वर्ग में-प्रविशति प्रा० पविसइ (हेमचन्द्र ४, १८३) या पइसइ, हि० पइसै या पैसै ।

१८४. पेल् (Squeeze out, Shove) = सं० पीड़्, प्रथम वर्ग-पीडते, प्रा० पेल्लइ (हेमचन्द्र ४,१८३) हि० पेलै (सम्भवत: पिष्ट, पेड्ड, पेल्ह, पेल्ल आदिकी नाम धातु (Denomi native) हो ।

१८५. पोस् (पोषण) = सं० पुष्, प्रथम वर्ग-पोषति, प्रा० पोसइ, हि० पोसै ।

१८६. फट् या फाट् (burst) = सं० स्फट्, कर्मवाच्य स्फट्यते, प्रा० फट्टइ हि० फाटै, या फटै ।

१८७. फल् (bear fruit) = सं० फल्, प्र० वर्ग—फलति, प्रा० फलइ (सप्त-शतक१७) हि० फलै (यह धातु स्फट् तथा पट् से संबंधित है)

१८८. फंस् या फाँस (फसना) = सं० स्पृश्, छटवाँ वर्ग—स्पृशति, प्रा० फंसइ या फासइ (हेमचन्द्र ४,१८२, सम्भवत: फंस और फांस = स्पर्श की नामधातु, वररुचि ४,१५, हेमचन्द्र, २,९२) हि० फंसै या फांसै ।[1]

---

१. यह धातु सकर्मक रूप में भी प्रयुक्त होती है, जाल में फँसाना या धोखा देना, देखिए—हेमचन्द्र ४,१२९ जहां फंसइ, विसंवदति का स्थानापन्न कहा गया है ।

१८६. फाड़् (Cleave) = सं० स्फट्, दशम वर्ग—स्फाटयति, प्रा० फाडेइ, या छटवें वर्ग में फाडइ (हेमचन्द्र १,१६८·२३२) हि० फाड़ै । हेमचन्द्र इसका संबंध 'पट्' धातु से जोड़ता है जिसका दशम वर्ग—पाटयति होता है ।

१६०. फांद् (Jump) = सं० स्पंद, प्रेरणार्थक-स्पंदयति, प्रा० फंदेइ या छठवें वर्ग में फंदइ, हि० फांदै । (यह फँसाने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, सकर्मक रूप में भी प्रयोग होता है । इसकी व्याख्या यौगिक धातुओं के साथ भी की गई है । इस धातु का मूल अर्थ हिलाना है । हेमचन्द्र 'फंदइ' को इसी मूल अर्थ में प्रयोग करता दीखता है (हेमचन्द्र, ४,१२७) इसका संस्कृत रूप 'स्पंदते' है । हेमचन्द्र इसका पर्यायवाची 'चुलचुलइ' भी देता है । इसका प्रयोग भी हिन्दी में, चुलचुलै, चुलबुलै, चुलमुलै, चुलचुलावै, आदि रूपों में अब भी है ।

१६१. फाल् (कूदना) = सं० स्फल् (हिलाना) प्रेरणार्थक—स्फालयति, प्रा० फालेइ, या छठवें वर्ग में—फालइ, हि० फालै सम्भवतः यह धातु नं० १८६ से संबँधित है (हेमचन्द्र ४,१६८ में इसे 'फाड्इ' का दूसरा रूप फालेइ मानते हैं ।

१६२. फिट् (be paid off, be discharged) = सं० स्फिट्, दशम वर्ग, स्फिट्टयति, प्रा० फिट्टइ (हेमचन्द्र ४,१७७, यह 'भ्रंश' से संबंधित बताया गया है) हि० फिटै ।

१६३. फुट्, फूट् (बढ़ना, टूटना, तितर बितर होना) = सं० स्फुट, कर्मवाच्य—स्फुट्यते, प्रा० फुट्टइ (वररुचि, ८,५३, हेमचन्द्र ४,१७७, जहां यह भ्रंश का स्थानापन्न बताया गया है, जिसका अर्थ 'टूटता हुआ' है, हि० फुटै या फूटै (इसके संबंध में धातु नं० १६४ देखिए)

१६४. फुल् व फूल् (blossom) = सं० स्फुट, छठवां वर्ग—स्फुटति, प्रा० फुट्टइ या फुडइ (वररुचि ८,५३) या फुल्लइ (हेमचन्द्र ४,३८७) हि० फुलै या फूलै ।

१६५. फेर् या फिर् (घुमाना) सं० परि + इ, द्वितोय वर्ग पयति, प्रा० फेरेइ या फेरइ ('प' 'फ' के रूप में परिवर्तित हो गया, 'अर्य' 'एर' में बदल गया, जैसे पर्यंतः का पेरंतो होता है) हि० फेरै ।

१६६. फैल् (Spread) = सं० स्फिट, दशम वर्ग—स्फेटयति, प्रा० फेडेइ, या छटवां वर्ग—फेडइ (हेमचन्द्र ४,३५८, हेमचन्द्र ४,१७७) ने 'फिडइ' को 'भ्रंश' का स्थानापन्न माना है) या फेलइ सं० धातु फेल्) हि० फैलै

१६७. फो (खोलना) = सं० प्र-मुच्, छठवां वर्ग - प्रमुञ्चति, प्रा० पमुअइ (हेमचन्द्र, ४,६१) हि० फोऐ पोऐ = पउए)

१६८. फोड़् (तोड़ना) सं० स्फुट्, प्रेरणार्थक—स्फोट्यति, प्रा० फोडेइ, (हेमचन्द्र ४,३५०) या छटवां वर्ग—फोडइ, हि० फोड़ै

१६६. बच् (go away) सं० व्रज्, प्रथम् वर्ग—व्रजति, प्रा० वच्चइ, (वररुचि ८,४७) हि० बचै । (अधिक संभावना 'बच' धातु से संबंधित होने की है) अथवा यह कर्मवाच्य वृत्यते (सं० धातु वृत्) से है ।

२००. बज्, बाज् (ध्वनि) = सं० वद्, प्रेरणार्थक कर्मवाच्य--वाद्यते, प्रा० बज्जइ (हेमचन्द्र ४,४०६) हि० बजै या बाजै ।

२०१. बझ् (फंसना) = सं० बंध्, कर्मवाच्य--बध्यते, प्रा० बज्झइ (हेमचन्द्र २, २६ २४७, हि० बझै ।

२०२. बट् (बटना या बांटना) = सं० वट्, कर्मवाच्य— वट्यते, प्रा० वट्टइ, हि० बटै ।

२०३. बढ़् (पूर्वी हि० वाढ़्) = बढ़ना, सं० वृध्, प्रथम वर्ग—वर्द्धते, प्रा० वड्ढइ (वररुचि ८,४४) हि० बढ़ै, पूर्वी हि० बाढ़ै ।

२०४. बढ़ाव् (बढ़ाना) = सं० वृध्, प्रेरणार्थक वर्धयति, प्रा० वड्ढावेइ या छठवाँ वर्ग, वड्ढावइ, हि० बढ़ावै (त्रिविक्रम ३,१/१३२, में वड्ढाविग्रं = समापति है)

२०५. बताव् (कहना, दिखाना) = सं० वृत, प्रेरणार्थक वर्त्तयति, प्रा० वत्तावेइ, छठवां वर्ग—वत्तावइ, हि० बतावै ।

२०६. बध् (मारना) = सं० बध या (बाध्, प्रथम वर्ग -- बाधते) प्रा० बधइ, हि० बधै ।

२०७. बन् (be made) = सं० वन, कर्मवाच्य—वन्यते, प्रा० बणय, हिन्दी बनै

२०८. बर् (शादी करना) = सं० वृ, पंचम वर्ग—वृणोति, प्रथम वर्ग में वरति भी, प्रा०— वरइ (वररुचि ८,१२) हि० बरै ।

२०९. बरिस् या बरस् = सं० वृष्, प्रथम वर्ग---वर्षति, प्रा० वरिसइ (वररुचि ८,११) पूर्वी हि० बरिसै, प० हि० बरसै ।

२१०. बल् (जलना) = सं० ज्वल, प्रथमवर्ग-ज्वलति, प्रा० वलइ (हेमचन्द्र ४,४१६-वलंति) हि० बलै ।

२११. बस् (dwell) = सं० वस्, प्रथमवर्ग-वसति, प्रा० वसइ, हि० बसै ।

२१२. बह् (बहना) = सं० वह्, प्रथमवर्ग-वहति, प्रा० बहइ (हेमचन्द्र १,३८) हि० बहै ।

२१३. बाँच् (Recite, read) इसकी व्याख्या यौगिक धातुओं में देखिए

२१४. बांछ् (इच्छा करना) = सं० वाँछ्, नवम वर्ग-वांछति, प्रा वाँछइ (त्रिविक्रम, ३,१,१३३) हि० बाँछ ।

२१५. बाँध् (बाँधना) = सं० बंध्, नवमवर्ग-बन्धाति, प्रा० छठवाँ वर्ग-बंधइ (हेमचन्द्र १,१८७ हि० बाँधै ।

२१६. बाल् या बार् (जलाना Kindle) = सं० ज्वल्, प्रेरणार्थक-ज्वालयति, प्रा० वालेइ या वालइ, प० हि० बालै पूर्वी हि० बारै ।

२१७. बास् (सुगंधि) = सं० वास्, दशमवर्ग-वासयति, प्रा० बासेइ, या छटवां वर्ग-वासइ, हि० बासै ।

२१८. बिक् (विक्री) सं० = वि + क्री (बेचना) प्रेरणार्थक-विक्रीयते, प्रा०विक्केइ या विक्कइ, हि० बिकै ।

२१९. बिगड् या पूर्वी हि० बिगर् = सं० वि-घट्, प्रथमवर्ग-विघटते, प्रा० विगढइ (हेमचन्द्र ४,११२) हि० बिगड़ै या बिगढ़ै ।

२२०. बिगाड़् (नष्ट करना) सं० वि-घट्, प्रेरणार्थक-विघाटयति, प्रा० विगाढेइया छठवांवर्ग विगाढइ, हि० बिगाड़ै ।

२२१. विचार्-(सोचना) सं० वि-चर्, प्रेरणार्थक-विचारयति, प्रा० विचारेइ या (छठवां वर्ग) विचारइ, हि० बिचारै ।

२२२. बिडर् (बिखरना)=सं० वि-दृ, नवमवर्ग-विदृणाति, प्रा० प्रथम वर्ग विडरइ, हि० विडरै ।

२२३. बिडार् (दूर हटाना)=सं० वि-दृ, प्रेरणार्थक-विदारयति, प्रा० विडारेइ या (छठवाँवर्ग विडारइ, हि० बिडारै ।

२२४. बितर् (Grant)=सं० वि-तृ, प्रथमवर्ग-वितरति, प्रा० वितरइ, हि० बितरै ।

२२५. बिथार् (फैलाना)=सं० वि-स्त, प्रेरणार्थक-विस्तारयति, प्रा० वित्थारेइ या (छठवाँ वर्ग) वित्थारइ, हि० बिथारै ।

२२६. बिराव् (Mock)=इसकी व्याख्या यौगिक धातुओं में देखिए ।

२२७. बिलख् या बि-लक्=सं० वि-लक्ष्, दशमवर्ग-विलक्षयति, प्रा० विलक्खेइ या (छठवां वर्ग) विलक्खइ, हि० बिलखै या बिलकै ।

२२८. बिलग् (अलग)=सं० वि-लग्, कर्मवाच्य-विलग्यते (कर्तृवाच्य के भाव सहित) प्रा० विलग्गइ (वररुचि ८,५२) हि० बिलगै ।

२२९. बिलंग (Ascend)=सं० वि-लंघ्, प्रथमवर्ग-विलंघति, प्रा० विलंघइ, हि० बिलंगै (बिलंघै के स्थान पर)

२३०. बिलस् (प्रसन्न होना), सं० वि-लस्, प्र० वर्ग-विलसति, प्रथम विलसइ, हि० बिलसै ।

२३१. बिलव् (अन्तर्धान हो जाना) सं०=वि-ली, प्रेरणार्थक-विलापयति, प्रा० विलावेइ या (छठवां वर्ग) विलावइ, हि० बिलावै ।

२३२. बिहर् (enjoy one' S self)=सं० वि-हृ, प्रथमवर्ग-विहरति, प्रा० विहरइ, (हेमचन्द्र ४,२५९, यहाँ यह सं० क्रीडति का स्थानापन्न बताया गया है) हि० बिहरै ।

२३३. बिहाय् या बिहा (छोड़ना)=सं० वि-हा, तृतीयवर्ग-विजहाति प्रा० प्रथमवर्ग-विहाअइ या विहायइ या (संकुचित) विहाय, हि० बिहायै या बिहाय (वररुचि ८,२६)

२३४. बिसर (भूलना)=सं० विस्मृ, प्रथमवर्ग-विस्मरति, प्रा० बिसरइ (हेमचन्द्र ४,७४) हि० बिसरै ।

२३५. बीझ (फाड़ना, तोड़ना)=सं० भिद्, कर्मवाच्य-भिद्यते (कर्तृवाच्य के भाव सहित प्रयुक्त) प्रा० भिज्जइ, हि० बीझै (भीजै के स्थान पर)

२३६. बीत (गुजरना) देखिए यौगिक धातुएँ ।

२३७. बीन् या बिन् (चुनना) सं० व्री, नवमवर्ग-व्रीणाति या विणाति, प्रा० (छठवां वर्ग) वीणइ या विणइ, हि० बीनै या बिनै ।

२३८. वुझ् (बुझना) = सं० वि-अव-क्षै, प्रथमवर्ग-व्यवक्षायति, प्रा० बोज्झेइ, या बोज्झइ, हि० बुझै ।

२३९. बुड़, बूढ़ (डूबना) = सं० ब्रुड, छठवां वर्ग ब्रुडति, प्रा० बुड्डइ (हेमचन्द्र ४,१०१) हि० बुड़ै या बूड़ै या प० हि० डुबै, डूबै ।

२४०. बुत् (बुझना) = सं० वि-आ-वृत् (समाप्त होना) प्रथम वर्ग-व्यावर्तते, प्रा० वावत्तइ या वोतइ या वुत्तइ, हि० बुतै या वत्ती ।

२४१. बुहार् (झाड़ना) = सं० वि-अव-हृ, प्रेरणार्थक- व्यवहारयति, प्रा० वोहारेइ या छठवां वर्ग, वोहारइ, हि० बुहारै ।

२४२. बूझ् (समझना) = सं० बुध, चतुर्थवर्ग, बुध्यते, प्रा० बुज्झइ (वररुचि, ८,४८) हि० बूझै ।

२४३. बेच (बेचना) = सं० व्यच (धोखा देना) छठवां वर्ग-विचति, कर्मवाच्य व्यच्यते (कर्तृवाच्य भाव सहित प्रयुक्त) प्रा० वेच्चइ, (हेमचन्द्र ४,४१९, त्रिविक्रम ३-३.४) पू० हि० बेच या इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार भी हो सकती है— सं० वि + अति + इ (व्यय करना) द्वितीय वर्ग-व्यत्येति, प्रा० वेच्चेइ या वेच्चइ ?

२४४. बेढ़ (घेरना) यौगिक धातुएँ देखिए ।

२४५. बैस या बइस (बैठना) = सं० उपविश, छठवां वर्ग-उपविशाति, प्रा० उववि‍सइ, हि० बइसै या बैसै ।

२४६. बो (बोना) = सं० वप्, प्रथमवर्ग-वपति, प्रा० वोवइ या वोअइ, हि० बोए ।

२४७. बोड़् (Immerse) = सं० ब्रुड, प्रेरणार्थक-ब्रोडयति, प्रा० बोडेइ या (छठवां वर्ग) बोडइ हि० बोड़ै ।

२४८. बोलाव् या बुलाव् या बलाव् (बुलाना) = सं० वद्, प्रेरणार्थक- वादयति, प्रा० बोल्लावेइ या (छठवां वर्ग) वोल्लावइ हि० बोलावै ।

२४९. बोध् (wheedle) सं० बुध्, प्रेरणार्थक-बोधयति; प्रा० बोधेइ या (छठवाँ वर्ग बोधइ, हि० बोधै ।

२५०. बोल् (बोलना) = सं० वद्, प्रथम वर्ग, वदति; प्रा० वोल्लइ (हेमचन्द्र ४,२) या बोलइ (Cowell' s Edition of प्राकृत-प्रकाश, ९९) हि० बोलै ।
(of सं० २४५ वप् = वोव्, वद् = वोल्) ।

२५१. भख् (खाना) = सं० भक्ष; प्र० वर्ग भक्षति; प्रा० भक्खइ; हि० भखै ।

२५२. भज् (पूजा करना) = सं०—भज्, प्रथम वर्ग भजति; प्रा० भजइ; हि० भजै ।

२५३. भज् या भाज् (भागना) = सं० भंज् (तोड़ना) कर्मवाच्य-भज्यते (कर्तृवाच्य भाव सहित) प्रा० भज्जइ; हि० भजै या भाजै ।

२५४. भंज् (तोड़ना) = सं० भंज्, सप्तम वर्ग—भनक्ति प्रा० छठवां वर्ग—भंजइ (हेमचन्द्र, ४,१०६) हि० भंजै ।

२५५. भन् (बोलना) = सं० भण्; प्रथम वर्ग-भणति; प्रा० भणइ; (हेमचन्द्र ४,२३९) हि० भनै ।

२५६. भर् (भरना) = सं० भृ; तृतीय वर्ग–बिभर्ति तथा प्रथम वर्ग भरति, प्रा० भरइ (सप्तशतक-हाल २८८ भरंति) हि० भरै।

२५७. भव् या भौ (चक्कर खाना) = सं० भ्रम्, प्र० वर्ग-भ्रमति, प्रा० भमइ, (हेमचन्द्र ४,१६१) या भवइ (हेमचन्द्र ४,४०१) हि० भवै, या भांए।

२५८. भंस् (तैरना) = सं० भ्रंश, प्रथम वर्ग-भ्रंशति, प्रा० भंसइ, हि० भंसै।

१५९. भाल् (देखना) = सं० भल्, दशमवर्ग-भालयते, प्रा० भालेइ, या छठवां वर्ग-भालइ हि० भालै।

२६०. भास् (प्रतीत होना) = सं० भास्, प्रथम वर्ग — भासते, प्रा० भासइ (हेमचन्द्र ४,२०३) हि० भासै। (प्राकृत में भिसइ भी मिलता है, हिन्दी में इसका रूप भिसल् है)

२६१. भीज् (be affected) = सं० भिद् (तोड़ना) कर्मवाच्य—भिद्यते, प्रा० भिज्जइ, हि० भीजै। अथवा—सं अभि-अर्द, कर्मवाच्य अभ्यर्द्यते, प्रा० अभिज्जइ, हि० भीजै।

२६२. भीज् (be wet) — देखिए यौगिक धातुएं।

२६३. भुंज् (खाना) = सं० भुज्, सप्तमवर्ग—भुनक्ति प्रा० छठवां वर्ग—भुंजइ (हेमचन्द्र ४,११०) हि० भुंजै।

२६४. भून् (भूनना) — देखिए यौगिक धातुएं।

२६५. भेड़ (बन्दकरना) = बेढ़ के स्थान पर। देखिए २४४।

२६६. भेट (मिलना) = सं० अभि—अट्, प्रथमवर्ग—अभ्यटति, प्रा० अब्यट्टइ, हि० भेटै (आरंभिक 'अ' का लोप हो गया 'इ' के स्थान पर 'ए' आ गया।

२६७. मच् (उठना, उत्तेजित होना) = सं० मंच् या मच् कर्मवाच्य—मच्यते, प्रा० मच्चइ (हेमचन्द्र ४,२३०, जहां इसका संबंध संस्कृत धातु 'मद्' से जोड़ा गया है) हि० मचै। इस धातु से अनेक हिन्दी संज्ञाओं का जन्म हुआ है, जिनका अर्थ 'उठे हुए' के भाव में है। जसे माचा, मचा, मचाव, या मचाला (बड़ा पलंग या रंगमंच) मचिया—(छोटी खाट) मच् (सुस्ती) इस से अनेक यौगिक धातुओं का भी जन्म हुआ है जैसे 'मचमच्' (खाट के जोड़ों की ध्वनि) मचक् (जोड़ों का दर्द) मचकाव् (पलक मारना) मचल्, या मचलाव्।

२६८. मंज् (साफ़ करना) = सं० मृज, द्वितीय वर्ग—मार्ष्टि तथा प्रथम वर्ग—मृंजति, प्रा० मंजइ, हि० मंजै।

२६९. मढ़, (cover) = सं० मृद्—देखिए यौगिक धातुएं।

२७०. मन् (be propitiated) = सं० मन्, प्रेरणार्थक कर्मवाच्य, मान्यते, प्रा० मन्नइ हि० मनै (देखिए २७७)।

२७१. मर् (मरना) = सं० मृ, छठवां वर्ग—म्रियते, वैदिक प्रथम वर्ग—मरति, प्रा० मरइ (वररुचि ८,१२) हि० मरै।

२७२. मल् (रगड़ना) = सं० मृद, नवम वर्ग—मृद्नाति, प्रा० छठवाँ वर्ग—मलइ (वररुचि ८,५०) हि० मलै।

२७३ मह् (विलोना) = सं० मथ्, प्रथम वर्ग—मथति, प्रा० महइ, हि० महै।

२७४. मांग (मांगना) = सं० मार्ग्, दशम वर्ग—मार्गयति तथा प्रथम वर्ग—मार्गति, प्रा० मग्गइ (सप्तशतक-७१) हि० मांगै (cp सं० धातु मृग्, चतुर्थ वर्ग—मृग्यति, प्रा० मग्गइ, किन्तु नाम धातु 'मार्ग' अधिक सम्भव मूल है।

२७५. मांज (Scour) = सं० मार्ज्, दशम वर्ग—मार्जयति (या धातु मृज् दशम वर्ग—मार्जयति, देखिए २७४) प्रा० मंजेइ या छठवां वर्ग मंजइ, हि० मांजै।

२७६. मांड् या माड् (रगड़ना) = सं० मृद्, नवम वर्ग—मृद्नाति, या प्रथम वर्ग—मर्दति, प्रा० मड्डइ (हेमचन्द्र ४,१२६) हि० माडै or मांड़ै।

२७७. मान् (आदर) = सं० मन्, प्रेरणार्थक—मानयति, प्रा० मानेइ, या छठवां वर्ग—मानइ, हि० मानै।

२७८. माप् or नाप् (नापना) सं० मा, प्रेरणार्थक कर्मवाच्य माप्यते (प्रयोग कर्तृवाच्य के भाव सहित) प्रा० माप्पइ, हि० मापै। 'नाप' या तो 'माप्' का भ्रष्ट रूप है अथवा यह इसी प्रकार सं० प्रेरणार्थक कर्मवाच्य 'ज्ञाप्यते' (धातु-ज्ञा) से व्युत्पन्न हुआ है) प्रा० नप्पइ, हि० नापै।

२७९. मार् (पीटना या मारना) = सं० मृ, प्रेरणार्थक—मारयति, प्रा० मारिइ (हेमचन्द्र ४,३३७) या छठवां वर्ग—मारइ (हेमचन्द्र ३,१५३) हि० मारै।

२८०. मिल् (मिलना) = सं० मिल्, छठवां वर्ग—मिलति, प्रा० मिलइ (हेमचन्द्र ४,३३२) हि० मिलै।

२८१. मिस् (be pulverised) = सं० मृश्, छठवां वर्ग—मृशति, प्रा० मिसइ, हि० मिसै।

२८२. मीछ् या मीच् (पलक बन्द करना) = सं० मिष्, भविष्य—मेक्ष्यति (वर्तमान के भाव सहित) प्रा० मेच्छइ व मिच्छइ, हि० मीछै या (भ्रष्ट) मीचै (देखिए १७५)

२८३. मींज् या मीज (रगड़ना) = सँ० मृज्, द्वितीय वर्ग—मार्ष्टि या प्रथम वर्ग मृंजति प्रा० मिंजइ, हि० मींजै या मीजै।

२८४. मूंड् (Shave) —सं० मुंड्, प्रथम वर्ग—मुंडति, प्रा० मुंडइ (हेमचन्द्र ४,११५) हि० मूंडै।

२८५. मूस् (Steal) = सं० मूष्, प्रथम वर्ग—मूषति, प्रा० मूसइ (त्रिविन्क्रम २,४,६६) हि० मूसै।

२८६. मोह (Allure) = सं० मुह्, प्रेरणार्थक मोहयति, प्रा० मोहेइ या छठवां वर्ग—मोहइ, हि० मोहै।

२८७. रख् (Keep) = सं० रक्ष्, प्रथम वर्ग—रक्षति, प्रा० रक्खइ (हेमचन्द्र ४,४३९) हि० रखै।

२८८. रच् (अकर्मक बनाना) = सं० रच्, कर्मवाच्य रच्यते (कर्तृवाच्य भाव सहित) प्रा० रच्चइ, (हेमचंद्र ४,४२२,२३ रच्चसि सप्तशतक ३६३ रच्चिअ-रचित) हि० रचै।

२८९. रम् (घूमना)=सं० रम्, प्रथम वर्ग--रमते, प्रा० रमइ (हेमचन्द्र ४,१६८) हि० रमै।

२९०. रह् (Stop remain)=सं० रक्ष्, कर्मवाच्य-रक्ष्यते, प्रा० रक्खइ, हि० रहै (रखै के स्थान पर) इसकी व्युत्पत्ति कुछ संदेहपूर्ण है। बीम्स महोदय ने (III, ४०) इसका संबंध सं० धातु 'रह' से जोड़ा है, जिसका एक बिल्कुल ही भिन्न अर्थ रेगिस्तान है। 'रक्ष' से इसकी व्युत्पत्ति अधिक सम्भावित है। इसका समर्थक मराठी रूप राह=राख से होता है।

२९१. राज् (शोभित)=सं० रंज व रज् चतुर्थ वर्ग—रज्यति, प्रा० रज्जइ, हि० राजै।

२९२. रांध या रींध (Cook)=सं० रध्, प्रेरणार्थक—रन्धयति, प्रा० रंधेइ या छठवां वर्ग--रंधइ, हि० राँधै (भ्रष्ट) रींधै।

२९३. रिस् (क्रोधित होना)=सं० रिष्, चतुर्थ वर्ग या कर्मवाच्य--रिष्यते, प्रा० रिस्सइ, हि० रिसै।

२९४. रुच् (रुचि पूर्ण होना) = सं० रुच्, कर्मवाच्य-रुच्यते, प्रा० रुच्चइ, (हेमचन्द्र ४,३४१) हि० रुचै।

२९५. रुप् (be fixed)=सं० रूह्, प्रेरणार्थक कर्मवाच्य रोप्यते, प्रा० रोप्पइ या रूप्पइ, हि० रूपै।

२९६. रुस् या रूस (क्रोधित होना)=सं० रुष्, चतुर्थ वर्ग रुष्यति. प्रा० रुस्सइ, या रूसइ (वररुचि ,८,४६) हि० रूसै या रुसै। (देखिए-३०२)

२९७. रुंद् या रूंद या रोंद या रैंद (कुचलना)=सम्भवतः २९८ का भ्रष्ट रूप है।

२९८. रुंध, रूँध, रोंध, रोंध (Enclose restrain)=सं० रुध्, सप्तमवर्ग--रुणद्धि, प्रा० रुंधइ (वररुचि-८७४९) हि० रुंधै, रूंधै।

२९९. रेंग् (रेंगना)=सं० रिंग्, प्रथम वर्ग--रिंगति, प्रा० रिंगइ या रिंग्गइ, (हेमचन्द्र, ४,२५९) हि० रेंगै।

३००. रो (रोना)=सं० रुद्, द्वितीय वर्ग--रोदिति, वैदिक भी छठवां वर्ग रुदति, प्रा० रुवइ (हेमचन्द्र ४,२२६,२३८) या रुअइ (सप्तशतक ३११) या प्रथम वर्ग—रोवइ (हेमचन्द्र ४,२२६, २३८) या रोअइ (क्रमद ईश्वर, प्राकृत ग्रामर, (४,६९) हि० रोवै, रोऐ।

३०१. रोल् (roll. plan)=सं० लुल्, प्रथमवर्ग लोलति प्रा० लोलइ, हि० रोलै। इस प्रकार की अनेक धातुएँ हैं जो परस्पर सम्बद्ध हैं और जिनके अर्थ भी प्रायः समान हैं जैसे रुट्, रूड्, रोड्, रौडं, लुट, लुड्, लुल, लोड् आदि।

३०२. रोस (क्रोधित होना,=सं० रुष्, वैदिक प्रथमवर्ग—रोषति प्रा० रोसइ हि० रोसै (देखिए २९६ भी)

३०३. लख् (देखना)=सं० लक्ष् प्रथम वर्ग—लक्षते, प्रा० लक्खइ, हि० लखै।

३०४. लग् (be applied)=सं० लग्, कर्मवाच्य—लग्यते, प्रा० लग्गइ (वररुचि, ८,५२) हि० लगै।

३०५. लंघ् या लांघ् (लांघना) = सं० लंघ्, प्रथमवर्ग--लंघति, प्रा० लंघइ, हि० लंघै, लांघै।

३०६. लड़् या पू० हि० लर् (लड़ना) = सं० लड, दशमवर्ग--लडयति प्रा० लडेइ या लडइ, प० हि० लड़े, पू० हि० लरै।

३०७. लस् या लास (चमकना) = सं० लस्, प्रथमवर्ग लसति, या दशमवर्ग--लासयति, प्रा० लसइ या लासइ हि० लसै या लासै।

३०८. लह् (पाना, प्राप्त करना) = सं० लभ्, प्रथमवर्ग--लभते, प्रा० लहइ (हेमचन्द्र ४,३३५), हि० लहै।

३०९--लाज् (लज्जा करना) = सं० लज्ज्, प्रथमवर्ग--लज्जति, प्रा० लज्जइ (हेमचन्द्र ४,१०३) हि० लाजै।

३१०. लिख् (लिखना) = सं० लिख्, छठवांवर्ग--लिखति, प्रा० लिखइ, हि० लिखै। प्रा० की धातु 'लिह' (हेमचन्द्र १,१८७) हिन्दी में वही है।

३११. लिप् (be smeared) = सं० लिप्, कर्मवाच्य लिप्यते, प्रा० लिप्पइ, हि० लिपै।

३१२. लीप् या लेप् (smear) = सं० लिप्, छठवाँ वर्ग--लिम्पति, प्रा० लिंपइ (हेमचन्द्र ४, १४९) हि० लीपै या लेपै।

३१३. लुड़ (roll) = सं० लुड्, छठवां वर्ग--लुडति, प्रा० लुडइ, हि० लुड़ै (देखिए, ३०१, ३१४, ३१७)।

३१४. लुढ़ (roll) = सं० लुठ, छठवां वर्ग--लुठति, प्रा० लुढइ, हि० लुढ़ै।

३१५. लूट् या लूठ् (rob) = सं० लुंट् या लुंठ्, प्रथमवर्ग--लुंटति या लुण्ठयति, प्रा० लुंटइ, व लुंठइ, हि० लूटै-लूठै।

३१६. ले (लेना) = सं० लभ्, प्रथम वर्ग-लभते ; प्रा० लहइ या लेइ (हेमचन्द्र ४,२३८) हि० लेय या ले। लह का ही सकुचित रूप 'ले' है जैसे 'कह' का के और सहका से।

३१७. लोट् (roll out) = सं० लुट्; छठवांवर्ग-लुट्यति, प्रा० लोट्टइ (हेमचन्द्र ४,१४६) हि० लोटै।

३१८. लोभ (be enamoured) = सं० लुभ; चतुर्थ वर्ग-लुभ्यति ; प्रा० लुब्भइ (हेमचन्द्र ४,१५३) हि० लोभै। उ का ओ में परिवर्त्तन।

३१९. वार (घेरा देना) = सं० वृ, प्रेरणार्थक वारयति, प्रा० वारेइ या छठवां वर्ग-वारइ, हि० वारै।

३२०. सक् (can) = सं० शक्; कर्मवाच्य-शक्यते (कर्तृवाच्य के भाव के सहित) प्रा० सक्कयइ (वररुचि ८,५२) हि० सक।

३२१. संघार्, संहार् (या समार संहारेइ) = सं० सम-हृ, प्रेरणार्थक-संहारयति, प्रा० संहारेइ या संघारेइ (हेमचन्द्र. १,२६४) या छठवां वर्ग-संघारइया; हि० संहारै।

३२२. संच्-एकत्रित करना = सं० सम्-चि, कर्मवाच्य-संचीयते कर्तृवाच्य के भाव से युक्त प्रा० संचेइ (हेमचन्द्र ४,२४१) छठवां वर्ग-संचइ, हि० संचै।

३२३. संठ् या सट् (be combined) = सं० सम्-स्था, कर्मवाच्य-संस्थीयते (कर्तृवाच्य के भाव सहित) प्रा० संठेइ या छठवां वर्ग-संठइ; हि० संठै या सठै ।

३२४. सड़् या सर् (rot) = सं० सद् (या शद्) प्रथम वर्ग-सीदति, किन्तु वैदिक भी-सदति, प्रा० सडइ (हेमचन्द्र ४,२१९) प० हि० सड़ै, पू० हि० सरै ।

३२५. सताव् (persecute) = सं० सम्-तप्, प्रेरणार्थक-संतापयति, प्रा० संतावेइ या (छठवां वर्ग) संतावइ, हि० सतावै ।

३२६. सद् (चूना) = सं० स्यंद्, प्रथम वर्ग-स्यन्दते, प्रा० संदइ, हि० सदै ।

३२७. संभाल् (Sustain) = सं० सम्-भृ, प्रेरणार्थक-सम्भारयति, प्रा० संभारेइ, या (छठवां वर्ग) संभारइ, हि० संभालै । नाम धातु सम्भार ।

३२८. समाव् (be contained) = सं० सम्-आप्, पंचम वर्ग-समाप्नोति, प्रा० दशमवर्ग, समावेइ (हेमचन्द्र ४,१४२) या छठवां वर्ग-समावइ, हि० समावै ।

३२९. समुझ् या समझ् (समझना) = सं० सम्-बुध्, चतुर्थ वर्ग-सम्बुध्यते, प्रा० संबुज्झइ, पू० हि० समुझै प० हि० समझै ।

३३०. सर् (Issue, be ended) = सं० सृ, प्रथम वर्ग-सरति, प्रा० सरइ (वररुचि ८, १२) हि० सर ।

३३१. सराह् (प्रशंसा करना) = सं० श्लाघ्, प्रथम वर्ग-श्लाघते, प्रा० सलाहइ (हेमचन्द्र, २, १०१-में सलहइ है) हि० सराहै ।

३३२. सल् (pierce) = सं० शल् या सल्, प्रथम वर्ग-शलति या सलति, प्रा०-सलइ, हि० सलै ।

३३३. संवार् (तैयार करना) = सं० सम्-वृ, प्रेरणार्थक-संवारयति, प्रा० संवारेइ, या (छठवाँ वर्ग) संवारइ, हि० संवारै ।

३३४. सह् (सहना) = सं० सह्, प्रथम वर्ग-सहते, प्रा० सहइ (हेमचन्द्र १,६) हि० सहै ।

३३५. सहर् (arrange) = सं० सम्-हृ, प्रथम वर्ग-संहरति, प्रा० संहरइ (हेमचन्द्र ४, २५९) = सं० संवृणोति, हेमचन्द्र ४,८२ में साहरइ भी है) पू० हि० सहरै ।

३३६. साध् (settle) = सं० साध्, प्रेरणार्थक साधयति, प्रा० साधेइ, या (छठवाँ वर्ग) साधइ, हि० साधै । रूप साह हिन्दी में नहीं होता है ।

३३७. सार् (Accomplish) = सं० सृ, प्रेरणार्थक-सारयति, प्रा० सारेइ, या (छठवां वर्ग) सारइ हि० सारै ।

३३८. साल् (pearce) = सं०-शृ, प्रेरणार्थक शारयति, प्रा० सारेइ, या (छठवां वर्ग) सारइ, हि० सालै या 'शल्' का प्रेरणार्थक देखो ३३२ ।

३३९. साँस् (Threaten, distress) = सं० स्रंस्, प्रेरणार्थक— स्रसयति, प्रा० संसेइ या छठवाँवर्ग—संसइ, (हेमचन्द्र ४,१९७ जहां पर स्रंसते भी हैं) हि० साँसे ।

३४०. सी (Sew) = सं० सिव्, चतुर्थवर्ग—सीव्यति, प्रा० (छठवाँवर्ग)—सिवइ या सिअइ, हि० सिऐ । (हेमचन्द्र ४,२३० सिव्वइ भी देता है, जिससे हिन्दी सीवैं बनता है पर यह रूप अब नहीं रहा, दूसरा रूप सिव्वइ हिंदी सीवैं)

३४१. सीख् (learn) = सं० शिक्ष्, प्रथम वर्ग-शिक्षते; प्रा० (सिक्खइ) (सप्त-शतक-३५३) हि० सीखै ।

३४२. सीच् या सींच = सं० सिच्, छठवाँवर्ग -सिंचति, प्रा० सिंचइ (हेमचन्द्र, ४,२३९) या सिच्चइ (हेमचन्द्र, ४,२३०) हि० सींचें । हिन्दी सींचै, सीचै या हींचै (वररुचि २,४१ छत० = सप्त०)

३४३. सीज् (Exude, sweat) = सं० स्विद्, चतुर्थवर्ग -स्विद्यति, प्रा० सिज्जइ (हेमचन्द्र ४, २२४) हि० सीजै (३४४ भी देखिए) ।

३४४. सीज् (Seethe, boil, sweat) सं० श्री (या श्रा), कर्मवाच्य-श्रीयते प्रा० सिज्जइ, हि० सीजै ।

३४५. सीज् (be received, be liquidated) = सं० श्रि, कर्मवाच्य-श्रीयते, प्रा० सिज्जइ, हि० सीजै ।

३४६. सुधार् (सजाना) = सं० सु-धृ, प्रेरणार्थक-सुधारयति प्रा० सुधारेइ, या (छठवाँ वर्ग) सुधारइ, हि० सुधारै ।

३४७. सुन् (सुनना) सं० श्रु, पंचमवर्ग-शृणोति, प्रा० छठवाँवर्ग -सुणइ (वररुचि ८,५६) हि० सुनै ।

३४८. सुमर् (याद करना) = सं० स्मृ, प्रथमवर्ग -स्मरति, प्रा० सुमरइ (वररुचि ८,१८) हि० सुमरै ।

३४९. सुहाव् (अच्छा लगना) = सं० सुख् दशमवर्ग-सुखयति प्रा० सुहावेइ, (सप्त शतक १६९) या (छठवाँ वर्ग) सुहावइ, हि० सुहावै ।

३५०. सूघ् (सूँघना) = सं० सम्-आ-घ्रा, प्रथमवर्ग समाजिघ्रति, (या द्वितीय) वर्ग-समाघ्राति प्रा० समग्घेइ या सं० समग्घइ, हि० सूँघें ।

३५१. सूज् (Swell) = सं० श्वि, कर्मवाच्य-सूयते, प्रा० सुज्जइ, हि० सूजै ।

३५२. सूझ (Appear) = सं० शुध्, चतुर्थ वर्ग शुध्यति प्रा० सुज्झइ (हेमचन्द्र ४,२१७) हि० सूझै ।

३५३. सेंद् (Irrigate) = सं० स्यंद्, प्रेरणार्थक-स्यन्दयति, प्रा० सिंदेइ या (छठवाँ वर्ग) सिंदइ, हि० सेंदै ।

३५४. सेव् या सेह् (serve) सं० सेव्; प्रथम वर्ग-सेवते; प्रा० सेवइ (हेमचन्द्र-४,३९६) हि० सेवै या सेहै ।

३५५. सोच् (खेद करना या सोचना) = सं० शुच्, कर्मवाच्य-शुच्यते (प्रयोग कर्तृवाच्य का भाव लिए हुए) प्रा० सुच्चइ, सि० सोचै ।

३५६. सोह् (चमकना)—सं० शुभ्; प्रथम वर्ग—शोभते; प्रा० सोहइ (हेमचन्द्र, १,१८७) हि० सोहै ।

३५७. सौंप् (deliver) = सं० सम्—ऋ; प्रेरणार्थक—समर्पयति; प्रा० समप्पेइ; या छठवाँ वर्ग—समप्पइ, हि० सौंपै ।

३५८. हन् (Kill) सं० हन्, प्रथम वर्ग-हन्ति; किन्तु वैदिक भी प्रथम वर्ग-हनति; प्रा० हणइ (हेमचन्द्र ४,४१८) हि० हनै ।

३५९. हर् (Take away) = सं० हृ, प्रथमवर्ग—हरति; प्रा० हरइ (हेमचन्द्र ३,२३४) हि० हरै।

३६०. हरिस् या हरस् (be glad) = सं० हृष् प्रथम वर्ग—हर्षति, प्रा० हरिसइ, (वररुचि, ८,११ (सम्भवतः नाम हरिस = हर्ष) पू० हि० हरिसै, प० हि० हरसै।

३६१. हलप् (Toss about) सं० ह्लृ, प्रेरणार्थक कर्मवाच्य—ह्लाप्यते, प्रा० हलप्पइ, हि० हलपै।

३६२. हवा (Scream) = सं० ह्वे, प्रथमवर्ग ह्वयति, प्रा० छठावर्ग—हुवाअइ या (संकुचित) हवाइ, हि० हवाय्।

३६३. हंस्, हाँस् (laugh) = सं० हस्, प्रथम वर्ग—हसति, प्रा० हसइ (त्रिविक्रम २,४,६९) या हस्सइ (कर्मवाच्य) हि० हँसे या हाँसे।

३६४. हाँप् या हाँफ् (blow) = सं० ध्मा, प्रेरणार्थक ध्मापयति, प्रा० धंपेइ या छठवाँ वर्ग धंपइ या हंपइ, हि० हाँपे या हाँफै।

३६५. हाल् (Shake) = सं० ह्वल्, कर्मवाच्य—ह्वल्यते (प्रयोग कर्तृवाच्य का भाव लिए हुए) प्रा० हल्लइ, हि० हालै।

३६६. हिल् (हिलाना) = सं० ह्वृ, प्रथमवर्ग—ह्वरति, प्रा० छठवाँवर्ग—हिरइ या हिलइ, हि० हिल।

३६७. हुन् (Sacrifice) = सं० धू, पंचमवर्ग धुनोति, प्रा० छठवाँवर्ग—धुणइ या हुणइ (हेमचन्द्र ४,२४१, जहाँ इसका संबंध संस्कृत धातु 'हु' से बताया गया है) हि० हुनै।

३६८. हूल (drive) सं० हुड (go) प्रेरणार्थक-हूडयति, प्रा० हूडेइ, या छठवाँ वर्ग—हूडइ, हि० हूलै।

३६९. हो (be) = सं० भू, प्रथम वर्ग—भवति, प्रा० भवइ या हुवइ या हवइ, या होइ (हेमचन्द्र ४,६०) हि० होय।

श्री गोलोक बिहारी धळ

अहिन्दी भाषा भाषियों के हिन्दी-प्रशिक्षण के लिए कुछ सुझाव

'भाषा का सीखना' प्रत्येक स्थान पर एक समस्या है और हमारे देश में भी यह उसी रूप में विद्यमान है, क्योंकि यहाँ पर एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान उन व्यक्तियों के लिए अपरिहार्य है, जो अपने जीवन को अधिक पूर्ण और सुखमय देखना चाहते हैं। निकट भविष्य में भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी होने जारही है, अतः यह आवश्यक है कि उसका ज्ञान अधुनातम प्राप्त साधनों से अहिन्दीभाषा भाषियों को उचित समय में करा दिया जाय। इंगलैण्ड और अमेरिका में भी भाषातत्व-वेत्ता भाषा के ज्ञान की ओर नहीं सोचते हैं। एक भाषा शिक्षक का कथन है :—

"यह खोज करने में अधिक समय नहीं लगता कि पुरानी प्रणालियों, पुराने विचारों, दुराग्रहों और पुराने हितों तथा 'शनैः शनैः' के सिद्धान्त के दुराग्रह पूर्ण उपयोग द्वारा, शिक्षा व ज्ञान दोनों ही, अधोगति को प्राप्त हो रहे हैं।"[1]

इसलिये यह आवश्यक है, कि हिन्दी को ठीक-ठीक पढ़ाने के लिए हमको आधुनिक प्रणालियों का प्रयोग करना चाहिए।

किसी भी भाषा की शिक्षा में दो मुख्य विचारणीय प्रश्न हैं:—

(अ) भाषा का बोलना।

(ब) भाषा का लिखना।

इन पृष्ठों में दोनों ही पहलुओं पर कुछ सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं: -

भाषा का बोलना—यह अकाट्य तथ्य है, कि हमने इस देश में कभी भी शुद्ध अंग्रेजी बोलने का प्रयत्न नहीं किया; चाहे हम इस बात पर कितना ही अभिमान क्यों न करें कि हम अनेक यूरोप निवासियों से अच्छी अंग्रेजी बोल सकते हैं। इस विषय में अधिक चिन्तित

१ 'It does not take long to discover that both teaching and learning are half suffocated by an obstinate employment of old fashioned methods old ideas and prejudices—and old vested interests and going slow.
C. Duff.

होने की बात नहीं कि हमने यह ठीक नहीं किया, वस्तुतः दुःख की बात यह है कि हमने इसके लिए प्रयत्न भी नहीं किया। कम से कम इस प्रकार की अरुचि और अकर्मण्यता 'हिन्दी का बोलना' सीखने में न प्रदर्शित की जाय। हमारे देश में भाषाओं का ध्वन्यात्मक स्वरूप बिल्कुल भुला दिया जाता है। इसकी उपयोगिता की ओर निर्देश, हम एक भाषा के अध्यापक के शब्दों में करते हैं :—

"फिर भी, यह सत्य है कि व्याकरण से उच्चारण का महत्व दुगना है। इसके कारण स्पष्ट हैं; व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध किन्तु शुद्ध उच्चरित वाक्य तुम्हारे अर्थ को स्पष्ट कर सकता है, पर एक व्याकरण सम्मत वाक्य, जिसका उच्चारण अशुद्ध अथवा भ्रष्ट हो या तो बिल्कुल भी समझने में न आवेगा या कम। श्रवणेन्द्रिय पर जोर देकर इसको समझा जा सकता है। क्या होता है, जब तुम किसी विदेशी को सुनते हो, जिसका उच्चारण भयानक होता है।"

वही प्रश्न स्वयं से किया जा सकता है कि क्या होता है, जब हम किसी विदेशी को हिन्दी बोलते सुनते हैं, जिसका उच्चारण भयानक होता है। मैं स्वयं अपने हिन्दी बोलने के सम्बन्ध में निजी अनुभव प्रस्तुत कर सकता हूं। मेरा उच्चारण किसी शिक्षित हिन्दी भाषी को भी ग्राह्य नहीं होता था क्योंकि वह उड़िया भाषा के स्वराघात, बल, मात्रा आदि से प्रभावित होता था। उदाहरणतः जब मैं हिन्दी में 'गीता' 'मीठा' 'बयान' बिना उचित मात्रा के उच्चारित करता था तो वह भाषा-तत्व के फल से शून्य हो जाता था। यही बात होती है, जब मैं किसी अशुद्ध भाग पर बल प्रयोग कर देता हूँ। जैसे 'समझाता' 'निकालता' दोनों शब्दों में 'झ' और 'ल' पर अशुद्ध बल प्रयोग है। मैं इससे आकुल हो जाता था और मैं नहीं चाहता हूँ कि अहिन्दी भाषा भाषी इसके शिकार हों।

ठीक ध्वन्यात्मक प्रणाली के द्वारा हिन्दी का बोलना अहिन्दी भाषा भाषी को उचित शिक्षा ही नहीं देगा वरन् मातृ भाषा और हिन्दी के तुलनात्मक ध्वनिशास्त्र के स्वरूप की ओर उन्हें चेतनशील भी बना देगा। फलतः दोनों ही भाषाओं की श्रीवृद्धि होगी। एक भाषा शिक्षक के विचार फिर उद्धृत किये जाते हैं—

"अगर तुमको ध्वनियों का ज्ञान नहीं है तो तुम गद्य के आधे और काव्य के सम्पूर्ण आनन्द से वंचित हो जाओगे, यदि तुम स्वयं दोनों का पाठ करोगे।"

किसी भाषा का बोलना केवल उपयोगिता की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है, वरन् उसका सौन्दर्य शास्त्र की भी दृष्टि से महत्व है। फल कुछ भी हो पर कार्य का ध्येय आदर्श पूर्ण होना चाहिए।

(अ) बोलना सीखने के सुझाव

नीचे कुछ ऐसे सुझाव हैं जिन पर आसानी से प्रयोग किया जा सकता है।

१—हिन्दी व अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के तुलनात्मक ध्वनि-विज्ञान पर पुस्तकें तैयार कराई जाँय और वे उन प्रौढ़ों के लिए उपलब्ध हों, जो हिन्दी सीखने के इच्छुक हैं।

२—अहिन्दी राज्यों में हिन्दी भाषा के शिक्षण के लिए हिन्दी प्रदेश से वे शिक्षक लिए जायं, जिनकी मातृ भाषा हिन्दी हो। उनको ध्वनि-विज्ञान के मूलतत्वों का और जिनको भाषा सिखानी है उनकी भाषा का, व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए।

३—जो अहिन्दी भाषा भाषी, परीक्षा के प्रमाण-पत्र के आधार पर हिन्दी शिक्षक बनने की योग्यता रखता हो, उसे हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी बोलना सीखने के लिए कम से कम एक वर्ष रक्खा जाय; जहाँ पर वह स्थानीय वक्ताओं से हिन्दी सुनकर अपनी भाषा को ठीक कर सके।

४—हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में स्थापित विश्वविद्यालयों को अपने यहाँ अहिन्दी भाषा भाषियों को हिन्दी के ध्वनि-शास्त्र का ज्ञान कराने के लिए पृथक् विभाग स्थापित करने चाहिए और उनकी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए बोलचाल की हिन्दी पर पुस्तकें प्रकाशित कराई जाय।

५—अहिन्दी भाषा भाषियों को बोलना सिखाने के लिए परिनिष्ठित हिन्दी के ग्रामोफोन रिकार्ड तैयार कराये जाँय।

६—आकाशवाणी द्वारा प्रसारित प्रोग्रामों में हिन्दी भाषा की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया जाय। यह प्रोग्राम केवल भाषा-तत्व वेत्ताओं द्वारा ही आयोजित होने चाहिए, जो उस भाषा की शिक्षा में विशेष योग्यता रखते हों।

(ब) लिखित हिन्दी

किसी भी भाषा को शुद्ध लिखने व पढ़ने के लिए साधारणतः बल दिया जाता है। जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, इसे केवल पाठशाला जाने वाले विद्यार्थियों को ही नहीं पढ़ाना है, वरन् प्रौढ व्यक्तियों को भी। यह अत्यधिक आवश्यक है कि प्रौढ़ व्यक्तियों का पढ़ना व लिखना देखा जाय। निस्सन्देह हिन्दी उत्तर भारत की संस्कृत से विकसित भाषाओं से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए सरल है। संस्कृत-निष्ठ भाषा में बोली जाने वाली हिन्दी उन अहिन्दी भाषा भाषी व्यक्तियों के लिए सरल है, जिन्होंने कभी हिन्दी की शिक्षा प्राप्त नहीं की।

सुझाव

१—भारत की भावी राष्ट्रभाषा हिन्दी के शब्द-भाण्डार में वृद्धि संस्कृत व क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों से प्रमुखतः होनी चाहिए। पुराने व्यक्तियों का विदेशी भाषा के प्रति जो दृष्टि कोण है उससे भी सावधान रहना चाहिए; क्योंकि विकसित भाषाएँ हमेशा विदेशी शब्दों का—(जैसे अंग्रेजी का) स्वागत करेंगी।

(२) प्रत्येक हिन्दी-भाषी विद्यार्थी को किसी न किसी एक क्षेत्रीय भाषा में शिक्षित होना चाहिए, जिससे वह अपनी भाषा की विशेषताएँ और अहिन्दी भाषियों की कठिनाइयों का अनुभव कर सके। ऐसे विद्यार्थियों द्वारा, जो अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त दूसरी भारतीय भाषाओं को भी सीखे हुए हैं, अहिन्दी भाषियों की समस्याओं का हल शीघ्र हो सकेगा।

३—हिन्दी व अहिन्दी भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण, जिसमें हिन्दी की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख हो, इन लोगों के लिए प्राप्य होना चाहिए। प्रत्येक विश्वविद्यालय में हिन्दी और अहिन्दी भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए।

४—एक केन्द्रीय भाषा-तत्व का विद्यालय स्थापित होना चाहिए, जहाँ पर भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले उत्सुक विद्यार्थियों को प्रवेश मिल सके।

शब्दों के विन्यास (Spelling) से संबंधित एक समस्या है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का विभिन्न भाषाओं में विभिन्न रूप विद्यमान है। उदाहरणतः उड़िया में शब्द विशेषतः संस्कृत के निकट हैं और हिन्दी में ध्वनि शास्त्र के आधार पर। अतएव एक ही शब्द के लिए उसको दो रूप स्मरण रखने पड़ते हैं।

उदाहरण

हिन्दी	उड़िया	संस्कृत
सिर	शिर	शिर
असुभ	अशुभ	अशुभ
बरस	बरष	वर्ष

हिन्दी व अन्य भाषाओं के ध्वनिशास्त्र का सम्पूर्णतः विवेचन करने के पश्चात् हिन्दी भाषी भाषा-तत्व वेत्ताओं को इसके लिए हल प्रस्तुत करने चाहिए और अगर वे ध्वनि नियम के आधार पर कोई परिवर्तन करना चाहें तो अवश्यमेव किया जाय; जिससे हिन्दी से सम्बन्धित सभी भाषाओं में संस्कृत के आधार पर एकरूपता स्थापित की जा सके।

BIBLIOGRAPHY

1. The Scientific Study and Teaching of Language —*Harold E. Palmer.*
2. Modern Languages for Modern Schools —*Walter Vincent Kaulfers.*
3. How to Learn a Language —*Charles Duff.*
4. This Language Learning Business —*Palmer & Redman.*
5. Concerning Pronunciation —*H. E. Palmer.*
6. Learning a Foreign Language —*Eugene A. Naida.*

डा० सत्येन्द्र

हिन्दी साहित्य में लोकतत्व की परंपरा और कबीर

हिन्दी पहले लोक भाषा थी। लोकभाषा ही शनैः शनैः साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण करती है। लोक-भाषा में जो अभिव्यक्तियाँ होती हैं उनमें सहज ही लोकतत्व रहता है। फलतः हिन्दी के आरंभकालीन काव्य में लोक-तत्व मिलना ही चाहिये, हमें इसी लोक-तत्व का अनुसंधान करना है।

किन्तु यह बात स्पष्ट विदित होती है कि हिन्दी ने लोक-भाषा से साहित्य की ओर कदम बढ़ाया, पर लोक-भाषा के अपने स्वाभाविक स्वरूप को बहुत काल तक अक्षुण्ण रखा। साहित्य-रचना में प्रवृत्त होने पर भी उसने लोक-संपर्क घनिष्ठ बनाये रखा। लोक-संपर्क की घनिष्ठता के कई कारण विदित होते हैं।

एक कारण यह है कि हिन्दी ने जब से जन्म ग्रहण किया तभी से भारत में बहुत अधिक उथल-पुथल रही। इतिहास भी बदलता रहा, इतिहास की नीति बदलती रही। साँस्कृतिक संघर्ष हुए, आन्दोलन चलते रहे—ये समस्त विकृतियाँ चंचल उत्तुंग तरंगों की भाँति उत्पन्न हुईं; इन्होंने साहित्य में अपनी सत्ता प्रकट की, और साहित्य को इन्हीं तरंगों के कारण लोक-संपर्क को आधार के रूप में बार-बार ग्रहण करना पड़ा। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक उद्वेलन जब तक चलते रहे, साहित्य का लोक-संपर्क घनिष्ठ बना रहा और जब ये उद्वेलन शिथिल होगये तभी साहित्य ने युग-युगीन प्रवृत्ति को प्रकट करने वाले साहित्य के रूप को स्थिरता-पूर्वक अपना लिया।

सातवीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक ये उद्वेलन चले। हर्ष की मृत्यु के बाद भारत के इतिहास का प्राचीनकाल समाप्त हुआ, और मध्यकाल अवतीर्ण हुआ। मध्य-काल के अवतीर्ण होने के कई अर्थ हैं—इस नये की अवतारणा से नये जीवन-मान प्रस्तुत होने ही चाहिये। नये अभिव्यक्ति के माध्यम प्रबल होंगे। और, अभिव्यक्तियों की कला का स्वरूप और सामग्री भी परिवर्तित होगी। ये परिवर्तन और अभि-व्यक्तियाँ क्या थीं। संक्षेप में यहाँ उनका उल्लेख करना उचित है:

१. इस बीच धीरे-धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं-दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण

मिलने लगता है और चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ मे तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएं और विभक्तियां तो ईषत् विकसित या परिवर्द्धित रूप में बनीं रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली-सी जान पड़ने लगी।" [हि० सा० का आ० का० पृ० १७]

इसका अभिप्राय है कि तद्भव-प्रधान की प्रवृत्ति को हटाकर भाषा ने तत्सम प्रधानता का मार्ग ग्रहण किया, और इस काल में यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, जिससे भाषा ही बदल गयी। भाषा में यह प्रवृत्ति क्यों आयी?

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत से दो कारण हैं:

अ. भक्ति के नवीन आन्दोलन के कारण, इसमें भागवत पुराण का प्रभाव विशेष पड़ा।

आ. शांकरमत की दृढ़ प्रतिष्ठा के कारण।

२—"ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा बाद में खूब चली। इन्हीं दिनों ईरान के साहित्य में भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ। उत्तर-पश्चिम सीमान्त से बहुत-सी जातियों का प्रवेश होता रहा—पता नहीं उन जातियों की स्वदेशी प्रथा की क्या क्या बातें इस देश में चलीं। साहित्य में नये-नये काव्य रूपों का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। सम्भवत: ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने का चलन भी उनके संसर्ग का फल हो। परन्तु भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था— [वही—पृ० ७०]

अभिप्राय यह है कि इस युग में नये काव्यरूपों की उद्भावना हुई जिसमें से एक रूप वह था जिसमें ऐतिहासिक आश्रय और नाम लेकर काव्य-कल्पना का कौतुक प्रकट किया जाता था।

३—संदेश रासक में कवि ने जिस वाह्य प्रकृति के व्यापारों का वर्णन किया है वह रासो के समान ही कविप्रथा के अनुसार है। उन दिनों ऋतु-वर्णन के प्रसंग में वर्ण्य वस्तुओं की सूची बन गई थी। बारहवीं शताब्दी की पुस्तक कवि कल्पलता में और चौदहवीं शताब्दी की पुस्तक वर्णरत्नाकर में ये नुस्खे पाए जा सकते हैं। इन वाह्य वस्तु और व्यापारों के आगे न तो रासो का कवि गया है, न अद्दहमान ही। [वही—पृ० ८४]

इससे विदित होता है कि काव्य-रचना में विशेषत: वाह्य अथवा प्राकृतिक वर्णनों में 'कवि-प्रथा' का अनुसरण होता था। कवि नयी उद्भावनाएँ नहीं कर सकता था।

४—नया छन्द नये मनोभाव की सूचना देता है। श्लोक लौकिक संस्कृत के आविर्भाव का सन्देशवाहक है जिस प्रकार श्लोक संस्कृत की मोड़ का सूचक है उसी प्रकार गाथा, प्राकृत की ओर के झुकाव का व्यंजक है।...तीसरे झुकाव की सूचना लेकर एक दूसरा

छंद भारतीय साहित्य के प्रांगण में प्रवेश करता है। यह दोहा है। स्पष्ट ही दोहाबंध का अर्थ अपभ्रंश है अपभ्रंश को 'दूहाविद्या' कहा गया है। [वही पृ० ९०–९२]

दोहा नये युग की उद्भावना से संबंधित है।

५––दोहा, वह पहला छंन्द है, जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चल कर एक भी ऐसी अपभ्रंश-कविता नहीं लिखी गई जिस में तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश केवल नवीन छन्द लेकर ही नहीं आई, बिल्कुल नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर भी आविर्भूत हुई। [वही० पृ० ९३]

६ —दोहे को प्रबंध-काव्य के योग्य बनाने के लिए चौपाई का उपयोग किया गया। इसी कथानक सूत्र को जोड़ने के उद्देश से सोलहवीं शताब्दी में दोहों के बीच-बीच में चौपाई जोड़कर कथानक को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया था। [वही० पृ० ९४]

७––इस काल में उद्भावित काव्य रूप––

१. आदि मंगल (मंगल काव्य)
२. रमैनी (चौपाई दोहे)
३. शब्द (गेय पद)
४. ग्यान चौंतीसा (वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर से आरंभ करके पद लिखना)
५. विप्रमतीसी
६. कहरा
७. बसन्त
८. चाँचर
९. बेलि
१०. बिरहुली (सांप का विष उतारने वाला गान)
११. हिंडोला
१२. साखी (दोहे)
१३. दोहा-चौपाई वाला चरित काव्य
१४. कवित्त-सवैया
१५. दोहों में अध्यात्म और धर्म-नीति के उपदेश
१६. बरवै
१७. सोहर छन्द
१८. विनय के पद
१९. लीला के पद
२०. वीर काव्यों के लिए उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि की पद्धति
२१. दोहों में सगुन विचार
२२. फागु
२३. अखरावट [वही० पृ० १०४, १०१, १०७]
२४. नहछू
२५. रासक

२६. रास
२७. रासो
२८. कुंडलिया
२९. भमरगीत
३०. मुकरी
३१. दो सखुने
३२. वुझौवल
३३. पट ऋतु
३४. वारह मासा
३५. नखशिख
३६. दसम : दशावतार
३७. भंड़ौग्रा
३८. जीवनी काव्य

यह मध्ययुग के साहित्य रूपों और उनकी प्रवृतियों का उल्लेख है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग साहित्य के लिए कितने ही परिवर्तनों को लेकर अवतीर्ण हुआ। इन परिवर्त्तनों के मूल में कितने ही उद्वेलन थे जिन्हे यहाँ गिनाया जाता है--

१. भक्ति आन्दोलन
२. नाथ-संप्रदाय
३. संत-संप्रदाय
४. सिद्ध-संप्रदाय
५. शाक्त-मत
६. वैष्णव-संप्रदाय
७. सूफी मत
८. राम संप्रदाय
९. कृष्ण-संप्रदाय
१०. राधा संप्रदाय
११. जैन-मत
१२. सहजयान
१३. वज्रयान
१४. इस्लाम आदि

हमें जिस युग का अध्ययन करना है वह भक्ति आन्दोलन को दूसरे तथा तीसरे चरण से संबंधित है। भक्ति आंदोलन के पाँच चरण प्रतीत होते हैं—

१. संधि-चरण—भक्ति का हिंदी क्षेत्र में आरंभ। बीजारोपण
२. अंकुरण—अंकुर जिस प्रकार भूमि से संबद्ध रहता हुआ भी उससे ऊपर अपने व्यक्तिगत स्वरूप के अभिमान से लहलहाने लगता है, उसी प्रकार भक्ति अपने

थाले में से बाहर फूटी—निर्गुणोपासक संत संप्रदाय की भक्ति का यही रूप मानना होगा।

३. प्रेमाभिसारण

४. अवताराश्रयी—चरमोत्कर्ष।

५. स्थिरत्व।

भक्ति के विकास की इस द्वितीय स्थिति तक पहुँचते पहुँचते युग की प्रवृत्तियों में जो परिवर्त्तन प्रस्तुत हुए, उनका मूल तत्व था वैविध्यका साधारणीकृत एकत्व और उसकी 'वैष्णवत्व' में समर्पित होने की चेष्टा। यह स्थिति विकास और विवर्त्तन का परिणाम थी। भारत में मत-स्वातंत्र्य की सुविधा होने के कारण प्रत्येक युग में यहाँ अनेकों मत तथा संप्रदाय रहे हैं, और वे साथ-साथ चलते रहे हैं।* पहले वैदिक धर्म ने प्रबलता प्राप्त की।

---

* १. वैदिक युग में यज्ञ-कर्त्ता आर्यों के साथ 'शिश्न देवों' का उल्लेख है।

२. भगवान बुद्ध निम्नलिखित संप्रदायों से परिचित थे। वे उनके समय में प्रचलित थे। १ आजीवक, २ निगन्थ, ३ जटिल, ४ परिव्वजक, ५ अवरुद्धक, ६ हाथी, ७ घोड़ा, ८ गाय, ९ कुत्ता, १० कौवा, ११ वासुदेव, १२ बल्देव, १३ पुण्णभद्द, १४ मणिभद्द, अग्गि, १६ नाग, १७ सुपण्ण, १८ यक्ख, १९ असुर, २० गन्धर्व, २१ महाराज, २२ चन्द, २३ सूरिय, २४ इन्द्र, २५ ब्रह्म, २६ देव, २७ दिसा। (निद्देस)

३. बाणभट्ट ने हर्ष-चरित में निम्न सिद्धान्तवादियों और सांप्रदायिकों का उल्लेख किया है:

१. आर्हत—संभवतः यापनीय जैन।
२. मस्करी—नियतिवादी।
३. श्वेतपट—श्वेताम्बर जैन।
४. पाँडुरिभिक्षु—आजीवक।
५. भागवत—भृगु के अनुयायी।
६. वर्णी—गुरु के अनुयायी-तपस्वी।
७. केशलुंचन—दिगंवर जैन
८. कापिल—सांख्यवादी, जटाधारी
९. जैन=बौद्ध
१०. लोकायित
११. काणाद
१२. औपनिषदिक—वेदान्ती (शंकर-पूर्वके)
१३. ऐश्वर कारणिक—नैयायिक
१४. कारन्धयी
१५. धर्मशास्त्री
१६. पौराणिक
१७. साप्ततन्तव—मीमाँसक—यज्ञकर्त्ता
१८. शाब्द=वैयाकरण
१९. पांचरात्रिक—चतुर्व्यूहवादी

विशेष रोचक बात यह है कि ये सभी संप्रदायवादी एक ही आश्रम में एक साथ रहते थे। (हर्ष चरित: डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)।

फिर बौद्ध धर्म ने। बौद्ध धर्म के उपरान्त धार्मिक क्षेत्र में हमें जो प्रवृत्ति मिलती है, वह वस्तुतः एक नयी प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति 'सुसंबद्ध समन्वित महत्व' की प्रवृत्ति कही जा सकती है। वैदिक धर्म ने शिश्न देवों को घृणा की दृष्टि से देखा। बौद्धों ने अपने से इतर समस्त मतानुयायियों को हीन समझा। किन्तु जो नया युग प्रवर्तित हुआ वह उस धर्म को लेकर उठा जिसे आज 'हिन्दू' धर्म कहते हैं। पहली अवस्था में वे समस्त मत समन्वित होते प्रतीत होंगे जो बौद्ध-धर्म से विरोध रखते थे, दूसरी अवस्था में इस उदार भावना ने स्वयं बुद्ध को आत्मसात कर लिया और बौद्ध धर्म भी समन्वित हो गया। इस 'समन्वय' को लाने के लिए एक ऐसी दार्शनिक भूमिका प्रस्तुत करनी पड़ी जिसने एक दूसरे से भिन्न संप्रदायों की मान्यताओं को परस्पर सुसंबद्ध करने का प्रयत्न किया। यह लोक-प्रवृत्ति का परिणाम था।

इस नयी क्रान्ति से हमें अपने आलोच्य युग तक पहुँचते पहुँचते तीन चरण मिलते हैं :—

प्रथम—वैष्णव
द्वितीय—शैव }
तृतीय—सिद्ध } नाथ
चतुर्थ—नाथ }
पंचम—भक्ति

प्रथम 'वैष्णव चरण' ब्राह्मण धर्म अथवा हिन्दू धर्म के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है, और इसका ऐतिहासिक उत्कर्ष ईसवी की पहली दूसरी शताब्दी तक माना जा सकता। इस उत्कर्ष में वैष्णव धर्म ने समस्त बौद्ध विरोधी संप्रदायों को अपनी परिधि में समेटने का प्रयत्न किया। यह सहज ही समझा जा सकता है कि यह प्रयत्न वेदों को ही आगे करके बढ़ा होगा। क्योंकि बौद्ध धर्म जिस प्रबल संप्रदाय के विरुद्ध खड़ा हुआ था, वह मुख्यतः वैदिक था। बौद्ध धर्म दुर्बल हुआ तो वेदों की प्रतिष्ठा को फिर बढ़ाने का प्रयत्न हुआ, किन्तु इतनी शताब्दियों का व्यवधान विवश कर रहा था कि वेदों के समस्त योग-दान को नयी प्रकार से प्रस्तुत किया जाय। पुराणसाहित्य में हमें वह प्रयत्न दिखाई पड़ता है। अतः प्रथम वैष्णव चरण का मूलाधार वैदिक व्याख्या थी।

दूसरा चरण पूर्ण उत्कर्ष पर दशवीं शताब्दी में पहुँचा। इसका दृष्टिकोण वैष्णव दृष्टिकोण से भिन्न था। यह अवैदिक था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध, और शाक्त संप्रदाय थे जो वेद बाह्य होने के कारण न हिन्दू थे और न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथमबार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से देश दो प्रतिद्वन्द्वी, धर्मसाधना-मूलक दलों में विभक्त हो गया। जो शैव मार्ग और शाक्त मार्ग वेदानुयायी थे, वे वृहत्तर ब्राह्मण प्रधान हिन्दू समाज में मिल गये और निरंतर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे।" (वही-पृ० १४७) शेष वेद-बाह्य संप्रदाय गोरख संप्रदाय में अन्तर्भुक्त

हुए, किन्तु वे ही जो 'योग' को मानते थे। "जो लोग वेद विमुखता और ब्राह्मण विरोधिता के कारण समाज में अगृहीत रह जाते, वे उन (गोरखनाथ) की कृपा से ही प्रतिष्ठा पा सकते थे। (वही पृ० १९३)

इस प्रकार 'नाथ संप्रदाय' ने बिखरे संप्रदायों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य संपादित किया। नाथ संप्रदाय दसवीं शताब्दी में चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर ह्रास की ओर अग्रसर हुआ।

तभी भक्ति 'आन्दोलन' उठा। यह 'वैष्णव' आन्दोलन का ही नया संस्करण था। इसने समस्त लौकिक-वैदिक तत्वों को समन्वित करने का प्रयत्न किया। भक्ति की भावना, अवतार में आस्था, निर्गुण-सगुण का समन्वय, सहज-सुरति और योग की योजना, पूजा कीर्तन और काव्य का उपयोग, नाम और रूप का आश्रय—ये सभी प्रमुखतः लोक तत्व हैं, जिनके पोषण के लिए 'वेद-उपनिषद और ब्रह्मसूत्र' का आधार ग्रहण किया गया। वस्तुतः वेदों का आश्रय तो प्रमाणार्थ ही लिया गया, इस भक्ति आन्दोलन का समस्त रूप और आत्मा लोक-तत्वों से निर्मित थी। इस नये आन्दोलन ने वैदिक-अवैदिक समस्त भारतीय सांप्रदायिक प्रवृत्तियों का एकीकरण कर दिया, इनमें वैष्णवीय अहिंसा अथवा दाक्षिण्य की भावना प्रधान हो गयी, अतः केवल उग्र शाक्त ही इसमें नहीं समा सके। ये उग्रशाक्त लोक ग्राह्य नहीं थे। भक्ति की इस नयी अवतारणा के दाक्षिण्य ने मुसलमानों को भी अग्राह्य नहीं माना।

'हरि' को भजे सो हरि को होई।

यह मनोवृत्ति प्रधान हो चुकी थी।

हिन्दी में इसका प्रबल उद्घोष कबीर ने किया। कबीर में 'लोक-भूमि' अत्यन्त स्पष्ट और अत्यन्त प्रबल है, कबीर को हिन्दी में संतमत का प्रवर्त्तक माना जाता है। हमें संतमत के साहित्य में लोक-तत्वों की प्रधानता मिलती है। अब यह आवश्यक है कि कबीर के संदंध में जो प्रमुख दृष्टियाँ रही हैं, उन्हें समझ लिया जाय—

विद्वद्वर चंद्रबली पांडे जी ने सिद्ध किया है कि कबीर जिन्दीक अर्थात सूफी थे। वे जन्म से मुसलमान ही नहीं थे, सूफी मत से मुसलमानी विश्वासों को मानने वाले थे, और उन्हें उन्होंने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है:—

कबीर चाल्या जाइ था, आगें मिल्या खुदाइ,
मीराँ मुझ सौं यौं कह्या, किनि फुरमाई गाइ?
गाफिल गरब करें अधिकाई, स्वारथ अरथि वधें ये गाई।
जाको दूध धाइ करि पीजे, ता माता का वध क्यूं कीजै।
लहुरें थकें दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भखै सरीरो।

इनमें गौवध करने का निषेध कुरान के उस मत से संबंधित है, जिसमें गोबध को 'विधि' नहीं बताया गया।

एक अचंभा देखिया बिटिया जायौ बाप
बाबल मेरा व्याह करि, वर उत्यम ले चाहि।

जब लग वर पावैं नहीं, तब लग तँही ब्याहि ।

ये सूफी संस्कार हैं, और बदरुद्दीन अलशहीद जीली और 'इब्नुलफारिज' के अनुकरण पर है (देखिये : स्टडीज़ इन् इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० ११३)

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचें तित जाउँ

यह 'कुत्ते' की उपमा कल्बे मुस्तफा और 'कल्बेअब्बास' का फल है ।

कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ
देंहि पईसा ब्याज कौं, लेखां करता जाइ

इसमें 'सूद न लेने' की इसलामी शिक्षा है ।

सात समंद की मसि करौं लेखनि सब बन राइ
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ ।

यह कुरान की आयत का तर्जुमा है । (देखिये सू० लुकमान ३१ पा० उल्लुमा ऊहिय-२१, डा० नजीर का अनुवाद)

हमरे राम रहीम करीमा केसो, अलह राम सति सोई ।

यह भाव भी कुरान से है—[दे० सू० बनी इस्माईल १७, पा० सुब्हानल्लज़ी १५

या करीम बलि हिकमति तेरी खाक एक सूरति बहुतेरी
अर्ध गगन में नीर जमाया, बहुत भांति करि नूरनि पाया ।
अवलि आदम पीर मुलांना, तेरी सिफति करि भए दिवाना ।
कहै कबीर यहु हेत विचारा, या रब या रब यार हमारा ।

[देखिये सू० नूर २४, पा० क़द अफ़लहल मोमिनून, पृ० ४६६ तथा सू० फातिर ३५, पा० वमैं यक्नुत २२, वही पृ० १०८]

पांडे न करसि वाद विवादं, या देहीं बिन सबद न स्वादं
अंड ब्रह्मंड खंड भी माटी, माटी नव निधि काया ।
माटी खोजत सतगुरु भेट्या, तिन कछू अलख लखाया
जीवत माटी मूया भी माटी, देखौ ग्यान बिचारी ।
अंति कालि माटी में बासा, लेटै पांव पसारी,
माटी का चित्र पवन का थंमा, ब्यंद संजोगि उपाया ।
भानै घड़ै सँवारै सोई, यहु गोव्यंद की माया ।।
माटी का मंदिर ग्यान का दीपक, पवन बाति उजियारा ।
तिहि उजियारै सब जग सूझै, कबीर ग्यांन बिचारा ।।

[दे० सू० सज्दह ३२, पा० उल्लुमा उहिय २१ वही पृ० ५८७ हसन निजामी की टीका]

हम भी पांहन पूजते, होते रन के रोझ
सतगुरु की किरपा भई, डार्‌या सिर थैं बोझ।
जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि
ते विधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि भूलि।

यह मनुष्य के पशुयोनि में जाने का इसलाम का 'मस्ख' नामक तनासुख अथवा जन्मान्तरवाद है।

मनुष्य जन्म बार बार नहीं मिलता यह इसलामी सिद्धान्त है और कबीर ने इसे बहुधा व्यक्त किया है—

मानिख जनम अवतारा, नां ह्वै है बारंबारा
× × × ×
मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार,
तरवर थैं फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार।
कबीर हरि की भगति करि, तजि विषया रस चोज,
बार बार नहिं पाइस, मनिषा जन्म की मौज।

कबीर का कर्मवाद भी मुसलमानी सिद्धान्त के अनुकूल है।

करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ,
मासा घटै न तिल बधै, जो कोटिक करै उपाइ।
बहुरि हम काहि आवहिंगे।
आवन जाना हुक्म तिसैका, हुक्मै बुज्झि समावहिंगे
जब चूकै पंच धातु की रचना, ऐसे मर्म चुकावहिंगे।
दर्सन छांड़ि भए समदर्सी, एको नाम धियावहिंगे,
जित हम लाए तितही लागे, तैसे करम कमावहिंगे।
हरिजी कृपा करै जौ अपनी, तौ गुरु के सबद कमावहिंगे,
जीवत मरहु मरहु पुनि जावहु पुनरपि जन्म होई।
कहु कबीर जो नाम समानें, सुन्न रह्या लव सोई।

इस पद में कबीर का इस्लामी स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है। कबीर का पारब्रह्म 'अल्लाह' कर्त्ता रूप है—

लोका जांनि न भूलौ भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई
अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निन्दा,
ता नूर थैं सब जग कीया, कौन भला कौन मन्दा।
ता अला की गति नहीं जानी, गुरि गुड़ दीया मीठा,
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहिब दीठा।

और यही नहीं सृष्टि का उत्पादन भी उसी कोटिक्रम में है। कबीर के नारद 'इबलीस' हैं।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माहि--

'चौदह चंदा' मुसलमानों में पूर्णमासी के लिए आता है।

'अवतार' के लिए उन्होंने 'नरसिंघ प्रभू कियौ' नहीं लिखा वरन इस दृष्टि से कि अल्लाह कर्त्ता है, वह किसी रूप में भी उद्धार कर सकता है अतः वे उपाधिवादी हैं।

इस प्रकार मुसलमानी संस्कारों का कबीर में व्याप्त होना दिखायी पड़ता है। यद्यपि वे स्वतंत्र विचार के सूफी यानी जिन्दीक है इसलिए सूफी परंपरा की बातें वे ग्रहण करते हैं, जिससे कट्टर इसलामियत उनमें नहीं मिल पाती।

उनमें 'योग' मिलता है योग दर्शन के प्रतिपादन के लिए नहीं, वरन 'काम के अंकुश' के लिए।

वे अपने को नामदेव आदि के साथ भक्तों की कोटि में नहीं रखते, गोरख आदि के साथ अभ्यासी की कोटि में रखते हैं।

यों तो चन्द्रबली पांडे जी का मत यह है—

'कबीर वास्तव में मुसलमान कुल में उत्पन्न हुए और मुस्लिम संस्कार से बंधे जीव थे जो स्वतंत्र विचार और सत्य के अनुरोध के कारण इसलाम से 'आजाद' हो गये और धीरे धीरे 'जिंद' से 'केवल' वैष्णव बन गये। किन्तु वे अन्त में यही कहते हैं कि—

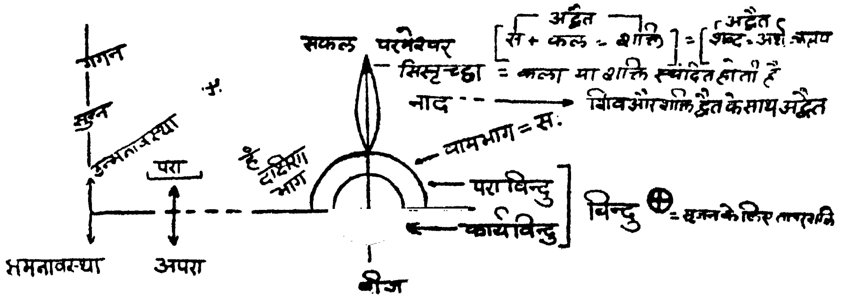
"हमतो प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कबीर को जिन्द कहना ही साधु समझते हैं।"

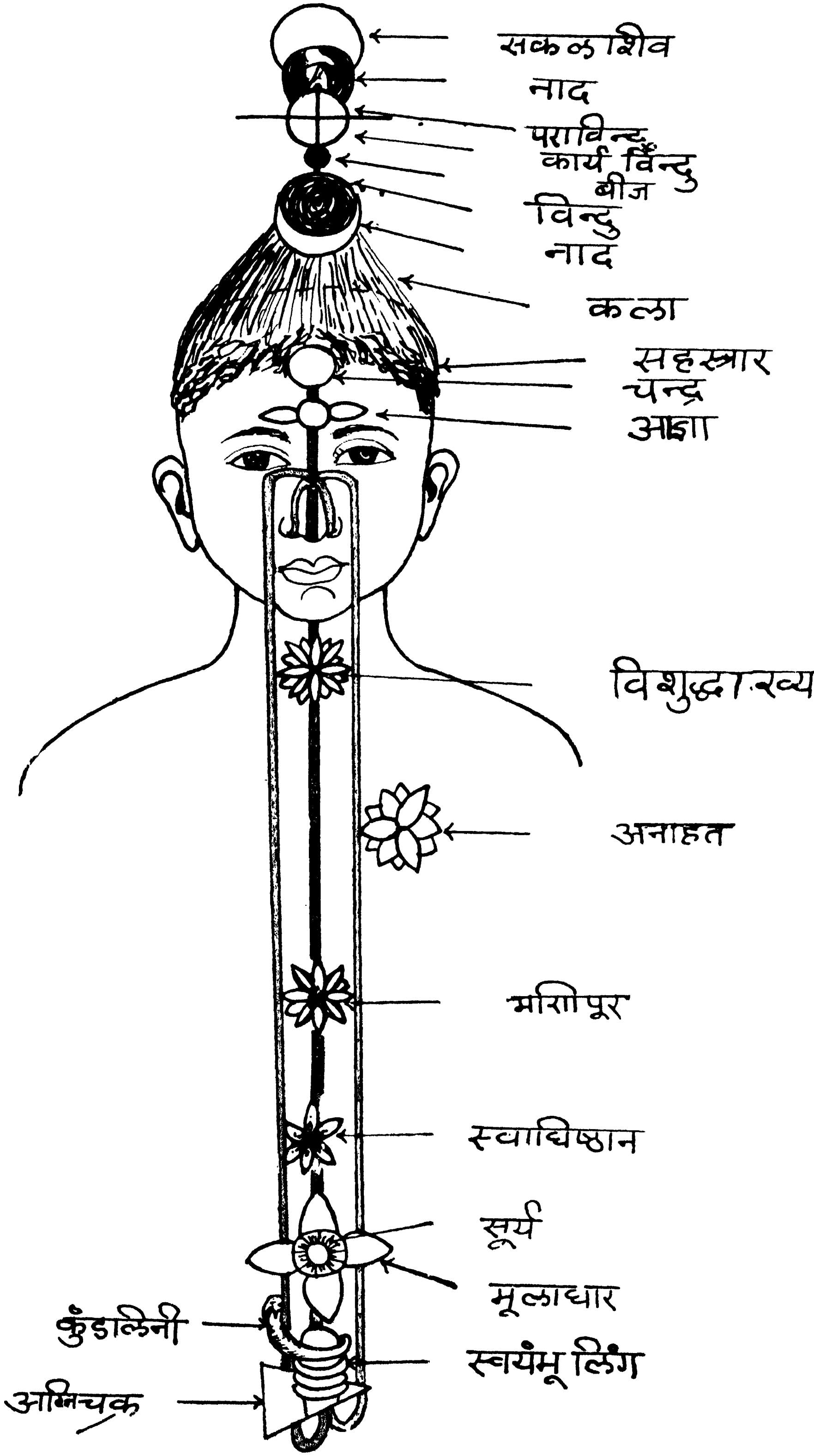
अर्थात् उनका 'वैष्णवत्व' भी 'जिन्दीक' रूप में ही है।

इससे यह विदित होता है कि कबीर की अभिव्यक्ति मुसलमानी ढाल पर ढली हुई है।

उधर कबीर में हमें 'हठयोग' का शास्त्रीय रूप भी दिखायी पड़ जाता है।

कबीर के हठयोग की भूमिका समझने के लिए हमें योग के शास्त्रीय स्वरूप को समझना आवश्यक है। इस भूमिका को निम्न चित्र द्वारा भली प्रकार हृदयंगम किया जा सकता है।




सकलशिव
नाद
पराविन्दु
कार्य विंन्दु
बीज
विन्दु
नाद
कला
सहस्त्रार
चन्द्र
आज्ञा
विशुद्धाख्य
अनाहत
मणिपूर
स्वाधिष्ठान
सूर्य
मूलाधार
कुंडलिनी
स्वयंभू लिंग
अग्निचक्र

*हँसे न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि,
कहै कबीर भीतर भिद्या, सतगुरु कै हथियारि।

बिन्दु कबीर की 'चौहाट' है।

चौपड़ि मांडी चौहटै, अरध उरध बाजार
कहै कबीरा रामजन, खेलै संतविचार
सायर नाही, सीप बिन, स्वाति बूंद भी नाँहि
कबीर मोती नीपजै, सुन्निसिषर गढ़ माँहि
मन लागा उन्मन्न सौं, गगन पहूंचा जाइ
देखा चंद विहूँणा चाँदिणा, तहाँ अलख निरंजनराइ
मन लागा उनमन्न सौं, उनमन मनहिं विलग्ग
लूंड़ विलागा पांणियाँ, पाँणी लूंड़ विलग्ग
गगन गरजि अमृत चवै, कदली कवल प्रकास
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निजदास
कबीर कवल प्रकासिया ऊग्या निर्मल सूर
निस आँधियारी मिटि गई, जागे अनहृद नूर
अनहृद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान
अभिमत अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान।
अकासे मुखि, औधा कुवाँ, पाताले पनहारि
ताकर पाणी को हंसा पीवै, विरला आदि विचारी
सिव सकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठें धूरि
जल में सिंघ जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि
सुरति ढीकुली, लेज ल्यौ, मन चित ढोलन हार
कँवल कुंवा में प्रेमरस, पीवै बारंबार
गंग जमुन उर अंतरें, सहज सुंनि ल्यौ घाट
तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनिजन जोवें वाट

इन उल्लेखों से विदित होता है कि कबीर को जितना इस्लाम का ज्ञान था, उससे भी अधिक हठयोग का था। क्योंकि इस्लाम विषयक जितनी बातों का उल्लेख किया है, वे इतनी सामान्य हैं कि उन्हें मुसलमानों के साधारण संपर्क में आने वाला व्यक्ति भी जान सकता है, पर हठयोग विषयक कबीर के उल्लेख असाधारण ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। हठयोग के विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का उसने प्रयोग किया है। उस समस्त साधना के एक विस्तृत स्वरूप को उसने प्रस्तुत किया है।

इसी के साथ हम देखते हैं कि 'नाम' का आश्रय प्रबल है, वह 'नाम' भी 'राम'

का है । इस रामनाम के साथ 'वैष्णवत्व' लगा हुआ है । इसी के साथ भक्ति भी है। कबीर का स्वरूप श्री चन्द्रबली पांडे जी ने यों दिया है:—

"कबीर की साधना में हठयोग का भी पूरा योग है। कबीर वेदान्त, हठयोग और प्रेम को एक में मिलाकर साधना के क्षेत्र में उतरते और 'केवल' की प्राप्ति करते हैं। कबीर ने हठयोग पर इतना ध्यान दिया है कि लोग उन्हें गोरखनाथ का चेला बना देना चाहते हैं, एवं 'ब्रह्म' तथा 'केवल' का इतना उल्लेख कर दिया कि लोग उन्हें शंकर से अलग नहीं देख सकते, रही 'प्रेमभगति' की साखी सो वह उन्हें वैष्णव बनाने के लिए तुली हैं। कबीर अपने को वैष्णव तो नहीं पर वैष्णव को अपना साथी अवश्य समझते हैं। आखिर बात है क्या कि कबीर वेदान्ती, योगी, और वैष्णव दिखायी तो दे जाते हैं, परन्तु अपने को समझते सदैव उनसे भिन्न हैं । [विचार विमर्श पृ० ३२]

इसके साथ यह भी जोड़ना पड़ेगा कि वे 'कुरान और इस्लाम' के अनुयायी जैसे भी लगते हैं, पर हैं नहीं, 'पांडे जी' का निष्कर्ष है। ऐसा इसलिए है कि वे सूफी हैं, जिन्द हैं, स्वतंत्र विचार के मुसलमान हैं । पर प्रश्न है कि क्या यह इतना ही यथार्थ है ? कबीर के स्वरूप को सिद्ध करने के लिए कसौटी क्या होनी चाहिए ? क्या उन तत्वों का मूल जिनसे कबीर का निर्माण हुआ है, इस कसौटी का स्थान ले सकते हैं ? यदि हाँ तो कबीर के निर्माण के तत्व क्या य हैं ? कि—

१. उन्होंने गोवध का विरोध किया ।
२. उन्होंने अपने को 'कोरी' अथवा 'जुलाहा' लिखा है ।
३. उन्होंने लिखा है 'चौथे पन में जन का ज्यंद'
४. उन्होंने अपनी 'हज' गोमती तीर पर पीताम्बर पीर के यहां बतायी ।
५. उनकी कुछ रचनाओं में कुरान तथा सूफी कवियों की छाया मिलती है ।
६. वे मनुष्य का पुनः मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करने के सिद्धान्त को नहीं मानते ।
७. उनके 'कर्म' का स्वरूप कुछ और है ?
८. 'पूरब जनम' का उल्लेख प्रकृति-विधान अथवा 'लौह महफूज' के लिए है ।
९. वेद और कुरान का जहाँ विरोध किया है वहाँ यह भी लिखा है 'वेद कतेब कहौ क्यूं झूठा, झूठा जो न बिचारै'
१०. वे 'जोति' से सबको उत्पन्न मानते हैं ।
११. उनका उद्देश्य 'प्रेम' का प्रचार था ।
१२. उन्होंने 'चौदह चंदा' पूर्णिमा को लिखा है ।
१३. उन्होंने हठयोग की साधना का वर्णन किया है । कुण्डलिनी, सुरति, निरति चक्र, इड़ा-पिंगला, सुषुम्ना का उल्लेख उन्होंने किया है ।
१४. राम के नाम का जाप और भक्ति का उन्होंने प्रतिपादन किया है ।
१५. उन्होंने राम को अवतार के रूप में भी माना है, और यह भी लिखा है कि 'ना दशरथ घर औतरि आया' ।

१६. उन्होंने 'मरजीवा' बनने का आदेश दिया है ।

१७. कबीर ने 'गुरु' का महत्त्व माना है, और उसे 'गोविंद' से भी बढ़कर स्वीकार किया है—

'गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूं पाँव
बलिहारी गुरुदेव की गोविंद दियो बताय'

१८. 'संत' के स्वरूप को उन्होंने महत्त्व दिया है—उसे सारग्राही बताया है—

'सार सार को गहि रहे थोथा देइ उड़ाय'

१९. उन्होंने माया के अस्तित्व को स्वीकार किया है, पर उसे ठगिनी माना है—

'माया महा ठगिनि हम जानी'

२०. उन्होंने 'मस्जिद' और मन्दिर दोनों का विरोध किया है ।

२१. उन्होंने न हिन्दुओं को ठीक मार्ग पर पाया न मुसलमानों को

'हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई'

कबीर के इस समस्त स्वरूप को दृष्टि पथ में लाते ही यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि कबीर को किसी एक संप्रदाय या मजहब का, अथवा उससे प्रभावित नहीं मान सकते । कबीर बे पढ़े थे । उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया वह लोक ज्ञान था अतः 'लोक-धर्म' ही कबीर ने प्रस्तुत किया । 'लोक-धर्म' ही वस्तुतः सारग्राही हो सकता है । लोक धर्म का सार ग्रंथों से नहीं लोकवार्त्ता से ग्रहण किया जाता है । कबीर से पूर्व के विविध संप्रदायों में प्रचलित विविध बातें लोक धरातल पर पहुँच कर लोक-धर्म का सारग्राही रूप प्रस्तुत कर रही थीं, उसी लोक-धर्म को कबीर ने अपनाया, उसी को उसने हिन्दू मुसलमानों की कसौटी माना । उसी को उसने साहित्य में अपने शब्दों और साखियों द्वारा उतार दिया । इस लोक-धर्म में विविध संप्रदायों की गहरी बातें भी किसी सीमा तक ग्रहण कर ली गयी थीं पर वे सभी ऐसी बातें थीं जिनमें परस्पर संप्रदाय भावना का आग्रह नहीं था । उनमें एक समन्वय और सामञ्जस्य था । वह समन्वय और सामञ्जस्य लोकवार्त्ता के क्षेत्र में साधारणीकृत हो गया था ।

टिप्पणियां

(१)

हाबूड़ा

हाबूड़ा ब्रज की एक अपराधी जाति है । ब्रज में ये अधिकांश थानों (Police Stations) के पास छिट-पुट रूप से बसे हुए हैं । पहले इनकी नियमित रूप से थाने में उपस्थिति होती थी । अब नियमित उपस्थिति तो नहीं होती, किन्तु अपनी सुरक्षा के लिए ये उपस्थिति इसलिए दे आते हैं कि कहीं आस-पास चोरी हो तो पुलिस उनको तंग न करे । इस जाति का संबंध विशेषतः चोरी से था ।[१] सड़कों पर लूटमार भी करते थे । ब्रज में इस जाति के संबंध में एक लोकोक्ति प्रचलित है, जिसका आशय है कि दिन में तो हाबूड़ा टूटा-सा लगता है किन्तु रात में वह बाघ हो जाता है । आजकल हाबूड़ा मथुरा जिले के राया, मादाबाद और बल्देव थानों के आस-पास बसे हैं । सभी अस्थायी घरों में रहते हैं, जो बहुधा फूँस के बने होते हैं । निर्धन ये इतने हैं कि इनके घरों में धातु के बर्तन नहीं मिल सकते । ये मिट्टी के बर्तनों का उपयोग करते हैं । शिक्षा को ये लोग अपने यहाँ वर्जित बतलाते हैं । पर अब कुछ बच्चे पढ़ने लगे हैं ।

उत्पत्ति--

हाबूड़ा शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है । संभवतः इसका अर्थ 'बगाबू' है । 'हव्वा' सम्भवतः संस्कृत के भूत का प्राकृत रूप हो ![२] उक्त शब्द जनता के इनके प्रति भय के भाव का द्योतक कहा जा सकता है । जातीय दृष्टि से यह जाति 'संसिय' और 'भातू' जैसी घुमन्तु जातियों से सम्बन्धित है । एटा जिले के 'नोहहेरा' स्थान (जलेसर) से इनका परम्परागत संबंध है । यहाँ इस जाति के पहले विवाहोत्सव मनाए जाते थे ।[३]

इनके घुमन्तु होने के सम्बन्ध में एक अनुश्रुति है : इनका पूर्वज एक 'रिग' था । एक दिन वह एक खरगोश का पीछा करते करते सीता जी के आश्रम में पहुँच गया । सीता जो

---

१. अलीगढ़ के हाबूड़ों का कहना है कि १२ वर्ष की अवस्था में एक हाबूड़ा बालक एक जोगी के सामने दीक्षित किया जाता है, फिर उसे चोरी की शिक्षा दी जाती है ।

२. Crooks, Tribes and Castes of NW Provinces and Oudh, Vol. II, p. 473.

३. वही, ४७४

उस पर क्रोधित हुईं और उन्होंने शाप दिया—जा तेरे वंशज सदैव यहाँ से वहाँ फिरा करेंगे।

हाबूड़ा नाम के विषय में एक और अनुश्रुति है : ये चौहान राजपूत थे। एक बार इनके एक जंगली संबंधी की मृत्यु हो गई। जातीय लोग उस की स्त्री को सती कराने गये। स्त्री बाहर गई। उसी समय उसे एक खरगोश दीखा। तत्क्षण वह उस खरगोश के पीछे 'हाऊहाऊ' कहती हुई भागी। इससे इनका नाम हाबूड़ा पड़ गया। उधर प्रतिष्ठित चौहान राजपूतों ने उस स्त्री की अपवित्रता के कारण अपने बन्य चौहान भाइयों को जाति से बहिष्कृत कर दिया।

जातीय स्तर--

ये सभी अपने को हिन्दू बताते हैं। ये गाय का मांस नहीं खाते। चार जातियों के हाथ का खाना ये लोग नहीं खाते : चमार, भंगी, धोबी और कंजार। उच्च हिन्दुओं की जूठन भी कभी-कभी खा लेते हैं। कहीं-कहीं ये लोग खेती भी करने लगे हैं। विवाह में तथा अन्य अवसरों पर ब्राह्मण से अनुष्ठान कराते हैं। बालक का नामकरण भी ब्राह्मण ही करता है। ये अपने को कंजरों से ऊँचा मानते हैं। पंचायत की प्रतिष्ठा और मान्यता बहुत है। इनको साधारणतः संसिया, बेरिया, भातू, बहेलिया आदि के वर्ग में रखा जाता है।

जातीय-तत्त्व--

जातीय दृष्टि से, ये मिश्रित समूह के जान पड़ते हैं। अपराधी जातियों में सबसे अधिक सामान्य (average) ऊँचाई 'डोमों' की है : १६६·५३ cms.। इनसे दूसरे नम्बर पर हाबूड़ा हैं, जिनकी सामान्य ऊँचाई १६४·६१ cms है। हाबूड़ा की शिरोन्त सूची ७३·७१ है। नासिका-सूची ७१·२१ है।[१] ये बड़े अच्छे शिकारी हैं। शरीर पतला पर अत्यन्त दृढ़ होता है। वेश्या वृत्ति अत्यन्त सीमित है। अविवाहित लड़कियों को विवाहित स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता रहती है।

व्यवसाय--

आजकल अपराध-वृत्ति को त्याग कर ये लोग व्यवसाय-वृत्ति को अपनाते जा रहे हैं। इनका मुख्य व्यवसाय पशु-पालन और उनका क्रय-विक्रय है। इनकी स्त्रियाँ बहुधा घास खोद कर ताँगे-इक्के वालों को बेचा करती हैं। वृद्ध, वृद्धाएँ और बच्चे भीख भी माँगते हैं। वन्य जीवन के भी कुछ अवशेष मिलते हैं। वन्य पशुओं में लोमड़ी सेह, हिरण, साँड़ा, गोह, न्योला आदि पशुओं का ये आखेट करते हैं; माँस से इनका भोजन बनता है और चमड़ा को बेच देते हैं। वनों से शहद प्राप्त करके भी बेचते हैं। जंगलों में ईंधन-संचय होता है। भोजन विशेषतः गोश्त-रोटी का होता है।

मूलस्थान--

ये लोग अपना मूलस्थान चित्तोड़ गढ़ बताते हैं।[२] ये अपने को राजपूत वंश का

१. मजूमदार, The Fortunes of Primitive Tribes, p. 168.

२. क्रुक्स के अनुसार ये अलीगढ़ जिले के जरतौली स्थान के चौहान राजपूत थे। इन्होंने अलाउद्दीन के विरुद्ध क्रान्ति की। बादशाह की सेना ने इनको हराया और वहाँ से निकाल दिया। कुछ तो वनों में भाग गये। कुछ ने बादशाह से सन्धि करली और अपने स्थान पर जा बसे। [वही, पृ० ४७८]

मानते हैं। इनके पाँच मुख्य गोत्र हैं :[1] चौहान, पमार, सोलंकी, कछवाहे और डाभ। इनका कहना है कि एक बार किसी मुसलमान बादशाह ने वहाँ आक्रमण कर दिया था। उस समय ये लोग वहाँ से भाग आए। तब से इनका जीवन घुमंतुओं का-सा हो गया है।

विवाह :—

पहले ये लोग अन्य जातियों की लड़कियों को भगा कर भी ले जाते थे। किन्तु इन्होंने अब यह कार्य छोड़ दिया है। जाति-पतित या वहिष्कृत स्त्रियों को ये अब भी शरण दे देते हैं। इनके विवाहों में केवल एक गोत्र बचता है। लड़की वाला वर की खोज में नहीं निकलता, लड़के वाला वधू की खोज करता है। जब आपस में सब मामला तय हो जाता है तो लड़कीवाला लड़के का तिलक करता है। लड़की की एक कीमत बिचौलिया तै करता है जो लड़के वाले के द्वारा लड़कीवाले को दी जाती है। विवाह का खर्च भी लड़के वाला सहन करता है। इनके विवाह 'माहे' देख कर होते हैं, चाहे जब विवाह नहीं हो सकता। 'माहा' बताने के अतिरिक्त ब्राह्मण-पंडित का इनके विवाहों में कोई विशेष योग नहीं रहता। निश्चित दिन बरात आती है। आते ही लड़की वाला एक 'कलो' (हुक्का) और एक रुपया बेटेवाले की भेंट करता है। तब बरात, वर-सहित, बेटी वाले के द्वार पर आती है। लड़की का भाई, चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, दूल्हे को बूरा, शक्कर अथवा अन्य कोई मिठाई उस समय खिलाता है। लड़की वाला वहाँ एक रुपया लड़केवाले को भेंट करता है। दावत से पहले दूल्हे के रूठने की रीति है। उसको कुछ भेंट दे कर मनाया जाता है। दावत के समय स्त्रियाँ अत्यन्त अश्लील गालियाँ गाती हैं।

पाणि-ग्रहण के लिए चार बाँसों का एक माढ़वा बनाया जाता है। चारों बाँसों की जड़ों में चार खूँटे गाड़े जाते हैं। उन चार खूँटों के आसपास सात बार सूत पूरा जाता है और जहाँ-तहाँ उसको हल्दी से चिह्नित कर दिया जाता है। तब 'अग्यारी' की जाती है। गरम घृत उसमें छोड़ा जाता है। प्रज्ज्वलित अग्नि के पास वर-वधू आकर एक निर्दिष्ट बिछौने पर बैठ जाते हैं : पट्टे पर बैठने का नियम नहीं है। लड़की की बहन तब लड़के के दुपट्टे और वधू के पल्ले में सात गांठें लगाती है। फिर वर-वधू खड़े होकर अग्नि की परिक्रमा करते हैं। चार परिक्रमाओं में वर आगे रहता है और वधू उसका अनुसरण करती है। शेष तीन परिक्रमाओं में क्रम उलट जाता है : वधू आगे रहती है। परिक्रमाओं के अनन्तर बैठने के स्थलों में परिवर्तन कर दिया जाता है। जिसने पहले ग्रन्थि-बन्धन किया था, उसको फिर बुला कर

---

[1] क्रुक ने ४ माने हैं : सोलंकी, चौहान, पँवार तथा भेदी।

गाँठ खोलने को कहा जाता है। वह कुछ 'इनाम' लेकर गाँठों को खोल देती है। दूल्हा और दुलहिन जाति के लोगों के सामने यह स्वीकार करते हैं कि वे पति-पत्नी हुए।

भाँवरों के पश्चात् दोनों को एक पलँग पर बैठा दिया जाता है। हल्दी, चावल और बताशों से उनका पूजन होता है। उस समय बेटी वाला कुछ बर्तन देता है और कुछ वस्त्र। अन्य कुटुम्बी जन भी यथा-श्रद्धा कुछ भेंट करते हैं। तदनन्तर बेटी-वाले का भातई (लड़की का मामा) या लड़की का भाई गोद में लेकर लड़की को गाड़ी पर बैठाते हैं। लड़की के साथ कुछ पूड़ियाँ जातीं हैं।

एटा जिले के हाबूड़ों में एक विशेष प्रकार की वैवाहिक प्रथा पहले पायी जाती थी। दोनों ओर के लोग इकट्ठे होते हैं। फिर उनमें से एक-एक घोड़े पर सवार होकर भागता है। सब लोग उसके पीछे भागते हैं। इस प्रकार सब भाग जाते हैं, केवल दूल्हा-दुलहिन रह जाते हैं। पास में एक फूँस की झोंपड़ी बनी होती है। उसमें वे दोनों जाकर विवाह करते हैं। थोड़े समय के पश्चात् सब लौट कर आ जाते हैं और विवाहोत्सव मनाया जाता है।

पतिगृह में आकर वधू को शर्बत पिलाया जाता है। 'परेत' (प्रेत), कालिका, कालादेव और 'गोसाँई' की पूजा उससे करायी जाती है। घर की देहली पर गृह-देवताओं को स्थापित कर दिया जाता है। 'परेत' का प्रतीक सफेद कपड़ा, कालिका का लाल, कालेदेव का काला और गोसाँई का भी सफेद कपड़ा बिछा दिया जाता है। घर में पीढ़ियों से चले आने वाले गेहूँ रखे रहते हैं। उनको कपड़ों के ऊपर रख दिया जाता है। इन गेहुँओं को ये लोग पूजते हैं। होली-दिवाली उनको घी और तेल में भिगो देते हैं। नवबधू इन अन्न-वस्त्र रूप देवों को 'धोक' देती है। तब वधू पति-गृह में प्रविष्ट होती है।

धर्म : खोरि—

इनके मुख्य देवता प्रेत, कालिका, कालादेव, गोसांई, बराही, सैयद और मसान हैं। प्रेत की मान्यता सर्वाधिक है। गेहूँ को भी देव के रूप में पूजा जाता है। बराही के चने के दौल पुजते हैं। मसान की पूजा मार्ग-शीर्ष के मंगलों को होती है। उसके भोग के लिए पूड़ी और पूआ की अठावरी[१] की जाती है। घर के लड़कों पर उस अठावरी को उसार कर कुत्तों को खिला दिया जाता है।

ये लोग चोटी रखते हैं। मृतक को जलाते हैं। अविवाहितों को जलाने का विधान नहीं : उनको गाड़ा जाता है।

जब किसी कुटुम्ब या व्यक्ति पर आधि-व्याधियों का कोप होता है तब धर्म की शरण ली जाती है। जाति के कुछ बड़े-बूढ़े एकत्रित होते हैं। पूजा के देव-रूप कपड़ों को बिछा देते हैं। सबसे ऊपर प्रेत का सफेद कपड़ा होता है। उसके एक सिरे को ईश्वर का और दूसरे सिरे को 'पूजा' या देवता का माना जाता है। फिर उस कपड़े

१. 'अठावरी' में आठ पूड़ीं और आठ मीठे पूए होते हैं। उच्चवर्णों में भी देवी की पूजा में अठावरी का विधान है।

के दूसरे सिरे पर पूजा के गहूँ खोल कर रख लिए जाते हैं। 'स्याना' दोनों हाथों में ईश्वर और देवता के गेहूँ उठाता है। फिर उनकी जोड़ी रखता है। यदि ईश्वर के गेहूँ 'ऊने' रह जायँ तो ईश्वर की और यदि देवता के गेहूँ ऊने रह जायँ तो देवता की खोरि मानी जाती है। यह आनुष्ठानिक प्रक्रिया तीन बार चलती है। यदि ईश्वर की खोरि निकले तो गंगा-स्नान और होम का वचन दिया जाता है। यदि देवता की खोरि निकले तो फिर यह जाना जाता है कि देवता क्या चाहता है। बहुधा बकरे की बलि का विधान रहता है। इस खोरि के निकालने से पूर्व गेहुँओं को आन (शपथ) दी जाती हैं। उनमें से कुछ आनें नीचे, उन्हीं की बोली में दी जाती हैं :—

१. खाँभरि परेत
अपनी बहनि-भांजी पर तल्लाक
खच्चो बताओ
झूठ को बोल्लिममा।

२. खाँभरि देव
केही लग्गी
तुआ मार हों
बुरौ करेंतौ
के भा पै करै, म्हारौं
केटि बात पै।

३. खाँभरि परेत,
त्हारी लकरीन तो हाँ जाने,
झूठ कौ परीजान,
तुम्हें च लड़नौ-मरनौ परसै।

४. त्हारौ कहाँ कूरी परैन
चार पंचों में, चार देवों में,
कूरौ[1] केरै।
खच्ची झलिए[2]
कूर पै पग देसमाँ
झूठ बोलसमाँ,
अपनों हवै तौ झालिए
झूठ पग को देसमाँ
झूठ पै पग देस
कोढ़ी थाईस[3]।

१. झूँठा २. जानिये ३. होगा

ताग में डुब्बो जाईस
हित्यारा थाईन ।

यदि देवता बलि माँगता है, तो बकरे की बलि दी जाती है। बलि के लिए गेहूँ का आटा तैयार किया जाता है । एक कोरा घड़ा तोड़ कर, उल्टे खपड़े पर उस आटे की रोटियाँ सेकीं जातीं हैं । प्रेत के कपड़े पर गेहूँ रूप देवता स्थापित कर दिये जाते हैं । घर या कुटुम्ब का मालिक उस पूजा के सम्मुख बकरा काट कर चढ़ा देता है । फिर उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके, मांस को मिट्टी के बर्तन में हो पकाया जाता है । जितने लोग वहां उपस्थित होते हैं, गोश्त-रोटी रूप प्रसाद का भोजन करते हैं । सायंकाल कालिका के नाम की पूड़ियाँ बनायीं जातीं हैं और स्त्रियों में बांटी जाती हैं । काटते समय गोश्त के कुछ टुकड़े और रोटी अग्नि में जलायी जाती हैं । उस समय जो 'मंत्र' बोले जाते हैं, उनका भाव यह होता है:—

अबकी बताया सो अब किया,
फिर बतायगा तो फिर करेंगे,
अब तू नाराज़ मत रहना ।

यदि बलि देने के पश्चात् भी देवता संकट दूर न करे तो देवताओं को समाप्त कर दिया जाता है । यदि वही देवता पीछे भला करे और संकट से मुक्त करे तो गेहूँ के कोरे दाने लेकर 'पूजा' की पुनर्स्थापना हो जाती है । इसको 'पूजा निकालना' कहते हैं । समाप्त करते समय देवों को नदी में बहा दिया जाता है । इस प्रकार 'पूजा' की करामात देखी जाती है और उसी का महत्त्व है । यदि गेहूं के दानों में कीड़े लग जायें तो समझा जाता है कि देवता की करामात समाप्त हो गयी और उन गेहुँओं को किसी नदी में प्रवाहित कर दिया जाता है ।

अपनी 'परतीति' के लिए ये तीन प्रकार की शपथें खाते हैं:—(१) एक दीपक जलाया जाता है । उसे शपथ खाने वाला फूँक से बुझा देता है । इसका अर्थ होता है, यदि मैं झूँठ बोलूँ तो मेरा कुटुम्ब इसी तरह नष्ट हो जाय । (२) पीपल के वृक्ष की जड़ काटता है । यदि मैं झूँठ बोलूँ तो मेरे कुटुम्ब की जड़ कट जाय । (३) देवी और गंगा की शपथ ।

मृतक-सस्कार—

मृत्यु के समय कोई विशेष बात नहीं है । मुर्दे पर कफन डालकर उसे काँठी से कस दिया जाता है । गेहूँ की अनेक रोटियाँ लटकायीं जातीं हैं । मृतक को जला कर जब लौटते हैं तो राख को छान कर एक थाली में जमा देते हैं । उनका विश्वास है कि जिस रूप में मृतक का जन्म होना है, उसका चित्र उस राख पर बन जाता है । 'फूलों' को गाड़ा जाता है । जब किसी विशेष व्यक्ति के फूलों को गाड़ा जाता है तो एक वृद्ध हाबूड़ा कहता है:—इस देश में हमारी जाति सबसे अधिक स्वतंत्र और श्रेष्ठ है । यदि फिर जन्म हो तो हाबूड़ों की जाति में ही हो । मृत्यु के तीसरे दिन 'तीजा' होता है और 'काँधियों' को कढ़ी-रोटी खिलायी जाती है । अगले सोमवार या वृहस्पतिवार को बरकटा भी होता है । तेरहवें दिन भोज होता है । कोई-कोई ब्राह्मणों को 'सीधे' भी देते हैं । श्राद्धों की प्रथा इन लोगों में नहीं है ।

भाषा :—

अभी इस जाति की बोली का विधिवत् वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है। किन्तु इतना अवश्य है कि जब ये लोग आपस में बातचीत करते हैं तो इनकी बोली अन्य जाति वालों की समझ में नहीं आती। वैसे ये अन्य जाति वालों से बातचीत करते समय ब्रजभाषा का भी प्रयोग करते हैं। इनकी बोली का ब्रजभाषा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है किन्तु इनकी बोली पर ब्रजभाषा का कितना-क्या प्रभाव पड़ा है, इसका परीक्षण भी अभी नहीं हुआ। साधारणतः सुनने पर इनकी ध्वनियाँ बिल्कुल भिन्न दीखती हैं।

इनके ध्वनिसमूह की सबसे मोटी विशेषता यह है कि स, श, ष, ध्वनियाँ इनमें नहीं हैं। प्रत्येक सकार के स्थान पर ह (x) ध्वनि का प्रयोग होता है[1] :—

केख = (ke : x) केश
खच्ची = (xecci :) सच्ची
खाखू = (xa : xu :) सास
खारो = (xa : ro :) साला
खारी = (xa : ri :) साली

दूसरी विशेषता द्विभूत ध्वनियों की अधिकता है :—

बुल्लाया = बुलाया
बेल्लो = बेला
रज्जा = राजा
पुच्छौं = पूछा
भौज्जाई = भौजाई
मम्मी = मामी
मम्मौं = मामा
नन्नों = नाना
नन्नो = नानी
कक्की = काकी
गुट्ठा = अँगूठा

ध्वनि संबंधी तीसरी विशेषता नासिक्यीकरण की अधिकता है। साधारणतः जहाँ नासिक्य ध्वनि नहीं हैं, वहाँ भी नासिक्य कर दिया जाता है :—

मत्थौं = माथा
तारुओं = तलवा

---

१. यह विशेषता असमी भाषा में पायी जाती है : "The OIA sibilants have lost their distinctive sounds in Assamese. They are all pronounced as guttural spirants both in initial and medial positions, even though, in medial positions, soft kh sound is heard. The distinction, however' is so slight that their sounds in all positions in a word may be represented by [X]. [Assamese, Bani Kant Kakati. p. 222].

गरों = गला
बाहुराँ = बाँहें
निखर = नाखून
धनियानें = बधू

ध्वनि संबंधी अन्य विशेषताएँ अभी खोजी नहीं गयीं हैं। वे अपनी भाषा को लिखाने में आपत्ति करते हैं। धीरे-धीरे उनकी बोली की ध्वनियों का अध्ययन किया जा रहा है। नीचे पारस्परिक संबंधों के द्योतक शब्दों की सूची दी जाती है :—

	हिन्दी	हाबूड़ी
१.	बाप	बाबौ
२.	मा	आई
३.	बहन	बाई
४.	भाई	भाईच्
५.	चाची	कक्की
६.	भाभी	भौज्जाई
७.	देवर	देवरच्
८.	मामा	मम्मौं
९.	माँई	मम्मी
१०.	नाना	नन्नौ
११.	नानी	नन्नी
१२.	बहनोई	बहिनियों
१३.	भानजा	भाँजौं
१४.	भूआ	फौई
१५.	फूफा	फूऔ
१६.	साला	खारौ
१७.	साली	ख़ारी
१८.	सास	खाखू
१९.	श्वसुर	खख़रौ

साथ ही शरीर के भागों के नामों में भी कुछ अंतर मिलता है। कुछ तो उच्चारण की दृष्टि से अन्तर है और कुछ शब्द ही भिन्न हैं। साधारण परिचय के लिए नीचे उनके शब्दों की सूची दी जाती है :—

१.	मूँड	मौंड़
२.	माथा	मत्थौं
३.	कान	कान्न
४.	केश	केख (ke : x)
५.	भौं	भौंहें

६.	पलक	पलकें
७.	आँख	अंखें
८.	मूंछ	मूँछें
९.	ओष्ठ	होट
१०.	दाँत	दँतरेखा
११.	जीभ	जीभ
१२.	मसूड़े	बूटुआँ
१३.	तलवा	तारुऔं
१४.	ठोड़ी	ठोर्ही
१५.	गाल	गालाँ
१६.	गला	गरौं
१७.	हसली	हाँखली
१८.	कंधे	कुट्ठा
१९.	बाहें	बाहुराँ
२०.	उँगली	आँगरी
२१.	अँगूठा	गुट्ठा
२२.	हथेली	हथेराँ
२३.	कुच	अंचराँ
२४.	छाती	छताँ
२५.	पेट	पेट्ट
२६.	कमर	कमाइरौं
२७.	चूतड़	पौंध
२८.	जाँघ	जंघैं
२९.	घुटना	घुंटन
३०.	पिंडरी	पेंड़रीच
३१.	गांठें	गंठें
३२.	तलवा	तरुऔं
३३.	पीठ	पींट्ठ
३४.	नाखून	निखर
३५.	कन उँगली	चेल्ली आंगरी री।

अभी हाबूड़ों की बोली का अध्ययन नहीं हुआ। इसलिए उनकी बोली का व्याकरण नहीं दिया जा सकता। केवल कुछ हिन्दी वाक्यों का उनकी बोली में अनुवाद नीचे दिया जाता है, जिससे कुछ परिचय मिल सकता है :—

हिन्दी	हाबूड़ी
१. एक राजा के सात लड़कियां थीं।	१. इक रज्जानें खात (xa : t) दिकरी हुतीं।
२. एक दिन राजा ने पूछा।	२. इक दिन रज्जाएँ पुच्छौं तौं।

३. तुम किसके भाग्य का खाती हो ?	३. तौं किन्हां मुकद्दर नौं खाई र्‌ही ?
४. उन्होंने कहा : तुम्हारे भाग्य का खाते हैं।	४. जैनें कह्‌यौं तार्‌हा मुकद्दरना खाई र्‌ही
५. एक ने कहा	५. इक्कें कह्‌यौं

उनकी दस तक गिनती इस प्रकार है :—

एक	एक्कच
दो	बैंजना
तीन	तंर्जना
चार	चर्जना
पाँच	पंचना
छ:	छौजना
सात	खातजना
आठ	अट्ठजना
नौ	नौवजना
दस	दौखजना

यह हाबूड़ों का संक्षिप्त परिचय है। अभी उनकी रहन-सहन और बोली-भाषा पर अन्य संस्कारों का प्रभाव नहीं है। अतः इस समय उनका अध्ययन हो जाना चाहिये। धीरे धीरे उनको शिक्षित बनाने की चेष्टा हो रही है। तब सम्भवतः उनकी संस्कृति और भाषा का शुद्ध रूप न रह जाय।

चन्द्रभान रावत,
अनुसंधान सहायक।

टिप्पणी

(२)

वर्ण रत्नाकर

(एक परिचय)

चौदहवीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों के अन्तर्गत प्रणीत कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठक्कुर का वर्णरत्नाकर उत्तरी बिहार की मैथिली भाषा के उपलब्ध और ज्ञातव्य साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रंथ है। ताड़पत्र पर प्राचीन मैथिली लिपि में लिखी इसकी एक हस्तलिखित प्रति एशियाटिक सोसाइटी में संग्रहीत है। इसमें मूल रूप से ७७ पत्र थ जिनमें से प्रथम ९ तथा ११-१२, १४-१५, १७-१९, २६-२७ नष्ट हो गये हैं। सन् १९४० ई० में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और पं० बबुआ जी मिश्र द्वारा संपादित किये जाने पर एशियाटिक सोसाइटी की बिब्लिओथेका इंडिका सीरीज़ संख्या २६२ में इसका प्रकाशन हुआ है।

'पंचशायक' और 'धूर्तसमागम' के रचयिता ज्योतिरीश्वर ठक्कुर मैथिल-कोकिल कविवर विद्यापति के पितामह जयदत्त के चचाजाद भाई थे और इस प्रकार हम देखते हैं कि वे मिथिला के १३ वीं-१४वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध संस्कृत के पंडितों के घराने से सम्बन्धित थे।

वर्णरत्नाकर में मध्यकालीन भारत के जीवन और संस्कृति का अच्छा चित्र प्राप्त होता है। महाराष्ट्र के चालुक्य नरेश भूलोक मल्ल सोमेश्वर तृतीय (सन् ११२७-३८ ई०) के काल में रचित और बड़ौदा की गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ में अंशतः प्रकाशित 'मानसोल्लास' के समकक्ष हम इस ग्रंथ को भी रख सकते हैं। यद्यपि भारत में मुस्लिम शासन आ जमने के सौ वर्ष उपरान्त इस ग्रंथ का प्रणयन हुआ था फिर भी इसमें मुस्लिम-पूर्व काल की हिन्दू भावना आद्योपान्त लक्षित होती है ! इसमें प्रयुक्त हुए अरबी और फारसी के शब्द इस बात के द्योतक हैं कि उस समय उत्तर भारत में फारसी भाषा का व्यवहार करने वाले तुर्क उपस्थित थे।

इस ग्रंथ का नाम है 'वर्णरत्नाकर' अर्थात् वर्णों या वर्णनों का समुद्र। अस्तु, इस सागर में कल्लोलों का उठना अनिवार्य और स्वाभाविक है; इसी से अपनी रचना को कवि ने आठ कल्लोलों में विभाजित कर दिया है जिनके बीच बीच में शार्दूलविक्रीड़ित

छन्द में ६ श्लोक हैं जो बहुधा गद्यवर्णित पूर्व विषय से सम्बन्धित हैं। यथा श्मशान वर्णन के अन्त में निम्न श्लोक है :—

वेतालोत्तालवक्राविटविकटरटद्घोरदंष्ट्राकरालं
प्रभ्रष्टोल्कास्फुलिङ्ग प्रकटशववसास्वादमाद्यत्परेतं ।
अस्तान्त्रव्यग्रजिह्वाकुलमुखकुहराव्यक्तगोमायुरोलं
द्रष्टं रौद्रं श्मशानं जनयति न भयं कस्य चित्ते निशायाम ।।

इस ग्रंथ में नगर, नायक, नायिका,, सखी, नायिका-हास्य, स्थान, समरहर (रतिक्रीड़ागृह), शयन, मध्याह्न, सन्ध्या, वर्षारात्रि, अन्धकार, चन्द्रमा, मेघ, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, चौंसठ कला, सोलह दान, रत्न, मणि, वस्त्र, देशी वस्त्र, निभूषण, नेत, अभिषेक, ज्योतिर्विद, द्यूत, वेश्या, कुट्टनी, कामावस्था, प्रयानक (यात्रा), आखेट, वन, उपवन, सरोवर, पोखर, पर्वत, ऋषि, आश्रम, भाट, मल्लयुद्ध, विद्यावन्त, नृत्य, पात्रनृत्य, प्रेरणनृत्य, श्मशान, मरुस्थल, समुद्र, तीर्थ, नदी, ऋषि, पर्वत, चौरासी सिद्ध, दशावतार, अष्ट मूर्ति, नवग्रह, अष्टावसु, एकादशरुद्र, विश्वेदेव, मनु, साध्य, द्वादशादित्य, अष्टदिग्गज, रामायण (कांड), अठारह पर्व, अष्टदिक्पाल, अठारह पुराण, उपपुराण, अठारह स्मृति, आगम, राजपुत्रकुल, छत्तीस दण्डायुध, देश, वहित्र, राज्य, विवाह, द्वादसपुत्र, अष्टनायिका, वणिकपुत्र, चोर,, दुर्ग, नौका, वैद्य, बोहित और पुनर्भोजन विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ग्रंथ के नष्ट पत्रों में वर्णित अन्य विषय भी इसी प्रकार के रहे होंगे, ऐसा मेरा अनुमान है।

उपर्युक्त तालिका को देखने से पता चलता है कि निर्दिष्ट विषय काव्य में वस्तुवर्णन के प्रसंग से सम्बन्धित हैं। अस्तु, इस ग्रंथ का निर्माण कवियों को इस प्रणाली में सहायता के उद्देश्य को लेकर हुआ होगा।

इन वर्णनों की विशेषता यह है कि प्रणेता ने उनका सम्यक् रूप पटुता से खड़ा किया है। नगर-वर्णन को ही लीजिये जिसमें हमें तत्कालीन भारतीय नगरों के भद्दे प्रान्तरों में विचरण करने वाले चोर, उचक्कों और भिखमंगों के बीच से निकलना पड़ता है, जहाँ बोली-ठोली बोलनेवाले अन्य निम्नश्रेणी के व्यक्तियों की कमी नहीं है। परन्तु इसके साथ नागरजन और नवेलियां भी यथास्थान दिखायी देते हैं। राजा और रईसों के स्नानागार, भोजनालय और शयनागार भी कवि हमें दिखाता चलता है। इस ग्रंथ के ये गद्य-वर्णन यह सिद्ध करने में समर्थ हैं कि उसका रचयिता जन्म जात कवि था और उसकी दृष्टि बड़ी पैनी थी, जिसके साथ मैथिली भाषा की लालित्य पूर्ण मधुरिमा की गरिमा ने संयुक्त होकर चार चाँद लगा दिये हैं।

वर्ण का एक अर्थ 'गीतक्रम' भी होता है। परन्तु वर्णरत्नाकर रीति-परम्परा का पोषण करने वाला ग्रंथ है जिसमें वस्तुओं के वर्णन की सूची निश्चय ही किसी भी कवि की सहायिका हो सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसकी पर्याप्त सामग्री संस्कृत ग्रंथों से ली गयी है। परन्तु इसमें वर्णित अनेक विषय यथा—द्यूत और शतरंज के दावँ, घड़ियाल, वृक्ष और पुष्पों के प्रकार, नौका चलाने के यंत्र के विविध

नाम आदि ऐसे हैं जिनमें लेखक की स्वानुभूति, खोज और श्रम स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं ।

कतिपय वर्णन द्रष्टव्य होंगे :—

।। अथ कुट्टनी वर्ण्णना ।। वर्ष सए तीनि भितर वएस. पाण्डुर भलुह. शङ्खावदात केश. सङ्कुलित त्वच. उन्नति शिरा. निर्म्मांस काय. भाङ्गल कपोल. भलल दाँत. वले जीनल वएस. वएसे जीनल वल. वोल वोलइतें जहहि ओठहि लगा रागी. हस्तक साने मेलापक रोआव. मार्क्कण्डेक सहोदर जेठि वहिनि आइसनि. लोभक बेटी अइसनि. वुद्धिक माञु सि अ (इ) सनि. कुटिलमति, नारदक सहोदर आइसनि घटक. विष्णुमाया अइसनि संघटक. सतीहुक सत्यभाँग. कुलवधुहे. कुटिलाकर कुटनी देषु ।। मृत्यु सञो कलकल करइतें अछ. मृत्यु वोल. मञो तोहि लए जाञो. से वोल. वरप एक कट देह. मञि नगरक सोष सोहर देषि जाञो अखलु कइसन. कामदेवक रसनाञो फाटि गेल तें वासनाञे जनि यौवनक परित्याग कए हलल. यद्यपि सुषाएल सरोव (र) अइसन शरीर भए गेलइक. तहु दशा रेखटोप अञ्जन शरीर न (हा) उ × अइसनि पर जाति प्राणहारिणी कुटनी देषु ।

।। अथ चौर वर्ण्णना. नटक अइसन नाना रूपकर्त्ता. दुर्ज्जन अइसन परमर्म्मघातक. वेश्या अइसन परअनुग्राहक. राक्षस अइसन रात्रिञ्चरशील. आपद अइसन दुःखदायक. पाखण्ड अइसन परलोक निस्पृह. पतङ्ग अइसन आततायी. मूर्ष दरिद्र अइसन लोभी. विद्युत अइसन दुष्ट. नष्टकाक अइसन चाकित दृष्टि.सर्प अइसन वक्रगति. चाण्डाल अइसन निर्द्दय. सलभ अइसन उपेक्षित मृत्यु चरण. पावक. हस्तक. वज्रप्राय एवम्विध सर्व्वगुण संपूर्ण चौर देषु ।। पुनु कइसन । निःशङ्क निरपेक्ष अहिल. प्रवन्धक. सुबुद्धि. विक्रान्त. वलिष्ठ वेगवन्त. सूष्मदर्शी. मयावी. सद्विचक्षण. स्वस्थ. कुशलादि अनेक गुणविशिष्ट चौर देषु ।

।। अथ वहित्रवर्ण्णना ।। निजिरागणकभारा विद. वाँहक. पवनवेत्ता. यान शिल्पी. जलधार. घुणवृक्षक. भावसोङ्कर. सेकपात्रादि अनेकोपकरणसंयुक्त डोङ्ग. वेणी. वहित्र. यानपात्र. जेङ्ग वहल अनेक प्रकार वोहित साजिहलु ।

यावन्निधिनन्दिनी मुररिपोर्वक्षस्थलं गाहते ।
यावन्निर्जरसिन्धु ससुखं रत्नाकरो विन्दति ।
यावत् पङ्कजवान्धवस्य भुवनान्युद्योतयन्ते करा: ।
काव्यं श्री कविशेषरस्य सुधियां तावत्कृषीष्टोत्सवम् ।

।। अथ निर्भूषण वस्त्र वर्ण्णना ।। कमरुवाल. वङ्गाल. गुज्जर. कठिवाल. तेलकण्टा. शुद्धओट. काची. निचढ़ी. जीली. वरहथी. मझओतरि. झुरण. वपया. एवम्विध निर्भूषण वस्त्र देषु ।

।। अथ नेत वर्ण्णना ।। हरिणा. वैङ्गना. नखी. सर्व्वाङ्ग. गुरु. शुचीन. राजन. पञ्चरङ्ग. नील. हरित. पीत· लोहित. चित्रवर्ण्ण. एवम्विध जाति नेत देषु ।

मध्यकालीन भारत के जीवन पर प्रकाश डालने वाले कतिपय ग्रंथों में ज्योतिरीश्वर के गद्य-रचित 'वर्णरत्नाकर,' की भी गणना की जानी चहिये ।

डा० विपिन विहारी त्रिवेदी, लखनऊ

टिप्पणी

(३)

हस्तलिखित ग्रंथों का अनुसंधान

जयपुर में मुनि कान्तिसागर जी की सहायता से हस्तलिखित ग्रंथों के दो वृहद् संग्रह देखने को मिले । इनमें निम्नलिखित पुस्तकें महत्त्वपूर्ण थीं :—

१.	भविसदत्त कहा	ले० ब्रह्मराय, अनंतकीर्ति के शिष्य	रचना सं०: 'सोलह सै तेतीस सार' लिपि सं० १८२७
२.	भद्रवाहु चरित		
३.	सन्तविसन भाषाया		
४.	समुच्चय कथा	संघी परमराम के सुत भारामल्ल रचित	रचना सं० १८१४ :'संवत ठारहसै अधिक चौदह अस्यनि मास,: लिपि सं० १८७९ सं०
५.	श्री सीता-चरित्र	ले० राहचंद, रविषेण के रघुपुराण से	रचना-संवत: सतरातेरोत्तरे मगसिर ग्रंथ समापति करे; सुकुल पक्ष तिथि पंचमी :—— लिपि १४४७ सं०
६.	,,	,,	लिपि १८९९
७.	हरिवंश पुराण	सालवाहण कृत	लिपि १७८४ सं०
८.	समयसारु	[प्राकृत-संस्कृत] कुंदकुंदाचार्य	रचना १५८०
९.	तत्वार्थाथिक मोक्षे	[गद्य टीका]	
१०.	भक्तामर	ले० विनोदी लाल	लिपि १८२८
११.	चारित्र्यसार [संस्कृत]		१५८३
१२.	हरिवंस	खुस्याल चंद	रचना : संवत सतरा सै अरुअसी लिपि १८४२ सं०
१३.	आत्मानुसामन	[टीका गद्य में]	लिपि १८८८
१४.	धर्म परीक्षा भाषा	शालिवाहन	रचना 'अठारैसौ गिरोत्रं
१५.	भद्रवाहु चरित्र	सिंघही किसन सिंह	रचना १७८३

१६. श्रुतिसागर सूरि कृत व्रत कथा कोष	चंद खुस्याल	१७८७
१७. सुंदर शृंगार	सुंदर	रचना : संवत सोरह सै वरष बीते अठयासीति
१८. राम चन्द्रोदय	[बालकांड] कृष्ण	लेखन १८०२
१९. प्रेम रत्नाकर	देवीदास करौली के	लिपि : १७९० : रचना : सत्रह सै वरस छियालीस निरधारि
२०. विदग्ध माधव	[संस्कृत] नाटक	१७५८
२१. सूरति की बारह खड़ी	[नये कागज पर]	
२२. पिंगल ल०	[अपूर्ण]	
२३. शब्द संचय		
२४. वल्लभकृत तत्वप्रदीप		लिपि : १७६४
२५. भागवत पंचमस्कंध		,,
२६. हरिवंश पुराण	शालिवाहन	रचना : १६५५ माघ कृष्णा सोमवार। लिपि : १७१६ आगरे में लिखी
२७. फूल जी फूल वनी तरी वात		१८५२, चैत्र शुक्ल ६
२८. तिमिर प्रदीप लघु जातक		रचना १७९८
२९. कर्म-विपाक		लेखन १६०७
३०. भक्ति सुधाकर	वृन्दावन देव गोस्वामी	
३१. रामायण	कवि कलानिधि	लेखन १८२० (दहरा में)
३२. ,,	,,	,, १८३७
३३. अध्यात्म रामायण हिंदी	भगवान दास निरंजनी	रचना : १७४१ : लिपि : १७८३
३४. मोहनदास कृत कवित्त		लिपि, १८९२
३५. परतीत परीक्षा	उदय	
३६. प्रह्लाद चरित्र	जन गोपाल	लिपि, १८९२
३७. प्रद्युम्न चरित्र	देवेन्द्र कीर्ति	रचना, १७२२ सं : लिपि, १८१३
३८. हरीराय कृत पिंगल		रचना, १७९६ : लिपि, १९२८
३९. अयोध्या कांड	तुलसी	लिपि १८४४
४०. आरण्य कांड	,,	,,
४१. प्रथम कांड	,,	,,
४२. लीलावती रास	उदयरत्न	रचना, १७६७, आश्विन कृष्णा ६, सोमवार

४३. सांब प्रद्युम्न चतुष्पदिका	समयसुंदर	रचना, १६५९, विजयादशमी लिपि, १७४६
४४. आरमनंदन चौपाई	दयासार	१७७४, आश्विनी सुदी पूर्णिमा मुलतान
४५. रूपदीप पिंगल		हाजी डेराखान में, १८७६
४६. गणितसार		लिपि १७९४ कोटा में
४७. आत्मबोध	[पद्यबद्ध टीका शंकर के आत्मबोध की]	रचना, १८५६
४८. दोहासार संग्रह		रचना, १७२० चैत्र, गुरू शुक्ल द्वितीया
४९. पंचतंत्र		सोलहवीं सदी का
५०. भँवर गीत	मुकुंद दास	लिपि १८११
५१. आलीजाह प्रकाश	पद्माकर	

५२. गुटका—१. विष्णु दास की बारहखड़ी
२. नंददास भँवर गीत
३. मुकुंद दास प्रेमरस पूजनी लीला
४. दत्तलाल की बाराषरी
५. प्रहलाद जी की बाराखरी
६. परमेश्वर जी की बाराखड़ी
७. मुरलीदास जी की बारामासी
८—१०. बारेमासी—३
११. लैलं मजनूं के रेषता
१२. भक्त बाराखरी

५३. अथ चकत्ता पादसाही की परंपरा (गद्य)
५४. राम अस्तव राज की टीका
५५. नेह-निदान नवीन। लिखित रसआनन्द द्वारा, सं० १८९६
५६. गुटका—१. राधिका प्रतीत परीक्षा : बालकृष्ण सं० १९१२ लिपिकाल
२. गीता - लहरी टीका ,,
३. भरथरी सतसई सवाई प्रतापसिंहजी देव विरचित ,,
४. श्रृंगार मंजरी ,,
५. दत्तलाल की बाराखड़ी ,,
६. (ब्रह्मस्नेह) विरह बाराखड़ी ,,
७. रामायण बाराखड़ी ,,
८. कोक मंजरी ,,

५७.	गुटका—१-३० लगभग ३० जैन ग्रंथ		,,
	३१—हितामृत लतिका	सवाई ब्रजेन्द्र बलवंतसिंह हेत, वैराम कवि रचिते, पंचतन्त्र जैसी	
५८.	गुटका—१. कविप्रिया—		लिपि—१८४६
	२. फुटकर रसखानादि		,,
	३. रसिकप्रिया		,,
५९.	आनन्द घन कृत कवित्त		
६०.	भक्तमाल (सटीक)		
६१.	कृष्ण चरित्र सागर	कृष्णदास	रचना सं० १९१०
६२.	ग्वाल का नखशिख		
६३.	गुटका—१. सुदामा चरित्र		
	२. माथुर कवि सोमनाथ का ध्रुवविनोद		
६४.	बैताल पचीसी	गंगेश मिश्र	रचना, १७३९, माघ वदी मंगल, सप्तमी
६५.	कवित्त सूरजमल्ल के		लिपि—१९०४
६६.	जस कवित्त		
६७.	गुटका—१. हमीर कौ रासौ : करै हमीर हठ साहि सौं	कवि महेस जस गाइ	ज्येष्ठ शुदि १३, वृहस्पति बार, संवत् १·९४: पोथी लीषतं ब्राह्मणतरोराम पठनार्थं, लाल छीतरमल
	२. स्नेह लीला	मनोहरदास	
६८.	कवित्त रत्नाकर		
६९.	उपनिषद (अनुवाद-गद्य) भाषा	कृष्णभट्ट सवाई माधवसिंह के लिए	
७०.	चकत्ता की पातस्याही कौ परंपराय		लिपि १८९४ शाके शालिवाहन
७१.	विजय सुधानिधि	वैराम कवि, सवाई ब्रजेन्द्रसिंह के लिए	लिपि १९०५
७२.	गोविंद विलास	कृष्णकवि कूर्मावतंस गोविंदसिंह के लिए	,,
७३.	गुटका—१. सिषनप	रस आनंद, श्रीब्रजेन्द्र बलवंतसिंह के लिए	रचना—१८९३, रस आनंद के रसादिगों में
	२. गंगागमनो कथा	,,	१८९३

७४.	रसपीयूषनिधि	सोमनाथ	रचना—१७९४, जेठ कृष्ण १०, लिपि १८५५
७५.	पंच दंड कथा	वैद्यनाथ, सोमनाथ के पौत्र	रचना १८८४ भादों सुदी १४ मंगलवार
७६.	आलमकृत सरस कवित्त	४०० कवित्त	
७७.	सिद्धांत के पद	वृन्दावनदास	
७८.	नासकेत पुराण-गद्य	नंददास	लिपि १८८५
७९.	निपटजी के कवित्त	निपट निरंजन	
	१. वाणी,	किशोरी अली	
	२. संकेत विलास	,,	
	३. भ्रमर गीतावली	,,	
८०.	गुटका—१. नाटक समय सार बनारसीदास		
	२. सामुद्रिक टीका [गद्य]		लिपि १८०९
	३. जैन सतक	भूधरदास	
८१.	दम अष्टपदी		
८२.	गुविंदानंध घन	अलिरसिक गुविंद	
८३.	डामर तंत्र		
८४.	विनय पत्रिका		लिपि १८७८

जयपुर में बहुत ग्रंथ थे, थोड़े से समय में केवल कुछ ग्रंथों का ही चलता-विवरण लिया जा सका।

युगान्तर में संस्कृत की भूमिका

मनुष्य को सम्बद्ध, समाजनिष्ठ एवं सुसंस्कृत बनाने वाली समस्त शक्तियों में शब्द-शक्ति की सामर्थ्य सबसे अधिक है, और इसी कारण शब्द-ब्रह्म की उपासना जीवन की सर्वोपरि और सर्वव्यापिनी शक्ति बन सकी है। यह मान्यता सर्वथा उचित है कि अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भारतवर्ष जैसे हर प्रकार से हिमालय का ऋणी है, उसी तरह मस्तिष्क तथा आत्मा के क्षेत्र में वह हर प्रकार से संस्कृत भाषा का कृतज्ञ है।

प्रागैतिहासिक काल :

प्रागैतिहासिक काल में आदिम आर्यों ने जिस आर्यभाषा का सृजन किया था, वह अनेक भारतीय भाषाओं की पूर्वजा थी। आर्य भाषा के इस सृजन और संवर्द्धन से बहुतेरी धारणाएँ अपने विशाल अर्थों के साथ शब्दबद्ध हो चली थीं, और समय की प्रगति के अनुसार इन्हीं शब्दों ने मानव समाज के सामाजिक बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन में परिवर्तन उपस्थित कर दिये थे। भारत में आर्य लोग अपनी बातचीत के लिये प्रारम्भिक प्राकृत का प्रयोग करते थे, जो बाद में असाधारण परिमार्जन से विशुद्ध होकर शास्त्रीय संस्कृत के रूप में परिवर्तित हो गई। यह परिवर्तन ऋग्वेद के दशराज्ञ युद्ध की महान घटना के उल्लेख से भी पहिले हो चुका था। आर्य शाखाएं पारस्परिक संघर्षों के साथ साथ अनार्यों से भी युद्ध करती रहती थीं, किन्तु फिर भी वे अपनी भाषा-विषयक समानता के कारण परस्पर एकता के सूत्र में आबद्ध रहती थीं। जब शब्द, स्वरबद्ध उच्चारण के साथ स्तुति-गीतों का रूप ग्रहण करते थे तो वे पवित्र मंत्र बन जाते थे। इन मंत्रों की रचना की क्षमता रखने वाले ऋषि दूसरे ईश्वर की तरह पूज्य माने जाते थे। पूज्यता की इस भावना के कारण शब्द-सामर्थ्य को स्वर्गीय शक्ति का प्रतीक मान लिया गया और यह विश्वास किया जाने लगा कि इस प्रकार की क्षमता रखने वाले ऋषि आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न हैं। बस इसी विश्वास के कारण संस्कृत भाषा अपने शैशव काल में ही विभिन्न आर्य दलों के मनों और मस्तिष्कों को एकता के सूत्र में संग्रथित रखने वाली एक जीवित जागृत शक्ति बन गई। संस्कृत भाषी आर्य, दैनिक बोलचाल में संस्कृत का प्रयोग करने वाले जन समूहों को अपने वर्ग में मिला लिया करते थे, और मिलनेवाले यह समझकर कि संस्कृत के पूर्ण ग्रहण के बिना सामयिक सभ्यता और संस्कृति की प्राप्ति संभव नहीं है, आर्यों में घुलमिल जाते थे। इस प्रकार भारत के बहुमुखी जीवन के मूल में बहुत ही पुराने समय से संस्कृत

युगान्तर में संस्कृत की भूमिका-रोल आफ संस्कृत थ्रू दि एजेज नामक अंग्रेजी लेख का अनुवाद।

भाषा के प्रसाद से ही सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति की प्राप्ति की भावना विश्वास बनकर बैठ चुकी है।

ऋग्वेद के मंत्रों की रचना-शैली गीति-काव्य प्रधान है, जिनमें अत्यन्त कुशलता पूर्वक तत्कालीन व्यावहारिक जीवन का चित्रण किया गया है। ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों से लेकर उसके दसवें मंडल के सब से अन्तिम काल के बने मंत्रों तक में इस बात की स्पष्ट छाप वर्तमान है कि उनकी भाषा उस समय की काम आने वाली प्रगति और परिवर्तनशील भाषा से बहुत भिन्न नहीं है, और इस व्यावहारिक भाषा द्वारा ही उस पुरातन युग में समस्त आर्य जाति परस्पर संगठित और सम्बद्ध रह सकी थी।

अथर्ववेद अपने मूल रूप में यद्यपि कम पुराना नहीं है, फिर भी उसका पिछला संस्करण उस युग में तैयार हुआ था जब बोलचाल की भाषा महावैयाकरण पतंजलि की भाषा से अधिक भिन्न नहीं थी। वैदिक गीतों को नियम बद्ध करके प्राचीन आवरणों से विभूषित करने के बाद ही उन्हें मंत्र कहा जाता था।

ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि वे तत्कालीन लोक-प्रिय भाषा संस्कृत के सर्वोपरि विशेषता पूर्ण गद्य-ग्रन्थ हैं। उपनिषद ग्रन्थ भी गुरु शिष्यों के सम्वाद के रूप में लिखे गये तत्कालीन जागृत विचारों के प्रतीक हैं।

आर्य-शक्ति—संस्कृतः

आर्यों के सप्त-सिन्धु में फैलने के युग से लेकर ईसवी पूर्व १५०० की महाभारत युद्ध की शताब्दियों में, प्रारम्भिक प्राकृत का प्रगतिशील स्वरूप बोलचाल की भाषा के रूप में शास्त्रीय संस्कृत के बहुत समीप पहुँच गया था। संस्कृत भाषा का यह लोक-प्रिय स्वरूप ही समस्त आर्य-संघ की शक्ति का प्रतीक माना जाता था। तत्कालीन आर्य-संस्कृति ऋत पर निर्भर थी। जीवन के आदर्शों के उच्चतम विधान को आर्य-परम्परा में ऋत कहा जाता था, और संस्कृत भाषा इस ऋत को व्यवहार में लाने, संग्रहीत रखने, विकसित करने और समाज को ईश्वरोन्मुख बनाने का एक मात्र माध्यम थी।

ऐतिहासिक कालः ई० पू० १५०० से लेकर ई० पू० ७०० तक

महाभारत युद्ध से लेकर मगध साम्राज्य के उत्थान तक के वास्तविक ऐतिहासिक युग में संस्कृत-प्रियता की यह धारणा उत्तरोत्तर लोक-व्यापिनी बनती गई। इस युग में संस्कृत राजभाषा होने के साथ-साथ सिन्धु और गंगा के मैदानों और उनके उपक्षेत्रों में बसने वाली जनता की नित्य व्यवहार में आनेवाली जीती जागती भाषा थी। यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि इस युग में संस्कृत लोकभाषा के साथ साथ साहित्य, दर्शन और विधि-विधान की भाषा भी थी, जिसे लोग ईश्वराराधना का एकमात्र माध्यम होने के कारण देववाणी कहा करते थे। इस युगमें यह संस्कृत केवल उस मध्यदेश ही में नहीं बोली जाती थी जो पवित्र ब्राह्मणों का स्थान और अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र था, प्रत्युत इसका अध्ययन और सम्भाषण उन कुटियों और झोंपड़ियों में भी होता था जो आर्यावर्त की पूर्वी और दक्षिणी सीमाओं को तीव्रता के साथ आगे बढ़ा रही थीं। इस प्रकार इस युग में संस्कृत जहाँ भी पढ़ी और बोली जाने लगती थी वहाँ तक आर्यावर्त की सीमा मान ली जाया

करती थी। इस काल में संस्कृत की संवृद्धि की व्यापकता के कारण वैदिक मंत्रों को आध्यात्मिक वाणी की उच्चतम स्थिति प्राप्त हो गई और वे अपनी स्वर-साधना तथा उच्चारण प्रणाली की विशेषता एवं भक्ति की रहस्यात्मक शक्ति के कारण उपासना का माध्यम बन गये। हमें यह अवश्य जान लेना चाहिए कि ऋग्वेद के इस साहित्य के द्वारा ही युगों की चट्टानें भेदी जा सकी हैं और मानव-जीवन का उत्साह केन्द्रित होकर विश्व की चेतना को परिपुष्ट कर सका है। इस प्रकार सारा का सारा वैदिक साहित्य संगीतमय स्वरूप धारण करके पवित्रता के उस उच्चासन पर आसीन है, जो अनुपम और अद्वितीय है।

इसी युग में विस्तृत जीवन-साहित्य के रूप में महाभारत ग्रन्थ का विकास हुआ था। महाभारत हमारे जीवन का विस्तृत साहित्य है। वह वीररस का महाकाव्य है। वह हमारे ऋषियों का, हमारे राजवंशों का तथा हमारे तीर्थों और हमारी नदियों का महान आख्यान है। महाभारत से हमें व्यावहारिक बुद्धि, दार्शनिक सहायता और नैतिक विशेषता का महान उपदेश प्राप्त होता है। इन उपदेशों से यह भी जाना जा सकता है कि जीवन के मोक्ष के लिए मनुष्य जाति ने क्या क्या प्रयत्न किये हैं। महाभारत समस्त राष्ट्रीय चेतना शक्ति का कलात्मक संग्रह है। महाभारत के आख्यान अपने समय की जनता के लिए कवियों और उपाख्यानकारों द्वारा छन्दोबद्ध किये गये हैं। इसकी कुछ कथाएँ उस युग की प्रचलित ग्राम्य गाथाओं के आधार पर भी लिखी गई हैं। अपनी रचना के कई शताब्दियों बाद तक राजसभाओं, सार्वजनिक स्थानों और जनता के बीच इसका वाचन मानव-चरित्र के उत्थान के उद्देश्य से हुआ करता था।

धर्मशास्त्रों के साहित्य और प्राचीन विधि-विधानों के सबसे बड़े संग्रह, मनुस्मृति का, निर्माण भी इसी युग में जनता के लिए हुआ था; जो संस्कृत बोलती थी। उपनिषद् और भगवद्गीता, जिसकी रचना ईसवी पूर्व सातवीं शताब्दी से बहुत पहले हो चुकी थी, इसी युग के बौद्धिक विकास का प्रतीक हैं। हमें बस इतना ही न समझ लेना चाहिये कि ८०० वर्षों के इस महिमा-मंडित युग में संस्कृत को केवल शिक्षित जनता की व्यावहारिक भाषा का ही स्थान प्राप्त था; वस्तुतः संस्कृत अपने व्यापक प्रसार के कारण शिक्षित जनता की व्यावहारिक भाषा के साथ साथ भारत की साहित्यिक, धार्मिक और वैज्ञानिक भाषा भी थी। इसके सिवाय वह आर्य-संस्कृति के चतुर्मुखी प्रसार की वह आधार शिला थी जिसके बल पर दूर दूर की भिन्न भिन्न जातियों को संगठित और जाग्रत रखा जा सका था।

प्राकृत भाषाएँ:—ई० पू० ७०० से १५० तक

मगध साम्राज्य के काल में उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निस्सन्देह प्राकृत भाषाएँ बोली जाती थीं। दक्षिण भारत के निवासी भी इस काल में अपनी अपनी बोलियाँ बोलते थे। जैन और बौद्ध धर्मों की धार्मिक रचनाएँ तथा लोकरंजन करने वाली ग्राम्य गाथाएँ भी प्राकृत में लिखी जाती थीं। किन्तु इन प्राकृत भाषाओं की स्थिति व्यावहारिक बोलियों तक ही सीमाबद्ध थी। परिमार्जित विचारों की व्यंजना के लिए इन दिनों भी संस्कृत ही उपयुक्त भाषा मानी जाती थी। इन दिनों प्राकृत भाषाओं की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से संस्कृत और भी अधिक समृद्ध भाषा बन गई, जिसके कारण प्राकृत भाषाओं

की प्रगति के साथ साथ पुष्टि भी प्राप्त हो सकी थी। इस समय संस्कृत आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न दैवी भाषा मानी जाने लगी; और उसके अध्ययन तथा अध्यापन से प्रत्येक स्थान पर जनता का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा होता गया, जिसके फलस्वरूप संस्कृत का व्यापक क्षेत्र ही आर्यावर्त का अभ्युदय-स्थल माना जाने लगा।

ई० पू० १५० से लेकर ई० सन् ३२० तक भारत की पश्चिमोत्तर और पश्चिम की सीमाओं में विदेशी साम्राज्य स्थापित हुआ। इसी समय मध्य और दक्षिण भारत में एक अत्यन्त शक्तिशाली राजनैतिक और धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, जिसने इस विदेशी साम्राज्य को उखाड़कर फिर से धर्म-राज्य की स्थापना की थी। संस्कृत भाषा ही उस पुनरुत्थान का आधार थी। संस्कृत भाषा ही इस पुनर्स्थापना की प्रगति थी। बस इसी के द्वारा उस समय जनता में उत्साह का सृजन किया जाता था। द्वितीय शताब्दी के लगभग सब शिलालेखों में संस्कृत का ही प्रयोग देखकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले सातवाहन और नाग-वंशीय नरेशों ने सम्भवतः संस्कृत को राजकीय व्यवहार की भाषा मान लिया था। इस राजनैतिक और धार्मिक आन्दोलन में उन शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में शक्ति और प्रभाव उत्पन्न कर दिया, जिनके आचार्यों ने पहिले से ही संस्कृत को देवभाषा का सर्वोपरि स्थान दे रखा था। इस युग में जीवन के उच्चतम आदर्शों को ऋत न कहकर धर्म कहा जाने लगा था और संस्कृत अपने व्यावहारिक पक्ष में धर्मासन पर आसीन हो गई थी। जीवन की धार्मिक और बौद्धिक गति-विधि की समस्त उच्चता इस युग में संस्कृत द्वारा ही अभिव्यञ्जित और विकसित होती थी। ई० पू० छठवीं शताब्दी में बुद्ध और महावीर ने यद्यपि अपनी शिक्षाओं का प्रसार प्राकृत भाषाओं के माध्यम से ही किया था, किन्तु ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में महायान सम्प्रदाय के बौद्ध आचार्यों ने अपनी धार्मिक और दार्शनिक रचनाओं के लिए संस्कृत भाषा का व्यवहार ही उपयुक्त समझा। छठवीं शताब्दी में सिद्धसेन दिवाकर ने जैन धर्म की शिक्षा के लिए भी संस्कृत के माध्यम की महत्ता स्वीकार कर ली।

गुप्तकाल की महान शक्ति-संस्कृत :

गुप्त साम्राज्य के स्वर्णयुग में संस्कृत अपने उद्देश्य के अनुसार राष्ट्र की सामूहिक और उद्बुद्ध चेतना शक्ति में प्रविष्ट हो गई थी, जिससे सारा का सारा भारतीय जीवन मानवीय सद्गुणों की मौलिकता से ओतप्रोत हो गया था। गुप्तकाल में संस्कृत भाषा का यह व्यापक प्रभाव उत्तर और दक्षिण भारत में समान रूप से देदीप्यमान हो रहा था। कालिदास के महान् ग्रन्थ इसी युग की देन हैं। महाभारत का एक लाख छंदों वाला संस्करण भी इसी युग का उपहार है। इसी युग में अपने रचना-सौन्दर्य के लिए विख्यात रामायण जैसे रससिद्ध और कवित्वमय ग्रन्थ को पूर्णता प्राप्त हुई। धर्म और साहित्य के महान संरक्षक समझे जाने वाले गुप्त सम्राटों के शासन काल में संस्कृत उस संस्कृति की सर्वव्यापिनी शक्ति का माध्यम थी, जिसे आगे चलकर सनातन धर्म कहकर पुकारा जाने लगा। इस युग में संस्कृत के अध्ययन-केन्द्र पहिले से कई गुने अधिक हो गये? संस्कृत के विद्वानों और कवियों

को संरक्षण प्रदान करने में विभिन्न राजवंशों में होड़ मचने लगी। जीवन के गौरव और उसकी नम्रता का संस्कृत भाषा के साथ गठबंधन हो गया। इस युग में शिक्षितों और अशिक्षितों को कल्पना-शक्ति और मुहाविरेदानी को संस्कृत ने सारे देश में एक साथ अनुप्राणित किया। उत्तर भारत में संस्कृत, सुखी जीवन, विद्वत्ता और संस्कृति को प्रोत्साहन देने वाली भाषा थी। शिक्षा का संपूर्ण संचालन इसी के द्वारा होता था। दक्षिण भारत में सांस्कृतिक उत्साह को संवर्धित करने वाली वह भाषा थी, जिसके द्वारा कन्नड़, मलयालम और तेलगु भाषाओं के प्रारम्भिक स्वरूप को साहित्यिक स्थायित्व प्राप्त हुआ था। इस युग में सारे देश में अधिकांश रूप से संस्कृत बोली जाती थी। शकुन्तला के सहज सौन्दर्य एवं महाभारत के शान्ति पर्व के सदुपदेशों पर इस युग में उन बड़े बड़े विद्वानों ने ग्रन्थ निर्माण किये जो वाणी के शक्तिशाली और जाग्रत माध्यम द्वारा अपने विचार जनता तक भलीभाँति पहुँचा सकते थे। यह बताना अनुचित न होगा कि संस्कृत भाषा की शक्ति ही उसमें रसानुभूति की प्रेरणा प्रवाहित करती थी। इस युग में संस्कृत ही वाग्देवी सरस्वती और भारती के रूप में घर घर पूजी जाती थी। यह पूजा जहाँ भी होती वहीं एक नई सृजन शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता था। विभिन्न शाखाओं के, भिन्न भिन्न बोलियों वाले लोग, संस्कृत भाषा की छत्रछाया में प्राप्त होने वाली समान-चेतना, समान धारणा और समान वृत्तियों के कारण घुलमिलकर एक हो गये। संस्कृत का महान धर्मचक्र इस प्रकार चला और उसने बड़ी निष्ठा के साथ भारत की कुटियों और झोंपड़ियों में फैले हुए संस्कृत के अध्ययन और अध्यापन को आगे बढ़ाकर उसकी प्रगति में सहायता पहुंचाई।

कन्नौज राजधानी के रूप में :

गुप्त साम्राज्य का पतन ५५० ई० में हुआ। ५५० ई० से लेकर ९५० ई० तक, जब प्रतिहारों का साम्राज्य का अवसान हुआ, उत्तर भारत की राजधानी कन्नौज हो गई थी। इस युग में निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातें घटित हुई।

१. उत्तर भारत में उत्तर पश्चिम भारत द्वारा नियंत्रित साम्राज्य का अभ्युदय

२. भारतीय राजनीति में दक्षिण भारत के प्रभुत्व की प्रतिष्ठा

और ३. ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का सामाजिक पृथकत्व।

इसी युग में शक्तिशाली राजवंशों ने बाहरी भागों की कम सुधरी हुई किन्तु संस्कृत बोलने वाली जातियों से अपना सम्बंध विच्छेद कर लिया। वर्णाश्रम धर्म की मौलिकता छिन्न-भिन्न हो गई। प्रतिलोम विवाहों में रोक लग जाने के कारण इस युग में ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध हो गये, जिसके परिणाम स्वरूप इन तीनों वर्णों के लोग अब समान और संगठित प्रणाली से संस्कृत का समादर और अध्ययन करने की इकाई नहीं रह गये।

गुप्त काल में प्राप्त महत्व के कारण ब्राह्मणों का वर्ग ही उच्च अध्ययन का महान पात्र समझा जाने लगा। किन्तु संस्कृत फिर भी समान रूप से उच्च संस्कृति का प्रतीक मानी जाती रही। निम्न स्तर पर प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ लोक साहित्य का आधार बन गई, और अविकसित क्षेत्रीय बोलियाँ जन साधारण की बात

चीत का माध्यम रहीं। इन बोलियों को उस काल में निश्चय ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया था। किन्तु संस्कृत का आधिपत्य फिर भी सारे भारत में ज्यों का त्यों बना रहा।

'काव्य मीमांसा' नामक ग्रन्थ के तत्कालीन विद्वान लेखक राजशेखर के अनुसार इस युग में भी सारे देश में संस्कृत का प्रसार और प्रभाव विद्यमान था। राजशेखर का कथन है कि उसके समय में गुजरात के लोग संस्कृत से अरुचि रखते थे। मारवाड़, राजपूताना और सौराष्ट्र के लोग अपभ्रंश मिलाकर बोलते थे, तथा मध्यदेश और गौड़देश में संस्कृत शिक्षितों को भाषा थी। इस प्रकार इस युग में संस्कृत विद्वानों के निमित्त विद्वानों द्वारा लिखी पढ़ी और बोली जाने वाली एक महत्वपूर्ण उच्च एवं पवित्र भाषा थी।

इस युग के कवियों ने परिश्रम-साध्य अभ्यास के साथ साहित्य के विभिन्न अंगों का आचार्यत्व प्राप्त किया, और नाटक-काव्य एवं कोश ग्रन्थों के रूप में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इन ग्रन्थों में सम्बधित नियमों का कठोरता के साथ पालन किया गया। इस समय की रचनाएं जनता के उपयोग की स्वाभाविक इच्छा से दूर रह गईं। इनमें प्रत्यक्ष अनुभव और जनोत्साह के प्रभाव की कमी की स्पष्ट छाप मिलती है। छठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से प्रारम्भ होने वाले काल के धुरन्धर लेखकों में बाण का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। इस युग में लोकप्रिय साहित्य के निर्माण के लिये प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का व्यवहार तो हुआ, किन्तु उन्होंने अपने को कभी भी संस्कृत के प्रभाव से वंचित रखने की चेष्टा नहीं की, जिसके कारण इस समय भी संस्कृत निष्ठा-पूर्ण और यावज्जीवन अध्ययन द्वारा प्राप्त की जा सकने वाली देववाणी बनी रही। संस्कृत का योग इस प्रकार ज्यों ज्यों सीमित होता गया, त्यों त्यों उसका महत्व बढ़ता गया क्योंकि वह विद्वत्ता का अंतिम और प्रभावोत्पादक माध्यम थी। जीवन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने का दावा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये संस्कृत की विद्वत्ता अनिवार्य थी।

जब महमूद गजनवी, सदियों से बने क्रम को भंग करके सारे देश में एक के बाद एक राज्य नष्ट करने लगा, तब भी भारतीय जनता का जीवन-क्रम स्मृतियों के बनाये नियमों के आधार पर ही चलता रहा। महाभारत और रामायण के उपदेश तब भी मन और मस्तिष्क के ताने बाने के रूप में जनता से अपना अविछिन्न सम्बन्ध रखते थे। कवि और विद्वान इस समय भी साहित्य और व्याकरण की ऊहापोह मे लगे हुए थे। भोजदेव और हेमचंद्र ने इसी युग में संस्कृत और उसकी सहभाषाओं में विशाल शब्द-कोश बनाये। अगणित विश्वविद्यालयों और पाठशालाओं में इस युग में भी संस्कृत बोलचाल की भाषा की भांति पढ़ी और पढ़ाई जाती थी। समस्त विद्वत्तापूर्ण प्रवचन और संवाद संस्कृत के द्वारा ही हुआ करते थे। राजदरबारों में होने वाले सब प्रकार के विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थों में भी संस्कृत ही बोली जाती थी।

आपत्तिकालिक पुनर्सृजन

अलाउद्दीन खिलजी के काल में संस्कृत को एक नयी किन्तु भयंकर स्थिति का सामना करना पड़ा। अलाउद्दीन ने उत्तरभारत के बहुत से विश्वविद्यालयों

को नष्ट कर डाला। जहाँ भी मुस्लिम शासन स्थापित हुआ वहीं संस्कृत को राज्य के संरक्षण से वंचित होना पड़ा। संस्कृत को अपने जीवन की प्राणवायु समझने वाले विद्वान दूर-दूर के गाँवों में भाग कर जा बसे। जहाँ उन्होंने अपने घरों और गाँवों की छोटी-छोटी पाठशालाओं में अपनी प्राणप्रिय देववाणी की दीपशिखा प्रज्वलित रखी। समस्त भागने वाले, असन्तुष्ट और आपत्ति-ग्रस्त लोगों के लिए संस्कृत उनके जीवन की ज्योति, उनके जीवन की आशा, उनके भविष्य का वैभव और उनके मोक्ष का मार्ग होने के साथ-साथ स्वतः जीवन से भी कुछ अधिक महत्वपूर्ण शक्ति थी। विद्वान पुरुषों ने अपने आप को संस्कृत न जानने वाली जनता की उदारता पर छोड़कर संस्कृत से निकली हुई लोकभाषाओं में जन-साहित्य का सृजन प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से यह महान पुनर्सृजन प्रारम्भ हो गया, जिसमें भक्त और संतकाल का अभ्युदय विशेष महत्व रखता है। आत्मदर्शन और नैतिकता की प्रस्थापना को इस युग में महाभारत, रामायण, भागवत और गीत-गोविन्द के ग्रहण और अध्ययन से वाक्शक्ति प्राप्त हुई। संस्कृत के विद्वानों का संरक्षण हिन्दू राज्यों का प्रधान कर्त्तव्य बन गया। इस काल में यद्यपि सामान्य जनता की प्रगति से संस्कृत का सम्पर्क टूट गया। फिर भी प्रत्येक छोटे नगर और बड़े गाँव ने अपनी उन संस्कृत पाठशालाओं का चलाना जारी रखा, जिनमें संस्कृत के विद्यार्थियों की यथापूर्व प्रतिष्ठा होती थी। उत्तर भारत में ब्रजभाषा अपनी असीम उत्कृष्टता के साथ माध्यम का काम करती रही, जिसके द्वारा साहित्य पर अमिट प्रभाव डालने वाली संस्कृत का सारे देश में प्रसार होता था।

संस्कृत--द्वितीय भाषा के रूप में

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में संस्कृत को दूसरे प्रकार के युग में प्रविष्ट होना पड़ा। बोली जाने वाली भाषा की हैसियत से अध्यापकों और छात्रों की भाषा बनकर संस्कृत अब अपनी पाठशालाओं में प्रतिबद्ध हो गयी। प्रत्येक सम्पन्न बस्ती के लिये अपनी पाठशाला चलाने का कार्य अब गौरवास्पद बन गया। जनता को पुरोहितों ,ज्योतिषियों, पंडितों और पौराणिकों के रूप में बड़ी संख्या में संस्कृतज्ञों की आवश्यकता पड़ती थी, जिसकी पूर्ति का एक मात्र साधन संस्कृत की ये पाठशालाएँ थीं। विद्वानों के शास्त्र-सृजन की मनोवृत्ति ने संस्कृत के प्रभाव को इस युग में भी जीवित रखा इस समय इन पंडितों की दो श्रेणियाँ बन गई। पहिली श्रेणी के लोग शब्द-शास्त्र के धुरन्धर विद्वान हुआ करते थे ; जिनमें उपयुक्त अवसर पर हर प्रकार के शास्त्रीय उद्धरण उपस्थित कर सकने की क्षमता थी। दूसरी श्रेणी में वे पुरोहित थे जो जन्म, विवाह और मृत्यु की विधियों की पूर्ति के अवसर पर निर्धारित मंत्रों का केवल पाठ कर सकते थे। संस्कृत के अध्ययन और ज्ञान से रहित लोग भी, अपनी भाषा में बहुत बड़ी संख्या में ग्रहण किये गये संस्कृत के अवतरणों से सुपरिचित थे। संस्कृत ने इस प्रकार इस युग में भी सारे भारत को संग्रथित रखने में मध्यस्थता का कार्य किया। मुगल-साम्राज्य के पतन के साथ-साथ इस काल में राजनैतिक एकता का आवरण भी विलुप्त हो गया। देश में केवल संस्कृत से परावर्तित होकर आने वाली, तथा उसी पर आश्रित रहने वाली सांस्कृतिक एकता ही शेष रह गई थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्राज्ञ पदाधिकारी अपने अत्यन्त प्रारम्भिक काल से ही संस्कृत की महत्ता से प्रभावित थे। इन अधिकारियों ने संस्कृत की महत्वपूर्ण पाठशालाओं को संरक्षण देने के प्रयत्न किये। उन्होंने संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह, सम्पादन और प्रकाशन भी किया। १९वीं सदी के मध्य में जब विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई तब इन अधिकारियों ने संस्कृत को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के लिये देश की महत्त्वपूर्ण द्वितीय भाषा के रूप में स्वीकृत कर लिया। इस प्रकार ये भारतीय विश्वविद्यालय संस्कृत की उस प्रगति के शक्तिशाली उद्गम बन गये जिसके द्वारा पाश्चात्य संस्कृति के सहयोग से अर्वाचीन भारतीय सुधारों का श्रीगणेश हुआ। ये सुधार ही हमारी अन्य भारतीय भाषाओं के उत्थान का तथा हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास का कारण है। इस प्रकार अपने वरद् फलों के प्रस्रवण के कारण संस्कृत इस युग में भी देववाणी के सिंहासन पर विराजमान रही।

पिछली शताब्दी की भारतीय एकता ब्रिटिश शस्त्रास्त्रों पर ही निर्भर थी। स्वाधीनता-प्राप्ति के अवसर पर भारत दो खंडों में विभाजित कर दिया गया, और उसकी भावनाओं का प्रभाव दो विपरीत दिशाओं में बह चला, फिर भी यह बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है, कि ब्रिटिश शस्त्रास्त्रों का लोप संस्कृत द्वारा प्रसारित ऐक्य भावना की जागृति के कारण ही सम्भव हुआ। आज भारत की समग्र चैतन्यता उन भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है, जिनके लिये संस्कृत भाषा ने सदैव से शक्ति प्रदान की है। भारत की सबसे महान और जाग्रत एकता जनता के उस जीवन में व्याप्त हो गयी है, जिसका आधार ही संस्कृत भाषा द्वारा निर्मित संस्कृति है। आज भारत के बहुसंख्यक स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में संस्कृत का धार्मिक आधार पर अध्ययन किया जाता है। देश भर में फैली हुई दस हजार से अधिक संस्कृत पाठशालाओं में ऐसे विद्वान पड़े हुए हैं, जिन्होंने अपना सारा जीवन संस्कृत के अध्ययन में लगा रखा है। ये विद्वान अपने अध्ययन और अध्यापन में जीवित माध्यम की भाँति संस्कृत का प्रयोग करते हैं। सारे भारतवर्ष में सम्भवतः २५ हजार से अधिक व्यक्ति संस्कृत में धाराप्रवाह बातचीत कर सकते हैं। इसी संस्कृत की सहायता से पौरोहित्य के कार्य द्वारा ५ लाख से भी अधिक व्यक्ति मनुष्यों को ईश्वर के निकटतम सम्पर्क में रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। लगभग २० करोड़ मनुष्यों को अपने जीवन में जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसरों पर संस्कृत के पवित्र प्रार्थना मंत्रों की ध्वनि से प्रसन्नता और शान्ति प्राप्त होती है। महाभारत, रामायण और भागवत की कथाएँ, उनके पात्र उनकी कल्पनाएं तथा उनके मुहाविरे, भारतीय जनता के जीवन में अत्यन्त सम्बद्ध होकर गुथे हुए हैं। २५ करोड़ लोगों द्वारा बोली जाने वाली विभिन्न भारतीय भाषाएँ संस्कृत के शब्द-भंडार से ही अपनी समृद्धि प्राप्त करती हैं।

संस्कृत से सम्बन्धित भाषाएँ :

हमारा देश संस्कृत भाषा से ही अपनी एकता और सांस्कृतिक शक्ति प्राप्त कर सका है। हमारी इस एकता और सांस्कृतिक शक्ति का स्थायित्व संस्कृत के ही प्रसार से सम्भव है। हमारे देश के प्रत्येक महान और साधु पुरुष ने

अपने-अपने युग में संस्कृत के ही ज्ञान द्वारा जीवन में प्रभाव प्राप्त किया है ; और उसी की सहायता से उन्होंने उन उद्देश्यों द्वारा आत्म-संतोष प्राप्त किया है, जिनके लिये संस्कृत भाषा का साहित्य सदा सर्वदा से प्रयत्नशील था। आधुनिक बीते हुए काल में भी हमारे परतंत्र देश ने उन विद्वानों द्वारा ही अपनी खोयी हुई निधि फिर से प्राप्त कर ली थी, जिनका जीवन-दर्शन मुख्य रूप से संस्कृत के अध्ययन द्वारा ही समृद्ध था। अत्यंत सभ्य और सुसंस्कृत समझे जाने वाले देशों के विश्वविद्यालयों में भी लोग संस्कृत के अध्ययन और अध्यापन द्वारा अपनी सुरुचि एवं अपने उत्साह को संवर्द्धित करते हैं। संस्कृत और उससे अत्यंन्त सम्बन्धित पाली भाषा उस सांस्कृतिक सम्बन्ध का कारण है जो दक्षिण पूर्वीय एशिया, चीन और जापान को एक साथ संग्रथित रखता है। पेनसिलवेनिया विश्वविद्यालय के दक्षिण पूर्वीय एशिया विभाग के संचालक प्रोफेसर नार्मन ब्राउन ने पिछले वर्ष मुझसे इस बात की चर्चा की थी कि दक्षिण पूर्वी एशिया को जाने वाले विद्यार्थियों ने यह अनुभव किया है कि वे संस्कृत के अध्ययन के बिना उन देशों की मौलिक भावनाओं को समझ सकने में असमर्थ हैं।

पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू अपने फारसी-अरबी शब्द-बाहुल्य के बाद भी एक भारतीय भाषा ही है। अफगानिस्तान की भाषा पश्तो भी इसी प्रकार एक भारतीय आर्य-भाषा है। फारसी भाषा का तो संस्कृत से निकट का सम्बन्ध है। भारतीय आर्य-एकता का सूत्र लैटिन और ग्रीक भाषाओं द्वारा उद्भूत समस्त योरोपीय भाषाओं तक पहुँचता है।

उपनिषद ग्रन्थों की प्राणशक्ति की प्रतिष्ठा, महाभारत की महाशक्ति, रामायण की दिव्यता, भागवत एवं कालिदास के ग्रन्थों का सौन्दर्य और धम्मपद तथा भगवद्-गीता के प्रोत्साहन से मानवजीवन आत्म-शक्ति की प्राप्ति के महान मार्ग की ओर चल पड़ता है।

आधार भूमि

इस प्रकार हमारी एकता, संस्कृति और शक्ति की स्वयंसिद्ध आधार भूमि होने के कारण संस्कृत भविष्य में अत्यंन्त सावधानी से की जाने वाली हमारी चिन्तना की अधिकारिणी है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विशेषरूप से चिन्तनीय हैं—

(अ) हमारे देश के उच्चपदों पर प्रतिष्ठित ऐसे व्यक्ति स्वतः संगठित नहीं हैं, जिन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया है, और जो भारत के राष्ट्रीय जीवन से इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध मानकर उसे उसकी पूर्व स्थिति की महानता में पुनर्प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

(आ) हमारे विश्वविद्यालयों में और हमारी उच्च शिक्षाप्रणाली में भी, पाश्चात्य शिक्षा से मुख्यतया प्रभावित यह अज्ञानमूलक विश्वास बढ़ता चला जा रहा है कि प्राचीन शास्त्रीय भाषाओं का अध्ययन अनावश्यक है। इस स्थल पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संस्कृत हमारे देश के लिये अनावश्यक मानी जा सकने वाली प्राचीन और शास्त्रीय भाषा मात्र नहीं है, जिसे हम चटपट अनावश्यक समझ बैठें। संस्कृत

हमारी वह भाषा है जो हमारे देश के प्रत्येक शिक्षित मनुष्य की शिक्षा को संबर्द्धित और परिपूर्ण करती है।

(इ) उन देशी राज्यों का विलोपन, जो अनेक दोषों से युक्त होकर भी, संस्कृत के अध्ययन की परम्परा का केन्द्र मानी जाने वाली और उसको बोलचाल की भाषा बनाकर जीवित रखने वाली संस्कृत पाठशालाओं का उदारता पूर्वक संरक्षण करते थे।

इसके साथ-साथ धार्मिक भावनाओं का वह ह्रास भी चिन्तनीय है, जो संस्कृत के पंडितों की जीविका मिटा देने के दुष्कर्म के लिए कटिबद्ध होकर पैंतरे भाँज रहा है।

(ई) अन्तिम चिन्तनीय बात है कुछ पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोगों का यह विश्वास कि संस्कृत को आज के युग में भारती के शक्ति-सवंर्द्धन का आधार मानना ही प्रतिक्रियावादिता है।

इन शिक्षित कहे जाने वाले लोगों के बच्चों को उनकी माताएँ भारत का संरक्षण व संवर्द्धन करने वाले रामायण, महाभारत और भागवत जैसे ग्रंथों के पाठ नहीं पढ़ातीं। इससे अधिक दुःखद बात और क्या हो सकती है कि भविष्य में भारत के शासन की बागडोर सम्हालने की तैयारी करने वाले आई० ए० एस० के ६० प्रतिशत से भी अधिक उम्मीदवार भारत की महान माता कुन्ती, तथा सम्मान और उदारता के प्रतीक कर्ण का नाम तक नहीं जानते।

आज की प्रमुख समस्या

स्वतंत्रता के आलोक के कारण राष्ट्रभाषा के रूप में मुख्य तया संस्कृत से आधारित हिन्दी की स्वीकृति के पश्चात लोगों का यह सोचना उचित ही था कि संस्कृत के अध्ययन और अध्यापन को अब हमारी सरकारों द्वारा सर्वोपरि प्रोत्साहन प्राप्त होगा। उत्तर प्रदेश की सरकार की भाँति कुछ सरकारों ने इस दिशा में प्रयत्न भी किये हैं, किन्तु अधिकांश सरकारों का झुकाव इस ओर नहीं के बराबर है। संस्कृत की महत्ता की स्थापना आज के युग की पुकार है।

हमारे स्वाधीनता के आन्दोलनों को आलोकित करने वाली तथा हमारे जीवन में व्याप्त रहने वाली संस्कृत भाषा की मौलिक महत्ता, आज शासक श्रेणियों तक अपना सम्पूर्ण संदेश पहुँचा सकने के सुअवसर से वंचित कर दी गयी है। कृत्रिम और अनावश्यक विचारधाराओं से दुष्प्रभावित होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि यदि हमारे देश में अपनी आत्म-ज्योति खो दी तो हमारी आज की यह स्वतंत्रता बिल्कुल निरर्थक सिद्ध होगी।

हमें यह भी जान लेना चाहिये कि यदि हमने अपनी शक्ति के महान उद्गम को सूख जाने दिया तो हमारा भविष्य अपने आप नष्ट हो जायगा। मैं इससे भी कुछ और आगे बढ़कर कहना चाहता हूँ कि सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा मानवीय महत्ता का अंगीकरण जैसे संस्कृत के लक्ष्यों की व्यापक प्रतिष्ठा से ही

सारे संसार का सुधार संभव है, और उन्हीं के द्वारा हम मनुष्य मात्र में नैतिक व्यवस्था तथा दैवी सम्पत्ति का संवर्द्धन कर सकते हैं।

संस्कृत का अध्ययन केवल विद्वत्ता प्राप्त करने अथवा प्राचीन साहित्य की गवेषणा के लिये ही न होना चाहिये। संस्कृत का अध्ययन सांसारिक उद्भावना की श्रीवृद्धि करने वाली सांस्कृतिक शक्ति की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। इसलिये संस्कृत के अध्ययन को विपरीत दिशाओं में ले जाने वाले समस्त प्रयत्नों को केन्द्रित करके वांछनीय गति पर लगाना आज की पहली आवश्यकता है। इसके साथ ही हमें संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में फैली हुयी सामान्य लोक-रुचि और जनता के व्यापक समर्थन को नियमबद्धता, केन्द्रीयकरण और विधि-विधानों के जाल से भी बचाना चाहिये, जिससे उसकी प्रगति सुरक्षित रह सके। संस्कृत-प्रसार के आन्दोलन को नियमबद्धता के कारण दुर्बल न बनाकर लोकप्रियता के कारण परिपुष्ट रखना चाहिये।

समस्या का अध्ययन:

संस्कृत प्रसार में रुचि रखने वाले व्यक्तियों का अपने क्षेत्र और अपनी सीमा के अन्दर नीचे लिखी बातों को दृष्टि में रखकर इस समस्या का अध्ययन करना चाहिये :—

१. हमारे विश्वविद्यालयों और हमारी उच्च शिक्षा में संस्कृत का क्या स्थान है ?
२. हमारी केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें संस्कृत के अध्ययन में क्या सहायता करती हैं ?
३. संस्कृत की उपाधियों और दूसरे विश्वविद्यालयों की उपाधियों में कहाँ तक समकक्षता है ?
४. संस्कृत पाठशालाओं की स्थिति उनकी, आर्थिक दशा, उनकी आर्थिक सहायता के उपाय तथा उनके पाठ्यक्रमों की उपयुक्तता।
५. संस्कृत साहित्य के विशेष अध्ययन की स्थिति।
६. संस्कृत के निजी अध्ययन की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों के लिये सरल परीक्षाओं की वांछनीयता !
७. संस्कृत में रुचि रखनेवाले व्यक्तियों के सम्मेलनों की उपयुक्तता।
८. लोकशिक्षा के लिये संस्कृत के रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों के प्रचार के विभिन्न उपाय।

इस सम्बन्ध में पहले हमें उन शिक्षा-शास्त्रियों, प्रोफेसरों, अध्यापकों, वकीलों और साहित्यिकों से अभ्यर्थना करनी चाहिये जिनका विशिष्ट बहुमत किसी न किसी रूप में संस्कृत, प्रसार में अभिरुचि रखता है; और संस्कृत भाषा के प्रसार के तर्क, संगत समर्थन के कारण जिन पर इस आन्दोलन के प्रोत्साहन का सारा उत्तरदायित्व लदा हुआ है। शिक्षा, शास्त्रियों ,अध्यापकों और विद्यार्थियों में इस प्रकार के प्रचार से संस्कृत के मंडलों की स्थापना की जा सकती है। संस्कृत की प्रत्येक पाठशाला संस्कृत के अध्ययन का स्वयंसिद्ध केन्द्र है। संस्कृत-प्रसार में अभिरुचि रखने वाले शासन के

मंत्रियों, विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों और उच्च सरकारी पदाधिकारियों के कन्धों पर संस्कृत-प्रसार का महान उत्तरदायित्व लदा हुआ है। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने अपने क्षेत्र में प्रभाव पूर्ण ढंग से काम करे तो हम आज भी उस महान शक्ति को सुरक्षित रख सकते हैं जो हमें प्रत्येक युग में संस्कृत भाषा के महान साहित्य द्वारा प्राप्त हुई है।

कन्हैयालाल माणिकलाल मुनशी
अनु० श्री करील

सम्मतियाँ

'भारतीय साहित्य' के दोनों अंक देखे ऐसी पत्रिका की बड़ी आवश्यकता थी, इसमें गम्भीर और खोजपूर्ण लेख हैं। मुझे आशा है कि आपकी देख रेख में वह उत्तरोत्तर उन्नति करेगी।

—राहुल सांकृत्यायन
हैपी वैली, मसूरी

'भारतीय साहित्य' के दो अंक मिले हैं। इन अंकों में आपने बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामग्री दी है। यह पत्र बहुत उच्चकोटि का बन रहा है। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

—(डा०) हजारी प्रसाद द्विवेदी
काशी विश्वविद्यालय

'भारतीय साहित्य' का प्रथम अंक देखा। हिंदी में ऐसे पत्र की कमी काफी अर्से से महसूस की जा रही थी जो भारतीय भाषाओं के अञ्चल में छिपी हिंदी की साहित्य-संपदा को प्रकाश में ला सके और साथ ही विभिन्न भारतीय भाषाओं तथा उनके साहित्यों को भी एक दूसरे के निकट लाने में सहायक हो। आशा है इस ओर आपका पत्र सदैव सचेष्ट रहेगा।

—अम्बा शंकर नागर
हिंदी प्रकाशन विभाग,
गुजरात विद्यापीठ,
अहमदाबाद

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

अक्तूबर १९५६

AGRA UNIVERSITY

19 27

तमसो मा ज्योतिर्गमय

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

अक्तूबर १९५६

चतुर्थ अंक

सम्पादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

अध्यक्ष

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ

मुद्रक
एच० के० कपूर, आगरा यूनीवर्सिटी प्रेस, आगरा
प्रकाशक
डा० विश्वनाथ प्रसाद,
अध्यक्ष, आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ, आगरा

विषय-सूची

श्री राज्यपाल
उत्तर प्रदेश

निजी.

राज्यपाल शिविर
उत्तर प्रदेश
अक्टूबर २२, १९५६.

श्री भाई सत्येन्द्र,

आपका पत्र और भारतीय साहित्य मिले.

भारतीय साहित्य का यह अंक बड़ा सुन्दर है इसके लिये मैं हिन्दी इन्स्टीच्यूट को, और विशेषकर आपको, अभिनन्दन देता हूं

आपने गोगा के ऊपर जो लिखा है उससे आपने इस सर्वव्यापी व्यक्ति के ऊपर बड़ा प्रकाश डाला है. ऐसा करने के लिये आपने जो परिश्रम किया है वह स्तुत्य है. जो ऐतिहासिक उपन्यास प्रकट हुये हैं उनकी सविस्तार समालोचना बड़ी अच्छी है. इससे हमारे प्रान्तीय साहित्य का तुलनात्मक अभ्यास बढ़ेगा. इस लेखावली के ऊपर भी एक लेख तैयार करना चाहिये जिसमें यह बताया जाय कि हमारे यहां ऐतिहासिक उपन्यासों का विकास किस तरह हुआ और उनके प्रवाह में क्या क्या विशेषता है. मुझे आशा है कि जो स्तर इस अंक ने रक्खा है वह बना रहेगा.

भवदीय,

K. M. Munshi
क० मा० मुंशी

प्रो० सत्येन्द्र,
एक्टिंग डाइरेक्टर,
आगरा यूनिवर्सिटी इन्स्टीच्यूट आफ हिन्दी स्टडीज़,
आगरा विश्वविद्यालय,
आगरा.

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

वर्ष १] अक्तूबर १९५६ [अंक ४

डा० सत्येन्द्र

लोकवार्ता के तत्व तथा लोक-मानस

लोकवार्ता[1] के अन्तर्गत वह समस्त अभिव्यक्ति आती है जिसमें आदिम मानस के अवशेष आज भी दिखायी पड़ते हैं।[2] आज की वैज्ञानिक दृष्टि यह मानती है कि विश्व की प्रत्येक मानव जाति ने अपनी यात्रा का आरम्भ आदिम बर्बर अवस्था से किया है। मनुष्य की दैवी उद्भावना और दिव्य महत्ता-युक्त आरम्भ में विश्वास करना आज मूर्खता

१. मैरैट ने गोम्मे के एक उद्धरण के द्वारा फोकलोर के क्षेत्र का स्वरूप बहुत ही स्पष्टत: प्रस्तुत किया है; वह उद्धरण यों है :—"Folklore may be said to include all the culture of the people, which has not been worked into the official religion and history, but which is and has always been of self growth"—Psychology and Folklore by R. R. Marett. P. 76.

२. (1) Modern researches into the early history of man, conducted on different lines have convoerged with almost irresisible force on the conclusion, that all civilized races have at some period or other emerged from a state of savagery resembling more or less closely the state in which many backward races have continued to the present time; and that long after the majority of man in a community have ceased to think and act like savages, not a few traces of the old ruder modes of life and thought survive in the habits and institution of the people. Such survivals are included under the head of folklore which, in the broadest sense of the word, may be said to embrace the whole body of a peoples traditionary beliefs and customs, so far as these appear to be due to the collective action of 'the multitude' and can not be traced to the individual of great men—Frazer: Man, God and Immortality (1927) p. p. 42. तथा

(2) "Myth arose in the savage condition prevalent in remote ages among the whole human race; it remains comparatively unchanged among the modern rude tribes who

समझी जाती है ।[१] बर्बरावस्था से विकसित होकर मनुष्य ने आज की सभ्यता उपार्जित की है । जैसे विकसित होने पर भी मनुष्य आदिम मनुष्य का ही रूपान्तर है उसी प्रकार मनुष्य की अभिव्यक्तियों में भी आदिम अभिव्यक्ति के अवशेष रह ही जाते हैं । वे अवशेष लोक-वार्ता हैं और लोकवार्ता-शास्त्र के अध्ययन की वस्तु है । किन्तु लोकवार्ता जिन अवशेषों का अध्ययन करती है, वे अवशेष केवल मूल आदिम मनुष्य के हैं इस बात को निश्चय पूर्वक आज किसी भी शास्त्र अथवा विज्ञान को कहने का अधिकार नहीं है । क्योंकि आरंभिक आदिम मनुष्य इतना प्राग्ऐतिहासिक है और मनुष्य के अनुमान के भी इतने परे है कि उसके संबंध में निश्चय रूप से कुछ भी कहना अवैज्ञानिक माना जायगा । वस्तुतः लोकवार्ता के अवशेषों के अध्ययन का अर्थ है कि उस आदिम लोक-प्रवृत्ति को समझा जाय जिसके परिणामस्वरूप लोकवार्ता प्रस्तुत होती है—यह लोक-प्रवृत्ति जब जब जहाँ-जहाँ जिस मात्रा में विद्यमान मिलेगी, वहाँ तव उसी परिमाण में लोकवार्ता भी मिलेगी । विश्वामित्र और वशिष्ठ, राम और कृष्ण, विक्रमादित्य तथा गोरखनाथ के संबंध में हमें एकानेक लोकवार्ताएँ मिलती हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से ये व्यक्ति और इनके विषय की ये लोकवार्ताएं आदिम मनुष्य के द्वारा उद्भावित नहीं । विश्वामित्र तथा वशिष्ठ की लोक-वार्ताएं वैदिक काल की देन हैं, राम कृष्ण के पौराणिक काल की । विक्रम की कहानियाँ डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व आरम्भ हुई होंगी और गोरख की सात सौ आठ सौ वर्ष पूर्व । ये सभी लोकवार्ताएं हैं, आज इनका इसी रूप में लोकवार्ता के अध्येता उपयोग करते हैं । फलतः लोकवार्ता की वस्तु की नहीं, लोकवार्ता की प्रवृत्ति की विशेषताएं समझने की आवश्यकता है, और इसी प्रवृत्ति में हमें आदिम मानव की प्रवृत्ति के अवशेष देखने को

---

have departed least from these primitive conditions; while even higher and later grades of civilization, partly by retaining its actual principles, partly by carrying on its imperfect results in the form of ancestral tradition, have continued it not merely in toleration but in honour"—Tylor, Primitive Culture Vol. i. p. 283 quoted in Poetry & Myth.: Prescott at p. 13.

(3) Folklore means the study of survivals of early custom, belief, narrative and art—An Introduction to Mythology by Lewis Spence, p. 11

१. Indeed the notion that man began with pure moral and religious ideas and a sensible language but gradually became possessed by a licentious imagination and so formed untrue and unlovely conceptions, has been quite given up; and we see instead that he began with the crudest dreams and fancies, which were by a long, natural and (in general) healthy growth gradually elevated and refined.—Poetry and Myth by Prescott p. 101.

मिलेंगे। प्रत्येक वार्ता में दो बातें स्पष्टतः मिलती हैं:[1] एक कोई न कोई आधार तथ्य, दूसरे इसका स्वरूप। तथ्य तो तथ्य है, सूर्य तो सूर्य है, पर उसका स्वरूप क्या है? प्राकृतिक विज्ञान वेत्ता के लिए वह एक अग्निपिंड है और उसका मात्र भौतिक स्वरूप ही उसे मान्य है। पर लोकवार्ताकार के लिए यह सूर्य एक मनुष्य की भाँति है, उसके माँ है, उसके स्त्री है, स्त्री फूहड़ है आदि। तय है कि गोरखनाथ एक योगी हुए हैं, और उन्होंने एक प्रबल सम्प्रदाय भारत में चलाया। किन्तु गोरखनाथ के उस ऐतिहासिक तथ्य को लोकवार्ता ने एक अद्भुत स्वरूप दिया है। लोकवार्ता का मूल रहस्य इस स्वरूप में ही है, यह स्वरूप ही उस प्रवृत्ति का परिणाम है, जिसे लोक-प्रवृत्ति कहते हैं। इस लोक-प्रवृत्ति में ही हमें आदिम मानव की प्रवृत्ति के अवशेष मिलते हैं, इन्हीं अवशेषों के परिणामों का अध्ययन लोकवार्ता के अध्ययन का विषय होता है। आधुनिक लोकवार्ता-वेत्ता इस लोकवार्ता-प्रवृत्ति का ही अध्ययन विशेषतः करते हैं। लोकवार्ता को जन्म देने वाली लोक-प्रवृत्ति को लोक-मानस या जन-मानस से संबंधित माना जा सकता है। यह लोकमानस या जन-मानस उस प्रवृत्ति से बिलकुल भिन्न और अद्भुत होता है, जो सभ्य तथा संस्कृत मनीषिता को प्रकट करती है, और जिसे मुनि-मानस से संबंधित माना जा सकता है। इस दृष्टि से समस्त मानव समुदाय के मानसिक स्वरूप को तीन भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम लोक मानस, द्वितीय जन मानस, तृतीय मुनि मानस। लोक-मानस वह मानसिक स्थिति है जो आज आदिम मानव की परंपरा में है, उसी का अवशेष है। आज के सभ्य समाज के मानसिक स्वरूप में इसे सबसे नीचे का धरातल माना जा सकता है। मुनि-मानस वह मानसिक स्थिति है जो मानव-समाज ने सभ्यता के विकास के साथ साथ उपार्जित की है। यह आज के समाज के मानसिक स्वरूप का सबसे ऊँचा धरातल माना जा सकता है। मध्य की स्थिति जन-मानस की है। लोकमानस से लोकवार्ता का जन्म होता है। मुनि-मानस से दर्शन, शास्त्र तथा विज्ञान और उच्च कलाओं का। जन-मानस साधारण व्यवसायात्मक बुद्धि से संबंध रखता है। यह केवल व्यवहार में ही परिणति पाता है, और व्यवहार में ही विलीन हो जाता है, कोई अन्य मूर्त अभिव्यक्ति इससे नहीं होती। फलतः यदि हम लोक-मानस को समझ लें तो हम लोकवार्ता की विशेषताओं को भी समझ लेंगे[2]।

१—"Every tradition... . myth or story contains two perfectly independent elements—The fact upon which it is founded and the interpretation of the fact which its founders have attempted" (Gomme: Folklore as an Historical Science Page 10) यह प्रत्येक कला के संबंध में ही कहा जा सकता है, Thomas Craven ने अपनी Famous Artists their Models नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है:—"It needs to be said again that the art business has two sides to it. First the subject, and second the way in which the subject is treated P. X.

२—फोक लोर तथा साइकालोजी पर विचार करते हुए R. R. Marett ने Psychology and Folklore में लिखा था: The business of this society (अभिप्राय है Folklore Society) is to seek to know the folk in and

लोक-मानस

लोक-मानस लोक-साहित्य के निर्धारण में सबसे प्रमुख तत्व है। अभी कुछ समय पूर्व तक मनोविज्ञान केवल चेतन मानस को ही स्वीकार कर के चलता था। फ्रायड ने अपने अनुसंधान से अवचेतन मानस का अनुसंधान अथवा उद्घाटन किया। यद्यपि फ्रायड के मत में अनेकों संशोधन हुए हैं फिर भी अवचेतन मानस की सत्ता में अब संदेह नहीं रह गया। फ्रायड ने अवचेतन मानस के निर्माण के कारण स्वरूप कुण्ठा को स्वीकार किया था। किन्तु "प्राणिशास्त्र" उत्तराधिकरण को असिद्ध नहीं कर सका है। हमारे पूर्वजों का दाय हमें हमारे जन्म के साथ मिला है। हमारी प्रवृत्तियाँ इसी दाय का परिणाम हैं। वे प्रवृत्तियाँ उस दाय का परिणाम हैं जो हमारे निर्माण के मूल-स्वरूप का आधार हैं। इन प्रवृत्तियों का स्थान भी तो मानस में ही होगा। चेतन-मानस में तो ये विद्यमान मिलती नहीं, ये तो अवचेतन मानस की भाँति मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व को ही प्रेरित और निर्माण करने वाली हैं। फलतः दाय में प्राप्त मानस का स्थान अवचेतन मानस में ही हो सकता है। इस प्रकार अवचेतन मानस के दो भेद स्वीकार करने होंगे। एक सहज अवचेतन, दूसरा उपार्जितावचेतन। यह सहज-अवचेतन ही लोक-मानस है। हम नहीं कह सकते कि इस मानस के संबंध में अवचेतन वादियों ने कितना विचार किया है, किन्तु इस मानस की सत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता है। आज के मानव को आदिम मानवीय बातों से क्यों रुचि है? क्यों आज का महान् वैज्ञानिक और घोर बुद्धिवादी भी असंभव तथा अद्भुत लोक कहानियों में आकर्षण अनुभव करता है। क्यों आज भी हम किसी न किसी रूप में, किसी न किसी प्रकार के ऐसे विश्वासों को प्रचलित पाते हैं जिन की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं हो सकती, जो बौद्धिकता के लिए सहज ही अमान्य हैं, आज बीसवीं सदी के उत्कृष्टतम मनुष्य में भी हम जब वह रंगत देख पाते हैं जो स्पष्ट ही आदिम मानव की वृत्ति का अवशेष ही कहा जा सकता है, तो लोक-मानस की उपस्थिति स्वीकार ही करनी पड़ती है। श्री हर्बर्ट रीड जैसे साहित्यशास्त्री ने भी ऐसे मानस की सत्ता की ओर संकेत किया है। यद्यपि उन्होंने उसे यह नाम नहीं दिया है। रीड महोदय का कहना है कि :

Such lights come, of course, from the latent memory of verbal images in what Freud calls the pre-conscious state of mind or from still obscurer state of the uncouscious in which are hidden not only the neural traces of repressed sensations but also those inherited patterns which determine our instict. [Form in Modern Poetry, p. 36-7]

यह इनहैरिटैंड पैटर्न ही हमारा लोक-मानस है।

---

through their lore so that what is outwardly perceived as a body of custom may at the same time be inwardly apprehended as a phase of mind' P. 12.

इस लोक-मानस की सत्ता का उद्घाटन करने का श्रेय लोकवार्ताविदों को देना पड़ेगा। मैरेट महोदय ने लिखा है :

"ठीक जिस प्रकार भीड़ (क्राउड) का मनोविज्ञान होता है उसी प्रकार उस समूह का भी मनोविज्ञान हो सकता है जिसे सर जेम्स फ्रेजर "मानव राशि" (Multitude) अथवा कम प्रिय शब्दों में "लोक" (फोक) कहेंगे।" इन शब्दों से प्रकट होता है कि १९२० के लगभग इस लोक-मनोविज्ञान की संभावना की ओर संकेत ही किया जा रहा था। इस लोक-मानस की स्थिति के विषय में मैरेट ने आगे कहा :

"भीड़ तो मनुष्यों के अस्थायी और अनियमित संघ को कहते हैं। ऐसी दशा में यह कुछ विशिष्ट प्रकार के कार्यों और आवेशों को प्रदर्शित करती है, इनकी व्याख्या और विश्लेषण काफी सफलता से किया जा चुका है। अतः इसी प्रकार मनुष्य राशि तो मानो एक स्थायी भीड़ है और एक ऐसी भीड़ है जो अपनी सामूहिक प्रवृत्तियों की परंपरा के रूप में चिरगामी कर सकती है, और इस परंपरा में वह विशेष प्रकार के आचरण को प्रकट करती है जो निश्चय ही पृथक रूप से अध्ययन करने योग्य है"............आदि।

मैरेट ने यही बताया है कि इस दिशा में कुछ प्रयत्न हुए हैं। उसने एम० लैवी ब्रुह्ल का नाम लिया है जिसने "सामूहिक मानस" अथवा 'असभ्य जाति' की मनोवृत्ति पर लिखा है। दूसरा नाम मि० ग्रैहम वैलेस का लिया है, उन्होंने उसी दृष्टि से आधुनिक राष्ट्र के जन-मानस का वर्णन किया है। किन्तु साथ ही उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि—

हमारे पास बहुत सी विस्तार-व्यापी सामग्री के रहते हुए भी लोक के मनोजीवन के विशद चित्रण का ही किंचित उद्योग नहीं हुआ है, फिर उसको उस सामान्य विश्लेषण के लिये कैसे कहा जाय जिसके द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि अपनी स्पष्ट अभिव्यक्तियों में वह प्रत्यक्षतः इतना सामाजिक संघटनाशील (gregarious) कैसे और क्यों है! [पृ० १२४।]

अतः १९२० के लगभग से इधर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। लोकवार्ताविदों ने लोक-मानस की सत्ता को स्थापित किया। आज 'लोक मनोविज्ञान' "फोक साइकौलॉजी" एक महत्वपूर्ण मानस-विज्ञान है, जिसकी परिभाषा 'कोष' में इस प्रकार मिलती है :

लोक मनोविज्ञान—जनों का मनोविज्ञान जिसको लोगों (पीपिल्स) के विशेषतः आदिमों के विश्वासों, रिवाजों, रूढ़ियों आदि के अध्ययन में काम में लाया जाता है, तुलनात्मक अध्ययन भी इसमें आ जाता है।[१]

---

१. Folk psychology—psychology of peoples applied to the psychological study of the belief, customs, convention etc. of peoples, especially premitive, inclusive of comparative study—[A Dictionary of Psychology by James Drever p. 98]

लोक-मानस की सत्ता का यह उद्घाटन वैज्ञानिक अथवा ज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना है, और उसने इस समय तक की विविध घातक सामूहिक मनोविज्ञान विषयक अवैज्ञानिक मान्यताओं और सिद्धान्तों को हटाकर एक शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोंण प्रदान किया है। यह बात फ्रांज बोग्राज (Franz Boas) की पुस्तक "दी माइण्ड ग्राफ प्रिमिटिव मैन" में दिये गये तद्विषयक इतिहास से भली प्रकार समझी जा सकती है। उसे यहां संक्षेप में दिया जाता है।

सामूहिक मनोविज्ञान में जातीय मनोविज्ञान (Racial Psychology) का बहुत जोर रहा है। "लिन्ने ने "जातीय रूढ़ रूपों" (Racial Types) का वर्णन करते हुए प्रत्येक जाति के विशेष मानसिक लक्षणों का उल्लेख किया। ऐसे मनोवैज्ञानिक उद्योगों के मूल में यही स्थापना काम कर रही थी कि उच्च मानसिक उपलब्धियों के लिए उच्च वंश परम्परा होती है। बूलेन विल्लियर्स (१७२७), जोह्न वेड्डो, तथा ए० प्लूज ने भी विविध जातियों के मानसिक लक्षणों का निर्धारण किया है।

गोबीन्यू ने इसी सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए शरीराकार और मानसिक क्षमता का संबंध स्थापित किया। प्रत्येक जाति (Racc) की शारीरिक विशेपता होती है, और उसी के अनुसार मानसिक संस्थान का निर्माण होता है।

गोबीन्यू ने 'जातीय मानस' के सिद्धान्त को सर्व प्रथम ठोस वैज्ञानिक प्रणाली का आधार प्रदान किया। इस सिद्धान्त ने प्रभाव भी बहुत डाला। इसके समस्त वैज्ञानिक अध्ययन के चार निष्कर्ष थे।

१—जंगली जातियों की जो स्थिति आज है वही सदा से रही है और ऐसी ही रहेगी, भल ही वे कितनी ही ऊंची संस्कृतियों के संपर्क में क्यों न आयी हों।

२—जंगली जातियाँ जीवन के किसी सभ्य ढर्रे में रहते चले जा सकते हैं, यदि वे जन जिन्होंने जीवन के उस ढर्रे को निर्मिति किया उसी जाति की श्रेष्ठतर शाखा के हैं।

३—ऐसी ही अवस्थाओं की तब आवश्यकता है जब दो सभ्यताएं एक दूसरे से आदान-प्रदान करती हैं, और अपने तत्वों से मिलाकर एक नयी सभ्यता का निर्माण करती हैं, दो सभ्यताओं का सम्मिश्रण कभी नहीं हो सकता।

४—उन सभ्यताओं के पारस्परिक संपर्क बहुत ऊपरी होते हैं, वे एक दूसरे में कभी भिद नहीं सकतीं, और सदा परस्पर अलग अलग रहेंगी, जो सभ्यताएं ऐसी जातियों में उद्भूत हुई हैं जो एक दूसरी के लिए विजातीय हैं।

क्लैम्म (१८४३) ने मानव-जाति के दो भेद स्वीकार किए हैं। एक कर्तृत्व शील या 'पुरुप अर्द्ध' और "रम्य" (पसिव) या 'स्त्री अर्द्ध'। यह विभाजन सांस्कृतिक आधार पर किया गया। पारसी, अरब, यूनानी, रोमन, जर्मन जातियां, तुर्क, तारतार, क्षोर कैसस, पेरू के इन्का और पॉलीनीसिया निवासी—'पुरुप' पक्ष वाली जातियाँ हैं—मंगोल, नेग्रो, पापुअन, मलायी, अमेरिकन, इंडियन, आदि 'स्त्री' पक्ष वाली जातियां हैं। पुरुप जातियों का पोषण हिमालय प्रदेश में हुआ, वहीं से विश्व में फैलीं। इनकी

मानसिक विशेषताएँ हैं—प्रबल संकल्प शक्ति, शासन की इच्छा, स्वाधीनता, स्वच्छन्दता, क्रियाशीलता, चंचलता, विस्तार की भावना, तथा यात्रा-प्रियता, हर क्षेत्र में विकास, खोज और परीक्षा की ओर स्वाभाविक रुचि, घोर हठ तथा संदेह। वुल्के ने भी क्लैम्म के मत को स्वीकार किया।

कार्ल गुस्तव केरस (१८४६) ने बताया कि इस पृथिवी की जातियों में अपने ग्रह (planet) के ही लक्षण प्रतिबिम्बित होने चाहिए—अपने ग्रह (पृथ्वी) पर रात होती है, दिन होते हैं, प्रातः होता है और सायं भी। इसी प्रकार यहाँ चार जातियाँ हो सकती हैं। दिवस जाति—यूरोपनिवासी तथा पश्चिमी एशिया निवासी, रात्रि जाति—नीग्रो लोग। प्रातः जातियाँ—मंगोल। सायं जातियाँ—अमेरिकन इंडियन। दिवस जातियों की खोपड़ी बड़ी होती हैं। रात्रि जातियों की छोटी। प्रातः-सायं वाली मध्यम। केरस विविध जातियों का आकृति-निदान भी करता है। केरस ने समस्त जातियों में तीन को विशेष महत्व दिया है: सत्य के निर्माता हिन्दू, सौंदर्य-निर्माता मिश्री, मानवीय प्रेम के निर्माता यहूदी। अमेरिकन लेखकों में सैम्युल जी० मोर्टन का नाम उल्लेखनीय है। इस लेखक ने विविध जातियों के अध्ययन के बाद यह मत स्थापित किया कि मानव समूह का जन्म एक से नहीं अनेक स्रोतों से हुआ है और प्रत्येक जाति की जातीय विशेषताएँ उनकी शारीरिक गठन से घनिष्ठ संबंध रखती हैं। इस सिद्धान्त को जे० सी० नौट्ट तथा जार्ज आर० ग्लिडन ने नीग्रो लोगों की गुलामी को पुष्ट करने के लिए काम में लिया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि नीग्रो जाति का उद्भव ही गुलामी के लिए हुआ है।

हाउस्टन स्टीवार्ट चैम्बरलेन ने बताया कि जातियों के मूल उद्भव तक जाने की आवश्यकता नहीं। आज तो जातियों के भेद विद्यमान हैं। इस यथार्थ की अपेक्षा नहीं की जा सकती। हमें तो केवल यह जानना है कि यह जातिगत भेद क्यों है और कैसे है? तब वह इंगलिश जाति को यूरोप में सबसे बलवान जाति बताता है और उसके कारणों पर भी प्रकाश डालता है, गोबीन्यू और चैम्बरलेन का प्रभाव मैडिसन ग्राण्ट पर भी पड़ा। उसने विश्व की महान विभूतियों को नौर्दिक रक्त का परिणाम बतलाया है, और कहा है कि विश्व में मनुष्य में विकार नीग्रो तथा काली आँखों वाली जातियों से होगा।

लोथ्रप स्टोड्डार्ड ने स्थापित किया कि जब दो जातियों से निश्चित संतति होती है तो उत्तम विशिष्टताओं का ह्रास ही होता है।

ई० वान ईक्स्टेट (E. Von Eickstedt) ने जातीय मनोविज्ञान (Race Phycsology) की नींव डालने की चेष्टा की। वह आधुनिक गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान से प्रभावित है, और यही मानकर चलता है कि जब जातीय भेद प्रत्यक्ष है तो उनके मनोविज्ञान के तत्व भी स्पष्ट ही दिखायी पड़ते हैं। इन तत्वों का शारीरिक गठन से संबंध होगा ही, क्योंकि शारीरिक गठन और मानसिक आचार से मिलकर ही जातीय इकाई बनती है।

आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिकों के कई सम्प्रदाय मिलते हैं:

१—वह संप्रदाय जो यह मानता है कि जाति ही मानसिक आचार और संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करती है। यह दृष्टिकोण प्रबल भावनामूलक मूल्यों के कारण है। इस युग में राष्ट्रीय भावना के स्थान में जातीय भावना को महत्व मिल रहा है।

२—वह संप्रदाय है जिसे शारीरिक मनोविज्ञान में विश्वास है। यह मानता है कि शरीर के विन्यास के अनुरूप ही मानसिक स्वरूप होता है। इसका परिणाम यह है कि आज यह विश्वास किया जाता है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षण से मनुष्य की सहज बुद्धिमत्ता, भावना-प्रवणता, संकल्प-शक्ति के रूप को जाना जा सकता है।

३—वह संप्रदाय है, जो उत्तराधिकरण (heredity) को मान्यता देता है। इसका सिद्धान्त है: संस्कार नहीं, प्रकृति (Nature not nurture)। दूसरे और तीसरे संप्रदाय का परिणाम यह हुआ है कि लोग परिस्थितियों के प्रभाव को नगण्य समझते हैं, समस्त मानसिक निर्माण का मूल उत्तराधिकरण मानते हैं।

४—वह सम्प्रदाय है जो परिस्थितियों के प्रभाव को भी स्वीकार करता है, फिर भी यूजेन फिशर की भाँति यह मानता है, कि उत्तराधिकरण से प्राप्त जातीय भेद भी उन परिस्थितियों के विकारों में व्याप्त रहते हैं।[१]

५—वह सम्प्रदाय है जो हर्डर के साथ यह मानता है कि इन समस्त प्राणि शास्त्रीय (biological) सांस्कृतिक अन्तरों का मूल कारण प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही हैं।

कार्ल रिट्टर ने भौगोलिक प्रभाव को और भी अधिक पुष्ट किया।

६—वह सम्प्रदाय जो न जातिवाद को मानता है, न परिस्थितियों को वरन् जो विश्व भर में मानव की समान स्थिति को स्वीकार करता है और केवल 'ऐतिहासिक सांस्कृतिक' भेद स्वीकार करता है। यह दृष्टिकोण हर्बर्ट स्पेंसर, ई० बी० टेलर, एडाल्फ बास्टिअन, लीविस मोर्गन, सर जेम्स जार्ज फ्रेजर के उद्योगों का परिणाम है, जिन्हें आधुनिक काल में डरखीम तथा लेवी ब्रूह्ल ने और परिपुष्ट किया है। वुंट ने फोक्साइकालोजी में भी ऐसे ही दृष्टिकोण को बल दिया है। इस मत से विश्व-भर में मानव-मानस की मौलिक समतंत्रता (Sameness) सिद्ध होती है, वह चाहे किसी जाति का क्यों न हो। इस प्रकार विश्व व्यापी एक मानव-मानस की स्थिति में विश्वास इस 'लोक-मानस' के सिद्धान्त के द्वारा पुष्ट हुआ है।

[यहाँ तक बोआज की पुस्तक के आधार पर]

१—To a great extent the form of mental life as we meet it in various social groups is determined by environment. Historical events and conditinos of nature further impede the development of innate characteristics. Nevertheless, we may certainly claim that there are racially hereditory differences. Certain traits of the mind of the mongol, the negro, the melanesian and of other races are different from our owu and differ among themselves." [The Mind of Primitive Man. p. 31]

इस ऐतिहासिक दृष्टिबिन्दु से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'लोक-मानस' की उद्भावना सामूहिक लोक मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक यथार्थवादी वैज्ञानिक और सबसे महत्वपूर्ण स्थापना है जो ऐतिहासिक क्रम में आज उपलब्ध हुई है।

यहाँ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि जब हम मानव-मानस में आज 'लोक-मानस' की स्थिति का उल्लेख करते हैं तो हमारा अभिप्राय उस उत्तराधिकरण के सिद्धांत से नहीं जो जातीय दृष्टि से उसे ग्राह्य मानते हैं। मानव ने जन्म लेते ही अपनी आदिम अवस्था में जो मानसिक उपलब्धियां प्राप्त कीं वे उसकी सहज मानवीय प्रकृति बन गयीं। वे ही निरन्तर मानव की परंपरा में मानव को मानव बनाने के लिए सूत्र रूप में उत्तराधिकरण के रूप में, युग-युग में मानव मानव में अवतरित होती चली जाती हैं। और आदिम दाय के रूप में अवचेतन के अन्तर्गत कहीं मूल मानसिक प्रकृति के रूप में सभ्यातिसभ्य मानव में भी विद्यमान रहती हैं।

लोक-मानस के तत्व—

फ़ेजर ने यह स्थापित किया था कि 'लोक-मानस' के दो प्रधान लक्षण हैं—१. लोक मानस विवेकपूर्वी (Prelogical) होता है। उसने प्रिलाजिकल कहा है। लौजिक अथवा कार्य कारण के यथार्थ क्रम को समझ सकने वाले मानस के उद्घाटित होने से पूर्व की स्थिति से संबंध रखने वाली मन की प्रकृति। किन्तु जैसा कि 'बिफोर फिलासफी' नाम की पुस्तक में कहा गया है, "Scholars who have proved at length that primitive man has a prelogical mode of thinking are likely to refer to magic or religious practice, thus forgetting that they apply the Kantian categories, not to pure reasoning but to highly emotional acts" p. 19। क्योंकि वस्तुतः वे तर्क तो कर सकते थे। कार्य-कारण-क्रम की आवश्यकता वे समझते थे। पर संभवतः किसी भी क्रम को ही वे कार्य-कारण समझ सकते थे, कार्य कारण में व्याप्त यथार्थ कारणत्व और कार्यत्व उनके लिए महत्व नहीं रखते थे। अतः 'लोक-मानस' को 'विवेक पूर्वी' नहीं कहा जा सकता। फ़ेजर महोदय ने तो प्रिलाजीकल उसे इसलिए माना है कि उनकी व्याख्या में विरोधी तत्वों (contradictions) का समीकरण रहता है।

२. फ़ेजर ने दूसरा लक्षण स्थापित किया कि वह मिस्टिक अथवा रहस्य शील होता है। क्योंकि वे अपने अनुभवों की व्याख्या में पराप्राकृतिक शक्तियों का आश्रय लेते हैं। पर यह पराप्राकृतिक शक्तियों की शरण लेना वस्तुतः उनके मानस की मूल विशेषता नहीं। यह तो उनकी एक विशेष मूल मनोस्थिति का परिणाम है। वे क्यों पराप्राकृतिक शक्तियों की कल्पना करते हैं यह जानने की चेष्टा करने से ही हम मूल 'लोक-मानस' के तथ्य से परिचित हो सकेंगे।

वस्तुतः 'लोक-मानस' का मूल सृष्टि के मनुष्य में विद्यमान सबसे प्रथम अपने जन्म की सहज प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल है। आज फ़ायड के सिद्धान्तों से इतना तो अवश्य ही सिद्ध होता है कि उत्पन्न होते समय भी बालक में मूल काम-भाव व्याप्त रहता है : जिसे हम

रति कह सकते हैं। रति विस्तार चाहती है। बाह्य से आनन्दमय संपर्क। किन्तु बाह्य से अपनी रक्षा का भाव भी उसमें सहज है। इसका प्रतिरूप है भय। रति और भय के दो मूल सहज भाव आदिम मानव में जन्म से आये। रति ने 'रिचुअल' अथवा अनुष्ठानों (विधि) के रूप खड़े किये, भय ने टैबू अथवा निषेध और वर्जन के रूप। उस 'विधि-निषेध' के कर्म में हम आदिम मानव में जिस मनोस्थिति को विद्यमान देखते हैं वह सबसे पहले अभेद द्योतक बुद्धि प्रतीत होती है। 'लोक मानस' 'निज' और जड़ 'पर' के स्वरूप को भिन्न-भिन्न नहीं देख समझ सकता। उसके लिए समस्त सृष्टि उसी के समान सत्ता रखती है। वह व्यक्ति विशेषी (subjective) और वस्तु विशेषी (objective) भेद करने की सामथ्र्य नहीं रखता। वह किसी वस्तु को वस्तु के रूप में नहीं देख पाता। उसे प्रत्येक वस्तु अपने समान धर्मवाली ही विदित होती है। वह सूरज को निकलते देखता है, आकाश में चढ़ते देखता है और डूबते देखता है। तो वह उसे अपनी तरह ही आते और जाते देखता है और समझता है, और अपने इस ज्ञान को वह यथार्थ ज्ञान मानता है। यह ज्ञान रूपक की भांति नहीं, और न यह ज्ञान उसके अपने व्यक्तित्व का विस्तार है कि जिसे अपने से इतर सृष्टि को समझने या जानने या अभिव्यक्ति की सुविधा के लिए अपने ही रूप का प्रतिरूप मानता है।

इस यथार्थ का भाव उसमें बहुत प्रबल है। उसके लिए ऐसी समस्त बातें यथार्थ सत्ताशील हैं जो उसे प्रभावित कर सकें, जो उसके हृदय और मस्तिष्क पर एक छाप छोड़ सकें। इस मानसिक स्थिति में स्वप्न भी उतने ही यथार्थ हैं जितने कि जागृत अवस्था के दृश्य। ऐसे ही कितने ही ऐतिहासिक कथानक मिल जाते हैं जिनमें स्वप्न की बातों को पूर्ण आस्था के साथ स्वीकार किया गया है। हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में महर्षि विश्वामित्र को पृथ्वी दान दे दी और जगकर भी उस सत्य का पालन किया। बहुत से लोग स्वप्नों से अपने लिए मार्ग-दर्शन की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। फारहों[1] ने तो यह बात लेखबद्ध भी कर दी है कि उन्होंने कितने ही कार्य स्वप्नों की प्रेरणा से किये। इसी प्रकार भ्रम दृश्य (hallucinations) भी आदिम मन के लिए मिथ्या नहीं सत्य थे। जमीरिया के अस्सढ़द्दन के सरकारी विवरणों में यह उल्लेख किया गया है कि उनकी सना जब सिनाई रेगिस्तान में होकर जा रही थी और बहुत थकी मादी थी तो उन्हें दो सिरों वाले हरे उड़ने वाले सांप दिखायी पड़े थे। तात्पर्य यह है कि भ्रम दृश्य जैसी वस्तु भ्रम के रूप में उनके लिए अस्तित्व नहीं रखती थीं। जो उन्हें दिखायी पड़ा, भले ही वह भ्रम हो, पर जिसने उनके हृदय अथवा मस्तिष्क को प्रभावित किया, उसे वे अस्वीकार नहीं कर सकते थे, उसकी सत्ता उन्हें यथार्थतः माननी पड़ती थी।

इसी प्रकार, तीसरे वे जीवित और मृतक में भी कोई विशेष भेद नहीं कर सकते थे, स्वप्न में अथवा जागृत स्मृति में मर जाने वाले के सजीव मानस चित्रों के आवर्तन से उसे मृतक भी जीवित की भाँति सत्तावान ज्ञात होते थे। वस्तुतः तो उनसे भी अधिक।

चौथे, अंश और समग्र वस्तु में भी वे कोई भेद नहीं कर सकते थे। शरीर का एक अंश भी, सिर का एक बाल ही क्यों न हो, उसके संपूर्ण शरीर के ही तुल्य ग्रहण किया जाता था। कहानियों में मिलने वाले अभिप्रायों में हमें ऐसे बहुत से अभिप्राय मिल जायेंगे, जिनमें किसी व्यक्ति-

१ मिस्र के प्राचीन सम्राट

के बाल को आग में तपाने से उस व्यक्ति को बुलाया जा सकता है। इस "अभेदवाद" में ही यह मान्यता भी आती है कि नाम भी व्यक्ति से अभिन्न है। अनेकों क्षेत्रों में अपने से बड़ों के नाम भूमि पर लिखने का घोर निषेध है, इस निषेध के पीछे यही भावना काम करती है कि नाम पर पैर पड़ेंगे, और यह ऐसा ही है जैसे स्वयं नामधारी पर पैर पड़े हों। इसी विश्वास का एक रूप हमें माध्यमिक राज्यों के मिश्र राजाओं की एक रिवाज में मिलता है। ये लोग प्यालों पर अपने शत्रुओं के नाम खुदवा देते थे, और उन्हें एक विशेष संस्कार के साथ फोड़ डालते थे, इससे वे विश्वास करते थे कि अब उनके उन शत्रुओं का नाश हो गया। आज भी ब्रज के गांवों में स्त्रियाँ दिवाली और होली पर वैरियरा को कूटती हैं, वे अपने कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्ति का नाम लेकर उसके वैरियरा का उल्लेख करके पृथ्वी पर मूसल कूटती हैं। वे यथार्थ में विश्वास करती हैं कि इससे शत्रु कुचल जायेंगे[१]। वे यह भेद भी नहीं कर सकते थे कि कार्य कोई और वस्तु है और संस्कारानुष्ठान कोई और। एक किसान अपनी सफल फसल को देखकर यह नहीं कह सकता था कि यह सफलता उसकी मेहनत का फल था या उसके द्वारा किए गये अनुष्ठान का। उसके लिए दोनों ही एक तत्व बनकर उपस्थित होते हैं।

इसी प्रकार उसके लिए भावांश ("concept") भी मूर्त स्वरूप वाले होते थे। उदाहरण के लिए "प्राण" उसके लिए मूर्त वस्तु है जिसे वह ले-दे सकता है, अथवा बाँट भी सकता है। सत्यवान के शरीर से यम प्राण नाम का पदार्थ निकाल ले गये, और सावित्री को वह पदार्थ लौटा भी दिया। मृत्यु भी मूर्त वस्तु की भाँति परिकल्पित है। यम भी मृत्यु का मूर्त रूप है।

यह बात भी यथार्थ है कि आदिम मानस "कार्य करण" के भ्रम पर तो विश्वास करता था। पर वह उसे एक व्यक्तित्व हीन प्राकृतिक व्यापार मानने को तैयार नहीं था। वह प्रत्येक कार्य का कारण चेतना और "इच्छा"—संयुक्त किसी पदार्थ को मानता था, इसलिए जैसा हेनरी फ्रैंकफर्ट आदि ने लिखा है, कार्य-कारण की स्थापक प्रश्न-प्रणाली से वे 'कैसे' और 'क्यों' का उत्तर नहीं ढूंढ़ते थे। वे कौन की कल्पना करते थे। वे यह तो मानते थे कि यह जो वर्षा होती है अथवा रात दिन होते हैं उनका कारण अवश्य है, पर वह कारण कोई सिद्धान्त विशेष नहीं हो सकता, कोई व्यक्तित्व ही हो सकता है। कोई व्यक्ति है जो बादलों को भेजता है और वर्षा कराता है। सूर्य एक व्यक्ति है, वह आता है और जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यापार के लिए वे कारणों की कल्पना करते थे।

कारण और कार्य में इस मूर्त चेतन व्यक्तित्व की स्थापना के ही साथ वे उनमें इच्छा के भी दर्शन करते थे। मृत्यु या जीवन पदार्थ रूप तो हैं ही, उनके आदान-प्रदान में इच्छा

---

१. इसी मनोस्थिति का एक परिणाम यह है कि तुल्य आकार वस्तु अथवा पदार्थ में और तुलनीय में भी कोई अन्तर नहीं। टोने और टोटके इसी मनोस्थिति का फल है। किसी आदमी का पुतला बना कर उसे काट डालने से वह आदमी स्वयं कट जायगा। मिस्र में नूत स्वर्ग की वत्सला देवी मानी जाती है। वे मृतक पुरुष को स्वर्ग भेजने के लिए कफन में मनुष्य के कद का नूत का चित्र अंकित कर देते थे और उस में मुर्दे को बंद कर देते थे। इस विधान से उनका मृत पुरुष स्वर्ग में पहुँच जाता था।

का भी तत्व है। इस इच्छा तत्व और मूर्त्तत्व से संपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण होता है, तब गुणों और दोषों के रूपों की कल्पना आदिम मानस करने लगता है। इसी स्तर पर देवताओं और असुरों का जन्म होता है।

कार्य और कारण की कल्पना में वे किसी भी निकटस्थ तत्व को कारण स्वीकार कर सकेंगे, भले ही वह यथार्थ कारण न हो। केवल दो की संबद्धता ही कारण रूप में पर्याप्त है। मिस्र में यह माना जाता रहा है कि आकाश स्त्री है, और पृथ्वी पिता। आकाश पृथ्वी के ऊपर लेटा हुआ था किन्तु वायु के देवता शू ने दोनों को पृथक कर दिया और आकाश को ऊपर उठा दिया। शू को उस रूप में मानने का कारण केवल यही है कि उन्हें आकाश और पृथ्वी के बीच में वायु का संचार दिखायी देता था। द्यावा-पृथ्वी को भारतीय परिकल्पना में माता-पिता स्वीकार किया जाता है।

वह विविध तत्वों और व्यापारों में संघर्ष भी देखता है, और इच्छा-व्यापार-युक्त उसे मूर्त रूप देता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो सका है कि आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक स्थिति में निम्नलिखित तत्व होते हैं।

१—समस्त सृष्टि मनुष्य के ही तुल्य है। यदि इस सृष्टि में वह स्वयं "मैं" है तो सृष्टि का प्रत्येक अन्य अंग उसके लिए "तू" है।

२—प्रत्येक व्यापार गुण आदि उसके लिए मूर्त अथवा पदार्थवत सत्ता रखता है, मृत्यु जीवन प्राण आदि उसके लिए पदार्थ रूप ही है जिनका आदान प्रदान हो सकता है।

३—तुल्य और तुलनीय, अंश और अंशी, चिह्न-प्रतीक और प्रदाता अथवा लक्ष्य में अभेद होता है।

४—देश काल के भेद से होने वाली आवृत्ति में भी मूल विद्यमान रहता है।

५—प्रत्येक व्यापार अथवा तत्व "इच्छा" से भी संयुक्त होता है।

६—व्यापारों में कार्य-कारण परंपरा होती है पर कोई भी कारण निकटता, संबद्धता, पूर्वकालिकता के तत्त्व से युक्त होने पर कारण हो सकता है।

७—वह विविध प्राकृतिक तत्वों में संघर्ष भी लक्षित करता है। सूर्य और रात्रि में संघर्ष होता है। सूर्य परास्त होता है आदि।

इन तत्वों के साथ ही यह बात परिलक्षणीय है कि आदिम मानव समस्त सृष्टि से अपने व्यक्तित्व को तटस्थ नहीं रख सकता था। वह मनतः और कर्मतः, मानसतः और भावतः सृष्टि के समस्त व्यापारों का अंग होता है। अतः तुल्य-मूर्त विधान की मान्यता के साथ वह अपने लिए उपयोगी अनुपयोगी तत्वों को अपने द्वारा प्रस्तुत करता था। इस प्रस्तुत को अनुष्ठान अथवा रिचुअल कहा जा सकता है। इसके द्वारा वह प्रकृति के विविध तत्वों के संघर्ष व्यापार में सहयोग देता था।

प्रकृति से वह सहयोग भाव से चलता था। प्रत्येक प्रकृति के व्यापार में वह अपने लिए किसी न किसी प्रकार का अर्थ भी ग्रहण करता था। शकुनों की उद्भावना इसी स्थिति का परिणाम है।

ऊपर लोक-मानस के जो तत्त्व प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें संक्षेप में हम केवल चार कोटियों में विभाजित कर सकते हैं। वे हैं :—

१—यथार्थ और कल्पना में भेद करने की असमर्थता—

प्राकल्पना (फैंटैसी थिंकिंग)

२—प्राणि-अप्राणि, "जड़ चेतन" को आत्मा से युक्त जानना—

आत्म शीलता (ऐनिमिस्टिक थिंकिंग)

३—यह विश्वास होना कि तुल्य से तुल्य पैदा होता है

टोना विचारणा (मैजिकल थिंकिंग)

४—यह विश्वास होना कि विशष विधि से कार्य करने से इच्छित फल अथवा अभीष्ट प्राप्त होगा

आनुष्ठानिक विचारणा (रिचुअल थिंकिंग)

इन मानसिक तत्वों के परिणाम निम्नलिखित होंगे :—

१—सत्य और स्वप्न में अभेद—इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि उसके दो अस्तित्व हैं—एक वह जो शरीर से संबद्ध है, दूसरा वह जो शरीर को छोड़ कर "स्वप्न" में घूमता फिरता है।

२—शरीर और छाया में अभेद—छाया को भी उतना ही महत्वपूर्ण मानना और अपना स्वरूप मानना, जितना शरीर को।

३—मृतक को भी सोया हुआ मानना, और यह समझना कि उसका दूसरा व्यक्तित्व "आत्मा" कहीं भटक गया है, वह संभवतः फिर कभी लौटेगा। अतः उसके शव को सुरक्षित करके उसके साथ भोजन आदि की वस्तुएं रखने की व्यवस्था की गयी।

४—भूत-प्रेतों में विश्वास इसी वृति का परिणाम है। कितनी ही ऐसी आदिम अथवा असभ्य जंगली जातियाँ हैं जो पशुओं, पेड़ों और पत्थरों तक के भूतों अथवा प्रेतों को मानती हैं।

५—अचरों, जड़ों अथवा अप्राण पदार्थों को आत्मतत्व से युक्त देखना जिससे वृक्ष पहाड़, नदी, नाले चेतन मानवों की भाँति काम करते माने जाते हैं।

६—क्रम के संयोग से वस्तुओं में कार्य कारण की कल्पना जिसे काकतालीय भी कह सकते हैं। उदाहरणार्थ कभी कई दिनों से मेह पड़ रहा है, और बंद नहीं होता, तभी किसी से तवा उल्टा होकर आँगन में गिर पड़ा, इसके बाद ही संयोग से मेह बन्द हो गया; तो आँगन में उल्टा तवा रखना मेह बंद होने का कारण मान लिया गया।

७—तुल्य से तुल्य को प्रभावित करना—पुतलों में सुई चुभो कर मनुष्य की मृत्यु में विश्वास करना।

८—अंश से अंशी को प्रभावित करना—किसी के नाम, वस्त्र, शरीर के अंश, बाल, नाखून, आदि से उसे प्रभावित करना।

९—इसी विश्वास से टोने करने वाले भोपों अथवा जादूगरों अथवा स्यानों का प्रादुर्भाव।

१०—विशेष विधि से अनुष्ठान करने से बलात् अभीष्ट की सिद्धि इसी के फलस्वरूप मंत्र से अथवा अनुष्ठान से फल सिद्धि मानी जाती है। "पुत्रेष्टियज्ञ" आदि इसी वृत्ति के परिणाम हैं।

११—संतान-धारण और संभोग क्रिया में कार्य-कारण की स्थिति का अज्ञान। ऐसी आदिम जातियाँ आज भी हैं जो यह नहीं समझतीं कि पिता के कारण पुत्र पैदा होता है। आज भी स्त्रियां और पुरुष देवी देवताओं और पीरों पैगम्बरों से संतान की याचना करती मिलती हैं, वह इसी मूल आदिम विश्वास का ही अवशेष है।

१२—आदिम मानव व्यक्ति के अस्तित्व को नहीं मानता, वह तो "दल" के अस्तित्व को ही मानता है। इसी के परिणाम स्वरूप ऐसे समाजों में यह स्थिति मिलेगी कि एक लड़का अपने दल के समस्त वयोवृद्ध व्यक्तियों को पिता व पिता तुल्य मानता मिलेगा।

इसी मनोवृत्ति का परिणाम यह भी है कि किसी किसी आदिम जाति में एक दल की समस्त समवयस्क स्त्रियाँ, पुरुष की बहिनें मानी जाती हैं। और उस दल की समस्त समवयस्क स्त्रियाँ उसकी पत्नी के समकक्ष, जिसमें उसका विवाह हुआ है।

इस संबंध में ही आर० आर० मैरेट ने "साइकौलौजी एण्ड फोकलोर" (१९२०) नाम के निबन्ध-संग्रह में लिखा है : यह कथन जोड़ना और है कि यद्यपि लोक-वार्ताविद का धर्म, मेरी दृष्टि में, यही है कि वह अपनी विषय वस्तु को स्थिर न मान कर परिवर्तन शील ही माने, जीवित माने, मृत नहीं, फिर भी इसके यह अर्थ नहीं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे कोई स्थायी छाया के समूह होंगे ही नहीं जो चित्र कला (Kinematographic) की प्रणाली से देखने पर प्रतिफलित होंगे, ऐसा कुछ भी नहीं मिलेगा जिसे अपेक्षाकृत स्थिरशील मानकर उस परिवर्तन की नाप जोख का साधन बनाया जा सके। उलटे मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति के अध्ययन से तो यही घोषित करने की ललक होती है कि "plus ca Change, plus i' est to me'me Chose". यह मानना न्यायसंगत ही होगा ·····कि मानव जाति (स्पीसीज) ने बनमनुष्यों (एप्स) से किसी विधि से अपना सम्पूर्ण विच्छेद तो सदा के लिए कर लिया पर तब से अब तक वह अपने रूप को प्रत्यक्षत: वैसा ही बनाए रख सकी (पृष्ठ १९)—

यही विद्वान आगे लिखता है :

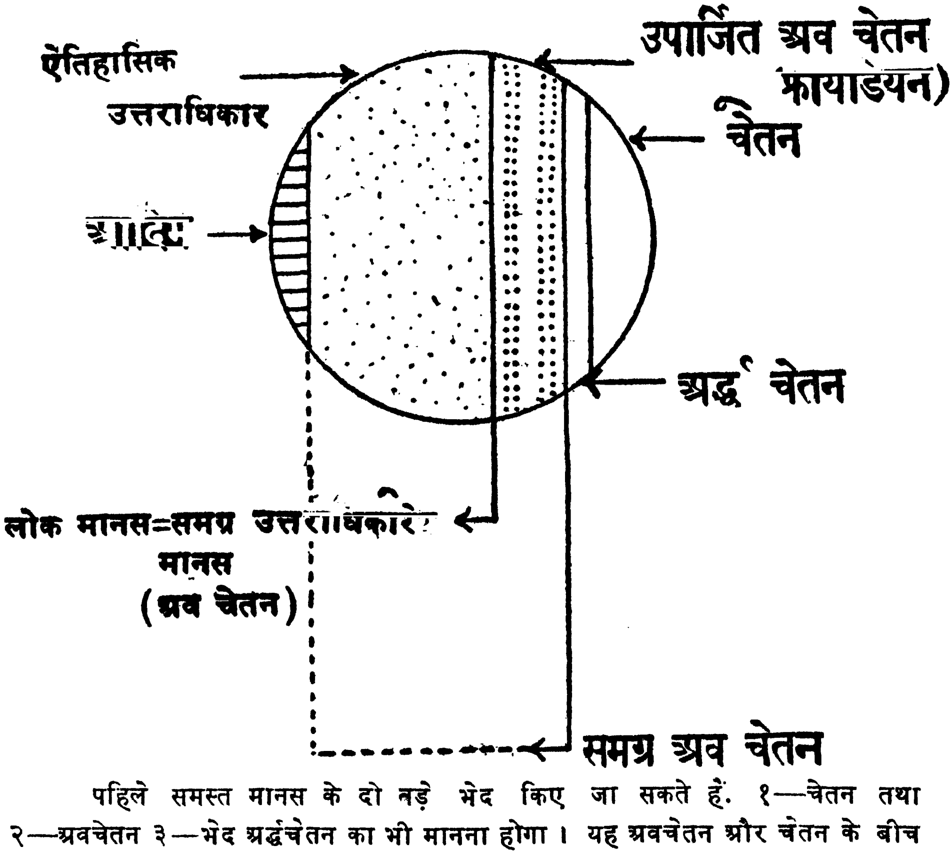
"किन्तु सभ्य मानस के क्षेत्र में प्राचीन पाखंड छिपे पड़े हैं। एक क्षण के लिए भी किंचित विवेक चेतन (रेशनल) का प्रयत्न शिथिल होते ही मानस क्षेत्र में ये सामने आकर उपस्थित हो जाते हैं। (पृ० २२)

यही लेखक आगे लिखता है कि :

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि लोकवार्ता में अवशेषों के अवशिष्ट रहने पर विचार किया जाता है तो ये अवशेष क्यों बच रहते हैं ? ये भी अन्य बातों की तरह समाप्त क्यों नहीं हो जाते। लेखक कहता है इसका ठीक उत्तर यह है कि ये इसीलिए बचे

रहते हैं कि ये लोक के उस जीवन के वे उपलक्षण हैं जिनकी निरंतर पुनरावृत्ति होती रहती है और जिनमें ही केवल दीर्घ काल में यह अवशिष्ट रहने की आन्तरिक क्षमता रहती है।" इससे स्पष्ट है कि लोक जीवन में जो परंपरागत अवशेष रहता है, उस अवशेष के साथ वह मानस भी अवशेष के साथ रहता है जिसका उस अवशेष के साथ संबंध है। वस्तुतः जब तक मानस में उस अवशेष के लिये आग्रह नहीं हो तब तक कोई वस्तु अवशेष की भाँति परम्परा से परम्परा में जा नहीं सकती। मूलतः ये मानस की मूल वृत्तियां हैं जो मानव के आदिम से आदिम रूप को अपने अन्दर बचाये हुए हैं।

समस्त मानसिक संस्थान में अब इस 'लोक मानस' की स्थिति को और भी भली प्रकार समझ सकते हैं।



पहिले समस्त मानस के दो बड़े भेद किए जा सकते हैं. १—चेतन तथा २—अवचेतन ३—भेद अर्द्धचेतन का भी मानना होगा। यह अवचेतन और चेतन के बीच का अवकाश नहीं, यह चेतन की परिधि के रूप में है, चेतन की आवश्यक सीमा। अवचेतन के दो बड़े भेद होंगे; उपार्जित अवचेतन, जो मनोविश्लेषण वादियों के अनुरूप स्थिति रखता है और कुण्ठाओं तथा दमित वासनाओं का बना हुआ है। २ उत्तराधिकारेय मानस। यही लोक-मानस है। इसके निर्माण में दो तत्व हैं: १. आदिम उत्तराधिकरण—यह मानव के मन की गति का प्राकृतिक दाय है। २. ऐतिहासिक उत्तराधिकरण—आदिम

काल से चलकर आज तक उस प्राकृतिक आदिम मानसिक संस्थान के सूत्रों से संलग्न होकर, इतिहास क्रम में विविध संस्कारों और संस्कृतियों के विकास से उपलब्ध मानसिक संस्कार जो आज हमारी रुचि और प्रवृत्ति के मूल में अलक्षित विद्यमान रहते हैं।

प्रश्न यह है कि लोक-मानस की यह स्थिति "व्यक्तिगत" है या सामूहिक। ऊपर से यह प्रश्न कुछ हास्यास्पद प्रतीत होता है। मानस का संबंध मस्तिष्क से है। मस्तिष्क किसी शरीर का ही अंश हो सकता है। अतः मानस तो किसी व्यक्ति में ही हो सकता है। किन्तु बात इतनी सरल नहीं। मानव का मनुष्य से संबंध है। मनुष्य का शरीर से। शरीर व्यक्तिपरक होता है। इसके होते हुए भी हम "मानव" की एक ऐसी स्थिति भी मानने को बाध्य होते हैं जो मात्र "व्यक्तिगत" नहीं। यह मानव क्या हैं? क्या इसके शरीर नहीं है? पर वह व्यक्तिरूप में नहीं मिलेगा। व्यक्ति व्यक्ति में व्याप्त जो शरीर धर्म है वस्तुतः मानव का वही शरीर है। क्या यह नहीं पूछा जा सकता कि सृष्टि में जो अरबों मनुष्य हैं, उनमें से प्रत्येक को हम मनुष्य ही क्यों मानते हैं? जातिवादियों "रेसथ्योरी मानने वालों" ने छोटे मस्तिष्क[१] या सिर वाले नीग्रो और विशाल मस्तिष्क वाले यूरोपियनों में भेद माना है, उनकी विविध शक्तियों में अन्तर माना है उनके द्वारा होने वाले हानि-लाभ को भी आँकने की चेष्टा की है।[२] पर उन्हें "मनुष्य" सभी ने माना है। यही नहीं सबसे आदिम जंगली मानव से लेकर आज के सभ्यातिसभ्य मनुष्य को भी मानव कहा जाता है। ऐसा क्यों? कोई ऐसा धर्म अथवा लक्षण अवश्य है जो समान रूप से सब में व्याप्त है। वह प्रत्येक शरीर में प्रकट होता है, किन्तु सब में समानता है। यही मानव है जिसमें संसार में फैले हुए प्रत्येक मनुष्य का रूप समाया हुआ है। इस मानव की सत्ता ही उसमें मानस की सत्ता की स्थिति की भी सूचना देती है। जब "मानव" है तो उसका मानस भी होगा। यह मानस वह मानस होगा जो ऐतिहासिक कालक्रम से आदिम से लेकर आज तक और भौगोलिक क्रम से समस्त विश्व में प्रत्येक मस्तिष्क में "सामान्य मानस-धर्म" के रूप में विद्यमान हैं। इस अर्थ में "लोक-मानस" मात्र व्यक्तिगत नहीं। व्यक्तिगत में स्थित भी वह सामान्य मानस है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति का मानस मानस कहलाता है, और जिसके कारण ही मानव मानव के लिए प्रेषणीय हो पाता है। इसी अर्थ में यह सामूहिक भी है क्योंकि समस्त मानव समूह में अपनी सामान्यता के कारण यह धर्म के रूप में

१. कार्ल गुस्तव केरस ने सिस्टम आव फिजियालौजी में बताया है कि यूरोपियनों का मस्तिष्क का आकार बड़ा होता है। ये दिवस जातियां हैं और नीग्रो जाति का मस्तिष्क छोटा होता है यह रात्रि जाति है।

२. मेडीसन ग्रान्ट ने इसे स्पष्ट किया है, Franz Boas ने बताया है कि His (i.e. Madeson Grant's)book is a dithyrambic praise of the blond blue eyed long headed white and his achievements and he prophesies all the ills that will befall mankind because of the presence of negroes and dark-eyed races. (P. 25 "The Mind of Primitive Man")

विद्यमान प्रतीत होता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है आज यह लोकवार्ताविदों के द्वारा सिद्ध हो चुका है कि मानव मात्र समान मानस धर्म रखता है।[१]

लोक मानस उस मानव-मानस का ही एक अंश और अंग है। इस लोक-मानस का प्रत्यक्षीकरण किसी व्यक्ति के द्वारा नहीं होता। व्यक्ति में विद्यमान रहते हुए भी मनोवैज्ञानिक इस मानस की झाँकी अभिव्यक्ति के माध्यम से ही कर पाते हैं। अनादिकाल से आज तक और सृष्टि में ओर से छोर तक मनुष्य-मात्र की जितनी भी अभिव्यक्तियाँ हैं, उनके विश्लेषण से ही लोक-मानस की स्थिति और उसके स्वरूप का ज्ञान होता है।

लोक-मानस और मानव-प्रकृति :

उक्त विवरण से कुछ ऐसा आभास मिलता है कि लोक-मानस और मानव-प्रकृति को अभिन्न मान लिया गया है। वस्तुतः मानव-प्रकृति तो मनुष्य के स्वरूप का मूल है। और मानस उसका एक अंश मात्र। मानव-प्रकृति मानस की दिशा निर्धारक प्रकृति है। मानव प्रकृति के, रूढ़ मूल स्वरूप के अनुसार जो मानस ढला, वह जिस प्रकार से ऐतिहासिक-भौगोलिक क्रम में प्रतिक्रियावान अथवा क्रियावान होकर विकसित होता हुआ, पर अपने रूढ़ मूल की सीमाओं अथवा तत्वों को न त्यागता हुआ चला आया है, वही लोक-मानस है। यह आदिम मानस "प्रिमिटिव माइंड" भी नहीं है, और "जन मानस" भी नहीं है! यह तो मात्र वह प्राकृतिक आदिम रूढ़ मूल मानस है जो ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक स्थितियों के परिणाम को किसी भी रूप में ग्रहण नहीं करता। इस आदिम शब्द का प्रयोग आज विद्यमान आदिम जातियों के लिए भी होता है। अत: आज आदिम मानस से आदिम जातियों की मानसिक विशेषताओं का भी ज्ञान होता है। निश्चय ही यह लोक-मानस नहीं। लोक-मानस का किसी वर्ग अथवा जाति विशेष से संबंध नहीं। वह तो सर्वत्र मानव के मूल में विद्यमान तत्व है। यह जंगल में भी और शहर में भी मिलेगा।

लोक-मानस क्यों हमें आज जन-मानस से भी भिन्न मानना होगा। जन को यदि जाति "रेस" का पर्याय माना जाय तो वस्तुतः लोक-मानस उसका विरोधी है। लोक्-मानस की अवस्थिति ऐसे जन-मानस के सिद्धान्त को भ्रामक सिद्ध करती है। किन्तु आज जन शब्द रेस अथवा जाति के अर्थ में नहीं आता। आज जन शब्द से जनता का भी अर्थ ग्रहण किया जाता है। जनता शब्द भी विश्वभर के सामान्य मनुष्य का वाचक है। अत: जन-मानस उस सामूहिक "कलैक्टिव" मनोविज्ञान का एक रूप है, जो वस्तुतः मानस के चेतन पक्ष पर बल देता है। जन-मानस किसी युग का वह साधारणीकृत मानस होता है, जिसमें चेतन रूप में सामाजिक संस्कार बद्धता के साथ युग के विधि-निषेधों के परिणाम से उदभूत चेतन वृत्तियां फलित होती हैं। इसका संबंध चेतना-ग्राह्य वृत्तियों से है।

---

१. The Psychological basis of cultural traits is identical among all races, and similar forms develop among all of them (P. 33) तथा.........The similarities of culture the world over.........justify this assumption of a fundamental sameness of the human mind regardless of race. (P. 34.)

इन मानसिक वृत्तियों की पृष्ठभूमि सामाजिक संस्कारों की चेतना और युग चेतना के साधारणीकरण से प्रस्तुत होती है। इसी कारण यह लोक-मानस से भिन्न है।

और जिस शाब्दिक अभिव्यक्ति अथवा वाणी में जितना यह लोक-मानस अधिक मात्रा में मिलेगा, उतनी ही वह लोक-साहित्य के अन्तर्गत आ सकेगी। मैरेट महोदय ने लिखा है कि, ऐतिहासिक परिस्थितियां बदलती हैं, जबकि मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ अपेक्षाकृत स्थायी होती हैं। लोक-साहित्य के विद्यार्थी को दोनों के साथ ही न्याय करना चाहिये। "Psychology and Folklore (P. 121)" क्योंकि आज लोक-वार्ता मात्र अवशेषों का ही अध्ययन नहीं है, लोक-मानस के साथ लोक आज मानव में जीवित है। लोक साहित्य के द्वारा हम उसे आज उसके इतिहास के साथ विद्यमान रूप में अध्ययन करते हैं।

सहायक साहित्य

(1) Before Psychology, by Henri Frankfort etc.

(2) Psychology and Folklore, by R. R. Marett.

(3) The outlines of Mythology, by Lewis Spence.

(4) The Standard Dictionary of Folklore etc. Martin Leech.

(5) The Mind of Primitive Man, by Franz Boas.

(6) The Evolution of Society by J. A. C. Brown.

(7) A Dictionary of Psychology, by James Drever.

डा० हार्नली

हिन्दी-धातु-संग्रह

(खंड २)

आ—यौगिक-धातुएँ

१. अटक् (संयुक्त धातु)=सं० अट्ट+कृ, प्रा० अट्टकेइ या अट्टक्कइ, हि० अटकै।

२. उचक् (संयुक्त धातु)=उठना=सं० उच्च+कृ, प्रा० उच्चक्केइ या उच्चकइ, हि० उचकै।

३. उबक् (संयुक्त धातु)=सं० उद-वभ्+कृ, प्रा० उव्वंक्केइ या उव्वंक्कइ, हि० उबकै।

४. ऊक् या ओंक (Vomit)=संयुक्त धातु=सं० वम+कृ, प्रा० वमक्केइ या वमक्कइ, अपभ्रंश—प्रा० ववँक्कइ, हि० ओंकै या ऊंकै।

५. उखड़् (derivative)—कर्मवाच्य या अकर्मक रूप है उखाड़।[1] (६)।

६. उखाड़् (नाम धातु) या उखेड़=सं० भूतकालिक कृदन्त-उत्कृष्ट, प्रा० उक्कड्डइ (हेमचन्द्र ४,१८७) हि० उखाड़ै या उखेड़ै या उकेढ़ै।[2]

७. ओढ़् (नाम धातु)=सं० उपवेष्ट, प्रथम वर्ग-उपवेष्टते, प्रा० ओवेड्डइ (हेमचन्द्र ४, २२१) हि० ओढ़ै। आवे से संकुचित 'ओ' धातु 'विश' का भूतकालिक कृदन्त।

८. कड़क् (संयुक्त धातु) (Crackle, thunder)=सं० कर्द+कृ, प्रा० कड्डक्केइ या कड्डक्कइ, हि० कड़कै।

९. कमाब् (नाम धातु) earn=सं० संज्ञा-कर्म; प्रा० कम्मावेइ या कम्मावइ (हेमचन्द्र, ४, १११ में कम्मवइ है तथा यह धातु 'उपभुज्' का स्थानापन्न बताया गया है)।[3] हि० कमावै।

---

१. 'अवँ या अम के स्थान पर ओ' देखिये—हार्नले—तुलनात्मक व्याकरण—१२२.

२. 'उकाढ़ै के स्थान पर उखाड़ै'—देखिये, हार्नले—तुलनात्मक व्याकरण—१३२. (Change a to e) 'अ' से 'ए' देखिये—हार्नले—तुलनात्मक व्याकरण—१४८.

३. (the á is shortened to ä by Hemchandra ३,१५०)

१०. कसक् (संयुक्त धातु)=सं० कष+कृ, प्रा० कसक्केइ या कसक्कइ हि० कसकै ।

११ कट् (derivative) कर्मवाच्य या अकर्मक, इसका जन्म धातु 'काट्' से हुआ है (देखिए, मूलधातु २७) ।

१२. कढ़् (derivative) धातु 'काढ़' का कर्मवाच्य या अकर्मक है (देखिए—१३)

१३. काढ़् (नाम धातु)=सं० भूतकालिक कृदन्त-कृष्ट, प्रा० कड्ढइ (हेमचन्द्र ४,१८७) हि० काढ़ै ।

१४. खरक् (संयुक्त धातु) या खड़क=सं० स्खल+कृ, प्रा० खलक्कइ या खडक्कइ, हि० खरकै या खड़कै । इसी अर्थ वाली एक द्वित्व धातु और है—खर्-खर् खड़-खड़ । ये मराठी और पंजाबी में भी हैं । इस धातु का मूल अर्थ है फिसलना या लुढ़कना—शब्द करते हुए । इसके दर्शन मराठी के खड़क या खरक, (धारा का प्रवाह अर्थ) में होते हैं । धातु 'खड' का प्रयोग भी मराठी में है जिसमें मौलिक अर्थ छिपा हुआ है—गिरना । पंजाब में भी है जहाँ इसका अर्थ ले जाना[४] हैं ।

१५. गड़् (derivative) (be hollowed, be sunk) कर्मवाच्य अकर्मक है जो धातु 'गाड़' (देखिए १६) से व्युत्पन है ।

१६. गाड़् (नाम धातु)=सं० संज्ञा-गर्त, प्रा० गड्ड (वररुचि ३,२५) प्रा० गड्डेइ या गड्डइ, हि० गाड़ै, अथवा इसका अपभ्रष्ट रूप-गाढ़ै (१७)

१७. गाढ़् =सं० भूतकालिक कृदन्त—गाढ़, प्रा० गाढइ, हि० गाढ़ै ।

१८. गोद (नाम धातु) चिह्नित करना या गोदना—सं० संज्ञा-गोर्द, प्रा० गोद्देह या गोद्दइ, हि० गोदै (?)

१९. घबराव् (नाम धातु)=संभवत: 'गड़बड़ाव' का अपभ्रष्ट रूप है, जिसका अर्थ यही है । यह 'गड्ड' से बना है=सं० संज्ञा-गर्द (शब्द, चिल्लाहट आदि) ।

२०. घिनाव या घिनियाव (नाम धातु)=सं० संज्ञा-घृणा या (demunative) घृणिका (धातु-घृण)=प्रा० घिणा (हेमचन्द्र, १,१२८) या घिणिआ, प्रा० घिणावेइ या घिणावइ या घिणिआवेइ या घिणिआवइ, हि० घिनावै, घिनियावै ।

२१. घिर् (derivative)—'घेर' का कर्मवाच्य अकर्मक (देखिए मूल धातु—६४)

२२. चपक् (संयुक्त धातु)=सं० चप या चर्प+कृ, प्रा० चप्पक्केइ, या चप्पक्कइ, हि० चपकै ।

२३. चमक् (संयुक्त धातु) glitter=सं० चमत्+कृ, कर्मवाच्य-चमत्क्रियते (कर्तृवाच्य के भावसहित) प्रा० चमक्केइ, या चमक्कइ; हि० चमकै ।

२४. चाह (नाम धातु) 'छाह' का अपभ्रष्ट रूप (देखिए—४०)

२५. चिर् (derivative) be torn='चीर' धातु का कर्मवाच्य या अकर्मक रूप । देखिए—३१.

---

४. The Change of 'ल' या 'र' to 'ड' या 'ड़' is anomolous. यह प्राकृत में हो गया था । हाल की सप्तशतक ४४, अक्खडइ—सं० आस्खलति सप्तशतक १९५, खडिअ सं० स्खलित । सम्भवत: स्कंद धातु से कोई सम्बन्ध हो । धातु क्षर और क्षल् भी दर्शनीय हैं । धातु थरक् और फरक् भी देखिए ।

२६. चिकनाव् (नाम धातु) smooth polish = सं० संज्ञा-चिक्कण या चिक्किण (सम्भवतः यह भी एक संयुक्त शब्द है 'चित्' का = चित्र और कृ = प्रा० किण) प्रा० चिक्कणावेइ या चिक्कणावइ, हि० चिकनावै।

२७. चिढ़ाव (नाम धातु) या चिड़ाव, गाली देना = सं० भूतकालिक कृदन्त क्षिप्त ('क्षिप्' धातु से व्युत्पन्न) प्रा० छिडावइ, हि० चिढ़ावै (महाप्राणत्व का विपर्यय) या चिड़ावै (महाप्राणत्व का लोप)[५]

२८. चिताव् (नाम धातु) = सं० भूत कालिक कृदन्त-चित्त, प्रा० चित्तावेइ या चित्तावइ (सेतुबन्ध, ११,१) हि० चितावै[६]।

२९. चीत् (नाम धातु) Paint = सं०-संज्ञा-चित्र, सं० चित्रयपि, प्रा० चित्तेइ या चित्तइ, हि० चीतै।

३०. चीन् या चीन्ह (नाम धातु) पहचानना = सं० संज्ञा-चिह्न, प्रा० चिण्ह (हेमचन्द्र २,५०) सं० चिन्हयति, प्रा० चिण्हेइ या चिण्हइ हि० चीन्है या चीनै।

३१. चीर (नाम धातु) फाड़ना = सं० संज्ञा-चीर (rag) इससे सं० चीरयति, प्रा० चीरेइ या चीरइ, हि० चीरै।

३२. चुक (संयुक्त धातु) समाप्त होना = सं० च्युत + कृ, प्रा० चुक्कइ, (हेमचन्द्र ४, १७७) हि० चुकै।[७]

३३. चूक (गलती) = सं० च्यु + कृ, प्रा० चुक्कइ, हि० चूकै।[७]

जहाँ तक व्युत्पत्ति का संबंध है, यह धातु पूर्व धातु (३२) के समान ही है। मौलिक अर्थ 'गिरना' 'भूल' में परिवर्तित हो सकता है। इस अर्थ में यह प्राकृत में बहुधा मिलता है (सप्त शतक, ५,३२३) चुक्कसंकेआ भूल की; फिर-सप्त शतक ५,१९९, सेतुबन्ध १,९ में भी है, जहाँ टीका इसकी इस प्रकार व्याख्या करती है 'प्रमादे देशी इति केचित्' अर्थात् कुछ के मतानुसार यह शब्द 'देशी' शब्द है, जिसका अर्थ भूल करना है— देखिए—S. Goldschemidt's edition of सेतुबन्ध।

---

५. (अ) महाप्राणत्व के परिवर्तन के सम्बन्ध में देखिये—
नं० ४७ छेड़् या छोड़् जहाँ महाप्राणत्व है।
(ब) मूल धातु = ६५ चढ़्
(स) 'प्त' का 'न्त' और 'ड' (ड्ड) हो जाना—देखिये धातु जुड़ाव जो भूतकालिक कृदन्त 'युक्त' से बना है।
(द) मूलधातु नं० ९२, ९३ जुट् और जोड़्।

६. सेतुबन्ध ११,१ भूतकालिक कृदन्त 'चित्तविअं' प्राप्त होती है—(हेमचन्द्र ३१५०) जिसकी ठीक से व्याख्या में अर्थ 'चेतितं' या 'निवृत्तं' या परितोषितं लिखा गया है।

७. हेमचन्द्र ने इसके स्थान पर संस्कृत् धातु 'भ्रंश' (Fall down) जो 'च्युत' का पर्यायवाची है, दिया है। च्युत की ठीक व्युत्पत्ति सेतुबन्धु के व्याख्याकार ने नं० १, ९ में दी है। सं० धातु चुक्क्—दशमवर्ग—चुक्कयति।

३४. चोराव् (नाम धातु=चुराना)=सं० चार या चौर, प्रा० चोरावेइ या चोरावइ हि० चोरावै ।

३५. चौंक् (संयुक्त धातु भय से चौंकना)=सं० चमत्-कृ कर्मवाच्य चमत्क्रियते (कर्तृवाच्य का भाव लिए हुए) प्रा० चमक्केइ या चमक्कइ, अप० प्रा० चवँक्कइ, हि० चौंकै ।

३६. छन् (derivative=छानना) कर्मवाच्य या अकर्मक जो छान् (३८) से व्युत्पन्न है ।

३७. छल (नाम धातु=धोखा)=सं० संज्ञा, छल, सं० छलयति, प्रा० छलेइ, या छलइ, हि० छलै ।

३८. छान् (नाम धातु=Strain, search)=सं० भूतकालिक कृदन्त-स्यन्न, (धातु स्यंद्) प्रा० सन्नेइ या छन्नेइ या छन्नइ, हि० छानै । (?)

३९. छाप् (नाम धातु=stamp)='छप्' से व्युत्पन्न कर्तृवाच्य या अकर्मक रूप, सम्भवतः 'थाप्' धातु का दूसरा रूप । (परिशिष्ट ४, १३) ।

४०. छाह (नामधातु) या चाह=सं० चतुर्थ वर्ग—उत्साह, प्रा० उच्छाहेइ, या उच्छाहइ (हेमचन्द्र २,२२) हि० छाहै या चाहै । अथवा संस्कृत संज्ञा—इच्छा से व्युत्पन्न, प्रा० इच्छाएइ या इच्छाअइ या इछाअइ, हि० छाहै या चाहै ।[८]

४१. छिटक (संयुक्त धातु—तितर बितर होना)=सं० क्षिप्त+कृ, प्रा० छिट्टकेइ या छिट्टकइ, हि० छिटकै (देखिए ४६ भी)

४२. छिड़ (नामधातु)=(be vexed, take offence) धातु 'छीड़' या 'छेड़' से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक । देखिए ४६ भी ।

४३. छिड़क (संयुक्त धातु=छिड़कना)=सं० स्पृष्ट+कृ०, प्रा० छिडक्केइ या छिडक्कइ, हि० छिड़कै ।[९]

४४. छींक (नामधातु=छींकना) सं० संज्ञा—छिक्का, सं० छिक्कति, प्रा० छिक्केइ या छिक्कइ, हि० छींकै । छिक्का शब्द स्वयं भी संयुक्त है=छित्+कृ और सम्भवतः छित् शब्द 'क्षुत' का एक दूसरा रूप है, जिसका जन्म सं० धातु 'क्षु' से हुआ है ।

४५. छीट या छींट या छेट (नामधातु—छिड़कना) सं० भूतकालिक कृदन्त, स्पृष्ट, प्रा० छिट्ठ ('स्पृ' के स्थान पर 'छि' हो गया जैसे 'छिट्टइ' या 'छिवइ' या 'छिप्पइ' में हो गया था) (हेमचन्द्र, ४,१८२ व १,२५७, देखिए मूल धातु ७८,८० भी) प्रा० छिट्ठेइ या छिट्ठइ' हि० छीटै या छींटै या छेटै ।[१०]

---

८. आदि के 'उ' या 'इ' के लोप के सम्बन्ध में देखिये तुलनात्मक व्याकरण १७३ । महाप्राणत्व के परिवर्तन के सम्बन्ध में देखिये १३२ ।

९. संस्कृत 'स्पृष्ट' से व्युत्पन्न 'छिड' देखिए नं० ४५ 'छीट' । अन्त के व्यंजन के मृदुलत्व के सम्बन्ध में छीट से छिड़ जैसे जुट से जोड़ी ।

१०. 'महाप्राणत्व' के लोप के सम्बन्ध में देखिये तुलनात्मक व्याकरण—१४५–२ अनुनासिक देखिये १४६. 'इ' का 'ए' परिवर्तन देखिये १४८, संस्कृत धातु 'सिव्' मूलधातु—३४२ ।

४६. छीड़, छेड़ (abuse) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य = क्षिप्त, प्रा० छेडेइ या छेडइ, हि० छेड़ै या छोड़ै (देखिए २७ = ४२) सम्भवतः क्षिप्त से एक धातु 'छिट्' निकली जैसे सं० धातु जुट्, युक्त से व्युत्पन्न हुई। 'छिट्' का प्रेरणार्थक 'छेटि' होगा, जैसे 'जुट' का प्रेणार्थक जोटि हुआ। यहाँ से प्रा० छेडेइ और प्रा० जोडेइ हि० छेडै—जोड़ै हुआ। छिट् धातु जो जुट् के समान है, हिन्दी में नहीं मिलती। केवल इसका संयुक्त रूप छिटक् मिलता है। (देखिए—४१) सम्भवतः ४३ तथा ४५ भी 'क्षिप्त' से व्युत्पन्न हुए हों! इसी प्रकार के धातु समूह हैं—छुट्, छूट, छोड़! नीचे लिखी रूप-श्रेणियाँ हो सकती हैं :—

१. सं० युक्त, प्रा० जुत्त या जुट्ट, धातुएँ सं० जुट, प्रा० जुट्ट या जुड़, हि० जुट, जुड़।

२. क्षिप्त प्रा० छुत्त या छुट्ट, धातुएँ—सं० छेट, प्रा० छुट्ट, छुड्, छुट्, हि०, छुड़। छोड़—प्रेरणार्थक।

३. क्षिप्त, प्रा० छित्त या छिट्ट, धातुएँ सं० छिट, प्रा० छिट्ट या छिड़, हि० छिट, छिड़। प्रेरणार्थक—छेड़।

(प्राकृत की 'ट्ट' से युक्त धातुएँ संस्कृत भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य से व्युत्पन्न दीखती हैं। उनका संस्कृत में पुनर्ग्रहण अन्त्य 'ट्' के साथ हुआ। पीछे इन्होंने 'ड' से युक्त प्राकृत धातुओं को जन्म दिया। यह साधारण ध्वन्यात्मक परिवर्त्तन के नियम के अनुसार हुआ जिसमें 'ट' का 'ड' हो जाता है। दो प्रा० धातुएँ—'ट्ट' से युक्त तथा 'ड' से युक्त—हिन्दी में आती हैं। 'छिट्ट' का प्रयोग कम मिलता है। संस्कृत धातुओं के साथ इसका वर्णन नहीं मिलता। यह हिन्दी में भी प्रायः जीवित नहीं है। छिटक अवश्य मिलता है।

४७. छीन (नामधातु = छिनाना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाक्य छिन्न ('छिय्' धातु से) प्रा० छिन्नेइ या छिन्नइ, हि० छीनै।

४८. छट या छूट (नामधातु = be let off, be released) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य—क्षिप्त, प्रा० छुत्त (हेमचन्द्र, २,१३८) या छुट्ट (सुम्भचन्द्र, प्राकृत ग्रामर १, ३, १४२, छट्) प्रा० छुट्टेइ या छूट्टइ, हि० छूटै या छूटै (देखिए—४६ तथा ५०) 'छट' या 'क्षुट्' धातु का ग्रहण संस्कृत में प्रेरणार्थक तथा सकर्मक रूप के अतिरिक्त नहीं हुआ। संस्कृत में 'छुट्' धातु का अस्तित्व तो है किन्तु इसने एक अलग अर्थ (काटना) ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार का अर्थ-परिवर्तन संस्कृत की एक अन्य धातु-श्रेणी में भी देखा जा सकता है, जिनका मूल भी क्षिप्त में है; क्षिप्त प्रा० में खित्त (हेमचन्द्र, २,१२७) हो जाता है, या खुत्त है (सप्तशतक ५,२७८) या खुट्ट, जहाँ से प्रा० नामधातुएँ खुट्ट, या खुड (हेमचन्द्र ४,११६, खुट्टइ या खुडइ वह तोड़ता है) निकलती हैं। हिन्दी में 'खूट्' हो जाता है, खुड का कोई अस्तित्व नहीं। ये खुड् तथा इसके प्रेरणार्थक या सकर्मक रूप खोट् या खोड् संस्कृत में ग्रहण कर लिए गए। (देखिए-मूलधातु ४१)

४६. छेद् (नामधातु = Perforate) = सं० संज्ञा छिद्र (धातु-छिद्) जहाँ से सं० छिद्रयति, प्रा० छिद्देइ या छिद्दइ, हि० छेदै।

५०. छोड़ (derivative-release) 'छुट्' से व्युत्पन्न एक कर्तृवाच्य तथा सकर्मक (देखिए —४८) संस्कृत धातु 'क्षोट' से तुलना करिये।

५१. जुगाव् (नामधातु = pair of labor) सं० संज्ञा-युग्म, प्रा० जुग्ग (हेमचन्द्र २,७८) प्रा० जुग्गावेइ या जुग्गावइ हि० जुगावै।

५२. जताव् (नामधातु = जताना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य ज्ञप्त (धातु ज्ञा के प्रेरणार्थक का) प्रा० जत्तावेइ, हि० जतावै।

५३. जम् (नामधातु = जमना) सं० संज्ञा-जन्म, प्रा० जम्मेइ या जम्मइ (हेमचन्द्र ४,१३६) हि० जमै।

५४. जीत् (नामधातु = जीतना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य-जीत (धातु 'ज्या' का) प्रा० जित्तेइ या जित्तइ, हि० जीतै।

५५. जुड़ (derivative = जुड़ना) धातु 'जोड़' (५७) का कर्मवाच्य या अकर्मक।

५६. जुट् (नामधातु — जोड़ना) = सं० भूतकालिक कृदन्त, कर्मवाच्य युक्त; प्रा० जुत्त (हेमचन्द्र १,४२) या जुट्ट (देखिए—४६, ४८) प्रा० जुट्टेइ या जुट्टइ, हि० जुटै। सं० धातु 'जुट्' से तुलना करिये।

५७. जोड़ (derivative—जोड़ना) 'जुट' (५६) से व्युत्पन्न कर्तृवाच्य या सकर्मक।

५८. जोत् (नामधातु—जोतना) yoke = सं० संज्ञा-योक्त, सं० योक्तृयति, प्रा० जोत्तेइ या जोतइ हि० जोतै।

५६. जोह या जोव् या जो (नामधातु-देखना) सं० संज्ञा ज्योतिस्, प्रा० जोएइ (हेमचन्द्र ४,४२२) या जोअइ (हेमचन्द्र, ४,३३२, जोअंतिहे) हि० जोऐ या जोवै, जोहे। (व और ह के सम्बन्ध में देखिये तुलनात्मक व्याकरण— ६६)

६०. झटक् (संयुक्तधातु—To twitch) सं० झट् + कृ, प्रा० झट्टक्केइ या झट्टक्कइ, हि० झटकै। 'झट' की व्युत्पत्ति के लिए मूलधातु 'झोंट' (६६) देखिए।

६१. झपक (संयुक्तधातु = spring) फेंकना, इधर-उधर चलना, Snatch) = सं० झप + कृ, प्रा० झपक्केइ या झंपक्कइ, हि० झपकै। हेमचन्द्र (४,१६१) इससे मिलती-जुलती एक और असंयुक्त क्रिया 'झँपइ' देता है, किन्तु केवल अकर्मक रूप में (Move to and fro)। इसका संबंध संस्कृत भ्रमति से जोड़ा गया है। हिन्दी और मराठी में यही असंयुक्त क्रिया 'झाँपै' है, किन्तु सकर्मक रूप में (Cover with thatch) (इसका साहित्यिक अर्थ होता है घास के पुलंदे फेंकना)। 'झंप' की व्युत्पत्ति के लिए देखिए—परिशिष्ट, संख्या—६। हिन्दी में एक क्रिया-विशेषण झप् (जल्दी) मिलता है। हिन्दी में एक अन्य प्रकार की संयुक्त धातु 'झपट्' भी है, जिसका अर्थ प्रायः झपक् के समान है।

६२. झलक् (संयुक्त धातु) चमकना = सं० झला + कृ, प्रा० झल्लक्केइ, या झल्लक्कइ हि० झलकै। झल की व्युत्पत्ति के लिए देखिए-मूलधातु, संख्या ६८।

६३. झाँक् (नामधातु = झाँकना) = सं० संज्ञा-अध्यक्ष, प्रा० अज्झ-क्खइ, हि० झांकै (आरंभिक 'अ' का लोप होगया, तथा महाप्राणत्व का भी लोप हो गया)

६४. झींक् (संयुक्त धातु आह भरना, खेद करना) सं० शीत् + कृ, कर्म वाच्य-शीत्क्रियते (कर्तृवाच्य भाव सहित) प्रा० झिक्केइ या झिक्कइ, हि० झींकै ।

६५. झुक् (संयुक्तधातु) या झोक (Stagger, nod, bend) = सं० क्षुभ कर्म० एकवचन० नपुंसक लिंग क्षुप + कृ प्रा० झुक्कइ, हिं० झुकै या झोकै ।

६६. झोक् या झोंक (संयुक्त धातु) = फेंकना = सं० क्षेप (या क्षप) + कृ प्रा० झैवक्कइ, हि० झोंकें या झोंकै ।

६७. टिक् (derivative, = ठहरना be propped = सं० ६८ से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक रूप ।

६८. टेक् (संयुक्त धातु—Prop., Support) = सं० त्राय ('त्रै' धातु का) + कृ, प्रा० टायक्कइ, हि० टेकै ?

६९. ठठ् (नाम धातु) fix, arrange = सं० भूतकालिक कृदन्त, कर्म-वाच्य-स्तब्ध ('स्तंभ' धातु) प्रा० ठ्ड्डेइ या ठड्डइ, हि-ठठै 'ढ' का 'ठ' में परिवर्तित होना सम्भवतः आरंभिक 'ठ' के कारण है । पुरानी हिन्दी में 'ठठ्ठै' थोड़ी देर ठहरने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है या आश्चर्य चकित या भौंचक्के होने के अर्थ में है । जब भूत कालिक कृदन्त उसी रूप में प्रयुक्त होता है तब मूल 'ढ' रखा जाता है । इस प्रकार पुरानी हिन्दी में ठाढ तथा आधुनिक में 'ठडा' (खड़ा हुआ) ।

७०. ठठक् (संयुक्त धातु) ठिठक् (थोड़ी देर ठहरना) सं० स्तब्ध + कृ; प्रा० ठठ्ठक्कइ हि० ठठकै या ठिठकै । 'ठठ' की व्युत्पत्ति के लिए ६९ देखिए । 'ख' के स्थान पर 'ड'—देखिए तुलनात्मक व्याकरण—३५ ।

७१. ठनक् (संयुक्तधातु) (एक प्रकार की ध्वनि) = सं० स्तन (Sounding) + कृ, प्रा० ठनक्केइ या ठनक्कइ, हि० ठनकै । सं० टंकार—टं + कृ, ट या ठका तात्पर्य ध्वनि से है ।

७२. ठमक् (संयुक्तधातु-Strut) = सं० स्तम्भ + कृ, प्रा० ठम्मक्कइ, ठम्हकइ हि० ठमकै । सं० स्तम्भ-प्रा० थंभ या ठंभ (हेमचन्द्र २,९ हिन्दी थाम् और ठाम । 'म्भ' 'का' 'म्ह' व 'म' में परिवर्तन देखिए मूल धातुएं ११७, ११८ ।

७३. ठसक् (संयुक्त धातु)-Knock, Chip = सं० तक्ष + कृ (देखिए परिशिष्ट, संख्या १० में 'ठाँस्') हिन्दी में एक विस्मयादिबोधक 'ठस्' खटखटाने की ध्वनि के अनुरूप, 'ठसनी' भी है (Grammar)

७४. ठहर् (नाम धातु रहना, धातु संख्या ७५ का एक अन्य रूप है । सम्भवतः इस प्रकार हो—ठढ़ = ठडह = ठहड़ = ठहरा । या 'र' तत्व उसी प्रकार हो जैसे 'र' या 'ल' ठहर और ठहल में हैं । हिन्दी में एक संज्ञा 'ठाहर' भी है = स्थान, 'र' 'ल' के सम्बन्ध में तुलनात्मक व्याकरण ३५४,२—ठह—प्रा० ठड—संस्कृत स्तब्ध ।

७५. ठाढ़् या ठाड़् नामधातु (be fixed, be erect या खड़ा होना) सं० भूतकाल

कृदंत कर्मवाच्य स्तब्ध, प्रा० ठड्ढ (हेमचन्द्र २,३९) प्रा० ठड्ढेइ, या ठड्डइ हि० ठाढ़ै या ठाड़ै ।

७६. डर् (नामधातु–भय) = सं० संज्ञा—दर, प्रा० डर (हेमचन्द्र ८,२१७, प्रा० डरइ हेमचन्द्र ४,१९८,) हि० डरै ।

७७. डाह् (नामधातु = गरम होना) = सं० संज्ञा दाह, प्रा० डाह (हेमचन्द्र १,२१७) प्रा० डाहेइ या डाहइ, हि० डाहै ।

७८. ढक् (संयुक्तधातु, ढकना) = संस्कृत संज्ञा-स्थग् (कर्म० एकवचन० नपुंसक – स्थक्) + कृ० प्रा० ढक्कइ (हेमचन्द्र ४,२१) हि० ढकै (देखिए मूलधातु, संख्या-१०५)[11] ।

७९. ढल् (derivative) या ढर (बहना) 'ढाल' या 'ढार' धातु का कर्मवाच्य या अकर्मक । देखिए परिशिष्ट, धातु ११ ।

८०. थक् या थाक् (संयुक्त धातु-थकना) सं० स्तभ् (कर्म कारक-एक वचन-नपुंसक०-स्तप्) + कृ, प्रा० थक्केइ (हेमचन्द्र ४,३७०) या छठवाँ वर्ग – थक्कइ (हेमचन्द्र-४,८७,२५९ – जहां यह सं० फक्कति का स्थानापन्न कहा गया है, जिसका अर्थ धीरे-धीरे चलना है, जो थकावट के कारण हो) हि० थकै, थाकै । हेमचन्द्र (४,१६) ने इसधातु को 'स्था' (खड़ा होना) के समान माना है । बंगाली में 'थाक्' है जिसका उच्चार 'थक्' होता है – रहना, ठहरना । हिन्दी में इसका मूल अर्थ 'ठहर जाना' (Come to stop) है, जो थकान के कारण हो। सं० कर्मवाच्य 'स्तम्यते' (= स्तप् + क्रीयते) का अर्थ है—मजबूत बनाना, या कठोर बनाना (be paralysed) । हिन्दी में मूल अर्थ कठोरता सुरक्षित है। ठहरना चाहे थकान के कारण हो अथवा आश्चर्य के कारण हिन्दी का 'थकित्' दोनों अर्थ रखता है ' इससे व्युत्पन्न अन्य रूप हैं—अथक्, थकावट, थक्का फक्का (Perplexed)[12] ।

---

११. यह संस्कृत की मूल धातु तक्ष् से भी व्युत्पन्न हो सकता है । पहला वर्ग तक्षति प्रा० तक्खइ = थक्कइ = ढक्कइ । परिशिष्ट की धातुएं ठाँस्, ठक्, ठोस्, ठोक् की तुलना करिये । सं० धातु 'तक्ष्' और 'त्वक्ष्' – प्राकृत में 'थ' के स्थान पर 'ठ' होजाता है । सं० धातु 'तक्ष'—(chipping off and covering) ऐसा ही अर्थ परिवर्तन हिन्दी धातु मढ़, (ढकना) में, जो सं० मृश् (रगड़ना) से व्युत्पन्न है, हो गया है ।

१२. S. Goldschmidt, Prakritica (No. 7, P. 5) में इसकी व्युत्पत्ति नामधातु से बताता है = भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य 'थग्ध (धातु, थंघ) जिसको वह धातु 'स्थंभ' के समान बताता है और उसके मतानुसार 'ग्ध' 'क्क' में परिवर्तित हो गया है । इस सिद्धान्त का आधार तीन कल्पनात्मक स्थितियां हैं: थंघ तथा स्तंभ की समानता, थग्ध (भूतकालिक कृदंत-कर्मवाच्य) का अस्तित्व तथा 'ग्ध' का 'क्क' में परिवर्तित होना, पिशेल (Bezzenberger's Beitrage' III, २३५) इसकी व्युत्पत्ति सं० धातु 'स्थक्' से मानता है ।

८१. थपक् (संयुक्तधातु) = सं० थप् + कृ, 'थप्' की व्युत्पत्ति के लिए देखिए, धातु 'थाप्' परिशिष्ट, धातु-संख्या-१३।

८२. थलक् या थरक् (फड़फड़ाना, Tremble) संभवतः 'खरक' का एक भिन्न उच्चारण है या 'फरक' का। 'फ' तथा 'थ' का विनिमय प्रा० फक्कइ तथा थक्कइ में देखा जा सकता है (हेमचन्द्र ४, ८७) 'ख' और 'थ' का विनिमय खंभो और थंभो में देखा जा सकता है (हेमचन्द्र—२,८) इसका द्वित्व रूप 'थल्थल्' या 'थर् थर' भी है, जो 'खरखर' या 'फर फर' के समान है।

८३. थिरक् (संयुक्तधातु-नाचने आदि में) = सं० स्थिर + कृ, प्रा० थिरक्केइ या थिरक्कइ, हि० थिरकै

८४. थिराव्, (नामधातु = settle as liquor) = सं० संज्ञा-स्थिर, सं० स्थिरायति, प्रा० थिरावेइ या थिरावइ, हि० थिरावै।

८५. थुक् (संयुक्तधातु) = सं० ष्ठेव (या स्थेव) + कृ, प्रा० थुक्केइ, या थुक्कइ, हि० थूकै। 'एव' का संकुचित रूप 'उ', देखिये तुलनात्मक व्याकरण—१२२

८६. दउड़ या दौड़ (run-नामधातु) = सं० संज्ञा द्रव, प्रा० दवड, प्रा० 'दवडेइ' या दवडइ, (५०) हि० दउड़ै, प० हि० दौड़ै।[13]

८७. दरक् (संयुक्तधातु) (Split) = सं० दर + कृ, प्रा० दरक्केइ या दरक्कइ; हि० दरकै।

८८. दहक (संयुक्तधातु-जलना) = सं० दह् + कृ, प्रा० दहक्केइ या दहक्कइ, हि० दहकै।

८९. दुख् (नामधातु-पीड़ा) = सं० संज्ञा दुःख, सं० दुःखयति, प्रा० दुक्खेइ या दुक्खइ, हि० दुखै।

९०. धड़क् (संयुक्तधातु-भावावेश में जलना, दुखी होना, भय से) = सं० दग्ध + कृ, प्रा दड्ढक्कइ, हि० धड़कै। इसका द्वित्व रूप 'धड़धड़, भी है।[14]

९१. धार् (नामधातु-उडेलना) = सं० संज्ञा, धार, प्रा० धारेइ या धारइ, हि० धारै।

९२. धौंक या धौक (संयुक्त धातु breathe upon) = सं० धम + कृ प्रा० धमक्केइ या अप० प्रा० धवँक्कइ, हि० धौंकै।

९३. नट् (नामधातु-नाचना) = सं० संज्ञा-नर्त सं० नर्तयति प्रा० नट्टेइ, या, छठवाँ वर्ग, नट्टइ (हेमचन्द्र ४,२३०—२,२३०) हि० नटै। सं० धातु 'नट' (प्रथम वर्ग नटति या दशम् वर्ग-नाटयति) सम्भवतः प्राकृत से ली गई है।

---

१३. 'चन्ड के 'प्राकृत-लक्षण' (C. D. 11, 27 b) में एक धातु, 'डव डव' की ओर इंगित किया गया है जिसका अर्थ है मुंह नीचा किये दौड़ना। मराठी में 'डव डव' तथा 'डवड' दोनों इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इसमें दवड़ भी है। ये दोनों धातुएँ एक ही हैं। आरंभिक 'द' का 'ड' में बदल जाना अनहोनी बात नहीं है (हेमचन्द्र, १,२१७)

१४. हिन्दी में 'धड़' (body) तथा प्रबल ध्वनि के लिए, भी आता है। यह सं० दृढ़ से निकला होगा। प्रा० दढ = हि० धड़

९४. नह् (derivative) = बहना, 'नहा' (मूलधातु, संख्या १३६) का कर्म वाच्य या अकर्मक रूप है। जिसकी व्युत्पत्ति नहा से हुई है।

९५. नहाट् (नामधातु-भागना) = सं० भूत कालिक कृदन्त कर्मवाच्य 'स्नस्त' ('स्नस् धातु) प्रा० ण्हट्टइ, पू० हि० नहाटै।

९६. निकल (derivative) या निकर--धातु 'निकाल' (संख्या ९८) से व्युत्पन-कर्मवाच्य या अकर्मक।

९७. निकस् (derivative-be expelled) = मूल धातु 'निकास्' (संख्या—१३९) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक रूप।

९८. निकाल (नामधातु) या निकार् = सं० भूत कालिक कृदन्त कर्मवाच्य निष्कृष्ट, पालि तथा प्रा० निक्कड्डइ, प्रा० निक्कल्हइ या निक्कालइ, प० हि० निकालै या पू० हि० निकारै[15]।

९९. निखोड़ (नामधातु) या निखोर (Peel) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य-निष्कुष्ट; प्रा० निक्कोड्डइ) 'ड' के स्थान पर 'ओ' हो गया—हेमचन्द्र १,११६) या निक्खोडइ।

१००. निकोस् (नामधातु = grim) सं० संज्ञा-निकुस्मय (धातु —नि + कु + स्मि से) सं० निकुस्मयते; प्रा० निक्कोस्सेइ या निक्कोस्सइ (हेमचन्द्र १,११६) हि० निकोसै।

१०१. निगल् (नामधातु = निगलना) सं० संज्ञा-निगल्, प्रा० निगलेइ या छठवाँ वर्ग-निगलइ, हि० निगलै (यह अत्यन्त प्राचीन धातु हो सकती है = सं० नि + गृ, छठवाँ वर्ग-निगिलति। 'इ' का 'अ' में परिवर्तन हो गया है।

१०२. निपट् (नामधातु समाप्त होना) = सं० संज्ञा-निष्पत्ति (धातु—'निस् + पद्' से) प्रा० निप्पट्टेइ या छटवाँ वर्ग-निप्पट्टइ, हि० निपटै। (१)[16]।

१०३. निबह् (derivative) या निभ-मूलधातु-निबाह (संख्या १४६) से व्युत्पन्न।

१०४. पइठ (पैठ) = नामधातु (प्रविष्ट होना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य-प्रविष्ट, प्रा० पइट्ठ (हेमचन्द्र-४,३४०) प्रा० पइट्ठेइ या छठवाँ वर्ग पइट्ठइ, हि० पइठै, पैठै।

१०५. पक् (नामधातु = पकना) = सं० भूत कालिक कृदन्त कर्मवाच्य-पक्व, प्रा० पक्क (हेमचन्द्र २,७९) प्रा० पक्केइ या पक्कइ, हि० पकै।

१०६. पकड़् (नामधातु = पकड़ना) = सं० भूत कालिक कृदन्त कर्मवाच्य प्रकृष्ट, प्रा० पक्कड्डइ (हेमचन्द्र ४,१८७) हि० पकड़ै।

१०७. पच्छताव् (नामधातु = पश्चाताप करना) = सं० संज्ञा पश्चाताप, प्रा० पच्छ-तावेइ या छठवाँ वर्ग—पच्छत्तावइ, हि० पछतावै।

१०८. पट् (नामधातु—अदा हो जाना, छत पाटना, सींचना) = सं० संज्ञा-पत्र, या-पट्ट या

---

१५. 'ढ' का 'ल्ह' में परिवर्तन-देखिये तुलनात्मक व्याकरण—११५ संस्कृत धातु नित् + कल् सं० निष्कालयति = प्रा० निक्कालेइ।

१६. दन्त्य 'त्त' का मूर्धन्य 'ट्ट' हो गया है। प्राकृत पट्टणां संस्कृत के पत्तनं से व्युत्पन्न हुआ है (वररुचि ३,२३ प्रा० पडइ संस्कृत पतित वररुचि ८,५१)

पट, प्रा० पट्टेइ या (छठवाँ वर्ग) पट्टइ, हि० पटै। सं० में पत्र का अर्थ है सिंचाई का पात्र, पट्ट का अर्थ है वहीखाता जिसमें अदायगी का हिसाब लिखा जाता है; पट का अर्थ है—छत।

१०९. पनप् (नामधातु—बढ़ना) = सं० संज्ञा प्रपञ्च (धातु प्र + पंच) सं० प्रपंचयति, प्रा० पपणेइ या पपणइ (हेमचन्द्र २,४२) हि० पनपै (पपनै का रूप) तु० व्याकरण—१३३।

११०. पनियाव् (नामधातु—सींचना) = सं० संज्ञा पानीय, प्रा० पाणिअ' (हेमचन्द्र १,१०१) प्रा० पणियावेइ या पणियावइ, हि० पनियावै।

१११. परिस् या परस् (नामधातु—छूना) = सं० संज्ञा-स्पर्श; प्रा० फरिस (वररुचि ३,६२) प्रा० फरिसइ (हेमचन्द्र, ४,१८२) हि० परिसै या परसै (महा प्राणत्व का लोप हो गया, 'इ' के स्थान पर अ आ गया)।

११२. पलट् (नामधातु = उलटना) या पलथ् = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य-पर्यस्त, प्रा० पल्लट्ट या पल्लत्थ (वररुचि ३,२१, हेमचन्द्र २,४७) प्रा० पल्लट्टइ या पल्लत्थइ (हेमचन्द्र ४,२००) हि० पलटै या पलथै। (हेमचन्द्र ४,२००/२८५ पल्हत्थ और पल्हत्थड २—तु० व्याकरण—१६१)

११३. पहिचान् या पहचान् (नामधातु = पहचानना) = सं० संज्ञा-परिचयन्, प्रा० परिचअणेइ या परिचअणइ, हि० पहिचानै या पहचानै। 'र' के स्थान पर 'ह' के लिये देखिये तुलनात्मक व्याकरण ६९, १२४।

११४. पिहन् या पहिन् (derivative) मूलधातु 'पिहनाव' या 'पहिनाव (संख्या-१९५-१९६) का कर्मवाच्य या अकर्मक [१७]।

११५. पिचक् (संयुक्तधातु—पिचकना) = सं० पिच्च + कृ, प्रा० पिच्चक्केइ या पिच्चक्कइ, हि० पिचकै। पिच्च या 'पिच्' की व्युत्पत्ति के लिए देखिए, मूलधातु 'पीच' (संख्या १७५) संस्कृत में यह शब्द प्रा० से गृहीत हुआ है [१८]।

११६. पिछल् या फिसल (नामधातु—फिसलना) = सं० संज्ञा-पिच्छिल या पिच्छल (slippery), प्रा० पिच्छलेइ या पिच्छलइ हि० पिछलै या फिसलै (महाप्राणत्व 'प' में आगया। छ का स हो गया। देखो तुलनात्मक व्याकरण ११।

११७. पिट् (derivative—पीटना) धातु पीट (संख्या—११९) का कर्मवाच्य या अकर्मक।

११८. पिल् (derivative—पीटना आदि) धातु 'पेल्' (संख्या—१२१) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक।

११९. पीट (नामधातु) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्म वाच्य—पिष्ट, प्रा० पिट्टेइ (सप्तशतक

---

१७. बँगला में धातु 'पिनध' है जो सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य (पिनद्ध) की नामधातु है। हिन्दी धातु की भी इसी प्रकार व्याख्या हो सकती है जिसमें 'ध' का 'ह' हो गया है।

१८. सं० में 'चिपिट' शब्द 'प' और च' के विपर्यय से परिवर्तित हुआ दीखता है।

—१७३) या पिट्ठइ (ठ्ठ का ट्ट; पल्लट्ठइ का जैसे पल्लट्टइ हो गया, (हेमचन्द्र—४,२००) हि० पीटै। देखिए—१२१।

१२०. पुकार (नामधातु) सं० संज्ञा—स्फूत्कार या फूत्कार या पूत्कार, प्रा० फुक्कारेइ या पुक्कारेइ या पुक्कारइ, हि० पुकारै[१९]।

१२१. पेल् (नामधातु—भींचना, पीटना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य पिष्ट, देखिए मूलधातु संख्या—१८४।

१२२. पुन् (नामधातु) सं० संज्ञा पुण्य।

१२३. फटक् (संयुक्तधातु—फटकना) = सं० स्फट + कृ, प्रा० फट्ट क्केइ या फट्टक्कइ हि० फटकै। प्राकृत में 'ट' का ट्ट, देखो, मूलधातु १८६।

१२४. फरक् या फड़क (संयुक्तधातु = हिलना) = सं० स्फर + कृ, प्रा० फरक्केइ या फरक्कइ, हि० = फरकै, फड़कै (देखिए धातुएँ—८२, ११४) धातु फरफर या फुरफुर भी होती है।

१२५. फिसल् (नामधातु—फिसलना)—देखिए—११६। देखो परिशिष्ट धातु नं० ८।

१२६. फूँक् (संयुक्त धातु) = सं० फूत् + कृ, प्रा० फुक्केइ, फुक्कइ हि० फूँकै। (हेमचन्द्र ४,२२२,३ फुक्किज्जंत और सप्तशतक १७८ फुक्कंतअ)

१२७. फुक् (derivative) धातु संख्या १२६ (फूँक) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या सकर्मक।

१२८. बइठ् या बैठ (नामधातु) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य उपविष्ट, प्रा० उवइट्ठ या ओइट्ठ (हेमचन्द्र १,१७३) हि० बइठै या बैठै।[२०]

१२९. बक् (संयुक्त धातु) = सं० वाच् + कृ, प्रा० बक्कइ, हि० बकै या बुक—प्रा० बुक्कइ का अप्रभ्रष्ट रूप हो (हेमचन्द्र ४,९८) सं० बुक्कति या बुक्कयति (ब्रू + कृ) की संयुक्त धातु। हिन्दी में 'बुक' नहीं है, किन्तु इसका derivative बुकलाव हिन्दी में मिलता है। मराठी में दोनों बुक या बुकेल प्राप्त होते हैं।

१३०. बँच् (नामधातु—पढ़ना) = सं० संज्ञा-वाच्य, प्रा० वच्चइ, हि० बाँचै।

१३१. बहक् (संयुक्त धातु—भटकना) = सं० वहिस् + कृ, प्रा० वहिक्केइ या वहिक्कइ, हि० बहकै।

१३२. बिथ्र (derivative—फैलना) मूलधातु 'बिथार' (संख्या—२२५) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक।

१३३. बिराव् (नाम धातु—Mock) = सं० संज्ञा-विराव (आवाज़), प्रा० विरावेइ या विरावइ, हि० बिरावै।

---

१९. 'फ' का 'प' में परिवर्तन, देखिये धातु संख्या १११ 'परिस्' अकर्मक कर्मवाच्य का रूप चन्द के पृथ्वीराज रासो में प्राप्त होता है—पुक्कर्।

२०. 'व' का 'ब' में परिवर्तन विधि-नियम विरुद्ध है। हिन्दी बइठ़ की दूसरी व्युत्पत्ति प्रा० उवइट्ठ से की जा सकती है, जिसमें से प्रारम्भ का 'उ' लुप्त हो गया। देखो तुलनात्मक व्याकरण १७३.

१३४. बिलट् (नामधातु—खराब होना) सम्भवतः सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य बिलम्बित (विलप्त) से संबंधित ।

१३५. बीट् (नामधातु—विखेरना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य-व्यस्त, प्रा० विट्ट (विट्ठ) प्रा० विट्टेइ या विट्टइ हि० बीट ।

१३६. बीत् (नाम धातु—समाप्त होना) सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य वीत, प्रा० वित्त प्रा० वित्तेइ या वित्तइ, हि० बीते । (संस्कृत निहित के स्थान पर प्रा० निहित्त (हेमचन्द्र २९९) ।

१३७. बेढ़् (नामधातु—घेरना) = सं० वेष्ट, प्रेरणार्थक वेष्टयति या प्रथमवर्ग-वेष्टते, प्रा० वेड्ढेइ (हेमचन्द्र ४,५१) या वेड्ढइ (हेमचन्द्र ४,२२१) हि० बेढ़ै ।

१३८. बउराव् या बौराव् (नाम धातु—पागल होना) = सं० संज्ञा वातुल, प्रा० वाउलावेइ या वाउलावइ, हि बउलावै या बौरावै । देखिये तुलनात्मक व्याकरण २५ ।

१३९. भाग् (नामधातु—भागना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य-भग्न प्रा० भग्ग (हेमचन्द्र ४,३५४) प्रा० भग्गेइ या भग्गइ हि० भागै ।

१४०. भींग या भाग (नामधातु—भीगना) = सं० अभ्यंग, प्रा० अभिगेइ, अभिगइ, हि० भींगै या भीगै (?) मूलधातु भीज (परिशिष्ट संख्या. २१) से मिलाइए ।

१४१. भुन (derivative—भुनना) धातु 'भून' (संख्या—१४३) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक ।

१४२. भूल् (नामधातु) भोल या भोर (भूलना, गलती करना) सं० भूत कालिक कृदन्त कर्मवाच्य—भ्रष्ट, प्रा० भूल्लइ (हेमचन्द्र ४, १७७) प० हिन्दी—भूलै या भोलै, पू० हि० भूरै या भोरै, सं० भ्रष्ट = प्रा० भ्रड्ढ = भ्रल्ह[21] = भुल्ल ।

१४३. भून् (नामधातु) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य भूर्ण (Pan. ८. २. ४४) प्रा० भुणेइ या भुणइ, हि० भूनै ।

१४४. मढ़् (नामधातु—मढ़ना, ढकना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य मृष्ट, प्रा० मड्ढ या मड्ड, प्रा० मड्डइ या मढ़इ (हेमचन्द्र ४, १२६) हि० मढ़ै । सं० धातु 'मठ' (ढकना) आदि प्राकृत या पालि मट्ठ (= मृष्ठ) से गृहीत है, जहाँ से 'मठ' आया, किन्तु हि० में मढ़ या मढ़ा है । इसी प्रकार कढ़्, बेढ़् धातु से भी ।

१४५. मत् (नाम धातु—परामर्श करना) = सं० संज्ञा-मंत्र, प्रा० मंतेइया मंतइ (हेमचन्द्र ४, २६० मंतियो) हि० मतै ।

१४६. मिट् (derivative—be effaced) धातु 'मेट' (१५३) का कर्मवाच्य या अकर्मक ।

१४७. मुंड् (derivative)—मूँड़ना—मूलधातु मूँड़ (२८४) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक ।

१४८. मुंद (derivative) बन्द होना—धातु 'मूँद' (१५१) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक ।

---

२१. भोल् या भोर से पूर्व में इसको संस्कृत नाम धातु भ्रमर से हिन्दी में 'भोरा' या 'भोला' मानता था ।

१४९. मू (नामधातु—मरना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य—मृत, प्रा० मुअ (हेमचन्द्र ४४२) प्रा० मुअइ, हि० मूऐ।

१५०. मूत् (नामधातु—पेशाब करना) = सं० संज्ञा-मूत्र, सं० मूत्रयति, प्रा० मुत्तेइ या मुत्तइ, हि० मूतै।

१५१. मूँद (नामधातु—बन्द करना) = सं० संज्ञा-मुद्रा, सं० मुद्रयति, प्रा० मुद्देइ या मुद्दइ, हि० मूँदै। (हेमचन्द्र ४, ४०१, दिणीमुद्द—(sealed)

१५२. मून (नाम धातु—चुप रहना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य मून् ('मू' धातु से) प्रा० मूणेइ या मूणइ, हि० मूम (अथवा 'मौन' संज्ञा से)

१५३. मेट् (नामधातु—मिटाना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्म वाच्य मृष्ट, प्रा० मिट्टेइ या मिट्टइ (मिट्टइ) हि० मेटै। पाली मट्ठ मट्ट = मृष्ट।

१५४. मौल् या मौर (नामधातु = खिलना) = सं० संज्ञा—मौल, इससे मौलयति, प्रा० मोलेइ या मोलइ, प० हि० मौलै, पू० हि० मौरै।

१५५. मौलाव या मौराव (नामधातु—blossom) = सं० मौल, प्रा० मोल्लावेइ या मोल्लावइ, प० हि० मौलावै पू० हि० मौरावै।

१५६. रग् (नामधातु—be attached) सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य रक्त, प्रा० रग्ग (हेमचन्द्र २, १०) प्रा० रग्गेइ, हि० रगै।

१५७. रंग् (नाम धातु—रंगना) = सं० संज्ञा-रंग, सं० रंगयति, प्रा० रंगेइ. या रंगइ. हि० रँगै।

१५८. रुक् (नाम धातु—रुकना) धातु 'रोक' (१६२) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक।

१५९. रुध् या रूद् रूध् (२९८) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक।

१६०. रूठ् या रुढ़ (क्रुद्ध होना) सं० भूतकालिक कृदन्त कर्म वाच्य रुष्ट प्रा० रुट्ठ (हेमचन्द्र ४, ४१४) या रुड्ढ, प्रा० रूट्ठइ या रुड्ढइ, हि० रूठै या रूढ़ै।

१६१. रेंक् (संयुक्त धातु = रेंकना) = सं० रेष् (कर्म, एक वचन, नपुंसक रेट्) + कृ, प्रा० रेक्केइया रेक्कइ, हि० रेंकै।

१६२. रोक् (संयुक्त धातु—बाधा डालना) = सं० रुघ्, कर्म, एक वचन, नपुंसक-रुत् + कृ, प्रा० रुक्केइ या रुक्कइ हि० रोकै।

१६३. रोप् (derivative = जमाना) मूलधातु रुप् (२९५) से व्युत्पन्न सकर्मक या कर्तृवाच्य।

१६४. लंगड़् (नाम धातु) = सं० संज्ञा—लंग, प्रा० (diminutive) लंगड़, प्रा० लंगडेइ या लंगडइ, हि० लंगड़ै।

१६५. लव् या लौ (नाम धातु—reap) = सं० संज्ञा—लव, सं० लवयति, प्रा० लवेइ या लवइ, हि० लवै या लौऐ।

१६६. लुक् (छिपना—संयुक्त धातु) = सं० लुप् + कृ, प्रा० लुक्कइ (हेमचन्द्र ४, ५५) हि० लुकै। 'लुप्' का अर्थ है 'बाहर हो जाना या लोप् हो जाना। इसकी व्युत्पत्ति सं० धातु लुप् (तोड़ना) से हुई है। यह मूल अर्थ प्राकृत के 'लुक्कइ' में अब भी सुरक्षित है, जिसका अर्थ तोड़ना, काटना (हेमचन्द्र, ४, ११६, जहाँ यह

सं० तुड् के समान बताया गया है) तथा अंतर्धान होना अथवा अपने को छुपाना है (हेमचन्द्र ४, ५६) जहाँ यह सं० 'निली' के समान बताया गया है ?[२२]

१६७. लुभाव् या लुहाव् (लुभाना) सं० संज्ञा-लोभ, प्रा० लोभावइ या लोहावइ; हि० लुभावै या लुहावै ।

१६८. सज् (derivative--सजना-सजाना) 'धातु' 'साज' (परिशिष्ट संख्या-२४) का कर्मवाच्य या अकर्मक ।

१६९. सटक् (संयुक्त) या सड़क (get away) = सं० सत्र या सद्+कृ प्रा० सट्टक्कइ या सडक्कइ, हि० सटकै या सड़कै । 'सत्र' का अर्थ है ढकना, छिपावट् । धातु 'सद्' प्रा० 'सड' हो जाता है (वररुचि ८,५१, हेमचन्द्र, ४,२१९)

१७०. सध् (derivative—सधना) मूल धातु 'साध्' (३३६) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक ।

१७१. समुहाव (नामधातु) = सं० संज्ञा-संमुख, प्रा० संमुहावेइ या संमुहावइ, हि० समुहावै ।

१७२. सरक् (संयुक्त धातु = खिसकना) सं० सर्+कृ, प्रा० सरक्केइ, या सरक्कइ, हि० सरकै । सम्भवतः यह 'सड़क' धातु का ही एक रूपान्तर हो !

१७३. सराप् (नामधातु—शाप देना) = सं० शाप का अपभ्रष्ट रूप ।

१७४. साठ, या साँठ् या साँट् (derivative—जोड़ना, मिलाना) मूलधातु संठ (३२३) से व्युत्पन्न सकर्मक या कर्तृवाच्य ।

१७५. सील् (नामधातु—सीलना) = सं० संज्ञा-शीतल, प्रा० सीअलेइ, या सीअलइ, हि० सीलै ।

१७६. सुधर् (derivative—सुधरना) धातु 'सुधार' (३४६) से व्युत्पन्न कर्मवाच्य या अकर्मक ।

१७७. सुहाव् (नामधातु) = सं० संज्ञा सुख, प्रा० सुहावेइ या सुहावइ, हि० सुहावै ।

१७८. सुहाव (नामधातु—सुन्दर होना) = सं० संज्ञा सोभ, सं० शोभयति, प्रा० सोहावेइ या सोहावइ, हि० सुहावै । यह मूलधातु भी हो सकती है जिसकी व्युत्पत्ति 'शुभ' धातु के प्रेरणार्थक से हुई है ।

१७९. सूख या सुख् (नामधातु—सूखना) = सं० संज्ञा-शुष्क, प्रा० सुक्खेइ या सुक्खइ, हि० सूखै ।

१८०. सूत् (नामधातु—सोना) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य-सुप्त, प्रा० सुत्तेइ या सुत्तइ, हि० सूतै ।

१८१. सैंत् या सेंत् (नामधातु—adjust) = सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य समाहित, प्रा० समाहित्त (हेमचन्द्र २,९९-निहित्त = सं० निहित) अप० सआँहित्त या सआँइत्त, हि० (संकुचित) सेंत, जहाँ से प्रा० समाहित्तइ, हि० सैंतै या सेंतै ।

१८२. हग् (संयुक्तधातु) = सं० हदु + कृ, प्रा० हग्गइ, हि० हगै ।

---

२२. 'लुक्' धातु 'लुच्+कृ' से भी संबंधित हो सकती है । 'लुच्' 'लुंच' धातु से है जिसका अर्थ (लुक् के समान) काटना या अंतर्धान होना है । अथवा इसकी व्युत्पत्ति लुंब+कृ से हो सकती है । धातु 'लुंब' का अर्थ है अदृश्य होना ।

१८३. हकाव् या हंकाव् (संयुक्त धातु—हाँकना) =सं० हक+कृ, प्रा हक्कावेइ या हक्कावइ, हि० हकावै या हँकावै ।

१८४. हंकार (नामधातु—दूर करना, आवाज करते हुए) =सं० हक्कार, सं० हक्कारयति, प्रा० हक्कारेइ या हक्कारइ, हि० हंकारै ।

१८५. हत् (मारना) सं० भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य-हत्, प्रा० हत्त (हेमचन्द्र, २,६६) प्रा० हत्तेइ या हत्तइ, हि० हतै ।

१८६. हलक् (संयुक्त धातु—चलना) सं० हल+कृ, प्रा० हलक्केइ या हलक्कइ, हि० हलकै ।

१८७. हाँक् (संयुक्त धातु) =सं० हक्+कृ, प्रा० हक्केइ या हक्कइ (हेमचन्द्र ४,१३४) हि० हाँकै । खिये १८३, १८४ ।

१८८. हार् (नामधातु—खेना, पीटाजाना) =सं० संज्ञा हार, प्रा० हारेइ या हारइ, हि० हारै (हेमचन्द्र ४,३१ में हारवइ है) हारावइ (हेमचन्द्र ३,१५०) यहाँ यह 'नशति' कहा गया है । यह केवल 'हारै' का Pleonastic रूप है, हि० में हरावै या हिरावै ।

१८९. हौंक (संयुक्तधातु—blow) सं० धम+कृ, प्रा० धमक्केइ या धमक्कइ, अप० धवँक्कइ, हि० हौंकै (धौंकै के स्थान पर) देखिए-धातु ६२ ।

परिशिष्ट १ मूल धातुएं

१. ऐंच् या एँच (खींचना,) सं आ+कृष; भविष्य-आकर्क्ष्यति (वर्तमान के भाव में प्रयुक्त) प्रा० आयंछइ या आइंछइ (हेमचन्द ४,१८७) हि० ऐंचै या एँचै (महा प्राणत्व का लोप) यह धातु और लघु रूप 'अंच' का प्रयोग दोनों, प्रा० (हेमचन्द्र ४,१८७ अंचइ) तथा पुरानी हिन्दी (पृथ्वीराज रासो २७,३८, अंचै) में हुआ है । देखिए-२

२. खैंच या खेंच या ख़ैंच या खेच =सं० कृष्. भविष्य कक्ष्यति (वर्तमान के भाव में प्रयुक्त); प्रा० कच्छइ या कंछइ; हि० खैंचै या खेचै या ख़ैंचै, खेंचै (महा प्राणत्व का विपर्यय) पुरानी हिन्दी में यह धातु 'खंच' के रूप मे प्रयुक्त मिलती है, जो प्राकृत के 'कंछ' के अधिक समीप है । इससे मिलती जुलती धातु 'अंच' भी पुरानी हिन्दी में है, जो मूल 'ऐंच' का सुधरा हुआ रूप है, जो 'खंच' के अनुकरण पर बना होगा। ख़ंच का भी खैंच हो गया । इसी प्रकार अंच का ऐंच हो गया। इस प्रकार पृथ्वीराज रासो (२७,३८) में खंचै और अंचै है ।[२३]

३. छाँड़ (Vomit, let go, release) सं० छृद; प्रथमवर्ग छर्दति; प्रा० छड्डइ (हेमचन्द्र ४, ६१) हि० छाड़ै, इस धातु का रूप 'छाँटै, भी है । इसकी व्युत्पत्ति सं० छद् से हो सकती है, सातवाँ वर्ग-छृणत्ति प्रा० छंड्ड या छंटइ हि० छाड़ै या

२३. पा मंगोल ललरीं वीस टंकी बर षंचै ।
चौतेगी सव्वाज बान अरि प्रान सुअंचै ।

छांटै । इसकी व्युत्पत्ति सं० नाम धातु 'छर्द' से भी दिखाई जा सकती है, दशम वर्ग छर्दयति (ऐसा हेमचन्द्र २,३६ में दीखता है) (छर्दि से छड्डइ) ।

४. छप् (दबाना, छापना) = सं० क्षंप, प्रथम वर्ग-क्षम्पति, प्रा० छंपइ, हि० छपै । अथवा यह सम्भवतः क्षम् से है, चतुर्थ वर्ग क्षाम्यति ।[२४]

५. झंख् या झख् या झक् (आह भरना, Chatter) सं० ध्वांक्ष्, प्रथम वर्ग ध्वांक्षति, प्रा० झंखइ (हेमचन्द्र ४,१४०) हि० झंखै, झखै, या झकै । ध्व का झ में परिवर्तन यहाँ सं० ध्वज प्रा० झज्यो हेमचन्द्र २,२७ ।[२५]

६. झांप् (फेंकना या ढकना) = सं० क्षप्, कर्मवाच्य क्षप्यते (कर्तृ वाच्य के भाव में प्रयुक्त) प्रा० झंपइ, हि० झाँपै,[२६] अथवा इसकी व्युपत्ति सं० अधि + ऋ से हो सकती है, प्रेरणार्थक अध्यर्पयति, प्रा० झंपेइ या झंपइ, हि० झांपै ।

७. ठक् (खट खटाना) = सं० तक्ष्, प्रथम वर्ग तक्षति, प्रा० टक्खइ (त् के स्थान पर ट) हि० ठकै । देखिए-९ । सं० टक्कर से मिलाओ हेमचन्द्र १,२०५

८. ठांस् (raw, hammer) सं० तक्ष्, प्रथम वर्ग, तक्षति, प्रा० टच्छइ, हि० ठाँसै (देखिए-१०,७,९ भी)[२७]

९. ठोक् या ठौंक = सं० त्वक्ष, प्रथम वर्ग-त्वक्षति, प्रा० टुक्खइ, हि० ठोकै[२८]

१०. ठोस् या ठोंस (hammer) = सं० त्वक्ष, प्रथम वर्ग-त्वक्षति, प्रा० टुच्छइ (हेमचन्द्र १,२०५) हि० ठोसै या ठांसै (देखिए ८)

११. ढाल् या दार् (उडेलना) 'धाड़' का रूपान्तर (देखिए—१४)

१२. थप् (fix, settle) = सं० स्तभ्, कर्म वाच्य-स्तभ्यते (कर्तृवाच्य के भाव में) प्रा० थप्पइ, हि० थपै । भ्य = व्य = व्व = प्प

---

२४. धातु 'स्पृश्' से भी प्रा० कर्मवाच्य (कर्तृवाच्य-भाव सहित) निकल सकता है, छप्पइ (छिप्पइ से मिलता हुआ) (हेमचन्द्र ४,२५७)

२५. हेमचन्द्र ने इस क्रिया का कई बार उल्लेख किया है ।

४,१४० = संतप् (Repent)
४,१४८ = विलप् (hament)
४,१५६ = उपालभ् (scold)
४,२०१ = निःश्वस (sigh)
४,२५९ = भाष् (Talk)

२६. 'द' के स्थान पर' झ सं० क्षीयते प्रा० झिज्जइ (हेमचन्द्र २, ३. और अनुस्वार का अंश जंपइ (हेमचन्द्र ४, २/१,२६ जप्पइ के स्थान पर)

२७. (अ) 'त' के स्थान पर 'ट' देखो हेमचन्द्र १,२०५
(ब) टाँछै से ठांसै—'छ से 'ट' व 'छ' से. 'स' देखो
तुलनात्मक व्याकरण ११, १३२

२८. 'त' के स्थान पर 'ट' हेमचन्द्र १,२०५

१३. थाप् या ठप् (थप्पड़, टकराना) = सं० स्तृह, कर्मवाच्य स्तृह्यते (कर्तृवाच्य भाव सहित) प्रा० थप्पइ या ठप्पइ, हि० थापै या ठपै। ह्य = म्य = व्य = ब्व = प्प

१४. धाड़ (उड़ेलना) = सं० ध्राड, प्रथम वर्ग ध्राडति, प्रा० धाइड (हेमचन्द्र ४,७९) हि० धाडै (देखिए-११) सं० ध्राड् प्राकृत से गृहीत है और संभवतः ध्रञ्ज के भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य ध्रष्ट का नाम धातु रूप है, प्रा० धड्ढ = धड्ड = धाड

१५. फलंग् (leap) = सं० प्र + लंघ्, प्रथम वर्ग-प्रलंघति, प्रा० पलंघइ, हि० फलंगै।

१६. फेंक् या फीक् = सं० प्र—इप, भविष्य-प्रेक्ष्यति (वर्तमान के भाव में प्रयुक्त) प्रा० पेक्खइ या पेंखइ, हि० फेंकै या फीकै।

१७. बिन् (बुनना) सं० वृ, नवमवर्ग-वृणाति, प्रा० विणइ, हि० बिनै। देखो न० १९। बुनने के लिए सं० धातु 'वे' है, प्रथम वर्ग-वयति, या चतुर्थ वर्ग-ऊयते। किन्तु इस धातु से हिन्दी धातु 'बिन' की व्युत्पत्ति होना असम्भव दीखता है। किन्तु धातु वृ तथा वे संबंधित दीखते हैं। दोनों का अर्थ है ढकना।

१८. बिछ् (फैलाना) = सं० वि-स्तृ, कर्म वाच्य विस्त्रियते (विस्तीर्यते के लिए) प्रा० बिच्छेइ या विच्छय, हि० बिछै।

१९. बुन् (बुनना) सं० वृ, पंचम वर्ग-वृणोति, प्रा० वुणइ, हि० बुनै।

२०. बोझ = (load) = सं० वह, कर्मवाच्य-उह्यते (कर्तृवाच्य के भाव में) या प्रेरणार्थक कर्मवाच्य-वाह्यते। प्रा० बुज्झइ (हेमचन्द्र ४,२४५-वुब्भइ) हि० बोझै।

२१. भीज् (भींज) = सं० अभि + अंज, कर्मवाच्य-अभ्यज्यते प्रा० अब्भिज्जइ, हि० भीजै या भींजै (देखिए संयुक्त धातु १४०)

२२. भूंक या भोंक या भौंक (बेकार बातें करना) सं० भष, भविष्य–भक्ष्यति, प्रा० भुक्कइ (हेमचन्द्र ४,१८६) हि० भूकै।[२९]

२३. भेज् (भेजना) = सं० अभि + व्रज्, कर्मवाच्य अभ्यज्यते (कर्तृवाच्य के भाव में) प्रा० अब्भिज्जइ, हि० भेजे।[३०]

२४. साज् (सजाना) = सं० संज्, कर्मवाच्य सज्यते (कर्तृवाच्य भाव में) प्रा० सज्जइ, हि० साजै। संस्कृत धातु-सज्ज सम्भवतः प्रा० से गृहीत है।

---

२९. हिन्दी में मोखै भी मिलता है।

३०. प्रारम्भिक 'अ' का लोप व ई का 'ए' में परिवर्तन—देखिए तुलनात्मक व्याकरण १७२, १४८।

पर्याय सूची

१. Causal—प्रेरणार्थक
२. Conjugation—समुच्चय बोधक
३. Contraction;—संकोच
४. Elision—लोप
५. Participles—कृदन्त
    Past P. —भूत कालिक कृदन्त
    Present P.—वर्तमान कालिक कृदन्त
६. Phonetic permutation—ध्वनि व्यतिहार
७. Roots—धातुएं
    Compound R. मिश्रित धातुएं
    denominative R. नाम धातु
    derivative R. व्युत्पन्न धातु
    Primary R. अयौगिक धातु
    Secondary R. यौगिक धातु
८. Substantive—सत्व वाची
९. Suffix—प्रत्यय
    Class S. वर्गीय प्रत्यय
    Passive S. कर्म वाच्य प्रत्यय
    Phonetic S. ध्वन्यात्मक प्रत्यय
१०. Voice—वाच्य
    Change of—वाच्य परिवर्तन

परिशिष्ट २

धातु ३९—प्राकृत में कर्मवाच्य 'खाद्यते' भी प्रयुक्त होता है। जो कर्तृवाच्य सा प्रतीत होता है जैसे खज्जंति "वे खाते" Delius Radices Pracritice पृष्ठ ५४, मृच्छकटिक से उद्धृत, डा० राजेन्द्रलाल मित्रा पृष्ठ ८७ में 'खज्जदि' अपनी प्राकृत शब्दावली में देते हैं।

धातु ४०—धातुएँ खुल्, खोल्, खूट सब एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और संस्कृत धातुएँ क्षोट्, खोट्, खोड्, खोर्, खोल्, खुष्ड्, खुड्, खुर्, क्षुर जिन सब का अर्थ (१) Limp (लंग्) (२) Divide or break (विभाजित करना या तोड़ना)। मूल रूप 'क्षोट्' या 'क्षर्' या 'क्षुट्' प्रतीत होता है।

धातु ६५—उत्+शद् (ऊपर की ओर गिरना) संस्कृत में असाधारण शब्द है लेकिन इसका समास रूप 'उत्+पत्' के समान बन गया है। 'शद्' का अन्तिम 'द्' प्राकृत में 'ड्' हो जाता है—हेमचन्द्र ४,१३० झडइ और वररुचि ८,५१, हेमचन्द्र ४,२१९ सडइ। प्रारम्भिक 'ड' का लोप हो गया और 'छ' का महाप्राणत्व 'ड्' पर परिवर्तित हो गया है या लुप्त हो गया है जैसे धातु 'चाह' (इच्छा)—उच्छाह = उत् +

साह था इच्छा से (देखो तुलनात्मक व्याकरण १३२)। पुरानी हिन्दी में धातु 'चड्ड' मराठी में 'चढ्' या 'चड्'। गुजराती, सिन्धी में भी चड् है, यह रूप हेमचन्द्र ने ४,२०६ चडइ दिया है। त्रिविक्रम ३,१२८ में चड्डइ और चडइ दोनों रूप मिलते हैं।

धातु ७८—हेमचन्द्र ने ४,१८२ में धातु छिह् और छिव् का सम्बन्ध संस्कृत धातु 'स्पृश्' से किया है जिसके लिये वह वर्तमान कर्मवाच्य का रूप छिप्पइ देते हैं (हेमचन्द्र ४,२५७)। बाद का रूप केवल 'छिव्वइ' का कठोर रूप है जो छिवइ का कर्मवाच्य है—छिहइ का भी हो सकता है। अब संस्कृत धातु स्पृश् = प्रा० छिह्, औष्ठ्य ध्वनि 'प' के कारण = हुह् (देखो संख्या ८०) फिर वर्तमान ह्य् = म्य = व्य = व्व। इसलिये संस्कृत स्पृश्यते = वर्तमान छिह्यइ = छिव्वइ = छिप्पइ। यह निष्कर्ष निकला कि 'छिव् या 'छुव्' रूप (हिन्दी छी या छू,) Derivative धातुएँ हैं जो कर्मवाच्य छिव्व 'व्र' छुव्व से बना है और संस्कृत धातु 'छुप्' केवल वर्तमान धातु 'छुव' संस्कृत परिधान में हैं।

धातु ८६—यह धातु 'झाँड्' (झाड़ना) से सम्बन्धित है। यह धातु 'झट' से निकटतम सम्बन्धित है, जो मराठी में अभी तक शीघ्रता से (rush violently into contact with) के अर्थ में और हिन्दी में 'झट्' शीघ्रता के अर्थ में सुरक्षित है। अतएव इसका अर्थ एक ओर 'झगड़ा, विवाद' है और दूसरी ओर 'फँस जाना' है। द्वितीय अर्थ में 'झट्' धातु का अर्थ संस्कृत से प्राप्त हुआ है, इससे संस्कृत 'झाट' झाडो (shrub) बना है + हिन्दी झाट या झाड। इसका मूल अर्थ संस्कृत झटिति (शीघ्रता से) में सुरक्षित है। यह धातु सम्भवतः संस्कृत अधि + अट् से व्युत्पन्न हुई हो (बीम्स तुलनात्मक व्याकरण—I,१७७) यद्यपि इसका भाव "इधर उधर बहुत घूमना" अति + अट् में अधिक स्पष्ट है। लेकिन अध्यटति या कर्मवाच्य अध्यट्यते (कर्तृवाच्य के भाव में) जिस से प्राकृत में अझटइ या अज्झट्टइ था (इ के लोप से) झटइ या झट्टइ आधुनिक झटै या झाँटै। 'अट्' धातु में 'ट्' 'ड' में नहीं बदला है (देखो हेमचन्द्र १,१९५)।

धातु ११६—हेमचन्द्र ४,२५ प्रा० तुलइ मिलता है लेकिन सकर्मक रूप में धातु 'तुल्' हिन्दी में नहीं मिलता, यद्यपि मराठी में 'तुल्' या 'तुळ' मिलता है। संस्कृत में धातु तुल् में दशम वर्ग का रूप तुलयति मिलता है, जिससे प्रा० और मराठी की धातु 'तुल' व्युत्पन्न हुई है।

धातु १२८—संस्कृत संयुक्ताक्षर क्ष्य प्राकृत में क्ख या क्ख हो गई, यह पर्यायवाची देक्खइ का मूल समझा जाता है, इस की गणना हेमचन्द्र ४,१८१ में हुई हैं, क्ख का रूप अवअक्खइ = सं० अवद्रक्ष्यति (धातु अव—दृश्) में मिलता है, उसी का संकुचित रूप ओक्खइ (ओ, अव के स्थान पर देखो हेमचन्द्र १,१७२) और फिर बाद में विस्तृत रूप अवक्खइ (ओ के लिए अव देखो तुलनात्मक व्याकरण ४८)। च्छ का रूप अवयच्छइ = संस्कृत अवद्रक्ष्यति (अवअच्छइ 'य' का लोप, देखो हेमचन्द्र प्रथम १८०) और निअच्छइ = संस्कृत निद्रक्ष्यति (धातु नि—दृश्) फिर च्छ

अवयज्झइ में जो अवयच्छइ का समान रूप प्रतीत होता है मृदु हो गया है। इस प्रकार हम इसके संकुचित रूप पयच्छइ = सं० प्रद्रक्ष्यति (प्र—दृश्) को देखें। संस्कृत (classical) में दृश् का भविष्यत रूप में अर (पाणिनि VI, १,५८) के स्थान पर 'र' चलता है लेकिन बोलचाल में दोनों ही रूप द्रक्ष्यति और द्रक्ष्यति काम में आते हैं। इन दोनों रूपों में से बाद के रूप से ही प्राकृत के रूप व्युत्पन्न हुए हैं जैसे अवअक्खइ = अवदक्खइ (अवदक्खइ) = अवदर्क्ष्यति। निअच्छइ का दूसरा रूप निअक्खइ होगा यह णिअक्कइ का रूप प्रतीत होता है—वररुचि, ८,६९ (क्ख के स्थान पर क्क) प्राकृत पासइ संस्कृत पश्यति से व्युत्पन्न हुआ है या पासइ (हेमचन्द्र १,४३) प्राकृत अवआसइ सं० अवपश्यति। मराठी में प्राकृत धातु पास्—'पाह्' हो जाती है। प्रा० पुलोएइ सं० प्रविलोकयति से है। अवि का संकुचित रूप उ हो गया (देखो तुलनात्मक व्याकरण १२२) प्रा० पुलएइ सम्भवतः उसी का भ्रष्ट रूप है। हिन्दी में इनका कोई रूप प्रचलित नहीं है।

धातु १५८—पलाइ का अशुद्ध रूप सम्भवतः पलाउ है।

धातु २३८—धातु क्षै—प्राकृत झाअइ और इसका संकुचित रूप है 'झाइ' ठाअइ की समरूपता के आधार पर ठाइ—स्था से, ध्यै से झाअइ या झाइ है (वररुचि ८,२६) पालि में झायति और प्राकृत विज्झाइ (देखो हेमचन्द्र २,२८ = सं० वि—क्षायति)। पर समास में प्राकृत रूप झेइ या झइ हो सकता है जैसे उट्ठेइ या उट्ठइ में ठेइ या ठइ हैं—उत् + स्था (हेमचन्द्र ४,१७) इस प्रकार वोज्झेइ या वुज्झेइ, वुज्झइ है।

धातु २५०—'इसका सम्बन्ध संस्कृत धातु वद् से है' ऐसा प्राकृत वैयाकरणों ने लिखा है (Coldwell पृष्ठ ९९ जहाँ वोच्चइ या वोचइ धातु 'वच्' से मानी है)। बाद का रूप कर्मवाच्य वुच्यते (उच्यते) से कर्तृवाच्य के भाव में व्युत्पन्न है जैसा हेमचन्द्र ४,१६१ से प्रतीत होता है। इसी प्रकार कर्मवाच्य बूर्यते से ('बू' धातु) बोल्लइ बनाया गया है। सन्ध्यक्षर र्य—ल्ल बन गया जैसे पल्लाणं पर्याणं सोअमल्लं = सौकुमार्य (वररुचि ३,२१)

धातु २९०—इसका निर्देश सं० धातु रह् की ओर भी किया जा सकता है। इसका अर्थ रेगिस्तान है। रक्ष् की व्युत्पत्ति मराठी राह् = राख् से प्रतीत होती है। ख् का ह् में परिवर्तन—देखो तुल० का० ११६।

धातु ३०१—सं० धातु—रुट्, रुड्, रोड्, रौड् लुट्, लुड्, लुल, लोड्।

धातु ३३७—इस धातु का अर्थ घिसना भी है। सारइ का उल्लेख हेमचन्द्र ने ४,८४ में किया है जो प्रहरति का पर्यायवाची है।

धातु ३५०—'घ्रा' का ग्घेइ या ग्घइ प्राकृत में जैसे ट्ठेइ या ट्ठइ (स्था) सम का संकुचित रूप सूँ हिन्दी में है जैसे सैं, पैं प्राकृत समग्घइ—देखो ३५७। सवग्घइ इसका मध्य रूप (हेमचन्द्र ४,३९७)। धातु 'शिघ्' धातु से व्युत्पन्न हुई है प्रथम वर्ग सिंघति प्रा० सिंघइ—हिन्दी में सींघै होना चाहिए। (ई का ऊ में परिवर्तन हो गया)।

संकेत

१. √ =धातुचिह्न
२. ना० =नाम
३. कृ० कृदन्त

नोट धातु संख्याओं में पहली संख्याओं में
१. अयौगिक
२. यौगिक
३. परिशिष्ट नं० १ की धातुएं

दूसरी संख्याएँ धातु संख्या हैं।

परिशिष्ट ३

संस्कृत की धातुएं

	अ	
१.	√अच्छ्	भूमिका
२.	√अज्; अभि	३/२३
३.	√अंज्; अभि	३/२१
४.	√अट्; अभि	१/२६६
५.	नाम अट्ट	२/१
६.	नाम अध्यक्ष	२/६३
७.	नाम अभ्यङ्ग	२/१४०
८.	√अर्द; अभि	१/२६१
	आ	
९.	√आप्, मम्	१/३२८
	इ	
१०.	नाम इच्छा	१/६५
		२/४०
११.	√इष्; प्र	३/१६
१२.	√इ; परि	१/१९५
	ई	
१३.	√ईक्ष्; परि	१/१५६
	उ	
१४.	नाम उच्च	२/२
१५.	कृ० उत्कृष्ट	२/६
१६.	नाम उत्साह	२/४०
		१/६५
१७.	नाम उद्वम्	२/३
१८.	कृ० उपविष्ट	२/१२८
	ऋ	
१९.	√ऋ—स्म	१/३४८
	क	
२०.	√कथ्	१/२६
२१.	√कम्प्	१/२९
२२.	नाम कर्द	२/८
२३.	नाम कर्म	२/९
२४.	√कल्; निस्	२/९८
२५.	√कष्	१/२४
२६.	नाम—कष	२/१०
२७.	√कस्; निस्	१/१३९
२८.	√कारि (प्रेरणार्थक)	भूमिका
२९.	√कास्	१/३७
३०.	√कुंच्; नि	१/१५१
३१.	√कुट्	१/३३
३२.	√कुट्ट	१/३१
३३.	√कुप्	१/३४
३४.	√कु	१/२३,९९,१०५
३५.	√कृत्	१/२७
३६.	√कृष्	१/२५, ३/१
	—उत्	१/५

२३२.	√प्रेक्ष् —	भूमिका
	फ	
२३३.	√फल्	१/१८७
२३४.	नाम फूट्	२/१२३
२३५.	नाम फूत्कार	२/१२०
२३६.	√फेल्	१/१९६
	ब	
२३७.	√वध्	१/२०६
२३८.	√बंध्	१/२१५
२३९.	√बाध्	१/२०६
२४०.	√बुध	१/२४२
	मम्	/३२९
२४१.	√ब्रू	१/२५०
	भ	
२४२.	√भक्ष्	१/२५१
२४३.	नाम भग्न	२/१३९
२४४.	√भज्	१/२५२
२४५.	√भंज्	१/२५३
२४६.	√भण्	१/२५५
२४७.	√भल्	१/२५९
२४८.	√भष्	३/२२
२४९.	√भाक्	१/२६०
२५०.	√भिद्	१/२६१
२५१.	√भुज्	१/२६३
२५२.	√भू—प्र	१/१६८
२५३.	कृ० भूर्ण	२/१४३
२५४.	√भृ	१/२५६
२५५.	√भृंश्	१/२५८
२५६.	√भ्रम्	१/२५७
२५७.	√भ्रंश्	१/१९२
२५८.	कृ० भ्रष्ट	२/१४२
	म	
२५९	√मच्	१/२६७
२६०.	√मंच्	१/२६७
२६१.	√मथ्	१/२७३
२६२.	√मन्	१/२७७
२६३.	नाम मन्त्र	पृष्ठ नहीं
२६४.	√मा	१/२७८
२६५.	√मार्ग	१/२७४
२६६.	√मार्ज्	१/२७५
२६७.	√मिल्	१/२८०
२६८.	√मिज्	१/२८२
२६९.	√मुच/प्र०	१/१९७
२७०.	√मुंड्	१/२८४
२७१.	नाम मुन्द्रा	२/१५१
२७२.	√मुह	१/२८६
२७३.	√मू	२/१५२
२७४.	नाम मूत्र	२/१५०
२७५.	कृ० मून	२/१५२
२७६.	√मूप्	१/२८५
२७७.	√मृ	१/२७१, २७९
२७८.	√मृज्	१/२६८
२७९.	कृ० मृत	२/१५३
२८०.	√मृद्	१/२७६
२८१.	√मृश्	१/२८१
२८२.	कृ० मृष्ट	२/१५३
२८३.	नाम मौन	२/१५४
२८४.	नाम मौल	२/१५४
	य	
२८५.	√या	१/८७
२८६.	कृ० युक्त	२/२७
२८७.	नाम युग्म	२/५१
२८८.	√युध्	१/९१
२८९.	नाम योक्त्र	२/५८
	र	
२९०.	कृ० रक्त	२/१५६
२९१.	√रक्ष्	१/२८७
२९२.	नाम रंग	२/१५७
२९३.	√रच्	१/२८८
२९४.	√रज्	१/२९१
२९५.	√रंज्	१/२९१
२९६.	√रम्	१/२८९
२९७.	√रध्	१/२९२

२९८.	√रिग्	१/२९९
२९९.	√रिष्	१/२९३
३००.	√रुच्	१/२९४
३०१.	√रुट्	१/३०१
३०२.	√रुड्	१/३०१
३०३.	√रुद्	१/३००
३०४.	√रुध्	१/२९८
३०५.	नाम रुध	२/१६२
३०६.	√रुष्	१/२९६
३०७.	√रुष्ट	२/१६०
३०८.	√रुह्	१/२९५
३०९.	√रेष्	२/१६१
३१०.	√रौंद्	१/२९७
३११.	√रौंद्	१/२९७
	ल	
३१२.	√लक्ष्	१/३०३
३१३.	√लग्	१/३०४
३१४.	√नाम लंग	२/१६४
३१५.	√लंघ्	१/३०५
३१६.	√लज्ज्	१/३०९
३१७.	√लड्	१/३०६
३१८.	√लप् वि	३/५
३१९.	√लभ्	१/३०८
३२०.	नाम लव	२/१६५
३२१.	√लस्	१/३०७
३२२.	√लिख्	१/३१०
३२३.	√लिप्	१/३११
३२४.	√लि नि०	२/१६६
३२५.	√लुंच्	२/१६६
३२६.	√लुट्	१/३१७
३२७.	√लुंट्	१/३१८
३२८.	√लुंठ्	१/३१८
३२९.	√लुड्	१/३१३
३३०.	√लुप्	२/१६६
३३१.	नाम लुप	२/१६६
३३२.	√लुम्ब	२/१६६
३३३.	√लुभ	१/३१८

३३४.	√लुल	१/३०१
३३५.	√लोक	१/२८
	प्रविलोकयति	
३३६.	√लोड्	१/३०१
३३७.	नाम लोभ	२/१६७
	व	
३३८.	√वच्	१/२५०
३३९.	√वंच्	१/१९९
३४०.	√वट्	१/२०२
३४१.	√वंड् निर—	१/१४८
३४२.	√वन्	१/२०७
३४३.	√वद्	१/२००
३४४.	√वप्	१/२४६
३४५.	नाम वम	२/३
३४६.	√वस्	१/२११
३४७.	√वह्	१/२१२
३४८.	नाम वहिस	२१३१
३४९.	नाम वाच	२/१३९
३५०.	नाम वाच्य	२/१३०
३५१.	√वांछ्	१/२१४
३५२.	नाम वतुल	२/१३८
३५३.	√वास्	१/२१७
३५४.	नाम विराव	२/१३३
३५५.	कृ० विलम्बित	२/१३४
३५६.	√विष्	२/१३७
३५७.	√विश्	२/१३७
३५८.	कृ० वीत	२/१३६
३५९.	√वृ०	१/२०८
		३/१७
३६०.	√वृत	१/२०५
३६१.	√वृध्	१/२०४
३६२.	√वृष्	१/२०९
३६३.	√वे	३/१७
३६४.	√वेष्ट्	२/१३७
३६५.	√व्यच्	१/२४३
३६६.	√व्यध्	१/२३५
३६७.	कृ० व्यस्त	२/१३५

३६८.	√व्रज	१/२६६
३६९.	√व्री	१/२३७
३७०.	√वृड्	१/२४७
	श	
३७१.	√शक	१/३२०
३७२.	√शद्	१/३२४
३७३.	√शंष्	२/६१
३७४.	√शल्	१/३३२
३७५.	नाम शाप	२/१७३
३७६.	√शिक्ष्	१/३४१
३७७.	√शिंघ्	१/३५०
३७८.	नाम शीत	२/६४
३७९.	नाम शीतला	२/१७५
३८०.	√शुच्	१/३५५
३८१.	√शुध्	१/३५२
३८२.	√शुभ्	२/१७८
३८३.	नाम शुष्क	२/१७९
३८४.	√शॄ	१/३३८
३८५.	√शोभ	२/१७८
३८६.	√श्च्युत्	१/७४
३८७.	√श्रा	१/३४४
३८८.	√श्रि	१/३४५
३८९.	√श्री	१/३४४
३९०.	√श्रु	१/३४७
३९१.	√श्लाघ	१/३३१
३९२.	√श्वस्, निः	३/५ Note
३९३.	शिव	१/३५१
	ष	
३९४.	नाम ष्टेव	२/८५
	स	
३९५.	√संज्	३/२४
३९६.	नाम सूत्र	२/१६६
३९७.	√सद्	२/१६६
३९८.	नाम सद	२/१६६
३९९.	नाम Sadriksha	भूमिका
४००.	कृ० समाहित	२/१८१
४०१.	नाम सम्मुख	२/१७१
४०२.	नाम सर	२/१७२
४०३.	√सल्	१/३३२
४०४.	√सह्	१/३३४
४०५.	√साध्	१/३३६
४०६.	√सिच्	१/३४२
४०७.	√सिव्	१/३४०
४०८.	√सुख्	१/३४६
४०९.	नाम सुख	२/१७७
४१०.	कृ० सुप्त	२/१८०
४११.	√सृ-निस्	१/३३० १/१५०
४१२.	नाम सेत्क	२/४५
४१३.	√सेव्	१/३५४
४१४.	√स्कंद्	१/३२ २/१४
४१५.	√स्कुंद्	१/३२
४१६.	√स्खल्	२/१४
४१७.	नाम स्खल	२/१४
४१८.	नाम स्तन	२/७१
४१९.	कृ० स्तब्ध	२/७५
४२०	√स्तभ्	३/१२
४२१.	नाम स्तभ्	२/८०
४२२.	√स्तंभ्	२/७२
४२३.	नाम स्तम्भ	२/७२
४२४.	√स्तूप	१/११६
४२५.	√स्तृ	३/१८
४२६.	√स्तृह्	३/१३
४२७.	नाम स्थुग्	२/७८
४२८.	√स्थल्	१/१४४
४२९.	√स्था – सम्	१/३२३
४३०.	नाम स्थिर	२/८४
४३१.	कृ० स्नस्त	२/९५
४३२.	√स्ना	१/१३६
४३३.	√स्पंद्	२/१९०
४३४.	नाम स्पर्श	२/१११
४३५.	√स्पृश्	१/१८८
४३६.	कृ० स्पृष्ट	२/४५

				ह	
४३७.	√स्फट्	१/१८६	४५१.	नाम हक	२/१८३
४३८.	नाम स्फट	२/१२३	४५२.	नाम हक्कार	२/१८४
४३९.	नाम स्फर	२/१२४	४५३.	कृ० हत	२/१८५
४४०.	√स्फल्	१/१९१	४५४.	नाम हद्	२/१८२
४४१.	√स्फिट्	१/१९६	४५५.	√हन्	१/३५८
४४२.	√स्फिट्ट	१/१९२	४५६.	√हस्	१/३६३
४४३.	√स्फुट्	१/१९८	४५७.	√हा	१/२३३
४४४.	नाम स्फूत्कार	२/१२०	४५८.	नाम हार	२/१८८
४४५.	√स्मि—नि+कु+स्मि	२/१००	४५९.	√हु	१/३६७
४४६.	√स्मृ	१/३४८	४६०.	√हूड्	१/३६८
		३५३	४६१.	√हृ	१/३५९
४४७.	√स्यन्द्	२/३८		वि	१/३३२
४४८.	नाम स्यन्न	२/३८	४६२.	√हृष्	१/३६०
४४९.	√स्रंम्	१/३३९	४६३.	√ह्वल्	१/३६१
४५०.	√स्विद्	१/३४३	४६४.	नाम ह्वल	२/१८६
	√प्र०	१/१६३	४६५.	√ह्व	१/३६६
			४६६.	√ह्वे	१/३६२

श्री सु० शंकरराजू नायुडू

शैव सिद्धान्त एवं तिरुज्ञानसंबंधर

तमिष् भाषा तमिष् साहित्य एवं तमिष् संस्कृति का संसार में विशिष्ट स्थान है। तमिष् भाषा तथा उसकी लिपि का स्वतंत्र उद्‌गम क्रमशः सर्वेश्वर शिव तथा प्रणवध्वनि 'ओं' से माना जाता है। इसका साहित्य प्रागैतिहासिक काल से समृद्ध रहा है। इसकी संस्कृति का मूलाधार भी तमिष् के उसी प्रणेता 'सर्वेश्वर शिव' की आराधना, स्तुति व भक्ति ही है। वस्तुतः शिव शब्द मूलतः तमिष् का ही माना जाता है। इसी प्रकार 'ओम' भी[1]। तमिष् जनता की भाषा, साहित्य एवं संस्कृति इसी 'शिव भक्ति' के आधार पर सम्पन्न हुई है।

तमिष् भाषा-साहित्य में प्रारम्भ से आज तक भक्ति का प्रधान स्थान रहा है। इसमें भक्ति साहित्य किसी काल विशेष की विशिष्टता के रूप में नहीं पाया जाता। परन्तु इतना अवश्य है कि भक्ति-पद्धति में समय समय पर वाह्य प्रभावों के फलस्वरूप यथानुकूल परिवर्तन होते आये हैं। शैव के साथ-साथ जैन, बौद्ध व वैष्णव भक्ति साहित्य का अपना अपना विशिष्ट स्थान हम तमिष् साहित्य में पाते हैं। तमिष् महाकाव्य 'शिलप्पदिहारम', 'मणिमेखलै' व 'जीवक चिन्तामणि' में हम जैन एवं बौद्ध सिद्धान्तों को स्पष्टतः देखते हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक तमिष् प्रदेश में जैन एवं बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रभाव पड़ चुका था। फलतः जनता ही नहीं कतिपय सम्राट् भी उन्हीं के अनुयायी हो चुके थे। तमिष् भूभाग में स्थान स्थान पर अनेक जैन एवं बौद्ध मठ स्थापित हो चुके थे और सैकड़ों श्रमण इन मठों में निवास करते हुए समाज में भी विविध प्रकार के कार्य कर रहे थे। सातवीं शताब्दी के लगभग इनमें लोभ आदि कुसंगों के आकर समा जाने के कारण कुछ शैथिल्य आ गया। जनता का इन

---

१. देखिए—(क) पृ० २९ और २६—'शैव सिद्धान्त उण्मै वरलारु' ले० श्री० का० सुब्रह्मण्य पिळ्ळै एम. ए., एम. एल.
(ख) Linguistic Survey of India, Vol IV—Dr. Grierson.
(ग) इसी प्रकार पूजा (पूशै = पू + शेय अर्थात् पुष्प + करना तात्पर्य अर्चना) भी तमिष् का माना जाता है।

पर से विश्वास शनैः शनैः घटने लगा; और पुनः तमिष् संस्कृति की अपनी शैव भक्ति का प्रभाव जनता पर पड़ा। वे सम्राट् भी जो अन्य धर्मों की शरण में जा चुके थे, शैव भक्ति की ओर आकर्षित हुए, और तमिष् प्रदेश भर में दसवीं शताब्दी के अन्दर अन्दर इसका पूर्णतः प्रसार हो गया। सातवीं एवं दशवीं शताब्दी के इसी मध्य काल में शैव भक्ति के चार प्रधान प्रचारक व भक्त 'नाल्वर' (चार महान्) हुए। प्रधानतः इन चारों ने ही शैव धर्म का पुनः संस्थापन तथा जैन-बौद्ध धर्म का निर्मूलन तमिष् प्रदेश में किया। ये चारों संत 'शैव-समय-परमाचरियार' (समय=धर्म) कहलाते हैं। ये हैं—तिरुञान-संबंधर, तिरुनावुक्करशर (अप्पर), सुन्दरमूर्त्ति तथा माणिक्कवासहर। शैव संतों को साधारणतः 'नायन्मार' अथवा 'नायनार' कहते हैं। इनके द्वारा प्रतिपादित तमिष् शैव भक्ति-दर्शन को 'शैव-सिद्धान्तम्' की संज्ञा से सूचित किया जाता है। इन चारों ने इस सिद्धान्त-विशेष का, जो तमिष् संस्कृति व साहित्य की ही अपनी विशिष्ट निधि है, मधुर तमिष् काव्य में गा कर, प्रचार किया, और अनेक तमिष मंत्रों के द्वारा आश्चर्यजनक अभूतपूर्व संभवों को सिद्ध करते हुए, जनता, सम्राट् व अन्य धर्मावलम्बियों को वशीभूत कर लिया। इनके पश्चात् तमिष् प्रदेश में जैन व बौद्ध धर्मावलंबियों की संख्या दिन प्रति दिन घटती चली गई। शैव सिद्धान्त के श्रेष्ठ भक्त-कवि नक्कीरर (ईसा प्रथम शताब्दी) व अनुराधिका कारैक्काल अम्मयार (पांचवीं शताब्दी) आदि अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति पूर्व काल में भी हो चुके हैं। परन्तु ये चार शैव-समय-परमाचारियार उक्त सिद्धान्त के विशिष्ट प्रचारक हैं। इन्होंने अपने प्रदेश को अन्य धर्मों से पूर्णतः मुक्त किया।

शैव सिद्धान्त में मोक्ष के चार प्रधान मार्ग निहित हैं। यथा—१. सत्पुत्र मार्ग, २. दास मार्ग, ३. सख्य मार्ग, ४. सन्मार्ग। सत्पुत्र मार्ग को तिरुञानसंबंधर ने, दास मार्ग को तिरुनावुक्करशर (अप्पर) ने, सख्य मार्ग को सुन्दरमूर्त्ति ने तथा सन्मार्ग अथवा ज्ञान मार्ग को माणिक्कवासहर ने व्यक्तिगत जीवन के उदाहरण से सिद्ध करके प्रतिपादित किया। इन चारों मार्गों का साधन 'सरि हैं' (किसी से कराना), 'किरियै' (स्वयं करना), 'योगम्' तथा 'ञानम्' (ज्ञान) है। अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक स्तर के अनुकूल साधन पर चल कर कोई भी व्यक्ति स्थायी मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकता है।

शैव सिद्धान्त के अनुसार 'पति-पशु-पाशम्'—अर्थात् (१) ईश्वर, (२) जीव तथा (३) बंधन अथवा माया—येतीनों नित्य हैं। बंधन व माया के फलस्वरूप संसार व संपूर्ण सृष्टि की रचना हुई है। अतः यह संसार व सृष्टि भी नित्य ही है। जीव तथा माया नित्य होते हुए भी पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हैं। वे ईश्वर की शक्ति व आज्ञा के अधीन ही हैं। ईश्वर अपने अनुग्रह के कारण सदसद् कर्मों के भार से पीड़ित व मायिक बंधनों में मग्न जीव को उनसे मुक्त करके स्थायी मोक्ष प्रदान करता है। यहाँ 'मोक्ष' से तात्पर्य 'मायिक बंधनों से मुक्ति' ही है, जिसके अनन्तर वह आध्यात्मिक अनुभूति से पूर्ण अपार व अक्षुण्ण आनन्द में निरन्तर निमग्न रहता है। मोक्ष की यह अवस्था सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य व सायुज्य

भी हो सकती है। यहाँ सायुज्यावस्था में जीव ईश्वर के साथ मिल कर अथाह सागर में पड़े जल-बिन्दु के समान एकाकार नहीं हो जाता, अपितु स्वतंत्र सत्ता सहित ईश्वर के सब गुणों से युक्त रहता है। अंतर केवल यह होता है कि वह जगदम्बिका पार्वती से पृथक् रहता है और उसे 'सृष्टि-संरक्षण-संहार'[1] कर्म नहीं करना पड़ता। जीव आनन्दानुभव की अनिर्वचनीय अवस्था में अवस्थित रहता है।

ईश्वर और जीव नित्य होते हुए भी जीव ईश्वर का दास है। तमिष् संत तायुमानवर ने इसे ही व्यक्त करते हुए कहा है—

"एन्ड्रु नी अन्ड्रु नान्,
उन् अडिमै अल्लवो।"

अर्थात्,

तू जब से, मैं तब से,
तेरा क्या दास नहीं ?

परन्तु माया के कारण अपने को पूर्ण स्वतंत्र मान कर जीव सांसारिक बंधनों में जकड़ा रहता है। जीव के वस्तुतः दास होने के कारण, ईश्वर अपनी अतीव अनुकंपा व अनुग्रह का वरद हस्त सदा उस पर बनाये रखता है, और जब भी विह्वल हृदय से पुकारा जाता है, जीव की रक्षा के लिये प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से तुरन्त प्रस्तुत हो जाता है। जीव के विह्वल हृदय की इस अवस्था का उपयुक्त उदाहरण चीरहरण के समय द्रौपदी की दशा है। कातर हृदय से विपदग्रस्ता ने पुकारा नहीं कि करुणाकर की कृपावृष्टि होने लगी। शैव सिद्धान्त की चरम अवस्था यही है, अर्थात् जीव अपने को 'शिव' के श्री चरणों में समर्पित कर दे, और उसमें 'मैं', 'मेरा' का लेशमात्र भी भाव न रहे।

इस प्रकार की करुणा ईश्वर तभी प्रकट करता है जब कि उपयुक्त रीति से उससे याचना की जाती है। इसे ईश्वर की 'अरक्करुणै' कहते हैं जिससे वह जीवों पर यथानुकूल अनुग्रह करके सहज में उनकी नैया पार करा देता है। परन्तु यदि जीव माया के बंधनों में पड़ कर चिर-निद्रा में ही रह जाता है, तो भी ईश्वर उसे उसी अवस्था में चिर काल के लिये नहीं छोड़ देता। अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों में जीव को डाल कर अन्त में उसे वह अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेता है। इसे ईश्वर की 'मरक्करुणै' कहते हैं। 'अरक्करुणै' एवं 'मरक्करुणै' के फलस्वरूप ईश्वर संसार में अवतार ग्रहण करता है, और गुरुरूप में जीवों को 'पति-पशु-पाशम्' की वास्तविकता को व्यक्त करके 'राज-पिता' ईश्वर के पास 'जीव-शिशु' को ले जाता है। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए अठारहवीं शताब्दी के शैव संत शिव-ञान मुनिवर ने कहा है—

"ऐम्बुलवेडरि नयन्दनै वळन्र्दनत्
तम्मुदल् गुरुवाय्त् तवर्त्तिनिलुणर्त्तविट्
टन्नियमिन्मयिन् कषल् शेलुमे।"

---

१. शैवों के मतानुसार 'सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा' तथा 'संरक्षक विष्णु शिव के ही अधीन हैं, क्योंकि महा प्रलय के पश्चात् ब्रह्मा एवं विष्णु का भी अंत हो जाता है, और केवल माया शक्ति तथा जीवगण शेष रहते हैं। ब्रह्मा एवं विष्णु शिव के ही कार्यकर्त्ता माने जाते हैं।

अर्थात् पंचेन्द्रिय-व्याध के बंधन में पड़ा पड़ा जो जीव अपनी वास्तविक सत्ता को भूले हुए जीवन व्यतीत करता रहा है, उसे ईश्वर स्वयं गुरु-रूप धारण करके, तप आदि ,के द्वारा वास्तविक सत्ता का बोध कराएगा और उसके फलस्वरूप, वह संसार के बंधन स मुक्त हो कर शिव का चरण-शरण प्राप्त करेगा।

इस तथ्य को स्पष्ट करने की एक कथा इस प्रकार है। एक राजा का पुत्र किसी डाकू के हाथ में पड़ कर विविध भोग आदि के कारण अपने वास्तविक व्यक्तित्व को ही विस्मृत कर बैठा। राजा ने एक दिन उसके सम्मुख उपस्थित हो, उसे अपने वास्तविक राजकीय व्यक्तित्व का बोध कराया। इस पर वह तुरन्त उस डाकू के चंगुल से मुक्त होकर पिता के साथ चल पड़ा। यही पद्धति ईश्वर एवं जीव के साथ भी शैव सिद्धांत में मानी जाती है।

यहां एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या, ईश्वर संसार से एकदम भिन्न कोई सत्ता है, या यहाँ भी उपस्थित है ? यदि है तो किस रूप में ? इसका उत्तर शैव संत तिरुमूलर ने अत्यन्त सुन्दर रूप में दिया है। वे कहते हैं--

"मरत्तै मरैत्तदु मामदयानै,
मरत्तिल् मरैन्ददु मामदयानै।
परत्तै मरैत्तदु पार्मुदलबूदम्,
परत्तिल मरैन्ददु पार्मुदलबूदम् ।।"

इसका सरल अनुवाद इस प्रकार हो सकता है—

छिपाता है लकड़ी को मदमत्त हस्ती,
छिपा ही है लकड़ी में मदमत्त हस्ती।
छिपाती है भगवन् को क्षिति आदि भूतम् ।।
छिपी ही है भगवन् में क्षिति आदि भूतम् ।।

तमिष् में प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित एक कहावत इस प्रकार है—

"कल्लैक्कण्डाल् नायैक्काणोम् ,
नायैक्कण्डाल् कल्लैक्काणोम् ।"

अर्थात्

पत्थर देखो तो उसमें कुत्ते का पता नहीं,
कुत्ता देखो तो उसमें पत्थर का पता नहीं।

सारांश यह है कि सर्वेश्वर सर्वत्र विद्यमान है। जब हम काठ के बने एक मदमस्त हाथी को देखते हैं तो उसे हम हाथी ही कह देते हैं, और उस समय काठ का विचार ही नहीं करते। वस्तुतः उस काठ में ही गुप्त रूप में आकारवत् हाथी उपस्थित है। इसी प्रकार गुप्त रूप में सृष्टि के कण कण में ईश्वर विद्यमान है। हम उसकी वास्तविक सत्ता से अनभिज्ञ होने के कारण विविध नाम-रूपात्मक संसार का ही विचार करते रह जाते हैं। इसी प्रकार पत्थर में बने हुए कुत्ते का भी उदाहरण समझा जा सकता है। परिणामतः प्रथम उदाहरण में काठ और हाथी तथा द्वितीय उदाहरण में पत्थर तथा

कुत्ता विद्यमान हैं, और दोनों में दो-दो पदार्थ अभिन्न रूप से सम्पृक्त हैं। यही स्थिति ईश्वर और संसार के संबंध में भी वस्तुतः उपस्थित है। जोव भी एक पृथक् शाश्वत् तत्त्व है, जो इस तथ्य को तब तक नहीं समझ पाता जब तक कि उसे गुरु द्वारा इस तथ्य का बोध नहीं कराया जाता।

शैव-समय-परमाचारियार नाल्वर ही इस सिद्धान्त के प्रधान गुरु माने जाते हैं जिन्होंने 'करकलित चिन्मुद्रम्' के संकेत से शैव-सिद्धान्त के तथ्यों को स्पष्टतः जोवों पर व्यक्त किया। हाथ की पाँच उंगलियों में अंगूठे को 'पति' 'ईश्वर', उसके साथ की तर्जनी को 'पशु' 'जोव' तथा शेष तीनों को 'पाशम्' 'सांसारिक बंधन' मान लें। 'पाशम्' की तीनों उँगलियाँ जोव को जकड़े हुए तीन प्रकार के मल—आणवम्, मायै तथा कामियम् अर्थात् अहंकार, माया तथा काम व कर्म—हैं। साधारणतः हाथ की उँगलियों को फैलाने पर हम देखते हैं कि अंगूठे को छोड़ कर शेष चारों उँगलियां एक साथ मिली रहती हैं। इस से तात्पर्य यह है कि साधारणतः ईश्वर को भूल कर जोव संसार व माया में लीन रहता है। 'करकलितचिन्मुद्रम' में अंगूठे के साथ तर्जनी मिल जाती है, और शेष तीनों अलग खड़ी हो जाती हैं। इस सांकेतिक मुद्रा से तात्पर्य यह है कि गुरु यह उपदेश देते हैं कि जीव को सांसारिक बंधनों से मुक्त करके ईश्वर के साथ उसका सम्पर्क स्थापित करो। केवल यह मुद्रा शैव सिद्धान्त को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिये यथेष्ट है।

ईश्वर जीव मात्र की रक्षा के लिये, अर्थात् उनको वास्तविकता का अनुभव कराने के लिये तीन मार्गों का अनुसरण करता है। यथा—

प्राण-तन सम एक हो,
नेत्र-रवि सम द्वैत हो,
दृष्टि-बुधि सम साथ हो,
ईश ही है जीवगण को
बोध अनुभव सब कराता ॥

संक्षेप में इसका भाव यही है कि ईश्वर 'प्राण-तन,' 'नेत्र-रवि' तथा 'दृष्टि-बुद्धि' के समान जोव के साथ एक होकर, अलग रह कर व मित्र रूप में संबंध स्थापित करके वस्तु-स्थिति का बोध व अनुभव कराता है। एक ही समय इन तीनों रूपों में जीव को सत्पथ पर लाने का प्रयत्न सदा ईश्वर करता ही रहता है। इसी के आधार पर शैव संत तायुमानवर ने कहा--

"अवनन्ड्रि ओरणुवुम् अशैयादु।"

अर्थात्—

पाए बिना उसकी अनुज्ञा नहीं हिलता एक अणु भी।

ईश्वर की आज्ञा व अनुग्रह पर हो प्रत्येक अणु का संचालन संभव है। परन्तु ईश्वर भी स्वयं निर्मित सीमा के अंतर्गत, नियमों के अनुसार ही कार्य संचालन करता है। भाव यह कि जोवों की सीमित स्वतंत्रता को बनाये रखते हुए उनके कर्मानुसार भाग्य का

विधान करता है। उदाहरणार्थ, हिंसा घोर पाप माना जाता है। कहावत है—

"कोन्ड्राल् पावम्, तिन्ड्राल् पोच्चू"

अर्थात्—

मारो तो पाप, खाओ तो साफ।

इसका अर्थ मांसाहारी इस प्रकार करते हैं कि किसी को मारना पाप अवश्य है परन्तु उस मांस को खा लेने से वह पाप साफ हो जाता है। वस्तुतः यह वास्तविक अर्थ का उलटा है। ठीक अर्थ यह है कि मारने के कारण उत्पन्न उस पाप को खाने पर अर्थात् पाप जनित दुःखों को भोगने पर वह पाप साफ हो जाता है। इसका सारांश यह है कि जीवों को कर्मफल भोगने होंगे।

"करम गति टारै नाहि टरी।" (कबीर)

परन्तु यदि जीव भी 'कातर हृदय से पुकारे' तो ईश्वर उसकी तुरन्त रक्षा करता है असह्य दुख को सह्य बना कर। कहावत है—

"मलैप्पोल् वरुवदु पनिप्पोल् पोहुम्"

अर्थात्

पर्वत सम जो आवे,
ओस बूंद सम जावे।

कातर हृदय की ऐसी पुकार जीव की ईश्वर के प्रति निश्चल भक्ति से ही संभव है। यह भक्ति केवल 'प्रेम स्वरूप' ही है। यह विशुद्ध प्रेमात्मिका भक्ति इस शैव सिद्धान्त की अपनी एक विशिष्टता है। शैव संत तिरुज्ञानसंबंधर ने स्वयं एक स्थान पर कहा है—

"उळ्ळम् कुळिन्र्द पोदेलाम्,
उहन्दुहन्दुरैप्पेने।"

अर्थात्—

जब जब हिरदय शीतल होवे,
तब तब स्तुति-यश-गीत सुनाऊं।

शैव सिद्धान्त का प्रधान मार्ग भी यही है। इसमें किसी वाह्य कर्म कांड अथवा ज्ञानार्जन को इतनी प्रधानता नहीं दी गई है। भक्ति ही शैव सिद्धान्त का प्रधान साधन है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस पथ के पथिक बनने के लिये परमेश्वर शिव में परिपूर्ण प्रतीति की परमावश्यकता होती है।

साधारणतः जीवों के लिये शैव सिद्धान्त के उपकरण तीन माने जाते हैं। वे हैं—(१) विभूति, (२) रुद्राक्ष, (३) 'नमःशिवाय' पंचाक्षरमंत्र। विशिष्ट शैव भक्त इन में से एक उपकरण पर भी पूर्ण श्रद्धा रख कर परम पद को प्राप्त हुए हैं, ऐसी अनेक कथायें प्रचलित ही नहीं, अपितु शिलालेख आदि के आधार पर सत्य सिद्ध की जा चुकी हैं। उदाहरणार्थ, मेय्प्पोरुळ् नायनार जो तमिप् भूभाग के एक सम्राट् थे, विभूति पर ऐसी श्रद्धा

रखते थे कि शैव भक्त के रूप में एक विभूति-मंडित शत्रु द्वारा तलवार के घाट उतारे जाने पर भी उसे क्षमा कर दिया, जिसके फलस्वरूप उन्हें तुरन्त मुक्ति पद प्राप्त हुआ। इसी प्रकार ग्वाल-भक्त आनाय नायनार की श्रद्धा पंचाक्षर मंत्र 'नमःशिवाय' पर थी। अपनी मधुर मुरली द्वारा प्रस्फुटित 'नमःशिवाय' की मंत्रध्वनि में ही मुग्ध होके वे मुक्ति-पद के अधिकारी हुए।

यह शव सिद्धान्त का सार है। इसी को श्री मेय्कण्डदेव नायनार ने अनुपम समास शैली में १२ सूत्रों के अन्दर भर कर 'शिवज्ञानबोधम' की रचना की है जो इस सिद्धान्त का ब्रह्मसूत्र अथवा भगवद्गीता है। 'शिवज्ञानबोधम' पर अठारहवीं शताब्दी के शिवज्ञानमुनिवर द्वारा एक विशद् भाष्य रचा गया है।

इस सिद्धान्त के चार प्रधान प्रचारक तिरुज्ञानसंबंधर, तिरुनावुक्करशर, सुन्दरर तथा माणिक्कवासहर ने मधुर शैली में अपने अपने विशिष्ट आदर्शों को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। प्रथम तीन शैव संतों के द्वारा रचित काव्य को 'तेवारम' तथा चतुर्थ शैव संत रचित काव्य को 'तिरुवासहम्[१]' कहा जाता है। 'तेवारम' तो मानो विविध काव्य-मणियों के 'देवहार' ही हैं, और 'तिरुवासहम्' के सम्बन्ध में कहा जाता है—

"तिरुवासहत्तिकुरुहादार ओरुवासहत्तिकुमुरुहार।"

अर्थात्—

यदि 'तिरुवासहम, से द्रवित नहीं होता
तो और किसी से नहीं हो सकता।

इन शैव संतों की कृतियों का संकलन श्री नंबियांडार नम्बी ने किया है जिनमें प्रथम तीन भाग तिरुज्ञानसंबंधर के, चौथे और पांचवें अप्पर के, और छठे और सातवें सुन्दरर के तेवारम हैं। आठवां भाग माणिक्कवासहर रचित 'तिरुवासहम' है। यहाँ हम शैव संत तिरुज्ञानसंबंधर की जीवनी का लघुवर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

वैज्ञानिक विकास की चरमावस्था के इस काल में भी हम भारतीयों को यह स्वीकार करने में अत्यधिक कठिनाई का अनुभव नहीं हो सकता कि इस संसार में ऐसी अनेक घटनायें समय समय पर हो जाती हैं, जिनका उत्तर आधुनिक विज्ञान की परिधि के अंतर्गत नहीं दृष्टिगत होता। शैव संत तिरुज्ञानसंबंधर की जीवनी में हमें अनेक अलौकिक घटनाएं मिलती हैं। प्रत्येक घटना के संबंध में उन्हीं के उसी क्षण के भावोद्रेक से प्रस्फुटित काव्य आज भी उपलब्ध होने के फलस्वरूप उन घटनाओं पर पूर्णतः अविश्वास भी नहीं किया जाता। ऐसी अलौकिक घटनायें केवल इन चारों संतों के ही विषय में प्रसिद्ध नहीं हैं अपितु कई भक्तों के द्वारा भी उनके सिद्ध होने के उदाहरण प्राप्त हैं। जनता साधारणतः इन पर विश्वास भी करती है। तिरुज्ञानसंबंधर की जीवनी वस्तुतः ऐसी अलौकिक घटनाओं का ही वर्णन है।

---

१. इस ग्रंथ पर मुग्ध हो डा० जी० यू० पोप ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

शियाळी नगर म गौणिया गोत्र के दम्पति शिवपादविरुदयर-भगवती के अत्यधिक जप तप व व्रत के अनन्तर एक पुत्ररत्न हुआ। जब वह तीन वर्ष का था तो एक दिन पिता उस शिशु के साथ नगर के प्रधान शिव मंदिर तिरुत्तोणि.[1] के निकटवर्ती तालाब में स्नान करने गये। जब वे उसे किनारे पर छोड़ स्नान कर रहे थे तो बच्चा भूख के कारण विलाप करने लगा, जिसे सुन कर भगवती उमा ने स्वयं अपना क्षीर एक स्वर्ण कलश में उसे पिलाया। उसे पीते ही मानो शिव ज्ञान का संबंध इनके साथ हो गया, और फलत इसी पर उनका नाम तिरु ञान संबंधर (तिरु=श्री) पड़ गया[2]। पिता ने लौटने पर इसे दूध पीते देख एक छड़ी से डाँटते हुए पूछा कि तुमने यह दूध किससे लिया ? बच्चे ने आनन्दाश्रु भरे नेत्रों से दोनों हाथों को उठाकर अर्धनारीश्वर की ओर संबोधित करते हुए उसी क्षण अपना सर्वप्रथम गीत गाया—

"तोडुडैय शेवियन् विडैयेरि योर् वेण् मदिशूडिक्
काडुडैय शुडलैप् पोडिपूशि येनतुळ्ळं कवरहळ्वन्
एडुडैय मलरान् मुनैनाळ्पणिदेत्त वरुळ्चेयद
पीडुडैय पिरमा पुरमेविय पेम्मा निवनन्ड्रे"

[अर्थात्—ताड़पत्र के कर्णाभूषणों से युक्त, ऋषभ पर आरूढ़ हो विशुद्ध व विमल चन्द्र से विभूषित, श्मशान-विभूति से रमा हुआ, मेरे हृदय को हरनेवाला चोर, जिसकी कृपा के कारण पद्मोद्भव ब्रह्मा ने (उसी से) पूर्वकाल में विनम्र स्तुति की, ब्रह्मापुरम् (शियाळी) में मूर्त्त रूप में स्थित श्रेष्ठ महात्मन् शिव ही तो है !]

और गाकर पिता को आश्चर्यचकित एवं पूर्णः विश्वस्त कर दिया कि वे शिव के ही मानो पुत्र हैं। अतः उनका नाम 'आळुडैय पिळ्ळैयार' अर्थात् 'ईश्वर के सुपुत्र' भी पड़ा। इस घटना को सुन कर नगर निवासी विस्मित हुए। दूसरे दिन प्रातःकाल मंदिर में जाकर पिळ्ळैयार ईश्वर मग्न हो गीत गाने लगे, और उसी समय पंचाक्षर मंत्र अंकित 'तिरुत्ताळम' (दोनों हाथों से ताल देने का पीतल का वाद्य) उनके श्री करों में आ उतरे, जिन्हें बजाते हुए हमारे संत आजीवन गाते रहे। इन अलौकिक घटनाओं को सुन कर दूर दूर के भक्त इनके दर्शनार्थ आने लगे, और अपने अपने नगर को पवित्र करने के लिए इनको आमंत्रित करने लगे। पिळ्ळैयार ने वैसा ही करके सबके हृदय को संतुष्ट किया। जिन जिन मंदिरों में वे जाते, ईश्वर स्तुति के नूतन गीत गा गा कर मनुष्य मात्र को मंत्रमुग्ध कर देते। तिरुनीलकंठ याष्प्पाण नायनार तो इनसे ऐसे आकृष्ट हुए कि अनुमति

---

१. इस मंदिर के देवता को 'तोणिप्पर' अर्थात् 'तरणि-नाथ' कहते हैं। किंवदंती है कि प्रलय के समय केवल यही स्थान एक नाव के समान तैरता रहा।

२. शंकराचार्य ने इसी घटना को सूचित करते हुए 'सौन्दर्य लहरी' में कहा है—

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधर कन्ये हृदयतः,
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्,
कवीनां प्रौढानां अजनि कमनीयः कवयिता ॥

प्राप्त करके आजन्म इनके संग रह कर इनके प्रत्येक गीत को अपनी वीणा में बजाते रहे। कुछ दिनों के पश्चात् वे प्रसिद्ध शिवस्थल चिदंबरम् गये। लौटते समय पिळ्ळैयार ने पिता की गोदी व कंधा छोड़ पैदल चलना प्रारंभ किया। उसी दिन रात को सभी भक्तों को शिव ने स्वप्न में आज्ञा दी कि मोतियों की एक शिविका उन्हें प्रदान करें। तुरन्त वह तैयार की गई और उस पर चढ़कर पिळ्ळैयार विभिन्न मंदिरों की यात्रा करने लगे।

तिरुनावुक्करशर 'अप्पर' ने अब इनकी कीर्ति सुनी और स्वयं शियाळी सिधारे। संत-समागम हुआ। कुछ दिन शियाली में रह कर पुनः वे अन्य पुण्य क्षेत्रों की ओर अग्रसर हुए। अब पिळ्ळैयार को भी तमिष् प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के दर्शन करने की इच्छा उत्पन्न हुई, और उस इच्छा को पिता से प्रकट किया। पिता भी पुत्र के साथ प्रस्थान करने को प्रस्तुत हुए। सभी क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के संगीतात्मक गीत गाते हुए वे कावेरी नदी के उत्तरी तट पर पहुँचे। वहाँ कोल्लि मळवन नामक शिवभक्त राजा की पुत्री 'मुयलहन्' नामक भयंकर बीमारी से पीड़ित थी। किसी भी औषधि से वह स्वस्थ न हो सकी। राजा की विनीत प्रार्थना पर पिळ्ळैयार की अनुकंपा उस पर हुई, और एक ही गीत में वह भली-चंगी हो चली। वहाँ से सैंकड़ों पुण्य क्षेत्रों में पवित्र 'तेवारम' गाते हुए वे तिरुवावडुतुरै पहुँचे। यहाँ पिता ने निवेदन किया कि एक विशिष्ट यज्ञ के लिए कुछ धन की आवश्यकता है। पिळ्ळैयार ने अपने शिव से गीत गाकर निवेदन किया। तुरन्त बलि-पीठ पर एक हजार मोहरों की एक गठरी उपस्थित हुई, जिसे उन्होंने अपने पिता को देकर शियाळी प्रस्थान कराया, और स्वयं धर्मपुरम आदि धर्मक्षेत्रों की यात्रा करते हुए, तिरुमरुहल पहुँचे। यहाँ के मंदिर के पीछे एक मठ था जिसमे उस दिन रात को एक युवती का हृदयविदारक रोदन सुन पिळ्ळैयार ने वहाँ जाकर उससे कारण पूछा। युवती ने करुण क्रंदन करते हुए कहा, "मेरे पति को सर्प ने डस लिया है। तामन नामक वैश्य-श्रेष्ठ की मैं सातवीं पुत्री हूँ। मेरे पति को ही प्रारम्भ में अपनी प्रथम पुत्री विवाह में देने का वचन देकर मेरे पिता ने इन्हें धोखा दे दिया। इसी प्रकार शेष पांच पुत्रियों की आशा दिला कर इन्हें निराश कर दिया। मैं इसे जान कर इनके साथ बिना माता-पिता से कहे चली आयी। अब मेरी आप ही रक्षा करें।" पिळ्ळैयार ने "शडयाय एनुमाल्" गीत गाकर उसके पति को जिला दिया, और उन दोनों का नियमानुकूल विवाह करा कर दाम्पत्य जीवन प्रदान किया। पिळ्ळैयार वहाँ से अनेक स्थलों को पवित्र करते हुए तिरुप्पुहलूर पहुँचे जहाँ प्रेमपद्धति के प्रचारक श्री० मुरुहनायनार ने इनका स्वागत सत्कार किया, जिससे प्रसन्न होकर इन्होंने ईशनेरमर कडवुळ् श्रीदशक[1] (तिरुप्पदिहम) गाया।

संत तिरुनावुक्करशर बालसंत तिरुञानसंबंधर की यहाँ उपस्थिति सुनकर उनसे मिलने गये। दोनों का पुनर्मिलन हुआ। यहाँ शैव संत तिरुनीलनक्क नायनार तथा शिरुत्तोण्डै नायनार से भी उनका सम्मिलन हुआ।

यहाँ से अप्पर स्वामिकळ विभिन्न क्षेत्रों को पहले पैदल जाते, और उनके पश्चात्

---

१. प्रत्येक श्री दशक में ११ या १२ छन्द रहते हैं; दस नहीं जैसा कि नाम से प्रतीत होता है। अंतिम छन्द संत की मुद्रा व नाम से युक्त रहता है।

पिळ्ळैयार ईश्वर-प्रदत्त शिविका पर आरूढ़ हो उन स्थलों का दर्शन करते। अब एक भयंकर दुर्भिक्ष के कारण भक्तों को भी विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ा। इसे देख पिळ्ळैयार तथा अप्पर यह सोच कर कि क्या 'भक्त भी दुखःपीड़ित हैं!' व्यापक सर्वेश्वर का ध्यान करते हुए शयनशायी हुये। शिव ने दोनों को स्वप्न में दर्शन देकर कहा, "दुःख निवारण हेतु मंदिर के पूर्वी एवं पश्चिमी पीठ पर एक एक स्वर्ण मुद्रा दुर्भिक्ष समाप्त होने तक प्राप्त होता रहेगा।" ऐसा ही हुआ, जिससे भक्त दुर्भिक्ष के दुःखों से दूर रहे। इसी प्रकार 'वासि तीरवे काशु नलहुवीर' श्रीदशक गाकर वहीं सुन्दर स्वर्ण मुद्रायें भी प्राप्त कीं।

दुर्भिक्ष की समाप्ति के पश्चात् दोनों संत उसी प्रकार कई धार्मिक स्थलों की यात्रा करते हुए तिरुमरैक्काडु (आधुनिक वेदारण्यम्) पहुँचे—पहले अप्पर बाद में पिळ्ळैयार। यहाँ के प्रधान मंदिर का श्री-द्वार (तिरुक्कदवु) बंद पड़ा था। खुलता ही न था। पूजा के लिये जाने वाले भक्त सब पीछे के द्वार से ही जाते थे। इसे देख पिळ्ळैयार ने अप्पर से कहा कि हमें सीधे मार्ग से ही मंदिर में प्रवेश करना चाहिये। अतः उसके खुलने के लिये आप ही प्रार्थना गीत गावें। अप्पर ने वैसा ही किया। गीत समाप्त करते करते द्वार स्वतः खुल गया। यथानुरूप पूजा-पाठ करके लौटते हुए अप्पर ने पिल्ळैयार से कहा, "इस द्वार को प्रतिदिन नियामानुसार खुलना और बंद होना चाहिये। अतः अब इसके बंद होने के लिए आप गावें।" पिळ्ळैयार ने 'चतुरम् मरै' गीत को प्रारम्भ किया और द्वार स्वतः बंद हो गया। सभी उपस्थित भक्त-जन आश्चर्यचकित रह गये। उस दिन से आज तक वह द्वार नियमानुसार खुलता और बंद होता है।

उन दिनों पाण्डच प्रदेश में जैन धर्म का प्रचार प्रबल रूप प्राप्त कर चुका था। पाण्डय सम्राट् शैव धर्म को त्याग जैन हो गया था। जनता इससे साधारणतः अप्रसन्न थी। शैव मंत्री कुलच्चिरैयार तथा साम्राज्ञी मंगयर्करशी ने अति दुःखित हो, एक गुप्तचर तिरुञान-संबंधर के पास भेजा और उनसे पांडच प्रदेश की राजधानी मदुरा पधारने की प्रार्थना की। उन्होंने तुरन्त तत्पर हो कर पूजा-पाठ के अनंतर शिविका पर आरूढ़ होकर तिरुनावुक्करशर के विरोध करने पर भी मदुरा की ओर प्रस्थान किया। मार्ग के सभी शिव स्थलों का दर्शन करते हुए वे जब पांडच प्रदेश पहुंचे तो जैन धर्मावलंबियों ने अनेक प्रकार के स्वप्न देखे। मंत्री व साम्राज्ञी को सुन्दर शकुन प्राप्त हुए। अनेक प्रकार के आदर सत्कार सहित मंत्री ने उनका स्वागत किया। मदुरा के प्रसिद्ध मंदिर में मंगयर्करशी ने पिळ्ळैयार के दर्शन प्राप्त किये। वहाँ के सभी भक्तों ने पिळ्ळैयार की अनुनय विनय के साथ आराधना की। इन घटनाओं को देख जैन श्रमणों ने सम्राट् को सूचना दी, और कहा कि हम उन्हें देखकर चकित रह गये। सम्राट् ने कहा "मैं उनके विषय में सुन कर चकित हूँ।" उन्हें पांडच प्रदेश से भगाने के लिये सम्राट् को यह सुझाया गया कि उनके आश्रम में आग लगा दी जाय। सम्राट् ने भी अपनी सम्मति दे दी। जैन श्रमणों ने मंत्र शक्ति से आग लगाने का प्रयत्न किया, पर असफल रहे। अतः हाथ में एक जलती हुई लकड़ी लेकर आश्रम में आग लगा दी। कुछ ही क्षणों में इसे देख शिव-भक्तों ने पिळ्ळैयार से कहा। उन्होंने आश्चर्यान्वित हो, इसे शासन की शक्तिहीनता मानकर 'शेय्यने तिरुवालवाय्' श्रीदशक

में कहा कि जो आग जैनों ने यहाँ लगायी है वह शनैः शनैः चल कर सम्राट् को ग्रसे। वैसा ही हुआ।

इधर मंत्री और साम्राज्ञी ने निश्चय कर लिया था कि यदि किसी भी प्रकार की बाधा आमंत्रित शैव संत को उत्पन्न हुई तो हम प्राण त्याग देंगे। जब इस दुर्घटना का समाचार उन दोनों को मिला तो वे प्राण-त्याग के लिये प्रस्तुत हुए, परन्तु उसी क्षण वास्तविक वस्तु-स्थिति का भी सुसमाचार उन्हें प्राप्त हो गया। सम्राट् इधर प्राणघातक ज्वर से पीड़ित थे। दोनों आकर विभिन्न औषधियों के द्वारा उसके निवारण का प्रयत्न करते रहे, परन्तु सब असफल ही सिद्ध नहीं हुआ, अपितु ज्वर अत्यधिक बढ़ने लगा। जैन श्रमणों ने भी मयूर-पंखों से शरीर को शीतल करने का निष्फल प्रयत्न किया। जहाँ जहाँ इन मयूरपंखों का स्पर्श होता, उन सब स्थानों में जलन अधिक होने लगती। फिर उन्होंने कमंडलुजल का शरीर पर छिड़काव किया। उससे शरीर पर फफोले पड़ने लगे। जैन श्रमणों पर अति क्रुद्ध हो सम्राट् ने उन्हें वहाँ से स्थान रिक्त करने की आज्ञा दी। मंत्री और साम्राज्ञी ने तिरुञ्ज्ञानसंबंधर के आगमन की सूचना देकर उन से इस भयंकर ज्वर को शांत कराने की प्रार्थना सम्राट् से की। शैव संत का नाम सुनते ही सम्राट् ने कुछ शीतलता का अनुभव किया, और उन्हें बुला लाने की अनुमति देते हुए कहा कि इस ज्वर से मेरी जो रक्षा करेंगे उन्हीं पर मेरी श्रद्धा रहेगी। अति प्रसन्न हो दोनों ने अपने संत से वस्तु-स्थिति का वर्णन करते हुए प्रार्थना की कि आप ही चल कर उनकी रक्षा करें, और साथ साथ शैव धर्म का पुनर्संस्थापन भी यहाँ हो। प्रार्थना स्वीकृत हो गई। शैव संत को सम्राट् के पास जाते देख, जैन श्रमण ने उसका विरोध करते हुए सम्राट् से कहा कि ज्वर शांत करने का भार दोनों को दें, और चाहे ज्वर उनसे ही शांत क्यों न हो जाय, उसे हमारे द्वारा ही शांत हुआ बतावें। सम्राट् झल्ला उठे और कहने लगे कि यह असंभव है। इतने में पिळ्ळैयार सम्राट् के समीप पहुँचे। इनके पहुँचने मात्र से सम्राट् को एक विशिष्ट शीतलता का अनुभव हुआ। जैन श्रमण घबड़ाये। जब जैन श्रमण किसी अंग को शीतल न कर सके, शैव संत ने—

"मन्दिरमावदु नीरु,
　　वानवर मेलदु नीरु।
सुन्दरमावदु नीरु,
　　तुदिक्कप्पडुवदु नीरु।
तन्दिरमावदु नीरु,
　　समयत्तिलुळ्ळदु नीरु।
शेन्दुवरवायुमै पंगन
　　ट्रिरुवालवायान् ट्रिरुनीरे॥"

[अर्थ—मन्त्र की महान् शक्ति, देवताओं से श्रेष्ठ वस्तु, सौन्दर्य का प्रधान आधार, सर्वाधिक प्रशंसनीय सामग्री, तंत्रों का गुण-गौरव व धर्म का सर्वस्व ही नहीं अपितु अरुण ओष्ठोंवाली अम्बिका को अर्धाङ्ग में प्राप्त अखिल भुवनेश्वर तिरुआयलूर के मंदिर में मूर्त्त रूप में विद्यमान भगवन्, भी वही विभूति हैं।]

गा कर दाहिने अंग पर अपने करों से विभूति लगाई, जिससे वह तुरन्त शीतल हो गया। परन्तु कठिनाई यह हुई कि उस भाग को जलन भी बाईं ओर मिल कर सम्राट् को एक ओर नरक-दुःख और दूसरी ओर स्वर्ग-सुख का अनुभव कराने लगी। उन जैन श्रमणों से जो बाईं ओर अपनी तंत्रमंत्रादि शक्ति का प्रयोग करके मयूर पंख फेर रहे थे, सम्राट ने सक्रोध कहा, "आप हार गये, हटिये।" पुनः प्रार्थना करने पर शैव संत ने इस भाग को भी विभूति द्वारा तीव्र जलन से पूर्ण शांत कर दिया। पांड्य सम्राट्, साम्राज्ञी और मंत्री के आनन्द का पारावार न रहा। जैन श्रमणों ने किसी प्रकार शैव संत को नीचा दिखाने के लिये दूसरे मार्ग का विचार करते हुए कहा, "दोनों अपने अपने धार्मिक सिद्धान्तों को ताड़पत्र पर लिख कर अग्नि को समर्पित करें। जिसका भस्मी-भूत न हो, उसे ही विजयी समझें।" स्वीकृति प्राप्त करने पर ऐसा ही किया गया। यहाँ भी जैन श्रमणों की ही हार हुई। सम्राट् हँसे। अब भी जैन श्रमणों से न रहा गया, और कहा, "अपने धार्मिक तथ्यों को ताटपत्रों पर लिख कर सवेग प्रवाहित वैगै नदी में डालें, और जिनका पत्र धार के विरुद्ध बढ़े, उन्हें ही विजयी मानें।" अब मंत्री इस चुनौती को सहज में स्वीकार करने को तैयार न थे, और सावेग व सक्रोध पूछा कि हारने वालों का क्या दंड निश्चित किया जाय? जैन श्रमणों ने भी साहंकार उत्तर दिया, "यदि हम हारे तो सब सूली पर चढ़ेंगे।" फिर सभी नदी तट पर पहुँचे और धार पर दोनों ने अपने अपने ताटपत्रों को छोड़ा। जैन श्रमणों का पत्र समुद्र की ओर, तथा शैव संत का पत्र पर्वत की ओर सवेग बहने लगा। इतना ही नहीं, पिळ्ळैयार ने ताड़पत्र पर लिखा था, "वेन्दनुम् ओंगुह" अर्थात् सम्राट् भी विकसित हो कर वृद्धि प्राप्त करें, जिसके फलस्वरूप सम्राट् की पीठ का टेढ़ापन भी तुरन्त सीधा हो गया। शैव ताड़पत्रों को लाने के लिए मंत्री घोड़े पर सवार होकर अत्यंत वेग से गये। पिळ्ळैयार ने "वन्नियुम् मुत्तमुम्" श्रीदशक गाकर पत्र को रोका, और मंत्री उसे तभी ला सके। इन सब से जैन श्रमणों ने अपनी हार स्वीकार कर अपने ८००० साथियों के संग सूली पर चढ़ कर प्राण त्याग किये। पांड्य प्रदेश में शैव धर्म का स्थायी प्रसार होने लगा। सम्पूर्ण भूभाग विभूतिमय हो गया।

इस आश्चर्यजनक घटना की वार्त्ता शियाळी पहुँची, जिसे सुनकर शिवपाद विरुदया तुरन्त मदुरा पहुँचे। पिता को देखते ही पिळ्ळैयार को जन्म स्थान शियाळी के 'तोणियप्पर' का ध्यान हो आया। अतः सब से विदा लेकर तिरुप्परंगुन्ड्रम, तिरुक्कुट्रालम्, तिरुनेल्वेली आदि स्थानों में श्री दशक गाते हुए रामेश्वरम् में कुछ दिन रह कर पाँड्य प्रदेश से बाहर आये। कुछ दूर चलने पर तिरुक्कोळ्ळमबूदूर दिखा, परन्तु मार्ग में वेगवती गहरी नदी को पार करना था। नाविक अपनी अपनी नाव को किनारे पर बाँध कर गांव चले गये थे। पिल्लैयार की अभिलाषा पर एक नाव की रस्सी खोली गई और सब उस पर आरूढ़ हुए? शैव संत के 'कोट्टमे कमळुम्' श्रीदशक गाने सर वह नाव स्वयं चल पड़ी, और सब सकुशल दूसरे किनारे पर जा लगे। देवदर्शन करने के पश्चात् कुछ दिन वहाँ रह कर फिर पोदिमंगै पहुँचे। पोदिमंगै बौद्धों का केन्द्र था। उनके नायक शारिबुद्धन को बाद में परास्त करके वहाँ भी पिळ्ळैयार ने शैव मत को स्थापित किया। यहाँ से अप्पर के दर्शनार्थ तिरुप्पून्दुरुत्ति गये। अप्पर ने बाल शैव संत का आगमन सुन, भीड़ में ही घुस कर शिविका

के भार को स्वयं अपने कंधे पर उठाया। तिरुप्पून्दुरुत्ति पहुँचने पर जब इसका बोध पिळ्ळैयार को हुआ तो वे अत्यधिक दुःखित हुए। दोनों ने एक दूसरे को प्रणाम किया। सभी भक्तजन दोनों की प्रशंसा के गीत गाने लगे। एक दूसरे की घटनाओं को सुनने के पश्चात् अप्पर पाँड्य प्रदेश की ओर गये और पिळ्ळैयार ने शियाळी की ओर प्रस्थान किया।

अब पिळ्ळैयार की इच्छा तमिष् प्रदेश के उत्तरी भाग 'तोण्डै नाडु' देखने की हुई। अतः चिदम्बरम्, तिरुवण्णामलै, आदि स्थानों की यात्रा करते हुए तिरुवादुरै पहुँचे। वहाँ एक शिव भक्त अपने आराध्य देव के निमित्त कुछ ताटवृक्षों को लगा कर बड़ा करता आ रहा था। वे नर-वृक्ष ही निकले और उनसे कोई फल प्राप्त नहीं हुआ। इस पर चिढ़ाते हुए वहाँ के जैन श्रमण उससे पूछा करते थे, "क्या तुम्हारे शिव की कृपा से इनमें से फल निकल सकते हैं?" परिस्थिति को स्पष्ट करते हुए उसने पिळ्ळैयार से प्रार्थना की, जिसे स्वीकार कर शैव संत ने, 'पूत्तेर्न्दायेन्' श्रोदशक गाकर उसे अनुग्रहीत किया कि वे नर-वृक्ष मादा-वृक्ष में परिवर्तित हो जायें, और वे उसी क्षण वैसे हो गये। फलों के गुच्छों के गुच्छे उसमें निकल आये। इसे देख वहाँ के जैन श्रमण या तो उस स्थान को ही छोड़ कर चले गये, अथवा शैव मतानुयायी हो गये।

अब वे यहाँ से अनेक शिव स्थलों की यात्रा करते हुए तिरुवालंगाडु के समीप पहुँचे। यह वह स्थान है जहाँ प्रसिद्ध शैव भक्तिन 'कारैक्काल् अम्मैयार' ने सिर के बल चल कर शिव के चरणों में नित्य निवास प्राप्त किया था। अतः उस स्थल के अन्दर प्रवेश न करके बाहर से ही उसके यश गीत गा कर अन्य स्थलों की यात्रा में संलग्न हुए। तिरुक्काळत्ती में प्रेम के ही मूर्त्त रूप में उपस्थित शिव-भक्त कण्णप्पर के, जिन्होंने अपने दोनों नेत्रों को निकाल कर शिवार्पण कर दिया था, दर्शन करके भक्ति प्रवाह में मग्न हुए। वहाँ से विभिन्न स्थलों की यात्रा करते हुए मद्रास के निकटवर्त्ती तिरुवोट्रियूर में पदार्पण किया।

मद्रास के मयिलापूर (मयूर नगरी) में एक शिव भक्त रईस के वर्षों के तप के पश्चात् पूम्बावै नामक कन्या उत्पन्न हुई। रईस ने निश्चय कर लिया कि इसके पति को ही सम्पूर्ण सम्पत्ति आदि दान में दूंगा। पांड्य प्रदेश में पिळ्ळैयार के आश्चर्यजनक संभवों को सुन कर मन में ठान लिया कि उनको ही कन्यादान दिया जाय। एक दिन एक सर्प ने उस कन्या को डस लिया और अनेक प्रकार की औषधियों के प्रयोग पर भी वह जीवित नहीं हुई। फिर रईस ने विचार किया कि मैंने इसे पिळ्ळैयार के लिये अर्पित कर ही दिया था। अतः उसकी अस्थियों व भस्म को एक स्वर्ण कलश में सुरक्षित रख कर उन बाल शैव संत के आगमन पर उन्हीं को अर्पित करूंगा। अब उन्हें तिरुवोट्रियूर में उपस्थित सुन तुरन्त वहाँ जाकर अति विनय सहित अपने यहाँ आमंत्रित किया। संपूर्ण कहानी सुनकर कर पिळ्ळैयार ने, "मट्टिट्ट" श्रोदशक गाकर "उठो पूम्बावै" कहा। बारह वर्ष की नवल युवती का सशरीर आविर्भाव हुआ। अब रईस से न रहा गया। पिळ्ळैयार से तुरन्त पाणिग्रहण के लिये प्रार्थना की। परन्तु पिळ्ळैयार ने कहा। "तुम ने इसे जन्म दिया। मैंने इसे मृत्यु के मुख से पुनर्जन्म प्रदान किया। अतः मेरा इसका पाणिग्रहण पूर्णतः अनुचित है।" पूम्बावै आजन्म कन्यिका रह कर अर्धनारीश्वर शिव के चरणों में समाविष्ट हुई।

यहाँ से अनेक स्थलों की यात्रा करते हुए पुनः चिदम्बरम् दर्शन करके शैव संत शियाली पहुँचे। वहाँ श्री मुरुह नायनार, तिरुनीलनक्क नायनार आदि अनेक शिवभक्त एकत्रित थे। वहाँ सब के साथ सानन्द अपने आराध्यदेव 'तोणियप्पर' की आराधना में लीन हो गये।

अब पिळ्ळैयार के पिता को इनके विवाह का विचार आया। अब ये षोडश वर्षीय युवक हो चुके थे। तिरुनल्लूर के श्री० नम्बांडार नम्बी की सुपुत्री के साथ इनका विवाह निश्चित हुआ। तिथि का भी निश्चय हो गया। समय आ पहुँचा। वर को वस्त्रादि से विभूषित किया गया। रुद्राक्ष की माला उन्होंने स्वयं पहन ली। विवाह-मंडप पर वर-वधू विराजमान हुए। विवाह सम्पन्न होने के लिये दोनों ने दीपक के चारों ओर प्रदक्षिणा की। जब पिळ्ळैयार के मन में ध्यान आया कि "क्या! अग्नि शिवरूप नहीं है?" और सोचा कि अब श्री मंदिर जाना चाहिये, तो उन्होंने निश्चय किया कि इसके साथ मैं शिव चरणों में प्रवेश करूंगा। सीधे श्री मंदिर गये। और लोगों ने भी इनके साथ प्रस्थान किया। ईश्वर के सम्मुख, "कल्लूर् पेरुमणम्" श्रीदशक गा कर निवेदन किया, "हे अम्बिकेश्वर! तेरे पदपद्मों में प्रवेश प्राप्त करने का उपयुक्त अवसर यही है।" 'एवमस्तु' की शिवध्वनि हुई और सम्पूर्ण श्री मंदिर ज्योति रूप में परिवर्तित हो गया, और उसमें एक श्री द्वार के भी दर्शन हुए। इसे देख अपना अन्तिम श्री दशक—

'कादलाहिक् कशिन्द् कण्णीरमलहि
योदुवार्तमै नन्नेरिक्कुय्प्पदुम्,
वेद नान्गिनु मेय्प्पोरुळावदुम्
नादनाम नमच्चिवायवे"

[अर्थ—अपार प्रेम के फलस्वरूप अश्रु प्रवाहित करते हुए आराधना करने वालों को सद्गति प्रदान करने की शक्ति, तथा चारों वेदों का आधारभूत सत्य 'नमः शिवाय' रूपी ध्वन्यात्मक नाम में ही निहित है।] गाते हुए कहा, "सभी इस ज्योति में प्रवेश करें।" सब ने इस ज्योति में प्रवेश किया। तिरुनीलनक्क नायनार, मुरुहनायनार, शिव पादविरुदयर, नम्बांडार नम्बी, तिरुनील कंठ या ऴ्पाण नायनार आदि अपनी अपनी अर्धांगिनी व वंशज समेत, शिविका के ढोनेवाले, अन्य भक्तगण आदि सब उस परम ज्योति में प्रवेश कर गये। तदनन्तर ज्योति अदृष्ट हो गई। मंदिर पुनः अपने पूर्व स्वरूप में प्रत्यक्ष हुआ।

सातवीं शताब्दी के षोडश-वर्षीय तमिष् बाल शैव संत की जीवनी का यह संक्षेप है। इनके गाये ३८४ श्रीदशक गीत ही १६,००० चरणों में प्राप्त हैं। ये गीत विभिन्न 'पण' (संगीत की रीति) में रचित हैं। सुमधुर तमिष् का सुन्दर स्वरूप इनके गीतों में दर्शनीय है। संगीतात्मकता व सरल प्रवाह इन गीतों की एक विशिष्टता है। गीतात्मक शैली के सैंकड़ों विभिन्न प्रकार, इनके काव्य में देख कर कलाविद् अवाक रह जाते हैं। वस्तुतः इनके गाये गीतों की संख्या १०,००० के लगभग मानी जाती है, परन्तु जो भी थोड़े से प्राप्त हैं, वे इनकी भक्ति, काव्य-कलात्मकता तथा संगीत सौष्ठव को सिद्ध करने के लिये यथेष्ठ हैं। प्रकृति का सजीव, सूक्ष्म व सुमधुर स्वरूप, तिरुक्कुट्रालम् व

तिरुनेल्वेली आदि पर रचे इन गीतों को पढ़ने से पाठक के सम्मुख चित्रवत् उपस्थित हो जाता है। इनके गीतों में मानव जीवन की अंत: एवं वाह्य प्रकृति का वर्णन सरल स्निग्ध शैली में हुआ है। यह भावोद्रेक के फलस्वरूप क्षण मात्र में प्रस्फुटित हुआ वर्णन है। बाल संत होने के कारण बालकोचित कौतूहल के साथ पवित्र प्रेम का नैसर्गिक प्रवाह भी इनके काव्य की विशिष्टता है। सर्वेश्वर शिव का गुणगान इनके काव्य का उद्देश्य है। तमिष् ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ व सर्वाधिक प्रसिद्ध इन्हें ही माना जाता है। कोई भी ऐसा शिव मंदिर तमिष् प्रदेश में नहीं है जहाँ इनकी पूजा प्रतिदिन न होती हो।

शैव सिद्धान्त एवं तिरुञानसंबंधर के सम्बन्ध में लिखित एक अंग्रेजी उद्धरण नीचे दिया जाता है—

I "This system has been pronounced by the late Dr. G. U. Pope of Oxford 'as the choicest product of the Dravidian intellect'. The same view has been expressed in greater detail by Rev. G. Gowdie, who says 'This system possesses the merits of great antiquity; in the religious world it is heir to all that is most ancient in Southern India. It is a religion of the Tamil people by the side of which every other form is of comparatively foreign origin. As a system of religious thought, as an expression of the faith and life, the Saiva Siddhanta is by far the best that South India possesses; indeed it would not be rash to include the whole of India and to maintain that judged by its intrinsic merits, the Siddhanta represents the high water mark of Indian thought and Indian life."

(pp. 1 & 2 'The Metaphysics of the Saiva Siddhanta System' by Sri K. Subramania Pillai, M, A. M.L., Tagore Professor of Law, Calcutta.)

II "Mr. Virabadra Mudaliar, B. A., B. L., an expert on the subject, speaks in his strain of exuberance: 'We have Simply to open the inimitable pages of our Lord Sambandha to understand the profuse richness of Tamil poetry during this Tamilic period. We are able to point out nearly one hundred metrical varieties in his poetry. Was there ever we ask, any poet, ancient or modern, in any language on the face of the earth, not excluding Sanskrit, who has so spontaneously and with such an insatiable thirst for the praise of his Divine Father in Heaven, sung on that same subject so many interesting varieties of lovely verses as nearly one hundred-varieties not based on small distinctions such as are recognised in Sanskrit but differing as widely as any two metres of a language -leaving of course out of consideration the verses which are alleged to have perished?.......In fact Lord Sambandha has over-flooded the Tamil land with an enormous number of metres of unknown varieties and of unsurpassed perfection, accuracy and beauty......We do not read Sambandha's poetry, because it does not contain any vain phiiosophic disquisitions or learned commentaries on Vedanta, or an ingenious attempt at an Advaitic or Siddhantic interpretation of the Gita, or even a faithful record of the much advanced metaphysical experiences of the author......Sambandha's poetry shines far above those cloudy controversial regions like the lofty towering peak in Goldsmith's poetry......We, philosophers, find nothing in him to quote, not even so much as we find in

Appar's, nor is there an allusion to any subtle point of theology such as we are sure to find even in the dullest Tamil poet'.

'He who, amid the sound of the music of the
Vedic chant, performs the Mystic Dance,
He who bears the battle axe,
The thief who steals away my mind, so that
the white bracelets ranged upon my arms fall off,
While the spacious and beautiful grove on the shore and the glades
scatter radiance,
Hath come to Piramapuram on which the crescent moon rests.
Our Lord is He! Is it not so?"

(pp. 9 to 11 'Ten Tamil Saints' by
Sri M. S. Purna-lingam Pillai, B. A., L. T.)

चन्द्रभान रावत

उकार बहुला प्रवृत्ति की परम्परा और ब्रज की बोली

मथुरा जिले की बोलियों में एक मुख्य अन्तर उकार बहुला प्रवृत्ति और अकार बहुला प्रवृत्ति का है। मथुरा की छाता तहसील में अकारान्त रूप अधिक मिलते हैं। शेष भाग में उकारान्त रूप अधिक मिलते हैं। छाता तहसील का पर्यवसान पंजाब के गुड़गांव जिले में होता है। पंजाब की बोली उकार बहुला नहीं है। उसी शृंखला का एक छोर मथुरा की छाता तहसील दाखती है। गुजराती भी इसी अकार प्रवृति के अन्तर्गत आती है। सिन्ध उकार प्रवृत्ति से प्रभावित है। ब्रज की इस उकार बहुला प्रवृत्ति का बीज किस परम्परा से संबंधित है और इसका विकास पथ कैसा रहा, यह विचारणीय है।

भरत ने एक 'विभृष्ट' भाषा की सूचना दी है। इसके संबंध में भरत ने कई सूचनाएँ दी हैं। इसमें उकार की बहुलता पाई जाती है[1]! यह आभीरों की भाषा है[2]। यह भाषा हिमवत्, सिन्धु और सौवीर में प्रचलित है[3]। यह संस्कृत और देसी से पृथक् मानी गई है। दण्डी ने भरत की 'आभीरोक्ति' को एक अपभ्रंश माना है[4]। डा० गुने ने अपभ्रंश को प्राकृत का वह भ्रष्ट रूप माना है, जिसे विदेशी (आभीर) बोलते थे[5]। इस प्रकार उकार बहुला प्रवृत्ति का संबंध आभीरों से जोड़ने का प्रयत्न किया है। इस समस्या को यहीं छोड़ते हुए, इस उकार बहुला प्रवृत्ति के विकास और विस्तार पर विचार करना है।

भरत ने इस उकार बहुला भाषा के उदाहरण भी दिये हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं :—

१. मोरुल्लउ नचन्तउ
महाभगे संभत्तउ

---

१. नाट्य शास्त्र, १७/६१
२. वही १७/४६, ५४, ५५
३. हिमवत् सिंध सौवीरान्, ये ऽन्य देशान् समाश्रिताः
उकार बहुलां तेष नित्यं भाषां प्रयोजयेत।
४. काव्यादर्श, १/३६
५. Intro. to Bh. k. Page. 41.60

२. मेहउ हतुँ जेई जोण्हउ
पिच्च णिप्पहे एहु चंदहु ।

इन उदाहरणों में अन्त में और मध्य में भी उकार मिलता है । यह उकार बहुलता एक महत्वपूर्ण ध्वनि संबंधी विशेषता थी जिसने भरत का ध्यान भी आकर्षित किया । पालि में उकार की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । यहां 'ऋ' का परिवर्तन -उ- में हो जाता था ।[१] नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

१. ऋ > उ
ऋतु > उतु
वृक्ष > रुक्ख

प्राकृतों में भी आरम्भिक ऋ, रि अथवा रु व्यंजनों में परिवर्तित हो जाती थी । उदा० वृक्ष > रुक्खो । ऋ > उ के भी उदाहरण मिलते हैं; ऋतु > उदु मृणाल > मुणाल; पृथ्वी > पुहवी; ऋजु > उज्जु । अपभ्रंश में भी होती हुई यह प्रवृत्ति ब्रज की बोली तक आ पहुँची । यहाँ ऋ > उ वाली प्रवृत्ति नहीं पनपी । ऋ > रु वाली प्रवृत्ति दीखती है । वृक्ष > रुखु । प्राकृत में रुक्खो मिलता है संयुक्त व्यंजन को सरल किया गया, अतः पूर्व का स्वर दीर्घ हो गया । अन्त्य "ओ" का ह्रस्व उच्चारण —उ के रूप में रह गया ।[२] ब्रज में ऋतु का रुति मिलता है इस प्रकार ऋ के विकास के रूप में —उ की बहुलता बढ़ी ।

दूसरी शती ईस्वी का लिखित प्राकृत धम्मपद पेशावर के आसपास खोतान के निकट गोश्रृंग अथवा गोशीर्ष बिहार में प्राप्त हुई थी । इस प्राकृत धम्मपद में भी उकार प्रवृत्ति पाई जाती है ।[३] ललित विस्तर की भाषा भी उकार बहुलता से युक्त है ।[४] उदाहरण के लिए प्राकृत धम्मपद का एक पद्य लिया जा सकता है—

उजओ नाम सो मगु अभय नम्र स दिश् ।
रथो अकुयनो नमु धमत्रकेहि महतो ।
हिरि तसु अवरनु स्मति स परिवरन ।
धमहु सरथि ब्रोमि समेदिठिपुरे जवु ।

इस श्लोक में मगु, नमु, अवरमु, धमहु, और पुरेजवु शब्द उकारान्त हैं । पालिका

---

१. यहां ऋ > इ, > अ, > उ मिलता है । भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास पृष्ठ ३९,४०

२. "The change of the vowel r̤ to u is found mostly in nouns of relationships in all regions, but in the east and the centre it also tends to be i.........As in Pali and in Pkts, OI A r̥ is changed to a, i, and u in Ap.

[Dr. G. V. Tagare, Historical Gr. of Ap., p. 40]

३. देखिये, प्राकृत धम्मपद, संपादक, बरुआ और मित्रा, कलकत्ता विश्वविद्यालय (१९२१)

४. ललित विस्तर [सम्पा० डा० एस० लेफमान, हाल, १९०२ ई०] पृ० १६५,१६६ ।

मग्गो ही मगु हुआ है । ब्रजभाषा में भी मगु मिलता है । इस प्रकार प्राकृत में उकार बहुलता का बीज पनपने लगा था । ललित विस्तर का भी एक उदाहरण लिया जा सकता है—

पुरि तुम नरवर सुतु नृपु यदभू,
नरु तव अभिमुख इम गिरम वची ।
दद मम इम महि सनगर निगमां ।
त्यजि तद प्रमुदितु न च मनु क्षुभितो ।

इसमें सुतु, नृपु, नरु, प्रमुदितु उकारान्त हैं । ब्रज की बोली में आज भी ये शब्द उकारान्त हैं ।

प्राकृत वैयाकरणों ने उकार-बहुला विशेषता का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया है । पर प्राकृतों में उकारान्त रूप पनपने लगे थे । पुरुषोत्तम देव ने 'टक्क' विभाषा को संस्कृत और शौरसेनी का मिश्रित रूप मानते हुए, इसे उकार-बहुला माना है ।[1] अश्वघोष के नाटक [लगभग १०० ई०] की भाषा प्रारम्भिक प्राकृत की उदाहरण हैं । इसमें दुष्ट गणिका, विदूषक और गोभव की भाषा में अः > ओ मिलता है । आगे यह स्पष्ट किया जायगा कि ओ का ह्रस्व उच्चारण होते होते भी—उ होगया । निया प्राकृत, सर ओरेल स्टेइन द्वारा उपलब्ध मध्य एशिया के खरोष्ठी लेखों की भाषा है । इसमें अन्त्य अः > उ का वैकल्पिक प्रयोग मिलता है । प्रातः > प्रतु ; मृतः > मुतु ; कुंजरः > कुंजरु । इसमें अकारान्त का उकारान्त भी मिलता है : विराग > विरकु; मधुर > मसुरु । अः > ओ के भी उदाहरण हैं । महाराष्ट्री प्राकृत में अः > उ के उदाहरण मिलते हैं : उदवितः > उअहीउ । शौरसेनी में उकारान्त का ओकारान्त मिलता है । मागधी प्राकृत में प्रथमा एक वच० (-सु) में भूतकालिक कृदन्त -क्त से निर्मित शब्दों में विभक्ति का या तो लोप हो जाता है, या उसके स्थान पर -उ का प्रयोग मिलता है ।[2] हसित > हशिदु (हशिदि) अर्द्धमागधी में प्रथमा एक वच० अहः के लिए गद्य में प्रायः ए तथा पद्य में ओ मिलता है ।[3] पैशाची प्राकृत को वररुचि ने शौरसेनी पर आधारित माना है ।[4] हेमचन्द्र का भी ऐसा ही विचार दीखता है ।[5] इसमें भी अः > ओ मिलता है । इस प्रकार किसी-किसी प्राकृत में उ मिलता है तथा किसी में ओ वाले रूप मिलते हैं । ओ वाले रूप उ वाले हो गये । इस प्रक्रिया का मुनि जिन विजय जी ने उल्लेख किया है ।[6]

अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति प्रमुख हो गई । इस संबंध में मुनिजिनविजय जी का कथन दृष्टव्य है ।[7]

१. संस्कृत शौरसेन्योः [प्राकृतानुशासन १६/१] उद्बहुलम् [वही, १६/२]
२. प्राकृत-प्रकाश, १२/११
३. डा० सरजूप्रसाद अग्रवाल, प्राकृत विमर्श, पृ० ८६
४. प्रकृतिः शौरसेनी, प्रा० प्रकाश, १०/२
५. शेष शौरसेनीवत्, प्रा० व्याकरण, ४/३२३
६. पउम चरिउ—भूमिका प्रथम खंड, पृ० ५६
७. P C, Intro., vol. 1, p. 61 § 55.

"—u (eul.—au) is the only termination in the Noun. and Acc. sing., there being no form in a or-ā. Noun. sing. forms in-○ occur sporadically as prakritisms before the indeclinable vi and under metrical stress."

इसके अतिरिक्त अन्य स्त्रीलिंग रूपों में भी उन्होंने यह प्रवृत्ति मानी है।[१] सन्देश रासक की भाषा पर विचार करते हुए श्री मायाणी ने मध्यग-व-के लोप को परवर्ती अपभ्रंश की एक विशेषता माना है। यह विशेषता ब्रजभाषा की विशेषता बन गई[२]। 'व' के लोप होने पर उ का आगम भी एक विशेषता हो गई। जीव > जीउ। चौदहवीं शती के 'षडावश्यक बालावबोध' में उकार की बहुलता मिलती है।[३] वहाँ पुरु, नगरु, भद्रु, राउ जैसे रूप मिलते हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने वीरगाथा काल के जैन-साहित्य के कुछ उदाहरण दिये हैं। उनमें पूर्वी प्रदेश की बोली में भी उकार प्रवृत्ति मिलती है।[४] बारहवीं शती में काशी के दामोदर पंडित ने 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' ग्रंथ रचा। इसकी भाषा "प्राचीन कोसली" है।"[५] शौरसेनी अपभ्रंश के प्रथमा एक वचन के प्रत्यय-उ का प्रभाव प्राचीन कोसली पर इतना व्यापक जान पड़ता है कि प्रथमा के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में भी उकारान्त पदों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यह समस्त पूर्वी तथा पश्चिमी अपभ्रंशों की विशेषता हो गई।[६] श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर ने इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा था।[७] अतः पुल्लिग संज्ञाओं, विशेषणों तथा कृदन्तों के कर्ता तथा कर्म कारकों के एकवचन रूपों का उकारान्त अथवा ओकारान्त होना शौरसेनी क्षेत्र की मुख्य पहचान थी। उनका इकारान्त तथा एकारान्त होना मागधी भाषाओं की एवं उनका अकारान्त अथवा आकारान्त होना पंजाब प्रांतीय भाषाओं की।' पर इकारान्त, ऐकारान्त वाले प्रदेश में भी वैकल्पिक रूप से ओकारान्त, उकारान्त प्रवृत्ति मिल जाती है, यह देखा जा चुका है। इस प्रकार हेमचन्द्र के बाद 'उक्ति-व्यक्ति' से होती हुई यह प्रवृत्ति अवधी और ब्रजभाषा तक अबाध गति से प्रचलित रही।

---

१. देखिये, वही p. 64, § 69।

२. सन्देश रासक, व्याकरण, § ३३ सी०।

३. उद्धरण देखिये, अगरचन्द नाहटा, आचार्य प्रवर तरुण प्रभसूरि, जर्नल आव दि यू० पी० हिस्टारीकल सोसायटी, वर्ष २२–खण्ड १-२ (१९४९)

४. वीरगाथा काल का जैन साहित्य, ना० प्र० पत्रिका वर्ष ४६, अंक ३, १९९८ वि०

५. डा० चटर्जी, उक्ति व्यक्ति प्रकरण, स्टडी, पृ०.२

६. O I A-अ > अप०-उ. It is the Characteristic of this period that-u of noun sing. is applied to indeclinables also, in all the regional Aps. [G. V. Tagare Historical Gr. of Ap. पृ० 51.]

७. कोशोत्सव स्मारक ग्रंथ, ना० प्र० स० (सं० १९८५) पृ० ३७५, साहित्यिक ब्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री' लेख।

विसर्ग > उ—

पालि में अकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का— ओ हो जाता है।[1] जैसे देवः > देवो; कः > को। मार्गः > मग्गो; मूकः > मूगो। प्राकृतों में भी यही विसर्ग > ओ की प्रणाली चलती रही[2]: यशः > जसो; क्षुद्रः > खुद्दो; त्यागः > त्याजो; न्यायः > नायो; स्पन्दः > फन्दो। 'निया प्राकृत' में अः > उ का वैकल्पिक प्रयोग भी मिलता है: प्रातुः > प्रतु; मृतः > मुतु; कुंजरः > कुंजरु। पर साधारणतः इसमें अः > ओ ही मिलता है। महाराष्ट्री प्राकृत में भी कुछ उदाहरण अः > उ के मिल जाते हैं। उदधितः > उअहोउ। किन्तु अपभ्रंश में आकर उकार की धारा प्रबल हुई। ओ के स्थान पर— उ आने लगा। शंकरः > शंकरु; भयंकरः > भयंकरु; तडागः > तलाउ[3] ब्रज की बोली में अपभ्रंश की यही प्रवृत्ति दीखती है। नीचे तुलनात्मक सारिणी से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

सं०	पा० प्रा०	अप०	ब्रज०
मार्गः	मग्गो	—	मगु
मूकः	मूगो	—	मूकु
शंकरः	—	शंकरु	संकरु
तडागः	—	तलाउ	तलाउ (तलावु)

पालि और प्राकृत का ओ ह्रस्व होता होता 'उ' के रूप में रह गया हो यह हो सकता है।[4] यह प्रवृत्ति 'पउम चरिय' में दीखती है। इस प्रकार विसर्ग > उ की प्रवृत्ति का तारतम्य बैठ जाता है।

मध्यग-व-का लोप और-उ-का आगम—

श्री भायाणी ने मध्यग—व—के लोप को परवर्ती अपभ्रंश की एक विशेषता मानी है। उन्होंने इसे ब्रजभाषा की एक विशेषता माना है।[5] इसके स्थान पर 'उ' आ जाता है।

---

१. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ४५

२. अश्वघोष के नाटक की भाषा प्रारम्भिक प्राकृत है (लगभग १०० ई०) इसमें गणिका और विदूषक की भाषा शौरसेनी है। इसमें अः का ओ मिलता है। गोभय की भाषा अर्द्ध मागधी का प्राचीन रूप माना जाता है। इसमें भी अः > ओ मिलता है। अर्द्धमागधी में गद्य में अः > ए मिलता है तथा पद्य में —ओ मिलता है। (डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, प्राकृत विमर्श, पृ० ८६) पैशाची में भी अः > ओ रूप मिलता है। मेघ > मेखो; केशवः > केसयो।

३. सावय धम्म दोहा, १७०

४. "In the constituted text the Genitive and Vocative forms have been spelt with short 'o'. The Imperative forms are spelt with —u also when none of the Mss has o.

[जिनविजया मुनि Pc, T, Intro. p. 56]

५. सन्देशरासक, व्याकरण § ३३ सी०

जीउ = जीव
संताउ = संतावु
पीउ = पीव

ब्रज की बोली में यह प्रवृत्ति ज्यों की त्यों मिलती है। जीउ, पीउ जैसे शब्द आज भी इस बोली में प्रयुक्त होते हैं। नीचे ब्रज की बोली से कुछ उदाहरण संचित किये गये हैं—

जीउ = जीव
राउ = राव
गाँउ = गाँव

प्राकृतों में भी—व का लोप तो होता था,[1] पर वहाँ—उ का आगम नहीं था। उनमें अ आजाता है : जीव > जीअ; दिवस > दिअहो। पर अपभ्रंश में प्राय: समस्त अकारान्त संज्ञाओं को उकारान्त कर दिया गया। अत:—व—के लोप होने पर—उ—का आना स्वाभाविक था।

अ > उ—

स्वर व्यत्यय का उदाहरण प्राकृतों में मिलता है। इनमें एक अ > उ भी है। प्रलोकयति > प्रलोएदि; सर्वज्ञ < सव्वण्णु। यह स्वर व्यत्यय महाराष्ट्री और अर्द्ध मागधीमें विशेष रूप से मिलता है।[2] पर प्राकृत में अकारान्त शब्द ओकारान्त बहुधा होते हैं—

दर्भ > डब्भो
व्यतिक्रम > वितिक्कमो
मुग्ध > मुद्धो
खड्ग > खग्गो
मुक्त > मुत्तो

'निया प्राकृत' में अकारान्त का उकारान्त भी मिलता है। विराग > विरकु; मधुर > मधुरु। शौरसेनी में अकारान्त का ओकारान्त रूप ही मिलता है : व्यापृत > वावुडो; पुत्र > प्रडुडो। मागधी प्राकृत की एक विभाषा चांडाली[3] में प्रथमा, एकवचन अकारान्त शब्दों में—ए और—ओ दोनों प्रयोग मिलते हैं।[4] इस प्रकार प्राकृतों में ओ तथा उ दोनों रूप ही मिलते हैं। पर शौरसेनी में अ > ओ ही प्रमुख है।

अपभ्रंश में अकारान्त को प्राय: नियमित रूप से उकारान्त कर दिया जाता था।

कमल > कवँलु
भ्रमर > भवँरु

१. क-ग-च-ज-त-द-प-य-वा प्रायो लोप:, प्राकृत प्रकाश, २/२
२. डा० सरजू प्रसाद अग्रवाल, प्राकृत विमर्श, पृ० ६६.
३. प्राकृतानुशासन, १४/१
४. वही, १४/२

इसी प्रवृत्ति के दर्शन ब्रज की बोली में होते हैं। कमलु, भमरु, आदि रूप वहाँ ज्यों के त्यों मिलते हैं। यहाँ भी ब्रज की बोली अपभ्रंश की अनुगामिनी दीखती है।

अकारान्त शब्दों को उकारान्त करने की प्रवृत्ति ब्रज में बहुत व्याप्त हो गई है। अकारान्त पुल्लिंग एक वचन संज्ञाओं को तो उकारान्त कर ही दिया जाता है, पर अकारान्त विशेषण जो अकारान्त पु० एक वच० संज्ञाओं के साथ लगते हैं, उनको भी उकारान्त कर दिया जाता है: लालु, एकु, आदि। विशेषण के साथ तो यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि बहुवचन अकारान्त संज्ञा के अकारान्त बने रहने पर भी विशेषण उकारान्त हो सकता है—

जैसे—

सबु लोग गये।
भौतु बातन में कहा धरयौऐ।

इस प्रकार उकारान्त एकवचन संज्ञा को उकारान्त करने की प्रवृत्ति का तारतम्य प्राकृत, अपभ्रंश और ब्रज की बोली में मिल जाता है। इस तारतम्य को नीचे की तुलनात्मक सारिणी से समझा जा सकता है—

संस्कृत	प्रा०	अप०	ब्रज की बोली
अद्य	अज्ज	अज्जु	आजु
कृपणः		क्रिपणु	किरपनु
तत्वम्		तच्चु	तत्तु
तड़ागः		तलाउ	तलाउ (तलाबु)
प्रिय		पिउ	पिउ
राजन		राउ	राउ
रावणः		रामणु	रामनु
वायु		वाउँ	बाउ (बाइ)

किन्तु कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो प्राकृत या अपभ्रंश में उकारान्त मिलते हैं। संस्कृत का 'बाहु' ब्रज की बोली में 'बाँह' मिलता है। नीचे की सूची से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

सं०	अप०	ब्र० बोली
वस्तु	बत्थु	बत्त
बन्धु	बंधु	बन्द
अभ्यन्तरम्	भीतरु	भीतर
बधू	बहु	बहू
ऋतु	रिउ	रुति
नवनीत	लोणिड	लौनी

जहाँ तक बाहु > बाँह का संबंध है, बाहु संस्कृत में न० लिंग है किन्तु बाँह ब्रज की बोली में स्त्रीलिंग हो जाती है। यह पहले देखा जा चुका है कि स्त्रीलिंग अकारान्त ब्रज

की बोली में उकारान्त नहीं होता 'वस्तु' के तद्भव रूप का ब्रज की बोली में कभी प्रयोग नहीं होता। केवल जेवरों के संबंध में बातचीत करते हुए 'चीज-बत्त' या 'चीज-बस्त' का प्रयोग होता है। यह भी स्त्रीलिंग में है। 'बन्द' शब्द ब्रज में एक वचन में प्रयोग नहीं होता। 'भाई-बन्द' बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है। बहुवचन अकारान्त को उकारान्त नहीं किया जाता। 'भीतर' स्थानवाचक है। स्थानवाचक को ब्रज में उकारान्त नहीं किया जाता : भीतर, बाहर, ऊपर। बधू संस्कृत में अकारान्त है। अतः ब्रज में बहू हो गया। अपभ्रंश से प्रभावित बहु रूप नहीं मिलता। रुति में स्वर-विपर्यय है। नवनीत का लौनी इस प्रकार बना दीखता है—

नवनीत > लौनीअ > लौनी

नवनीत का लोणिउ होने में यह प्रक्रिया हो सकती है : 'व' का लोप होकर—उ का आगम हुआ। स्वरों को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति के द्वारा 'नी' का 'णि' हुआ और अकारान्त को उकारान्त कर दिया गया और—'उ' आ गया।

ऐसे बहुत कम उदाहरण है जिनमें अपभ्रंश का उकारान्त ब्रज की बोली में उकारान्त न हो। पर ऐसे बहुत उदाहरण हैं जिनमें प्राकृत में अकारान्त ही रूप मिलता है, पर ब्रज में वे उकारान्त मिलते हैं—

सं०	प्रा०	ब्र०
सर्व	सब्ब	सबु
ग्राम	गाम	गामु
गृह	घर	घरु

अकारान्त को उकारान्त करने की प्रवृत्ति ब्रज में इतनी प्रबल है कि केवल संस्कृत तद्भवों में ही यह नहीं मिलती, अपितु विदेशी शब्दों का तद्भव रूप भी उकारान्त करके ही बनता है। नीचे की कुछ सारिणियाँ इस बात को स्पष्ट कर देंगी।

फ़ारसी शब्द—

ज़ोर	...	जोरु
दरबार	...	दरबारु
निशान	...	निसानु
अदरक	...	अदरखु
होश	...	होसु
गरम	...	गरमु
जवाब	...	ज्वाबु

अरबी शब्द

मालूम	...	मालिमु
लायक	...	लाइकु
हाल	...	हालु
हकीम	...	हकीमु
असबाब	...	असबाबु

अंग्रेजी शब्द--

Boycott	...	बाईकाटु
Summon	...	सम्मनु
Collector	...	कलट्टरु
Joint (Collecter)	...	जंडु
Inspector	...	सपट्टरु
Station	...	अट्टेसुनु

इस उकार बहुला प्रवृत्ति की दृष्टि से ब्रज की बोली सिन्धी भाषा से बहुत मिलती जुलती है :--

सं०	ब्रज	सिंधी
ओष्ठ	होटु[1]	—
काष्ठ	काठु	काठु
कोश	कोसु	कोसु
क्षण	खनु	खिण
ग्राम	गामु (गाँउं)	गामु
वर	वरु	वरु
चोर	चोरु	चोरु
मेघ	मेहु	मेहु
जाल	जारु	जारु

इस सूची में केवल क्षण > खिण (सिं०) ब्रज से नहीं मिलता। अन्य सभी रूप दोनों में उकारान्त मिलते हैं।

इतना याद रखना चाहिये कि प्रथमा, द्वितीया एक वचन पुल्लिग में भी अकारान्त का उकारान्त मिलता है। किन्तु विकृत बहुवचन रूप बनाने में अन्[2] जोड़ दिया जाता है। पर मथुरा जिले के अधिकांश भाग में—अनु जोड़ा जाता है। —अन् जोड़ने की प्रवृत्ति अन्नें में परिवर्तित हो गई है--आमनु, आमन्नें। खड़ी बोली के ओं (आमों) का संबंध संस्कृत षष्ठी बहुवचन—'आनां' से माना गया है।[3] पालि में पु० अका० ष० बहुवचन में आनं मिलता है एक० बुद्धस्स; बहु० बुद्धानं। अत्त का एक० वचन ष० अत्तनो; बहुवचन अत्तानं; राज < राजन् का ष० एक० रज्जो, रज्जस्स, राजिनो, राजस्स रूप मिलते हैं। इस का बहुवचन रूप राजानं मिलता है। गुणवन्तु का भी ष० बहु० वचन गुणवन्तानं मिलता है।

---

१. गुजराती में होट मिलता है।

२. डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस संबंध में लिखा है: "आधुनिक ब्रज में संपूर्ण क्षेत्र में व्यंजनान्त संज्ञाओं में 'अन्' जोड़ कर विकृत रूप बहुवचन बनाया जाता है। आम से आमन्; ईंट से ईंटन्; केवल अलीगढ़, ऐटा तथा बदायूं में अनु जोड़ा जाता है," ब्रजभाषा, पृष्ट ५८।

३. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ट २५८।

प्राकृत में भी पुल्लिग अकारान्त षष्ठी के रूप — आनं से युक्त मिलते हैं—

एक०	बहु०
वच्छस्स	बच्छाण, वच्छाणं

राजन् शब्द में भी षष्ठी बहु० (आम्) के लिए — णं का प्रयोग होता है।[1] जैसे राजाम् > राआणं।

किन्तु अपभ्रंश में षष्ठी बहु० (आम्) में अकारान्त शब्दों के लिए—हुँ रूप का प्रयोग होता है।[2] तृणानां > तणहँ। देव > देवहँ।

ब्रजभाषा में अपभ्रंश वाला रूप प्रचलित नहीं हुआ। आनं या आणं रूप अन या अनु के रूप में मिलते हैं। अकारान्त का उकारान्त ब्रज में हो जाता है और अपभ्रंश में भी। जैसे सं० कथितं > अप० दधिदु > ब्र० कहिउ।

इस अनु की बहुवचन बनाने की शक्ति इतनी लोकप्रिय है कि ब्रज में बहुवचन बनाने के लिए इकारान्त, उकारान्त, आदि सभी स्त्री० तथा पु० शब्दों को अनु लगाकर बहुवचन बनाया जाता है—

	एक०	बहु०
पुल्लिग—	पौधा	पौधानु, पौअनु
	बन्दरु	बन्दरनु
	गांठि	गांठिनु
स्त्रीलिंग—	बहू	बहूनु
	दाई	दाईनु
	गऊ	गऊनु
	गाइ	गाइनु

इनमें से अधिकांश में केवल —नु ही रह गया है। अ समाप्त हो गया है। स्त्रीलिंग शब्दों के षष्ठी बहुवचन शब्दों का ब्रजभाषा के स्त्री० शब्दों की तुलना करिये।

	प्रा.	ब्र.
नदी (णई)	णईणं, णईण	नदीनु
माला	मालाणं, मालाण	मालानु
बधू	बहूणं, बहूण	बहूनु

इस प्रकार इस प्रवृत्ति में ब्रज की बोली प्राकृत के अधिक समीप है।

कर्ता एक वचन—

प्रथम द्वितीया एक० (सि, अम्) की विभक्तियों के पूर्व शब्द के अन्त्य अ > उ रूप मिलता है।[3] इसको डा० तगरे ने सभी प्रादेशिक अपभ्रंशों की विशेषता माना है।[4] प्रथमा

१. आमोणं — प्राकृत-प्रकाश, पृष्ठ ५/८०

२. हेमचन्द्र, प्रा० व्या० ४/३३९

३. हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण, ४/३३१।

४. O I A – a > u It is the Characteristic of this period that-u of Nomn. sing is applied to in declinables also, in all the regional Aps: [Historical Gr. of Ap., P. 51.]

एक वचन के कुछ उदाहरण अपभ्रंश से दिये जा सकते हैं—

दशमुखः > दहमुहु

भयंकरः > भयंकरु

शंकरः > संकरु

द्वितीया एकवचन के उदाहरण—

चतुर्मुख > चउमुहु

षण्मुखं > छमुहुं

नपुंसक लिंग में भी – उ स्वर हो जाता है—

मुखकमलं > मुंहकमलु[1]

न० लिंग के आकारान्त रूपों के प्रथमा और द्वितीया एक० (सु, अम्) में उ का प्रयोग मिलता है[2]—

तुच्छकं > तुच्छउं

'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' की भाषा को डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने 'प्राचीन कोसली' माना है।[3] शौरसेनी अपभ्रंश के प्रथमा एकवचन के प्रत्यय – उ का प्रभाव इस भाषा पर बहुत है। यहाँ तक कि प्रथमा के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में भी उकारान्त पदों का प्रयोग हुआ है। हेमचन्द्र के बाद 'उक्ति—व्यक्ति' में होती हुई यह प्रवृत्ति अवधी[4] और ब्रज भाषा[5] तक अबाध गति से प्रचलित रही। खड़ी बोली में इस प्रवृत्ति का लोप हो गया। यह भी हो सकता है कि खड़ी बोली से संबंधित अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति आरम्भ से ही न रही हो। वर्ण रत्नाकर में इस प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। कीर्तिलता में इसके प्रयोग कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य में हो हैं।[6] सूरसागर में यह प्रवृत्ति नियमित नहीं मिलती। पर ब्रज की प्रचलित बोली में यह स्पष्ट दीखती है। इसमें छप्परु, घरु, बरु, आदि शब्द हैं जिनमें यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस स्थान पर कोई अपवाद नहीं मिलता।

प्रथमा बहुवचन में अकारान्त को उकारान्त ब्रज में नहीं किया जाता। बहुवचन और एकवचन के प्रथमा रूपों में यही मुख्य अन्तर है।

वर्तमान कालिक कृदन्त

प्राकृतों में वर्तमान कालिक कृदंत शतृ और शानच् के लिए—न्त और—माण प्रत्यय जुड़ते हैं।[7]

---

१. प्राकृत व्याकरण, ४/३३२/छंद—२

२. वही ४/३५३

३. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, स्टडी, पृष्ट २

४. उपजा हिय अति हरषु विसेखा (मानस)

५. स्यामु हरित दुति होवु (विहारी)

६. तबहु पिआजु पिआजु पइ
जसु पत्थावे पुण्डु।

७. न्त-माणौ-शत-शानचोः, प्राकृत प्रकाश. ७/१०

पठत्, पठमान् > पठन्तो पठमाणो
हसत्, हसमान् > हसन्तो, हसमाणो

अपभ्रंश में—अन्त तथा-माण अन्तवाले वर्तमान कालिक कृदन्त मिलते हैं।[1] पश्चिमी अपभ्रंशों में—अन्तु रूप भी मिलता है। डा० तगरे ने इसका कालक्रम इस प्रकार निर्धारित किया है[2]—

५०० ई० ?—भभन्त

६००—१००० ई०—जणन्तु, बसन्तु, मुणन्तु, महन्तु, लहन्तो। यह उकारान्त रूप ब्रज की बोली में इसी वर्तमान—कालिक कृदन्त में मिलता है। पर इन्हीं शब्दों को यदि ब्रज की बोली में लिखा जाय तो इस प्रकार लिखा जायगा—

अप०	ब्रज
भभन्तु	भभतु
जणन्तु	जान्तु
बसन्तु	बसतु
महंतु	महँतु
लहन्तो	लहँतु (लेंतु)

अन्तु वाले रूप केवल प्रथमा एक वचन में मिलते हैं। प्रथमा बहुवचन में—अन्त वाले ही रूप मिलते हैं—भभत, जान्त आदि। ब्रजभाषा मे वर्तमान कालिक कृदन्त को उकारान्त कर दिया जाता है।[3] जैसे जाँतु, चल्तु, आँमतु। यदि आरंभिक ध्वनि दीर्घ स्वर से संयुक्त होती है तो उसका नासिक्यीकरण कर दिया जाता है—आँमतु, जाँतु, खाँतु, गाँमतु। मथुरा जिले के कुछ भागों में, नासिक्यीकरण नहीं मिलता: आवतु, जातु, खावतु, रोवतु आदि। मथुरा के जिन भागों में नासिक्यीकरण मिलता है, उन भागों में भी चमारों की बोली में नासिक्यीकरण नहीं मिलता। चमारों की बोली में चल, गल्, मिल् आदि से बने हुए रूपों ल्तु न मिलकर न्तु मिलता है।

	अन्य	चमार
मिल्	मिल्तु	मिन्तु
चल्	चल्तु	चन्तु
गल्	गतु	गन्तु

'न्तु' वाली प्रवृत्ति साम्य के आधार से आई हो सकती है। इसका अपभ्रंश से बहुत कुछ साम्य है।

---

१. डा. तगरे, Historical Gr. of Ap. पृ० ३१४.

२. वही।

३. 'पश्चिम में साधारणतया—तु......प्रत्यय जोड़ते हैं—' डा० धीरेन्द्र वर्मा, 'ब्रज-भाषा,' पृ० ६६।

आज्ञार्थ

प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार कुछ विशेष रूप अपभ्रंश में मिलते हैं, जो प्राकृतों में नहीं मिलते थे।

प्र० पु० बहु० वच०—हुं (huṁ)[1]
द्वि० पु० एक० वच०-इ,-उ,-ए-ह।[2]
तृ० पु० एक वच०—ऊ[3]

शेष रूप प्राकृतों के समान ही थे। प्राकृतों में आज्ञार्थ के लिए निम्नलिखित रूप थे।[4]

एक वचन

प्र० पु० आमु (amu)
द्वि० पु० शून्य (या—अ)-(अ,-ए-) सु,-एहि, Amg also आहि
तृ० पु० अउ, शौ० मा० ढ० अदु

बहु वचन

प्र० पु० अर्ध० जै-म० आमो; महा०, शौ०, माग०, ढ० तथा जै० म० भी-(a-, e-) म्ह
द्वि० पु०—अह, शौ० मा० (ढ)-अथ,-एध, C-P-अथ
तृ० पु०-अन्तु

अपभ्रंशों में इसके अनेक रूप मिलते हैं। पर इन अनेक रूपों में से भी नीचे लिखे छः रूप अधिक प्रयुक्त होते हैं :—

द्वि० पु० एक वच० : शून्य (या-अ)-अह,-अहु
तृ० पु० एक वच० : --(अ) उ, तृ० प्र० बहु० :—(a) न्तु
द्वि० पु० बहु० वच : –(अ) हु।

प्रथम पुरुष के रूप प्रायः नहीं मिलते हैं; जो मिलते हैं वे अपवाद स्वरूप और प्राकृत के अनुकरण पर हैं। अपभ्रंश के ये रूप—उ की ओर ही विकसित होते दीखते हैं। यह बात अहु, न्तु, हु से स्पष्ट है।

ब्रजभाषा

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्राचीन ब्रज के मध्यम पुरुष वर्तमान आज्ञार्थ बनाने वाले निम्नलिखित प्रत्ययों का उल्लेख किया है ?

एक वचन	बहु वचन
–अ,–उ,–इ–हि	–अहु,–औ,–ओ
	–हु–उ

१. क्रमदीश्वर का संक्षिप्त व्याकरण, ६६
२. हेमचन्द्र ४, ३८७, क्रमदीश्वर, ६४
३. क्रमदीश्वर ६५
४. Pischel, Grammatik, § 467

इनमें से एकवचन का अन्तिम प्रत्यय—हिं दीर्घ स्वरान्त धातुओं के बाद आता है—जाहिं, खाहिं, आदि। बहुवचन के प्रत्ययों में अन्तिम दो भी दीर्घ स्वरान्त धातुओं के बाद आते हैं : लेहु, जाउ, आउ, खाउ।

मध्यम पुरुष एक वचन में शून्य (अ) प्राकृत में भी था और अपभ्रंश में भी यह पहले देखा जा चुका है। वही—अ ब्रजभाषा में भी डा० धीरेन्द्र वर्मा ने माना है[1]। यह—अ वाला रूप मथुरा की छाता तहसील में आज भी बोलचाल में है। पर अन्य स्थान पर अ वाला रूप नहीं मिलता वहां—इ वाला रूप मिलता है। चलि, टरि, करि आदि। यहाँ हमारा संबंध—इ वाले रूप से नहीं है।—उ वाला रूप प्रा० और अप० में प्रचलित था। प्राचीन ब्रज में भी था। पर आजकल मथुरा जिले की ब्रज की बोली में केवल दीर्घ स्वरान्त धातुओं में—उ जुड़ा हुआ मिलता है : तू जाउ, तू आउ, खाउ। पर नवीन पीढ़ी के ब्रजभाषा भाषी अब इस—उ को भी छोड़ रहे हैं। केवल जा, खा, आ, धातु रूप ही बोले जाते हैं। इस प्रकार मथुरा जिले की आधुनिक ब्रज की बोली में से—उ वाले मध्यम पुरुष एक० वच०, आज्ञार्थ के रूप समाप्त होते जा रहे हैं।

मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप प्राकृतों में—अ से युक्त थे। अपभ्रंश में मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप—उ से युक्त हो गया। यह पीछे दी हुई सारिणी से स्पष्ट है। प्राचीन ब्रज भाषा में भी—अहु, और—उ वाले रूप थे। पर मथुरा जिले की आधुनिक बोली में य—अहु और—उ वाले रूपों का अभाव हो गया। केवल—औ वाले रूप शेष रह गये हैं: चलौ, आओ, गाऔ आदि। पर दीर्घ स्वरान्त धातुओं में—उ लगाने की प्रवृत्ति आज भी प्रचलित है।

तुम लेउ
तुम देउ

किन्तु यदि—आकारान्त धातु होती है तो—औ ही लगाया जाता है।

उत्तम पुरुष आज्ञार्थ के रूप अपभ्रंश में ही लुप्त हो गये थे।[2] ब्रज में भी नहीं मिलते। अन्य पुरुष के प्रा० और अपभ्रंश रूप —उ से युक्त थे। मथुरा जिले की बोली में अन्य पुरुष के निम्नलिखित आज्ञार्थ रूप प्रचलित हैं—

एक वचन

१.	ह्वाते	कहियेउ कि बु	चलै	(ह्रस्वस्वरान्त धातु)
२.	,,	,,	जाइ	(दीर्घ स्वरान्त धातु)
३.	,,	,,	आवैं	,,
४.	,,	,,	खावैं	,,
५.	,,	,,	न्हावैं	,,
६.	,,	,,	ले (इ)	,,
७.	,,	,,	दे (इ)	,,

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजभाषा पृ० ६८
२. As expected there are no forms of IP. sing. and plur. (Dr. Tagare, Historical Gr. of Ap, पृ० २६७]

बहु वचन

इसमें चलैं, जाइँ, आमैं, खामें, न्हामैं, लें, दें रूप हो जाते हैं। इस प्रकार—उ वाले रूप यहाँ से भी लुप्त हो गये।

ऊपर केवल मुख्य रूपों के विकास-इतिहास पर दृष्टि डाली गई है। वैसे अन्य रूपों में भी उकार की प्रवृत्ति मिलती है जैसे वर्तमान निश्चयार्थ में सहायक क्रिया तथा मूल क्रिया का मध्यम तथा प्रथम पुरुष, एकवचन हतुऐ रूप मिलता है।[1] वर्तमान सम्भावनार्थ में एक वचन 'होउ' मिलता है। आप प्राचीन ब्रज में परिमाणवाचक उकारान्त क्रिया विशेषण कछु था।[2] समुच्चय बोधक क्रिया विशेषण और का ब्रज में ओरु मिलता है। किन्तु ये अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

१. धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजभाषा, पृ० १०५

२. वही, पृ० १०८

श्री सत्येन्द्रनाथ शर्मा

असमिया कथा-काव्यों का संक्षिप्त सर्वेक्षण

अन्य भारतीय साहित्यों की भाँति प्राचीन असमिया साहित्य भी धार्मिक प्रेरणा की उपज है। धार्मिक पौराणिक कथायें, विशेष रूप से वैष्णव कथायें जो पुराणों और महाकाव्यों में मिलती हैं, ही इन कवियों के लिये काव्य-सामग्री का मुख्य उद्गम रहीं। असमिया कथाकाव्यों का इतिहास १४वीं शती से आरम्भ होता है। इस समय में अनेक काव्यों की रचना हुई। यह नहीं ज्ञात होता और न सम्भवतः पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में यह जाना ही जा सकता है कि इन अनेक काव्यों में से बिल्कुल आरम्भिक काव्य कौन सा है। हेम सरस्वती का 'प्रह्लाद चरित्र,' कविरत्न सरस्वती का जयद्रथ-बध, हरिहर विप्र का लवकुशर-युद्ध, बभ्रुबाहनर-युद्ध, रुद्रकण्दली का सात्यकि-प्रवेश तथा सबसे ऊपर माधवकंदली की रामायण विद्वानों द्वारा १४वीं शती की रचनाएँ मानी जाती हैं। प्रथम तीन कवियों,हेम सरस्वती, हरिहर विप्र, तथा कविरत्न सरस्वती ने राजा दुर्लभनारायण का उल्लेख किया है। ऐतिहासिक विद्वानों के अनुसार इसने कमतापुर पर १४वीं शती के मध्य के लगभग राज्य किया है। इस राजा के संरक्षण में रचित हरिहरविप्र के लवकुशर-युद्ध तथा बभ्रुबाहनर-युद्ध दो उल्लेखनीय काव्य-ग्रंथ हैं। काव्य की बाह्य रूपरेखा पर जैमिनी के अश्वमेध का प्रभाव है। पर, कथा का विकास हरिहर विप्र ने अपने मौलिक ढंग से किया है। इसमें काव्यात्मक वर्णन, हास्यात्मक चुटकियाँ, स्थानीय रंग, तथा घरेलू लोकोक्तियों का प्रयोग मिलता है। मध्य कालीन आसाम की सामाजिक रीतियाँ तथा प्रथाएँ इसमें स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित हैं। उक्त राजा के संरक्षण में रहते हुए अन्य कवियों की रचनाएँ ऐसी नहीं हैं जिन पर विचार किया जाय।

पर इस युग का सर्वश्रेष्ठ कवि माधव कंदली है। इन्होंने समस्त वाल्मीकि-रामायण का आसामी रूपांतर प्रस्तुत किया। मध्य आसाम के बराही-कछारी राजा श्री माणिक्य की इच्छानुसार इन्होंने यह ग्रंथ रचा। विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में वाल्मीकि के महाकाव्य के अनेक रूपान्तर प्रस्तुत हुए हैं। माधवकंदली का अनुवाद प्राचीन अनुवादों में से एक है। जहाँ तक कथा का संबंध है इसमें वाल्मीकीय कथा का अनुसरण किया गया है। स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार कवि ने कुछ स्थानों को संक्षिप्त और कुछ स्थलों को विस्तृत कर

दिया है। वाल्मीकीय रूप में कवि ने जो परिवर्तन किये हैं, उनके लिये कवि क्षमा-याचना भी करता है। उसके शब्द देखिये—

'समस्त रसक कोने जानिवाक पारे।
पक्षी सब डरइ येन पखा अनुसारे।।
कवि सब निबन्धय लोक-व्यवहारे।
कतो निज कतो लम्भा कथा अनुसारे।।
देववाणी नुट्टि इठो लौकिक से कथा।
एते के इहार दोष नलैका सर्व्वथा।।

[कौन समस्त रसों का पार पा सकता है? पक्षी अपने पंखों की क्षमता के अनुसार उड़ान भरते हैं। कवि अपनी रचनाओं को लोक-व्यवहार के अनुसार रचते हैं। कभी नवीन-कथासूत्रों को मूल-कथा के साथ तथ्यों और घटनाओं के स्वभाव के अनुसार जोड़ दिया जाता है। ये सूत्र लौकिक हैं; स्वर्गीय भाषा में प्रकट नहीं हुये। अतः इस प्रकार के परिवर्तनों के लिये कवि दोषी नहीं ठहराया जा सकता]

इस प्रकार परिवर्तनों के लिए तर्क प्रस्तुत करने के अनन्तर कवि लोक-रुचि के अनुकूल वर्णनों में परिवर्तन करने की स्वतंत्रता का उपयोग करता है। वह एक सशक्त कथा-करने वाला था। वह पाठकों की जिज्ञासा को तीव्र रूप में रखने की कला को जानता था। वह मानवीय भावों और मानसिक प्रक्रियाओं के क्रम को जानता था। वह प्रकृति का भी अच्छा चित्रकार था। उसने प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रात्मक वर्णन प्रस्तुत किये हैं; नगरों, स्थानों, तथा मानवीय सौन्दर्य के सुन्दर चित्र इनकी रचना में मिलते हैं। उक्त वर्णनों को प्रस्तुत करने में कवि की दृष्टि आसामी जीवन और पद्धति, पौधे और पक्षिओं पर सदैव रही है।

माधव कंदली का परवर्ती कवियों पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कथा-काव्य के क्षेत्र में माधव कंदली की शैली और उसके वर्णन परवर्ती कवियों के लिए आदर्श बन गये। वर्ण, कहावतें, घरेलू लोकोक्तियाँ तथा कल्पना चित्र आदि ने परवर्ती कवियों को बहुत दूरी तक प्रभावित किया।

पंद्रहवीं शती में कोई उल्लेखनीय साहित्यिक कृति नहीं दीखती। इस शताब्दी के अन्तिम भाग में अथवा आगे की शताब्दी के आरंभिक दशकों में कथा-काव्य की एक नवीन शैली का जन्म हुआ: पांचाली (सं० पांचालिका) अथवा लेचारी (सं० रथ्याकर)। इस प्रकार की रचनाएँ 'ओजा पाली' नामक अभिनय के लिये की गईं थीं। इस प्रकार के अभिनय आज भी खुले रंगमंच पर खेले जाते हैं: ओजा इसका नेता होता है। दुर्गाबर, मनकर, पीताम्बर, तथा सुकवि नारायण देव इस समय के प्रमुख कवि हैं जिन्होंने उक्त संगीत अभिनयों के लिये रचानाएँ बनाईं। सुकवि नारायण का पद्म पुराण, मनकर का मनसा-काव्य, तथा दुर्गाबर का बेउला-उपाख्यान कुछ उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इनमें सर्पदेव मनसा तथा बेउला (बेहुला, बेफुला) के कार्य और कथा का वर्णन वर्णनात्मक शैली में है। बीच-बीच में गीतों का भी समावेश मिलता है। बेउला सावित्री

के समान अपने मृत पति को काल के मुँह से निकाल कर लाई थी। कथा की घटनाओं और परिस्थितियों को चित्रित करने वाले वर्णनात्मक पद्य पूर्ण और सरल हैं। बीच बीच में जो गीत हैं उनमें विभिन्न परिस्थितियों के प्रति मानव की समस्त भाव-दशाओं का चित्रण मिलता है। दुर्गाबर की गिरि-रामायण, तथा पीतांबर का उषा-परिणय भी इसी शैली के काव्य हैं।

सोलहवीं शती के वैष्णव-कवियों ने कथात्मक काव्य को और भी अधिक विस्तृत और समृद्ध किया। आगे समय में भी यह विकास-क्रम चलता रहा। शंकरदेव के द्वारा परिचालित नव-वैष्णव आन्दोलन के फलस्वरूप सांस्कृतिक और साहित्यिक नव जागरण आया। इस आन्दोलन ने आसामी साहित्य को नवीन रूप और आकार दिया। वैष्णवों का आचार-दर्शन और आदर्श इस युग के कवियों के दृष्टिकोण को प्रभावित करने लगे। सांसारिक जीवन-तत्वों पर धार्मिक-तत्वों का अनुशासन होने लगा। इस युग में सम्पूर्ण महाभारत, रामायण, भागवत पुराण तथा अन्य वैष्णव पुराणों का अध्यायों के अनुसार अनुवाद तो हुआ ही, इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक स्वतंत्र काव्यों की रचना हुई जिनकी रूप-रेखा पौराणिक कथा-सूत्रों के अनुसार खड़ी हुई थी।

सोलहवीं शती और उसके बाद के कथात्मक काव्यों में विषय-वस्तु दो प्रकार की दीखती है: अपहरण और युद्धों के वर्णनों से युक्त रोमांटिक प्रेम तथा ऐसे वीरता-पूर्ण कार्य जिनसे सद्वृत्तियों की असद्वृत्तियों पर विजय प्रकट होती है। शंकरदेव का रुक्मिणोहरण-काव्य, अनन्त कंदली का कुमार हरण-काव्य तथा रामसरस्वती का बघासुर बध, कुलाछल बध, खटासुर बध, आदि दूसरे प्रकार की विषय वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हैं। रुक्मिणोहरण में कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के अपहरण की कथा है यद्यपि उसके भाई रुक्म ने शिशुपाल के साथ रुक्मिणी के विवाह की बात पक्की कर दी थी। इस कथा का ढाँचा हरिवंश से लिया गया है। किन्तु दृश्य, परिस्थिति तथा पात्रों का चित्रण आसामी कवि ने अपने ढंग से किया है। अनंत कंदली के 'कुमारहरण' में उषा-अनिरुद्ध के प्रेम का चित्रण मिलता है। इसके परिणामस्वरूप अन्त में उषा के पिता बाणासुर, और अनिरुद्ध के बाबा कृष्ण का युद्ध होता है। आन्तरिक्त दृश्यों, धार्मिक अनुष्ठानों, मानसिक संघर्षों तथा व्यवहारों का विशद चित्रण दोनों काव्यों में मिलता है। दोनों नायकों का कथोप-कथन पारस्परिक कटुवचनों का प्रयोग आदि यथार्थवादी हैं और उनपर स्पष्ट सामाजिक छाप है। मध्यकालीन आसाम के रीति-रिवाज, व्यक्तिगत पोशाक तथा आभूषण, भोजन तथा पेय सबका उचित और यथार्थ वर्णन इन काव्यों में मिलता है। इसी स्थानीय रंगत के कारण ये दोनों काव्य आज भी पाठकों के एक विशेष वर्ग में लोकप्रिय हैं। दूसरे प्रकार के काव्य बध-काव्य हैं। इनमें दानवों का नाश और मरण चित्रित है। दानव अधर्म के द्योतक हैं। इनको मारने वाले बनवासी पांडव हैं। पांडव और द्रौपदी थोड़े दिनके लिये पराजित होते हुए दिखाये गये हैं पर अपनी विष्णु के प्रति अटल आस्था के कारण अन्त में विजयी होते हैं। स्व० डा० काकती इन काव्यों की तुलना योरुप और यूनान के मध्यकालीन रोमांसों से करते हैं। वहाँ के नायक अपने को वीरत्व के कार्यों में लगाते हैं।

इन वैष्णव काव्यों में एक गम्भीर दोष भी है। ये सभी कवि उत्साही वैष्णव थे। वैष्णव आदर्शों और उपदेशों को पाठकों पर आरोपित करने का उनका उद्देश्य दीखता है। इस प्रयत्न में कथानक की एक सूत्रता भी यदि भंग होती है तो इन कवियों को विशेष चिन्ता नहीं है।

अठारहवीं शती के आरम्भ से कथात्मक काव्य के प्रवाह में कुछ परिवर्तन होते हैं। कामुकता का भाव भक्ति भाव से अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। विभिन्न स्रोतों से कहानियाँ जुटाई जाने लगती हैं। इन्हीं को काव्य में बाँधा गया है। कविराज चक्रवर्ती का शकुन्तला तथा शंखचूड़बध, तथा दीन द्विज का 'माधव सुलोचना' १८वीं शती की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। शकुन्तला के कथानक का ढाँचा तो महाभारत से लिया गया है। किन्तु आसामी कवि ने नवीन स्थितियों के समावेश और मूल कथानक में एक नवीन कहानी जोड़ कर उस ढाँचे पर रक्त और मांस अपना चढ़ाया है। अनुसूया प्रियम्बदा तथा दुर्वासा का शाप आदि तत्व कालिदास की अमर कृति शकुन्तला से लिये गये हैं। इससे रचना का सौष्ठव बढ़ा है। 'माधव सुलोचना,' माधव और सुलोचना के उत्कट प्रेम की कहानी है। अनेक कठिनाइयों और उतार-चढ़ाव के पश्चात् दोनों मिल जाते हैं।

१८वीं शती में कुछ सूफ़ी काव्यों को भी आसामी में रूपांतरित किया गया। सूफी भावों के स्थान पर वैष्णव भाव रख दिये गये हैं। कुतुबन के मृगावती-चरित, तथा मंझन के 'मधु मालती' का आसामी भाषा में रूपान्तर किया गया, पर उसके सूफ़ी तत्वों को निकाल दिया गया। सूफी कवि ईश्वर को प्रेमास्पद तथा भक्त की आत्मा को प्रेमिक के रूप में चित्रित करते हैं। सूफियों का यह दृष्टिकोण उक्त काव्यों में स्पष्ट है जहाँ प्रेमी अपनी प्रेमिका की प्राप्ति की साधना में अनेक बाधाओं का सामना करता है। एक और रूपकात्मक काव्य इस युग में बना : महामोह काव्य। इसका आधार कृष्ण मिश्र रचित प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक है। सद् और असद् का आन्तरिक संघर्ष चित्रित किया गया है। पहले का प्रतिनिधि 'विवेक' है और 'दूसरे' का 'महामोह' (अविद्या)। अन्त में विवेक की विजय दिखलाई गई है।

१९वीं शती के मध्य में ब्रिटिश सत्ता आसाम में आरूढ़ हुई। आधुनिक आसामी साहित्य का यहाँ से आरम्भ होता है। ब्रिटिश सत्ता के आरंभिक ५० वर्षों में कोई उल्लेखनीय कथा-काव्य नहीं लिखा गया। विद्यालयों में बंगला का अध्यापन आरम्भ हुआ। अदालतों में बंगला ने असमिया का स्थान लिया। शासकों की इस भ्रमपूर्ण नीति का परिणाम यह हुआ कि असमिया साहित्य की वृद्धि और विकास रुक गया। ब्रिटिश शासकों की इस दुर्नीति को सौभाग्यवश अमेरिका के बैप्टिस्ट मिशन ने अनुभव किया। कुछ शिक्षित आसामी नवयुवकों की सहायता से इसने असमिया में 'अरुणोदय' नामक एक पत्रिका आरम्भ की। व्याकरण और कोशों के रूप में इस संस्था ने आसामी पुस्तकों का भी प्रकाशन आरम्भ किया। इस प्रकार ये लोग अन्ततः असमिया को उसके न्याय्य स्थान पर प्रतिष्ठित करने में सफल हुये। ईसाई पादरियों के माध्यम से पाश्चात्य विचार, आदर्श और साहित्यिक रूपों का असमिया में प्रवेश होने लगा। योरुपीय साहित्य के नाटक, उपन्यास, लघु-कथा, प्रगीतिकाएँ, कथात्मक काव्य तथा निबंध आसाम के साहित्यिकों को प्रभावित करने लगे।

फलतः ये सभी साहित्य-रूप असमिया साहित्य में अपना स्थान बनाने लगे। सन् १८७५ में आधुनिक असमिया साहित्य का प्रथम कथाकाव्य अभिमन्यु-वध रचा गया। इसके रचयिता रमाकान्त चौधरी थे। इसके कुछ वर्ष बाद भोलानाथ दास का सीताहरण-काव्य प्रकाशित हुआ। इन दोनों काव्यों की शैली और उनका छंद-विधान बंगाली माइकेल मधुसूदन दत्त की पद्धति पर है। माइकेल मधुसूदन दत्त केवल बंगाल के कथा-काव्य में ही क्रान्ति प्रस्तुत करने वाले नहीं थे वरन् अपने आसपास के प्रदेशों में इनका गहरा प्रभाव पड़ा। सीताहरण काव्य में जहाँ परिस्थिति और कार्य का प्रवहमान वर्णन है वहाँ बीच-बीच में जहाँ-तहाँ सुन्दर काव्यात्मक अंश भी हैं। किन्तु संस्कृत के अप्रचलित शब्दों तथा क्रियात्मक संज्ञाओं के प्रयोग ने इसकी रूपरेखा को जटिल कर दिया है। माइकेल मधुसूदन दत्त ने अमित्राक्षर (Blank Verse) का आरम्भ किया था। उसी शैली को रमाकान्त तथा भोलानाथ ने अपनाया तथा तब से अब तक लम्बे कथात्मक-काव्यों का यह नियमित माध्यम बना हुआ है।

बीसवीं शती के आरंभिक चार दशकों में कुछ और कथाकाव्य रचे गये। ऐसे पौराणिक उपाख्यान जिनमें परा-प्रावृतिक और धार्मिक तत्व प्रबल थे, समाप्त हुए। इनके स्थान पर ऐतिहासिक तत्व प्रधान हुए। यह वर्तमान शताब्दी की विशेषता कही जा सकती है। आधुनिक युगीन काव्य की इस शाखा का प्रतिनिधित्व हितेश्वर बरबरुआ करते हैं। बरबरुआ के कमतापुर ध्वंस, (१९००) तिरोतार-आत्मदान (१९१३) युद्धक्षेत्र-आहोम-रमनी (१९१५) देसदेमन (१९१७) असमिया के काव्य साहित्य को अनूठी देन हैं। इनमें से अन्तिम में तुकान्त पद्य हैं। अन्य सभी अतुकान्त छंद में लिखे गये हैं। इनके पूर्ववर्ती रमाकान्त तथा भोलानाथ के अतुकान्त छंदों में मौलिकता कम और अनुकरण अधिक है। इसके विपरीत हितेश्वर बरबरुआ ने रचना को सरल और पद्यों को स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया है। कमतापुर-ध्वंस में कमतापुर के पतन की कथा है। कमतापुर खेनवंश के नीलांबर राजा की राजधानी थी। इसने १५वीं शती के अन्तिम भाग में पश्चिमी आसाम पर राज्य किया था। इस नगर का मुसलमानों के सम्मुख दयनीय पतन दो कारणों से हुआ बताया गया है : मुस्लिम नेताओं की धोखेबाजी और अन्यायपूर्ण युद्ध नीति तथा ब्राह्मण मंत्रियों की प्रतिशोध-भावना। ब्राह्मण मंत्री का लड़का राजा ने मार दिया था। उसका बदला लेने के लिये ब्राह्मण मंत्री आक्रामक सेना का साथ देने लगा।

'तिरोतार-आत्मदान' में एक दुःखद किन्तु वीरतापूर्ण बलिदान की कथा है। राजकुमारी जयमती ने अपने पति राजकुमार गदाधर को तत्कालीन राजा छुलिकफा (१६८१) के द्वारा पकड़े जाने और मारे जाने से बचाने के लिये अपने प्राणों की बाजी लगादी थी। यही कथा इस काव्य में ग्रथित है। तीसरा काव्य युद्ध-क्षेत्र-आहोम-रमनी है। इसमें एक अहोम नारी मुलागाभरु के वीरत्वपूर्ण कार्य का वर्णन है। इसके पति को मुस्लिम सेना-पति तुरबक ने धोखे से मार डाला था। इस कृत्य का बदला लेने के लिये उक्त नारी स्वयं युद्ध में आई और सशस्त्र सैनिकों से लड़ती हुई समाप्त हो गयी। यद्यपि बरबरुआ उचित ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करने में अधिक सफल नहीं है और उनके काव्य में आधुनिकता का स्पर्श जहाँ-तहाँ दीखता है, फिर भी चरित्रों का चित्रण और विशेषतः

नारी-पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़ी योग्यता और सहानुभूति के साथ किया गया है। प्रवहमान वर्णनों के बीच बीच में मधुर और सुन्दर काव्यात्मक चित्रण भी मिलते हैं। ये ऐसे स्थल हैं जहाँ युद्ध-भेरियों की ध्वनि के बीच में पाठक कोमल और मधुर ध्वनि सुन सकता है।

देशदेमन के प्रकाशन के लगभग १५ वर्ष बाद तक असमिया साहित्य में कोई उल्लेखनीय काव्य प्रकाश में नहीं आया। इस शती के चतुर्थ दशक के मध्य में कर्बला में घटित हुसेन के दर्दनाक इतिहास को लेकर रघुनाथ चौधरी ने काव्य-रचना की। किन्तु हिन्दू होने के नाते रेगिस्तान में घटित दुःखद घटना का स्पष्ट चित्र कवि प्रस्तुत नहीं कर सका है। मासिक पत्रिका आवाहन (१९३९—१९४०) के अंकों में चन्द्रधर बरुवा के 'कामरूप-त्रियारी' तथा 'विद्युत-विकास' दो काव्य प्रकाशित हुये। पहले में बेउला की कथा है। स्थानीय अनुश्रुतियों के अनुसार बेउला आसामी नारी थी। अतः उसे 'कामरूप की पुत्री' कहा गया है। विद्युत-विकास में वृत्रासुर की कथा है। इन्द्र ने इस राक्षस पर वज्र से आघात किया था। इन दो काव्यों ने ही अपने रचयिता को एक उच्चकोटि के कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। अनेक भावों और घटनाओं के चित्रण और उचित वातावरण की प्रस्तुति बरुआ की काव्य-प्रतिभा के सबल प्रमाण हैं। इनका पद्य-विधान बड़ा सरल और सरस है। शैली भावानुकूल रहती है। अन्तिम उल्लेखनीय कथा-काव्य दंडीनाथ कविता का असम संध्या है। इसमें कवि ने पिछले शती के आरम्भ में हुये आसाम की अहोम-सत्ता के दयनीय पतन की कहानी कही है। इसके ही परिणामस्वरूप स्वतंत्रता का अन्त हुआ।

ऊपर जिन काव्यों की चर्चा की गई है उनके कथानक अतीत से लिये गये हैं; चाहे उनका स्रोत इतिहास हो चाहे पुराण। इन सभी कथानकों में वीरता, युद्ध, जोखिम और प्रेम के चित्र मिलते हैं। यद्यपि आरंभिक काव्यों में धार्मिक भाव प्रधान था किन्तु महाकाव्य की समस्त विशेषताएँ उनमें भी मिलती हैं तथा रोमांस-काव्यों में भी मिलती हैं। किन्तु इस प्रकार के कथा-काव्य अब समाप्त होते जा रहे हैं। जिस प्रकार लघु-कथा आधुनिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण हो गई हैं, उसी प्रकार आधुनिक कवियों की रुझान छोटे कथा-काव्यों की ओर हो गई है जिसकी विस्तार-सीमाएँ संकुचित हों। आधुनिक जीवन की द्रुतता ही इसका कारण है। पूर्व के अवकाश-प्राप्त युगों में पाठक लंबे काव्यों में भी रमता था। पर आज न तो वैसा अवकाश है और न सुविधा। आज के छोटे कथा-काव्यों के पठन में १५ मिनट से लेकर १ घंटे तक का समय लगता है। ये काव्य अपनी सामग्री इतिहास से, या परम्परा से अथवा सामान्य जन जीवन और उनकी परिस्थितियों से लेते हैं। विनन्द बरुवा के 'नजना वीरार मूर' (अज्ञात वीर का सिर) 'रंगामुआ वीर' (रक्त-मुख योद्धा), शैलधर राजखोवा का 'पाषाण प्रतिमा' (प्रस्तर की मूर्ति), अतुलचन्द्र हजारिका का 'सोहराब रुस्तम', थानेश्वर हजारिका का 'गोहाइन-गभरु' तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक काव्य लघु-पीठिका पर चित्रित हैं। अतुलचन्द्र हजारिका का 'कौमुदी' तथा नीलमनि हजारिका के 'गतिमाली' में संगृहीत अधिकांश रचनाओं में दीन के जीवन का सरल और सहानुभूति पूर्ण लेखा-जोखा मिलता है। नवीन पीढ़ी के नवयुवक कवि

गीति-काव्य की ओर विशेष रूप से झुके हुये हैं। फलत: प्रबन्ध-काव्य की उन्नति रुक गयी है। आज के समय में गीति-काव्य की एक सवेग बाढ़ आ गई है। उसने कथा-काव्य के विकास को धक्का पहुँचाया है।

अन्त में कुछ शब्द 'वीर गीतों' के साहित्य के संबंध में भी कह देना आवश्यक है; क्योंकि यह भी कथात्मक गीतों की एक शाखा है। अनेक लंबे वीर गीत हैं जिनमें परम्परित, या पौराणिक पात्र हैं। उन पात्रों की वीरता और कार्यों की कहानी शताब्दियों से चली आई है। शैली की दृष्टि से, उनमें वर्णन की स्पष्टता और द्रुतता है और नाट्कीय शक्ति से ये सम्पन्न हैं। 'फूल-कुँवरार-गीत',, 'मनी-कुँवरार-गीत', 'जना गाभरुर गीत,' 'बरफुकनर गीत', 'चिकन सरियहर गीत' तथा कुछ और वीरगीत आसाम के गाँवों में आज भी प्रचलित हैं। प्रत्येक गीत में नायक या नायिका के द्वारा किये गये प्रेम और वीरता के कार्य चित्रित हैं। वीर-भावों के साथ-साथ दु:खद तत्त्व भी इनमें सम्मिलित हैं। इन परम्पराभुक्त वीर गीतों के अनुकरण पर आधुनिक कवियों ने भी जैसे लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ तथा चन्द्रकुमार अग्रवाल ने अनेक साहित्यिक वीरगीतों की रचना की है। बेजबरुआ की 'धनबर रतनी', 'मालती', 'निमाती-कन्या,' तथा चन्द्रकुमार की 'तेजिमला' 'बन-कुँवरि,' (वनदेवी) 'जलकुँवरि' (पानी की परी) आदि रचनाएं इस शैली के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

श्री कृष्ण चरण बेहेरा

उड़िया कथा-काव्य

ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होने वाले उड़िया साहित्य के इतिहास में कथा-काव्य की एक लम्बी और उज्ज्वल परम्परा दृष्टिगत होती है। बच्छा दास का 'कलसा चौतीसा' उड़िया का प्रथम कथा-काव्य है जो १३वीं शती में लिखा गया। इस में शिव और गौरी के विवाह का विनोदपूर्ण वर्णन है। उड़ीसा की वैवाहिक रीति-रस्मों को इसमें सच्चाई के साथ अंकित किया गया है। 'चौतीसा' काव्य उड़िया में बहुत लिखे गए हैं। इनमें ३४ पंक्तियाँ या छन्द होते हैं और प्रत्येक पंक्ति या छन्द के आरंभ में 'क' से लेकर 'क्ष' तक के वर्णमाला के अक्षरों का क्रमशः प्रयोग होता है। 'कलसा चौतीसा' इतना लोक-प्रिय काव्य था कि पन्द्रहवीं शताब्दी में सारला दास ने अपनी विख्यात रचना 'महाभारत' में इसका उल्लेख किया।

प्राचीन और मध्ययुगीन उड़ीसा सभी भारतीय धर्मों की क्रीड़ाभूमि रहा है। इतिहास के विभिन्न कालों में जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव तथा अन्य धर्मों ने इस प्रदेश पर अपना प्रभुत्व रखा। इसके अतिरिक्त पुरी के भगवान् जगन्नाथ के आश्रय भूत 'जगन्नाथ धर्म' ने भी उड़ीसा के राष्ट्रीय जीवन पर शक्तिशाली प्रभाव डाला। इस जगन्नाथ-धर्म ने एक मैत्री और सामञ्जस्यपूर्ण ढंग से सभी धर्मों का स्वायत्तीकरण कर लिया। इस लिए हमें जगन्नाथ के मन्दिर और उड़ीसा के साहित्य में इन सब धर्मों के चिह्न मिलते हैं। इस धार्मिक पृष्ठभूमि पर ही प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्यों का विवेचन समीचीन है।

प्राचीन उड़िया-साहित्य के कथा-काव्य अधिकतर साम्प्रदायिक या पौराणिक हैं। शिव, राम, कृष्ण और जगन्नाथ की गाथाओं को लेकर खण्ड काव्य, काव्य और महाकाव्य प्रचुरता से लिखे गए। ऊपर उल्लिखित 'कलसा चौतीसा' की विषय-वस्तु शैव-सम्प्रदाय से संबंध रखती है और भुवनेश्वर तथा अन्य उड़िया प्रदेशों में शिव की आराधना की तत्कालीन लोकप्रियता की ओर इंगित करती है। उड़िया के प्रथम महाकाव्य 'महाभारत' के रचयिता सारला दास कटक प्रान्त की सारला चण्डी के भक्त थे। पन्द्रहवीं शताब्दी का यह 'सारला महाभारत' संस्कृत महाभारत का तन्निष्ठ अनुवाद नहीं है; क्योंकि सारला दास ने संस्कृत नहीं सीखी थी। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि वे जन्म से एक खेतिहर थे और शास्त्र

की परम्पराओं से अनभिज्ञ थे। महाभारत की कथा उन्होंने अपने मित्रों और पड़ोसियों से सुनी थी और उसे उन्होंने अपने ढंग से लिखा। इसलिए अपने 'महाभारत' में उन्होंने बहुत से ऐसे नये विषयों, दृश्यों और स्थितियों का उल्लेख किया है जो मूल में नहीं हैं। महाभारत की विषय-वस्तु को उन्होंने जो स्थानीय परिवेश दिया है वह ध्यान देने योग्य है। तत्कालीन सामाजिक जीवन, द्वन्द्वों और युद्धों का सजीव वर्णन, विभिन्न पात्रों का प्राणवन्त आलेखन तथा कवि की सरल पर सशक्त शैली, ये 'सारला महाभारत' की कुछ विशिष्ट विशेषताएं हैं। 'सारला महाभारत' उस समय इतना लोकप्रिय था कि उसका अनुवाद बंगाली में किया गया और उसके कवि को बंगाल में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इस महाकाव्य की बहुत सी पंक्तियाँ लोकोक्तियों का रूप धारण कर चुकी हैं और वे युगों से उड़िया जनता के अधरों पर रही हैं। उनमें से दो का उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं:—

"गंगा बोइले थिवि, गांगी बोइलि थिवि" (यह कहावत गंगा और शान्तनु की कथा पर आधारित है। गंगा ने जब शान्तनु से विवाह किया तो यह समझौता कर लिया कि वे उसे हमेशा 'गंगा' कह कर ही पुकारेंगे। जब कभी वे उसे 'गांगी' कहेंगे वह भाग जाएगी। यह कहावत उस समय कही जाती है जब कोई पत्नी अपने अनुकूल पति को जरा सी त्रुटि पर ही त्याग देती है।)

"झिमिटि खेलरु महाभारत"

(इसका भाव बहुत कुछ अंग्रेजी कहावत 'स्टार्म ओवर ए टी कप' से मिलता है। कहानी यह है कि कौरव और पाण्डव एक ही आश्रम में शिक्षा पा रहे थे। एक दिन वे 'डू डू' खेल रहे थे जिसके परिणाम स्वरूप द्वेष और संघर्ष का प्रादुर्भाव हुआ और वह अन्त में महाभारत के प्रसिद्ध संग्राम में समाप्त हुआ।)

'सारला महाभारत' के अट्ठारहों पर्व 'दाण्डि' छंद में लिखे गए हैं जिसमें लय के रहते हुए भी पंक्तियाँ अनियमित हैं। यह वृत्त या छन्द उड़ीसा के लोक गीतों से अपनाया गया है। कुछ लोगों का कहना है कि यह संस्कृत के 'दण्डक' वृत्त से विकसित हुआ है। सोलहवीं शती के बलराम दास ने भी अपनी रामायण, जिसे 'दाण्डि' या 'जगमोहन रामायण' कहते हैं, इसी छन्द में लिखी। वह और कवि जगन्नाथ दास, जो उड़िया भागवत के कर्त्ता हैं, दोनों ही श्री चैतन्य के शिष्य थे, जो १५१० ईसवी में उड़ीसा में वैष्णव धर्म का प्रचार करने के लिए आए थे। पर ये दोनों कवि भगवान् जगन्नाथ के भक्त थे। बलरामदास ने जगन्नाथ का राम से तादात्म्य स्थापित किया है और जगन्नाथ दास ने कृष्ण से।

बलराम की 'दाण्डि रामायण' और जगन्नाथ दास की 'भागवत' सारे उड़ीसा में अत्यन्त लोकप्रिय है। सारला दास की तरह बलराम दास ने भी संस्कृत रामायण का शब्दानुवाद नहीं किया है। उन्होंने दृश्यों और परिस्थितियों के चित्रण तथा विषय-वस्तु के निर्वाह में मौलिकता प्रदर्शित की है। पर जगन्नाथ दास ने वस्तुतः संस्कृत भागवत का ही, सहज, सरल और आकर्षक शैली में अनुवाद किया है।

सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध उड़िया साहित्य के कवि-सम्राट् उपेन्द्र भञ्ज का समय है। अब तक का उड़िया-साहित्य किसी न किसी धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध था।

राम या कृष्ण, सीता या राधा, उस समय के उड़िया काव्यों की नायक-नायिकायें थीं। पर उपेन्द्र भञ्ज ने हमारे वास्तविक समाज से चरित्रों का आकलन करके निरी कल्पना के आधार पर गढ़ी हुई विषय-वस्तु पर जब अपने कथा काव्यों की रचना प्रारंभ की तो उड़िया साहित्य में एक क्रान्ति उपस्थित हो गई। 'लावण्यवती', 'कोटि ब्रह्माण्ड सुन्दरी' और 'प्रेम सुधानिधि' उनके प्रसिद्ध कवि-कल्पनात्मक कथाकाव्य हैं। इन सब कथा-काव्यों में कथानक का निरूपण और घटनाओं का आकलन बँधी हुई लीकों पर ही हुआ। उपेन्द्र भञ्ज ने पौराणिक और साम्प्रदायिक विषय-वस्तु लेकर भी कुछ कथा-काव्य लिखे हैं, जैसे 'सुभद्रा-परिणय', 'बैदेहिश विलास', 'कला-कौतुक' आदि।

संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण उपेन्द्र भञ्ज ने अपने कथाकाव्यों में संस्कृत की तमाम काव्यशास्त्रीय पद्धतियों और अलंकारों को प्रश्रय दिया और इस कारण से वे जन साधारण के लिए दुर्बोध हो गए। संस्कृत साहित्य के कालिदास और श्रीहर्ष के पद चिह्नों पर चलकर उन्होंने प्रेम-प्रसंगों तथा अन्य ऐसी ही बातों को बहुत प्रधानता दी। उस समय ब्राह्मण पंडितों तथा उड़ीसा के सामन्तवादी राजाओं के दरबार में संस्कृत साहित्य का बड़ा मान था। ब्राह्मण पंडित उड़िया भाषा तथा साहित्य की ओर आत्मदम्भ से पूर्ण, हीन दृष्टि के साथ देखते थे। अतः उपेन्द्र भञ्ज ने उड़िया काव्यों को संस्कृत काव्यों की कोटि तक उठा देने का भरसक प्रयत्न किया।

उड़िया साहित्य पर उपेन्द्र भञ्ज का जो प्रभाव पड़ा है, उसे धोया नहीं जा सकता। उनके गीत और उनके कथाकाव्यों के अंश कहीं-कहीं अश्लील और दुरूह होते हुए भी अनेकों के द्वारा गाए और पढ़े जाते हैं। अभिमन्यु सामंत सिंहार, कविसूर्य बलदेव रथ जैसे बाद के बहुत से कवि, उनकी रचनाओं से प्रभावित हुए थे।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य में उड़ीसा ने अपनी स्वतन्त्रता खो दी और वह क्रमशः अफगान, मुगल और मराठों के शासन में रहा। पर इस पराधीनता में भी उड़िया साहित्य की प्रगति अवरुद्ध नहीं हुई। कुछ कवियों ने उपेन्द्र भञ्ज के अनुकरण पर कवि-कल्पनात्मक कथाकाव्य लिखे और कुछ ने वैष्णव धर्म पर, प्रधानतः राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को आश्रय बना कर, अपने कथा काव्यों की रचना की। पर अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में कवि ब्रजनाथ बदजेना ने अपने 'समर तरंग' की रचना की जो प्राचीन और मध्ययुगीन उड़िया साहित्य का एकमात्र ऐतिहासिक कथा काव्य है। 'समर तरंग' में उड़ीसा की उस समय की सामन्तवादी रियासत ढेंकानाल के राजा और मराठा सूबेदार राजाराम पंडित के युद्ध का विस्तृत वर्णन है। उड़िया पायकों (सिपाहियों) के साहस और वीरता का इसमें बड़ा यथार्थ चित्रण है। कवि की भाषा और शैली भी कथा काव्य की विषय-वस्तु के अनुकूल है।

उड़िया साहित्य का आधुनिक काल, ब्रिटिश शासन में, उन्नीसवीं शती के मध्य से प्रारंभ होता है। अंग्रेजी में शिक्षित होने तथा पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होने के कारण राधानाथ राय ने उड़िया साहित्य में आधुनिकता का समावेश किया। पर फिर भी उन्होंने परम्परा को नहीं तोड़ा। उन्होंने लगभग एक दर्जन कथा-काव्य लिखे हैं और

उनमें से बहुतों की कथा वस्तु परम्परा और पुराण-गाथा से ली गई है। इसके अतिरिक्त उन्होंने पुराने उड़िया छन्दों का भी पूर्ण बहिष्कार नहीं किया। उनकी मौलिकता उड़ीसा की प्राकृतिक रूपराशि के सजीव उद्वेलन में तथा उस समय के अफसरों के समाज के व्यङ्गात्मक और यथार्थ निरूपण में है। इन विशेषताओं के कारण उनके 'चिलिका' और 'दरबार' (तत्कालीन भारत सम्राट का अभिषेकोत्सव) नामक खंडकाव्य बहुत प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त उनके 'महायात्रा' (पांडवों की अन्तिम यात्रा) नामक कथा काव्य में राष्ट्रीय चेतना का भी परिपोष हुआ है। अतुकान्त छन्द में लिखी हुई उनकी यह कृति अपने काव्य-रूप में उड़िया साहित्य के लिए बिल्कुल नवीन है। बाद में गंगाधर मेहर, चिन्तामणि महान्ति तथा अन्य कुछ कवियों ने राधानाथ राय का अनुसरण करते हुये पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक विषय वस्तु लेकर कथा काव्यों की रचना की।

पर उड़िया साहित्य का आधुनिक युग कथा काव्यों का युग नहीं है। यह गीतों और छोटी कविताओं का युग है। राधानाथ और उनके अनुयायियों ने कथा काव्य के अतिरिक्त बहुत से गीत लिखे हैं। पर इस समय उड़िया में कोई कथा काव्य नहीं लिखा जाता। यद्यपि पंडित नीलकंठ दास के 'कोणार्क' (कोणार्क पर), डा० हरेकृष्ण महताब के 'पलासी अवसाने', डा० मायाधर मानसिंह के 'कमलायन' जैसे कुछ कथा-काव्य लिखे गए हैं, परन्तु उनकी लोकप्रियता आज के पाठकों के बीच बहुत अधिक नहीं है।

श्री शान्ति आँकड़ियाकर

गुजराती में कथा-काव्य

कथा काव्यों का संक्षिप्त इतिहास

बारहवीं शताब्दी:

गुजराती भाषा में प्रथम कथा काव्य सन् ११८५ में लिखा हुआ पाया जाता है। कथा काव्य का नाम है: 'भरतेश्वर-बाहुबलि रास'। यों तो वह रास काव्य है, किन्तु उसमें कथा काव्य के तत्व भी काफी संख्या में नजर आते हैं, इसलिए हम उसे यहाँ उल्लिखित करते हैं। उसके रचयिता हैं जैन कवि श्री शालिभद्र सूरि। कथा काव्य का प्रकार ऐतिहासिक है दौसौ तीन कड़ियों का यह कथा काव्य वीर रस प्रधान और तेजस्वी शैली का एक उत्तम बृहद् काव्य है। काव्य की वस्तु है, ऋषभदेव नामक तीर्थंकर के पुत्रद्वय भरत और बाहुबलि के बीच सेना के राज्य और धन के लिए हुई लड़ाई।

तेरहवीं शताब्दी:

सन् १२१० में महेंद्रसूरि नामक जैन कवि और मुनि के धर्म नामक शिष्य ने 'जंबू सामि चरित्र' नामक चरित्रात्मक कथा-काव्य लिखा। धर्म जी ने उस काव्य में अपने गुरु के गुणों का वर्णन किया है। सन् १२३१ के करीब विजयसेन सूरि नामक एक जैन मुनि ने 'रेवंतगिरि रासो' नामक कथा-काव्य लिखा। उस काव्य में गिरनार (जूनागढ़: सौराष्ट्र) पर्वत पर के जैन मंदिरों का वर्णन और उन मंदिरों के जीर्णोद्धार के लिए 'अपील' है। कथा काव्य धार्मिक प्रकार व प्रसार का है।

चौदहवीं शताब्दी:

सन् १३१५ में अंबदेवसूरि नामक एक जैन मुनि ने 'समरा रासो' नामक एक कथा काव्य लिखा। इस कथा काव्य में संघपनि और स्तवनकार समरसिंह का जीवन वर्णित है। कथा काव्य का प्रकार है: चरित्रात्मक। सन् १३५६ में विनयप्रभ नामक जैन मुनि ने 'गौतम स्वामी रासो' नामक कथा काव्य लिखकर रासनायक गणधर गौतम के गुणों का वर्णन किया है। उस कथा काव्य में सर्व प्रथम गुजराती प्रकृति वर्णन नजर आता है। सन् १३६१ में असाईन नामक एक कवि का 'हंसाउली' नामक एक कथा काव्य मिलता है, जो भ्रातृ विरह की एक अद्भुत एवम् रसिक लोक-कथा है। विरह के कथा काव्यों की सूची में 'हंसाउली' का नंबर प्रथम आता है।

पंद्रहवीं शताब्दी:

भक्त नरसी मेहेता के समकालीन भीम (१४१०) ने 'सदय वत्स चरित्र' नामक एक लोकप्रिय प्रणय कथा-काव्य लिखा। गुजराती भाषा में 'सदय वत्सचरित्र' प्रणय कथा का प्रथम काव्य माना जाता है। उसमें सदेवंत–सावलिंगा नामक दो प्रेमी-प्रेमिका की प्रणय-क्रीड़ाएं वर्णित हैं। अब्दुर रहमान (१४२०) ने 'संदेशक रास' नामक एक वर्णनात्मक कथा-काव्य लिखा था। उस काल के इर्द गिर्द हीरानंद नामक एक जैनेतर कवि ने 'विद्याविलासनो पवाड़ो' नामक एक पद्य वार्ता लिखी। जयशेखर नामक एक और जैनेतर कवि ने 'प्रबोध चिंतामणि' नामक संस्कृत ग्रंथ के आधार पर 'त्रिभुवन दीपक प्रबंध' नामक एक कथा काव्य लिखा। जयशेखर जी का यह काव्य लोकप्रिय रहा। अब तक के कथा काव्यों ने प्रजा और उसकी उन विविध भूतियों को अपनी तरफ उतना नहीं खींचा जितना कि भक्त नरसी (सन् १४१४ से १४८० तक) मेहेता लिखित कथा काव्य 'शामल शाना विवाह' जो भक्त नरसी का यह कथा-काव्य आत्मचरित्रात्मक काव्य है। भक्तश्री ने उसमें अपने पुत्र शामलशा की लग्न का वर्णन किया है। तत्कालीन समाज व्यवस्था की पार्श्वभूमिका पर यह काव्य आधारित है। भक्त नरसी की 'हारमाला' नामक काव्य धारा भी कथा काव्य के अन्तर्गत ही आ सकती है। सन् १४५६ में इतिहास प्रधान वृहत् काव्य (एपिक) कथा–'कान्हड़दे प्रबंध' की रचना हुई। उसके रचयिता हैं प्रसिद्ध पद्मनाभ। विसल नगर का नागर ब्राह्मण पद्मनाभ मारवाड़ के जाहलोरपति अखे राज का राज कवि था। 'कान्हड़दे प्रबंध' नामक कथा काव्य, अखे राज से पूर्व के राजा कान्हड़दे की पराक्रम गाथा है। 'कान्हड़दे प्रबंध' की वस्तु थोड़े में यह है:

पाटण में उस जमाने में करणवाघेला नामक एक राजा राज्य करता था। उसका माधव नामक एक मंत्री था। किसी कारण वश माधव करणवाघेला से नाराज हो गया और क्रुद्ध होकर दिल्ली के मुस्लिम बादशाह अल्लाउद्दीन खिलजी के पास जा पहुँचा। माधव खिलजी बादशाह से फरियाद करता है: हे बादशाह! करणवाघेला ने मेरे भाई की पत्नी का हरण करके राज-पद का लोप कर दिया है। इसलिए आप अपने लश्कर को, कृपया मेरे साथ भेजिए। मैं गुजरात को जीत कर आपके सुपुर्द करूंगा। बादशाह ने माधव के साथ लश्कर भेजा। लश्कर को गुजरात में जाने के लिए कान्हड़दे के राज को पार करना पड़ता था। इसलिए माधव ने कान्हड़दे को संदेश भेजा कि बादशाह सलामत के लश्कर को अपने राज से होकर गुजरने की इजाजत दे। परन्तु हिन्दू धर्माभिमानी राजा कान्हड़दे ने मुस्लिम सेना के सिपाहियों को अपने राज-पथ से होकर गुजरने की मंजूरी नहीं दी। फलत: यह सेना चुपचाप अन्य रास्ते से होकर गुजरात में मोड़ासा शहर की ओर चल पड़ी। मोड़ासा के उस वक्त के भूप राउत बतड़े की यवन सेना से किसी कारण वश दुश्मनी थी। उसी मुस्लिम सेना को अपने राज पथ से होकर गुजरती देख राउत बतड़े ने अपनी सेना के साथ उन सिपाहियों पर हमला किया। खूंखार लड़ाई हुई। उस लड़ाई में राउत बतड़े भी काम आया। राउत बतड़े की मृत्यु के बाद मुस्लिम सेना, प्रजा पर घोर अत्याचार करती हुई पाटण की ओर आगे बढ़ी। पाटण में इतनी बड़ी मुस्लिम सेना देखकर करणवाघेला गुप्त रीति से चुपचाप भाग गया, उसकी रानी भी उसके साथ भाग गई। मुस्लिम

सेना ने पाटण एवं समस्त गुजरात पर अपना अधिकार कर लिया। गुजरात की प्रजा पर उन सिपाहियों ने घोर अत्याचार भी किये। फिर चापानेर का अजेय गढ़ जीता। सौराष्ट्र के ऊपर भी अपना शासन जमा लिया। किन्तु सौराष्ट्र के राजपूत यों हार मानने वाले नहीं थे। सोमनाथ मंदिर के पास पुनः राजपूत और यवन सेना के बीच भीषण युद्ध हुआ। उस लड़ाई में माधव को मृत्यु हो गई। सौराष्ट्र के बाद कच्छ और ठेठ सिंध तक मुस्लिम सेना ने लोगों पर अत्याचार किये। दिल्ली लौटते वक्त उन सिपाहियों ने कान्हड़दे के ऊपर भी हमला किया। किन्तु कान्हड़दे की वीर राजपूत सेना ने अभिमानी मुस्लिम सिपाहियों को बुरी तरह पराजित किया। मुस्लिम सेना के सेनापति अलूखां के पास से कान्हड़दे विख्यात सोमनाथ महादेव का लिंग, जो कि अलूखां ने सोमनाथ की लड़ाई के वक्त सोमनाथ का पुराना मंदिर, तोड़कर निकाल लिया था, छीन लिया। कान्हड़दे ने उस लिंग के पाँच भाग किये और उन्हें क्रमशः सौराष्ट्र के सोमनाथ में, बागड़ (बड़ौदा के इर्दगिर्द वाला प्रदेश) में आबू पर्वत पर, जाल्हूर में और अपने राज महालय की वाड़ी में पुनः स्थापित किया।

'कान्हड़दे प्रबंध' के दूसरे भाग में जाल्हूरदुर्ग के रक्षक समियाणा की शौर्य गाथा है। मुस्लिम सेना को पराजय के बाद अलाउद्दीन खिलजी ने स्वयं जाल्हूर के दुर्ग के आजू बाजू अपने बाकी के लश्कर को जमा किया। किन्तु कान्हड़दे के भतीजे सांतल और उसके वीर साथी सिपाहियों ने अलाउद्दीन तथा उसके सिपाहियों की जरा भी परवाह न को और न दुर्ग को पराजित होने दिया। आखिर अलाउद्दीन ने एक युक्ति निकाली। अलाउद्दीन ने अपनी उस युक्ति में हिंदुत्व की अनुभूति की निर्बलता का सहारा लिया। उसने दुर्ग से बाहर से ही दुर्ग के अंदर आए हुए तालाब में गौ मांस के टुकड़े डलवाये। दुर्ग के अंदर वह तालाब ही एकमात्र जलाशय था। गौ मांस के कारण वह दूषित हो गया। किले के अंदर के लोगों को तृषा बुझाने का कोई भी साधन न रहा। फलतः राजपूतानियों ने जौहर किया। राजपूतों ने दुर्ग के द्वार खोल दिये और यवन सेना के साथ मुठभेड़ शुरू की। तीन प्रहर की खूँखार लड़ाई के बाद सांतल की मृत्यु हो गई :

'शाहं लोही सांतल तणुं
बांधुं परवाणी वीरातन घणुं।'

आगे चलकर 'कान्हड़दे प्रबंध' विग्रह के बाद बारह सालों की घटनाओं का वर्णन करता है। मुख्य वर्णन तो है कान्हड़दे के पुत्र वीरमदे और अलाउद्दीन की शहजादी पिरोजा के बीच प्रणय का। पिरोजा ने संधि के लिए भी यत्न किये थे। वीरमदे की मृत्यु के बाद पिरोजा जीवन की नीरसता को स्वीकार करती हुई यमुना के जल में कूद पड़ी; और वीरमदे से स्वर्ग में मिलने के लिए फानी दुनिया छोड़ गई। सारी कथा अदभुत रस और करुण रस से भरपूर है। सारी कथा में कई छंद और कई राग-रागिनियाँ इस्तेमाल हुई हैं। गुजराती के प्रसिद्ध आलोचक स्व० के० ह० ध्रुव ने 'साहित्य अने विवेचन' नामक अपनी पुस्तक में 'कान्हड़दे प्रबंध' के विषय में लिखा है : पात्र-निरूपण और रसोल्लासन उत्तम प्रकार से किया गया है। पद्मनाभ का काव्य उच्च देशाभिमान

और प्रबल धर्माभिमान के आवेश से ज्वाज्ज्वल्यमान है ।......पढ़ते पढ़ते हमारे रोयें खड़े हो जाते हैं ।' आख्यान काव्यों के जनक भालण (१४५६—१५१४) ने कई कथा काव्य लिखे उन्होंने इतिहास पुराण वगैरह संस्कृत ग्रंथों की सहायता से रचनायें कीं। उन्होंने कई एक कथाकाव्य लिखे हैं: नलाख्यान, दशमस्कंध, रामबालचरित, हरसंवाद, सप्तशती मृगी आख्यान, दुर्वासाख्यान, ध्रुवाख्यान, कृष्ण विस्टि, जालंधराख्यान, कादंबरी । भालण के कथाकाव्य करुण, शृंगार और वात्सल्य रस के उत्कृष्ट काव्य हैं । शैली का सर्जन मोहक है । भालण ने आख्यान काव्यों के सर्जन के लिए एक नई दिशा का अंगुलिनिर्देश किया । केशवदास (१४७३) ने भी 'श्रीकृष्ण लीला' नामक एक कथा काव्य लिखा । मांडण (१४८०) ने 'रामायण' और 'रुक्मांग कथा' नामक दो कथाकाव्य लिखे । 'दूसरे' भीम (१४८५) ने 'हरिलीला षोडशकला' नामक एक कथा काव्य लिखा । भालण के पुत्र द्वय उद्धव तथा विष्णुदास ने भी रामायण की घटनाओं के आधार पर कथा काव्य लिखे ।

सोलहवीं शताब्दी:

सोलहवीं शताब्दी तो कथा काव्यों की, गुजराती भाषा और साहित्य के विकास की उत्तम शताब्दी है । इसी शताब्दी में गुजराती भाषा स्थिर और विकसित हुई । नाकर (१५१६६८) ने भी कुछ कथाकाव्य लिखे, जो इस प्रकार हैं: दस महाभारत पर्व, नलाख्यान, ध्रुवाख्यान, हरिश्चन्द्राख्यान, अभिमन्यु आख्यान, चंद्रहासाख्यान, लवकुशाख्यान, मोरध्वजाख्यान, वगैरह । 'नाकर के कथाकाव्यों की शैली सरल, लाघवयुक्त, और वेधक है ।' मुख्य बात तो यह है कि वह जाति से बनिया था, इसलिए उसने अपने आख्यानों को गाने और उपजीविका पाने के लिए एक नागर ब्राह्मण को अपना साथी बनाया था । उन सब कवियों के कथाकाव्य पौराणिक प्रकार के हैं; और उनका मुख्य हेतु धार्मिकता का प्रचार व प्रसार, अथवा शौर्य गाथा गाने का है । किन्तु सन् १५५० में मधुसूदन नामक एक कवि सांसारिक विषय को लेकर एक कथा काव्य लिखता है । पुरानी लोककथा के आधार पर उसने 'हंसावती-विक्रमकुमार चरित्र' नामक एक लोक कथा काव्य लिखा । इसी अरसे में गणपति नामक एक कवि ने 'माधवानल कामकंदला दोग्धक' नामक प्रेम संबंधी काव्य लिखा । नरपति ने 'नंदवत्रीशी' नामक, तथा वासु नामक एक कवि ने 'सगालशाख्यान' नाम से एक कथा काव्य लिखा ।

सत्रहवीं शताब्दी:

सोलहवीं शताब्दी के विकास के आधार पर गुजराती भाषा में सूक्ष्म-भाव-निरूपण होने लगा । इस शताब्दी को 'प्रेमानंद शताब्दी' भी कह जा सकता है—चूँकि प्रेमानंद ने इसी शताब्दी में ही गूर्जर साहित्य को भारतीय साहित्य के समक्ष रखा । विष्णुदास (१५६८—१६१२) ने कुल मिलाकर करीब चालीस कथा काव्य लिखे । उनमें मुख्य हैं: 'मामेरु' और 'हुंडी' । दोनों कथा काव्य भक्त नरसी के जीवन की घटनाओं पर आधारित हैं । पार्श्व भूमिका है भक्तों के जीवन में अलौकिक चमत्कार । शिवरास (१६११) ने 'जालंधराख्यान' वगैरह दस पौराणिक आख्यान तथा 'कामावती' और 'हंसा' की लोककथात्मक पद-कथाएँ लिखीं । प्रथम समय ही 'गूर्जर भाषा' का प्रयोग करने वाले' विश्वनाथ जानी (१६५२)

ने 'प्रेम पच्चीसी', 'मोसालु', 'सगालशा चरित्र' नामक कथा काव्य लिखे। गुजराती कथा काव्यों के कवि शिरोमणि तो हैं प्रेमानंद (१६३६—१७३४)। उन्होंने कई एक कथा काव्य लिखे: दशमस्कंध, नलाख्यान, ओखाहरण, मृदालशाख्यान, सुदामा चरित्र, रणयज्ञ, दाणलीला, अभिमन्यु आख्यान, वामनचरित्र, प्रह्लादाख्यान, सुधन्वाख्यान, मामेरुं, नरसी मेहता के बाप का श्राद्ध, नरसिंह मेहता की हुंडी, हारमाला, डांगपाख्यान, संपूर्ण भागवत, रामायण, रेवाख्यान, महाभारत, अश्वमेद, वल्लभझगड़ो, अष्टपझाख्यान, नागदमन, द्रोपदीहरण। उन्होंने ये सभी कथाकाव्य गुजरात प्रदेश की सामाजिक पार्श्व भूमिका को ध्यान में रखते हुए लिखे हैं। सभी के पीछे गुजरात के नर-नारियों को परितृप्त करने वाली अनुभूति है। आज भी गुजरातियों पर प्रेमानंद का प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। सभी मांगलिक प्रसंग, श्राद्ध आदि पर्वों पर प्रेमानंद के ही कथा काव्य, या कथा काव्यों का कुछ अंश, गुजरात के हर छोटे-बड़े शहरों और गाँवों में गाया जाता है। पौराणिक पात्रों का गुजरातीकरण करना प्रेमानंद के काव्यों की विशेषता है। प्रमाण विवेक और सुरुचि की क्षति भी जगह जगह उनके कथा काव्यों में नजर आती है। किन्तु उनके काव्यों की मोहकता, चित्रशक्ति आदि विशेषताएं उन दोषों को अपने में पूरी तरह से छिपा लेती है। और लोगों को ऊबने नहीं देती। प्रेमानंद के कई शिष्य थे। उनमें स्त्री शिष्यायें भी शामिल थीं। वे सभी आख्यान के रचयिता थे। प्रेमानंद खुद उच्च कोटि के कवि थे; और कवि के पिता भी। अपने सभी शिष्यों को उन्होंने ही कवि बनाया। कवि वल्लभ, जो कि प्रेमानंद का पुत्र थे प्रेमानंद के शिष्यों के संबंध में कहते हैं:—

छे नव दास अने भई चार ज
रत्न भलां द्वय शिष्य कहावे
छे भव राश अने बई बारज
रत्न मल्यां क्रय दिष्य वहावे
छे वीर पंचम जो त्रिणये त्रण
नंद चथुरथ नाम सुहावे
छे वीर वल्लभ शे भणिये गण
एक ज प्रेमनु नाम पुहावे।

प्रेमानंद के शिष्य द्वारकादास (१६२४) ने 'बारमासा', 'वनलीला', 'दाणलीला' आदि कथा काव्य लिखे। प्रेमानंद के शिष्य हरिदास ने विवाह (१६६९) तथा 'भारतसार' (१६८१) नामक दो कथा काव्य लिखे। वीरजी नामक एक प्रेमानंद के शिष्य ने कामावती कथा (१६८६) आदि कथा काव्य लिखे। प्रेमानंद के बाकी के कई शिष्य थे; और सभी ने कथा काव्य लिखे हैं। किन्तु सामग्री के अभाव में म उनके नामोल्लेख करने में असमर्थ हूँ।

प्रेमानंद के शिष्यों के सिवा मुकुन्द गूगली (१६६५) ने भी 'भक्तमाल' और 'ईश्वर विवाह' नामक कथा काव्य लिखे। शामल (१६९९—१७६९) ने भी पौराणिक वस्तुओं के आधार पर 'शिव पुराण खंड', 'अंगद दिष्टि', 'सिंहासन बत्तीसी' वगैरह कथा

काव्य लिखे । 'सिंहासन बत्तीसी' को हम अलौकिक कथा काव्य भी कह सकते हैं। 'मदन मोहन', 'दिन चरनी वार्ता' वगैरह उनके शृंगारिक श्रेणी के कथा काव्य हैं ।

अठारहवीं शताब्दी :—

अठारहवीं शताब्दी का सबसे अधिक प्रकाशित कवि प्रेमानंद का पुत्र कवि वल्लभ है । उसने 'कुन्तो प्रसन्नाख्यान' (१७२१) तथा 'यक्ष प्रश्नोत्तर' (१७२५) आदि बड़े-बड़े कथाकाव्य लिखे । अपने पिता की तरह वह भी बड़े रसज्ञ और पहुंचे हुए कवि थे। उनका हर कथा काव्य अलग अलग रस के प्रकार पर रचित है । जितने रस-प्रकार हैं उतने उसके कथा काव्य हैं । हम उसके कथा काव्य 'कुंती प्रसन्नाख्यान' के कुछ पृष्ठों को परिशिष्ट में देखेंगे । उस आख्यान के मंगलाचरण में उन्होंने 'पृथ्वीराज-रासो' के प्रसिद्ध शाक्त कवि 'चंदवरदाई' के ऊपर साहित्यिक प्रहार किये हैं। उस प्रहार का साहित्यिक मूल्यांकन हो सकता है । इसलिए मैं उसे पीछे उद्धृत कर रहा हूं। काठियावाड़ के भोजा भगत (१७८५) ने 'सेलैयाख्यान' 'छोटी भक्तिमाल' आदि कथा काव्य लिखे ।

उन्नीसवीं शताब्दी:

गिरधर (१७८७–१८५२) ने 'रामायण' और 'राजसूय यज्ञ' नामक दो बड़े कथा-काव्य लिखे । महा काल के अंतिम कवि भक्त श्री दयाराम (१७७७–१८५२) ने 'अनुभव मंजरी', 'रसिक वल्लभ' नामक कथा काव्य लिखे ।

बीसवीं शताब्दी:

दलपतराम डाह्याभाई त्रवाडी (हिंदी तिवारी) (१८२०–१८९८) ने 'फार्बस-विरह' 'वेनचरित्र' आदि कथा काव्य लिखे । केशवलाल ह० ध्रुव (१८५९–१९३८) ने 'मेघदूत' का कथा काव्य में भाषान्तर किया। नानालाल दलपतराम कवि (१८७७) ने वरुनोत्सव', 'जया-जयंत' नामक कथा काव्य लिखे । उमाशंकर ने 'उत्तर रामचरित्र' नामक एक कथा काव्य का भाषान्तर संस्कृत से किया है ।

इसके सिवा गुजराती साहित्य की एक शाखा चारणी साहित्य भी है। चारणी साहित्य को आज तक साहित्य की पुस्तकों की सूचो में स्थान नहीं मिला। स्व० मेघणीभाई ने पुराने चारणो साहित्य को इकट्ठा किया और उसे साहित्यकारों के समक्ष रखा। तभी से लोग और विद्वान चारणी साहित्य की ओर मुड़े हुए हैं किन्तु अभी तक चारणी साहित्य के अध्ययन को युनिवर्सिटी और कालेजों में स्थान नहीं मिला है— यह खेद की बात है । राजाओं के आश्रित रहते हुए चारणों ने साहित्य सेवा की है। उनकी यह एक पुरानी परंपरा है । खास करके यह साहित्य शौर्य का साहित्य है, फिर भी उस में कला के उच्च तत्त्वों के दर्शन होते हैं । चारणी साहित्य का प्रकृति-वर्णन उम्दा होता है । चारणी साहित्य का वाहन है दोहा । दो लाइनों के छंदबद्ध दोहों में भाव और भाषा की सूक्ष्मता हम देख सकते हैं । दोहे बोलने की भी प्रकार विशेष की एक रीति है जिसे चारणादि के मुँह से सुनने में मजा आता है । और उसके उच्चारण हमारे हृदय को बेधते हुए निश्चित ध्येय तक पहुँच जाते हैं । भविष्य में मैं गुजराती चारणी साहित्य के बारहमासा काव्यों का परिचय' नामक एक लेख लिखूँगा जिससे कि पाठक उस साहित्य का उचित रस पान

कर सकें। चारणी साहित्य म भी दोहाबद्ध कथाकाव्य पाये जाते हैं। यहाँ में चारणी साहित्य के सिर्फ प्रणय कथा काव्यों की सूची देता हूँ 'सती उजली-मेह जेहवो', 'शेणी दिजाणंद', 'लाखणसिह माणेक दे', 'ऐमल वालो अने सती साई', 'जेसल—तोरक्त', 'रा० नवछण', 'ढोला-मारू', 'नागवाला—नागमती', 'हलामण जहेवो—सती सोन', 'जगदेव परमार', 'मालो अने नाग दे', 'देवल-देवरो', 'खीमरा अने खंभानण', और 'बिल्वमंगल—सूरदास' वगैरह।

परिशिष्ट

प्रथम हम गुजराती के तीन विद्वानों की कथाकाव्य की व्याख्या देखेंगे :

१. स्वाभावोक्तिमय काव्य।

—मणिलाल न० द्विवेदी।

२. वर्णन काव्य।

—ब० क० ठाकोर।

३. आख्यानात्मक कविता।

—रंजितलाल हरिलाल पंडया।

अब हम वल्लभ कवि के 'कुंती प्रसन्नाख्यान' के मंगलाचरण और आख्यान के कुछ अंशों को देखेंगे :—

श्री जगदीश्वराय नमः
वल्लभकृत
कुंती प्रसन्नाख्यान
प्रणम्य प्रतिधजितं।

कवित्त

चंदे छंदबद्ध रच्यो, रास आश आणी उर,
प्रेमानंद आगे मंद, गति तेनी लेखिए,
भारत समुं प्रमाण, रासाना तमासा भालो,
कर्यां भारत बे-त्रण, आरत उवेखिये;
पृथ्वीश प्रशंसा कथी, मान शेनुं मोंछुं तेमां ?
प्रेमानंदनी कविता, सविता शी पेखिये;
ब्राह्मणथी भाट थया, वंशज विधिना आतो;
कविश्वरना पिताथी, चंद मंद देखिये ॥१॥

भारती भक्त

विचारो बर दियो जे, देवीभक्त दुनिया के',
भोग आपे अजाकेरो, डरे शारदूल थी;
मदिरामां मस्त बन्या, जो जो चंदजी चतुर,
लांछन लगाड़ी लई, रीझ्या रक्त फूल थी;
आड करी अदो कह्यु, देवीऐ संकष्ट दद्धं,
प्रसन्न थं पूरेपूरी, वेवी अंग शूल था;
पतराखी बानाकेरी, बदियो त्यारे बनाप्यो,
भारतीना भक्तने ते, भले किया मूल था ?
पूजा करतां परोढ़े, चतुरानी चूक पड़ी,
यत्न उपाया आई, भक्षी गया भक्त ने;
चंडी डंडी पड़ी नरि, मंडी खंड़ी मारवा थी,
आर्यावर्त तर्त तोडयो, जाहेर छे जक्त ने;
भारतीए भक्त पेलो, जाणोने लीछो जीवाडी,
आरती अतिशे पूरी, बनी अनुरक्त ने;
चंद थई गयो मंद, ग्रंथे राख्यो जीवतो ते,
भारतीना भक्त आगे, कोण लेखे शक्त ने ।।३।।
प्रेमानंद पिता मारा, भारतीना पूरा भक्त,
बदियाने बांवी घंटू, लखे रासा लाखने,
प्रेम ने आनंद बन्ने, लांछन विनानां लव्ज,
कहो मोटा कोण त्यारे, साची दई साखने !
सरस्वती सूत थया, पछे नव पूज्या कोई,
देव देवी रह्यां सूई, बली थयां राखने;
स्वधर्म ए साचो मान्यो, परधर्म पूज्यो नहीं,
भारतीना भक्त थतां, माखी न माखने ।।४।।

रसिका रसिक

कवि जेनी कविता, निकंदन तेनुं कराप्युं,
पांच सात नारी भेली नर निपजावीयो;
तोड्या शस्द छोड्या नहि, जोड्या कर तोय झूड्या,
रूड़ा रसिके न जोयूं, भाव शो भजावियो ?

पेट काजे वेड करी, डेढ तेय पोची नहि,
भेट भूंडी मर्णकाले, देश आ तजाविओ;
झवेरी झवेर जाण, करु शां मुखे वखाण,
मंद चंद लखी चंद-छंद थी सजावियो ।।५।।
भारे भार भाट केरो, वधतो पधारी दीधो,
चंदना तो छंद भाख्या, छन्द छे रसिकने;
अवगुण नव आण्यो, एक गुण शुद्ध जाण्यो,
वरवाण्यो पछार्यो पंथ, मानी नहि छांकने;
रत्ननी परीक्षा करी, जत्न थकी जालवीने,
एव जेब जोई नहि, ठाठ कह्यो ठीकने,
एवं देश जन्म देजे, रसिकनो पास ज्यांही ।
कथीर कंचन करे, बाली मूके बीकने ।।६।।
छिःक गूर्जर ! छे छिःक, रसिक न साथ राख्यो,
प्रतापी प्रभाकर ने, पिछाण्यो न कोईए;
छंद प्रेमकेरा छणां, पदमां तो शेनी मणा,
दुहा ने चोपाई छणी, साख बंध जोइए;
चार जणे जेह कर्युं, एक जणे कयुं आ तो,
एवुं नव जुओ कोई, खांते खरुं खोइए;
मूगा मूढ़ निर्लज सौ, पेटे पड़िया पाषाण,
गूजरात शुष्क थयो, शुं रसाल बोइये ? ।।७।।
एक निस्ठावान नर, एक नारी पूज्य धारी,
ते वडे नीपाव्या मोटा, लक्षावधि देवत्ता;
कयुं रूडुं सर्व फेरूं, विप्ननुं न नाम सुण्युं,
तार्या राय ना बूराडया ग्रंथ पंथ सेवता;
दुखियाना दुःख ताल्यां, सुखियाने कीधां सुख,
कपिनां मुकाव्या मान, चनोडी ने देवता;
अरसिक जाणे कशुं, रत्न पड्युं रंक हाथ,
निः शंकी ने शंकी सर्वे, मृत्तिकाथी रेवता !! ।।८।।
चंदे एक रासो लख्यो, सवालक्ष पूर करो,
एक पुत्र शा हिसाबे ? दुनियानो राह छे !
रासा जेपड़ा बृहत्, पूरमां एथी अधिक,
त्रण ग्रंथ लख्या प्रेमे, कोनी वाह वाह छे ?

सुत मारा जेवो कवि, रवि जोई झांखो पड़े ।
चंदनो ते छंद कशो ? मंद सौ उजाह छे !
ठामी ठोकी ढाले वाई, कवीश्वर वल्लभ के'
मंद चंद, प्रेम पूर, आनंद अनाह छे । ॥९॥

प्रतिबंध

एवे अवनवो एक, शब्द त्यां उत्पन्न थया,
बोलीश मा, बोलीश मा, बूरी वात चंदनी;
शब्द समजाग्यो मने, दिदार न दर्शयों कने,
जोयुं आम तेम झत् बारं शी बुलंदनी;
सविता शी कविता त्यां, करमाने लाग्यो कवि,
वली पाछो शब्द थयो, छन झाझी छंदनी;
निदंक पणुं नकामुं, कामनुं न रज ए तो,
कवीश्वर ! चेतो चित्त, मागति ल्यो मंदनी ! ॥१०॥
सारूं तमे धारो तेने, मन गम्युं मान आपो,
निंदा करो बीजा केरी, ए ते कोनी रीत छे ?
तमारे कत्छे न सारुं, कोई कदी मानवानुं,
न सारूं संताई रहे, न्याय शास्त्र नीत छे;
कारमी करामत ए रूड़ा थई राखो रहदे,
जुओ मारा वेण केरी, केवी तो प्रतीत छे;
जगत छे झवेरी, वेरो नथी सारा केरूं कोई,
नकली आवे जो पय दधि नवनीत छे । ॥११॥

कवीश्पर कोप

कोण एवो बांध करे, प्रति बंध करवानो ?
अंध ! जाणनो नथी शुं, कविराज राज छे !
प्रेमानंदना प्रतापी, सुत सलक्षणा अमे !
बोध कोण करे तेने ? मानवानी ना ज छे !
शुं अमो नव समजु ? गत बतावानुं गजुं !
भजुं नव भली वाणी, आरंभायुं काज छे !
महान मतीश अमे, कपीशना कान कापुं,
शीख दे तेने तो सत्य, लाज लाज लाज छे ! ॥१२॥

दर्शन दे आवा आँही, जोअुं माल के तो मांही ?
वाद वदी जीती, जाय, लढ़वा हुं आखडो !
विचारी जो वान मन, लांछन धारी छे चंद,
प्रेमानंद प्रभाकर, बादुर दिसे बड़ा;
चंदनी छे सोल कला, ते पूर्णिमा होय न्यारे,
सहस्र बन्दि छे कला, सूर्य सामा शे अडो ?
आखा जीवतर केरी, कमाई तो छे एक रासो,
त्रासो नासो बालेवाथी, कदी ना पूरा पड़ो !! ॥१३॥

पत्र पतन

कथ्यं कवीश्वरे एम, रज रुध्यो वमें नव,
तदा पड्यो पत्र एक, आकाश था आवीने;
वड़वा वाणीश्वरशु, कोण आवी अूभो रहे,
फेरवे फगावे फट, भला केश भाविने;
पास आवा पडयो पत्र, कवीश्वरे लीधो तत्र,
तर्त कर साही वांच्यो, हर्ष उपजावीने;
वांच तामां वाँकाँ थयां, (नव) अत लखनार केरा,
फेरा फरे काल तेने कोण जुअे तावीने। ॥१४॥

पत्रार्थ

आगम विरूध्ध आशो, मँगला चारज करे ?
आचारज तारो कोण ? अविधा अर्वी तने !
मंगलमां दंगल शु, जंगल जटिल जेवा !
तिमंगल जेवां गर्व, व्यर्थ धारवो मने;
बंधे विश्वमध्य चंद निधनाम तेनु भणे,
मंद मति मूढ़ बने, नासतो न शे वने ?
शीख माने मारी नहीं, भीख मांगी भटकीश;
रीखतां न अटकीश, राखे नव को कने ? ॥१५॥

पत्रोत्तर

गजानन षड़ानन, पंचानन त्रयानन,
चतुरानन जाणे न, कविराज राज छे !

सहस्त्रानन लेखक, उवेखक वल्लभनो,
दुल्लभ न दाव मम, दीठे पतराज छे;
व्याघ्रानन, अजानन, वक्र वक्त्र करी नांखु,
सांखु नरि साची वात, लेखकने लाज छे ! !
विष्णु जिस्णु रूपधारी पाखा आवे कदापि,
तदापि छेडु न टेक, विवेकनु काज छे ! ।।१६।।
चंद मंद, प्रेमानंद, उपरि तदुपरि छे,
करी ज करी ते वात, विश्वमां विख्यात छे;
तुलनाए तुला करो, कविता कवीश्वरोनो,
सविताशी शुद्ध दर्शे, कोनी काली रात छे ?
मंद चंद चढ़े कदी, प्रेमानंद पूर्ण आगे,
बने बल्लभ गुलाम, जोवा कोनी मात छे ?
बोवड़ाव्ये बोए, नहीं, छलाव्याथी छले नहि,
डराव्याथी डरे नहि, अडत्र आ गात छे । ।।१७।।
मुओ पृथ्वीराज अरिहाथ, ए प्रख्यात वात,
कर्ण केरी एवी ख्यात, जगतजन जाण छे !
पृथीराज रासो अने, कर्णनु चरित्र वांचो,
(जो) रासान्ते तमासो चढ़े, (तो) कवि व्यर्थ वाण छे;
कर्यु लांबु पिंगल, अमंगलनी वात जेमां,
एमां कवित्द कशु छे ? अन्न तेना प्राण छे;
भूली जैशु ए शु भ्रमे, देवना डराव्या थकी ?
छि:क पत्रलेखकने, वल्लभ प्रमाण छे ! ।।१८।।
पंचायतन पूजु हुं, तेनु फल आज मल्यु,
पूज किये काज त्यारे, तोडु फोडु देवने;
जूठी पान दे जणावी, मान्य करावाने काजे,
कवीश्वरने कंपावे, साधवी शी सेव ?
एक कही ऊठयो आप, प्रेमनो पूरो प्रताप,
देव कर्या टोले तर्त, भागी नाखी भेवने;
प्राणीमां पाषाण ग्रह्यो, वाणीमां विरोध कही,
पाणीमां पलाली दई, शिर अभो एवने ।

पिता दर्शन

बालार्कसम सुखद, दुखद अरिगण के--
रो, हेरो हेरो हेलामां, सहस्त्र किर्णाल आ;
कविकुल कुमुद बिडाई गयां बाबरां शां;
पडी गयां झाखां थयां, दरश्यो रसाल आ,
कवीश्वर ईश्वर रूपी, स्वरूपी कमल जे,
निर्मल निःशंक खिल्युं, हरख्यो मराल आ;
प्रभाकर पूर्ण जोई, नमे पद्म एक वार,
(पद्म)
कवीश्वर नम्यो तेम, जाणे नम्युं नाल आ। ॥२०॥

पिता प्रश्न

कवीश्वर कोना पर, कोपनो आगेप कर्या,
पाणिमां पाषाण कशो, देव दीन शे दीसे ?
क्षमा नव लाधे खोली, रमाए रमाडया, नहि,
तमा तेनी नथी तारे, जाणुं हुं वशा वीशे,
सेव साधो देवकरी, धन्य धन्य हे धीमान !
धारण धारी जे आवी, कवि को किये भिषे ?
पूज्यनी आ पेर थाशे, कंप काया मध्य व्यापे,
कारण कहो धो मुने, आपी चूक्या छुं रीसे ! ॥२१॥

कवीश्वरोत्तर

'प्रेमानंद पिता आगे, चंद मंद चातुरीमां,'
एवुं वेण सुख देण, सुणी देव कोपियां;
आकाशवाणी करावी, पत्र आ पठाव्यो पछे,
देव के छे वंध चंद, विश्वमां ए ओपिया !
कारण बताव्या कैंक, तारणवालां ते नहि,
धारण कराय केम, निर्भर आरोपिया;
एकना अनेक आप्यां, उत्तर उठावदार,
मंद थया चंदशा ते जोई भार लोपिया। ॥२२॥

समाधान

प्राचीन पंडितने न, अर्वाचीन पोंची शके,
प्राचीन ते प्राचीन छे, अर्वाचीन नामना;
प्राचीनो गया जे पथ, विघ्न नड्यां तेमने जे,
अर्वाचीनोने न नड़े, तेणे तेनी नामना;
मार्गदर्शी थाय जहे, निःशंक वड़ेरा तेह,
चंद मान्य निःसंदेह, व्यर्थ तारी कामना;
रसालां रसिलां वेण, श्रोता वक्ता सुखदेण,
रासाकेशं जेह केण, थी नथी दामना ।२३।।

पूज्य प्रेम

अंतर अनेक आप्यां, प्रश्नोत्तर पूरे पूरां,
तोय अमुझाय अंग मानी मान राखवा;
केवुं नथी कांई हवां, बोलवुं बाढ़म कर्युं,
रह्यो दंतमां तो कोप, चपशीने चाखवा;
पेरे पेर प्रणमुं हुं, जाव जाव जाव तमे,
मानवानो कांई नथी भुंडूं लाग्या भाखवा;
तमे ने तमारा देव, कुशला रो मारी कृपा,
वंठावो न वल्लभने, खोता दाव दाखवा ! ।।२४।।
प्राचीन वासुदेव जे, कारागृह कोही रह्यो,
नवीन वासुदेव ते, काढ़ियो कृपा करी;
कहोडने डूबाडयो तो, जो जनके जलमांय,
अष्टावक्र शक्र समो, नवल गयो डरी ?
कुंजर छे वृद्ध ने अ, नूतन जन्मे छे हरि,
कीर्तिवंत कोणतेनी, तुलना करो जरी ?
थोथां जेवां पोथां भाली प्राचीनोतणां हुँ वंदुं,
कचरी कवीश जीभ, शोणे जाउंना मरी ? ।।२५।।

।।इति मंगलोचार।।

× × × ×

अजात अरिस्तब्धावस्था

दुःख दिल धारी भूप, बदलायो स्वरूपथी,
जड़ता सजड जाते, व्यापी अंगोअंगमां;

प्रस्वेदनां बिंदु-सिंधु-सम व्याप्यां विश्व अंगे,
डूस्यां अनारु ज तेमां, जबर्दस्त जंगमां;
अवनवुं थयुं एक, सुकोमल देहे दर्श्या,
रोम कंतक समान, वागिया अमंत्रमां;
कोक माने ए रोमांच, आंच अद्भूत केरी,
साच नव माने कोक वात धारी व्यंत्र्यमां ।।२६।।
बोलतां बोलाय नहि, बोले त्यारे बाध करे,
गद् गद् वाणी वेगे, देवी रूप धारीने;
हर्षडाट अंगोअंगे, गर्भडाट गणे कोण ?
चर्भडाट चित्त विषे, कष्ट दे संभारीने;
दुःखना प्रकाश थकी, नेत्रनो विकास हवो,
अवकाशे अनुभाव, रह्या ना विचारीने;
जोई एवी सोई सारी, दुःख देवाकेरी वारी
करवा संचार थयुं, मन तो संचारी ने ।।२७।।
तर्क ने वितर्क करे, धके धके ध्रूजे वली,
अंतर न स्थिर थाय, अलभ्यता आवता;
आम करुं कार्य थाय, तर्क त्वरा करे अति,
टाले भ्रांति शांति सर्व, सुखने तजावतां;
संभारी उत्कर्ष हर्ष थाय जाय विसराय,
हाय हाय ! वदी, नमे, भूंडेरुं भजावतां;
हाव भाव एवां करी, त्यां संचारी भाव दाव,
लेवा लाग्यो देवा लाग्यो, अद्भुत सजावतां । ।।२८।।
पिंडमध्य पेशी गयो, प्रति दर्ण साथी साथ,
संपूरण थया त्यारे, स्मरी आव्यो देवता;
तर्क सिद्ध थयो तर्त, युधिष्ठिर वधा वेगे,
पार्थ ! सरवा तेज्व तारो, गंधर्व जे सेवत्ता;
वली वदी स्नष्द थया, कृष्णा छरे कस्ट अति,
चार बंछुनणी गति, अनेरी अवेवता;
पार्थे तुंबरुंनुं स्मर्ण, कर्युं के ते आवी ऊभा,
उपज्यो अद्भूत लह्या, जे गंधर्व देवता । ।।२९।।

× × ×

ग्रंथ गुण

ग्रंथ पंथ दक्ष पडया, ते तो तरी जाय निश्चे,
एक वर्ण अद्भूतनो, तारनार तार छे;
रसज्ञना घरी वाँचो, आधि व्याधि बाधा नासे,
अरसज्ञ लोकने आ, मारनार मार छे!
पीयूषनुं पान करे, झांझु जीवे जन तेह,
ग्रंथा मृते प्राशे कदी, सारनार सार छे;
गुणवान् ग्रंथ एवो, सेवो शांत पणे सर्व,
गर्व कविकेरो गले, वारनार वार छे। ।।२१५।।

सवैयो

वल्लव ग्रंथतणो पथ वल्लभ, वल्लभ साल रसाल वखाणुं,
सत्तर सात अने वली सात ज, शात सुख्यात प्रभा हुं प्रमाणुं;
अद्भूत अब्धि अखंडित मंडित, क्षार कलंकित वारि न जाणुं,
वल्लभ एह रसज्ञ तणे उर, दुल्लभ अज्ञ, न मूल्लभ आणुं ।।२१६।।

।। इति संपूर्णम ।।

श्री पल्लेकोण्डा वेंकट सुब्बय्या

तेलुगु साहित्य में कथा-काव्य

भारतीय साहित्य में ही नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य में भी, कथा काव्य का स्थान महान् माना जाता है। इसकी इतनी विशिष्टता और विलक्षणता क्यों है ? इस पर हम यहाँ विचार करेंगे। एक ओर तो इसकी उपयोगिता प्रसिद्ध ही है। मन की सुकुमार भावनाओं को सुगमता के साथ व्यक्त करने की इसकी उत्तमता किसी से छिपी नहीं। अतः सब देशों और भाषाओं के साहित्य के प्राचीन एवं नवीन आचार्यों ने इसे प्रेमपूर्वक अपनाया और इसका यथेष्ट आदर किया। रमणीयता भी इसकी लोकप्रियता का एक और कारण है। चाहे जो हो, अल्प समय में स्वल्प मूल्य पर अगर कोई मनोविनोद का समुचित साधन बन सकता है तो एक मात्र मनोहर कथा-काव्य ही है।

नवीन वस्त्र पर जिस प्रकार रंग गहरा चढ़ता है, उसी प्रकार बालक के निर्मल चित्त पर भी संस्कारों का प्रभाव अधिक पड़ता है। इसीलिये कहानियों के बहाने बच्चों को नीति शास्त्र का पाठ पढ़ाना भी और उनको जीवन की शिक्षायें देना भी एक रिवाज सा हो गया है। क्रीड़ासक्त और भोग-लिप्त राजपूत बालकों को मन बहलाते हुए शिक्षित बनाने के वास्ते संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया। जिस तरह निपुण वैद्य गुड़ या शक्कर जैसी मीठी चीज में दवा मिलाकर सुस्वादु बनाकर रोगियों से कड़ुवी औषधियों का सेवन कराता है, उसी तरह पुराने साहित्यकारों ने कथा-काव्य को धर्मोपदेश के लिये अपने हाथ का साधन बना लिया और इस प्रकार अपनी बुद्धि चातुरी दिखलाई। उन लोगों ने कौरव-पांडवों की कथा बनाकर अथवा हरिश्चंद्र की गाथा लिखकर सत्यधर्म की उत्कृष्टता लोगों पर प्रकट की। परमार्थ-तत्व विचार भी, कथा-काव्य के द्वारा ही बताये गये। Pilgrim's Progress और प्रबोध-चंद्रोदय इक कथन के उत्तम उदाहरण हैं। वैद्यक काव्यों में भी कथा-काव्य का सहारा लिया गया। **जीवानंदनायक** ग्रंथ इसका प्रमाण है 'देश भाषलंदु तेलुगु लेस्सा' यानी सब प्रांतीय भाषाओं में जो तेलुगु हर तरह से बेहतर (अधिक प्रभावशाली) समझी जाती है और जिसकी विदेशी विद्वान् भी "Italian of the east" कहकर प्रशंसा करते हैं, उसमें भी कथा-काव्य को प्रमुख स्थान दिया गया। तेलुगु साहित्य के आचार्यों ने उसे एकदम

उन्नति के उच्च शिखर पर बिठाकर अपनी बुद्धि कुशलता का परिचय दिया। स्वयं भी अमर हो गये और इसे भी अमरता प्रदान कर दी। 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र' इसी के नमूने हैं। यहाँ तक कहा जा सकता है कि वेद-वेदांगों और उपनिषदों ने भी इस कथा-काव्य को अपने लिये उपयुक्त समझा। इसमें सूक्ष्म रूप से ही सही, कहानी ही सूत्रप्राय दृष्टिगोचर होती है। पुराण एवं इतिहास में कहानी का स्थान प्रमुख है हो।

जिस प्रकार संसार परिवर्तनशील है, उसी प्रकार साहित्य भी लोगों की परिवर्तित रुचि के अनुसार बदलता रहता है। देश, काल और परिस्थितियों के कारण परिवर्तित होना साहित्य का विशेष गुण है। कथा-काव्य का अस्तित्व और आधिपत्य भी इसी पर निर्भर है। कुछ साहित्यकारों ने इसे अल्पांश में अपनाया तो कुछ लोगों ने इसे अधिक प्रधानता दी। यह युग विशेष का लक्षण कहा जा सकता है। समय रूपी प्रवाह को कोई रोक नहीं सकता। इसी तरह भारतीय साहित्य के आचार्यों ने जो किया, पश्चिम के साहित्याचार्यों ने भी उसी पद्धति का अनुकरण किया यानी इसी कथा-काव्य को अपनाकर अपने अपने देशों और अपनी अपनी भाषाओं में इसका अधिक सम्मान किया। सुना जाता है कि इंग्लैंड, फ्रांस और इटली के साहित्यों की भी यही बात है। Aesope's Fables, Decemeron, Arabian Nights, W-Morris stories of Earthly Paradise (Stories in beautiful English Verse) and Short Story (A notable form of Litearary art)—ये सब अंग्रेजी के उदाहरण हैं। शृंगार और वीर रस भरी 'पल्नाटि वीर चरित्र', 'काटमराज की कहानियाँ,' 'कामम्मा कथा' आदि ग्रन्थों को कौन आंध्र भूल सकता है! 'आल्हा और ऊदल' के गाने दिल को हिलाकर झकझोर कर मुर्दों में भी जान फूंकने वाले वीरगीत हैं (Ballads)। छंद भी उनके लिए अनुकूल चुना गया और गाने का ढंग भी उनका एकदम निराला है। उन वीर गीतों को गाते सुनकर शरीर एक साथ रोमांचित हो जाता है और ताल, लय और स्वर के साथ दिल बल्लियों उछलने लगता है। मगर अफसोस आजकल वे कहीं सुनाई नहीं देते। एकदम अदृश्य से हो गये हैं। यह भी समय का प्रभाव है।

तेलुगु साहित्य में कथा काव्य—अब इस पर विचार करें। साहित्य शिल्प या कला के तीन भाग किये जा सकते हैं। एक तो कथनात्मक (Narrative) दूसरा वर्णनात्मक (Descriptive) और तीसरा नाटकीय (Dramatic)। हर एक कवि या काव्य में ये तीनों गुण या लक्षण, अल्पांश या अधिकांश में मिले हुये होते हैं। जो काव्य केवल कथा-प्रधान हो और पात्र एवं वर्णन अप्रधान यानी अंगांगी भाव जहाँ हो, हम उसको कथा-काव्य कहते हैं। इस दृष्टि से सब देशों और भाषाओं का प्राचीन साहित्य देखा जा सकता है जैसे 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो' आदि हिन्दी भाषा के काव्य माने जा सकते हैं, तेलुगु में 'पल्नाटि वीर चरित्र', बोब्बिलि राजाओं की कहानियाँ देसिंग राजा की गाथायें आदि हैं। अब तेलुगु भाषा में कथा साहित्य पर नजर डालिये। नन्नय्या से लेकर श्रीनाथ तक, तब से लेकर अब तक, तेलुगु साहित्य में कथा-काव्य का स्थान बना हुआ है। महाभारत जिसको हम पंचमवेद कहते हैं, कथा-काव्य

का खजाना कहा जा सकता है (Mine or Treasure House of great story or storeis)। ग्यारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में "नन्नय्या," "तिक्कय्या" और "एर्रय्या" नामक तीन महान् कवियों के द्वारा यह लिखा गया। सरस्वती देवी के इन तीन वरद्पुत्रों ने सफलता के साथ इसे पूरा कर तेलुगु भाषा को साहित्य में स्थान दिलवाया। सुना जाता है कि विदेशी भाषाओं में जैसे रूसी भाषा में (Russia) इसका अनुवाद किया जा रहा है।

यह ग्रंथ कब लिखा गया, कैसे लिखा गया और क्यों लिखा गया—इन बातों पर अब विचार करेंगे। यद्यपि यह संस्कृत महाभारत का अनुवाद है फिर भी इसको हम स्वतंत्र काव्य कह सकते हैं क्योंकि स्वतंत्र महाकाव्य के सभी गुण इसमें पूर्णतः विद्यमान हैं। आँध्र देश के नरेशों में अग्रगण्य पूर्वचालुक्य वंश के राजराजनरेंद्र थे। उन्होंने पहले पहल वैदिक-धर्म का उद्धार करना चाहा और 'भारतीय विज्ञान सर्वस्व' (Encyclopedia of Indian culture) लिखवाया 'बृहत्कथा' 'शुकसप्तति', 'हंस-विंशति' आदि कथायें उसी समय का प्रधान लक्ष्य या लक्षण रहा। तब समय ऐसा था कि एक ओर वैष्णव धर्म अपना तांडवनृत्य कर रहा था तो दूसरी ओर जैन धर्म लोगों पर अपना आधिपत्य जमाने में तत्पर था। ये दोनों वास्तव में वैदिक धर्म के प्रत्यक्ष रूप से प्रबल शत्रु निकले। ऐसे समय ग्रंथ राज महाभारत का तेलुगु साहित्य में आगमन हुआ जिसे धर्मतत्व के ज्ञाता धर्म-शास्त्र कहते हैं तो दार्शनिक लोग दर्शनशास्त्र मानते हैं। नीतिशास्त्र के जानकार नीतिशास्त्र बताते हैं तो कविश्रेष्ठ महाकाव्य कहते हैं। लाक्षणिक लोग इसको सर्वलक्ष्य-संग्रह बताते हैं तो इतिहासकार इसे इतिहास कहते हैं। पौराणिक गण इसको सब पुस्तकों का समुदाय समझते हैं। इस प्रकार धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र, कविता, इतिहास, पुराण आदि सब बातों का समावेश ही आंध्र महाभारत है।

पंडित पामर जनों के उपयोगार्थ भारत की रचना उस शैली में हुई जिसे दोनों समझ सकें। इस में कई तरह की शिक्षाओं का उल्लेख है जो लोगों के लिये आदर्श स्वरूप एवं अनुकरणीय हैं। आगे आने वाले कविजनों के लिये यह प्रमाण-ग्रंथ (Standard) बन गया है। कविता के प्रयोगों के औचित्य या अनौचित्य का निर्णय इसी ग्रंथराज के आधार पर होने लगा है। रसोचित वृत्त-रचना तथा मानव मनोतत्व परिशीलन की निपुणता इस महाकाव्य के विशेष गुण हैं। बाणशय्या पर अलंकृत भीष्म पितामह के द्वारा धर्मराज युधिष्ठिर को धर्मोपदेश दिलाने का संदर्भ, वास्तव में सराहनीय है और बारबार सराहनीय है। पाँचों पाँडवों के बनवास के समय विदुर ने धृतराष्ट्र को जो उपदेश दिये, वे पढ़ते ही बनते हैं। राजनीतिविशारद श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरव सभा में जाना, भरे दरबार में उनकी वचन-चातुरी; स्वामिभक्ति कर्ण को अपने कौशल और बुद्धिबल से पाँडव-पक्ष में खींच लेने की चेष्टा—इन सब बातों का सुन्दर वर्णन, भारत में पाया जाता है। उत्तर गोग्रहण संदर्भ और कीचक-वध के वर्णन में तो कविवर ने मानों कमाल ही कर दिखाया है। इसीलिये तेलुगु साहित्य में यह कहावत प्रचलित हो गई कि 'विंटे भारतम् विनवले, तिंते गारेलु तिलवले" अर्थात् सुनना हो तो भारत सुनो और खाना हो तो बड़े खाओ (जो उडद और घी से तैयार किये जाते हैं जो आंध्र जाति का स्वादिष्ट या रुचिकर

आहार है।) ये हैं भारत की कथा साहित्य संबंधी विशेषतायें। रामायण और भागवत की तरह भारत भी नीतिप्रधान ग्रंथ माना जा सकता है।

इसके रचना-शिल्प या कथा वस्तु पर अब एक और दृष्टि से विचारें। इसके दो विभाग किये जा सकते हैं। एक तो आख्यान है (Development of the main story) और दूसरा उपाख्यान (Episodes or small stories) कौरव-पांडवों का चरित्र, नलोपाख्यान तथा सावित्र्योपाख्यान आदि आख्यान के उदाहरण हैं। इसके भी दो भाग हैं। पहला पुरातन ऐतिहासिक (Historical narrations) और स्थानीय राजाओं की कथायें जो प्रधान नहीं। 'कपोतोपाख्यान', 'मूषक-माजोल-संवाद' आदि उपाख्यान के उदाहरण कहे जा सकते हैं। जो नीति-प्रधान कथाएँ हैं।

अब कवित्रय की कविता-शक्ति पर विचार करें। आदि कवि 'नन्नय्या' ने आदिपर्व, सभापर्व और अरण्यपर्व का अर्ध भाग लिखा। उसको वहीं छोड़कर विराट्पर्व से लेकर बाकी सब पंद्रह पर्वों की रचना 'कविब्रह्मा' 'तिक्कन्ना' ने की। कहा जाता है कि नन्नय्या से विरचित अरण्यपर्व का अर्धभाग किसी तरह अदृश्य हो गया। तब चौदहवीं सदी में प्रबंध परमेश्वर कार्यक्षेत्र में आये और अरण्यपर्व की रचना करके तेलुगु महाभारत की रचना पूर्ति की। इस तरह तीन सौ वर्षों में तीन महान् कवियों के द्वारा इस भारत की रचना हुई जिसे लोग तेलुगु साहित्य सरस्वती का अमूल्य आभरण समझते हैं। यों कहें तो शायद अत्युक्ति न होगी कि सरल साहित्यज्ञ के जीवन की सार्थकता तेलुगु महाभारत के अध्ययन में ही है। नन्नय्या की रचना कथा-प्रधान ही है। कहानी को अकुंठित रूप से चलाते हुए इस 'वागनुशासन' या 'शब्दानुशासन' ने आख्यानों का मनोहर वर्णन किया है। प्रसन्नता (Effective Simplicity) एवं अक्षर-रम्यता (Melodious Style) रचना के विशेष गुण हैं। उदाहरण के लिये लीजिये, यह पद पर्याप्त है—

निंडु मनेपु नव्य नवनीत समानम, पल्कु दारुणा
खंडल शस्त्र, तुल्यमु जगन्नुत विप्रुलयंदु निक्कमी
रेंडुवु राजुलेदु विपरीतमु गाडना विप्रुडोपु नो
पंडति शांतुडय्यु नरपालुडु शापमु ग्रम्मरिंपगान्।

अर्थात् ब्राह्मण का पूरा मन नव्य नवनीत (मक्खन) के समान है और वचन देवराज इंद्र के वज्रायुध के बराबर। नरेशों के गुण बिलकुल इसके उलटे या विपरीत हैं। इसलिये ब्राह्मण पुनः शाप को लौटा ले सकता है परंतु शांत चित्त होने पर भी राजा या नरपाल वैसा नहीं कर सकता। इस प्रकार कथा-प्रधान कवि के रूप में नन्नय्या केवल तेलुगु साहित्य में ही नहीं, अपितु भारतीय साहित्य में भी अग्र-गौरव के पात्र बन गये।

कहानी ठीक चलाते हुए कविब्रह्मा तिक्कन्ना ने पात्रों के वार्तालाप को अधिक प्रधानता दी और भाषा में, संस्कृत से ज्यादा देशीय शब्दों का प्रयोग किया। उत्तर-रामायण को इन्होंने कथा काव्य के रूप में लिखा। इनके प्रिय शिष्य केतन्ना ने तेलुगु में,

संस्कृत में दंडि-प्रणीत दशकुमार चरित्र नामक कथा-काव्य की रचना की। तिक्कन्ना की कविता-शक्ति बताने के लिये यह एक उदाहरण लीजियेः—आचार्य द्रोण का कथन है,

"सिगंबाकटितो गुहांतरमुनंजेटपाटु मैतुंडि मा
तंग स्फूर्जित यूथ दर्शन समुद्यत्क्रोधमैं वच्चु नो
जं गांतारनिवासखिन्न मति नस्मतयेत पै वीडे व
"च्चें गुंतीसुतमध्यमुंडु समरस्थेनांभिरामाकृतिन्"—

अर्थात् क्षुधार्त सिंह जिस प्रकार अपनी गुफा के अंदर दीन रह कर फिर उन्मत्त मातंगों के दर्शन मात्र से अत्यंत क्रोधित होकर उन पर झपट पड़ता है, उसी प्रकार बनवास के अनंतर खिन्न-मन भीमसेन मेरी सेना पर भीमाकार से चढ़ा आ रहा है। इस पद्य की पूरी विशेषता समझने के लिये और उसके आनंद का अनुभव करने के लिये तेलुगु भाषा के अध्ययन की आवश्यकता है। विराट् और उद्योगपर्व दोनों इनकी कविता में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कविता को अधिक सहृदय हृदय-रंजक कहें तो शायद अतिशयोक्ति न होगी।

एर्रना वर्णन प्रधान कवि है। इन्होंने कहानी को एक दम तिलांजलि नहीं दी। अपनी रचना में कहानी भी ठीक चलाई तथा कथा साहित्य-जगत् के सामने एक नया आदर्श रखा। एक नवीन मार्ग का अनुसरण किया। पुराणों में जो उपाख्यान रहे उन्हें स्वतंत्र महाकाव्यों के रूप में लिखने की पद्धति बताई। 'नृसिंह पुराण', 'प्रह्लाद चरित्र' और 'हरिवंश' इसके उत्तम उदाहरण हैं। इनकी कविता शैली की प्रतिभा बताने के लिये लीजिये, यह पद्यः—

निलचेन्दालसमृच्छितांगुडु महानिर्घोषसंतर्जिता
खिलभूतप्रकरुंडु दीर्घविपुलग्रीडुंडु दंष्ट्रासमु
ज्ज्वलवक्त्र तुंडु विरूपलोचनुडु तीव्रस्फारतेजोघनु
डलघुंडा सरसी तटाग्रमुन नय्यनुंडु घोराकृतिन्।

अर्थात् ताड़ के पेड़ों के समान जिसके अंग-प्रत्यंग हैं, सारा भूत-समूह जिसके गर्जन के कारण व्याकुल हो जाता है नितांत लंबी-चौड़ी जिसकी ग्रीवा है (कंठ-बाहुल्य) प्रकाशमान दंष्ट्रों से युक्त जिसकी मुखाकृति है, जिसके विलोचन विकृत हैं अधिक उज्ज्वल तेज से जो महान् है, भलामानस है, सरोवर तीर के अग्रभाग पर वैसा यक्षराज खड़ा हुआ है।

यक्षराज का वर्णन यहाँ अद्भुत है। अरण्य-पर्व के अंतिमभाग का यह संदर्भ है। रसोचित-वर्णन, पात्रोचित-भाषा, उपयुक्त छंद का चयन, अक्षय रम्यता आदि प्रबंध परमेश्वर की कविता की विशेषतायें हैं। "देशीय साहित्य में कथा-काव्य" अब इस पर विचार करें। आरंभ में यह बताना अनुचित न होगा कि केवल संस्कृत छंदों में ही नहीं, बलिक देशीय छंदों में और देशीय शब्द जाल से कथायें लिखने की मनः प्रवृत्ति लोगों में आ गई। तिक्कन्ना के पूर्व ही वीरशैव काव्यों का आविर्भाव हुआ। पालकुरिकि सोमनाथ का 'बसव-पुराण', 'पंडिताराध्य चरित्रा' और गोवा बुद्धा रेड्डि की 'रंगनाथ रामायण' आज जो द्विपद काव्य के रूप में (Classical Poetry) में प्रबंध के नाम से ये प्रख्यात हैं।

एर्राप्रेग्गता के अनंतर, प्रबंध युग का आरम्भ कहा जा सकता है। तेलुगु साहित्य के आचार्यों में आत्मशक्ति अथवा आत्मनिर्भरता नहीं है और वे सदा सर्वदा संस्कृत भाषा के दास हैं— इस प्रकार वे संसार में बदनाम हो गये हैं। अपनी इस बदनामी को दूर करने के लिये तेलुगु भाषा के कवियों ने प्रबंधों की रचना की, किसी पुराण या इतिहास के उपाख्यान को लेकर अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा उसको बढ़ा कर, उस में अष्टादश वर्णनों का उज्ज्वल रूप दिखाया। रसाभिव्यक्ति एवं पात्र-चित्रणा को अधिक प्रधानता देकर शब्दार्थालंकार सहित जो रचना की जाती है, उसका नाम पड़ा प्रबंध। कहा जाता है एर्रंता ने प्रबंध-युग का बीज बोया; श्रीनाथ ने उसे बढ़ाया और अल्लसानि 'पेद्दना' ने उसकी साधना में पूरी सफलता प्राप्त की। चौदहवीं सदी में प्रबंध का बीज फूट कर पौदा बना काल पाकर वृक्ष का रूप धारण करके श्रीकृष्णदेव राय के समय फलान्वित होकर विराजमान हुआ। इन्हीं मधुर फलों में कुछ 'स्वारोचिष मनुसंभव', 'वसुचरित्रा', 'आमुक्त मालयदा', 'पारिजातापहरण' आदि हैं। अठारहवीं सदी के अंत तक ये प्रबंध फल अदृश्य होने लगे किन्तु इसके अपवाद स्वरूप कंकंटि पापराजकृत 'उत्तर रामायण' नामक एक दिव्य फल तेलुगु साहित्य धरती पर गिरा। प्रबंधों के भी दो विभाग हैं। एक तो अनुकरण-प्रधान और दूसरे कथा-वैचित्र्य-प्रधान। श्रीनाथ कवि का शृंगार नैषध और पिल्ललमर्री पिनवीरभद्र कवि का 'शृंगार शाकुंतल' पहले विभाग के अंतर्गत आते हैं। श्रीनाथ कवि के वीरगीत साधारण प्रजा के लिये, उसी की भाषा में लिखे गये द्विपद काव्य हैं। ये (Popular Ballads) 'पलनाटि वीर चरित्र', 'काटम राजु कथा', 'कामम्मा कथा'' बोब्बिलि कथा', 'देसिंगु राजु कथा' आदि हैं। इसके बाद चित्रकथाओं का अवतरण हुआ। जक्कन्ना 'विक्रमार्क चरित्र' और अनंत कवि का 'भोजराजीय' इसी के अंतर्गत हैं। कथा-वैचित्र्य-प्रधान कवियों में सब से पहले और सब से प्रसिद्ध पिंगलि सूरन्ना का नाम आता है।

तेलुगु साहित्य में कृष्णदेव राय का काल परम पवित्र है। उस घाट पर जो आता है। उसे कई तरह के निनाद सुन पड़ते हैं। कहीं आठ ऋषियों के दर्शन होते हैं (अष्ट दिग्गज नाम के कवियों को उल्लेख)। एक ओर वरूधिनी-प्रवराख्य का प्रणय-प्रबन्ध हम देख सकते हैं दूसरी ओर उस श्रीकृष्ण के दर्शन कर सकते हैं जो अपनी प्रिय-पत्नी सत्यभामा को समझाते रहते हैं। एक ओर जगह गिरिका-वसुराज का मुग्ध मोहन प्रणय, हम जान सकते हैं। सब बातों से बढ़कर कलभाषिणी के कलाभाषणों को एवं उसके प्रणय-प्रज्ञाविशेषों को हम पहचानते हैं। सूरनार्य की कविता-प्रतिभा इसी एक पात्र-पोषण में है। तेलुगु साहित्य की यह अपूर्ण सृष्टि है। कलभाषिणी सुन्दरी, सुकुमारी, वाक्चातुर्य में निपुणा और कार्यसाधन में प्रवीणा है। तेलुगु साहित्य के प्रेमीजन सूरनार्य जी के इस सृष्टि कार्य को सराहे बिना नहीं रह सकते। कलभाषिणी जाति की वेश्या होने पर भी कलापूर्णोदय की प्रधान नायिका है। उसमें बाण कवि की 'कादंबरी' का अनुकरण है। पहले कलभाषिणी ब्रह्माजी के यहाँ रहती है। दूसरे जन्म में श्रीकृष्ण का आदर पाकर उस नाटक का पात्र बनती है जो कलहभोजन नारद के द्वारा चलाया जाता है। फिर मणिकंधर को प्यार करके परोक्ष रूप से उसका फल पाती है। तीसरे जन्म में कलापूर्ण के द्वारा अपनी मनोकामना पूरी कर लेती है। तीन जन्मों का वृत्तांत, एक साथ

मिलाकर, चतुरता से कहानी की कल्पना करते हैं। कलभाषिणी का अत्यंत सुन्दर तथा मनोहर चित्र खींचा। उस सूरनार्य की कविता-प्रतिभा को प्रणाम है। साहित्य जगत में इस कवि की यद्यपि इतनी प्रतिष्ठा है, फिर भी कथावस्तु की नवीनता तथा जटिलता के कारण साधारण जनता तक काव्य नहीं पहुँचा। केवल पंडितों की संपत्ति रह गई।

इसके अनंतर तँजाऊर कथा काव्यों की बारी आती है। यही समय था जब कि कथा काव्य नाजुक बन गया था। रघुनाथ नायक का वाल्मीकि चरित्र रघुनाथ रामायण (पद्यात्मक) छोटी-छोटी कथाओं के रूप में चेमकूटि वेंकटकवि के 'विजयविलास' और सारंगधर चरित्र इसी शैली के कथा-काव्य हैं। इसी प्रसिद्ध कथा को लेकर बिना जटिलता के कहना, वर्णनौचित्य, नाति प्रौढ़ शैली आदि इस कथा के विशेष लक्षण हैं। इनके बाद के कविगणों ने शृंगार प्रधान कथा-काव्य की रचना की। अल्पसंख्यक पात्र और स्वल्पसन्निवेश—इन कथा-काव्यों की विशेषता है। मुद्दु, पलनि का 'राधिका-सात्वन', इस कथा-काव्य का एक उदाहरण है। इसकी शैली मधुर मानी जा सकती है।

अब आधुनिक युग पर दृष्टिपात कीजिए। उन्नीसवी सदी का अंतिमकाल ही नवीन तेलुगु साहित्य का आरंभिक काल माना जा सकता है। जिस युग के कथा-काव्य के अधिकतर साहित्यिको पर अंग्रेजी का कुछ न कुछ असर पड़ा हुआ है। जिस प्रकार प्राचीन समय के आँध्र कवि संस्कृत भाषा भावों को अपना कर काव्य-निर्माण करते आये, उसी प्रकार ये लोग अंग्रेजी से प्रभावित होकर अपनी रचनाएँ करते हैं। प्रकृति-माता के आराधन में—प्रणय-संबंधी भावनाओं में—देशभक्ति के प्रबोध में इन लोगों ने विशेष प्रतिष्ठा पाई। स्त्री पात्रों को अपनी रचनाओं में अधिक आदरणीय स्थान दिया। शृंगार रस की अपेक्षा वीर और करुण रस के प्रति अत्यंत ममता दिखाई। नित्य जीवन में दृष्टिगोचर होने वाले साधारण पात्रों को देखकर ये द्रवीभूत हो गये। और उन्हीं को अपनी रचनाओं में प्रधानता दी। कहा जा सकता है कि इनकी कथा-वस्तु अधिकतर विषादांत ही हो गई। चाहे जो हो, ये लोग साधारण प्रजा के अत्यंत निकट आने लगे और अधिक लोकप्रिय बनने लगे। ऐसे लोगों में आंध्र यूनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर स्वर्गीय श्री कट्टमंचि रामलिंगारेड्डिजी का नाम सादर लिया जा सकता है जिन्होंने "मुसलम्मा मरणमु" नामक कथा-कव्य की रचना की। इस में एक ऐसी ग्रामीण युवती की कहानी दी गयी है जो अपने गाँव वालों की भलाई के लिये आत्मार्पण कर जाती है। पिंगलि लक्ष्मीकांतम जी और काटूरि वेंकटेश्वर राव जी का 'सौंदर नंदमु' का उल्लेख भी यहाँ अनुचित न होगा। इस प्रसिद्ध रचना में सुन्दरी और नंद की कथा है। रायप्रोलु सुब्बा राव जी का कथा-काव्य "स्नेहलतादेवी" का नाम उल्लेखनीय है। इस में एक ऐसी धनहीन कन्या की त्याग की कथा है जो दहेज से दुष्परिणाम से अपने परिवार को बचाने के लिये अग्निप्रवेश कर के अपने कन्यात्व की रक्षा कर लेती है और वह है स्नेहलतादेवी। आधुनिक कथा-काव्य के रचयिताओं में अग्रगण्य जाषुवा कविवरेण्य का नाम यहाँ न लें तो आधुनिक कथा-साहित्य के प्रति जरूर अन्याय होगा।

कहानी कहने की रीति उनकी चित्ताकर्षक होती है और उनकी रचना पंडित और पामर जनों को लोकोत्तरआनंद प्रदान करती है। 'फिरदौसी' और 'मुमताजमहल' उनके प्रसिद्ध कथा-काव्य हैं। गडियारमु वेंकटशेषशास्त्रीजी की रचना 'शिवभारत' (शिवाजी का चरित्र) का नाम प्रसिद्ध है ही। मगर इसे एतिहासिक कथा-काव्य कहना उचित होगा। भाव-प्रधान रचनाओं में, दुव्वूरि रामिरेड्डिजी की 'वनकुमारी', 'पानशाला', तथा रायप्रोलु सुब्बारायजी का तण कंकणमु 'जडकुच्चुलु' आदि है जिन में कथा केवल सूत्रप्राय दिखाई देती है।

अब जाषुआ कवि की कविता शक्ति पर सरसरी दृष्टि डालिये, यहाँ यह कहना अनुचित तथा अप्रासंगिक न होगा कि वाणी के कटाक्ष तीक्ष्ण किन्तु पक्षपात-रहित होते हैं। पूर्व-जन्म के पुण्य फल के अनुसार प्रत्येक प्राणी को उसका साक्षात्कार मिलता है परन्तु जीवन भर उसको उपासना और आराधना की योग्यता कमा लेना उस भाग्यवान् मनुष्य का पवित्र कर्तव्य हो जाता है और शारदा देवी को नित-निरंतर नवीन आभरणों से अलंकृत करना उसका धर्म बनता है। साहित्य जाति पाँति का भेद भाव नहीं रखता। इसी भाव को श्री जाषुआ कवि यों बताते हैं:—

"कललु मोहिंचु टोक कुलीनुलम गाटु
कुलमु लेदन्न वानिनि गूड वलयु"

अर्थात् कला केवल उच्च कुलवालों को ही प्यार नहीं करती, बल्कि उन लोगों को भी प्यार करती है जिनको उच्च जाति के लोग अधम समझते हैं। (ऊपर की पँक्तियों में कविता की जातीयता झलकती है।) जाषुआ के यहाँ रसमय हृदय है। संसार भर में प्रसिद्ध ताजमहल का दृश्य किस पाषाण हृदय पर अधिकार करके उसे द्रवीभूत नहीं बनाता? ताजमहल के दर्शनों से एकदम मुग्ध जाषुआ कवि के सुकुमार हृदय का व्यक्तीकरण ही 'मुमताज महल' है। इसमें मुगल बादशाह शाहजहाँ का राज्यपालन, मुमताज महल के साथ उनका दांपत्य-जीवन, प्रसिद्ध ताज का निर्माण आदि बातों का इस खंड काव्य में वर्णन है। छंद रचना भाषा और भावों में आंध्रत्व को अपना कर इस कवि ने काव्य गौरव बढ़ा दिया। काव्य भर में यथा स्थान मनोहर वर्णनों का सहारा लिया। संध्या समय का वर्णन वास्तव में सराहनीय है।

"मणु लल्ला कवि मीदुगट्टि पतिपेन मक्का मदीनालकुत" यहाँ सच्ची कविता है। "मीदुटट्टगा" आँध्र जाति का पुरातन संप्रदाय है। इसका अर्थ है—अपनी गाय या भैंस का दही एक जगह जमाकर रखना, इष्टदेव के भेंट के लिये।)

वलपुटिल्लालु पल्लेति पलुकंटिप
तुरक रायुडु तिलुवुन करगि पोये ॥

अर्थात् प्रिय पत्नी मुमताज बोलने के लिये जब अपना मुंह खोलती है, तो बादशाह शाहजहाँ सिर से पैर तक द्रवीभूत हो जाता है। (पानी पानी हो जाता है।) उत्तम प्रणय की सूचना देनेवाली ये तेलुगु कविता की अमर पंक्तियाँ हैं। भूमाता की रत्नगर्भा—इस उपाधि को ले

कवि जाषुआ ने अपनी कविता में कमाल कर दिखलाया। देखिये:—

निन्नु नुदरंबुलो दाचुकोन्न महिकि
रत्नगर्भाख्य नेहु सार्थक्यमरये ।।

अर्थात् स्वर्गीय मुमताज को संबोधित करके कवि कहता है, जिस धरती ने अपने उदर में तुझे समा लिया "रत्नगर्भा नामक इसका नाम आज सार्थक हो गया। ताजमहल का पीढ़ियों तक शान के साथ खड़ा होने की भावना करके इस कविवर का कहना है कि—

"राणि विडचि पोये राजु नोंटरि जेसि
राजु विडचि पोये राज्य रमनु
राज्य रमयु विहृचे राजुन बेक्कंड्
ताजि विहुव लेहु राजसंबु"—

अर्थात् राजा को एकाकी बना कर रानी चली गई और राजा तो राज्य रमा को छोड़ गया। राज्य रमा भी अनेक राजाओं को त्याग कर चली। परन्तु ताज ने अपनी शान–शौकत को नहीं छोड़ा (वैभव) कैसा अनमोल पद है यह! शब्दालंकार से भरी कैसी सुन्दर कविता! पद्य का भाव कितना मनोहर और गंभीर है। 'फिरदौसी' कवि का दूसरा प्रसिद्ध खंडकाव्य है। इसमें एक सत्कवि के द्वारा जिस प्रकार मूल्य चुकाने का वचन देकर रात दिन के परिश्रम के अनंतर फिर वचन-भंग करके बादशाह गज़नी मुहम्मद ने अत्याचार किया; परिणामस्वरूप उस कवि की असमय मृत्यु कैसे हुई; दु:खद समाचार पाकर बादशाह का दिल कैसे बदला आदि बातों का अद्भुत वर्णन इस खंड काव्य में है। एक बार नहीं बार बार अध्ययन करने और मनन करने योग्य खंड काव्य है, 'फिरदौसी'।

लोगों की रुचि क्रमशः बदलती जाती है। पद्य की अपेक्षा, गद्य, कथा-काव्य के लिये अधिक उपयुक्त समझा जाता है। फिर भी काव्य-जगत् में पद्य-साहित्य का महत्व कभी कम नहीं होगा। विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आगे चल कर दोनों तरह के कथा-काव्य पद्यात्मक और गद्यात्मक, साहित्याकाश के सूर्य और चंद्र के समान सुस्थिर यथा स्थान और यथासमय, शोभायमान होंगे।

प्रो० विष्णुपद भट्टाचार्य

बंगला कथाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय

बंगला कथाकाव्यों की आलोचना की सुविधा के लिये हम समग्र बंग साहित्य को प्राचीन और आधुनिक दो कालों में विभाजित कर लेते हैं—(१) दसवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक प्राचीन काल की व्याप्ति (२) उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से आधुनिक काल का सूत्रपात।

प्राचीन काल

पांचाली काव्य--

प्राचीन बंग साहित्य के कथाकाव्यों को 'पांचाली काव्य' या 'आख्यान काव्य' कहते हैं। प्राचीन काल में एक श्रेणी का काव्य 'पंचालिका' अथवा कठपुतली के नाच के साथ गाये जाने के कारण 'पांचाली' नाम से प्रसिद्ध हो गया। बाद को बंगला कथा-काव्य या आख्यान-काव्य का साधारण नाम 'पांचाली' ही रह गया। यह काव्य मंजीरे, मृदंग और चामर के साथ गाया जाता था।

प्रथम कथाकाव्य का रचना काल---

यद्यपि ईसा की दसवीं शताब्दी से बंगला भाषा ने अपभ्रंश से पृथक् होकर स्वतंत्र भाषा के रूप में स्थान ग्रहण किया फिर भी पंचदश शताब्दी के पहले के कथाकाव्यों का कोई निदर्शन हमें उपलब्ध नहीं। इसका एक मुख्य कारण यह है कि १२वीं सदी के अंतिम दशक में बंगला देश पर तुर्कों का आक्रमण हुआ और देश में अशांति रही। अतएव साहित्य चर्चा हो ही नहीं सकती थी। जो कुछ भी हुआ उसका निदर्शन नहीं मिलता। बंगला भाषा में पहला कथा-काव्य पन्द्रहवीं शताब्दी में रचा गया। तब से यह धारा अष्टादश शतक तक जारी रही।

सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि

विषय वस्तु (Matter) और संस्कृति की दृष्टि से बंगला कथाकाव्यों में तीन धाराएँ पायी जाती हैं :—(क) ब्राह्मण्य संस्कृति या संस्कृत की विषय वस्तु, (ख) अब्राह्मण्य संस्कृति या बंगाल की निजी विषय वस्तु, (ग) मुसलिम संस्कृति या अरबी-फारसी विषय

वस्तु । इससे यह धारणा नहीं होनी चाहिये कि ये तीन विषय वस्तुएँ सर्वथा स्वतंत्र रूप में साहित्य में प्रकट हुईं । परन्तु अनेक स्थलों पर इन तीन धाराओं का एक विचित्र मिश्रण भी पाया जाता है । आगे चलकर इसका परिचय मिलेगा ।

आर्य-अनार्य संस्कृति--

उत्तर पश्चिम भारत से आर्यगण ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी में मौर्य सम्राटों के समय से बंगाल देश में आने लगे और लगभग पंचम शताब्दी के मध्य में ही वे लोग इस प्रान्त में सब जगह बस गये । बंगाल देश में आर्यों के आने से पहले जो लोग रहते थे उनकी भाषा, आर्य भाषा और साहित्य के प्रभाव से लुप्त हो गई । यहाँ के अनार्य लोगों ने भी आर्य भाषा को अपना लिया । उस समय आर्यों की घरेलू भाषा प्राकृत होने पर भी उनकी शिक्षा और विद्याचर्चा की भाषा संस्कृत थी । धीरे-धीरे प्राकृत से अपभ्रंश, फिर अपभ्रंश से बंगला की उत्पत्ति हुई । पर उच्च वर्ग के लोगों अथवा विद्वत् गोष्ठी में संस्कृत का ही समादर था । उधर निम्नवर्ग एवं साधारण जनता में बंगला जारी रही । इस प्रकार एक ही प्रान्त में उच्च और निम्न इन दो वर्गों में भिन्न भाषा और संस्कृति की चर्चा चलती रही । ब्राह्मण्यवादी अथवा उच्चवर्ग के हिन्दू समाज में पौराणिक धारा अर्थात् संस्कृत शास्त्र-काव्य व पौराणिक प्रवृत्तियों का समादर रहा । अनार्य अथवा निम्न वर्ग के समाज में अपौराणिक स्थानीय देव देवियों की पूजा प्रचलित थी ।

तुर्की आक्रमण--

इतने में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों के संधिकाल में बंगाल देश पर तुर्कों के आक्रमण शुरू हुए । उसके फलस्वरूप यहाँ के आर्य-अनार्यों का वैमनस्य घट गया और ब्राह्मण-अब्राह्मण्य संस्कृति में मेल जोल होने लगा, जो साहित्य के लिये विशेष लाभप्रद हुआ । एक तरफ आर्य समाज में अपौराणिक स्थानीय देवताओं के प्रचार के लिये देव-माहात्म्य सूचक नाना काव्य रचे जाने लगे, दूसरी ओर ब्राह्मण्यवादी समाज संस्कृत को छोड़कर आम जनता की भाषा बंगला में अपनी संस्कृति और साहित्य का प्रचार करने लगा ।

मुस्लिम संस्कृति--

तुर्की आक्रमण के बाद शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष छिड़ गया । तुर्क शासकों की निगाह में हिन्दुओं के धर्म-कर्म, देव-देवी, शास्त्र, शिल्प, कला साहित्य संस्कृति सब कुछ 'कुफ्र' माने गये । इस तरह पहले पहल कट्टर विरोधी होने पर भी धीरे-धीरे यहाँ रहते हुए वे बंगाली बन गये । तीन शताब्दियों के बाद मुसलमान शासक बंगला भाषा व साहित्य की पृष्ठपोषकता करने लगे और अरबी फारसी छोड़कर बंगाली मुसलमान बंगला भाषा की चर्चा में जुट गये । इस तरह हिन्दू संस्कृति के साथ थोड़ी-बहुत मुसलिम संस्कृति भी बंगला साहित्य में आ गई । पर उसका प्रभाव अधिक नहीं रहा । हाँ, आजकल पूर्व पाकिस्तान में बंगाली मुसलमानों के द्वारा जो साहित्य रचा जा रहा है उसकी बात दूसरी है ।

कथा-काव्यों के प्रकार भेद

प्राचीन बंग साहित्य के कथाकाव्यों को हम निम्नलिखित रूप में विभाजित कर सकते हैं :—

(अ) धर्म सम्बन्धी (Religious)

(क) पौराणिक (या संस्कृत की) कथा वस्तु, जैसे भागवत, रामायण, महाभारत इत्यादि।

(ख) सम्प्रदायवादी (या अपौराणिक अर्थात् बंगाल की) कथा वस्तु, जैसे मंगल काव्य, नाथ साहित्य इत्यादि।

(ग) चरित सम्बन्धी (Biographical) कथा वस्तु, जैसे चैतन्यदेव के जीवन-सम्बन्धी कथाकाव्य।

(आ) धर्म-सम्बन्ध रहित (Secular) या लौकिक

(घ) प्रणय सम्बन्धी कथा वस्तु। जैसे विद्यासुन्दर, हिन्दी, उर्दू, फारसी से अनूदित काव्य, ग्राम गाथा इत्यादि।

(ङ) ऐतिहासिक (Historical)

(अ) धर्म सम्बन्धीकथाकाव्य

(क) पौराणिक

भागवत, रामायण और महाभारत की कहानियों के आधार पर जो कथाकाव्य लिखे गये उन्हीं को पौराणिक कथाकाव्य कहते हैं। ये ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थों का अक्षरशः अनुवाद नहीं है। ये भी एक प्रकार से स्वतंत्र रचनायें हैं। इनमें से भागवत और रामायण पन्द्रहवीं शताब्दी में रचे गये, महाभारत की रचना सोहलवीं शताब्दी के पहले भाग में हुई।

१. भागवत : श्री कृष्ण कीर्त्तन

बंगला भाषा का प्रथम कथाकाव्य है 'श्री कृष्ण कीर्त्तन।' बड़ु चंडीदास ने इसकी रचना की। कवि के जीवन के सम्बन्ध में हमें बहुत कम जानकारी प्राप्त है। आप वीरभूमि जिले के अन्तर्गत नान्नूर गाँव के रहने वाले थे। पंचदश शतक के पहले भाग में उन्होंने अपने काव्य की रचना की। आपके काव्य से मालूम होता है कि आप संस्कृत भाषा और साहित्य के जानकार थे। आप बासली देवी के सेवक थे। चंडीदास के सम्बन्ध में ऐसा एक प्रवाद प्रचलित है कि रामी नाम की एक धोबिन आपकी साधना संगिनी थी जिसके कारण कवि को ब्राह्मण समाज से अलग कर दिया गया था।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला लेकर इस कथाकाव्य की रचना हुई। राधाकृष्ण लीला प्राचीन बंगला और बंगालियों का एक परम आदरणीय विषय है। यद्यपि भागवत में श्रीकृष्ण का जीवन-वृत्तान्त वर्णित हुआ, फिर भी उसमें राधा का कोई प्रसंग नहीं है। राधाकृष्ण कहानी बहुत दिनों से बंगाल के लोक समाज में प्रचलित थी। इसी लौकिक

कहानी के आधार पर बारहवीं शताब्दी में बंगाल के प्रसिद्ध कवि जयदेव ने संस्कृत में 'गीतगोविन्दम्' काव्य की रचना की। बड़ चंडीदास ने भी उसी कहानी को लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी में 'श्रीकृष्ण कीर्तन' लिखा। इस काव्य में श्रीकृष्ण और बलराम का जन्म, उनका गोकुल लाया जाना तथा कालियादहन—केवल यही दो विषय पुराण से लिये गये हैं। अतः हम 'श्रीकृष्ण कीर्तन' काव्य को पौराणिक तथा अपौराणिक लीलाओं, धर्म साहित्य और प्रेम साहित्य का एक सुन्दर मिश्रण कह सकते हैं।

'श्री कृष्ण कीर्तन' की कहानी इस प्रकार है:—

कंस के निधन के लिये श्री हरि ने कृष्ण के रूप में और लक्ष्मी ने राधा के रूप में जन्म लिया। नपुंसक आइहन के साथ राधा की शादी हुई। पत्नी का उदीयमान रूप यौवन देखकर आइहन ने राधा को अपनी फूफी बड़ाथि की देख रेख में रख दिया। राधा और उनकी सहेलियाँ बड़ाथि के साथ दही दूध बेचने के लिये वन-पथ से होकर हर रोज मथुरा जाती थीं। एक दिन बुढ़िया बड़ाथि पिछड़ गई। राधा को ढूँढ़ते ढूँढ़ते उसने गायें चराते हुए कृष्ण को देखकर उससे राधा की बात पूछी। बड़ाथि के मुँह से राधा के रूप यौवन का वर्णन सुनकर कृष्ण मुग्ध हुआ और कहा कि मुझे राधा से एक बार मिला दो। पर राधा इससे नाराज हुई, वह बड़ाथि को भला बुरा कहने लगी। फिर भी एक दिन राधा ने निरुपाय होकर दैव का निर्बन्ध समझकर अनिच्छुक होने पर भी कृष्ण को आत्म-समर्पण किया। राधा से पुर्नमिलन की आशा से कृष्ण एक नाव बनाकर यमुना घाट पर घाटवाल बना। नदी के बीच में कृष्ण की शरारत से नाव डगमगाने लगी और डर के मारे राधा ने कृष्ण को आलिंगन किया। नाव डूब गई, राधाकृष्ण एक साथ यमुना में उतराने लगे। इस तरह नाना परिस्थितियों में राधाकृष्ण का मिलन होने लगा। अन्त में कृष्ण-विरागी राधा, कृष्ण-प्रेमिका बन गई। एक दिन मुरलीधर की बाँसुरी की मीठी आवाज ने राधा को बेचैन कर दिया। पर अब कृष्ण दिखाई नहीं देता। राधा रोने लगी। बड़ाथि की चेष्टा से राधाकृष्ण का मिलन हुआ। रति सुख से थकी हुई राधा कृष्ण की गोद में सिर रख कर सो गई। तब कृष्ण ने बड़ाथि को बुलाकर कहा—मेरा विशेष अनुरोध है कि तुम राधा को आदर से रखना, अब मैं मथुरा चला। यह कह कर कृष्ण अपनी गोद से राधा का सिर उतार कर मथुरा की ओर चले। नींद टूटने पर राधा ने देखा—कृष्ण नहीं है। दिन पर दिन, माह पर माह बीतने लगे, पर कृष्ण नहीं लौटा। इस तरह राधा के विरह में ग्रन्थ की समाप्ति हुई।

'श्री कृष्ण कीर्तन' बंगला भाषा का प्राचीनतम कथाकाव्य ही नहीं, एक श्रेष्ठ कथाकाव्य भी है। इसकी भाषा बहुत पुरानी और दुर्बोध है। इसलिये साधारण पाठक इसमें रस नहीं पाते। किन्तु थोड़ी बहुत मेहनत करके जो पाठक इसमें प्रवेश करेंगे उन्हें कष्ट के अनुरूप पारितोषिक अवश्य मिलेगा।

इस ग्रन्थ में सिर्फ तीन चरित्र हैं—कृष्ण, राधा और बड़ाथि। तीनों चरित्र अपनी अपनी विशेषता से सुस्पष्ट हैं। राधा चरित्र के विकास साधन में कवि ने जिस तरह के कौशल का परिचय दिया प्राचीन बंग साहित्य में वह बिरला है। इस ग्रन्थ में राधा कृष्ण

कोई आध्यात्मिक जगत के नरनारी नहीं हैं, हम जैसे साधारण प्राणी हैं। इसलिये हमारे विचार से 'श्रीकृष्ण कीर्तन' देव लीला का नहीं, मानव लीला का काव्य है।

स्वयं श्री चैतन्य देव चंडीदास के काव्य का रसास्वादन करते थे। आज कल की दृष्टि से 'श्री कृष्ण कीर्तन' कहीं-कहीं रुचिविगर्हित प्रतीत होता है, पर काव्य में कुछ ग्राम्यता दोष होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसका रचयिता बड़ू चंडीदास बंगाल के श्रेष्ठ कवियों में से एक है।

भागवत : श्री कृष्ण मंगल

बंगला में भागवत के आधार पर रचित काव्य 'श्री कृष्ण मंगल' या 'श्री कृष्ण विजय' नाम से परिचित है। इसके पहले जिस कथा काव्य के बारे में आलोचना की गई है वह 'श्री कृष्ण कीर्तन' सचमुच भागवत के आधार पर नहीं रचा गया, वह एक स्वतंत्र काव्य है। भागवत की कहानी के आधार पर लिखे हुए काव्यों में से सर्व प्रथम है मालाधर वसु का 'श्री कृष्ण विजय', रचना काल १४७३ से १४८० ई० तक। ग्रन्थ की भाषा सरल है। साहित्य की दृष्टि से इसका स्थान ऊँचा न होने पर भी भागवत का पहला बंगला अनुवाद तथा पौराणिक साहित्य का एक पुराना निदर्शन होने के कारण साहित्य के इतिहास में इसका एक निराला स्थान है। श्री चैतन्यदेव भी इस काव्य का रसास्वादन करते थे।

'श्री कृष्ण विजय' के बाद भागवत का अवलम्बन लेकर कथा काव्य रचना को एक नई प्रेरणा मिली। वह प्रेरणा है स्वयं भक्ति रत्नाकर कृष्ण प्रेमोन्मत्त श्री चैतन्य देव, (जन्म १४८६, मृत्यु १५३३ ई०)। षोड़श, सप्तदश और अष्टादश शताब्दियों में बंगला भाषा में भागवत रचना की धूम मच गई। ऐसे काव्यों और कवियों में निम्नलिखितों की गणना की जाती है :—

ई० शताब्दी	कवि का नाम	काव्य का नाम
षोड़श	भागवताचार्य रघुपंडित	कृष्ण प्रेम तरंगिनी
	यह काव्य यथा सम्भव मूल पाठ से मिलता है। श्री चैतन्य देव ने रघु पंडित का भागवत पाठ सुन कर खुशी से उन्हें 'भागवताचार्य' की उपाधि दी थी।	
षोड़श	देवकी नन्दन सिंह	गोपाल विजय
षोड़श	माधवाचार्य	कृष्ण मंगल
षोड़श	श्याम दास	गोविन्द मंगल
षोड़श	कृष्ण दास	कृष्ण मंगल
सप्तदश	भवानन्द	हरिवंश
अष्टादश	शंकर चक्रवर्ती	गोविन्द मंगल

२. रामायण

बंगला रामयण के सर्व प्रथम कवि कृत्तिवास ओझा १५वीं शताब्दी में जीवित थे। इनकी रामायण बंगला साहित्य का एक प्रधान काव्य है। बंगला में दो ग्रन्थ सबसे जनप्रिय

हैं, उनमें से एक है काशीराम दास का (सत्रहवीं शताब्दी) 'महाभारत' और दूसरा कृत्तिवास की 'रामायण'। इन दो ग्रंथों को जैसा सम्मान मिला वैसा आदर किसी तीसरे बंगला काव्य को प्राप्त नहीं हुआ। इस जनप्रियता के फलस्वरूप वह रामायण अपने मूल रूप में नहीं मिलती, खासकर भाषा की दृष्टि से उसमें बहुत परिवर्तन आ चुके हैं। लोगों के मुँह से बदलते-बदलते इसकी भाषा बिलकुल आधुनिक हो गई है।

कृत्तिवास ने वाल्मीकि रामायण का ठीक अनुवाद नहीं किया, उनकी रामायण एक नई सी रचना है। इसके बारे में विश्व कवि रवीन्द्रनाथ का कहना है—"मूल आख्यान का अवलम्बन लेकर बंगाली कवि की लेखनी से रामायण एक स्वतंत्र काव्य-रचना बनी है। इस बंगला काव्य में कवि वाल्मीकि के समाज का आदर्श अंकित नहीं हुआ, इसमें पुरातन बंगाली समाज प्रकट हुआ। कृत्तिवास के राम भक्तवत्सल हैं।..... यहाँ तक कि विभीषण भी उनका भक्त है। उनके हाथ से मारे जाने के कारण रावण को भी बैकुंठ लोक मिला। कृत्तिवास की रामायण भक्ति की ही लीला है।" फिर भी साहित्यरस या भक्ति-रस की दृष्टि से कृत्तिवासी रामायण तुलसी रामायण के सामने ठहर नहीं सकती। सन् १८०३ ई० में कृत्तिवास का काव्य सबसे पहले छपा था।

अन्यान्य रामायण

षोड़श शताब्दी में किसी रामायणकार का पता नहीं मिलता। सप्तदश शताब्दी में भी रामायणकारों की संख्या बहुत कम है। उनमें से उल्लेखनीय हैं:—

(१) बड़् नित्यानन्द आचार्य
(२) रामशंकर दत्त
(३) चन्द्रावती

चंद्रावती बंगला साहित्य की पहली कवयित्री हैं। उनके पिता वंशीदास चक्रवर्ती भी कवि थे। चन्द्रावती का कारुण्यमय जीवन लेकर ग्राम गाथा रची गई जिसका परिचय बाद को मिलेगा।

अष्टादश शताब्दी के रामायणकार:—

(४) फकिर राम कवि भूषण
(५) शंकर चक्रवती
(६) रामानन्द यति
(७) रामानन्द घोष
(८) जगतराम राय

उन्नीसवीं सदी के प्रथमार्ध में कई रामायण ग्रन्थ लिखे गये जिनमें से सन् १८३१ ई० में रघुनन्दन गोस्वामी की 'राम रसायन' विशेष उल्लेखनीय है। प्राचीन रामायण धारा के यही शेष प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। इसके बाद भी पद्य या गद्य में रामायण का अनुवाद या स्वतंत्र रचना हुई पर वे हमारी आलोचना के बाहर हैं।

३. महाभारत

बंगला भाषा में महाभारत की कहानी सबसे पहले सोलहवीं शताब्दी के पहले पाद में लिखी गई है। रचयिता हैं 'कवीन्द्र' परमेश्वर। बंगला साहित्य के प्रख्यात विद्वान् डा०

सुकुमार सेन का कहना है कि आर्यावर्त के किसी दूसरे प्रादेशिक साहित्य में इतना पुराना महाभारत काव्य नहीं मिलता। चट्टग्राम के मुसलमान शासन-कर्ता परागल खान के आदेश से लिखे जाने के कारण यह महाभारत 'परागली महाभारत' नाम से भी विख्यात है। मूल महाभारत की तरह यह काव्य भी १८ पर्वों में विभाजित है। हां, परमेश्वर ने यह कहानी संक्षेप में लिखी। कवित्व की दृष्टि से ऊँचा न होने पर भी सर्व प्रथम महाभारत काव्य होने के कारण यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है।

अन्यान्य महाभारतकार

षोड़श शताब्दी के अन्यान्य कवियों में इनका नामोल्लेख किया जाता है:—

(१) श्रीकर नन्दी   (२) रामचन्द्र खान
(३) पीताम्बर   (४) द्विज रघुनाथ
(५) अनिरुद्ध राम सरस्वती।

सप्तदश शताब्दी:—बंगला रामायण के प्रधान कवि कृत्तिवास पंचदश शताब्दी के थे। बंगला महाभारत के प्रधान कवि काशीराम दास षोड़श शताब्दी के तीसरे पाद में पैदा हुए। सत्रहवीं शताब्दी के पहले दशक में (१६०२—१६१० ई० के बीच) उन्होंने महाभारत की रचना की। कृत्तिवास की रामायण की तरह काशीराम दास का महाभारत भी बंगालियों का जातीय काव्य है। रचना काल से लेकर वर्तमान काल तक यह समान आदर पाता आ रहा है। यह काव्य सबसे पहले सन् १८०३ ई० में छपा।

सप्तदश और अष्टादश शताब्दियों के प्रमुख कवि यह हैं।

(१) कवीन्द्र नित्यानन्द घोष
(२) शंकर चक्रवर्ती
(३) राजेन्द्र दास

इनके अलावा महाभारत के छोटे बड़े आख्यानों के बहुत से कवि हुए हैं। पर किसी की रचना में ऐसी कोई विशेषता नहीं पायी जाती है जिससे उनका नामोल्लेख किया जाय।

(ख) अपौराणिक

उत्पत्ति की पृष्ठ भूमि—बंगाल के इतिहास में तेरहवीं शताब्दी के शुरू में ही मुसलमानों का राज्य स्थापित होगया। इसके पहले बंगाल के उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के लोगों के बीच एक बड़ा व्यवधान था। उच्च वर्ग के लोग आर्य या ब्राह्मण्यवादी थे, फिर निम्न वर्ग के लोग अनार्य या अब्राह्मण्यवादी। शिक्षा-संस्कृति धर्म उपासना भाषा और साहित्य में इन दोनों के बीच एक बड़ा अन्तर था। तुर्की मुसलमान मानो इस विवाद को मिटाने के लिये ही बंगाल में आये थे। विधर्मी विदेशी शक्ति को राजसिंहासन पर अधिकार करते देखकर ब्राह्मण्यवादी उच्च वर्ग को सुधि आ गई। वे समझ गये कि निम्न वर्ग से नफरत करने से काम नहीं चलेगा। इसी अवसर पर निम्न वर्ग के अपौराणिक देव देवियों की महिमा प्रचार के लिये आग्रह दिखाई दिया और उसी के फलस्वरूप मनसा,

चंडी, धर्म ठाकुर प्रभृति अपौराणिक अनार्य देवताओं के माहात्म्य को प्रकट करने वाले कथा काव्य रचे जाने लगे। ये काव्य 'मंगल काव्य' नाम से प्रसिद्ध हैं।

स्वरूप और प्रकार भेद—

जिन देवताओं को लेकर मंगल काव्यों की कहानी बनी उनमें से मुख्य हैं मनसा, चंडी और धर्म ठाकुर। ये सब निम्न वर्ग के देवता थे, उच्च वर्ग के लोग इन देवताओं को विशेष महत्व नहीं देते थे। ऐतिहासिक पंडितों का कथन है कि बंगाल देश में तुर्की आक्रमण के पश्चात् तेरहवीं शताब्दी में ही इन कहानियों ने जन्म लिया। समाज की सभी श्रेणियों में विशेषतः उच्च श्रेणी में अपने अपने देवताओं की पूजा प्रचार के लिये भक्त सम्प्रदाय ने जो कहानियाँ बनाईं उन्हीं के आधार पर मंगल काव्य रचे गये। ये कहानियाँ किसी संस्कृत पुराण में नहीं थीं, ये बंगाल की निजी कथाएँ हैं।

ऊपर की आलोचना से यह स्पष्ट है कि ये देवता सम्प्रदायवादी (Sectarian) थे और साम्प्रदायिक बोध से ही पहले पहल मंगल काव्य रचे गये। किन्तु आगे चलकर साम्प्रदायिक बंधन टूट गया और सम्प्रदाय के बाहर के कविगण भी अपनी अपनी कवित्व-स्फूर्ति के लिये इन कहानियों का अवलम्ब लेने लगे। इसी तरह मंगल-काव्य धीरे धीरे सम्प्रदायवादी काव्य न रहकर बंगालियों का जातीय काव्य बन गया।

मंगल काव्य प्रधानतः तीन प्रकार के हैं—मनसा मंगल, चंडी मंगल और धर्म मंगल। बाद को इन काव्यों का समादर देखकर उनकी देखा देखी और भी कई पौराणिक तथा अपौराणिक देवताओं को लेकर मंगल काव्य रचे जाने लगे। बंगला में संस्कृत पुराणों का अनुवाद करने की प्रवृत्ति दिखाई दी पर साहित्य की दृष्टि से ये सब रचनाएँ उल्लेखनीय नहीं हैं।

१. मनसा मंगल कथा काव्य—

शिव भक्त चन्द्रधर या चाँद सौदागर मनसा के विरोधी थे। उन्होंने मनसा की पूजा करने से इनकार कर दिया था। उस देवी के कोप से सौदागर के छः पुत्र समुद्र में डूब गये। सातवें पुत्र लखिन्दर के बड़े होने पर बेहुला के साथ उसका विवाह हुआ। फिर लखिन्दर भी साँप के काटने से मर गया। बेहुला एक बेड़े पर स्वामी की मृतदेह लेकर स्वर्ग को गई और वहाँ संगीत और नृत्य कला से उसने देवताओं को संतुष्ट किया। देवताओं के अनुरोध और बहुला की कातरोक्ति से मनसा का क्रोध शान्त हुआ। बेहुला ने मनसा से प्रतिज्ञा की कि वह अपने ससुर चाँद सौदागर से मनसा की पूजा करायेगी। मनसा ने लखिन्दर और उसके छः भाइयों को जीवित कर दिया। चाँद सौदागर ने पुत्र वधू के अनुरोध से बायें हाथ से मनसा की पूजा की।

मनसा मंगल के कवि—

मनसा मंगल के प्रथम कवि हरिदत्त का सिर्फ नाम पाया जाता है, उन के काव्य का कोई पता नहीं। पूर्वी बंगाल के विजय गुप्त और पश्चिमी बंगाल के विप्रदास पिपिलाइ

थे। ये दो कवि पन्द्रहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में मनसा मंगल काव्य की रचना कर चुके थे। साहित्य की दृष्टि से इन की रचनाएँ उच्च कोटिकी नहीं हैं।

सोलहवीं शताब्दी में मनसा मंगल के उल्लेखनीय कवि हैं वंशीदास चक्रवर्ती और नारायण देव। मनसा मंगल के कवियों में वंशीदास ही सर्वश्रेष्ठ हैं। संस्कृतज्ञ पंडित होते हुए भी कवि ने कहीं अनावश्यक पांडित्य का प्रदर्शन नहीं किया है। बंगला साहित्य में वंशीदास की ख्याति अपनी कन्या चन्द्रावती के कारण और भी बढ़ गई। चन्द्रावती ने पिता की कवित्व शक्ति पाई थी और उन्होंने स्वयं रामायण रचना के अलावा मनसा मंगल की रचना में पिता की सहायता की। चन्द्रावती की जीवन कथा भी रोमान्टिक है। (पीछे देखिये)। मनसा मंगल के और एक श्रेष्ठ कवि हैं दसवीं शताब्दी के कवि क्षेमानंद। सन् १८४४ ई० में उनका काव्य मुद्रित हुआ।

२. चंडी मंगल कथा काव्य

चंडी मंगल कथा काव्य की चंडी, शिकारी और पशुओं की देवी है। आगे चलकर इसके साथ प्रसिद्ध पौराणिक देवी दुर्गा (और चंडी) एकीभूत हो गई। इस तरह बंगला चंडी मंगल में पौराणिक तथा अपौराणिक धाराओं का मिश्रण हुआ।

कहानी

चंडी मंगल कथा काव्य में दो स्वतंत्र कहानियाँ मिलती हैं—कालकेतु-फुल्लरा कहानी और धनपति-खुल्लना कहानी।

कालकेतु-फुल्लरा कहानी—

एक दरिद्र व्याध की संतान कालकेतु ने एक दिन मृगया के लिये जाकर कुछ न पाया, आखिर एक स्वर्ण-कान्ति गोह को जीवित अवस्था में पकड़ कर घर ले आया। स्त्री फुल्लरा को खोजने के लिये कालकेतु बाहर निकला। इधर वह गोह एक सुन्दर तरुणी बन गई। फुल्लरा यह दृश्य देखकर विस्मय से अवाक् रह गई। फुल्लरा ने भाँति भाँति से उसे समझाया, पर उस देवी ने चले जाने का भाव प्रदर्शित नहीं किया। आखिर वह तुष्ट होकर व्याध-दम्पति को एक मूल्यवान अंगूठी देकर अन्तर्ध्यान हो गई। अंगूठी बेचकर कालकेतु ने बहुत धन पाया और एक नये राज्य की स्थापना की। उस राज्य में एक धूर्त प्रवंचक भाँडूदत्त भी आ बसा। उसने कालकेतु के विरुद्ध एक पड़ोसी राजा को उत्तेजित किया। कालकेतु के राज्य पर आक्रमण हुआ और वह पराजित होकर बन्दी बनाया गया। अन्त में देवी चंडी की कृपा से कालकेतु की मुक्ति हुई और सारे देश भर में चंडी पूजा का प्रचार हुआ।

धनपति-खुल्लना कहानी—

वणिक् धनपति ने प्रथम पत्नी लहना के निःसंतान होने के कारण खुल्लना से शादी की। थोड़े दिनों बाद वाणिज्य के लिये धनपति को सिंहल जाना पड़ा। उस समय खुल्लना गर्भवती थी। धनपति ने समुद्र में एक अपूर्व दृश्य देखा—कमल पर बैठी हुई एक तरुणी एक हाथी को खा रही थी और दूसरे ही क्षण उसे उगल रही थी।

धनपति ने यह कहानी सिंहल राजा को सुनाई, पर राजा ने जब वह दृश्य देखना चाहा तो धनपति राजा को दिखलाने में असमर्थ हुआ। अतः धनपति कैदी बनाया गया। बहुत दिनों बाद खुल्लना का पुत्र श्रीमंत भी पिता की खोज में सिंहल की ओर चला और समुद्र में श्रीमंत ने भी वही 'कमल में कामिनी' वाला अपूर्व दृश्य देखा। फिर पिता के समान वह भी राजा को दृश्य नहीं दिखा सका। श्रीमंत को प्राणदंड की आज्ञा हुई। उधर पुत्र की विपत्ति की आशंका से खुल्लना देवी चंडी की उपासना करने लगी। अन्त में देवी की कृपा से पिता पुत्र मुक्त हो गये। सिंहल राजा ने अपनी कन्या श्रीमंत को ब्याह दी, पिता पुत्र खुश होकर स्वदेश लौट आये।

कवि परिचय

चंडी मंगल कथा-काव्य के प्रथम कवि हैं माणिकदत्त। इनकी रचना उच्च-कोटि की नहीं है। अनुमान किया जाता है कि ये पन्द्रहवीं शताब्दी के कवि थे। चंडी मंगल के द्वितीय कवि माधवाचार्य का काव्य (रचना काल सन् १५८० ई०) माणिक दत्त की रचना से कहीं अच्छा है।

चंडी मंगल के श्रेष्ठ कवि मुकुन्दराम चक्रवर्ती प्राचीन बंग साहित्य के श्रेष्ठ कवियों में से एक हैं। उनके काव्य का रचना काल सोलहवीं सदी का अन्तिम दशक है। तब से दूसरे किसी का चंडी मंगल अपना प्रभाव नहीं जमा सका। बंगला साहित्य के मध्य युग में मुकुन्दराम, मानवीय रुचि (human interest) और वास्तविकता (realism) के एकमात्र कलाकार हैं। चरित्रांकन में वे अद्वितीय हैं। इन सब गुणों के कारण सभी समालोचक मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि प्राचीन बंगला साहित्य के कवियों में सिर्फ मुकुन्दराम में उपन्यास रचना की प्रतिभा थी। इन का चंडी मंगल काव्य सन् १८२३ ई० में मुद्रित हुआ। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में चंडी मंगल के बहुत से कवियों के नाम मिलते हैं पर मुकुन्दराम के काव्य का प्रचार हो जाने के पश्चात् दूसरे किसी का काव्य उल्लेखनीय नहीं रहा।

३. धर्म मंगल कथा काव्य

कवित्व की दृष्टि से धर्म मंगल काव्य का स्थान मनसा मंगल या चंडी मंगल से नीचा है।

धर्म ठाकुर की पूजा बंगाल में बहुत दिनों से प्रचलित है। तान्त्रिक सहजयान के साथ नाथपंथी शैवयोगियों का धर्ममत और कुछ अनार्य धर्मविश्वास मिलकर धर्म पूजा का उद्भव हुआ। धर्म ठाकुर की पूजा समाज के निम्न जाति के लोगों में ही प्रचलित थी। ब्राह्मणादि उच्च वर्णों में धर्म पूजा नितान्त गर्हित थी। सत्रहवीं सदी से धर्म ठाकुर ने शिव अथवा विष्णु अथवा दोनों के साथ एकीभूत होना आरंभ किया और धीरे धीरे धर्म पूजा ब्राह्मण्य धर्म में गुप्त रूप से अपना स्थान अधिकृत कर बैठी। धर्म ठाकुर की कोई प्रतिमा नहीं है। कछुए के आकार का पत्थर ही उनका प्रतीक है।

कहानी

गौड़ेश्वर के अधीन सामन्तराज कर्णसेन के छः पुत्र इच्छाई घोष के साथ युद्ध में

मारे गये। तब कर्णसेन ने गौड़ेश्वर की साली रंजावती से विवाह किया और धर्म के अनुग्रह से रंजावती को लाउसेन नामक एक पुत्र मिला। इसी लाउसेन की करामात और 'ऐड्वेंचर' लेकर बहुत सी उपकथाएँ रची गयीं, जो आधुनिक दृष्टि से बिलकुल अलौकिक और असंभव हैं। इसीलिये मनसामंगल और चंडीमंगल की कहानियों के समान धर्म मंगल की कहानी जनप्रिय नहीं है। फिर भी वीररसाश्रित काव्य होने के कारण बंगला साहित्य में धर्म मंगल का एक अनोखा स्थान है। किसी किसी का कहना है कि धर्म मंगल पश्चिम बंग का जातीय काव्य है। यह सच है कि अलौकिक कहानियों की समष्टि होते हुए भी धर्ममंगल काव्य में कई चरित्र विकसित हुए हैं। इस उपाख्यान के मूल में कई उपकथाएँ और शायद थोड़ी बहुत ऐतिहासिक घटनाओं का आभास है। पर इसको ऐतिहासिक काव्य नहीं माना जा सकता।

कवि परिचय

धर्म मंगल कहानी का प्रथम कवि मयूर भट्ट है, पर इस का काव्य नहीं मिलता। मयूर भट्ट के बाद खेलाराम और श्री श्याम पंडित के नाम लिये जाते हैं, किन्तु इनके काव्यों का भी कोई पता नहीं। जिन कवियों के धर्म मंगल काव्य मिले हैं उनमें से सर्व प्रथम हैं रूपराम चक्रवर्ती। आप सत्रहवीं सदी के कवि थे। रूपराम ने आत्म परिचय और काव्य रचना का जो इतिहास दिया वह जितना सरल है उतना ही हृदयग्राही। रूपराम की देखा देखी परवर्ती काल के सभी कवियों ने अपनी अपनी काव्य रचना का इतिहास और आत्म परिचय दिया उनमें तत्कालीन बंगाली सामाजिक जीवन का सुन्दर परिचय मिलता है।

रूपराम के अलावा सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में रामदास आदक, सीताराम दास, धनराम चक्रवर्ती, नरसिंह बसु, माणिक राम गांगुली, रामकान्त राय प्रमुख और भी कई कवि पैदा हुए थे। उनमें से धनराम चक्रवर्ती का काव्य ही सबसे जनप्रिय रहा .

४. शिवायन या शिवमंगल काव्य

पंचदश और षोड़श शताब्दियों के विभिन्न मंगलकाव्यों में शिव का प्रसंग मिलता है। ऐसा एक भी मंगल काव्य नहीं है जिसमें शिव का प्रकरण नहीं दिया गया। पर सप्तदश शताब्दी के पहले कोई स्वतंत्र शिवमंगल काव्य नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि शिव जी असाम्प्रदायिक देवता थे, ऊँच नीच सभी समाजों में सम्मान पाते थे। अतः किसी सम्प्रदाय में शिव महात्म्य का प्रचार करने का आग्रह नहीं था। अन्त में वैचित्र्यहीन मंगल काव्यों की धारा में थोड़ा नयापन लाने के लिये कवियों ने शिवायन या शिवमंगल की ओर दृष्टिपात किया।

बंगला साहित्य में शिव दो रूपों में दिखाई देते हैं—पौराणिक तथा अपौराणिक। धर्ममंगल, चंडीमंगल, मनसामंगल प्रभृति काव्यों में अपौराणिक शिव का परिचय मिलता है। जब कि शिवमंगल में पौराणिक और अपौराणिक दोनों का मिश्रण हुआ।

शिवमंगल काव्य के प्रथम रचयिता द्विज रतिदेव सत्रहवीं सदी के कवि थे। इस धारा के श्रेष्ठ कवि रामेश्वर भट्टाचार्य ने १८वीं शताब्दी के पहले भाग में (सन् १७११ ई० में)

अपने काव्य की रचना की। इन के काव्य में साधारण मनुष्यों की घर-गृहस्थी के व्यापार अत्यन्त सहृदयता से वर्णित हुए हैं।

५. अन्यान्य मंगल काव्य

ऊपर लिखे हुए मंगल काव्यों के अतिरिक्त सप्तदश और विशेष रूप से अष्टादश शताब्दी में पौराणिक तथा अपौराणिक बहुत से अप्रसिद्ध देवताओं को लेकर छोटे-मोटे मंगल काव्य रचे गये, जैसे—षष्ठीमंगल, शीतलामंगल, गौरीमंगल, दुर्गामंगल, सूर्यमंगल, गंगामंगल, सरस्वती या सारदामंगल, रायमंगल।

इन देवताओं के अलावा सत्यनारायण अथवा सत्यपीर नामक एक नवीन देवता का आविर्भाव हुआ। मध्य युग में पीर एवं फकीर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्प्रदाय के लोगों से श्रद्धाभक्ति पाते थे। इसी कारण से पीर की उपासना दोनों धर्मों के मेल के लिये सेतुस्वरूप हुई। पीर और विष्णु एक हो गये। सत्यपीर की कहानी लेकर जो काव्य लिखे गये वे सब अष्टादश शताब्दी के हैं। धनराम चक्रवर्ती, रामेश्वर भट्टाचार्य, भारतचन्द्र राय जैसे प्रसिद्ध कवियों ने भी इस काव्य की रचना में हाथ लगाया था।

६. नाथ साहित्य

दसवीं शताब्दी से बंगाल में नाथ सम्प्रदाय के एक शिवोपासक योगी सम्प्रदाय का परिचय पाया जाता है। इस सम्प्रदाय के आदि गुरु श्री मत्स्येन्द्रनाथ या मीननाथ के नाम से यह धर्म, नाथ धर्म से परिचित है। मीननाथ और उनके शिष्य-प्रशिष्यों के माहात्म्य को प्रकट करके जो अलौकिक कहानियाँ रची गयी थीं वे नाथ साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुईं। यह साहित्य भी एक प्रकार से मंगल काव्य है। क्योंकि इसमें साम्प्रदायिक देवताओं की तरह सम्प्रदायवादी गुरुओं की महिमा प्रकट की गई है।

नाथ साहित्य में दो कहानियाँ उपलब्ध हैं—(१) गोरक्ष विजय अथवा मीननाथ गोरक्ष नाथ की कहानी, (२) गोपीचंद (गोविन्द चन्द्र) का गान अथवा गोपीचंद-मैनामती की कहानी।

कहानी

पहली कहानी में देवी दुर्गा के छल से मीननाथ का मोह को प्राप्त होना और तत्पश्चात् उनके शिष्य गोरक्षनाथ द्वारा उनका उद्धार वर्णित है। गौरी देवी ने एक दिन मीननाथ को शाप दिया कि तुम जाकर कदली नारी के देश में राजा बनो। देवी के शाप से कदली देश में साधारण लोगों के समान मीननाथ के दिन कटने लगे। गुरु का यह हाल सुनकर गोरक्षनाथ ने नर्तकी का वेश धारण कर राजान्तःपुर में प्रवेश किया। गोरक्षनाथ की चेतावनी से मीननाथ को सुध आ गयी। गोरक्षनाथ ने गुरु मीननाथ और उनके पुत्र विन्दुनाथ को लेकर अपने स्थान को प्रस्थान किया।

दूसरी कहानी इस प्रकार है—राजा मणिकचन्द्र की विधवा पत्नी मैनामती सिद्ध हाड़िपा (नामान्तर जालन्धरिपाथ) के माहात्म्य से मुग्ध होकर उनकी शिष्या बन गईं एवं अपने पुत्र गोविन्द चन्द्र से भी हाड़िपा का शिष्य बनने के लिये उन्होंने अनुरोध किया। पुत्र ने अनेक आपत्तियाँ कीं पर अन्त में हाड़िपा की करामात देख कर वह राजी हो गया।

हाड़िपा ने गोविन्दचन्द्र को शिष्य बना कर योगी सन्यासी बना दिया। नाना देशों में भ्रमण करके विशेष कष्ट पाकर राजा अपने देश को लौट आया एवं गुरु की आज्ञा से सन्यास छोड़ कर उसने पुनः गृहस्थ धर्म का अवलम्बन किया।

ये कहानियाँ बंगाल में बहुत दिनों से प्रचलित थीं। पर अष्टादश शताब्दी के पहले का कोई काव्य नहीं मिलता। गोरक्ष विजय के तीनों कवि—फैजुल्ला, भीमसेन और श्याम दास—अठारहवीं सदी के थे। 'मैनामती कहानी' के जिन तीन कवियों का नाम मिलता है—दुर्लभ मल्लिक, भवानीदास, मुकुर मुहम्मद—ये भी अठारहवीं शताब्दी के कवि हैं।

(ग) जीवनी-विषयक कथाकाव्य

श्री चैतन्य देव (१४८६ ई०—१५३३ ई०)

यह निर्विवाद है कि साहित्य रचना की दृष्टि से बंगाल के इतिहास में श्री चैतन्य देव का आविर्भाव सर्वश्रेष्ठ घटना है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सिवा दूसरा कोई भी बंगला साहित्य को इतना प्रेरणामय नहीं कर सका। इसीलिये एक पंक्ति न लिखने पर भी श्री चैतन्य प्राचीन बंग साहित्य के इतिहास में प्रधान पुरुष माने जाते हैं। उनके अलौकिक चरित्र और व्यक्तित्व ने केवल उनके भक्तों में ही नहीं, साधारण जनता में भी विस्मयपूर्ण श्रद्धा और असीम भक्ति का उद्रेक किया। अपने तिरोधान के पूर्व ही वे ईश्वर मान कर पूजे जाने लगे थे और मृत्यु के बाद जीवनी काव्य में उनकी लीलाकथा परिकीर्तित होने लगी। इस तरह समसामयिक व्यक्ति के जीवनी काव्यों ने बंगला-साहित्य में एक नया रास्ता खोल दिया। श्री चैतन्य के जीवनी-काव्यों की देखा देखी उनके शिष्य प्रशिष्यों के जीवन लेकर कथा काव्य रचे गये। पर यहाँ केवल चैतन्य जीवनी काव्यों का उल्लेख किया जाता है। ध्यान रहे कि ये काव्य भक्ति काव्य हैं और वे धर्म के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं।

बंगला में श्री चैतन्य की जीवनी से संबंध रखने वाला प्रथम कथा काव्य वृन्दावन दास का 'चैतन्य भागवत' है। यह ग्रंथ चैतन्य के जीवन काल में या उनके तिरोधान के थोड़े ही वर्षों बाद रचा गया। इस पुस्तक में श्री चैतन्य के आरम्भिक जीवन की कहानी सुन्दर भाव से वर्णित हुई है। दूसरे कवियों और काव्यों के नाम नीचे दिये जाते हैं—

कवि	काव्य
लोचनदास	चैतन्य मंगल
कृष्णदास कविराज	चैतन्य चरितामृत
जयानन्द	चैतन्य मंगल

ये सभी काव्य षोड़श शताब्दी के बीच रचे गये थे। इनमें से कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य चरितामृत' श्रेष्ठ है। इस का प्रथम मुद्रण हुआ सन् १८२७ ई० में।

(अ) धर्म-निरपेक्ष (Secular) कथा-काव्य

(घ) प्रणय विषयक काव्य

प्रणय विषयक कथाकाव्य की तीन धाराएँ हैं:—

(१) हिन्दी-उर्दू-फारसी साहित्य से अनुवादित काव्य

(२) विद्या सुन्दर कहानी काव्य

(३) ग्राम गाथा काव्य

(१) हिन्दी-उर्दू-फारसी से अनुवाद

बंग भाषा में धर्म संस्कार मुक्त काव्य सबसे पहले सत्रहवीं सदी में रचा गया था। इसके पहले जो प्रणय सम्बन्धी कथा काव्य (जैसे बड़ू चंडीदास का 'श्री कृष्ण कीर्तन') मिलते हैं वे धर्म संस्कार से मुक्त नहीं, युक्त हैं। उन कथा काव्यों के नायक-नायिका साधारण कोटि के नरनारी नहीं हैं, वे राधाकृष्ण, हर गौरी जैसे देव-देवी अथवा देवताओं के अनुगृहीत मनुष्य हैं।

धर्म निरपेक्ष कथा काव्य की चर्चा सबसे पहले शुरू हुई चट्टग्राम-अराकान अंचल में। अराकान की राजधानी रोसांग के राजा की मातृ भाषा मघी होने पर भी बंगला उनके लिये दूसरी मातृ भाषा थी। उनकी राजसभा के आश्रय में रहते हुए जिन्होंने मानवीय प्रणय सम्बन्धी कथा काव्यों की रचना की वे सब मुसलमान थे। इन मुसलमान कवियों में दो कवि—दौलत काजी और अलावल बंग साहित्य में सुप्रसिद्ध हैं।

दौलत काजी, अलावल और उनके अनुगामियों के प्रणय काव्य मौलिक नहीं हैं, हिन्दू, उर्दू, फारसी कहानियों पर आधारित हैं। इन काव्यों में से सबसे पहले उल्लेखनीय हैं दौलत काजी का 'सती मैना' (या लोर चन्द्रानी)। कहानी इस प्रकार है:—

गोहारी देश के राजा विवाहित होने पर भी (उनकी पत्नी का नाम मैनामती है) मोहरा देश की राजकुमारी चन्द्रानी की तसवीर देखकर मुग्ध हो गये। चन्द्रानी भी विवाहिता थी। फिर भी चन्द्रानी के पति को मारकर लोर ने उससे शादी की और दोनों मोहरा देश में पति पत्नी के रूप में रहने लगे। इधर विरहिणी मैना ने एक ब्राह्मण की सहायता से अपने पति को पूर्वी बातों की याद दिलाई। लोर चन्द्रानी को लेते हुए मैनामती के पास पहुँचे।

दौलत काजी अपने काव्य में कहते हैं कि उन्होंने यह कहानी एक हिन्दी काव्य से ली है। यह काव्य समाप्त होने के पहले ही दौलत काजी चल बसे (सन् १६३८ ई० में)। उसके बीस वर्ष बाद सन् १६५८ ई० में इस अधूरे काव्य को अलावल ने पूरा किया।

अलावल का जीवन बहुत विचित्र है। वे दौलत काजी से भी बड़े कवि थे। अरबी, फारसी, हिन्दी, संस्कृत तथा बंगला इन पाँच भाषाओं में उनका अच्छा अधिकार था। संगीत और नाट्य कला में भी वे माहिर थे। उन्होंने कई ग्रन्थों का बंगला में अनुवाद किया जिन में से सब से अच्छा है 'पद्मावती'। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि मलिक

मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' के आधार पर रची गई यह पुस्तक (रचना काल १६४२–मूल काव्य के लगभग सौ वर्ष पश्चात्) अलावल की पहली और श्रेष्ठ कृति है। अलावल की दूसरी रचनाएँ ये हैं:—'सैफुल् मुल्क', 'वदी उज्जभाल', 'हफ्त, पैकर', 'सिकन्दर नामा' वगैरह।

दौलत काजी और अलावल के अनुकरण पर बहुत मुसलमान और कुछ हिन्दू कवि अनुवाद काव्य रचने लगे। कुतबन ने हिन्दी में १५१२ ई० में 'मृगावती' काव्य लिखा था। बंगाली कवि द्विज पशुपति ने उस कहानी को लेकर सत्रहवीं सदी में 'चन्द्रावली' काव्य लिखा। अठारहवीं शताब्दी में यह धारा बहुत जोरदार हुई और उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक चलती रही। हिन्दी-उर्दू-फारसी से जो कहानियाँ उस काल में बंगला भाषा में आईं उनमें से निम्नलिखित कहानियाँ सुप्रसिद्ध हैं:—मनोहर-मालती आख्यान; विक्रमादित्य की कहानी; द्वात्रिंशत् पुत्तलिका; तुतिनामा उपाख्यान; बेताल पंचविंशति; आरब्य उपन्यास; गुले बकावली; हातेमताई; लैला मजनू; युसुफ जुलेखा इत्यादि।

२. विद्यासुन्दर कहानी काव्य

विद्यासुन्दर कहानी बंग देश की निजी कहानी नहीं है। इसका मूल रूप काश्मीरी कवि विल्हण की संस्कृत कविता में और कवि वररुचि के संस्कृत नाटक में मिलता है। विद्यासुन्दर की कहानी इस प्रकार है :—

सुन्दर नामक एक विदेशी राजकुमार एक मालिनी को दूती बनाकर राजकुमारी विद्या से छिप कर प्रेम करता है। विद्या की माता ने कन्या के गुप्त प्रेम की कहानी को जान कर अपने पति को सूचित कर दिया। राजा ने कोतवाल की सहायता से सुन्दर को पकड़ लिया और प्राण-दण्ड की आज्ञा दी। किन्तु अन्त में सुन्दर का वास्तविक परिचय पाकर राजा ने उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया।

बंगला साहित्य में विद्यासुन्दर काव्य साधारणतया 'कालिका मंगल' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सुन्दर कालिकादेवी का वरपुत्र है। मूल आख्यान में देवता का सम्पर्क नहीं था। परन्तु बाद में कहानी को सर्वसाधारण के ग्रहणयोग्य बनाने के लिये धर्म की छाप लगा दी गयी। पर यह कहानी मूलतः लौकिक है।

बंगला साहित्य में विद्यासुन्दर कथाकाव्य अठारहवीं सदी की ही देन है। इसके पहले विद्यासुन्दर काव्य के जिन कवियों का हमें पता चलता है उनमें से द्विज श्रीधर षोड़श शताब्दी के और कृष्ण रामदास, प्राणराम चक्रवर्ती तथा सारिविद खान सप्तदश शताब्दी के थे। अठारहवीं शताब्दी में विद्यासुन्दर काव्य रचना की धूम मच गई। षोड़श शताब्दी से इस कहानी के बंगला भाषा में प्रचलित रहने पर भी अष्टादश शताब्दी में इस कहानी का विशेष समादर होने का सामाजिक कारण है। बंगला साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान डा० सुकुमार सेन कहते हैं—"पतनोन्मुख मुसलमान सम्राट और नवाबों के दरबार के आडम्बर ने बंगाल के शिक्षित समाज के मन को धीरे-धीरे प्रभावित और विषाक्त कर दिया था। समाज भी उस समय अवनतिप्रवण था। अतएव इस समय की विद्यासुन्दर कहानी की विकृत रुचि में उन दिनों के शिक्षित और धनी श्रेणी के लोगों की रुचि का परिचय मिलता है।"

विद्यासुन्दर काव्य धारा के श्रेष्ठ कवि भारत चन्द्र राय (१७१२–१७६०) न केवल अष्टादश शताब्दी के परन्तु समग्र बंग साहित्य के एक प्रधान कवि माने जाते हैं। सन् १७५२ ई० में इनका काव्य समाप्त हुआ। काव्य का नाम 'अन्नदामंगल' है, किन्तु यह कोई मंगल काव्य नहीं है। वास्तव में विद्यासुन्दर काव्य अन्नदामंगल काव्य का प्रधान अंश है। यह अंश रचना काल के उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यानी सौ वर्ष तक बंगला का सबसे जनप्रिय कथाकाव्य था। सन् १८१६ में यह मुद्रित हुआ और तबसे इसके बहुत से संस्करण निकल चुके हैं।

शैली की दृष्टि से भारतचन्द्र का काव्य बंगला साहित्य में अनूठा है। छन्द और शब्द सम्पद इस काव्य के प्रधान गुण हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा कि राजसभा कवि भारतचन्द्र का यह काव्य राजगले पर मणिमाला जैसो है। जैसी चमक-दमक वैसी ही कारीगरी। संस्कृत, बंगला, हिन्दी और फारसी इन चारों भाषाओं के भारतचन्द्र पंडित थे। उन्होंने आवश्यकता के अनुसार इन चार भाषाओं के शब्द मिलाकर कहीं-कहीं एक नई रचना शैली बना ली। किन्तु रुचि की दृष्टि से भारतचन्द्र का काव्य उन्नत नहीं है। चरित्रचित्रण की दृष्टि से भी वह असफल रहा। संक्षेप में भारतचन्द्रका काव्य उस समय के शिक्षित बंगालियों को साहित्य-रुचि का प्रतिनिधि है।

३. ग्राम गाथा

(१) और (२) में उल्लिखित कथाकाव्य साहित्यिक दृष्टि से उन्नत और जनप्रिय होने पर भी बंगाल की अपनी कथा वस्तु के काव्य नहीं है। अब जिस श्रेणी के प्रणय कथा-काव्य के बारे में आलोचना की जायगी वह ग्रामीण बंगाल की खास चीज है। वह प्रणय कहानी बाहर की नहीं, बनावटी (या कवि कल्पना से बनी हुई) नहीं, कुदरती है। देहात के अनपढ़ सरल नरनारियों के बीच जो प्रेमलीला सनातन काल से चली आ रही थी उसी के आधार पर बहुत से कथानक रचे गये थे। पूर्वी बंगाल में प्रचलित ऐसी कहानियों का अच्छा संग्रह मिलता है बंगला भाषा और साहित्य के अग्रणी विद्वान डा० दिनेशचन्द्र सेन द्वारा सम्पादित 'मैमनसिंह गीतिका' (मैमनसिंह पूर्वी बंगाल का एक जिला है) और 'पूर्वी बंग गीतिका' में। इन चमत्कार पूर्ण ग्राम गाथाओं में से एक का परिचय दिया जाता है।

चन्द्रावती अपने पिता की एकमात्र सन्तान थी। उनके पिता बंशीदास चक्रवर्ती मनसामंगल काव्य धारा के कवि थे। निर्धन होने के कारण कवि मनसा की 'पांचाली' गाकर अत्यन्त कठिनाई से दिन गुजारते थे। चन्द्रावती ने उत्तराधिकार में पिता की कवित्व-शक्ति पाई थी और मनसा मंगल काव्य की रचना में पिता की सहायता की थी। उन्होंने स्वयं रामायण काव्य भी लिखा था। बचपन में चन्द्रावती जयचन्द्र नामक एक पड़ोसी ब्राह्मण कुमार के साथ खेलकूद करती रहती थी और उसी ब्राह्मण कुमार से उनका विवाह तै हुआ। पर जयचन्द्र ने एक मुसलमान रमणी के प्रेम में आसक्त होकर धर्म परिवर्तन कर लिया। चन्द्रावती कुमारी रह गईं। रामायण काव्य की रचना में उनके दिन बीतने लगे। आखिर जयचन्द्र को चेत हुआ, वह अपनी भूल समझ गया और चन्द्रावती से शादी करने के लिये

कोशिश करने लगा। पर इस महीयसी महिला ने नदी में डूबकर अपने जीवन का दुःख मिटाया।

(ङ) ऐतिहासिक कथाकाव्य

यथार्थ ऐतिहासिक काव्य बंगला भाषा में बहुत कम पाये जाते हैं। षोड़श और सप्तदश शताब्दियों में रचित जीवन चरित्र विषयक काव्यों को ठीक ऐतिहासिक काव्य नहीं कह सकते। बंगला साहित्य में उन काव्यों का अभिनवत्व तथा विशेषता स्वीकार करने पर भी यह मानना पड़ेगा कि वास्तव तथ्य-चेतना की अपेक्षा उनमें भक्तिरस अधिक है। ऐतिहासिक काव्य का लक्ष्य है तथ्यनिष्ठा। इस दृष्टि से पहले ऐतिहासिक काव्य का नमूना मिलता है अठारहवीं शताब्दी में। तुर्की आक्रमण जैसी भारी घटना का भी कोई प्रभाव बंगला साहित्य पर नहीं पड़ा।

ई० १७४२–४३ में पश्चिमी बंगाल पर मराठों का अत्याचार चला। उस समय अलीवर्दी खान् बंगल-बिहार-उड़ीसा का नाजिम था। नागपुर के रघुजी भोंसला ने भास्कर पंडित की अध्यक्षता में एक फौज भेजी। मराठी दस्युओं के द्वारा पश्चिम बंगलुंठन और अन्त में भास्कर पंडित का पराभव व निधन—इसी विषय पर गंगाराम दत्त नामक एक कवि ने घटना के आठ वर्ष बाद १७५१ में 'महाराष्ट्र पुराण' लिखा। 'महाराष्ट्र पुराण' के अलावा ऐतिहासिक विषय पर (जैसे प्लासी का युद्ध) अठारहवीं सदी में और भी कुछ छोटे-मोटे काव्य लिखे गये, पर वे साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि के नहीं हैं।

श्रेष्ठ कथाकाव्य

शताब्दी	कवि	काव्य
पंचदश	कृत्तिदास ओझा	रामायण
पंचदश	बड़ू चंडीदास	श्रीकृष्ण कीर्तन
षोड़श	वृन्दावन दास	चैतन्य भागवत
षोड़श	कृष्णदास कविराज	चैतन्य चरितामृत
षोड़श	मुकुन्दराम चक्रवर्ती	चंडी मंगल
षोड़श	वंशीदास चक्रवर्ती	मनसामंगल
सप्तदश	काशीराम दास	महाभारत
सप्तदश	दौलत काजी	सती मैना (लोर चन्द्रानी)
सप्तदश	अलावल	पद्मावती
अष्टादश	रामेश्वर भट्टाचार्य	शिवमंगल
अष्टादश	घनराम चक्रवर्ती	धर्म मंगल
अष्टादश	भारतचन्द्र राय	विद्यासुन्दर (अन्नदामंगल)

आधुनिक काल

बंगला साहित्य में आधुनिक काल कथा काव्य का नहीं, प्रधानतः रीति काव्य का युग है। मोटे हिसाब से सन् १८०१ ई० से आधुनिक काल का सूत्रपात है। हाँ, उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक बंगला कथा काव्य में पुरातन और नूतन दोनों धाराओं का

मेलजोल हुआ। पुरातन धारा का परिचय पहले ही दिया जा चुका है। अंग्रेजी कथाकाव्यों के अनुवाद से नवीन धारा का श्रीगणेश हुआ।

आधुनिक बंगला कथा काव्य के प्रथम कवि हैं रंगलाल बन्द्योपाध्याय (१८२७-१८८७) जो बचपन से मधुसूदन दत्त के मित्र थे। रंगलाल ने अंग्रेज कवि स्काट, मूर और बायरन की रचनाओं से अनेक भाव आत्मसात् किये। देश-प्रेम से उनके काव्य में एक नवीन झंकार आगई। विषय-वस्तु की दृष्टि से उनके काव्य यथार्थ ऐतिहासिक कथाकाव्य माने जाते हैं।

रंगलाल ने चार कथा काव्यों की रचना की थी :—पद्मिनी उपाख्यान (१८५८), कर्मदेवी (१८६२), शूर सुन्दरी (१८६८) एवं कांची कावेरी (१८७९)। 'पद्मिनी उपाख्यान' की कथावस्तु चित्तौर के पतन से सम्बन्धित है। अंग्रेज इतिहासकार टाड साहब के ग्रन्थ से मेवाड़ की रानी पद्मिनी और सम्राट अलाउद्दीन की कहानी ली गयी है। 'कर्मदेवी' और 'शूर सुन्दरी' की कथावस्तु भी राजपूत इतिहास की है। उड़ीसा के राजा पुरुषोत्तम देव और कांची की राज कुमारी पद्मावती की कहानी लेकर 'काँची कावेरी' रचा गया है।

यद्यपि रंगलाल ने बंगला कथा काव्यों में देश प्रेम लाकर विषय वस्तु का अभिनवत्व संचार किया, तथापि उनकी रचना छंद और भाषा की दृष्टि से पूर्ववर्ती प्रथा के अनुसार थी। बंगला साहित्य में वीररस की अवतारणा करने के मार्ग में बंगला भाषा और छन्दों की ओजहीनता बड़ी भारी रुकावट थी। माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपनी असीम प्रतिभा के सहारे इन दोनों रुकावटों का निराकरण किया। रामायण की कहानी के आधार पर उनका श्रेष्ठ काव्य 'मेघनाद वध' (१८६१) रचा गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में मधुसूदन के अनुकरण पर बहुतेरे व्यक्ति काव्य रचना में प्रवृत्त हुए थे। उनमें से किसी किसी को सामयिक प्रसिद्धि मिलने पर भी उनकी रचनाएँ आजकल नहीं पढ़ी जातीं। कवि हेमचन्द्र बन्द्योपाध्याय का 'वृत्तसंहार' (१८७५) इस धारा की एक उल्लेख योग्य रचना है।

नवीनचन्द्र सेन (१८४७–१९०९) आधुनिक काल के अन्तिम और श्रेष्ठ कथाकाव्य रचयिता हैं। उन्होंने ऐतिहासिक घटना, पौराणिक कहानी और महापुरुष का जीवन—इन तीनों विषयों पर अनेक उत्कृष्ट कथा काव्यों की रचना की है :—

१. पलासी का युद्ध (१८७६)

इस ऐतिहासिक कथा-काव्य ने नवीनचन्द्र को रातोंरात प्रसिद्ध कवि बना दिया—वे बंगाल के 'बायरन' कहलाने लगे।

२. रंगमती (१८८०)

सप्तदश शताब्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर कल्पित इस कहानी में उस समय के बंगाल का चित्र अंकित किया गया है।

कहानी के नायक वीरेन्द्र ने मुगल और पुर्तगीज के साथ लड़ाई की थी।

३. रैवतक (१८८६)
४. कुरुक्षेत्र (१८९३)
५. प्रभास (१८९६)

ये तीन काव्य वास्तव में एक ही काव्य के तीन स्वतंत्र खंड हैं। इसमें कवि ने अपनी अपूर्व कल्पना से महाभारत को और श्रीकृष्ण को नवीन भाव से प्रकट किया है। उनका कहना है कि आर्य और अनार्य संस्कृति के संघर्ष के फलस्वरूप ही कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ एवं इन दोनों सम्प्रदायों को मिलाकर श्रीकृष्ण ने प्रेम राज्य को स्थापित किया। कवि के मत में श्रीकृष्ण का आदर्श था "एक धर्म, एक जाति, एक मात्र राजनीति।"

६. खीष्ट (१८९०)
७. अमिताभ (१८९५)
८. अमृताभ (१९०९)

इन तीन काव्यों में क्रमशः ईसामसीह, बुद्धदेव और चैतन्यदेव की जीवन-कहानी वर्णित है।

कुमारी सविता अग्रवाल

मराठी कथा-काव्य

कथा सुनने तथा सुनाने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्य के मन में विद्यमान है। इस प्रवृत्ति के कारण ही प्राचीन काल में जब केवल पद्य रचनाएँ होती थीं तब भी पद्य में कथाएँ सुनायी जाती थीं; और यही कारण है कि साहित्य के सभी प्रकारों में कथाकाव्य प्रकार सबसे पुराना है। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में अतीत गाथा, दिव्यकथा, आख्यानक, पुराण, इतिहास आदि रूपों में कथा काव्य वर्तमान है। कदाचित् इन्हीं की परिणति आगे चलकर महाकाव्यों में हुई। संस्कृत के पश्चात् क्षेत्रीय भाषाओं का उद्‌भव होने के उपरान्त संस्कृत काव्य की परंपरा को दृष्टि में रखकर अनेक भक्तों ने कथा-काव्य की रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

मराठी की दृष्टि से विचार किया जाय तो मराठी में कथाकाव्य की रचना का प्रारंभ महानुभाव संप्रदाय के विद्वानों ने किया। महानुभाव संप्रदाय श्रीकृष्णोपासक था। अत: श्रीकृष्ण की लीलाओं का ध्यान चिंतनादि स्वयं करना तथा दूसरों से करवाना, वे अपना परम कर्तव्य मानते थे। उन्होंने देखा था कि शुष्क तत्त्वज्ञान कथा रस में घोलने से वह लोगों के हृदय तथा मन को सरलता से स्पर्श करता है। इन्हीं कारणों से उन्होंने कथा-काव्य की पद्धति को अपनाया। इस संप्रदाय के दामोदर पंडित जी ने सन् १२७८ ई० में 'वच्छहरण' की रचना की और वही मराठी का सर्वप्रथम उपलब्ध कथा-काव्य है। प्रस्तुत काव्य में अघासुर वध तथा ब्रह्माजी का गोपालों की गौयें चुराना, इन दो प्रसंगों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है। दामोदर पंडित स्वयं मानते थे कि—

"असंख्यात कवि बैकार। वानितात निरंतर।
परि नित्य नूतन मधुर। श्रीभागवती कथा॥
जैसे अमृत नन्हे जुनें। उरंगे ना साडेपन्हरें सोनें।
तैसे श्रीकृष्ण कीर्तीचें वाननें। सदा सुरंग मधुर॥"

(असंख्य कविसमुदाय सतत वर्णन करते हैं फिर भी श्रीकृष्ण कथा नित्य नयी एवं मधुर है। जिस प्रकार अमृत कभी पुराना नहीं होता, या असली सुवर्ण की चमक घटती नहीं उसी प्रकार श्रीकृष्ण कीर्ति का वर्णन करना सदैव सुन्दर तथा मधुर है।)

अतः उन्होंने 'संसार मोचक मुकुंद' का, सगुणरूप धारी निर्गुण परमात्मा का गुणगान किया। महानुभाव संप्रदाय के अन्य कवियों की भी यही धारणा थी। अतः मराठी कथा-काव्य

के प्रारंभ में श्रीकृष्ण चरित्रात्मक काव्यों का ही आधिक्य दिखाई देता है । महदम्बा ने कृष्ण रुक्मिणी-विवाह के गीत गाये, भास्कर भट्ट बोरीकर ने शिशुपालवध का प्रसंग बतलाया, उद्धवगीता सुनाई तथा नरेन्द्र कवि ने रुक्मिणी स्वयंवर का वर्णन किया। बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में उपरोक्त महानुभावो कवियों के अतिरिक्त वारकरी संप्रदाय के ज्ञानेश्वर, नामदेव जैसे महान् संत भी हो चुके हैं। किन्तु ज्ञानेश्वरजी ने भक्ति को तत्त्वज्ञान का आधार दिया और नामदेव जी भक्ति-गीतों में ही तन्मय रहे। नामदेव की दासी जनाबाई ने हरिश्चन्द्राख्यान, प्रह्लादचरित्र, कृष्ण-जन्म, बालक्रीडा आदि कथाकाव्यों की रचनाएँ कीं।[1] किन्तु उसके अभंग (भक्तिगीत) जितने प्रचलित हैं, उतने उसके कथाकाव्य नहीं। जनाबाई के अतिरिक्ति अन्य सभी संतों ने तथा विद्वानों ने या तो अभंग लिखे या गीता पर भाष्य लिखे।

चौदहवीं शताब्दी में भीषण अकाल तथा मुसलमानों के आक्रमण ने महाराष्ट्र का समूचा जीवन अव्यवस्थित कर डाला। उस अस्थिरता में लोगों को धीरज बँधाने के लिए रामकृष्ण की कथाएँ कतिपय कवियों ने सुनायीं। किन्तु मुगलकालीन असहिष्णुता में बहुत सी रचनाएँ भस्म कर दी गयीं। और आज उपलब्ध रचनाओं में एल्हण कवि का 'अष्टविवाह' काव्य तथा चोंभा कवि का 'उखाहरण' (उषाहरण) काव्य प्रसिद्ध है। उखाहरण काव्य वास्तव में ढाई हजार ओवीयों[2] का होगा किन्तु आज उसका केवल चौथा हिस्सा उपलब्ध है। 'अष्टविवाह' काव्य का संपूर्ण नाम है 'श्रीकृष्ण षोडशसहस्र विवाह अष्टस्वयंवरवर्णन'! इस काव्य के बारह भाग हैं और कवि ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में श्रीकृष्ण के स्वयंवरों एवं विवाहों का रसमय वर्णन किया है।

इन्हीं दिनों महाराष्ट्र में दत्त संप्रदाय का उदय हुआ। जीवन में अस्थिरता आ जाने के कारण अपनी सुरक्षा और आत्मशांति के लिए लोग अनेकों देवताओं की उपासना करने लगे थे। कितने ही लोग धर्मान्तर करके मुसलमान हो रहे थे, तो कितनों ही पर बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। अतः ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों के ऐकीकरण से उत्पन्न त्रिमुखी दत्तप्रभु की उपासना का नृसिंह सरस्वती ने प्रचार किया। शैव वैष्णवों का मतभेद मिटा कर लोगों को एक शक्तिशाली देवता की आराधना में लगाकर उनकी स्वधर्म में आस्था बढ़ायी। नृसिंह सरस्वती ने स्वयं कोई रचना नहीं की। पर उनके शिष्य सरस्वती गंगाधर ने 'गुरुचरित्र' लिखा। यह ग्रंथ काव्य की दृष्टि से बिलकुल साधारण है किन्तु दत्तोपासकों के लिए अन्य कोई ग्रंथ न होने के कारण यही ग्रंथ उनके लिए पूज्य हो गया और आज भी महाराष्ट्र में लोग बड़ी श्रद्धा से इसका पारायण करते हैं। कथा-काव्य में अब तक रामकृष्णादि देवताओं की ही कथाएँ प्रायः सुनायी जाती थीं किन्तु गुरुचरित्र की रचना से भक्तचरित्र भी आख्यानक कविता में सुनाने की प्रथा शुरू हो गयी। उद्धव चिद्घन ने 'ध्रुवचरित्र' लिखकर इसी प्रथा को आगे बढ़ाया।[3]

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत—पृ० १८३।

२. ओवी-महाराष्ट्र का एक छंद।

३. मराठी आख्यानक कविता पृ० २२.

दत्तसंप्रदाय के सबसे प्रसिद्ध संत हैं एकनाथजी। उन्होंने हिंदू संस्कृति की विपन्नावस्था देखी और स्वधर्म, स्वसंस्कृति की रक्षा करने की आवश्यकता उन्हें प्रतीत हुई। अतः उन्होंने प्राचीन ग्रंथभांडार से, भारतीय संस्कृति का आदर्श प्रदर्शित करनेवाली कथाएँ चुनकर अपनी सरल वाणी में लोगों को सुनायीं तथा लोकशिक्षा का, लोकोद्धार का काम किया। एकनाथ ने दत्तोपासक गुरु की दीक्षा अवश्य ली थी किन्तु उनके मन पर भागवतधर्म का अधिक प्रभाव पड़ा और यही कारण था कि उनकी ज्ञानयुक्त तेजस्वी वाणी ने भागवतधर्म की ही महिमा अधिक गाई। एकनाथ ने सर्वप्रथम तो 'चतुःश्लोकी भागवत' लिखी किन्तु उसके बाद 'रुक्मिणी स्वयंवर' की रचना की। इस कथा-काव्य के अठारह अध्याय हैं तथा लगभग दो हजार ओवीयाँ हैं। और इसकी विशेषता है कि एकनाथजी ने स्वयंवर की घटना में भी वेदान्त ढूँढ निकाला है। स्वयं कवि ने अठारहवें अध्याय में कहा है—

"ये ग्रंथीचें निरोपण। जिवा शिवा होतसे लग्न।
अर्थ पाहतां सावधान। समाधान सात्त्विकां॥"

(ग्रंथ का तथ्यांश यह है कि जीव शिव का विवाह हो गया, और प्रस्तुत अर्थ ढूँढने में जो सात्त्विक लोग दक्ष रहते हैं उन्हें संतोष की ही प्राप्ति होती है।) कृष्ण को कवि ने शिव माना है तथा रुक्मिणी को जीव माना है और संपूर्ण स्वयंवर की घटना का विवेचन गहरे ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से किया है। रुक्मिणी स्वयंवर के अतिरिक्त एकनाथजी ने 'प्रह्लाद चरित्र', 'शुकाष्टक' आदि कथाकाव्यों की रचना की। किन्तु उन कथाकाव्यों से उनका आत्मसंतोष न हुआ और उन्होंने 'भावार्थरामायण' की रचना करना प्रारंभ किया। काव्य की दृष्टि से देखा जाय तो उस में कल्पना की उड़ानें नहीं हैं। किन्तु व्यावहारिक चतुराई, गहरा अर्थ तथा सर्वव्यापी प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर है। एकनाथ के राम वाल्मीक या तुलसी के भगवान राम नहीं हैं। उन्होंने तो समय का साथ देकर लोगों के सन्मुख व्यावहारिक आदर्श उपस्थित करने के विचार से लौकिक महापुरुष का चित्रांकन किया जिसमें देवत्व के गुणों की अपेक्षा मानव के ही गुण अधिक हैं। समाज को धीरज बँधाने के लिए ही उन्होंने इस ग्रंथ की रचना का प्रारंभ किया। किन्तु युद्धकाण्ड का चवालीसवाँ अध्याय पूरा होने से पूर्व ही उनकी इहलोक की लीला समाप्त हो गयी।

एकनाथजी ने मराठी में संपूर्ण रामायण सुनाने का यत्न किया किन्तु दैवगति से उनका कार्य पूरा न हो सका। नामा विष्णुदास ने मराठी महाभारत लिखा। मराठी में अब तक महाभारत के कुछ पर्व ही कवियों ने लिखे थे। नामा विष्णुदास ही प्रथम कवि थे जिन्होंने संपूर्ण महाभारत की मराठी में रचना की। इस कथाकाव्य की ओवी संख्या अठारह से बीस हज़ार तक है तथा जनता में उसका प्रचार भी बहुत रहा।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त पन्द्रहवीं शताब्दी में, जनीजनार्दन ने 'सीता स्वयंवर' लिखा, विठा रेणुकानंदन ने भी 'सीता स्वयंवर' का ही वर्णन किया, दासोपंत ने भी अपने टीकात्मक ग्रंथ के बीच बीच में कथाओं की फुलवारी लगाई, महालिंग दास ने—

'पंचोपाख्यान', 'वेतालपंचविसी' एवं 'सिंहासनबत्तीसी' इन कथासंग्रहों को पद्य के आवरण से सुशोभित किया, कृष्णदास मुद्गल ने युद्धकाण्ड लिखा जिसका पारायण मराठा सैनिकों द्वारा किलों पर होता था तथा कृष्ण याज्ञवल्की ने 'कथाकल्पतरु' की रचना की।

यहाँ तक हमने देखा कि प्राय: सभी कथाकाव्यों की रचना भक्ति संप्रदायके संतों ने किसी विशिष्ट हेतु को सन्मुख रखकर की। यदि महानुभाव संप्रदाय के अनुयायियों ने अपने उपास्य देवता का गुणगान प्रेम से तथा कर्तव्य बुद्धि से किया, तो चौदहवीं शताब्दि के और पन्द्रहवीं शताब्दि के पूर्वार्ध के कवियों ने बहुजनहिताय, भारतीय संस्कृति की रक्षा के उच्च हेतु से रामकृष्णादि की कथाएँ सुनाकर मृतप्राय समाज में जीवन फूँका। यह कार्य करते समय उन्होंने काव्य के कलापक्ष की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना कि भावपक्ष की ओर। उसी प्रकार भक्ति तथा देवताओं की कथा सुनाने का लक्ष्य होने के कारण एकनाथजी के अतिरिक्त अन्य संतों और कवियों के काव्यों में तत्कालीन परिस्थिति का चित्रांकन भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता। किन्तु एकनाथ के बाद उनके प्रपौत्र मुक्तेश्वर ने महाभारत के आधार पर मराठी कथा-काव्य का प्रारंभ किया और यहीं से कथा-काव्य के स्वर्णयुग का सूत्रपात हुआ।

मुक्तेश्वर प्रतिभाशाली कवि थे न कि संत। उनके हाथों में कथाकाव्य ने सुगठित शरीर प्राप्त किया। उनकी अधिक रचना तो काल-सरिता के प्रवाह में बह गयी और आज उनकी 'संक्षेप रामायण' ही पूर्ण रूप में मिलती है। शेष रचनाओं में महाभारत के केवल आदि, सभा, वन, विराट, सौप्तिक पर्व उपलब्ध हैं तथा 'गरुडगर्वपरिहराख्यान','रंभाशुकसंवाद' 'कालियमर्दन' 'अहिमहि आख्यान', 'विश्वामित्रभोजन' आदि संक्षिप्त कथा-काव्य भी उपलब्ध हैं। किन्तु उनके काव्यगुणों का ज्ञान होने के लिए उपलब्ध रचना भी पर्याप्त है। इन रचनाओं से हमें ज्ञात होता है कि मुक्तेश्वर के काव्य का विशिष्ट गुण है—उनकी वास्तविक एवं सजीव चित्रमय वर्णन शैली। देखिये—

"शेष वेचतां अठरा घटिका। पूर्व दिशेनें क्षाळिलें मुखा।
कुंकुम रेखिलें त्या तिलका। अरुणोदय बोलिजे॥
भार्गवाचार्य उदया येत। तंव अपार क्रमुनिया पंथ।
पुढें जान्हवीजकाचा वात। शीतळ, मंद पातला॥
कुक्कुट रव करितां का का। भयें पळ सूटला उलुका।
भोग द्यावया चक्रवाका। चक्रवाकी चालितया॥
स्वैरिणी सांडोनि सखयांते। दूतीसहित त्वरें बहुतें।
गृहा येऊनी स्वकर्मातें। संपादिती लौकिका॥
गगनसमुद्रीं मुक्ताफलें। अरुणचंचुनें कनकमराळें।
वेंचोनि घेतां कळाकुशळें। नाहींच केली नक्षत्रें॥
कीं व्योमनर्मदेमाजी थोर। कार्तवीर्य सहस्रकर।
[illegible]ांचा भार। निवटोनि करी परौता॥

कापडी चालिले तीर्थपंथें । 'सोऽहमस्मि' चिंतिती ज्ञानें ।
भक्त स्मरति हरिहरातें । प्रेमभावें आवडे ।।
शाक्त चिंतिती शक्तिप्रतिमा सौर म्हणति सूर्यचि आत्मा ।
गाणपत्य गणेशमहिमा । वाखाणिती ब्रह्मत्वें ।।"

(ब्राह्ममुहूर्त की अठारह घटिकायें समाप्त हुईं । पूर्व दिशा ने मुखमार्जन किया और अरुणोदय की तिलकरेखा अपने माथे पर अंकित की । अपार पंथ को पार करते हुए शुक्राचार्य उदित हुए । जान्हवीजल से परिसिक्त शीतलमंद अनिल आगे चला । कुक्कुटों ने 'का का' स्वरों में बांग दी । उलूक भयभीत हो गये । चक्रवाक, चक्रवाकी की ओर आनंद भोगने बढ़े । स्वैरिणी नायिकाएँ अपने सखाओं को छोड़ दूती सहित घर लौट आयीं और अपने लौकिक कर्म करने लगीं । किरण रूपी स्वर्णिम हंसों ने अपनी रक्तिम चंचुओं से गगन समुद्र के मुक्ताफल चुन लिये । नक्षत्र विलीन हो गये अथवा, महान सहस्त्रकर कार्तवीर्य ने व्योम गंगा के तारारूपी बाणलिंगों का भार लौटा दिया । यात्री तीर्थ पंथ पर चल पड़े । ज्ञानीजन 'सोऽहमस्मि' का चिंतन करने लगे । भक्तगण प्रेमभाव से भगवान का स्मरण करने लगे । शाक्तगण शक्ति का, सूर्योपासक सौर सूर्य का, और गाणपत्य गणपति का स्तवन करने लगे ।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के शास्त्रीय गुणों से भी मुक्तेश्वर का काव्य परिपूर्ण है । फिर भी कथा-काव्य की दृष्टि से वामन पंडित को उच्च स्थान देना पड़ता है । वामन पंडित बड़े ही विद्वान् थे । गीता पर उन्होंने 'यथार्थ दीपिका' नामक टीका भी लिखी है । किन्तु पंडित होने पर भी उनके मन में भक्ति का स्रोत अविरत बह रहा था । इसीलिए गजेन्द्रमोक्ष, सीता स्वयंवर, बालक्रीडा, राधाविलास, राधाभुजंग, कात्यायनीव्रत, वनसुधा आदि कथा काव्यों में उनके लिखे हुए श्लोक आज भी लोगों को प्रिय हैं । महाराष्ट्र सारस्वतकार वि० ल० भावे जी ने उनके बारे में कहा है, "इनके श्लोक पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह मानवी कवि नहीं था, बल्कि भगवान का प्रिय तोता ही था । काव्य धेनू के मीठे दूध में कभी भक्तिरस, कभी वात्सल्यरस, कभी करुणरस तो कभी अद्भुतरस को घोलकर, उसी में वेदान्त का मेवा डालकर, एवं उस मिश्रण से बढ़िया मिठाई बनाकर हमें खिलाने वाला वह मानों कोई बल्लभाचार्य ही है ।" वामन पंडित शब्द-योजना में सिद्धहस्त थे तथा उनकी वर्णनशैली भी असाधारण थी ।

मुक्तेश्वर, वामन पंडित के अतिरिक्त सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में नागेश, कचेश्वर, निरंजनमाधव, महिपति आदि कथा-कवि हो गये हैं । किन्तु इन सब में अधिक प्रसिद्ध रहे—श्रीधर पण्डित । श्रीधर पण्डित ने हरिविजय, रामविजय, पाण्डवप्रताप आदि अनेक काव्य लिखे । किन्तु इन कवियों ने कथाएँ सुनाने के अतिरिक्त, कथा काव्य को कोई नया मोड़ नहीं दिया । महिपति ने अवश्य संतचरित्र सुनाये पर संतचरित्र सुनाने की प्रथा का सूत्रपात तो पहले ही हो चुका था । महिपति ने कोई मौलिक काम नहीं किया ! वह काम तो रघुनाथ पंडित तथा सामराज ने किया । उन्होंने पुराणों के आधार पर रचना करने की प्रथा छोड़ कर संस्कृत महाकाव्य के स्वरूप की रचनाएँ करना प्रारंभ किया ।

रघुनाथ पंडित के 'नल दमयंती स्वयंवराख्यान' तथा सामराज के 'रुक्मिणी हरण' में हमें रस, रीति, ध्वनि, अलंकार, प्रकृति वर्णन, धीरोदात्त नायक, आदि संस्कृत महाकाव्य की सभी विशेषताएं दिखाई पड़ती हैं। कथाकाव्य के विकास की दृष्टि से तो ये श्लाघ्य हैं। किन्तु इस स्वरूप की रचनाएँ करने की जब परंपरा हो गयी तब उसमें दोष आ जाना स्वाभाविक ही था और वही हुआ। वामन पंडित द्वारा निर्मित रसमय भावुकता का आदर्श, कला तथा भाव पक्ष का समन्वय करने की प्रवृत्ति पीछे हट कर, केवल कला पक्ष की ओर ध्यान देकर चमत्कृतियुक्त, नीरस पर पाण्डित्यपूर्ण रचनाएँ करने की नयी प्रथा प्रारंभ हो गयी। इसका उदाहरण हैं—विट्ठल कवि की रचनाएँ।

इस प्रथा के सुदृढ़ होने का और भी एक कारण था। लोगों की कहानियों के प्रति रुचि देखकर कीर्तनकारों ने अपने कीर्तन में भगवद् भक्ति पर कथाएँ सुनाना प्रारंभ कर दिया था। इस प्रकार कथा काव्य का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया था। तब लोगों को अपना पाण्डित्य दिखाने की लालसा भी कवियों में बढ़ गयी और लोक शिक्षा का, भारतीय संस्कृति के उद्धार का, भगवद् लीला का प्रेमयुक्त मन से ध्यान करने का ध्येय पीछे हटकर, लोकप्रिय एवं विद्वत्मान्य बनने की इच्छा पंडितों के मन में खड़ी होना स्वाभाविक भी था। मोरोपंत की कुछ रचनाओं के मूल में भी यही इच्छा हो सकती है। क्योंकि उनके कितने ही ग्रंथों में केवल पांडित्य की अभिव्यक्ति है। किन्तु मोरोपंत में केवल पांण्डित्य ही था, कवि प्रतिभा नहीं थी ऐसी बात नहीं। उनकी स्वतंत्र प्रज्ञा के प्रतीक स्वरूप भी कितने ही ग्रंथ हैं; जो चलती भाषा में लिखे हुऐ हैं तथा आज भी लोगों को प्रिय हैं। मोरोपंत की मृत्यु सन् १७९४ ई० में हुई और उन्हीं के साथ कथाकाव्य के एक प्रकार का—पौराणिक, धार्मिक—कथाकाव्य का, जो कि अब तक प्रचलित था अन्त सा हो गया। तथा कथाकाव्य के पोवाड़ा[1], लावनी[2], आदि जिन लौकिक रूपों की अब तक स्वतंत्र रूप से वृद्धि हुई थी उनका अस्तित्व मात्र रह गया।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि पोवाड़ा, लावनी इत्यादि मोरोपंत के बाद ही प्रचलित हुए। कथाकाव्य के ऐतिहासिक, राष्ट्रीय स्वरूप के इन काव्य प्रकारों का वैसे सत्रहवीं शताब्दी से ही अस्तित्व है। सब से पहला पोवाड़ा अज्ञानदास का लिखा हुआ मिलता है जिस में 'अफजल खाँ के वध' का प्रसंग विस्तार सहित वर्णित है। अफजल खाँ के आगमन की वार्ता सुनने के पश्चात् शिवाजी महाराज ने क्या व्यवस्था की, किनसे वे मिले, कौनसे वस्त्र उन्होंने पहिने, कौनसे अस्त्र अपने साथ रखे, किस प्रकार वे गढ़ के नीचे खान से मिलने गये और कैसे वध किया इन सारी बातों का ब्यौरा इस पोवाड़े में दिया हुआ है। दूसरा शिवाजी कालीन पोवाड़ा है तुलसीदास द्वारा रचित 'सिंहगढ़ का पोवाड़ा', जिसमें सिंह गढ़ की विजय का विचार कैसे उठा, यहाँ से लेकर सिंहगढ़ की विजय के पश्चात् महाराज ने तानाजी की अंतिम क्रिया तथा उनके पुत्र रायबा का विवाह कार्य संपन्न कराया, यहाँ तक की पूरी कथा का विवरण है। तुलसीदास का यह पोवाड़ा अज्ञानदास के पोवाड़े से काफी बड़ा है पर उसमें वह ओज नहीं जो अज्ञानदास के पोवाड़े में है। किन्तु काव्य की

१. पोवाड़ा—एक छंद जिसमें प्रायः वीरगाथा सुनायी जाती है।

२. लावनी—एक छंद।

दृष्टि से देखा जाय तो तुलसीदास का ही पोवाड़ा अधिक श्रेष्ठ है। शिवाजी के समय में और भी पोवाड़ों की रचना हुई होगी क्योंकि बरसों से सुप्त महाराष्ट्रीय समाज में उस समय वीरता लहलहा उठी थी; अद्वितीय उत्साह चारों ओर फैल रहा था और पोवाड़ों की रचना के लिए यही परिस्थिति अनुकूल होती है। अतः निश्चय ही उस समय वीरता के पुजारी गायक शाहीर[1] चुप न रहे होंगे। किन्तु आज उनकी रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। केवल शिवाजी कालीन रचनाएँ ही अप्राप्य हैं, सो बात नहीं, अपितु नानासाहब पेशवा के समय तक की सारी रचनाएँ काल के विशाल उदर में लुप्त हो चुकी हैं। शिवाजी के पश्चात् रचनाएँ हुई हैं या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस समय देश पर विपत्ति के बादल मंडरा रहे थे। इसलिए उस समय यदि शाहीर भी चुप रहे तो उसमें कोई अचंभा नहीं। और काव्येतिहास की एक लम्बी चौड़ी दरार पार कर के हम नानासाहब के समय की एक दुःखद घटना पानीपत की लड़ाई पर आ जाते हैं। उस लड़ाई के कई पोवाड़े हैं, जिनमें से सात-आठ तो आज भी उपलब्ध हैं।

पानीपत की पराजय के पश्चात् महाराष्ट्र का भाग्यरवि जब पुनः चमकने लगा तब शाहीरों की वाणी भी मुखरित हो उठी और—

"धन्य वंश एकेक पुरुष कल्पवृक्ष पिकले।
शत वर्षे द्विज पक्षि आनंद त्या तरुवर टिकले।
जलचर, हैदर, नबाब सन्मुख रण करतां थकले।
ज्यांनीं पुण्याकडे विलोकिलें ते संपत्तिला मुकले।।"

(धन्य है वह वंश जिसका प्रत्येक पुरुष फूले फले कल्पवृक्ष के समान था। उन कल्पवृक्षों पर ब्राह्मण रूपी पंछी आनंद से सैकड़ों वर्ष रहे। हैदर नवाब के सामन जल के जन्तु आमने-सामने युद्ध करते करते हार गये। जिन जिन लोगों ने पूना की ओर टेढ़ी नजर से देखा वे सभी अपने धन से हाथ धो बैठे।) यह बोल शाहीरों के मुख से उत्स्फूर्त होकर निकले। इस युग के प्रायः सभी शाहीरों ने स्वतंत्रता की समृद्धि का अनुभव किया था। और यही कारण था कि होनाजोबाल, अनंतफंदी, रामजोशी, प्रभाकर, सगनभाऊ, रामचंद्र, परशराम आदि शाहीरों ने माधवराव पेशवा का राज, रमाबाई का सती हो जाना, नारायणराव की हत्या, पूना का दरबार, महाराष्ट्र का अकाल, दूसरे बाजीराव की होली आदि अनेकों प्रसंगों को गीतों में गूंथकर जनता को कभी हँसाया, कभी रुलाया और कभी उन्हें उत्साह प्रदान किया।

कथाकाव्य के लोकगीतात्मक स्वरूप का दूसरा प्रकार है—लावनी। लावनी में भी दो भेद हैं—वैराग्यात्मक तथा शृंगारिक। किन्तु शृंगारिक लावनियों का ही आधिक्य होने से लावनी का रूढ़ार्थ शृंगारिक कथा-गीत हो चुका है। इन गीतों में प्रायः किसी विरहिणी की मनोव्यथा या किसी संयोगिता के प्रेम की कहानी सुनाई जाती है। इनमें कथा अंश प्रायः बहुत ही कम होता है और वर्णन का ही आधिक्य रहता है। कभी कभी

१. शाहीर—पोवाड़े-लावनियों की रचना करने वाले।

हास्य रस का पुट भी गीतों को दिया जाता है।[१] होनाजी के 'एका राजाला कन्या झाली' (एक राजा के लड़की हुई) लावनी में और परशराम के 'दोघी सवति भांडति' (दो सौतें झगड़ने लगीं) लावनी में हास्यरस पर्याप्त मात्रा में है। शृंगार के उन्माद में कहीं कहीं शाहीर, सभ्य समाज में जो बातें सुनाना बुरा समझा जाता है, वह भी सुना जाते हैं, शीला-श्लील के कूल तोड़कर उनकी काव्य सरिता बहने लगती है। रामजोशी, मोतीराम आदि शाहीरों की कुछ लावनियाँ इसी प्रकार की हैं। अपने विकार कहीं तो इन्होंने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किये हैं और कहीं राधाकृष्ण की रासलीला का वर्णन करने के बहाने व्यक्त किये हैं।

कथा-काव्य के लोक स्वरूप का तीसरा प्रकार है—लोकगीत। लोकगीतों में ध्रुव-प्रह्लाद जैसी पौराणिक, निलावंती, छेल बटाऊ मोहना जैसी काल्पनिक तथा उमाजी और तंय्याभलि जैसी ऐतिहासिक कथाएँ भी पद्य में गूँथी हुई पायी जाती हैं। कभी कभी तो 'एका ऐका व्रत एकादशी, राजापाशीं होत्या गायीम्हशीं' एसी व्रत कथाएँ भी सुनायीं जाती हैं। किन्तु इन सभी कथा-काव्यों का संग्रह अभी तक न होने के कारण अलिखित स्वरूप के इस काव्य भांडार की समृद्धि ज्ञात होना कठिन है।

कथा-काव्य के लौकिक स्वरूप के इन तीनों प्रकारों में हमें महाराष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन, धार्मिक कथाकाव्य की अपेक्षा अधिक ही होते हैं। इसका कारण है कि धार्मिक कथा-काव्य पर संस्कृत का सिक्का जमा हुआ था। शाहीरों में गहरी विद्वत्ता न होने के कारण वे संस्कृत के प्रभाव से बच गये। किन्तु तत्कालीन मुसलमानी वातावरण से वे अपने काव्य को मुक्त न रख सके। लावनियों में वर्णित शृंगार में हमें उसकी किंचित् झलक मिलती है। फिर भी समग्र दृष्टि से देखा जाय तो शाहीरों के गीत महाराष्ट्र के अपने हैं। उन्होंने अपने काव्य में महाराष्ट्र के रीति रिवाजों का, महाराष्ट्रीय लोगों के गुण-दोषों का, उनके स्वभाव का वर्णन किया है। महाराष्ट्रीय लोगों द्वारा परिचित उपमा—उत्प्रेक्षाओं की ही योजना की, बोलचाल की भाषा में ही अपने गीत गाये; महाराष्ट्र के वैभव से वे झूम उठे और देश के दुर्दैव पर वे रो उठे। उन्होंने जनता का मनोरंजन भी किया और उन्हें उत्साह भी प्रदान किया। अतः महाराष्ट्र के बहुजन समाज को पोवाड़े और लावनियों से ही आत्मीयता रही।

कथा-काव्य के उपर्युक्त सभी प्रकार सन् १८२० ई० तक, पेशवाई के अन्त तक प्रचलित रहे। सन् १८२० ई० के बाद महाराष्ट्र पर कंपनी सरकार का राज स्थापित हुआ। और रोते मन से 'विपरीत आढा काक मेरूला गिल्लेमुंग्यांनी' (कैसा उलटा जमाना आया है कि चीटियां अब मेरू पहाड़ निगलने लगीं) गाने की नौबत शाहीरों पर आ पड़ी। शाहीरों की परंपरा के अन्तिम कवि थे—प्रभाकर तथा परशराम। इन दोनों के बाद बांकेराव उनकी परंपरा बनाये रखने के लिये लिखने रहे। किन्तु शाहीरों के आश्रय स्थान राजा उस समय अंग्रेजों के हाथ के खिलौने बन चुके थे, हिंदू पद पातशाही का ध्येय रखने वाले मराठा सिपाही नष्ट हो चुके थे, परतंत्रता के कारण जनता हतोत्साह हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में शाहीरों की परंपरा का जीवित रहना भी कठिन था। और शाहीरों की परंपरा टूट गयी।

१. आधुनिक मराठी कविता पृ० ५१

आधुनिक युग में, बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कुछ राष्ट्रवादी कवियों ने शाहीरों की पद्धति के गीत लिखने का प्रयास किया किन्तु उनकी तथा शाहीरों की रचना में बहुत अन्तर है। पुराने शाहीरी गीतों में तत्कालीन परिस्थिति का प्रत्यक्ष चित्रांकन था, तो आधुनिक कविता में गत इतिहास की कल्पना प्रसूत परछांहीं है।

मराठाशाही के अस्त होने से शाहीरी परंपरा नष्ट हो गयी। किन्तु भक्ति परंपरा फिर भी बनी रही। क्योंकि वह शाहीरों की तरह राजाओं के आश्रय से बढ़ी नहीं थी। इसके अतिरिक्त भक्ति रस का मानव के मन में स्वतंत्र अस्तित्व है। शाहीरों के पोवाड़े, लावनियों का आधार वीर तथा शृंगार रस था। अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से मराठी काव्य में जो नये साहित्य प्रकार आये, उनमें से राष्ट्रीय कविताओं में पोवाड़े तथा प्रेम गीतों में लावलियां विलीन हो गयीं। भक्ति को ऐसे किसी नये प्रकार ने अपने में समा नहीं लिया। अतः उसकी परंपरा बनी रही। किन्तु इस परंपरा में भी कथाकाव्य लिखने की परंपरा नष्ट हो गई और छोट छोटे भजनों की रचना की गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १८२० ई० के लगभग कथा-काव्य की पुरानी परंपरा नष्ट हो गयी और नयी परंपरा का उद्भव हुआ। इस परंपरा का प्रारंभ पंडित कवियों ने संस्कृत महाकाव्यों के अनुवादों से किया। कृष्ण शास्त्री चिपलूनकरजी ने 'मेघदूत' तथा 'करुणाविलास' का अनुवाद किया, गणेशशास्त्रीलेले ने 'रघुवंश', 'अमरुकशतक', 'महिम्नस्तोत्रका' अनुवाद किया, दातार ने 'कुमार संभव' का भाषांतर किया। और भी कई कवियों ने संस्कृत काव्यों के तथा नाटकों के अनुवाद किये। कथाकाव्य की दृष्टि से इन अनुवादों का यही लाभ हुआ कि आध्यात्मिक, पौराणिक कथाओं के नगर में घूमने वाले काव्य देवता का रथ अभिजात संस्कृत ललित कृतियों के उपवन में विहार करने लगा।

किन्तु उस विहार से भी लोगों का मन शीघ्र ही भर गया और अंग्रेजी का अध्ययन किये हुये पंडित आगे बढ़े। उन्होंने अंग्रेजी काव्यों का अनुवाद करना प्रारंभ कर दिया। छोटी छोटी कविताओं के कितने ही अनुवाद हुये। पर सबसे अधिक महत्वपूर्ण अनुवाद है—श्री० प्रधान कृत, स्कॉट के 'लेडी आफ दि लेक' का अनुवाद 'देवसेनी'। इस अनुवाद का परिणाम यह हुआ कि मराठी कथा-काव्य में ऐतिहासिक खंड काव्य का युग अवतीर्ण हुआ। कुंटे ने 'राजा शिवाजी' की रचना की; कानिटकर ने 'कृष्णाकुमारी' काव्य लिखा, तथा वनवासी ने 'हम्मीर' काव्य की रचना की। इन सभी कवियों ने स्कॉट का आदर्श सामने रखकर उसके अनुसार अपनी रचनाएँ करने का प्रयत्न किया।

स्कॉट के बाद टेनिसन के सामाजिक कथा-काव्य के युग का निर्माण हुआ। श्री कीर्तिकर जी ने टेनिसन के 'प्रिन्सेस' का 'इंदिरा' नाम से अनुवाद किया और कथाकवियों को एक अभिनव विषय भांडार खोल दिया। आज भी इसी भांडार को रत्न कवि प्रकाशित करते हैं। सावरकर जी का 'गोमंतक', गिरीश के 'अभागी कमल' तथा 'आंबराई', माधव ज्यूलियन का 'सुधारक', यशवंत का 'बन्दिशाला', मायादेव की 'सुधा', पाठक का 'शशिमोहन'—आदि सभी कथाकाव्यों का महल सामाजिक समस्याओं पर ही खड़ा हुआ है। इनमें से कुछ तो राष्ट्रीयता के तथा मानवता के विशाल दृष्टिकोण से भी परिपूर्ण हैं। रुचिवैचित्र्य के लिए

कुछ भावगीतात्मक कथा काव्यों की भी रचना की गयी है। जैसे यशवंत का 'जयमङ्गला' काव्य या माधवज्यूलियन का 'विरहतरङ्ग' काव्य।

आधुनिक युग में राष्ट्र प्रेम की अभिव्यक्ति करने वाले तथा राष्ट्र का गत वैभव सुनाने वाले कथागीतों की भी काफी रचनाएँ हुईं। शाहीरों की परंपरा पहले तो श्री प्रधान द्वारा स्थापित तथा श्री कुंटे द्वारा वर्धित ऐतिहासिक खंडकाव्यों में विलीन हो गई और आगे चलकर केशवसुत ने जब मराठी कविता में नया युग शुरू किया तब उसी की परिणति राष्ट्रीय कथागीतों में हुई। सावरकर, गोविंद, अनंततनय टेकाडे, खाडिलकर, नानिवडेकर, मुवाटे, अमरशेख आदि आधुनिक कवियों की रचनाएँ पोवाड़ों जैसी ही हैं। किन्तु पोवाड़ों में और इन कथाकाव्यों में भेद यह है कि आधुनिक पोवाडे साहित्यिक स्वरूप के हैं और शाहीरों के पोवाड़े लोकसाहित्य के स्वरूप के थे। इसके अतिरिक्त आधुनिक पोवाड़ों में सूक्ष्म मनोवेगों का विश्लेषण है, चित्रमय वर्णन है, उनकी भाषा परिमार्जित है और रचना कसी हुई है। उनमें केवल कथा या वर्णन नहीं अपितु देशभक्ति की भावना भी है। यही कारण है कि वे एक दृष्टि से पुरानी परंपरा के होते हुए भी मौलिक तथा आधुनिक हैं। गोविंदाग्रज की 'पानिपतचा फटका', तिवारीजी के 'संग्राम गीत', कवि माधव की कविताएँ, अज्ञातवासी की 'दशहरे की सवारी', कुसुमाग्रज की 'सात', कुंजविहारी की 'तानाजी मालुसरे', आदि कविताएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

इन सारी कविताओं ने स्वतंत्रता-संग्राम के समय जनमन पर अधिकार जमा रखा था, किन्तु अब स्वाधीनता के बाद हमारी समस्याओं के परिवर्तन से जनता की रुचि में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। आज तो लघु कथा-काव्य का अधिक आकर्षण है। वैसे देखा जाय तो कथाकाव्य के प्रायः सभी प्रकार अब पीछे हट चुके हैं। फिर भी अन्य सभी प्रकारों से लघु कथा-काव्य प्रकार अब भी थोड़ा बहुत प्रिय है। कथाकाव्य के प्रस्तुत प्रकार में कथा का अंश बहुत ही थोड़ा रहता है, प्रसंग एकाध होता है, पात्र भी दो-चार से अधिक नहीं रहते और सूक्ष्म वर्णन शैली का भी प्रायः अभाव ही रहता है। किन्तु कवि अपनी कथन शैली के कारण ही पठनीय होता है। कवि चंद्रशेखर ने इस क्षेत्र में काफी सफलता प्राप्त की थी। अपनी प्रतिभा से और निवेदन-पद्धति से वे पाठकों को आसानी से कविता की ओर खींच लेते थे। यही कारण है कि उन की 'उघड गुपित', 'किस्मतपूरचा जमीनदार', 'काय तो चमत्कार' आदि कविताएँ आज भी लोग भूले नहीं हैं। वा० ना० तिलक की 'सुशीला'; विनायक कवि की 'वीरमति', 'व्यास तो भास', 'गणिकोद्धार', 'पन्ना', 'तारा' आदि; बी कवि की 'थोरातांची कमला', तांबे की 'पुंगीवाला', 'राजकन्या' व 'तिची दासी', सावरकर जी की 'कमला', सोपानदेव चौधरी की 'देवाच्या दारीं', वा० भा० पाठक की 'शिवराज आणि बालवीर'; ग० दि० माडगूळकर की 'कृष्णाकांठी' आदि कविताएँ प्रसिद्ध हैं। किन्तु आज वा० ना० देशपांडे जी इस क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं। उनकी 'भारती' कविता में कल्पना की ऊँची उड़ान है, 'सोहागरात' मन के तार कंपित कर डालती है, 'देवानां पिय' तथा 'तरलेले वेद' करुण कविताएँ होने पर भी शांतरस की अनुभूति कराती हैं और 'कपटवेष' का नाट्य कवि प्रतिभा की सुन्दर अभिव्यक्ति करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारहवीं शताब्दी में श्री कृष्णोपासना से उदित कथाकाव्य

के सोते ने सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दी तक एक विशाल सरिता का रूप धारण कर लिया; तथा उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में उसी सरिता की कई धाराएँ स्वतंत्र रूप से बहने लगीं। केवल कथानक या विषय की दृष्टि से ही नहीं अपितु शैली की दृष्टि से भी एक वृक्ष की कई शाखाएँ फूट निकलीं। मुक्तेश्वर तक की रचनाएँ प्रायः ओवी, अभंग, दिंडी, साकी जैसे सादे छंदों में ही लिखी गईं। ये सभी छंद महाराष्ट्र के अपने हैं, जिनके स्वरूप लौकिक अधिक रहे। महाराष्ट्र के लोकगीत प्रायः इन्हीं छंदों में हैं। रचना की दृष्टि से आसान और गेय होने के कारण जनता में इनका काफी प्रचार रहा। ओवी छंद के चार चरण होते हैं, वर्ण या मात्राओं की संख्या का नियम नहीं है। किन्तु साधारणतया प्रथम तीन चरणों में आठ, आठ अक्षर और चौथे चरण में सात अक्षर होते हैं। यमक भी पहले तीन चरणों में ही होता है। दिंडी चार चरणों का विषम मात्रावृत्त है जिसके प्रत्येक चरण के अन्त में यमक होता है। साकी दो चरणों का विषम मात्रावृत्त है, जिसके दोनों चरणों के अन्त में यमक होता है। अभंग अक्षर वृत्त है जिसके दूसरे तथा तीसरे चरण के अन्त में यमक होता है। इन सभी छंदों में ओवी का स्थान वही रहा जो कि संस्कृत में अनुष्टुप् छंद का है। लोकप्रियता के साथ ही साथ कथा प्रवाह को सरलता से आगे बढ़ाने की क्षमता होने के कारण लोकोद्धारार्थ उद्यत संतों ने प्रभुमहिमा प्राकृत जनों को सुनाने के लिए सर्व सुलभ ओवी छंद का ही उपयोग किया। ओवी में वैसे काव्य की चमत्कृति नहीं दिखाई देती। किन्तु कवियों ने अपनी भक्ति रस में घुली प्रतिभा के कारण उसे काव्य के इतिहास में ऊँचा पद दे रखा है।

मुक्तेश्वर के पूर्व प्रायः सभी कथा-काव्यकारों के सामने रामायण, महाभारत, भागवत का आदर्श था और राम, कृष्ण की भक्ति में लीन हो कर वे अपने को धन्य समझते थे। यही कारण था कि उनमें भावपक्ष प्रबल था और उनके अंतःकरण के भाव सीधीसादी शैली में प्रगट हुये थे।

मुक्तेश्वर के पश्चात् कला पक्ष का महत्त्व बढ़ता गया। कवि विविध वृत्त तथा अलंकार योजना करके परिश्रम पूर्वक रचनाएँ करने लगे। रघुनाथ पंडित की शैली में जो कथाकाव्य का विकास पाया जाता है वह तो सराहनीय है। किन्तु यही शैली आगे चल कर अत्यधिक अलंकारों के तथा प्रौढ़ता के कारण बोझिल बन गयी, जिससे कहीं कहीं कथाप्रवाह शिथिल हो गया।

कथाकाव्य का धार्मिक-पौराणिक अंग जब इस प्रकार विकसित हो रहा था तभी लौकिक स्वरूप का अंग भी परिपुष्ट हो रहा था। पोवाड़ा एवं लावनी दोनों गाकर सुनाने के काव्य प्रकार होने के कारण ही उनकी रचना 'जाति' जैसे गेय छंद में की जाती थी। पोवाड़ों की अपनी स्वतंत्र तर्ज भी है। साधारणतया पोवाड़े में २५, ३० छोटे छोटे चरणों के बाद तर्ज पलट कर सुनाने की कुछ पंक्तियाँ और उसके बाद ध्रुपद की रचना होती है। इन सबों का मिल कर जो एक हिस्सा बनता है, उसी को 'चौक' कहा जाता है और ७, ८ चौक का मिल कर एक पोवाड़ा बनता है। पोवाड़े की इस रचना में तो कोई परिवर्तन न हुआ। किन्तु उसके सुनाने की रीति का अवश्य विकास हुआ। पोवाड़े, लावनियाँ प्रायः भांड़ों के इकतारे की ध्वनि में, करचंग के साथ सुनाकर श्रोताओं के मन में वीररस का प्रादुर्भाव किया जाता था। किन्तु जब पोवाड़े,

लावनियां केवल बहुजन समाज के सस्ते मनोरंजनार्थ न रह कर सरदारों की बैठक में प्रवेश पा गयी तब ताल सुर में उन्हें गा कर सुनाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः शाहीर अपने गीतों की रचना विभिन्न रागों में करने लगे। इन्हीं दिनों भाषा की दृष्टि से भी पोवाड़े, लावनियों का विकास हुआ। प्रारंभ में पोवाड़े, लावनियों की रचना करने वाले कवि प्रायः निम्न श्रेणी के होते थे। अतः उनकी भाषा परिमार्जित न थी, रचना सुगठित न थी और उपमादि अलंकारों से उनका काव्य सजा हुआ न था। किन्तु आगे चलकर पेशवाई में ब्राह्मणों ने भी इन काव्य प्रकारों की ओर ध्यान दिया। बाबू सवाई, रामजोशी, अनंतफंदी, बापू कोन्हेर, दादा वीर, प्रभाकर आदि ब्राह्मण कवि पोवाड़े और लावनियों की रचना करने लगे। इतना ही नहीं बल्कि इनमें से कुछ शाहिरो ने तो स्वयं अपने गीत गाकर सुनाना प्रारंभ कर दिया; जिसके कारण इन काव्यप्रकारों का महत्त्व बढ़ता ही गया यहाँ तक कि कथा-कीर्तन में भी वैराग्यात्मक लावनियों का समावेश होने लगा।

आधुनिक युग में जब कविता का समूचा ढाँचा पलट गया, तब आधुनिक कविता के समस्त लक्षण आधुनिक कथा-काव्य के भी लक्षण रहे। संक्षिप्त रचना, विविध अलंकारों का, वृत्तों का त्याग तथा मुक्तछंद की प्रवृत्ति, आदि नई कविता की विशेषताएँ कथा काव्य में लक्षित होती हैं।

नई कविता पुरानी परंपरा को छोड़ कर नये पथ का अनुकरण करने लगी; और यही कारण था कि आधुनिक समय में कथा काव्य की रचनाएँ बहुत कम हुईं। मराठी साहित्य के प्राचीन एवं मध्य युग का अधिकांश कथा-काव्य ने ही व्याप्त कर रखा है और जीवन के लिए उनका निर्माण होने के कारण वे लोकप्रिय भी काफी रहे। किन्तु आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व जैसे जैसे बढ़ता गया वैसे वैसे तटस्थ की भूमिका से लिखे गये कथाकाव्यों के प्रति रुचि घटती गयी। गद्य साहित्य के विकास से तथा मुद्रण की व्यवस्था से भी कथाकाव्य लोगों को रसविहीन सा प्रतीत होने लगा। कवि तथा पाठक दोनों को ही कथाकाव्य को रचना और उसका पढ़ना परिश्रमसाध्य प्रतीत होने लगा। इस विचार-धारा के कारण, यद्यपि मराठी के प्राचीन कालखंड में कथाकाव्य की समृद्धि लक्षित होती है, तथापि आधुनिक कालखंड उस दृष्टि से पिछड़ा हुआ ही रहा। हिंदी कथाकाव्य के बिल्कुल विपरीत स्थिति मराठी कथाकाव्य की रही। हिन्दी का प्राचीन कालखंड कथा-काव्य की दृष्टि से उतना समृद्ध नहीं रहा जितना कि मराठी का। किन्तु आधुनिक कालखंड में साकेत, यशोधरा, कामायनी, पार्वती जैसी रचनाएँ हिन्दी कथा-काव्य में चार चाँद लगा रही हैं, प्राचीन पौराणिक कथाओं को अर्वाचीन दृष्टि से आँका जा रहा है, और उनका नया मूल्यांकन हो रहा है, किन्तु मराठी में तो कथाकाव्य की गति कुंठित हो गयी है और निकट भविष्य में उसकी वृद्धि होने की कोई आशा नहीं।

श्री अच्चुतन

मलयालम में कथा-काव्य

मलयालम साहित्य का प्रारंभ गीतात्मक था। उन दिनों भाषा का मौलिक स्रोत अधिकाधिक विशद एवं महत्वपूर्ण हो रहा था। द्राविड़ गोत्र में वह अपना व्यक्तित्व अंकित कर रहा था, अपना अलग अस्तित्व ढूँढ़ रहा था। ये गीत उसी समय रचे गये थे। इन में या तो इष्टदेव की महिमा लहरें लेती थी या किसी राजा के प्रेम और वीरता की फुलझड़ी जल उठती थी। इन में कथा की पूर्णता नहीं थी किन्तु उस की कणिकाएँ अवश्य विद्यमान थीं।

प्रथम कथा-काव्य—

धीरे धीरे देश में राजनैतिक परिवर्तन हुआ। पेरुमालों का आधिपत्य समाप्त हो गया। केरल की एकता का सूत्र शिथिल हो गया। देश में इधर उधर छोटे-मोटे राजाओं का शासन होने लगा। इन की साम्राज्य-तृष्णा और तलवार सदा म्यान से बाहर रहती थी। सामाजिक अनुभूतियों का परिवेश लाल बन चुका था। इसी वीरतापूर्ण वातावरण में मलयालम भाषा के प्रथम कथा काव्य 'रामचरित्र' का जन्म हुआ।

'रामचरित्र' के रचयिता वेणाट के महाराजा रामवर्मा माने जाते हैं। ये ई० बारहवीं शताब्दी में शासन करते थे। कहा जाता है, अपने सैनिकों में सामरिक आवेश बढ़ाने के लिए आपने इस ग्रंथ रचना की। 'रामचरित्र' में रामयण के युद्ध कांड की कथा वर्णित है। अन्य कांडों की—कथाएँ इधर उधर प्रसंगानुसार किन्तु औचित्यपूर्वक संक्षेप में सूचित की गयी हैं। इस बात में एक कुशल संपादक की मर्मज्ञता प्रकट होती है। समूची कथा ओजपूर्ण गानों में गायी गयी है। प्रत्येक पद जोश बढ़ा देता है और प्रत्येक पंक्ति उत्साह को तरंगित करती है। वीर-रौद्र रसों के चरमोत्कर्ष में उनकी तूलिका ने कमाल कर दिखाया है।

धार्मिक कथा के वर्णनों में भक्ति का प्रवेश होना स्वाभाविक है। ऐसी हालत में या तो काव्य का रचना-शिल्प विकृत हो जाता है अथवा अलौकिक परिवेष पा कर भासुर हो उठता है। किन्तु रामचरित के कवि जैसे इस क्षेत्र में उतरना ही न चाहते थे। केवल लड़ाई के सांगोपांग वर्णनों में वे दत्त चित्त थे। उन के बारे में इतना अवश्य कहा

जा सकता है कि अन्य कवियों की जेबें काटे बिना अपने कार्य में वे पूर्ण सफलता प्राप्त कर सके हैं।

रामचरित के बाद करीब तीन सौ वर्षों के भीतर किसी उल्लेखनीय कथा काव्य का निर्माण न हुआ। कविता किसी काल विशेष में सीमित न रह कर जन सामान्य में फैल गयी। कई अज्ञात कवियों ने अनेक वीरों की साहसिकता का हृदयहारी वर्णन किया। ये गीत जनता की भाषा में उनकी अभिरुचि के अनुसार रचे गये थे। अतएव जन हृदय की अगाधता में इन गीतों की भावसत्ता जोर से प्रवाहित हो उठी। शताब्दियाँ बीत गयीं, पर आज भी केरल के खेतों में काम करने वाली वनिताएँ उन्हीं वीरतापूर्ण गीतों के नशे में अपनी थकावट दूर कर देती हैं। घरों में इन्हीं के आलापन से वें अपने बच्चों की शिराओं में पौरुष एवं वीरता की परंपरा संचरित कर रही है। सुमधुर गीतों के परिधान में जनता की जिह्वा से नित्य-नूतन हो कर सदा प्रवाहित होने वाली पौरुष की उस अजस्रधारा को वरक्कन पाट्टुकल (उत्तरी गति) कहते हैं। कारण देश के उत्तरी भागों में इन का व्यापक प्रचार था। बाद में भी ऐसे गीतों का निर्माण हुआ है।

कृष्ण-गाथा—

अब तक भाषा सुगठित हो चुकी थी। वह अपने पैरों पर खड़े होने का अभ्यास कर रही थी और अपने पद विन्यास को अधिकाधिक सुचालन एवं भाव-मधुर बना रही थी। करीब इसी समय कृष्ण-गाथा का जन्म हुआ।

इस महाकव्य के रचयिता चेरुश्शेरि नंपूनिरि कोभनार राजा के आश्रित थे। काव्य निर्माण में राजा इन्हें बराबर उत्साहित करते रहे। स्वयं कवि ने काव्यारंभ में इस बात का उल्लेख किया है।

कृष्ण गाथा मलयालम का प्रथम महाकाव्य है। भाषा, भाव एवं कल्पना में यह ग्रंथ पूर्णतया मौलिक है। अचुंबित भावना एवं अनोखे वर्णनों में यह अपना सानी नहीं रखता। प्रकृति वर्णनों में चेरुश्शेरि ने कोरी नकल नहीं की है। बल्कि प्रकृति के विशाल वृक्ष तक में मानव हृदय का तालक्रम दर्शाया है। संक्षेप में संकेत की चहार-दीवारी से अपनी काल्पनिकता का नवीन मंडल खड़ा कर दिया है। भावाविष्करण में यह अन्तर स्पष्टतया लक्षित होता है। आप की स्थूल को छोड़ कर सूक्ष्म की ओर मुड़नेवाली प्रतिभा इसी बात का परिचायक है। शृंगार और वात्सल्य के वर्णन में आप की तुलना सूरदास जी से की जा सकती है। भावानुसार प्रवाहित होने वाली भाषा कृष्ण गाथा की विशेषता है। कृष्ण की उस पौराणिक कथा के वर्णन में भी उन्होंने अपने को भक्तिधारा में बहने नहीं दिया है।

कण्णश्श रामायण—

इसी समय दक्षिण केरल में भी एक महान कवि जीवित थे। उनका नाम राम-प्पाणक्कर (कण्णशन) था। आप की रामायण मलयालम भाषा की महान कृतियों में है।

रामायण की कथा आपने वाल्मीकि से स्वीकार की थी। किन्तु वे रचना में सर्वथा स्वतंत्र थ। कथाप्रवाह में आये हुए पात्रों के चित्रण के बदले में प्रसंगानुसार पात्रों के भीतर

होने वाले विकार संघष के चित्रण में अधिक दत्तविधान थ । उनके काव्य में प्रकृति भी आलंबन बनकर आयी है। कहानी के मर्म जानने और उसके हृदयहारी आविष्करण में वे अजातशत्रु थे । भाषा तो शस्त्रपाणि की भाँति स्वच्छ सरल किन्तु शक्तिपूर्ण थी । आपने जिस छंद का प्रयोग किया वह इतना कमनीय बना कि बाद को आप ही के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

रामायण के अतिरिक्त आपने 'शिवरात्रि माहात्म्य' नामक एक अन्य पुस्तक की रचना की है । भक्ति का प्रचार ही इसका उद्देश्य है । पर कथा कवि-कल्पित है । रचना में भी वह उत्तमकोटि की कलाकृति है ।

चंपू काव्य—

कण्णश्शन के बाद लगभग दो शताब्दियाँ चंपू काव्य का युग मानी जाती हैं । इसी समय मलयालम भाषा और साहित्य पर संस्कृत का गहरा प्रभाव पड़ा । असंख्य पंडित कवियों का आविर्भाव हुआ । उन कवियों ने भाषा को संस्कृत के आडंबर से करीब दबा डाला । यहाँ तक कि मलायालम की क्रियाओं में भी संस्कृत का रूप आरोपित करने का परिश्रम शुरू हुआ ।

संस्कृत की रीतियों के अनुसार ही चंपू ग्रंथ रचे जाते थे । कथा अधिकांश पद्यों में वर्णित होती थी, पर बीच-बीच में अनुप्रास श्लेष एवं वक्रोक्ति के भार से दबी, अजगर की सी लंबी-टेढ़ी गति से चलने वाली गद्य शैली पायी जाती थी । गद्य-पद्य दोनों में संस्कृत का सर्वाधिपत्य था । इनके बीच में कहीं-कहीं सहमी डरी मलयालम भाषा का पीला चेहरा दिखाई देता था ।

पर इन कवियों की आख्यान-पटुता प्रशंसनीय थी । पुराने रूढ़ मूल संकेतों के आँगन को छोड़कर वे बाहर कभी न निकले । मगर अपने लीला क्षेत्र को उन्होंने नया चमन बना डाला । उनकी कथाएँ अवश्य पुरानी थीं, पर उसे पुराने संकेतों ने नया और चमत्कृत कर दिया । कविता पांडित्यपूर्ण तथा भावप्रधान थी । संक्षेप में कह सकते हैं कि परिमार्जित क्लासिक शैली का सुचारु रूप इन चंपू ग्रंथों में निखर उठा है ।

उच्चकोटि के चंपूग्रंथ करीब तीन सौ से अधिक हैं । इन में महिष मंगलम नंपूतिनिरि का 'नैषधचंपू' और पुनम नम्पूनिरी का 'रामायण चंपू' विशेष उल्लेखनीय हैं ।

एषुत्तश्शन—

सोलहवीं शताब्दी मलयाल भाषा के लिए एक नवीन परिवर्तन का आरंभ थी । क्योंकि गला दबाने वाले संस्कृत के विकृत प्रभाव में से इस समय उसे विमुक्ति मिली । उसने अपने शिथिल व्यक्तित्व को संभाला और चंपू काव्यों की परंपरा समाप्त कर दी ।

इस परिवर्तन क्रम में तुश्चन्तु रामानुजन एषुत्त-उन का नाम अविस्मरणीय है । आपने अपने व्यक्तित्व से न केवल साहित्य को बल्कि भाषा को भी सजीव बनाया । काव्य निर्माण में एक मध्यवर्ती शैली की स्थापना की । अध्यात्म रामायण का अनुवाद एवं महाभारत का आशयानुवाद आपकी दो सफल रचनाएँ हैं ।

ये दोनों काव्य यद्यपि मौलिक नहीं हैं पर पूर्णतया अनूदित भी नहीं हैं। दोनों के पीछे एक भक्त कवि का भावनापूर्ण किन्तु परम सात्विक हृदय विद्यमान है। यह कहना मुश्किल है कि उन में भक्ति भाव अधिक है या कवित्व। क्योंकि एषुत्त-उन की—कविता भक्ति के उत्तुंग शृंग से सुरसरि के समान फूट निकली थी। आज भी केरल का प्रत्येक व्यक्ति उस में स्नान करके अपने को पवित्र मानता है। उत्तर भारत में रामचरित मानस का जो अलौकिक परिवेष है वही केरल में एषुत्त-उन की रामायण को प्राप्त है।

कथकळी—

एषुत्त-उन के पहले ही केरल में दृश्य काव्य-कला का विकास हुआ। कूटियाट्टम से अभिनय एवं भरतनाट्य से मुद्रा ले कर भावाभिनय को लक्ष्य कर के वह आगे बढ़ी। यही मौलिक केरलीय दृश्य कला कथाकली है। इसके अभिनय एवं संकेतों को ध्यान में रखकर कई कवियों ने कथाकाव्य रचा है। इनकी वस्तु पौराणिक होती थी। वर्णन अभिनयोचित होते थे। अतः ये विशुद्ध कथाकाव्यों की सीमा में नहीं आते। तथापि कोट्टयत्तु-तम्पुरान का 'कल्याण सौगंधिक' और उण्णायिवार्यर का 'नल चरित्र' उत्तम-साहित्य ग्रंथ है। श्री उण्णयिवार्यर जी ने 'गिरिजा कल्याण' नामक प्रबंध काव्य की भी रचना की है।

तुल्लल कथकळ—

सत्रहवीं सदी में केरल के कथा काव्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। ग्रामीण कला तुल्लल के रूप में एक नवीन काव्य धारा आगे बढ़ी।

तुल्लल एक दृश्य कला है। तालपूर्ण नृत्त एवं अभिनय के साथ कविता आप ही इसकी विशेषता है। कथकली के समान तुल्लल भी केवल केरल में व्याप्त है।

इस नयी धारा के संचालक श्री कुंचन नंपियार थे। आप की प्रतिभा प्रशंसनीय थी। हास्य के सभी अंगों पर आप का साम्राज्य था। नंपियार की कविता पढ़ कर कई अंग्रेज निरूपकों ने विश्व साहित्य के हास्य लेखकों में आप को ऊँचा स्थान दे दिया है। उन की कथाएं पौराणिक थीं। किन्तु उस पौराणिक वातावरण में भी आप ने तत्कालीन समाज को देखा। उस की छाती में चुभनेवाले निशित हास की वर्षा शुरू की। कालातिक्रमण का दोष पाठकों की हंसी में दब गया। यही आप की कविता की विशेषता है। आप ने लगभग पैंसठ से अधिक कथा काव्य रचे हैं।

नवीन युग —

नंपियार के बाद बहुत दिनों तक साहित्य में किसी नवीन प्रवर्णना का जागरण नहीं हुआ। अधिकांश कविताएं पुराने रूढ़ मूल संकेतों के अनुसार रची गई और अधिकाधिक कथाएं धर्मग्रंथों से साहित्य क्षेत्र में लायी गयीं। फलतः कविता में एकरसता का अनुभव होने लगा।

धीरे धीरे यह दशा बहुत बदल गयी। एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। चंद्रोत्सव में इस नवीनता का सूक्ष्म रूप पाया जाता है। यद्यपि प्रस्तुत रचना पौराणिक संकेतों का आश्रय

लती है, तथापि नवीनता की ओर तेजी से बढ़ने वाली काल्पनिक कविता के जागरण का प्रतिनिधित्व भी करती है ।

इसी बीच मनोरमा, रसिक राजनी, कवन कौमुदी जैसी साहित्यिक मासिक पत्रिकाएं निकलने लगीं । घर के भीतर दबी रहनेवाली कविता को प्रशस्ति की धवल वेदिका मिल गयी । लघु कविताओं के विकास में इन पत्रिकाओं की सहायता उल्लेखनीय है । श्री कुंजुक्कुट्टन तंपुरान का पालुल्लि चरित और श्री कुण्डूर नारायण मेनवन का नालु भाषा काव्यंगल (चार भाषा काव्य) इस समय के काव्यों में प्रमुख है । समालोचना करते हुए हमें कहना पड़ेगा कि ये क्लासिस्म और रोमांटिसिज्म के बीच की कड़ी है । अकृत्रिम भाषा में अनुचित अलंकारों के आडंबर के बिना सभी भाषाओं में रचे जाने वाले सरल काव्यों (Ballads) में इनकी भी गिनती है । लेकिन Ballads के लिए जो गीतात्मकता अनिवार्य है उस का इस में अभाव है ।

इस समय साहित्य की रंग-भूमि में एक नवीन विवाद उठ खड़ा हुआ । द्वितीयाक्षर प्रासवाद के नाम से यह बहुत दिनों तक बढ़ता रहा । इस विवाद के दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वी श्री केरल वर्मा कोयिन्तम्पुरान और उनके भानजे श्री राज राजवर्मा थे । केरलवर्मा द्वितीयाक्षर नासवाद के समर्थक थे । उनका सिद्धान्त था कि काव्य जीवन व्यंग में निहित है । आशय की इसमें अवश्य प्रधानता है । पर लावण्य तो रूप से स्पष्ट होता है, अतः रूप शिल्प की अवज्ञा नहीं की जा सकती । यदि कवि प्रतिभाशाली है तो वह अवश्य प्रास मानते हुए विजय प्राप्त कर सकता है । उल्लूर जैसे महाकवि इस सिद्धान्त के प्रचारक थे ।

विरोधी पक्ष का सिद्धान्त यह था। "छंद के मुख्य धर्म के रूप में ही द्वितीयाक्षर प्रास की गणना है । चरणों का संतुलन और रचना सौष्ठव उस का प्रयोजन है । प्रास के अभाव में भी स्वर व्यंजन एवं मात्राओं की सहायता से रचना में सौन्दर्य लाया जा सकता है । अन्धा बन कर यदि प्रास के पीछे चला जाय तो कविता गुलाम बनेगी । जब यह विवाद ऊँची चोटी पर पहुँचा तो उस का मौलिक आशय प्रकट हुआ । राजराज वर्मा ने सिद्ध किया कि "काव्य की आत्मा रीति नहीं, रस है ।" के० सी० केशव पिल्लै, वी० सी० बालकृष्ण-पणिक्कर जैसे कवि इस सिद्धान्त के समर्थक थे। दोनों ने अपने अपने आशय का कविता में प्रयोग किया ।

यह युग महाकाव्य का था । कई सिद्धहस्त कवि उत्साह के साथ इस क्षेत्र में उतर पड़े। इन में केशव पिल्लै जी का केशवीय पन्तलत्तु; तंपुरान का प्रभांगद चरित; श्री कट्टक्कयं का श्री यंशु चरित और उल्लूर का उमा केरल ज्यादा प्रख्यात हुए ।

उपर्युक्त काव्यों में उल्लूर का उमाकेरल केरल में अधिक प्रचलित हुआ । इस की कथा पूरे तौर पर काल्पनिक है। ऐतिहासिक वातावरण में उसका विकास है । केरल की नित्य सुन्दर प्रकृति में एक पंडित कवि की गंभीर भावना का समुचित सामंजस्य हो गया है ।

कवित्रय—

अब तक मलयालम कविता तत्व ग्रंथों से प्रकृति की ओर तथा रूढ़ मूल संकेतों से जीवन की ओर मुड़ चुकी थी । इस समय भारत में सामाजिक एवं राजनैतिक जागरण की

किरणें—लक्षित हो रही थीं। सामाजिक असमताओं को असली रूप में देखने और मानवमात्र के महत्व की घोषणा करने का आवेग पश्चिम की संस्कृति के संसर्ग से अनुप्राणित भारतीय संस्कृति के अभिव्यंजन की अभिलाषा, भारतीय जीवन के व्यक्तित्वपूर्ण विकास का विरोध करने वाली विदेशी प्रभुता के प्रति विरोध, ये सभी इस नवोत्थान के लक्षण हैं। प्रथम भूगोल युद्ध ने कई रूढ़ मूल विश्वासों की जड़ें उखाड़ दीं और उन के स्थान पर स्वतंत्रता और समता का बोध बो दिया। रूस की क्रांति दुनियाँ में नई चिन्ता और नई ताकत व्याप्त करने में सजल बन गई। इस नवीन जागरण का प्रभाव मलयालम साहित्य में भी पड़ बिना न रह सका। फलतः नई भावना, नया आशय तथा नवीन जीवन का वैचित्र्यपूर्ण आविष्कार साहित्य का ध्येय बन गया। इन सब बातों के अनुकरण के तौर पर खंड काव्यों की उत्पत्ति हुई। य महाकाव्यों के लक्षण की अपारपूर्णता से खंड काव्य नहीं बने। बल्कि जीवन के असंकीर्ण भावों को असंकीर्ण भाषा में प्रकाशित करने के लिए इन खंड काव्यों की रचना हुई। भावों की एकतानता और विकारपरता इन की विशेषता है।

इस नवीनता के अग्रदूतों में तीन कवियों के नाम समादरणीय हैं। सर्व श्री कुमारनाशान, वल्ल-तोल नारायण मेनोन और उल्लूर परमेश्वरय्यर। मलयालम साहित्य का अधुनिकतम रूप इन्हीं तीन महाकवियों की प्रतिभा का वरदान है।

पुरातन संकेत की दीवारें तोड़ कर आशान काल्पनिकता के सुरभित वातावरण में निकल आये। सामाजिक अस्पृश्यता का कलुषित रूप देख कर उनका दिल दुःखी हो उठा। फलतः उन की रचना इस विकृतवासना का विरोध करने लगी। यद्यपि वे बुद्ध धर्म के अनुयायी नहीं थे, तथापि जाति के विरुद्ध लड़ते-लड़ते उन्हें बुद्ध धर्म का हथियार स्वीकार करना पड़ा। यही कारण है कि आपने अपने खंड काव्यों में बौद्धग्रंथों की कहानियाँ वर्णित की हैं। भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक संस्करण जाति और अनाचारों के प्रति अत्यन्त विरोध और प्रेम की महिमा का जय गान आशान की कृतियों में सब कहीं पाया जाता है। चंडाल भिक्षु की करुणा, नलिनी और लीला आप के सुप्रसिद्ध खंड काव्य हैं। कुछ निरूपकों की राय में नलिनी आप की प्रतिभा की चरम सीमा है।

वल्लेतोल मलयाल भाषा के राष्ट्र कवि हैं। राष्ट्र की राजनैतिक चेतना आपके दिल में पूर्णतया प्रतिस्पंदित हो उठी। उन की अधिकांश रचनाएँ स्वतंत्रता की लड़ाई के लिए नगाड़े की चोट थीं। कथाकाव्य निर्माण में भी आपकी कुशलता प्रशंसनीय है। पौराणिक कथा के अंशों में आप की भावना मानो पच्चीकारी का काम करती है। समुचित किन्तु मितव्यय शोभा वर्णन उन कथाओं की विकारपरता को तरंगित करता है। गानमधुर ललित पदावली में आप प्रतिद्वन्दी नहीं जानते। शिष्यनुं मकनुं (शिष्य और पुत्र) अच्छनुं मकळुं (पिता और पुत्री) किलिक्कोञ्चल (तोतली आवाज) मग्दलन मरियम आदि आप के विख्यात खंडकाव्य हैं।

काल्पनिकता के युग में रहने पर भी उल्लूर अधिकांश पांडित्यमय संकेत के घेरे में पड़े थे। जहाँ अन्य कविगण रूप से भाव की ओर बढ़ रहे थे, वहाँ आप भाव के लिए रूप का मूल्यवान परिधान तैयार कर रहे थे। पुरातनता और धार्मिकता की ओर आप का अगाध अनुराग था। समकालीन वातावरण को वे यद्यपि देखे बिना न रह सकते थे पर

खेदपूर्वक कहना पड़ेगा कि देखते हुए भी वे इस में उतर न सके। फलतः धार्मिक वातावरण के भीतर नवीन जागरण की खोज में निकल पड़े। आपके खंडकाव्यों में हीरा पिंगला और कर्णभूषण प्रशस्त हैं। कर्णभूषण में उल्लूर की कविता प्रस्फुटित हुई है।

रमणन

इन लब्धप्रतिष्ठ महाकवियों के साथ होड़ करने वाली एक युगप्रतिभा अवश्य स्मरणीय है। देश के एक कोने में से छोटी सी बाँसुरी लेकर वह साहित्य के रंगमंच पर आयी और देखते देखते श्रोताओं को अपनी अलौकिक गान माधुरी से मुग्ध कर गयी। यद्यपि वह बहुत दिनों तक न बजी, पर जब तक बजी, सब को आकर्षित करती रही। यहाँ तक कि उसके गानप्रवाह में कई समुन्नत कवियों का शब्द भी किसी ने न सुना। अकाल में ही अस्त वे युवा कवि स्व० श्री कृष्णपिल्लै जी थे।

आप यौवनारंभ के प्रेमभंग के कवि थे। प्रेम की मधुरता और वेदना के कलात्मक आविष्करण में आप का स्थान सर्वोच्च है। कलंनादिनो कानन नलिनी के समान अनर्गल प्रवाहित होने वाली भाषा आपकी वशवर्तिनी थी। पराजित प्रेम का विषय लेकर आपने रमणन नाम का गीत-नाटक लिखा है। इसकी लोकप्रियता अब तक किसी अन्य काव्य को प्राप्त नहीं हुयी। रमणन का २७वाँ संस्करण प्रकाशित हो चुका है और करोड़ों प्रतियाँ बिक चुकी हैं। इसी से कृष्ण पिल्लै जी की जनप्रियता का अनुमान किया जा सकता है।

आज कल कविता चारों ओर से परिवर्तित हो रही है। नित्यप्रति वह जीवन के निकट होती जा रही है। असंकीर्ण वातावरण को छोड़ कर जीवन के संकीर्ण भावमंडल में घुस रही है। आज उस का बसेरा बाह्य जगत में नहीं बल्कि बाह्य प्रपंच की प्रतिक्रिया से प्रेरित व्यक्ति के मनोमंडल में है। फलतः वह अधिकाधिक विषयिप्रधान हो रही है। आधुनिक कविता के अग्रदूतों में महाकवि जो शंकरकुरुप श्री वैलो घिल्लि श्रीधर मेनोन एन० वी० कृष्णवार्यर और इत्श्शेर गोविन्दन नायर का नाम आदर पूर्वक लिया जाता है।

एन० वी०

मलयाल साहित्य के प्रयोगवादी कवियों में श्री एन० वी० कृष्णवार्यर का स्थान अतुल्य है। अंग्रेजी में वोडन जैसे कवियों ने जिन बालड्स (Ballads) का प्रचार किया है श्री एन० वी० मलयालम भाषा में उनका प्रयोग कर रहे हैं। इस में कविता युक्त विश्वास एवं भाषण की सहायता से एक कथा स्पष्ट करती है। साथ ही तीव्रतर हास समाज के कलेजे में बिजली सा तड़प उठता है। यथार्थ के परुष वातावरण में समाज को आँखें जगा देता है। आप की को-ठु बोम्मन, नीण्ड पाट्टुकळ (लम्बे गाने) आदि ग्रंथ ऐसे कथाकाव्यों से अलंकृत हैं।

आज तो उदीयमान महान कलाकार कविता में नवीनता लाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। प्रतिदिन उस में नवीन भाव और नवीन अभिव्यंजना का चमत्कार प्रयुक्त किया जा रहा है। आशा है निकटतर भविष्य में कथाकाव्य का एक नव्य रूप अवश्य प्रकट होगा।

श्री गोलोकबिहारी धळ

उड़िया भाषा पर अंग्रेजी प्रभावः एक विहंगम दृष्टि[1]

जीवन के अन्य पक्षों की तरह भाषा के क्षेत्र में भी ऋण या आदान दिखाई देता है। संसार की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषाएं दूसरी भाषाओं से आदान द्वारा ही विकसित हुई हैं। अंग्रेजी भाषा एक उदाहरण है, जिसमें ५३ प्रतिशत शब्द फ्रेंच के हैं। यह एक मजेदार बात है कि न तो 'लन्दन' शब्द अंग्रेजी का है न 'बर्लिन' शब्द जर्मन का और न 'पेरिस' शब्द फ्रेंच का।

किसी भी भाषा के उधार लिए हुए शब्दों का अध्ययन बहुत अनुरंजक होता है और विशेषत: आज की इस छोटी सी दुनियाँ में जब कि भूमंडल के दूरातिदूर कोनों के लोग प्रति क्षण एक दूसरे से कन्धा भिड़ा कर चलते हैं और भाषाओं का संक्रमण होता है। दुनियाँ की शायद ही कोई विकसित भाषा हो जो सच्चे अर्थों में 'विशुद्ध' कही जा सके। फिर भी भाषाओं के आदान के विषय में पुराणपंथी दृष्टिकोण सदैव विशुद्धतावादी ही रहा है। पर सारे प्रयत्नों के बावजूद भी भाषाएं एक दूसरे से मिल जातीं हैं, न केवल शब्दावली में पर भाषा के दूसरे महत्त्वपूर्ण पक्षों में भी, जैसे ध्वनि रचना, वाक्य विन्यास, आदि। यहाँ तक कि देवताओं की भाषा संस्कृत में भी बहुत से द्राविड़ और आस्ट्रिक तत्त्व मिले हुए दिखाई देते हैं। इस छोटे से निबन्ध में उड़ीसा की भाषा उड़िया पर, जो भारतीय आर्य परिवार की एक बड़ी भाषा है, अंग्रेजी भाषा के, जो संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है, कुछ विशद प्रभावों को निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी भारतीय भाषाओं पर पड़े हुए आदान के भाषाशास्त्रीय प्रभाव को समझने के लिए यह लेख दिशासूचक हो सकता है। परिनिष्ठित उड़िया एक संस्कृत-प्रभाव-संपन्न भाषा है, जिसमें हिन्दी, उर्दू, अरबी तथा मराठी का आदान दिखाई देता है। पर एक शताब्दी तक अंग्रेजी के प्रभाव क्षेत्र में घसीटी गई उड़िया भाषा, भारत की किसी भी विकसित भाषा की भाँति, न केवल शब्दावली में अपितु वाक्य विन्यास में भी प्रभावित हुई है।

आदान का क्रम

१. अंग्रेजी हमारे शासक प्रभुओं की, उच्चवर्ग की तथा शासन की भाषा थी। सामाजिक प्रतिष्ठा के अर्थ एक सामान्य व्यक्ति भी अंग्रेजी के कुछ शब्दों को जान लेना चाहता

---

१. यह लेख भारत सरकार द्वारा नियुक्त 'हिन्दी भाषा आयोग' को प्रस्तुत किया गया था।

था। अंग्रेजी के अधिकांश शब्द उड़िया में तब आए जब अंग्रेज यहाँ से चले गए और यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति सभी संभव उपायों द्वारा स्वतन्त्र रूप से विकसित होने के लिए—भाषा के क्षेत्र में भी—मुक्त छोड़ दिया गया।

२. अन्तिम महायुद्ध और उसके परिणामस्वरूप स्थापित होने वाले बहुत से नए विभाग अपने साथ अनेक अंग्रेजी शब्दों को उड़िया में ले आए, जिनका अनुवाद करने के लिए बिल्कुल समय नहीं था। मेरे विचार से यह बात प्रत्येक भाषा के विषय में सत्य है।

३. स्वतन्त्रता के बाद की बहुत सी विकास योजनाओं में अनेक यन्त्रीय आविष्कारों का उपयोग अवश्यंभावी था। इनके नामों का उपयोग निम्नातिनिम्न वर्ग के लोगों ने भी पूर्ण स्वतंत्रता से किया। अंग्रेजी वस्तुओं के सैकड़ों वर्षों से उपयोग के कारण आई हुई शब्दावली में यह एक नया योग था।

अंग्रेजी से लिए गए शब्दों के स्रोत—

१. बोलचाल में—शिक्षितों की बोली में तथा अशिक्षित जनसमुदाय की बोली में।

२. लेखन में—अ—विज्ञापन और साइनबोर्ड।
आ—समाचार पत्र।
इ—साहित्य : गद्य और पद्य।
ई—व्याकरण।

हम प्रत्येक स्तर पर एक सामान्य दृष्टि डाल कर देखें कि यह किस प्रकार कार्य करता है। जब एक साधारण आदमी अंग्रेजी से उधार लिए गए शब्दों का प्रयोग करता है तो वे अपने सब से विकृत रूप में सुन पड़ते हैं, यहाँ तक कि उनका समझना भी दुष्तर हो जाता है। नीचे दिए गए उदाहरण लेखक ने स्वयं अंग्रेजी न जानने वाले जन साधारण के मुंह से सुन कर एकत्र किए हैं। इन शब्दों के वर्णों और ध्वनियों का क्रम मूल शब्दों से बहुत भिन्न है। कुछ ऐसे शब्दों के उदाहरण जो इतने बिगड़ गए हैं कि पहचाने भी नहीं जा सकते, नीचे दिए जाते हैं (ये केवल पूर्वापर प्रसंग से ही समझे जा सकते हैं)—

अंग्रेजी शब्द	उड़िया रूप (रोमन लिपि में)	विकृत उड़िया रूप (नागरी लिपि में)
Policy	Päales	पालेस
Injection	Inzensan	इंजेनसन
Difference	Difaat	डिफाट
Export	aakaasphut	आकाशफुट

२ (अ) विज्ञापन और साइनबोर्ड

जैसा कि भारत में अन्यत्र भी देखा जा सकता है उड़िया के विज्ञापनों और साइन बोर्डों में अंग्रेजी शब्दों की इतनी भरमार होती है कि कभी साइन बोर्डों के सारे के सारे शब्द अंग्रेजी के होंगे, सिर्फ उड़िया लिपि में लिखे होंगे। लेखक ने कटक के केवल कुछ हिस्से का निरीक्षण किया और साइन बोर्डों के मजेदार उदाहरण देखे।

नीचे उनमें से कुछ उदाहरण अंग्रेजी शब्दों तथा रोमन और नागरी रूपान्तरों के साथ दिए जाते हैं—

साइन बोर्ड का लेख (रोमन लिपि में)	नागरी लिपि में	अंग्रेजी शब्द
Odisa ais phactori	आड़िसा आईस फाक्टरी	Orissa Ice Factory
Utkal Prospectiv Indastri	उत्कल प्रसपेक्टिभ ईण्डस्ट्री	Utkal Prospective Industry
Telaring Warkshop	टेलरिंग वार्कशोप	Tailoring Workshop
Katak Narsari	कटक नर्सरी	Cuttack Nursery

(आ) समाचार पत्र

१. मैंने उड़िया के तीन प्रमुख दैनिकों का सावधानी से परीक्षण किया और उनमें मुझे अंग्रेजी के अनेक शब्द प्रमुख मिले। कुछ गलत लिखे हुए व्यक्ति वाचक नाम भी दिखाई दिए। अंग्रेजी ध्वनिशास्त्र के स्वल्प ज्ञान से भी यह कठिनाई दूर की जा सकती थी—

अंग्रेजी नाम	उड़िया रूप	नागरी रूप
Dulles	dyules	ड्यूलेस
Daisy	daisi	दाइसी
Aldus Huxley	Aldus Haksali	अलडूस हाकसली

उड़िया शब्दों के बनाने में मजेदार बात अंग्रेजी शब्दों के हिज्जों का प्रभाव है।

(३) साहित्य : गद्य और पद्य

उड़िया की गद्य और पद्य दोनों में ही आपको एक बड़ी संख्या में अंग्रेजी के शब्द ज्यों के त्यों प्रयुक्त मिलेंगे। नीचे दिए हुए शब्दों में से कुछ अभी हाल में ही प्रविष्ट हुए हैं। इससे अंग्रेजी शब्दों के उड़िया में अधिकाधिक मात्रा में घुलने-मिलने के समय का पता लगता है। यह वह समय है जब अंग्रेजी भाषा भारत में दिन प्रति दिन अपना स्थान खोती जा रही है। ऐसे उदाहरणों को आप सैकड़ों की संख्या में प्रस्तुत कर सकते हैं।

अंग्रेजी	उड़िया (नागरी लिपि में)
Fossil	फसिल
Mesmarism	मेसमारिजिम
Lawn	लन
Academic Robe	एकाडेमिक रोब

(इ) व्याकरण

नए शब्द गढ़ने के लिए उड़िया प्रत्यय अंग्रेजी शब्दों में जोड़ दिये जाते हैं और समस्त पद बनाने के लिए अंग्रेजी शब्दों के साथ उड़िया शब्द मिला दिए जाते हैं।

अंग्रेजी शब्द-उड़िया प्रत्ययों के साथ	उड़िया (नागरी लिपि में)
Commission + ia	कमिशनिया
gas + iya	ग्यासीय

समस्त पद—

Seema + Commission	सीमा + कमिशन
Siksha + board	शिक्षा + बोर्ड

वाक्य-विन्यास

वाक्यों में शब्दों का विन्यास अंग्रेजी ढंग पर होने लगा है। किसी भी उड़िया पुस्तक के किसी भी पृष्ठ को देखकर यह बात असंदिग्ध रूप से जानी जा सकती है।

समस्याएं—

जहाँ तक उड़िया का संबंध है अंग्रेजी के आदान ने निम्न भाषा विषयक समस्याएं उत्पन्न कीं हैं :—

(अ) बोल चाल में हमें ऐसे विकृत शब्द सुनने को मिलते हैं जिन्हें समझना आसान नहीं है जैसे डिफाट, पालेस आदि।

(आ) उड़िया लिपि पर अंग्रेजी हिज्जों का प्रभाव।

जहाँ अंग्रेजी में 'र' नहीं होता वहाँ हम उड़िया लेखन में उस शब्द के अंग्रेजी हिज्जों के कारण 'र' रख देते हैं, जैसे वार्डेन रिपोर्ट आदि।

(इ) अंग्रेजी के संस्वृत स्वरों के प्रभाव के कारण बदलता हुआ उड़िया शब्दों का ध्वनि शास्त्र—हल्, बल्

अंग्रेजी से उधार लिए गए शब्दों की सामान्य समस्या—

जैसा कि स्वाभाविक है, प्रत्येक भारतीय भाषा अंग्रेजी शब्दों को लिखने के अपने ही तरीके अपनाती है। दूसरी भारतीय लिपियों में अंग्रेजी शब्दों को पढ़ना भाषा शास्त्र की दृष्टि से बहुत मनोरंजक होगा। मेरा तात्पर्य यह है कि हिन्दी में लिखे हुए अंग्रेजी शब्द मुझे पढ़ने में बड़े अजीब लगते हैं और मेरा अनुमान है कि हिन्दी के लोग जब उड़िया में लिखे हुए अंग्रेजी शब्द पढ़ेंगे तो उन्हें भी ऐसा ही लगेगा।

अंग्रेजी शब्द	उड़िया रूप	हिन्दी रूप
Bank	बाँक	बैंक
Manager	मानेजर	मैनेजर
Tax	टाक्स	टैक्स

अंग्रेजी, [ɔ] या अ = हिन्दी ऑ

अन्य स्वरों के उदाहरण भी आसानी से जुटाए जा सकते हैं। सभी भारतीय भाषाओं के अंग्रेजी से उधार लिए गए शब्दों को एक साथ देखना बहुत मनोरंजक होगा।

मेरा अनुमान है कि यदि अंग्रेजी शब्दों के रूपान्तर के लिए सभी भारतीय भाषाओं में रूपांतर करने का एक परिनिष्ठित माध्यम अपना लिया जाय तो यह अजीब सी लगने

वाली बात दूर की जा सकती है। यह माध्यम उधार लिए गए अंग्रेजी शब्दों की ध्वनियों के सम्यक् ज्ञान तथा संबंधित भारतीय भाषाओं की ध्वनि-व्यवस्था की पूर्ण जानकारी के साथ निष्पन्न किया जाय।

जहाँ तक उड़िया में संस्कृत, उर्दू और मराठी शब्दों के आदान का प्रश्न है, कोई इसकी विशेष चिन्ता नहीं करता; क्योंकि ये शब्द उड़िया भाषा की भूमि में अब तक पत्थर बन कर समा गए हैं। यह बात स्पृहणीय है कि आदानों को पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अंगीकार किया जाय। अंग्रेजी की वस्तुओं के नामों को उनके भारतीय पर्यायवाची भी शब्दों में अनूदित करने का कुछ प्रयत्न हो रहा है। मेरे विचार से अत्याधिक वैज्ञानिक और प्रतिदिन के प्रयोग में आने वाले शब्दों को ज्यों का त्यों ले लेना चाहिए। अन्यथा वे शब्द भाररूप हो जाएंगे।

श्री रमेश चंद्र दुबे

'ढोला मारूरा दूहा' में प्रयुक्त काव्य रूढ़ियाँ

'ढोला मारूरा दूहा' राजस्थानी का एक अत्यन्त जन प्रिय लोक गीत है। सैकड़ों वर्षों से लोग उसे अनेक प्रकार से गाते और सुनते रहे हैं। अतः लोक-जीवन की अनेक प्रवृत्तियों की छायाएँ इसमें समा गई हैं। पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित नरोत्तम दास स्वामी प्रभृति लेखक-त्रय द्वारा सम्पादित संस्करण में इस 'दूहा बद्ध' लोक-वार्ता को अपने मूल रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। इस पाठ को ही आधार मान कर यदि हम इसमें प्रयुक्त काव्य रूढ़ियों का आकलन करें तो तत्कालीन साहित्य की उन रूढ़ियों का परिचय पाना सुलभ हो जायगा जो अति-परिचय के कारण कला-विदग्ध-कवियों के कृतित्व से बाहर जाकर लोक-जीवन में समा चुकी थीं। लोक-गीत जनता के गीत होते हैं और सामान्यतः निरक्षर जनता के मौखिक गानों के रूप में ही वे प्रचार और प्रसार पाते हैं। अतः साहित्य की वे रूढ़ियां जो इनमें भी पैठ पा गई हों निश्चय ही अपने प्रयोग की एक लंबी साहित्यिक परम्परा की ओर इंगित करती हैं। सभा के संस्करण की प्रस्तावना के अनुसार इन दूहों की रचना संवत् १४५० वि० के बाद की नहीं हो सकती' और 'ढोला का समय संवत् १००० वि० के आसपास है और यही इसके रचना काल की ऊपरी सीमा है'।[1] अतः यह लोक वार्ता कबीर के जन्म (संवत् १४५६) के पूर्व ही 'दूहा बद्ध' हो चुकी थी। हिन्दी का कृष्ण-भक्ति साहित्य और रीति काल की शृंगार वर्णन की बँधी परिपाटियाँ इसके बाद की चीज हैं।

'दूहा' में ढोला और मारवणी की प्रेम-गाथा का विस्तृत वर्णन है। उनके विरह और मिलन की कथा यहाँ लोकगीतों की सहज सरल शैली में वर्णित है। अतः इस शृंगार-प्रधान काव्य में हमें दो प्रकार की साहित्यिक रूढ़ियों का ही प्रयोग विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। एक तो स्त्री-शरीर के सौन्दर्य-वर्णन के लिए प्रयुक्त अंगादिकों के उपमान संबंधी रूढ़ियाँ और दूसरी विरह-वर्णन संबंधी प्रथित रूढ़ियाँ।

---

१. ढोला मारूरा दूहा—ना० प्र० स०—प्रस्तावना पृष्ठ १०

स्त्री के नख शिख तथा सामान्य सौन्दर्य से संबंध रखने वाली निम्न रूढ़ियों का उपयोग दुहा में हुआ है—

उपमेय	उपमान	दूहा संख्या
गति	हंस, गयंद	१३, २०७, ४५४, ४५५, ४६०, ४६१, ४७४
जंघा	कदली	१३, १३२, ४५४, ५३६, ५४०
कटि	केहरि, बर्र	१३, ८७, ४५४, ४५५, ४६०, ४६६, ४६६, ६३६
मुख	शशधर, पूर्णिमा का चंद्र	१३, २०७, ४५५, ४६६, ४७६, ५४५, ६६६
नयन	खंजन, कुरंग, सीप, कमल	१३, ८७, ११५, २२१, ४५५, ४५७ ४६६, ४७९, ६६६
कुच	श्री फल	१३
कंठ-स्वर	वीणा, कोकिल	१३, ४५५, ४६०, ४६२, ५४०
वर्ण	सुवर्ण, चंपा, कुंकुम	८७, २०७, ४६२, ४६३, ४६६
अधर-वर्ण	अलक्तक	१३
यौवन	मदमत्त हाथी, कमल	११५, ११६
वेणी	सर्पिणी, फणींद्र	१२५, ४५५
स्त्री	कुमुदिनी, कमलिनी, हंस	१२६, १३०, ४६०
आँसू	मोती	२६६
दशन	हीरा	४५४
अधर	विद्रुम, दाड़िम	४५४, ४८०
भृकुटि	मयंक, भ्रमर	४५४, ४५५
नासिका	कीर	४५५
भाल	चन्द्रमा	४६६, ४७६
कर	कमल	४७३
देह	कणिकार की छड़ी	४७३
उरस्थल	हाथी	४७४

इन रूढ़ियों का उपयोग संस्कृत महाकाव्य-काल से लेकर हिन्दी के मध्य काल (भक्ति काल एवं रीतिकाल) तक प्रचुर मात्रा में अविच्छिन्न रूप से होता रहा है। 'दूहा' जैसे लोकवार्त्ता काव्य में इनका उपयोग यह सिद्ध करता है कि स्त्री-रूप वर्णन के ये उपकरण साहित्य-मर्मज्ञों की परिधि से निकल कर जन-जीवन में घुल मिल गए थे और एक सुपरिचित रूढ़ियों के रूप में इनका प्रयोग जनता द्वारा सहज रूप से होता रहता था। इन उपमानों के अतिरिक्त 'सोलह शृंगार' और 'बत्तीस लक्षणों' का उल्लेख भी दूहा में हुआ है। इन संख्याओं का उल्लेख केवल रूढ़ि-पालन के अर्थ ही हुआ है, यह इन दूहों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है:—

सुन्दर सोल सिंगार सजि, गई सरोवर पाल।

तथा

लखण बतीसे मारुवी निधि चन्द्रमा निलाट ।

राजस्थानी के एक अन्य काव्य (बेलि क्रिसन रुक्मिणी री : पृथ्वीराज) में भी इस बत्तीस लक्षणों की रूढ़ि का रूढ़िवत् उल्लेख हुआ है :—

लखण बतीस बाल-लीला मै, राजकुँअरि ढूलड़ी रमंति ।

कटि की सूक्ष्मता का उल्लेख भी कवियों का एक प्रिय विनोद रहा है । सूरदास ने तो उसे 'अलख' ही बता दिया—

सूछम कटि पर ब्रह्म सी अलख लखी नहिं जाइ ।

दूहा में उसे 'मुष्टि ग्राह्य' तथा 'दो अंगुल' का कहा गया है—

तीखा लोयण, कटि करल, उर रत्तड़ा बिबीह ।

तथा—मारू लँक दुइ अंगुलां, वर नितंब उर मंस ।

नक बेसरि के मोती के अधर के रंग से लाल झलकने का उल्लेख बिहारी ने किया है। दूहा में भी इसका उल्लेख आता है :—

अहर रंग रत्तउ हुवइ, मुख काजल मसि वन्न ।
जांण्यउ गुंजाहल अछइ, तेण न ढूकउ मन्न ।

रूप-वर्णन से संबंधित एक उक्ति यह है कि वह प्रतिक्षण नवीन दिखलाई पड़ता है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः—'माघ'

हिन्दी के बहुत से कवियों ने इस उक्ति को अपनाया है । दूहा में इसके समान उक्ति इस प्रकार से है : —

मारू दाड़म-फूल जिम दिन दिन नवी डहक्क ।

नायिका के रूप को 'अपार' कह कर अवर्णनीय बता देने की रीति भी साहित्य में रूढ़ सी हो गई है । तुलसी ने पार्वती तथा सीता के रूप-वर्णन में इसका सहारा लिया है । दूहाकार कहता है :—

एकणि जीभ किसा कहूं, मारू रूप अपार ।

अस्तु नायिका के रूप-वर्णन संबंधी अनेक रूढ़ियों का प्रयोग दूहा में सहज ढंग से हुआ है । पर दूहा की गाथा विरह और मिलन की कहानी है । अतः वियोग-वर्णन तथा संयोग-वर्णन से संबंध रखने वाली रूढ़ परम्पराएं भी यहाँ प्रचुरता से दृष्टिगत होती हैं । दूहा में पूर्वराग का उल्लेख आता है । प्रियतम को स्वप्न में देख कर ही मारवणी प्रेम में डूब जाती है—

मारू नूं आखइ सखी, आज स काँइ उदास ।
काँम चित्राँम जु दिट्ठ मइं, रूप न भूलइ तास ।।
अम्हां मन अचरिज भयउ, सखियां आखइ एम ।
तइं अणादिट्ठा सज्जणां, किउं करि लग्गा पेम ।।
जे जीवण जिन्हां तणां, तन ही माँहि वसंत । आदि

स्पष्ट ही यह स्वप्न-दर्शन-जन्य कामबाधा पूर्वराग की साहित्यिक रूढ़ि के अन्तर्गत आती है। जायसी की भूमिका में शुक्ल जी ने इस रूढ़ि का विवेचन किया है। सखी कहती है—

साल्ह कुँवर सुहिणइ मिल्यउ, सुन्दरि, सउ वर तुझ्झ।

और यह सुनते ही मारवणी के हृदय में काम की ज्वाला उद्दीप्त हो जाती है—

सखी वयाणि सुन्दरि सुण्या, उठी मदन की झाल।

कवि-कल्पना में ही ऐसी प्रतिक्रिया संभव है; प्रकृत-जीवन में ऐसा होना संभव नहीं है। अतः इसे साहित्य की एक रूढ़ि का अनुसरण ही कहा जायगा। काम की ज्वाला का रूपक भी बहुत पिष्ट-पेषित है। गीता के 'हविषा कृष्णवर्त्मेव' से लेकर 'काम अगिनि जनु तूल सरीरा' आदि हिन्दी की काव्योक्तियों तक इसका बहुशः उपयोग कहीं भी देखा जा सकता है।

दूहा में वियोग-वर्णन ही अधिक प्रधान है। अतः वियोग से संबंध रखनेवाली काव्य रूढ़ियों का उपयोग दूहा में डट कर हुआ है। तुलसी, सूर और जायसी के काव्य में उपलब्ध विरहोक्तियों से बिल्कुल समानता रखती हुई उक्तियाँ दूहा में मिलती हैं। कवि परम्परा-भुक्त वर्णन-प्रकारों का उपयोग यहाँ प्रचुरता से हुआ है। पपीहा को कभी विरहिणी की समदुःख-भोगिता की भावना प्राप्त होती है और कभी कटूक्तियाँ सुननी पड़ती हैं। दूहा के इन उल्लेखों में तथा सूर के वियोग-वर्णन में बहुत साम्य है—

बाबहियउ नइ विरहणी दुहुवाँ एक सहाव।
जब ही बरसइ घण घणउ, तब ही कहइ प्रियाव।।

—दूहा २७

बहुत दिन जीवो पपीहा प्यारो।
बासर रैनि नाउँ लै बोलत भयो विरह जुर कारो।

—सूर

बाबहिआ, तूँ चोर, थारी चाँच कटाविसूँ।
राति जु दीन्ही लोर, महँ जाण्यउ प्री आवियउ।।

—दूहा ३०

रे पापी तू पंखि पपीहा पिउ पिउ पिउ अधिराति पुकारत।

—सूर

विरह में पपीहा का उल्लेख साहित्य की एक बहु प्रचलित रूढ़ि है। इसी प्रकार पावस[१], मोर[२], सूनी सेज[३], बिजली[४] आदि का का दुःखद होना, सारस-जोड़ी[५], चकवी[६], और जल-मीन[७] के वियोग की चर्चा, संदेश[८] 'प्रेम की अकह कहानी'[९], 'विरह भुअंग'[१०], पंख लगा कर प्रिय के पास उड़ जाने की कामना[११] आदि का उल्लेख वियोग-वर्णन की बँधी परिपाटी के अन्तर्गत आता है। दूहा में इन सब का उपयोग हुआ है।

---

१. दूहा ३१, ३८, १७४, २५५, २६६, २. वही ४१, ३. वही १६६, ४. वही १५०, १५१, ५. वही ५३, ६. वही ७१, ७. वही १६२, ४१३, ८. वही ८२, २००, ९. वही १५६, १०. वही २३६, ५०४, ११. वही ६८।

जायसी, सूर और तुलसी से समानता रखने वाली दूहा की उक्तियों का उल्लेख भी यहाँ रोचक होगा—

दूहा— ऊनमि आई बद्दली, ढोलउ आयउ चित्त ।
यो बरसइ रितु आपणी, नइण हमारे नित्त ।।४१।।

सूर— निसि दिन बरसत नैन हमारे ।

तथा

बिनु ही रितु बरसत निसि बासर सदा सजल दोउ तारे ।

दूहा— सा धण वलि कुइला भई, भसम ढँढोलिसि आइ ।।११२।।

जायसी—सो धनि जरि कुइला भई, उहिक धूआँ हम लाग ।

दूहा— विरह बाघ वनि तन बसइ, सेहर गाजइ आइ ।।१२८।।

जायसी—गाजइ पिय हुइ आव सदूरू ।

दूहा— प्रीतम तोरइ कारणइ, ताता भात न खाहि ।
हियड़ा भीतर प्रिय वसइ दाझणती डरपाहि ।।१६०।।

तुलसी—एहि के हृदय बस जानकी जानकी उर मम बास है ।

दूहा-— जो दिन मारू विण गया, दई न ग्याँन गिणात ।।२०८।।

तुलसी—जे दिन गए, तुमहि बिन देखें ।
ते बिरञ्चि जनु पारहि लेखें ।

दूहा— जिण वाटण सज्जण गया, सा वाटड़ी सुरंग ।।३५६।।

तुलसी—धन्य सो नगरु सैल बन गाऊँ । जहँ जहँ जाहु धन्य सोइ ठाऊं ।।

दूहा— ढोलउ मन चलपत थयउ, ऊभउ साहइ लाज ।।४४७।।

तुलसी—पीपर पात सरिस मन डोला ।

दूहा— सूका था सू पाल्हव्या, पाल्हविया फलियाह ।।५६०।।

जायसी—पलुहइ नागमती की बारी ।

इन्हें एक साथ पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये जन साधारण तक में प्रचलित साहित्य की बहुधा प्रयुक्त काव्य-परिपाटियाँ ही हैं ।

'संबंध-भावना' की रूढ़ि का भी दूहा में उपयोग हुआ है । प्रियप्रवास की राधा पवन से प्रियतम के पद की धूलि ले आने का आग्रह करती है और मारवणी प्रियतम को स्पर्श करके आती हुई वायु का स्पर्श करना चाहती है—

जिणि देसे सज्जण बसइ, तिणि दिसि वज्जउ वाउ ।
उआँ लगे मो लग्गसी, ऊही लाख पसाउ ।।

मारवणी भी राधा की भाँति प्रियतम के पद-चिन्ह की धूल को हृदय से लगाती है—

साल्ह चलंतइ परठिया आंगण वीखड़ियांह ।
सो मईं हियइ लगाड़ियां भरि भरि मूठड़ियांह ।।

बिहारी और सूर की तरह की ऊहात्मक रूढ़ उक्तियों का उपयोग भी दूहा में हुआ है। पूनों के चांद से मुख की उपमा देकर उससे प्रकाश होने की बात बिहारी की तरह ही दूहा में आती है—

मारु वईठी सेज सिर, प्री मुख देखइ तास ।
पूनिम केरे चंद ज्यूं, मंदिर हुवउ उजास ।।५४५।।

तथा

हुईं सचेती मारवी, ढोलइ मन आणंद ।
जांणि अंध्यारी रयण मह्हँ, प्रगट्यउ पूनिम चंद ।।६२२।।

इस प्रकार की ऊहात्मक उक्तियाँ दूहा में बहुत हैं।[1] प्रसाद और जायसी की विरहोक्तियों से मेल खातीं हुईं दो उक्तियां भी यहाँ उल्लेखनीय हैं—

दूहा —हियड़उ बादल छाइयउ, नयण टबूकइ मेह ।।३६०।।
प्रसाद —जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई ।
दुर्दिन में आंसू बन कर, वह आज बरसने आई ।।
दूहा —यहु तन जारूं मसि करूं, धूंआ जाइ सरग्गि ।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि, बरसि बुझावइ अग्गि ।।१८१।।
जायसी—यह तन जारूं छार कैं, कहहुं कि पवन उड़ाउ ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरहि जेहि पाउ ।।

इस प्रकार की उक्तियाँ हिन्दी काव्य की विरह-वर्णन-प्रणाली का अभिन्न अंग सी बन गईं थीं। 'हृदय प्रियतम के साथ ही चला गया', 'ये प्राण बड़े निर्लज्ज हैं, निकल नहीं गए' ऐसी उक्तियां भी परम्परा-भुक्त प्रतीत होती हैं—

दूहा —हियड़उ उवांहीसूं गयउ, नयण बहोड़्या नीठ ।।३६२।।
सूर —ऊधो मन नाहीं दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को आराधै ईस ।
तुलसी —तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा ।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा ।
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं ।
समुझु प्रीति रसु एतनेहि मांहीं ।।
दूहा —हइ रे जीव निलज तूं, निकस्यू जात न तोहि ।
प्रिय बिछुड़त निकस्यउ नहीं, रह्यउ लजावण मोहि ।।३७३।।

---

१. देखिये दूहा नं० १५६, ५५०, ५५१ ।

तुलसी—(१) अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।
(२) सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥
(३) केहि सुख लागि रहत तन माहीं।

प्रियतम को स्वप्न में देख कर यह कामना करना कि नींद न खुलती तो अच्छा था, एक रूढ़ परम्परा के रूप में साहित्य में दिखलाई पड़ता है। दूहा में भी इसका उल्लेख मिलता है—

सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ लागी गल रोइ।
डरपत पलक न खोलहो, मतिहि विछोहउ होइ ॥५०२॥
सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ गलि लग्गी धाइ।
डरपत पलक न छोड़ही, मति सुपनउ हुइ जाइ ॥५०३॥

मिलन के समय इसकी विपरीत उक्ति भी मिलती है—

जिणनूं सुपनें देखती, प्रगट भए प्रिव आइ।
डरती आँख न मूंदही, मत सुपनउ हुइ जाइ ॥५५८॥

कबीर ने इस स्वप्न-दर्शन का उल्लेख किया है—

सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
डरपत आँखि न खोलही, मति सपना हुइ जाइ॥

सूर की गोपीं कहती हैं—

कहा करौं बैरिन भई निंदिया निमिषि न और रही।

भास के 'स्वप्न वासव दत्तम्' की मूल घटना स्वप्न-दर्शन ही है। राजा उदयन वासवदत्ता के स्वप्न-दर्शन की याद कर के कहते हैं—

यदि तावदयं स्वप्नो धन्यमप्रतिबोधनम्।

दूहा की पहेलियों में भी कुछ रूढ़ उक्तियों के दर्शन होते हैं। सूर के 'दूरि करहु बीना कर धरिबो' वाला प्रसंग दूहा की निम्न पहेली में है—

विरह वियापी रयणि भरि, प्रीतम, विणु तन खीण।
वीण अलापी देखि ससि, किस गुण मेल्ही वीण ॥५६९॥
वीण अलापी देखि ससि, रयणी नाद सलीण।
ससिहर मृग रथ मोहियउ, तिण हसि मेल्ही वीण ॥५७०॥

जायसी में भी इसका उल्लेख आया है। 'माधवानल कामंद कला' में भी ये पहेलियाँ मिलतीं हैं।

मिलन के प्रसंग में 'चंदन रूखड़इ, और 'नागर बेलि', 'मधुकर' और 'कमलणी', 'धरती' और 'मेह' के मिलन की उपमाएँ परम्परा-भुक्त रूढ़ियों के उदाहरण रूप में गिनाई जा सकती हैं।

अस्तु दूहा में हमें ऐसी रूढ़ियों का प्रचुर उपयोग दिखाई देता है जो हमारे साहित्य में दूहा से पहिले और बाद में भी बहुव्यवहृत रहीं हैं। इनके आकलन से साहित्य की बहुत सी कवि-उक्तियों के मर्म को पहचाना जा सकता है।

श्री कैलाशचन्द्र भाटिया

भाषा में आगत-शब्द

'आगत-शब्द' उधार लिये हुए शब्द के अर्थ में अंग्रेजी के 'लोन-वर्ड्स' का हिन्दी पर्यायवाची है। हिन्दी में इसके लिए 'उद्धृत-शब्द' का भी व्यवहार होता है।[1] कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने 'लोन' शब्द के स्थान पर 'बॉरोइंग' शब्द का भी प्रयोग किया है। "उद्धृत-शब्द" का अर्थ है, वह शब्द जो अन्य स्थान से ज्यों का त्यों लिया गया है।[2] 'लोन' शब्द का शाब्दिक अर्थ है,—उधार ली हुई वस्तु विशेषतः धन जो ब्याज सहित अथवा बिना ब्याज के लौटाया जाय।[3] इस प्रकार इस शब्द के मूल में लौटा देने का भाव है। पर भाषा विज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त इस शब्द के शाब्दिक अर्थ में अन्तर हो गया। 'लोन' शब्द में दो भाव निहित हैं—लेना और वापिस लौटाना, लेकिन भाषा विज्ञान या भाषा तत्व के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप में इसका प्रथम रूप ही मान्य है, लौटाने वाली क्रिया से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वस्तुतः देखा जाय तो हिन्दी में प्रयुक्त शब्द 'उद्धृत' मूल रूप में 'लोन' का पर्यायवाची न होते हुए भी व्यावहारिक रूप में शुद्ध एवं उपयुक्त प्रतीत होता है, क्यों कि 'उद्धृत' में केवल लेने का ही भाव निहित है, जिससे लिया है उसे फिर से वापिस लौटाने की ओर इसमें लेशमात्र भी निर्देश नहीं। 'उद्धृत' में ज्यों का त्यों ले लेने का भाव है, अतएव यह भी शब्द ठीक प्रतीत नहीं होता। जेस्पर्सन महोदय का मत है कि इस भाव के लिए 'लोन' शब्द वस्तुतः उपयुक्त नहीं है, फिर भी सुविधा जनक और बहुप्रयुक्त है।[4] भाषा विज्ञान के क्षेत्र में 'उद्धृत शब्द' का केवल अर्थ है—अनुकरण। बालक भी अनुकरण करता है पर भाषा वैज्ञानिक अनुकरण उससे भिन्न है। बालक सुने हुए अंश का सम्पूर्णतः अनुकरण करने का प्रयत्न करता है, जबकि विदेशी भाषा में से हम कुछ शब्द या पद मात्र का अनुकरण करते हैं।[5] हिन्दी में तो भाषा वैज्ञानिकों ने इस प्रकार के शब्दों के लिए 'विदेशी' शब्द का ही प्रयोग किया है, किसी प्रकार के पारिभाषिक शब्द का नहीं। डा० बाहरी ने ऐसे शब्दों को 'आयात शब्द' माना है।[6]

---

१. धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ ३१८, ३३१
२. रामचन्द्र वर्मा—संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर पृष्ठ १४३
३. The Concise Oxford Dictionary IV Edition Page 699.
४. Jesperson—Language its Nature, Development and Origin Page 208-209.
५. Jesperson—Language,, its Nature, Development and Origin Page 208-209
६. डा० हरदेव बाहरी—देशी शब्द तत्त्व [हिन्दी, अनुशीलन वर्ष ८ अंक ४ पृष्ठ १४७]

भाषा वैज्ञानिक शब्द कोष में 'लोन' के साथ उद्धृत शब्द के लिए (Borrowed) बॉरोड् शब्द की व्याख्या की गई है। ये वे शब्द हैं, जो किसी अन्य भाषा से लिये गये हों। उनके रूप में परिवर्तन भी हो सकता है।[1] किसी भी अन्य भाषा से लिया गया शब्द 'लोन शब्द' है।[2] इस प्रकार 'पी' महोदय की परिभाषा से एक और स्पष्टीकरण हुआ। प्रथमत: तो यह शब्द मूल रूप से किसी विदेशी भाषा का होना चाहिए और फिर यह आवश्यक नहीं, कि वे तत्सम रूप में ही उद्धृत हों, उनमें परिवर्तन भी हो सकता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक ग्लीसन महोदय के विचारों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है, वे 'बॉरोइंग' को किसी दूसरी भाषा के वक्ता के भाषण से लिए हुए शब्द का द्योतक मानते हैं।[3] इस प्रकार ग्लीसन महोदय की व्याख्या से एक और नवीन, साथ ही प्रमुख विचारणीय प्रश्न प्रस्तुत हो जाता है, कि इस प्रकार के शब्द किसी विदेशी भाषा के साहित्य के विभिन्न रूपों व कोषों के माध्यम से नहीं आते वरन् वे सीधे उस भाषा के वक्ता के भाषण से लिये जाते हैं और इस प्रकार उनका प्रयोग भी पहिले जन साधारण मौखिक रूप से अपने प्रतिदिन के वार्तालाप में करता है और जब उनमें से कुछ शब्द बहुत अधिक प्रयुक्त होने लगते हैं तो उनका प्रयोग साहित्य में भी होने लगता है और ये शब्द विदेशी शब्द के नाम से अपने मूल (तत्सम) अथवा तद्भव रूप में कोष में भी सम्मिलित कर लिए जाते हैं। य शब्द किसी न किसी रूप में एक भाषा से दूसरी भाषा में प्रवेश कर लेते हैं, अतएव इन शब्दों के लिए "आगत-शब्द" सम्यक् प्रतीत होता है। इस प्रकार उक्त विवरण के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम निम्न परिभाषा बना सकते हैं :—

आगत शब्द किसी दूसरी भाषा से लिए हुए वे शब्द होते हैं, जो उस भाषा के बोलने वालों के भाषण से लिये जाते हैं और उन शब्दों को मूल (तत्सम) रूप में भी ग्रहण किया जाता है और परिवर्तित (तद्भव) रूप में भी। संक्षेप में हम कह सकते हैं, कि 'आगत-शब्द,' किसी दूसरी भाषा से लेकर हम अपने व्यवहार में लाते हैं[4]।

आगत-शब्द के लिए बहुप्रयुक्त 'लोन' व 'बॉरोड' शब्दों के अतिरिक्त विभिन्न भाषा-तत्त्व वेत्ताओं ने कुछ अन्य शब्दों तथा पदों का प्रयोग किया है। उन में से कुछ विचारणीय है।

(अ) पाचित आगत-शब्द Assimilated Loan

(ब) संकर शब्द Hybrid

(स) संसृष्टि शब्द Loan Blends

(द) (उद्धृत) शाब्दिक-अनुवाद Loan Translation.

(अ) पाचित आगत शब्द[5]

वे आगत शब्द इस कोटि में रक्खे जा सकते हैं, जो सम्पूर्ण रूप से किसी भाषा

१. Pie—Linguistic Dictionary
२. Pie—Linguistic Dictionary Page 125
३. Gleason—'Borrowing is just what its name implies-the copying of a Linguistic item from speakers of another speech form,' Variation in Speech [Descriptive Linguistics Page 290]
४. Pike—Phonemics—Page 242.
५. Pike—Phonemics—पृष्ठ २३३.

में प्राप्त ध्वनियों के अनुकूल बनकर व्यवहृत होते हैं। जैसे अंग्रेजी का 'टिकिट'[1] शब्द (ticket) जिसमें 't' अंग्रेजी की स्फोट वर्त्स्य ध्वनि है। पर हिन्दी में इस ध्वनि का अभाव होने के कारण 'ट' के स्थान पर मूर्धन्य 'ट्' प्रयुक्त किया जाता है।

(ब) संकर शब्द

वे मिश्रशब्द हैं, जिनमें किसी शब्द का केवल एक भाग ही 'उद्धृत' होता है और शेष भाग अपनी भाषा का होता है। उदाहरण रूप में हम अग्नि-बोट (Agun Boat) शब्द ले सकते है, जिसका प्रयोग स्टीमर के अर्थ में किया जाता है। यह स्पष्ट ही है, कि इसका प्रथम भाग 'अग्नि' संस्कृत शब्द है और द्वितीय (Boat) आंग्ल भाषा का है। बम्बई में मल्लाहों में इसका उच्चहरण आग-बोट (Ag-bōt) के रूप में पाया जाता है। इसका प्रयोग सन् १८५३ में डब्ल्यू० डी० आरनोल्ड महोदय ने किया था।[2]

(स) संसृष्टि शब्द

इस कोटि में वे शब्द आते हैं, जो विदेशी शब्दों के रूप के आधार पर गढ़ लिए जाते हैं। जैसे पेन० जर्मन में Bocka Buch अंग्रेजी के Pocket Book के आधार पर बना लिया गया। हिन्दी में गाड़ीवान के आधार पर कोचवान शब्द बना लिया गया।

(द) शाब्दिक अनुवाद

एक प्रकार से विदेशी शब्दों को उद्धृत न करके उनका शाब्दिक अनुवाद प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'Sound mind in a sound body' न लिखकर स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क लिख दिया जाय।

ब्लूम फील्ड महोदय बॉरोइंग के दो रूप मानते हैं:—

[अ] बोलियों से आगत शब्द (Dialect Borrowing)

[ब] सांस्कृतिक आगत शब्द (Cultural Borrowing)

जिस अर्थ में अब तक आगत शब्द (loan words) का प्रयोग किया गया है, उसके लिए आपने सांस्कृतिक आगत शब्द का प्रयोग किया है। सांस्कृतिक आगत शब्द किसी अन्य भाषा से लिये जाते हैं[3]।

'आगत-शब्द' के विभिन्न रूपों पर विचार करने के पश्चात् सर्व प्रथम यह विचारणीय है कि किस प्रकार एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में 'प्रवेश' करते हैं। संस्कृति की भाँति कोई भाषा भी अपने में सम्पूर्ण नहीं होती है। एक देश की संस्कृति का अपने पड़ोसी देश की संस्कृति पर प्रभाव अवश्यमेव पड़ता है और उसके फल स्वरूप एक भाषा के बोलने वाले दूसरी भाषा के बोलने वालों के सम्पर्क में आते हैं। जिस देश की संस्कृति अधिक महान् होती है, जिस देश की भाषा अधिक व्यापक होती है, उस देश

---

१. 'ट' ध्वनि वर्त्स्य स्फोट अघोष ध्वनि है, जिसका हिन्दी में अभाव है।

२. Hobson Jobson

३. ब्लूमफील्ड—Language Chapter XXV

की संस्कृति व उसकी भाषा का प्रभाव निकटवर्ती देश की संस्कृति व भाषा को ही प्रभावित नहीं करता, वरन् दूर दूर तक वह अपना प्रभाव फैलाता है। दो देशों के सम्पर्क में आने का तात्पर्य है, कि एक देश का व्यापार धर्म व विज्ञान; उसकी भाषा व कला दूसरे देश के निवासियों को प्रभावित करे। संसार की किसी एक ऐसी भाषा की ओर निर्देश करना नितान्त अस्वाभाविक है, जो किसी भी अन्य भाषा से प्रभावित न रही हो।[1]

एक देश के निवासियों का दूसरे देश के निवासियों से संबंध एवं सम्पर्क होने मात्र का तात्पर्य है कि कुछ न कुछ शब्द अवश्य एक भाषा से दूसरी भाषा के बोलने वालों ने ग्रहण किये होंगे। इस संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है, कि यद्यपि कोई देशवासी किसी विदेशी भाषा को नहीं सीखता है, फिर भी विदेशी भाषा से प्रभावित होकर उसकी स्वयं की भाषा में कुछ शब्द स्वतः ही आ जाते हैं। ऐसा सम्बन्ध तो स्वतंत्र देशों के मध्य ही सम्भव है, जहाँ कि पारस्परिक आदान प्रदान होता है। दुर्भाग्यवश यदि एक देश का दूसरे देश पर शासन है, तो शासक की भाषा के शब्दों की संख्या शासित भाषा में किसी अन्य भाषा की अपेक्षाकृत कहीं अधिक होगी और शासक स्वेच्छा से शासित भाषा को सीखना चाहे तो सीख सकता है, फलस्वरूप उनकी भाषा अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभावित होगी। उदाहरण स्वरूप हम देखते हैं, कि केल्ट भाषाओं के शब्द फ्रेंच व अंग्रेजी में बहुत कम संख्या में हैं, जबकि केल्ट भाषा भाषियों को ये भाषा बहुत अच्छी तरह सीखनी पड़ी और अनेक उद्धृत शब्द उनकी भाषा में प्रयुक्त होने लगे। भारत का उदाहरण सम्मुख है—अंग्रेजी की दासता के कारण कितने भारतवासियों ने अंग्रेजी भाषा को अपनाया और अंग्रेजी के अनेक शब्द भारत की भाषाओं में इतनी दूर घुस गये हैं, कि उनका निकाल फेंकना नितान्त असम्भव ही है; इसके ठीक विपरीत हमारी भाषाओं के बहुत कम शब्द अंग्रेजी भाषा में उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार किसी भाषा के आगत शब्दों का आधिक्य उस भाषा के व्यापक क्षेत्र का ही द्योतक नहीं वरन् उसकी महत्ता भी सिद्ध करता है, यद्यपि यह महत्ता कितने ही प्रकार की हो सकती है[2]।

किसी देश का विशेष उत्पादन या उस देश की विशिष्ट प्रणाली जिसका अन्य देशों में नितान्त अभाव होता है जब किसी अन्य देश में जाती है, तो उसका नाम उस वस्तु, भाव या प्रणाली के साथ साथ उस देश में प्रचलित हो जाता है[3]। इस प्रकार ये शब्द किसी एक देश की सीमाओं में बद्ध न होकर समस्त विश्व के हो जाते हैं

---

१. Sapir—Language Chapter IX तथा Jespeson-Language—its Nature and Development Book III chap. IX page 208
२. Jesperson—Language-its Nature, Development and Origin Book III Chap. XI Page 209.
३. J. Vendreys—Language Page 227

और किसी एक भाषा में प्रयुक्त न होकर समस्त भाषाओं में अपना स्थान बना लेते हैं और कभी कभी तो यह सोचने मात्र में समय लगता है कि ये शब्द विदेशी हैं ? इनका अपने देश से कोई सम्बन्ध नहीं । इस प्रकार के शब्दों की कुछ शब्द नीचे दिये जा रहे हैं ।

चाय	Tea (टी)—चीनी
काफी	Coffee—अरबी
चाकलेट	Chocolate—मेक्सिकन
पंच	Punch—हिन्दुस्तानी

हिन्दी भाषा में बहु प्रयुक्त शब्द कोचवान गाड़ीवान के आधार पर कोच+वान शब्दों के मिश्रण से बना लिया गया । सम्भवतः कोच शब्द अंग्रेजी के (coach) 'काउच' शब्द का ही रूपान्तर हो ऐसा अधिकांशतः सोच लिया जाता है । पर अंग्रेजी का भी काउच शब्द हंगरी भाषा के kocsi का विकृत रूप है, जो फ्रेंच में coche के रूप में व्यवहृत होता है ।

इस प्रकार 'आगत-शब्द' यह घोषित करते हैं, कि एक देश ने दूसरे देश को क्या सिखाया और उसकी विश्व को क्या देन है । फ्रान्स यदि भोग-विलास व विभिन्न प्रकार के फैशनों के लिए प्रसिद्ध है तो इस देश के इन्हीं से सम्बन्धित शब्द अन्य देशों में प्रचलित हुए । यदि अंग्रेजी में उद्धृत फ्रेंच शब्दों की सूची पर दृष्टिपात किया जाय तो इस प्रकार के शब्दों का बाहुल्य स्वाभाविक है । जर्मन भाषा से वैज्ञानिक व दार्शनिक शब्द अन्य भाषाओं में फैले और इटली से संगीत तथा बैंक सम्बन्धी । संगीत का प्यानो शब्द कितना प्रचलित है । गणित व ज्योतिष सम्बन्धी शब्द अरबी भाषा से अन्य भाषाओं में गये—अलजबरा (Algebra) ज़ीरो (Zero) आदि । संस्कृत का शर्करा शब्द विभिन्न भाषाओं में कितने मिलते जुलते रूप में विद्यमान है--देखए—फ्रेंच [Sucre] जर्मन [Zucker] ग्रीक [Sakkharon] अरबी [Sukkar] शक्कर व फारसी में शकर [Shakar] इस प्रकार ये शब्द किसी एक देश की सीमाओं में बद्ध न रहकर विश्व में व्याप्त हो गये हैं ।

जब एक देश का किसी दूसरे देश पर शताब्दियों तक अधिकार रहता है, तो शासित देश के निवासी शासक की भाषा को ही ग्रहण नहीं करते वरन् अपनी भाषा में शासक की भाषा के शब्दों का प्रयोग बहुत करने लगते हैं। फलत· बहुत से ऐसे शब्द भी उनकी भाषा में स्थान प्राप्त कर लेते हैं जिनके न लिए जाने पर भी भाव प्रकाशन में कोई अड़चन न होती । पर जब किसी देश का सांस्कृतिक प्रभाव किसी अन्य देश पर अत्यधिक पड़ता है तो उसके भाषा-भाषी अनावश्यक रूप से उस भाषा के शब्दों को उद्धृत करने लगते हैं । उदाहरणतः अंग्रेजी में ठंड के भाव प्रकाशन के लिए cool, cold, chilly व icy शब्द पर्याप्त होते हुए भी फ्रेंच से frigit, algid तथा gelid ले लिये गये ।[1] भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के साथ स्कूल, कालेज व यूनिवर्सिटी शब्दों का प्रयोग बढ़ा जबकि उसके स्थान पर विद्यालय, महाविद्यालय तथा

---

१. Jesperson-Language its-Nature, Development and origin Page 210.

विश्वविद्यालय का प्रयोग किया जा सकता था। फिर भी इनका प्रयोग इतना अधिक बढ़ गया, कि आज विद्यालय उतना प्रचलित नहीं, जितना स्कूल और यह कितना हास्यास्पद है, कि कुछ शिक्षा संस्थाओं के नाम में विद्यालय व स्कूल दोनों लगे हुए हैं जैसेः— इलाहाबाद का अग्रवाल विद्यालय कालेज और मथुरा का जवाहर विद्यालय इण्टर कालेज।

एक भाषा से दूसरी भाषा में उद्धृत किये जाने वाले शब्दों को हम निम्न रूप में विभाजित कर सकते हैं—

[अ] संज्ञा, विशेषण व क्रिया।
ये शब्द अधिकांशतः ज्यों के त्यों प्रयुक्त होते हैं।

[ब] सर्वनाम, अधिकरणवाचक, समुच्चय बोधक, सहायक क्रियाएँ।
इनका प्रयोग बहुत कम होता है।

संख्याएँ तो एक भाषा से दूसरी भाषा में बहुत ही कम उद्धृत होती हैं, केवल प्रसिद्ध खेलों के साथ इनका प्रसार अवश्य हो जाता है। इस प्रकार आगत शब्दों में सबसे अधिक संज्ञाएँ ही ली जाती हैं। अनेक प्रकार के वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये हैं।

रुडोल्फ हालिग महोदय ने समस्त शब्दों के विभाजन के लिए निम्न रूपरेखा प्रस्तुत की है :—

[अ] विश्व
[ब] मानव
(१) स्वास्थ्य
बीमारी
दवाइयाँ
वस्त्र
आभूषण
(२) मानव की आवश्यकताएँ
भोजन
(३) आत्मा व बुद्धि
सामान्य विचार
बुद्धि
भाव
(४) भाव-प्रकाशन
(५) मानव-सामाजिक प्राणी के रूप में
विवाह
सम्बन्ध
खेल
(६) कार्यव्यस्त मानव
विभिन्न अस्त्र शस्त्र
औजार

(७) विभिन्न व्यवसाय और उद्योग धन्धे
निवास स्थान
भोजनादि बनाने के लिए बर्तन
(८) सामाजिक संस्थाएँ व मनोरंजन
ग्राम
जाति
संगीत
वाद्य
(९) मनुष्य और विश्व
(१०) तौल और नाप

शब्दों के वर्गीकरण के पश्चात् उनके वैज्ञानिक अध्ययन में सर्वप्रथम और प्रमुख समस्या है—उच्चारण की। कोई भी व्यक्ति अपनी मातृभाषा में भी 'आगत शब्दों' का उच्चारण विदेशी ध्वनियों में कर सकता है। पर अधिकांशत: व्यक्ति विदेशी ध्वनियों के स्थान पर अपनी मातृभाषा में प्राप्त निकटतम ध्वनियों से कार्य चलाना चाहते हैं।[१] जिस व्यक्ति के द्वारा किसी शब्द का प्रारम्भ में प्रसार होता है, उसका उच्चारण नितान्त शुद्ध व स्पष्ट होते हुए भी, यह स्पष्ट है, कि उसका उच्चारण भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न रूप में करते हैं। अत्यधिक प्रयोग में आने वाले शब्दों के उच्चारण में उन ध्वनियों का प्रयोग होने लगता है, जो उनके यहाँ पूर्ववत् प्राप्त होती हैं और वे उनके उच्चारण में अभ्यस्त होते हैं। उदाहरण रूप में हम कह सकते हैं, कि अंग्रेजी के Thing, third, theatre आदि शब्दों में Th अंग्रेजी की [θ] ध्वनि अन्तर्दन्तीय संघर्षी अघोष है जिसका हिन्दी की ध्वनियों में अभाव है, अतएव इसके स्थान पर लगभग सभी [थ्] ध्वनि में रूपान्तरित करके उच्चारण करते हैं। रसियन भाषा में [Y] ध्वनि का अभाव है अतएव फ्रेन्च भाषा के आगत शब्दों में वे [Y] के स्थान पर [ju, iu] परवर्तित कर देते हैं।

जब किसी भाषा की किसी विशिष्ट ध्वनि से सम्बन्धित शब्दों की संख्या किसी भाषा में अधिक हो और प्रयोग भी अधिक हो, तो धीरे धीरे कालान्तर में वे विशिष्टि ध्वनियाँ उस भाषा की ध्वनियों में बढ़ानी पड़ती हैं। फ़ारसी भाषा के प्रभाव के कारण हिन्दी में ध्वनि [ज़] की वृद्धि हो गई है। यही बात स्वर ध्वनियों पर भी चरितार्थ होती है। अंग्रेजी भाषा को स्वर ध्वनियों में से पश्च विवृत्त वृत्ताकार [ɔ] का हमारे स्वरों की ध्वनियों में अभाव था अतएव उसके लिए [ॅ] चिह्न प्रयुक्त होने लगा है। यद्यपि इन ध्वनियों का प्रयोग आगत शब्दों के तत्सम रूप लिखने में[२] विशेष रूपसे किया जाता है और बोलचाल में उतना नहीं। फ्रेंच भाषा में अनुनासिक स्वरों का बाहुल्य है, पर जब वे शब्द अंग्रेजी में लिये गये तो उन शब्दों में अनुनासिक स्वरों के स्थान पर स्वर ध्वनि और नासिक्य व्यंजन ध्वनि का आगम हो गया जैसे फ्रेंच [Saloⁿ] अंग्रेजी में [SElon][३]

१. E. H. Sturtevant—Lingistic Change
२. धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ ९८, १०३।
३. Bloom field—Language Chap. 25 Page 444

और हिन्दी में सैलून बन गया। हिन्दी में तो [न्] की ध्वनि पूर्ण रूपेण विद्यमान है।

उद्धृत शब्दों में विदेशी ध्वनियों के स्थान पर अपनी भाषा की ध्वनियों का प्रयोग विभिन्न स्थलों पर भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न होता है। इस प्रकार अधिकांशत: आगत शब्द अपनी विदेशी ध्वनियों को त्याग कर ही भाषा में प्रवेश करते हैं, फिर भी बहु प्रयुक्त शब्दों में विदेशी ध्वनि भी लेली जाती है ऐसा उल्लेख हम ऊपर भी कर चुके हैं। फलत: ध्वनियों में वृद्धि हो जाती है—उदाहरणत: हिन्दी में [फ्] ध्वनि स्फोट ध्वनि है जिसका उच्चारण दोनों होठों से होता है, पर अंग्रेजी की [फ़] ध्वनि संघर्षी है, जिसके उच्चारण में नीचे का होठ और ऊपर के दांत काम में आते हैं और दोनों के मध्य में इतना कम स्थान रह जाता है, कि वायु बड़ी शीघ्रता से सीत्कार करती हुई निकल जाती है। इस प्रकार एक नवीन [फ़] ध्वनि चिह्न की वृद्धि हो गई। इस प्रकार की वृद्धि वांछनीय है।[१]

उद्धृत शब्द जितने अधिक प्रचलित होते जाते हैं, उनकी मूल विदेशी ध्वनियाँ अपनी भाषा की ध्वनियों में उतनी ही बदलती जाती हैं, चाहे लिखने के लिए उसके तत्सम रूप को सुरक्षित रखने के हेतु विदेशी ध्वनि की वृद्धि क्यों न कर ली गई हो। उन आगत शब्दों को विदेशी ध्वनियों के साथ उच्चारण करना नितान्त अस्वाभाविक है और भाषा के प्रवाह में बाधा पहुँचती है।[२] जेस्पर्सन महोदय ने तो इसका रूपक इस प्रकार बाँधा है। "Shunting of the whole speech apparatus on to a different track for one or two words and then shifting back to the original basis of artculation."

कभी कभी आगत शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन ही नहीं[३] होता वरन् नवीन ध्वनि का आगम भी हो जाता है—जैसे फ्रेंच से [marbe] शब्द जब अंग्रेजी में लिया गया तो [marble] हो गया। इस प्रकार [ल्] ध्वनि की वृद्धि हो गई। अंग्रेजी में शब्दों के अन्त में [र्] ध्वनि का अभाव है, पर हिन्दी में सभी जगह [र्] ध्वनि का आगम हो गया है जैसे अंग्रेजी [मोउटॅ] (motor) हिन्दी में मोटर बन गई।

कभी तो आगत शब्द इतना अधिक रूप एवं अर्थ परिवर्तन कर लेते हैं, कि यह विश्वास भी नहीं होता, कि ये शब्द (अंग्रेजी) विदेशी हैं। अंग्रेजी में प्रयुक्त शोफ़र विदेशी शब्द हैं। हिन्दी में प्रयुक्त "सपरेटा" उस दूध के लिए प्रयुक्त होता है, जिससे मक्खन निकाल लिया गया हो।

आगत शब्दों के साथ साथ कभी कभी विदेशी प्रत्यय मात्र भी देशी शब्दों मे जुड़कर प्रयुक्त हो जाते हैं। फारसी के 'खाना', 'गोरी' 'बाजी' प्रत्यय इतने प्रचलित हो गये हैं, कि इनका प्रयोग देशी क्या विदेशी शब्दों से साथ भी होने लगा है। उदाहरण रूप में हम जेलखाना ले सकते हैं, जो जेल+खाना दो शब्दों से बना है, जिसमें प्रथम शब्द अंग्रेजी से लिया गया है और द्वितीय फारसी का प्रत्यय।

---

१. Pike—Phonemics—Page 142 IV-F (1)
२. Jesperson—Language-its Nature, Development and origin Page 208.
३. William L. Graff-Language and Languages Page 244.

अन्त में यही कहना है, कि उद्धृत शब्द अधिकांशतः नवीन वस्तुओं और विचारों के साथ एक देश की भाषा और संस्कृति से दूसरे देश की भाषा और संस्कृति में प्रवेश करते हैं। कभी इनका तत्सम रूप रहता है और कभी विकृत जैसे अंग्रेजी का Cup शब्द [कप] ही रहा जबकि Lantern लालटेन बन गई। कभी पूर्व प्रचलित शब्द इतना अधिक व्यापक होता है, कि नवीन नाम प्रभाव शून्य रहता है और फलस्वरूप मोमबत्ती के सम्मुख Candle (कैंडिल) की दाल न गल पाई और रकाबी के आगे तो सौसर को मुँह की खानी पड़ी।

हॉगेन महोदय ने आगत शब्दों का निम्न आदर्श वर्गीकरण प्रस्तुत किया है[1] :—

[अ] आगत शब्द

- १. शुद्ध आगत शब्द
  - अपाचित [unassimilated]
  - अंशतः पाचित [Partly assimitlated]
  - पूर्णतः पाचित [wholly assimilated]
- २. संसृष्टि
  - बीज (Stem) [निरर्थक प्रत्यय के साथ]
  - व्युत्पन्न (Derivative) [सार्थक प्रत्यय के साथ]
  - समस्तपद (Compound) [स्वतंत्र नवीन रूपमात्र के साथ]

[ब] आगत-शब्दानुवाद

- सृजन (Creation)
  - अभिधेय (Literal)
  - निकटतम (Approximate)
- प्रसार (Extension)
  - ध्वनिसाम्य [Homophonous]
  - समजात [Homologous]
  - पर्यायवाची [Synonymous]

---

१. Einer Haugen—The Norwegian Language in America —Vol II

टिप्पणी--१

फतहपुर (उ० प्र०) में हस्तलिखित ग्रंथ:

जिला फतहपुर की यात्रा में हिन्दी विद्यापीठ की ओर से निम्नलिखित स्थानों का निरीक्षण किया गया।

१—हसुआ : यहां संत चंददास की समाधि है। संत चंददास के अभी तक ग्यारह ग्रंथ खोजे जा चुके हैं। इन ग्रंथों में इनके परिचय में ये पंक्तियाँ हैं :

वरनौ वंश विवेक निजु, आश्रम धर्म निवास।
वरन चार जेहि ग्राम में, हरिजस करत प्रकास।
जनि वंश महिमा बहुरि बरनौं,
चरन हरि उर आन के।
तज भोग माया जोग लीन्हों,
दिव्य मारग जान के।
पय पान प्रान सुधार दीन्हों,
चरन सतगुरु मान के।
तन निपुन खत्री वरन पायो,
साधू रज मन सान के।
गंगा यमुना मध्य में, हंसध्वज को ग्राम।
हंसपुरी शुभ नाम तेंहि, तहाँ कियेउ जन धाम।।

[पदों में से।

तहं रची सुधार, सुधा धार पवन सरस।
कीरत कृष्ण उदार, भगत ज्ञान दायक सदा।।
सावन कृष्ण त्रयोदशी, महिसुत बासर जान।
समय अठारह सौ बरस, अपर पंच परवान।

[कृष्ण विनोद से

अठारह से अरु पंच सम, वर्ष पन्य गुन धीर।
भादों शुक्ला पंचमी, वरने सुजस यदुवीर ।।

[भागवत दसम स्कन्ध की कथा से

समय अठारह सै बरस, अपर चार परधान ।
माघ शुक्ल तिथि अष्टिमी, वरन्यो चन्द पुरान ।

[राम त्रिनोद (रामायण की कथा) से ।

बरनौ आश्रम धीर निजु, सुन्दर सुषद नेबास ।
बसै वरन तम्र चार सुभ, निजु निजु धर्म प्रकास ।।
हंसपुरी स्थान ध्यान, तह हरि को कीन्हौं ।
त्याग विषै रस भोग जोग को मारग लीन्हों ।।
संज्जम नेम सुधार प्रान पै पान सौ दीन्हौं ।
सुरसरि यमुना मद्ध बास अति उत्तम चीन्हौं ।।
खत्री वरन विवेक देह घर भक्त बढ़ाई ।
रघुवर सुजष विनोद चन्द कल कीरत गाई
बसंतराय मम पितामह, पिता सो साहबराय ।
सहिगल खत्री वंस में कृत शरीर सुख पाय ।।

(राम विनोद से

संत चंददास जी के ग्रंथ कैथी में लिखे हुए हैं ।

२. गुणीर—संत चंददास से भी लगभग दो सौ वर्ष पूर्व गुणीर में संत लक्षदास हुए। इनकी कुटी के अवशेष यहां है, यह दन्तकथा यहां प्रचलित है कि संत लक्षदास से मिलने के लिए तुलसीदास जी भी आये थे। संत लक्षदास की कुटी के ठीक सामने एक नीम का वृक्ष है। कहा जाता है कि तुलसी ने प्रातः अपनी दांतून यहाँ गाड़ दी थी। वही इस वृक्ष के रूप में विद्यमान है। संत लक्षदास ने भी बहुत साहित्य प्रस्तुत किया है। इनका लिखा कृष्णायन विद्यमान है। 'भक्ति विहार' नामका एक महत्वपूर्ण ग्रंथ इसी जिले में मिला है, जिसे बहुत महत्त्वपूर्ण बताया जाता है। कहते हैं, उसमें लक्षदास का वर्णन दिया गया है। 'भक्त विहार' चंददास जी का लिखा माना जाता है।

३. शिवराजपुर : यहां पर चरणदासी संप्रदाय का कुछ साहित्य है। एक ग्रंथ सौ वर्ष पुराना ऐसा बताया जाता है जिसमें मीरा के सर्वाधिक पद हैं। यहां गिरधर गोपाल की एक मूर्ति है, यह माना जाता है, कि यह वही मूर्ति है जो मीरा की इष्ट मूर्ति थी। कहा जाता है कि सौ वर्ष पूर्व लिखे शिवराजपुर माहात्म्य में इस मूर्ति के यहां आने का उल्लेख है।

४. बहुआ
५. गौरी　} फुटकर ग्रंथ
६. सांखा

७. फतहपुर में जिला नियोजन अधिकारी (डिस्ट्रिक्ट प्लानिंय आफीसर) कैप्टेन श्री शूरवीर सिंह के पास निम्नलिखित ग्रंथ देखे । उनका विवरण भी यहां दिया जाता है ।

गुटका :

१. जिल्द बांधते समय ऊपर ४, ५ पृष्ठ नये कागज के लगे हुए थे जिनमें से तीन फाड़ लिये गये हैं । यह स्पष्ट विदित होता है । क्योंकि उनके कुछ अंश सीमन के पास लगे रह गये हैं । पर नये पन्नों के बचे हुए पन्ने पर ५।। की संख्या है, जिससे विदित होता है कि चार पन्ने फटे हैं । बचा हुआ पन्ना इन शब्दों से आरंभ होता है "या पांचवा पन्ना है ।

"पानिप अमल की झलक झलकन लागी काई सी गई है
लरिकाई मिटि अंगते" ।।१६।।

और यह समाप्त होता है—

"बात कही न गई सो रही गहि हाथ दुहु सो सहेली को अंचल ।

इसके बाद प्राचीन कागज पर प्राचीन स्याही से लिखा ग्रंथ आरंभ होता है । यों—

साथ सखी के न १

ये शब्द कुछ फीकी स्याही से बाद में लिखे गये हैं और लाल मार्जिन की रेखाओं के ऊपर हैं । उसके नीचे आरंभ है—

"ई दुलही को भयौ हरि को हिय हेरि हिमंचल"

यह ग्रंथ ५३ पन्ने तक गया है । ५४ वे पन्ने के पृष्ठ भाग पर समाप्त हुआ है । वहां ये पंक्तियां हैं—

लवहथातें नंदकुमार मीच गई डरि बीच हीं विर
रह अनल की भार ।।२१।। समुझि २ सब रीभि हैं
सुज्जन सुकवि समाज रसिकनके रसकों कि
यो भयो सकल रसरज ।।२२।। इतिश्री सुकविम
तिराम विरचित रसराज ग्रंथ संपूर्ण संवत् १८८८ मिती कातिक वदी ११ हीरासींघषीच
र लिखते ।

२. ५४ वें पन्ने पर १ संख्या डाली गयी है । मार्जिन में शीर्षक दिया गया है । मानमंजरी और सबसे पहली पंक्ति यों हैं—

निम्नगा अपगविरे क सोइ ।।१२।। सैवलिणी

इससे प्रकट होता है कि लिपिक को मान मंजरी की जो प्रति मिली उसमें ११ संख्या तक के चरण लुप्त थे, और १२ वीं का भी अधिकांश नहीं था । यह मानमंजरी चार

पृष्ठों में समाप्त होगयी है । अंतिम दोहे के ऊपर की संख्या ३४ डाली गयी है । उसके बाद : ऊच धाम के नाम । सौध हर्म्य प्रासादते चली कुअरि गति मंद उज्जल जल धरते मनौ अवनी आवत चंद ।।२३५।। इति श्री नंदलालदास कृत मानमंजरी सपतं सुम म सु राम राम । अतः संपूर्ण संख्या मूल गंथ में २३५ होगो और जिस १२ से ग्रंथ आरंभ हुआ है वह २१२ होगा । इन पन्नों में ये विषय हैं : नदी, वृक्षनाम, पत्रनाम, पवन नाम, वेदनाम, वज्रनाम, अर्धरासी नाम, लज्जा, लघु भ्राता नाम, पितानाम, मदिरा को नाम, स्वम्पवनाम, संघात नाम, अज्ञानाम, थोरनाम, उपाहन के नाम, ऊच धाम के नाम ।

३. फिर चार पृष्ठों में रामकथा विषयक किसी ग्रंथ का अंश है जो यों आरंभ होता है —

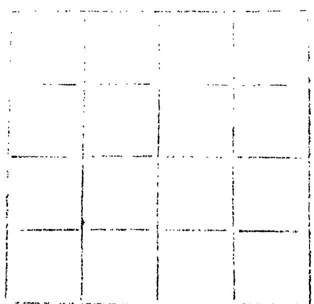
श्री गणेसअएनह ।। क्षपै ।। दै कृसंन हणुमा
न लंक चोगान चढी जब । जातुधान विलला
न जरत नर नारि तलफिर तब । भयो सोच हुवो

अंत है

लंकाषी सावी सषिसा ।। यह कहत वहत तन
घायलनि रावन जानु न रामु नर ।। निजु ना
रि सहित ले जानकी हि मिलौ राम सुषराजु
कर ।।६।। राम राम जाट्टसं पुस्तकं चं आदि

४. फिर तीन पृष्ठों में कुछ फुकटर पद्य हैं जिनमें **"कविगोविंद"** तथा कवि देव के नाम स्पष्ट हैं ।

५. फिर ५ पृष्ठों में



इस प्रकार खाने बना कर चिड़ियों के नाम हैं । शीर्षक पृष्ठ के ऊपर 'चिरित्र' दिया गया हैं । बहुत सी चिड़ियों के नाम दुहराये गये हैं तब विरह के दोहों में चिड़ियों को उपमानादि रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसका आरंभ है--

।। श्री गनेसअयनम ।। कंजनयनि भृकुटी धनु
ष मुष छवि चंद प्रकास ।हंस गवनि मृग
लोचनी षरी पिआ की आस ।।१।। एक विरह

दुख हौ सहौ परै न छिन भरि चैन ।। दुजे सो
तिय पीहरा पिय २ बोलन बैन ।।२।। दारिम

पांच पृष्ठों में यह वर्णन समाप्त हुआ है । ३० दोहे हैं । अंत में हैं ।

पक्षि चरिज के भेव सव दि्वज प्रभुराम वषान ।।
लगी पैंचदर पेंच अव नेह विरह की बान ।। इति ।।

६. फिर भजन शीर्षक से 'आत्मा' या 'दास आत्मा' नाम के संत के पद हैं, चार पृष्ठों में । आरंभ हैं 'ध्याईजैं सीतापति राम' आदि । तुलसी की सी शब्दावली है । आत्मा के पदों के अंत में एक कविता 'कवि रामराई' की है । 'पैरी पटपीत पैरीपाग' पैरी अथवा पहरने का ही वर्णन है । क्या क्या पहन कर कृष्ण यमुना किनारे नृत्य कर रहे हैं । ऐसे तीन चार कवित्तों के बाद 'तुलसी' के कवित्त हैं ।

७. तब चिड़ियों की तरह 'फूलचेतवनी' है । कोष्ठकों में फूलों की सूची देकर दोहों में फूलों से राधा-कृष्ण की शोभा आदि का वर्णन है । कवि का नाम नहीं प्रकट होता । 'गोपाल' के प्रयोग में श्लेष से कुछ ऐसा भास होता है कि कवि का नाम 'गोपाल' हो सकता है '३१' दोहे हैं । फिर 'सुकवि कलस' की छाप का एक कवित्त है :

८. अंग अलसोहे क्षत अधरन सोहै
मनो रूप के खजाने पर मोहर मनोज की ।

९. इसके अनंतर दो पृष्ठ आमने-सामने के खाली छोड़ कर 'सतसैया' दी गयी है । यह विहारी सतसई है । यह सतसई विषयानुसार संग्रहित है । आरंभ में मंगल के दोहे हैं । आरंभ 'मेरी भव वाधा' से है फिर 'वैस संधि वर्णनम, जोवन वरननं, कच वर्णन, टीका वर्णन, वेंदी वर्णन, आदि । यह क्रम बीच में भंग होगया है । ६४२ दोहे के बाद पृष्ठ नहीं हैं । ५३ पन्नों में विहारी सतसई हैं । यह गुटका इस प्रकार समाप्त हुआ है ।

२. यह हस्तलिखित पुस्तक

।। द. लाला भाट की पुस्तक ।।
।। पींगल है जो कोई दावा करैं ।।
।। सो झूंठ मौजे अंझी के रहने वाले ।

फक्त

ग्रंथ का आरंभ यों है :

श्री गणेसायन ।।गवरि गोद मह मोद मगन मन कर मोद ।
कवि लसत सुखकंद । वंदन वलित ललित उतमंग है संग
ह सुभग जगमगिय चंद ।। इमि स्वरूप सुभ गज मुष ध्या
वत सरसावत वहु वुधि पर क्षंद ।। मंगल करन हरन अघ
संजय जय जय सद्ध सदन सिव नंद । कुंजर तुंड सुंड झक

फिर पहले प्रकाश के अंत में लिखा है :—

महाराज धीराज वीरसिंह देव हुव ।।
चंद्रभान धरनीश धीर ता कोपसीद्ध भुव
मित्र साहि ताको सपूत विख्यात जगत सुव
तासु पुत्र अवतंस अवनि पंचभर रूप हुव
जसुजासु अवलंव लहिय मतिराम सुकवि हित चित धरिये
रचि छंदसार संग्रह सरस सुगन पद्धति संपूरन करिये ।

इति श्री महाराजधिराज श्री महाराज वंसवतंसावतार श्री सरूपसिंघ कीति विरंचितायां कवि मतिराम वृत्त कौमद्यां प्रथम प्रकास ।

यह राजवंश बुंदेला था :

श्री बुंदेले वीर कों
मित्र नंद धीर कों
पंचम सभूप कौं
जांचिये शरूप कौं ।

× × ×

संसार मैं सार भोमा पसारी
बुंदेल की लाज है सीसभारी
दील्लीस की सैन जानै उजारी
पन्ना महिमा कहि रति जोन्ह जोहिये.
चकोर से पंडित प्रेम पोहिये ।
सदा सदा चार विचार मोहियें ।
बुंदेल भूपाल सरूप सोहिये ।

× × ×

सिखिरिनी छंद :

सुनिये सिंह सरूप
वली कासी राजा सकल गुन सपन्न विलसैं

बिमला छंद ।

... ..परम धरम धाम कासि राज जोहियो ।
नृपति मुकुट अवनि ईंदु स्त्री सरूप सोहियो ।
महाराज राजाधिराज वीरसिंघ देव हुव
चन्द्रभान धरनीस धीरता को प्रसिद्ध भुव ।

मित्र साहि तसु पुत्र सरस विख्यात जगत......
तासुपुत्र अवतंस अवनि पंचम सरूप अब
जस जासु जगत अवलंब लहि मतिराम सुकवि हितचित धरिये
रचि छंद सार संग्रह सरस सुव वर्न वृत्ति पद्धति करिये ।

कविवंसवंनतं

तिरपाठी वणपुर वसै वत्स्सगोत सुनि गेह
विविध चन्द्रमनि पूत्र तहिं गिरिधर गिरयर देह
भूमि देव वलभद्र हुव तिनंतत्र मुति गान
मडित पंडित मंडली मंडन मही सहान
तिनकौं तनै उदार मति विश्वनाथ हुव नाम
दुति धर श्रुतिधर को अनुज सकल गुननि को धाम ।
तासु पोत्र मतिराम कवि निज मति के अनुसार ।
सिंह सरूप सुजान को बरनैउ सुजस अपार ।
पिंगल ग्रंथ विलोकि कें कीन्हें ग्रंथ विचार ।
भूल्यौ चूक्यो होइ सो लीजै सुकवि सुधारि ।।२६।।
दोषन देषत सुमतिजन प्रगहत गुननि अपार
मम ऋभूषित करन हित तिन प्रति विनय उदार ।।२७।।
संवत सत्राह् सै वरस अट्ठावन सुभ साल ।
कतिक सुदी त्रयोदसी रि विचार सुभकाल ।।२८।।
वृत्ति कौमुदी ग्रंथ की सरसी सिंह सरूप ।
राची सु कवि मतिराम सो पढो सुनो कवि भूप ।।२९।।

× × × × × ×

इति श्री महाराजधिराज महाराज वंसवातंस स्री सरूप
सिंध देव कृति विराचिता या कवि मतिराम पंचम प्रकासथा
संवत १८४४ लीख्यते पुस्त कातिक वदि ११ का राम राम राम रा
नंदराम भाट.........

इसी में ९ पृष्ठों में एक और पिंगल है : रूप दीप पींगल

सारद माता तू बड़ी सुबुधि देव द्रग हाला ।
पींगल की क्षयाली ये बरनौं वा चाला ।
गुर गनेस के चरन गहि हीये धार कै विस्ना ।
कुवर भवानी दास हित जुगति करै जं कीस्ना ।
रूप दीप परगट भयौ भषा बुद्ध समाज ।
बालक को सुष होत है उपजै अक्षर ज्ञान ।

प्राकित को बानी कठीन भाषा सुगम प्रतिधार ।
कियाराम की किपासों कंठ करो सब सोधि ।।

३. अलंकार प्रकाश—मुरलीधर कवि भूषण का लिखा है । काशी के बुंदेल वंश के गहरवार श्री राजा देवीशाहि देव प्रोत्साहित त्रिपाठी रामेश्वर आत्मज कवि भूषण मुरली धर विरचिते अलंकार प्रकाशे अलंकार········

इसमें राजा देवीशाह के छंद भी उदाहरण में दिये गये हैं । इस कवि भूषण ने 'रस प्रकाश' ग्रंथ भी लिखा है । उल्लेख है

ममकृते रस प्रकाशं यथा···बारह भेदनि हास्य रसु भरथहि करो बखानु ।
ममकृत रस परगास ते लेत जान मनि जानु ।।२६४।।

'गुरु विषय भगति' के अन्तर्गत उदाहरण है

'ऐसे गुरु धरनीधर के पग पल्लव के पर भाव विराजे ।'

कवि का परिचय अंत में यों है :

राम कृष्ण कस्यप कुलहिं रामेश्वर सुत तासु ।
तासुत मुरलीधर कियो अलंकार परकासु ।।४३२।।
पाँच सुन्न सत्रह बरिस कातिक सुदि छठि जानु ।
अलंकार परकास को कवि कीनौं निरमानु ।।४३३।।

संवत १७०५

इसमें स्थान स्थान पर गद्य में व्याख्या भी दी हुई है । दूसरी बार के प्रतिलिपि कर्ता ने लिखा है :—पुस्तक लिख्यते हरिराम त्रिपाठी मनीराम आत्मं पाठार्थं शंकरदास छत्री वंश विधु मेहरे तत्रसकल्मस्तु । सं० १८०१ मधुमासे शुक्ल पक्षे तिथौ षष्टायां शुक्रवासर :

तीसरी बार : लिखा चन्द्र किशोर सिंह बल्द राधिका बख्श सिंह उर्फ फुल्लूसिंह गौतम साकिन आकमपूर पुस्तक लिखा सं० १६६७ विक्रमीय कातिक सुदि छठि दिन मंगल ५ नवम्बर १६४० ई० ।

४. टीकाराम कृत रसरंग—कैप्टेन साहब द्वारा करायी हुई प्रतिलिपि ।

जौन द्वै सुरसरि विसद सूरसुता द्वै कोस ।
जहाँ असुस्थामा कृपा प्रकट करत निस द्योस ।
मध्य देस जाहिर जगत नगर असोथर नाम ।
हरिवंश·····तिवारी को तनय लघु कवि टीकाराम ।

असोथर पर दो सुन्दर कवित्त हैं ।

तब

सविता दीन प्रकास की कविताई को अंग
टीकाराम सुनि रचि सुमुरचि रस रंजित रसरंग ।
विसद देस गुजरात में नगर बरौधा नाम ।
कृपा कियो नरसिंह जू भयो बड़ो विश्राम ।

संवत ज्ञान ११८१, १८११ आश्विनि ८, मंगलवार शुक्ल पक्ष

संवत शसि कृत वसु शसी आस्वनि मित तिथि नाग।
दिन मंगल मंगल करन हरन सकल दुख दाग।

'रसरंग' के अनंतर टीकाराम के फुटकर छंद हैं।

मूनकवि कृत कुछ छंद,

टीका राम के, गोविन्द के तथा अन्य कई कवियों के फुटकर छंद कैप्टेन साहब ने लिख रखे हैं।

५. चिन्तामणि कृत कृष्ण चरित्र

उच्च कोटि की रचना······१२ सर्गों में।

६. (अ) शृंगार गीता : गिरधारी कृत

शुभ भौम भादों द्वादशी यह आई गो मन मंत।

(आ) नखसिख		वृतमान शम्बत वान सुन्यरु रंध्र चंद लमंत
दुबे कुल हौ।
पौ कृष्न त्रयोदस्यांश शस्बत १९४० में बना फुल्लसिंह
(उन्नाव से प्राप्त)

इसके अतिरिक्त 'एकडला' का नाम अभी कुछ समय पूर्व ही प्रसिद्ध हुआ है। यहां से मंझन की 'मधुमालती' ही नहीं मिली, बहुत प्राचीन मृगावती भी मिली है। यह मृगावती सचित्र है। 'हिन्दी विद्यापीठ' ने भी 'मृगावती' की एक पूर्ण प्रति मनेर शरीफ से फोटो चित्रों के रूप में प्राप्त करली है। यह मनेर शरीफ वाली प्रति फारसी लिपि में है।

असोथर भी फतेहपुर में है। यहाँ भगवन्तराय खीची के आश्रय में भूषण और मतिराम तथा अन्य कवि रहे थे। यहाँ भी पर्याप्त सामग्री पड़ी हुई है।

टिप्पणी--२

अजमेर में हस्तलिखित ग्रंथ

१ नागर समुच्चय:

भक्ति मगदीपिका	सरद की मांझें
देहदसा	श्री ठाकुरजी के जन्म उत्सव के कवित्त
वैराग्यवटी	
रसिक रत्नावली	श्री ठकुरानीजी के जन्म उत्सव के कवित्त
कलि वैराग्यवल्ली	
अरल पचीसी	
छूटक पद	साँझी के कवित्त
तीरथानंद	रास के कवित्त
रामचरित्र माला	चांदनी के कवित्त
पद प्रबोध	दीवारी के कवित्त
जुगल भक्ति विनोद	गोरधन धारन के कवित्त
भक्तिसार ग्रंथ	होरी के कवित्त
पारायण विधि प्रकास	बसंत वरनन
व्रजलीला	फागषेल समये सषांन प्रति नंद कुमार
गोपी प्रेम प्रकास	
पद प्रसंग माला	
व्रज बैकुंठतुला	बचन कवित्त
व्रजसार	फाग बिहार
बिहारचंद्रिका	फाग गोकलाष्टक
भोर लीला	
प्रात रस मंजरी	हिंडोरा के कवित्त
भोजनानंदाष्टक	बरषा के कवित्त
जुगल रस माधुरी	छूके कवित्त
फूल विलास	
गोधन आगम	वन विनोद

दोहनानंद — स्वजनानंद
लग्नाष्टक — रास अनुक्रम के कवित्त
फाग विलास
ग्रीष्म बिहार — निकुंजविलास
पावस पचोसी — गोविंद पद परिचय
गोपी बैन विलास — स्वभागोयकीरतनाको अनुक्रम
रासरसलता
रैन रूपारस
सीतसार
इस्क चमन
छूटक दोहा मजलस मंझन
अरिल्लाष्टक
सदा की मांझें
होरी की मांझें
वरषारितु की मांझें

२ मतिराम: रसराज-रूपनगर मध्येमां लिषतं
३ संस्कृत: सामुद्रिक आदि
४ नखसिख सिखनख: अंत में ग्रंथ प्रशस्तिवर्नंनं

नगधर कवि वर्णन कियो
नखशिख शिखनख लाग
प्रति भूषन वर्नन कियो
मानहुं उपमा बाग ।१०३।

संवत:

छियालीस उगनीस सें
संवत आश्विन मास ।
तिथि पून्यों वर्नन कियौ,
यह श्रृंगार सुरास ।१०४।

इति श्री मन्महाराजाधिराज श्री पृथ्वीसिंह जी तद्वितीय पुत्र महाराजा श्री जवान सिंह जी कृत नखशिख शिखनख वर्नंनं संपूर्ण ।

संवत १६४६ का पोस मासे शुभं शुक्ल पक्षे तिथौ ६ भृगुवासरे ।

लिखितं ब्राह्मण मथुरादासे न कृष्णगढ़ मध्ये ।

आरंभ में 'हरिभक्त कविनाम माला'

५ श्री राय शिवदास विरचिते 'सरस-रस' ग्रंथ

आरंभ के २२ पन्ने नहीं, २६ पन्ने कटे फटे पृ० १५८ तक ग्रंथ के आगे का भाग नहीं । अंत में 'आइ पिया परदेस' शब्द है ।

६ अथ जिन सहस्र नाम लिषते—

संवत सोलह सो नवै श्रावन सुदि आदित्य ।
करनाछत्र तिथि पंचमी प्रगटौ नाम कवित्त ।१०३।

इति श्री भाषा सहस्र नाम संपूर्ण

७ पृथ्वीराज रासौ कनवज कथा लिष्यते—

दोहा—कै जानै पृथिराज हौं के पयान पृथिराज ।
सित सामंत सुभं महे पगराइग्रह काज ।।

१६१ पन्ने हैं। अंतिम पंक्ति है ।।८६०।। के बाद छप्पय ।।

ससि दीनो मृग बह्यो कह्यो ।

८ सर्वोत्तम, यमुना लहरी, नवरत्न, कृष्णाश्रय, सिद्धान्त रहस्य, बालबोध आदि ।

९ बारहमास के उत्सवन के पद: जन्माष्टमी के पद : दाई के पद, छठी के पद, पालने के पद, बाल लीला के पद, दसौधी के पद ।

१०. छूटक कवित्त महाराज श्री नागरीदास जी कृत-नाना रस रस के कवित्त । भल चतुर चित्त मोर सुषदहि संवत अठारसै बासठ फागुण घोर । धन तेरस शनिवार में । भोरहि बार संहार ।

इति श्री महाराजाधिराज श्री नागरीदास जी कृत छूटक कवित्त संपूर्णम । संवत् १८९९ का वर्षे मिति आसोज सुदि २ गुरुवारे लिखितं । ब्राह्मण ललितादास कृष्णगढ़ मध्ये श्रीरस्तु माहाराज श्री भोपालसिंघ जी की सिरकार में पुस्तक लिषी ।

अगरासै निनाणवैः लिखीयो ललता दासः
क्वार मास सुध दोंज गुर नागर किसन निवास ।

११. ज्योतिष रत्नमालाः संस्कृतः श्री पति भट्ट विरचित । लिखितः सं० १८०८ चैत्र बदी ८ बुधवार मेदपाट मध्ये ।

१२. शांतिअजितनाथ पंच कल्याणक लिख्यतेः (अपभ्रंश—हिन्दी के निकट) कई जैन ग्रंथ, गुटका रूप ।

१३. १ सकल पंडित शिरोमणियाणमत श्री अनोपसागर जी गुरूव्योनम । अथ सूर्यंज को सिलोको लिख्यते ।

२. मान्तुंगाचार्य भक्ताभर सुसिद्ध स्तोत्र

३. बीस विहरमानसरनाम······स्तोत्र

४. लक्ष्मी स्तोत्र (संस्कृत)

५. सौलै सतरां का नाम ।

६. कल्याण मंदिर भाषा

७. तत्वार्थधिगमोक्ष शास्त्र (संस्कृत) सागरेण लिखितं साह जोगा जी तत्पुत्र चिरंताराचंद पठनार्थ दाधियाग्रामे वाच्यमान चिरंजीपात ।

८. देवां आगली पूजा :

९. नंदीश्वर पूजा जयमाल

१०. अठाई पूजा सं० १७६८ वर्षे माह वदि ५, गुरूवासरे श्री अनोपसागर श्री अजब सागर श्री जसरूपसागर लिखित श्रीनगर ग्रामे ताराचंद पठन कृतार्थे

११. अथ शनीश्चरकथा:

१२. पारसनाथ संत्रुष्टपणा सौ आदीत वार की पंजस रूप कथा ।

१३. आतम पचीसी । हिन्दी । संवत सतरा में इकहत्तरै आतम पचीसी सार । पुन्ये कीर्ति मुनि कही समझौ बारंवार । इति श्री चंदप्रभु जी प्रसादात वाच्यमान चिरंजीयात् श्रीनम:

१४. दर्शनाष्टक (सं०)

१५. नेमिनाथ को सवैयो

१६. मोरला जी की विनती :

संवत सतरै पच्यासीयै पोस दसमिरविबार
साहिब जिन जी संघ सहित प्रभुनगर थी भेंट्यां सिव सुषकार ।

१७. अष्टद्रव्य पूजा ।

१८. घंटाकर्णो मंत्र लिख्यते ।

१९. बूटक दूहा ।

१४. पोथी सूरदास जी का पदा की तीरापत्र १७५

"अथ सूरसागर लिख्यते: प्रथम श्री कृष्ण देव को जनम समय । राग विलावल- अंधेरी भादों की राति ।। बालक को वसुदेव दे की । पठे पठे पछिताति । ५६ पन्ने । ७६ पद ।

अथ सूरसागर द्वारका की सोभा पुन: विवाह वर्णन लिखिते । राग सारंग ।

द्विज कहियो हरिसों समझाय ।
सकति शृकाल सिघ को भोजन
दरबरदे कों छीनें षाय ।

पन्ने ४३ पद २४५

अथ सूर सागर भ्रमर गीत : रागविलावल-कोउ आवत हैं तन स्याम ।

पाती ऊधो आगमन
गोपिका ऊद्धों को तिरस्कार निठर वाक्यं वदति
गोपिका उधों प्रति झगरो प्रति वाद बदलौ मांगति तदा बदति
गोपिका उधो प्रति विसै वाक्यं बदति
गोपिका उधो प्रति उदास वाक्य बदति
गोपिका ऊद्धो प्रति वाक्यं वदति
गोपी ऊधो प्रति कुबिजा की हासि बदति

गोपिका उद्धो सौं मन की अवस्था वदति
गोपिका उधौं सौं नेत्रनिकी अवस्था वदति ।
गोपिका जोग की कथा सुनत ऊधो प्रति रिसांनो
गोपिका ऊद्धौं सां विद्या की तर्क वदति
गोपिका उद्धौं सौं संदेस वदति कृष्ण कौ
गोपिकानि की सब ब्रज की अवस्था उद्धो कृष्णसो वदति
गोपिका विरहूनि सषी प्रति सषो कृष्ण की कथा वदति ।
गोपिका विरहिनी मेघदेषि सषो प्रति सषी वदति
गोपिका विरहीनी चात्रिय को सब्द सुनि दुषित होति ।
गोपिका विरहिनी मोरि सौं वदति
गोहिका विरहिनी कोकिला सौं वदति
गोपिका परस्पर निंद्रा की कथा वदति
गोपिका विरहिनी चंद्रमा सौं विनें वदति
कृष्णदेव द्वारक वसेत गोपिका वदति

पन्ने ७६ : ४३२ पद : पूर्ण : एक पद अधूरा

काहे को बकबाद बढ़इए ।
जो तुम करी हम सही यू परि···संगले अइए । टेक ।
सिबते गौंप योद दैदिधि कौ
राखी कुंजसु आनिदिषेइए ।
पूज्यो कुहू काकतिय हस

१७५ कुल पृष्ठ

१५. श्री भक्त सुजस

माहेरा नरसी, १ मीरां मीथुला संवादे, नरसी पूर्व पुत्र वर्नन प्रथम विश्राम ।

(पन्ना ७वाँ गायब और आरंभ के दो पन्ने भी नहीं । अँत का भी कम से कम एक पन्ना गायब है जैसा अंत के शब्दों से लगता है ।)

द्वितीय विश्राम : मीरा मिथुला संवादे नरसी ग्रह त्याग वैराग वरनन ।
तृतीय विश्राम : मीरा मिथुला संवादे द्रुज ग्रह गवन ।
चतुर्थ विश्राम : मीरा मिथुला संवादे नरसी भोजन विधि वरनन ।
पंचम विश्राम : मीरा मिथुला संबादे बरात आगमन ।
षष्ठ विश्राम : मीरा मिथुला संबादे प्रभु आगमन ।

नरसी जुको माहिरो सुने सब चित लाय ।
जन्म जन्म नर नारि के पाप पराभव पाय ।

गंगा यमुना सरस्वुती और कासीह भय जाग ।
हरिजन जस श्रवनां सुनै ताके पूरन भाग ।
मेरे कृत यह माहिरो संतन को सुष मूल ।
जो सजन श्रवना सुन पाय जर जिम तूल ।
भूमिदान गो हरिन्य सम सुनत पुन्य अस होय ।
में मीरां हरि जस कह्यो सुन सखी मिथुला तोय ।
मीरांनु : छंत वे देख्ये सति सनह पूरन भक्त जस असे कह्यो ।
भव कूपे (यें) मोचन मुक्ति मारिग दुष्ट जन सुरपुर लह्यो ।
कलु काम त्याग कलंस नर जो नीति धरि निति गावेंही ।
अन माहिं अष्टासिद्धि सब सुष उमगिता अह आवेंही ।
उपजै अधिक अनुराग सब अंग भक्ति मारिग पावेंहीं
कलू काम तरु आनंद रूपादास मीरां गावेंहीं ।

मिथला वा० सोरठा

धनि जन्म धरि देह,
सदा सरन तेरै रही ।
कीनु सति सनहै, आजि
सुफल सांची भई ।१।
भई मंगलाबेर सब समाज दरसन कर्‌यो ।
दासी लीनी टेरि सबही चले नीज भजन कुं ।२।
धनि तेरी पीतु मात धनि धरा जनमी जहाँ ।
कीनी मोहि सुनाथ,
श्रवन सुन्यो श्रीकृष्ण जैसे ।३।
अरून उद की बेर चलेउ संगि मिथला सखी ।
सब समाज मिल फेर हरिही कृपा करिहुं जबै ।
मम बुधि प्रमांन कछुह ।

पन्ना ५३

कहीं गुजराती भी है ।

१६. श्री परमानन्ददास जी के पद कीर्तन पन्ने १४८ पद ११०४ ।। अधूरे अन्तिम चरण "मैया मोहि दाऊ बहुत.........

१७. पूजन पाठ की सूचनका ।

पन्ना १. तीन चौवीसी का नाम

१. दर्शन

१. पंच मंगल

२. प्रथम मंगल
२. दुतीय मंगल
३. निर्वाण कांड भाषा।
३. कल्याण मंदिर भाषा।
५. बारह भावना
५. चक्रवर्त की भावना
६. बाईस परीसह
९. सुभ सतक
११. मृत्यु महोत्सव की देश भाषा।
१७. भक्तामर
१९. दश सूत्र
२३. छहढाली
२४. गुरां की बीनती
२४. साधु जैमाल
२५. इष्ट छतीसी
२५. अष्टादश दोष
२६. वैराग पचीसी
२६. देवांकी पूजा
२९. वीस वीहरमान जयमाल
२९. सिद्ध पूजा
२९. सील कारण भाषा पूजा
३०. दश लक्षण पूजा
३२. अनंत व्रत पूजा
३२. पंचमेरू पूजा
३३. अठाई जी की पूजा
३४. अष्टक
३५. शांति पाठ
३६. नंदीश्वर पूजा
४६. देव शास्त्र पूजा।
४७. अकृतिम चैत्यालां की पूजा
५०. निर्वाण सिद्ध क्षेत्र पूजा
५१. तीस चौहसी की पूजा
१८. धरम परीक्षा भाषा

"देव धरम गुरू वंदि करि
जिन उपदेश कहंत।

पढत सुनत उपजै सुबुधि
अनुक्रम मुक्ति लहंत ।
होणहार कारण मिल्यौ,
हीरामणि उपदेश ।
कारण विना न भव्य जन
का जन ह्वै लव लेश ।

× × ×

सतरासै पिचोत्तरै
पोष दशैं गुरूवार ।
शुभ वेला ग्रह शुभ लगन
कियो मुहूरत सार ।

सवैया ।३१।

कविता मनोहर षंडेलवाल सोनी
जाति मूल संघी मूल जाको सांगनेर बास है ।
कारमा को उदै तें धामपुर में बसन,
भयौ सबसौं मिलाप फुनि सजन को दास है ।
व्याकरण छंद अलंकार कछू पढ्यौ नाहिं
भाषा निपुण कछु बुद्धि को प्रकास है ।
वाई दाहिनी न केहा समुझें संतोष लिये
जिन दोही ताकें एक जिन ही की आस है ।

नगर धाम पुर में :

संस्कृत रचया १००७ संवंत विक्रमी में--संवत १९३२ का भाद्रवा वदि (९) नवम्यां बुध वासरे लिखित कृष्णगढ़ मध्ये । १३१ पन्ने ।

१९. श्री नृत्य गोपालो जयति । अथ गुणसागर कृत षट्पधी लिख्यते ।
संवत १९५६ मार्गशिर सुदि ९ चंद वासरे लि० ब्राह्मण मथुरादासे । कृष्णगढ़ मध्ये । पन्ने १९

२०. श्री नृत्य गोपालो जयति । अथ धमार शतक लिख्यते ।

दोहा--कृष्ण केलि शृंगार रस ताकी कथा अनेक ।
पै प्राचीन धमार के होतन सम कोउ एक ।।

राग विभास : खिलावन आवेंगी ब्रजनारी...

सहचरी, लछीदास, गोकुलचंद, चत्रभुज, गोविंद

इति श्री मन्महाराजाधिराज श्री पृथ्वीसिंहजीतद्वितीय पुत्र महाराज श्री जवानसिंहजी ग्रहित प्राचीन धमार सारीत धमार शतक संपूर्णम् ।

खद: मदन मोहन वृजवासी के जो कोई वाचै ताकूँ हमारे भगवद स्मंर्ण ।

२१. अनेक नाम माला : नंददास कृत–१६ पन्नों में ।

२२. कृष्ण रुक्मिणी का विवाह या मंगल-लेखक 'पद्म भगत'–७३ पन्ने

२३१. पंचान राजा की कथा पत्र १७७

श्री गणाधिपतये नम:—

दोहा—श्री गोपाल सहाय है, यहाँ छैल पति राज ।
गुरू गनपति सरस्वति सुनौ देहु विद्यावर आज ।१।
जातें हों चाहत कह्यो नायक भेद अनूप ।
ग्रंथ रीति बरनी कबिन यह नायक रस भूप ।।२।।
श्रोता सुनहु सुजान तुम नायक कहत जताय ।
वीर धीर बिन छैलता नायकता नहिं पाय ।३।
बाद भये द्वै सषिन में सुनहु प्रगट चित लाय ।
उत्तर प्रति उत्तर दये निश्चै भेद बताय ।४।
एक विवेकिनि जानियौ इक अविवेकनि नाम ।
इक द्वै सषि तिनके नाम चोष तीष तन चित्त में रहत जु एकै धाम ।५।

कवि वचन—

निज निज द्वै सषी पियन की रीझि चलावत बात ।
अपनी अपनी चौंप सों सोभा सहज बतात । अथ अविवेकिन—
सत्तरासे अरू ग्रासिये (व्रासिये) सुदि दसमी ससिवार
चैत मास पुरहूत पुर ग्रंथ लयौ अवतार ।।

२. श्री राधा वल्लभो जयति । अथ रंगविनोद लिख्यते

३. प्रीति चौवनी

४. अनुरागलता

५. भजन सत (ध्रुवदास कृत) श्री हरिवंश सरोज पद जौ पै सेयैंनाहिं ।

६. शृङ्गार सत (ध्रुवदास)

७. रसहीरावली (षट ऋतु युक्त है)

८. वैदक लीला (ध्रुवदास)

९. राजा पंचक कथा वर्नन

धर्मपाल अरू सिध सुभट
धनसंचय पुनि भूप ।
भयो नृपति नारीकवच
अधम पाप को रूप ।।

ए पांचों राजा भये,
समये निज निज पाय।
जस अपजस नृप प्रकृति सौं
रह्यो धरनि में छाय।

अथ प्रथम धर्मपाल राजा वर्णनं

पंच नृपन की यह कथा, सूछिम कही बनाय।
श्री नगधर उर धारिये, सोहै सोस सहाय ।।

इति श्री पंचम राजा अथम संपूर्ण। संवत १७८७ मागसर सुदि ३, चन्द्र वासरे लिपि कृतं स्वतांवर नानिग शुभ भवतु

१०. अथ मजलसमिछालिख्यते

कवि नानिग

संवत सत्तरासै निवें, भादव मास पुनीत
तिथि चवदसि ससिवार कौं रच्यौ ग्रंथ जुत नीत।

११. अथ मालव जुद्ध लिख्यते

कवित कहे शृंगार के मति मेरी उनमान।
कृपा करी सब कवि कह्यो कहा कहा बनि दान।
रस सिंगार को बरनिबो इन को सहज सुभाव।
कौंन सिषावै तिननिकौं, सुतह सिद्ध यह भाव।
जो कछु ब्रज रस में कह्यो कवि जन कर्‍यौ प्रमान।
किहु मोसौं अैसें कह्यो, जुद्ध न सकों बषान ।।३१।
तासौं बरनत रौद्ररस गुरु किरपा सिर धार।

\+ \+ \+

...कीजें मो हिय बास
ब्रज दासी बिनती करत यह धरि हिय में आस
निगम वोद यमुना तटे। उत्तर दिसिकै ठाँहि
यह पोथी कीनी लिखी, इन्द्र प्रस्त के मांहि।
संवत सत्तरासै समै बरष तियास्यौ मान।
मंगल बदि एकादसी मास चैत्र सुभजान।

१२. सवैया

१३. छूटक कवित्त : राय कवि कृत रावत गोपाल सिंह के यहाँ

१४. प्रेमावली (ध्रुवसेन कृत)

१५. रहस्य मंजरी ,,

१६. सुख मंजरी ,,

१७. रंग बिहारी लीला ,,
१८. रति मंजरी ,,
१९. नेह मंजरी ,,
२०. सहज विवाह लीला ,,
२१. नाटक करुनाभरन : लक्ष्मी राम

२४. मतिराम : रसराज
पहले ५ पन्ने नहीं संवत १९२१ का मृगसार वदी १ शुक्रवार लिपि कृत जोसी बाल मुकंद । कृष्णगढ़ मध्ये ।

२५. श्री हितेन कृत चतुराशीति पदस्य अक्षरार्थ : मनः संवोधनार्थाय लिख्यते ।

सत्रह सै इक्यानवै संबत माघौ मास
यह प्रबंध पूरण भयौ शुक्ल देवन बुध वास ।
प्रेमदास कृत चौरासी पदबंध टीका संपूर्ण ।

२६. आराधना सार (अपभ्रंश)

२७. श्रीपालरास

हो मूल संग मुनि प्रगटो जाणि
कीरति अनंत सील की षानि ।
ता सुतणो सिष्य जाणिज्यो हो ब्रह्मराय
मल दिढ करि चित भाव भेद जाणै ।
नहीं होतहि दीठो श्रीपाल चरित रास ॥९३॥
हो सोलह सै तीसं सुभ बरस हो मास असाढ़ भण्यौ करि हरष
तिथि तेरसि सित्त सप्तमी हो अनुराधानष्षत्र सुभसार ।
वरण योग दीसै भला हो सोभन योग सनीसरवार रास० ९४ पन्ने २८

२८. विक्रमादित्त चोवोली सं० १९३८ ॥ वर्षे जेठ सुदी १५
२९. भट्टराज कृत : चमत्कार चिंता नाम रागे (१) जातकोक्त न कमग्रहाणां
३०. भुवन दीपक (संस्कृत)
३१. माधव निदानस्यवृत्तिर्माधवी
३२. रिसालू पर कुछ छोटा गुटका
१. रिसाल कुंवर री बात-चारण 'नरवदो' रचित ।
२. गुर चेलारां दूहा
३. कुछ जैन पुस्तकें

३३. दस्तूर मालिका । लेखक वंसीधर

जदपि दुनी देषै घनै,
लेषे कै करतार ।

भटकत विनु दस्तूर हैं
अटकत बारंबार ।
संवत सत्रह सें क स्य पैंसठि अधिक पुनीत
करि वरननि या ग्रंथ को........।

३४. भक्तामर स्तोत्र (जंत्र मंत्र)

३५. पनाकी वार्ता : वीरमदे पनी

लिखि ब्राह्मण बलदेव अजय नगर मध्ये
'भाषा वीर सिंगार' की
बरणौ सरस बधाय ।
(राजस्थानी गद्य पद्य)

३६. वसुदेव कुमार चउपई

वरलास नयरि घरि हरिस ।
सय पनर सतावन वरिस (१५५७)
कुल चरण सुपंडित सीस
बहइ हरषकुल निसदीस

३७. श्रीमतिंकर महामुनि चरित्रे श्री महापुराण दुहन । प्रति १७०६ (संस्कृत)

३८. हरिवंश (कुछ भाग)

३९. निघंटु

४०. धनाशालभद्र की चौपई

सौलैरवय बहत्तरि बरस्यै
आसोज बदि छठि दिवस्यै जी ।

लेखक । भवियण या भविकजे । लिपि सं० १८९७
राजा जनक राय के लश्कर मध्ये जती ऋषि राम चन्द्रेन
लिपायितं सेठ भीमराज जी तत्पुत्र सेवाराम कस्य जैन धरमी । जाति पलीवार

४१. सिंहासन बत्तीसी : संवत सोलह मइ छत्रीस
कहीं हीर सुणी यथा : कुछ आदि अंत नहीं
कवि के स्वहस्त की बतायी जाती है । कवि है 'हीर = हीर कलश
आरंभ के तीन पन्ने नहीं बाद में ६२ पन्ने से आगे के पन्ने नहीं ।

४२. कल्याण मंदिर भाषा : भाषा कहत बनारसी ।

४३. भक्तामर (भाषा)

४४. रभसार कुमार रास—लिपि १८२८, जेष्ठ ११ भृगुवासरे

४५. मृगावती : समय सुंदर
श्री संबत १६०४ वर्षे शाके १६६८ प्रव० मिति पोष बदि १३ मृगुवासरे पं० तिलक विजय गणिनि लिपी कृत :

श्री पीपलाजनयरे—

सोलसई अठसठरास्यैं वरषे:
हुई चउपई घणे हरषे बे:

४६. पंचतंत्र भाषा
४७. चंद चउपई
संवत सतरे बरस अठारें ए ग्रंथ रच्यौ अणुवासारैंवे ।
४८. कोक भूषण शृँगार ग्रंथ
कवि आनंद विरचित कोकसार पंच । लिपि सं० १८८७ वि० कार्ति बुध ६
४९. कालिकाचार्य कथा
५०. संग्रहणी सूत्रं--सं० १६२३ कार्तिक मास शुक्ल पक्ष ८ रमाम । रयवाड़ी मध्ये लिखित (सचित्र) ।
५१. करकंडे महारथ चरिय
५२. श्रेणिक रास : वट पट्ठनयर संवत सोल एक वीसइ भाद्रपद सुदि सुभवार प्रारंभ दीसई १७०५ लिपि चैत्र सुदि ३ भौमे धर्मशील ने लिखा रामपुरा मध्ये ।
५३. हेमचन्द्र : अवधान चिंतामणि--संवत १७४८ वर्षे कातिक सुदि ३ बुधवार ।
५४. शालिभद्र : जिनराज सूरि कृत सोलैसौ लहसौ अठोत्तर वरस्ये ।
लिपि सं० १७९४ भाद्र सुदि १५ अरकवासरे
५५. चित्रसेन पद्मावती कथा (संस्कृत)
५६. वर्द्धमान काव्य--संव० १५५० वैसाख सुदि ३ रोहिणी नक्षत्र शुक्रबार
५७. श्री महाचार्येत्यादि (वल्लभ पर)
५८. शालिभद्र चौपाई—जिनसूरि
५९. बुधरासो : लिपि १८०६ श्रावण वदि १२ सादड़ी ग्राम
६०. नवकारसी उपरि सुर सूंदरी चोपई प्रबंध
संवत सतैर वरस छबीसौ श्रावण पुन्य सदीवसं जी ।

× × × ×

गणधर गोत्रे गछपति राजै
जिनचंद्र सूरि विराजै जी,
श्री वेना तट पुर सुषसाजैं,
चौपी करी हित काजैजी ।

६१. सूर्य सहस्र नाम
६२. वृत्तरत्नाकर बंद—सं० १८१६
६३. शालिभद्र चउपई
६४. तुरकी सोलास्तर—सं० १८२२ माह सुदि ५ बुधवासरे लिपि नाथूराम रूपनगर मध्ये पोथी सरकार की छे ।

६५. महाराज जसवंत सिंह वरवै
६६. भाषा भूषण—लि० १८१२ श्रावण १३ मंगल,
६७. अश्व चिकित्सा—जयदत्त कृत
६८. मयणरेहा चोपई
६९. लीलावती भाषा (भास्कराचार्य) भाषाकार लालचन्द (जैतसिंह के कहने से)
७०. कयवन्ना चोपी—प्रति १८३३ संवत सतरै सै इक वीसै बीकानेर सुजगी सैंजी।
७१. हितोपदेश-गद्य : पहले ५१ पन्ने गायब। ग्रंथ ५२ से १२४ पन्ने तक। बाद के गायब। पुराना जीर्ण कागज १७वीं अठारवीं का गद्य होना चाहिये।
७२. त्रिष्टष्टिलक्षण महापुराण मूल तथा भाषा दोनों,
सं० १७३८ वर्षे द्वितीय आश्विन शुक्लाष्टम्यां श्रीमदंबावती महानगर वासव्य सु श्रावक पुण्य प्रभावक श्री जिनाज्ञा प्रतिपालक साह श्री मथुरादासानुग्रहेणेषा भाषा समर्थिता वाच्यमानाश्चिरंनंदतु।
७३. रुद्रयामल
७४. मानतुंगाचार्य कृत भक्तामर—सं० १८८४
७५. सत्रुंजय महात्म्य चउपई
रचना संवत सतरइ पंचावनइं
पांचि म वदि आसाढ़। राम संपूरण बुधवार इथयउ श्री जिनचंद सूरि।
सं० १७६८ वर्षे कार्तिक मासे कृष्ण पक्षे द्वितीया याज्ञ वासरो
श्री फल वर्धा मध्ये।
७६. जंबू चरित्र : समय सुंदर
७७. गज सुकमाल महामुनिश्वर चतुष्पदिका
संवत सोल निनाणूं वरषे

वैशाषे सुभ हरषे बे
सुदि पंचमि सुभ दिन सुभवारै रच्यें सुमवारै वें। प्रति १७५४ पोष वदि ५ दिन सोमवार।

७८. राजुल पचीसी (सं० १८२१ लिपि)
७९. विवेक विलास भाषार्थ सहित नीति शास्त्र
८०. पुष्फमालाववोध-प्रति १८५५ पोष कृष्ण पक्ष ८ देरास्माइल मध्ये
८१. रतनचूड़ेरण घंटा चौपाई सं० १८५२ द्वितीय भाद्र पद वदि ६ मोजगढ़ मध्ये।
८२. विक्रमादीन चरित पंच दंड साधन
८३. गोराबादल : सती चरित
८४. भुवन कीर्ति विरचिते ढाल बंधेश्री जंबू स्वामी चरिते। जंबू स्वामी चउपई—सं० १७८४
८५. विक्रमचौबोली चौपाई लि० १७७४ आसोज सित ८ लोभे शांति सागर लिपने सुमेल नगरी।
'सतर चौबीसे किसन दसमी आदि आषाढ़ै सही। १७२४

८६. सुंदर श्रृंगार-महा कवि राइ विरचित
१६८८ संवत सोरह सै वरस बीते अठ्यासीति ।। कातिक सुदि षष्ठी गुरो, ग्रंथ रच्यो कवि प्रीति ।

८७. पद्मिनी चरित्र ढाल भापा बंध: श्री लब्धोदय वध विरचित

\+ + +

भागचंद कुल भांण विनयवंत
गुणवंत सोयाजीसेह रोरे ।
बरुदाता गुणजाण ।
१७१७ वसुग्राग्रह करि संवत सतर सतोत्तरइरै । चैत्र पुनिम शनिवार
नवरस सहित सरस बंध नवो रच्यो रे निज बुद्धि अणुहार ।

८८. समय सुंदर की रचनाएं—प्रद्युम्न चरित
८६. रत्नपाल चरित्र
६०. कालिकाचार्य कथा
६१. राजल जी कौ वारामास्यौ
६२. विसवावीसें चौपई
६३. प्रिय मेलक चउपदी
संवत सोलवहोत्तर मेड़तानगर मंझार
६४. अथ चंद्र कुंवर री वारता ।
६५. आषाढ़ भूत चौढ़ालिया
६६. सुन्दरकांड तुलसी—१७४१ सं० लिपि ।
६७. जंबू दीप प्रकरण --सोरोहो नगर लिपि सं० १५६६ वर्षे कार्तिक वदि ३
६८. शालिभद्र
६६. संग्रईसी रत्न सं० १८१७
१००. कवित्त कुड़लिया गीरधर का
१०१. वारह भावना विलास :

द्वीप युगल मुनि शशि वरसि जा दिन जनम्यो पास ।
ता दिन कीनौं राज कवि इह भावना विलास ।।

प्रति सं० १८३२ मिगसिर वदि

१०२. संब प्रजून :

सुषकार संवत सोलए गुणसट्ठि विजय दसमि दिनइ ।
एक वीस ढाल रसाल ग्रंथ रच्यउ सुन्दर सुलभ नइ ।१६५६

१०३. एक पुस्तक
१०४. दुद्रसणरास—१८३०

१०५. अमर दत्त मित्रानंद रास
१०६. कवि प्रिया
१०७. रमलेन्दु प्रकाश
१०८. राम चरित्र—जगनाथ कृत । लि० १६६२ सं०
१०६. प्रेमआनंद पचीसी : सूरदास
११०. कुछ पूजा ग्रंथ
१११. उषा चरित्र—१८३१ कातिक सुदी दूज (विषम ज्वर जाने के लिए।)

अजमेर में ये समस्त ग्रंथ मुनि कान्तिसागर की कृपा से देखने को मिले ।

टिप्पणी—३

मंत्र

जनवरी १९५६ के अंक में 'मंत्र' पर जो निबंध प्रकाशित हुआ था उस पर अच्छा विचार हुआ। कुछ मत ऊपर दिये जा चुके हैं। 'मंत्र' के संबंध में कनिंघम महोदय ने भी एक स्थान पर कुछ विस्तार से लिखा है। उसका सार यहाँ दिया जाता है।

उन्होंने बीर पूजा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि बीरों की पूजा के अवसर पर विविध बीर के थानों पर मनुष्य मंत्र गाते हैं। ये मंत्र दो तरह के होते हैं: साबरी मंत्र, अथवा 'शाबर मोहन' (Charms), दूसरे जादू मंत्र—रहस्य युक्त मंत्र। साबरी मंत्र बीरों से अथवा प्रेतों से संबंधित होते हैं। इनकी साधना श्मशान में ही होनी चाहिये जहाँ 'शव' जलाया गया था। जादू-मंत्र तो सरलता से प्राप्त हो जाते हैं पर साबरी मंत्र शुद्ध रूप में कठिनाई से ही मिल पाते हैं। क्योंकि एक तो मौखिक होने के कारण बहुत विकृत हो गये हैं। लोगों को उन्हें बताने में भी बहुत संकोच होता है, बहुत से इनमें से सम्भवत: काफी पुराने होंगे या उनके शब्दों के रूप बदल गये हैं, कुछ में तो मुसलमानी नाम और पद तक जोड़ दिये गये हैं।

इस विमर्श के उपरांत उन्होंने कुछ मंत्र दिये है—

अ—मंत्र अगिया बैताल को

ओम ! नमो अगिया बीर बैताल।
बैठे सातमे पाताल,
लाव अगन की झाल
बैठे ब्रह्मा के कपाल।
मछली, चील्ह का ग़लीज़, गूगल, हरताल,
इतनी बस्त ले चले नाले चले,
तो माता कालिका की आन

आ—मंत्र अजै-पाल का

ओम ! नमो धारा-नगरी अजै-पाल ।
अजै पाल राज की सात रानी,
काली, धूरी, लीली
पूरी, थाक, नीर थीली,
रोखा वीर का बाग-बगीचा, कुवा-बार्या
भीतर-बाहर, बले-बले,
कछू सा कछू भय करे
तो राजा अजै-पाल का चक्र फिरे,

इ—मंत्र भैरों का

ओम ! नमो गुर गुरे !
तू गुर ताम्र मसान !
खेल करन्ता जा उसको देख पास
बुड़ राखे हमारी आस—
कसम को देख,
जले बले हमको देख—
हँसी करे, चल चालरे, कालिका पूत,
सोती होई, जगा लावे,
बैठी होइ, उठा लावे,
ना लावे,
ता माता कालिका की सेज पाँव धरे ।

इस मंत्र को रविवार को मसान में जाकर एक पैसा भर लाल बूरा और कुछ तेल सहित सिद्ध किया जाता है ।

ई—चौकी हनुमत बीर की

ओम ! हनूमान !
बरस बारह का जवान !
हाथ में लड्डू,
मुख में पान,
हूक मार आओ
बाबा हनूमान !

यह हनूमान सिद्ध करने का मंत्र है । विधि—महीने के पहले मंगलवार को साधना आरंभ की जानी चाहिये, व्रत रखकर और लाल कपड़े पहन कर । तेल में मिलाकर सिंदूर

का चोला हनूमान जी की मूर्ति पर चढ़ाना चाहिये, सामने एक दीपक रखिये, गूगल या धूप दीजिये। एक गेहूँ की बड़ी रोटी, घी से चुपड़ कर मामूली बूरा रखकर हनूमान जी को भेंट दीजिये। उक्त मंत्र ग्यारह सै बार प्रतिदिन मूँगे की माला पर पढ़िये। चालीसवें दिन हनूमान जी वश में हो जायेंगे।

यहाँ तक के मंत्र शुद्ध साबरी मंत्र बताये गये हैं।

उ—हाजरात जिन्नों और परियों की

तारा-तूरी-स्वाहा

जिस वृहस्पति को शुक्ल पक्ष की दूज पड़े, उस दिन कुछ चावल और दूध खाने के लिए बना कर, एक एकान्त स्वच्छ मकान में साधना करे। कुछ सुगंधित फूल, मिठाइयां, गूगल धूप, अगर लावे। सिंदूर से एक वृत्त बनाये, उसमें ८ लौंगें, ८ सुपाड़ियां, और एक कोरा घृत-दीपक रखे, बाद में समस्त मिठाई और पुष्प भी उसी वृत्त में रख दे। पहले 'रक्षाकवच' का पाठ करके, उक्त मंत्र का नाम पांच हजार बार प्रतिदिन करे। प्रतिदिन फूल और मिठाइयां तो ताजी रहें। दीपक वही रहेगा। रंगीन कपड़े पहन कर और पवित्र रह कर साधना की जानी चाहिये। कुछ दिन में जिन्न या परी वश में हो जायेगी।

ऊ—भैंरों की जंजीर

ला इलाह इलइल्ला हजरत बीर !
कौसल्लाइ कौसल्ला बीर।
आजम ज़ेर खल्कर मदीनं
तेरी जंजीर से कौन कौन चले।
बामन तो भैंरों चले।
चौसठ तो जोगिनि चले,
देव चले, दाना चले,
चलियां तो बिशेष चले,
ताइर्या सालार चले,
भीम गदा चले,
हनूमान की हांक चले।
नाहर सिंघ की धाक चले;
नहीं तो
सुलेमान के तख्त की दुहाई !
एक लाख अस्सी हजार पैगम्बर की दुहाई।

यह मंत्र वृहस्पति वाली दौज को जपना चाहिये; घी का दीपक और लोबान जला कर कुछ सूखी मेवा चढ़ाकर इक्कीस हजार बार जपने से रोग दूर हो जाते हैं।

ए--चौकी मूठी बीर की

बिसमिल्लाह, अर्रहमान, अर रहीम !
सोन चक्र की बावरी, गोल मुत्तिअन का हार,
लंका सा कोट, समुन्दर सी खाई,
जहाँ फिरे, मुहम्मदा बीर की दुहाई,
कौन कौन बीर आगे चले ?
सुलतान बीर चले, दुर्रानी बीर चले,
लद्दरसाह बीर चले, बहादुर शाह बीर चले,
मूठी चले--नहीं चले
तो हजरत सुलेमान की दुहाई ।

बृहस्पति वाली शुक्ल दौज से इसे चालीस दिन तक जपे, सौ बार प्रतिदिन । बीर वश में हो जायगा ।

ऐ--चौकी मुहम्मद बीर की

बिस्मिल्ला, अर-रहमान अर-रहीम !
पाय घुंघरा कोट जँजीर,
जिस्पर खेले मुहम्मदा बीर,
सवा सेर का टोसा खाइ,
सवा मन की कमान सवा मन का तीर,
जिसपर खेता आवे मुहम्मदा बीर,
मार ! मार ! करता आवे,
बांध ! बांध ! करता आवे,
डाँकिनी को बाँध ! शाँकिनी को बाँध,
चुड़ैल को बाँध, भूत को बांध, पलीत को बाँध,
नल्ल नरसिंघ बांध,
बावन भैरों बांध,
नौ जात का मसान बांध,
कच्चिया मसान बाँध, पक्काया मसान बाँध,
कल्कलिया मसान बाँध,
मूंगीया मसान बाँध, पीलिया मसान बाँध
लीलिया मसान बाँध, सूकिया मसान बाँध,
धौलिया मसान बाँध, कालिया मसान बाँध, बाँध, बाँध

क़ुग्रा बावली लू बाँध, सूनी बाँध, बैठी बाँध,
पीते को बाँध, पकाते को बाँध, लाग्रो लाग्रो--
सोती को लाग्रो, पकाती को लाग्रो, लाग्रो, लाग्रो--
जल्दी लाग्रो
हज़रत इमाम हुस्सेन की जंग से निकाल कर लाग्रो,
बीबी फ़ातिमा के दामन से खुला के लाग्रो,
नहीं लावे ?
तो मत चूक दूध हराम करे !
दुहाई सुलेमान ग्रौलिया के तख्त की !

इसकी साधना वृहस्पति वाली शुक्ल दौज से की जाती है। घी का दीपक जलाकर, लोबान की धूप देकर, १०८ बार मंत्र का जप करे ग्रौर मिठाई चढ़ाता जाय। ३१ वृहस्पतिवार तक लगातार जाप करने से वीर वश में हो जाता है।

ग्रो--गीत जखैया का

जैसे बुलाये, वैसे ग्राये, रे !
जखैया भइया, जैसे बुलाये, वैसे ग्राये, रे !
फूल, बतासे धुजा, नारियल, घंटा, भेंट को लाई रे,
जखैया भइया······ग्रादि
बकरा, मुर्गा, रंगे बिनौले, चक्क, भेंट को लाई, रे,
जखैया भइया······
पैसा, धार, पुजापा, लेके, नंगे पैरों धाई, रे,
जखैया भइया······
बाल-बच्चों पै रच्छा कीजो तेरी फिरै दुहाई, रे*
जखैया भइया······

कलकत्ते से श्री श्रीनारायण पांडे ने कुछ मंत्र भेजे हैं। ये मंत्र ग्रवधी क्षेत्र के हैं।

बिच्छू उतारने का मंत्र

सोने क बिच्छी रूपे क ग्रार
बिच्छी काटै महादेव के कपार
दोहाई गउरा पारबती महादेव की।

---

*कनिंघम साहब का कहना है कि यह गीत है जिसे ग्रादमी जखैया पर गाते हैं। संभवतः मंत्र नहीं माना जा सकता है इसीलिए उन्होंने इसे साबरी मंत्रों में स्थान नहीं दिया।

नजर के मंत्र

छ छ छकड़ी देउ दुआर दक्खिन कइती काली माई परिग डेरा,
उत्तर कइती पवन दुआर दोहाई महावीर की (३ बार बोलें)

यही मंत्र पढ़ कर फिर दोहाई भैरव बाबा की (३ बार)
फिर यही मंत्र पढ़े और बोले दोहाई नरसिंह बाबा की (३ बार)

टोना टमानी क मांग मुड़ाई गदहा पर चढ़ाई दक्खिन दिसा
पहुँचाई, दोहाई महाबीर की, दोहाई भैरों बाबा की,
दोहाई महाबोर की, दोहाई नरसिंह की, दोहाई शंकरजी जी की,
दोहाई लोना चमाइन की।

ज्वर का मंत्र

ओ३म् नमो पालकी की दोहाई ज्वर रहे तो
महावीर की दोहाई, दोहाई शंकर जी की